GLSANS294.59215
TRI
125362
LBSNAA

:त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी
Academy of Administration
मसूरी
MUSSOORIE
पुस्तकालय
LIBRARY

अवाप्ति संख्या
Accession No. 125362 ~~12948~~
वर्ग संख्या
Class No. GL Sans 294.59215
पुस्तक संख्या
Book No. त्रिवेदी TRI

All rights reserved.

ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करो देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सारे दृष्टि वाले, औ शूद्र और आर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

प्रथमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद—भावार्थादि सहितं
संस्कृते व्याकरण—निरुक्तादि प्रमाण समन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम धीरवीर चिरप्रतापि श्री
मयाजीराव गायकवाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगत श्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to everyone who sees, to
Sudra and to Aryan man.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः पाण्डेय बद्रीप्रसाद शर्म्म प्रबन्धेन
प्रयागनगरे [illegible] यन्त्रालये मुद्रितः ।

सर्वाधिकारो ग्रन्थकर्त्रा स्वाधीन एव रक्षितः ।

द्वितीयावृत्तौ, १००० पुस्तकानि । | संवत् [illegible] वि० सन् [illegible] ई० । | मूल्यम् १।=)

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad) ॥

प्रथम काण्ड की आवृत्ति ॥

प्रथम बार, दिसंबर १९१२, १००० पुस्तक। ओंकार प्रेस, प्रयाग।
द्वितीय बार, नोवेम्बर १९२५, १००० पुस्तक, नारायण प्रेस, प्रयाग।

विज्ञापन ॥

शीघ्र मंगाइये, पुस्तक थोड़े हैं।

१-अथर्ववेद भाष्य-सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य, विषय सूची, मन्त्र सूची, पदसूची आदि सहित पूरा २३ भाग-बोझ लगभग ६० तोला वा ७॥ सेर, मूल्य ४७॥) वी० पी० व्यय ४॥।)

२-गोपथ ब्राह्मण भाष्य-अथर्ववेद के ब्राह्मण का सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य, अनेक टिप्पणियाँ, व्याकरणादि और विषय सूची आदि सहित सम्पूर्ण—मूल्य ७।) वी० पी० व्यय ॥।=)

३-हवनमन्त्राः-धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक-चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल हिन्दी में शब्दार्थ सहित, गुरुकुलों, डी० ए० वी० कालिजों और स्कूलों में प्रचलित संशोधित, पांचवीं बार मूल्य ।-), डाक महसूल -)

४-रुद्राध्यायः-प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत हिन्दी और अंग्रेज़ी में मूल्य ।=), डाक महसूल =)

५-रुद्राध्यायः-मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४ मूल्य)॥, डाक महसूल)॥

६-वेदविद्यायें-कांगड़ी गुरुकुल में हिन्दी व्याख्यान। वेदों में विमान, नौका, अस्त्र शस्त्र, व्यापार, अतिथि, सभा, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन, मूल्य -)॥, डाक महसूल)॥

मार्गशीर्ष संवत् १९८२
नोवेंबर १९२५

पता-पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी।
५२, लूकरगंज, प्रयाग।

Address—**Pt. Khem Karan Das Trivedi.**
52, LUKERGANJ, ALLAHABAD.

बड़ा विज्ञापन पुस्तक के अन्त में देखिये।

All rights reserved.

ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सारे दृष्टि वाले, औ शूद्र और आर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

प्रथमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद–भावार्थादि सहितं
संस्कृते व्याकरण–निरुक्तादि प्रमाण समन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम धीरवीर चिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाड़ाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगत श्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन
श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना
निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to everyone who sees, to
Sudra and to Aryan man.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः पाण्डेय बद्रीप्रसाद शर्म्म प्रबन्धेन
प्रयागनगरे नारायण यन्त्रालये मुद्रितः ।

सर्वाधिकारो ग्रन्थकारेण स्वाधीन एव रक्षितः ।

द्वितीयावृत्तौ, १००० पुस्तकानि । } संवत् १९८२ वि० । सन् १९२५ ई० । }

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ५२ ……

विषय सूची।

विषय।	पृष्ठ।
भाष्यकार का चित्र।	
अथर्ववेद भाष्य भूमिका।	
१-ईश्वर स्तुति प्रार्थना।	१
२-वेद। ...	२
३-अथर्ववेद। ...	६
४-अथर्ववेद विस्तार।	७
५-सूक्त भेद।	८
६-अनुवाक।	८
७-सायणभाष्य असंपूर्ण है।	८
८-[illegible]वेद पुस्तकें और अन्य भाष्य।	१०
९-ऋषि, देवता, छन्द।	११
१०-निवेदन।	११
११-सूक्त, मन्त्र, वर्ग।	१२
सूक्त विवरण काण्ड १	१७
अथर्ववेद काण्ड १ के मन्त्र अन्य वेदों में।	१८
अथर्ववेदभाष्य काण्ड १।	१-१७८

सङ्केत सूची।

सङ्केत	सङ्केत विषय
अ०, अथर्व	अथर्ववेद, काण्ड, सूक्त, मन्त्र।
अव्य०	अव्यय।
आ० प०	आत्मनेपदी।
उ०	उणादिकोष, पाद, सूत्र (स्वामी दयानन्द सरस्वती संशोधित)।
ऋ०	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र।
क्रि०	क्रिया।
त्रि०	त्रिलिङ्ग (विशेषण)।
न०	नपुंसकलिङ्ग।
नि०, निरु०	निरुक्त, अध्याय, खण्ड, (यास्कमुनि कृत)।
निघ०	निघण्टु, अध्याय, खण्ड, (यास्कमुनि कृत)।
प० प०	परस्मैपदी।
पा०	पाणिनीय व्याकरण-अष्टाध्यायी, अध्याय, पाद, सूत्र।
पु०	पुंलिङ्ग।
पृषो०	पृषोदरादि।
य०, यजुः	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र।
श० क० द्रु०	शब्दकल्पद्रुमकोष, राजा राधाकान्तदेवबहादुर विरचित।
श० स्तो० म० नि०	शब्दस्तोममहानिधि कोष, श्रीतारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य सङ्कलित।
सा० वे०	सामवेद, पूर्वार्चिक, प्रपाठक, दशति, मन्त्र। उत्तरार्चिक, प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, सूक्त वा तृच।
( )	इस कोष्ठ में मन्त्र के शब्द हैं।
[ ]	ऐसे कोष्ठ के शब्द व्याख्या वा अध्याहार हैं।
०—...	अन्त के भाग में पूर्व भाग मिलाकर पूरा पद करलें, जैसे अश्विना=०-नौ=अश्विनौ।

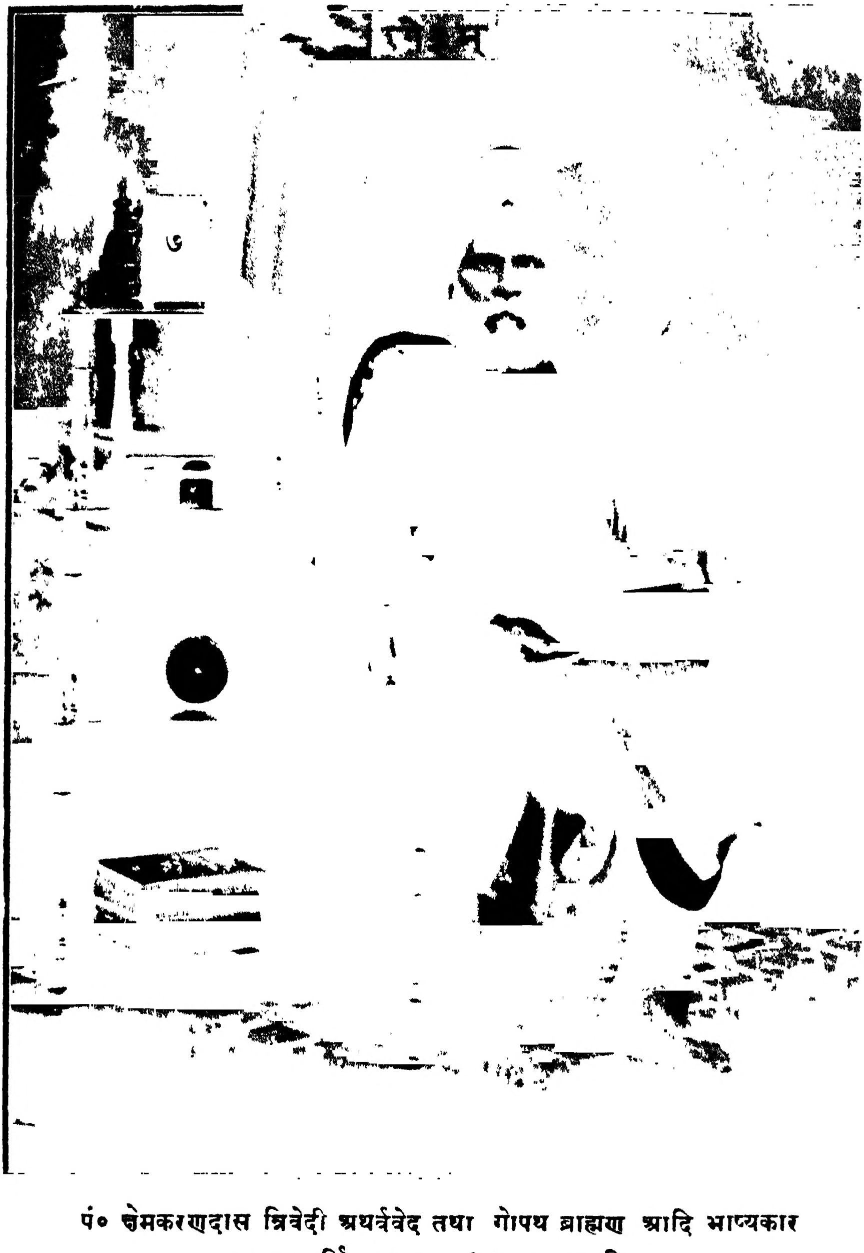

पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी अथर्ववेद तथा गोपथ ब्राह्मण आदि भाष्यकार

जन्म कार्तिक शुक्ला ७ संवत् १९०५ वि०

मुद्रित कार्तिक शुक्ला ७ सं० १९८१ वि०

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग ।

अथर्ववेदभाष्यभूमिका ॥

१-ईश्वरस्तुतिप्रार्थना ।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्व१र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१॥

अथर्व० का० १० सू० ८ म० १ ॥

(यः) जो परमेश्वर (भूतम्) अतीत काल (च) और (भव्यम्) भविष्यत् काल का, (च) और (यः) जो (सर्वम्) सब संसार का (च) अवश्य (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है । (च) और (स्वः) सुख (यस्य) जिस का (केवलम्) केवल स्वरूप है, (तस्मै) उस (जेष्ठाय) सब से बड़े (ब्रह्मणे) ब्रह्म, जगदीश्वर को (नमः) नमस्कार है ॥

हे परमपिता, परमात्मन् ! आप, भूत, भविष्यत्, वर्तमान और सब जगत् के स्वामी हैं, आप केवल आनन्द स्वरूप और अनन्त सामर्थ्य वाले हैं । हे प्रभु ! आप हमारे हृदय में सदा विराजिये, आप को हमारा बारम्बार नमस्कार है ॥

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥ २ ॥

अथर्व० का० ६ सू० १०८ म० ४ ॥

(अग्ने) हे सर्वव्यापक, प्रकाश स्वरूप परमेश्वर ! (याम्) जिस (मेधाम्) धारणावती बुद्धि का (भूतकृतः) यथार्थ काम करने हारे, (मेधाविनः) दृढ़

बुद्धि वाले, (ऋषयः) वेद का तत्त्व जानने वाले ऋषि, (विदुः) ज्ञान रखते हैं, (तया) उस (मेधया) अचल बुद्धि से (माम्) मुझ को (अद्य) आज (मेधाविनम्) अचल बुद्धि वाला (कृणु) कर ॥

हे सर्वविद्यामय जगदीश्वर! आप के अनुग्रह से वह दृढ़ निश्चल बुद्धि हमारे हृदय में विराजमान रहे जैसी धार्मिक, विवेकी, परोपकारी ऋषि महात्माओं की होती है, जिस से हमें वेदों का यथार्थ ज्ञान हो और हम संसार भर में उस का प्रकाश करें ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः। विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥ २ ॥

अथर्व० का० १ सू० ३१ म० ४ ॥

(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिये (उत) और (पित्रे) पिता के लिये (स्वस्ति) आनन्द (अस्तु) होवे, और (गोभ्यः) गौओं के लिये, (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये और (जगते) जगत् के लिये (स्वस्ति) आनन्द होवे। (विश्वम्) संपूर्ण (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य और (सुविदत्रम्) उत्तम ज्ञान वा कुल (नः) हमारे लिये (अस्तु) हो, (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) सूर्य को (एव) ही (दृशेम) हम देखते रहें ॥

हे परम रक्षक परमात्मन्! हमें वेद विज्ञान दीजिये जिस से हम अपने कर्त्तव्य को समझें और करें, अपने हितकारी माता पिता आदि सब परिवार, सब मनुष्यों, सब गौ आदि पशुओं, और सब संसार की सेवा कर सकें, और सब के आनन्द में अपना आनन्द जानें, और जैसे सूर्य के प्रकाश में सब कामों को सुख से करते हैं, वैसे ही, हे प्रकाशमय, ज्ञान स्वरूप, सर्वान्तर्यामी प्रभु! आप के ध्यान में मग्न होकर हम सदा प्रसन्न चित्त रहें ॥

२—वेद ॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ १ ॥

ऋ० १० । ९० । ९, यजु० ३१ । ७, तथा अथर्व० १९ । ६ । १३

(तस्मात्) उस (यज्ञात्) पूजनीय और (सर्वहुतः) सब के ग्रहण करने योग्य परमेश्वर से (ऋचः) ऋग्वेद [पदार्थों की गुणप्रकाशक विद्या] के मन्त्र और (सामानि) साम वेद [मोक्ष विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये। (तस्मात्) उस से (छन्दांसि) अथर्ववेद [आनन्ददायक विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये, और (तस्मात्) उस से ही (यजुः) यजुर्वेद [सत्कर्मों का ज्ञान] (अजायत) उत्पन्न हुआ है॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ २॥

अथर्व० का० १०। सू० ७। म० २०॥

(यस्मात्) जिस परमेश्वर से प्राप्त करके (ऋचः) पदार्थों के गुण प्रकाशक मन्त्रों को (अप-अतक्षन्) उन्होंने [ऋषियों ने] सूक्ष्म किया [भले प्रकार विचारा], (यस्मात्) जिस ईश्वर से प्राप्त करके (यजुः) सत्कर्मों के ज्ञान को (अप-अकषन्) उन्होंने कस, अर्थात् कसौटी, पर रक्खा, (सामानि) मोक्ष विद्यायें (यस्य) जिस के (लोमानि) रोम के समान व्यापक हैं, और (अथर्व-अङ्गिरसः) अथर्व अर्थात् निश्चल जो परब्रह्म है उसके ज्ञान के मन्त्र (मुखम्) मुख के समान मुख्य हैं, (सः) वह (एव) निश्चय करके (कतमःस्वित्) कौन सा है। [इसका उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) खंभ के समान ब्रह्मांड का सहारा देने वाला ईश्वर (ब्रूहि) तू कह॥

इस से सिद्ध है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ईश्वरकृत हैं, और चारों वेद सामान्यता से सार्वलौकिक सिद्धान्तों से परिपूर्ण होने के कारण मनुष्य मात्र और सब संसार के लिये कल्याणकारक हैं।

उस परम पिता जगदीश्वर का अति धन्यवाद है कि उसने संसार की भलाई के लिये सृष्टि के आदि में अपने अटल नियमों को इन चारों वेदों के द्वारा प्रकाशित किया। यह चारों वेद एक तो सांसारिक व्यवहारों की शिक्षा से परमात्मा के ज्ञान का, और दूसरे परमात्मा के ज्ञान से सांसारिक व्यवहारों का उपदेश करते हैं। संसार में यही दो मुख्य पदार्थ हैं जिन की यथार्थ प्राप्ति और अभ्यास पर मनुष्य मात्र की उन्नति का निर्भर है। इन चारों वेदों को ही त्रयी

विद्या [तीन विद्याओं का भण्डार] कहते हैं, जिस का अर्थ परमेश्वर के कर्म उपासना और ज्ञान से संसार के साथ उपकार करना है ।

वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है ।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १ ॥

अथर्ववेद–का० ११, सू० ५, म० १७ ।

(ब्रह्मचर्येण) वेदविचार और जितेन्द्रियता रूपी (तपसा) तप से (राजा) राजा (राष्ट्रम्) राज्य की (वि) अनेक प्रकार से (रक्षति) रक्षा करता है । (आचार्यः) अंगों और उपाङ्गों सहित वेदों का अध्यापक, आचार्य (ब्रह्मचर्येण) वेद विद्या और इन्द्रियदमन के कारण (ब्रह्मचारिणम्) वेद विचारने वाले जितेन्द्रिय पुरुष से (इच्छते) प्रेम करता है, अर्थात् वेदों के यथावत् ज्ञान, अभ्यास, और इन्द्रियों के दमन से मनुष्य सांसारिक और पारमार्थिक उन्नति की परा सीमा तक पहुंच जाता है ॥

भगवान् कणादमुनि कहते हैं–वैशेषिकदर्शन, अध्याय ६, आह्निक १, सूत्र १ ॥

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥ १ ॥

वेद में वाक्य रचना बुद्धि पूर्वक है [अर्थात् वेद में सब बातें बुद्धि के अनुकूल हैं] ॥

पण्डित अन्नम्भट्ट तर्कसंग्रह पुस्तक के शब्दखण्ड में लिखते हैं ।

वाक्यं द्विविधं वैदिकं लौकिकं च । वैदिकमीश्वरोक्तत्वात् सर्वमेव प्रमाणम् । लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम् ॥

वाक्य दो प्रकार का है, वैदिक और लौकिक । वैदिक वाक्य ईश्वरोक्त होने से सब ही प्रमाण है । लौकिक वाक्य केवल सत्यवक्ता पुरुष का वचन प्रमाण है ॥

मनु महाराज मनुस्मृति में लिखते हैं ।

वेदमेव सदाभ्यसेत् तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१॥२।१६६॥

द्विजों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों] में श्रेष्ठ पुरुष, [ब्रह्मचर्य आदि] तप तपता हुआ, वेद ही का सदा अभ्यास करे। वेदों का अभ्यास ही पण्डित पुरुष का परम तप यहां [इस जन्म में] कहा जाता है ॥ १ ॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥२॥१२।९७॥

चार वर्ण [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र,] तीन लोक [स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूलोक], चार आश्रम [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास], और भूत, वर्तमान और भविष्यत्, अलग अलग सब वेद से प्रसिद्ध होता है ॥ २ ॥

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥३॥ १२ । १०८ ॥

वेद शास्त्र का जानने वाला पुरुष, सेनापति के अधिकार, और राज्य, और भी दण्ड देने के पद, और सब लोगों पर आधिपत्य [चक्रवर्ति राज्य] के योग्य होता है ॥ ३ ॥

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४ ॥ १२। १०२॥

वेद शास्त्र के अर्थ का तत्त्व जानने वाला पुरुष चाहे किसी आश्रम में रहे, वह इस लोक [जन्म] में ही रहकर मोक्ष [परम आनन्द] पद के लिये योग्य होता है ॥ ४ ॥

इसी प्रकार सब शास्त्रों में वेदों की अपूर्व महिमा का वर्णन है।

इन दिनों प्रत्येक मनुष्य वेद वेद पुकार रहा है। जर्मनी, इंग देश आदि विदेशों में वेदों का चर्चा फैल रहा है। वेदों के भिन्न २ भागों के अनुवाद भी अंग्रेज़ी, लेटिन, जर्मन आदि भाषाओं में वहां के विद्वानों ने अपनी अपनी शक्ति के अनुसार किये हैं। भट्ट ग्रिफ़्फ़िथ साहिब ने चारों वेदों का अंग्रेज़ी अनुवाद वैदिक छन्दों में छन्दोबद्ध किया है। महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती का वेद विषयक परिश्रम सुप्रसिद्ध है। उन के रचे निम्नलिखित वैदिक ग्रन्थ महा उपकारी हैं।

१—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ।
२—ऋग्वेदभाष्य [जो मण्डल ७ सूक्त ६१ मन्त्र २ तक हुआ है] ॥
३—यजुर्वेदभाष्य ।
४—सत्यार्थप्रकाश ।

अन्य भी विद्वानों श्री सायणाचार्य आदि ने वेदों की रक्षा और व्याख्या के लिये अनेक प्रयत्न किये हैं, और अब भी विद्वान् लोग परिश्रम उठा रहे हैं ॥

३—अथर्ववेद ॥

ऊपर कह आये हैं कि ईश्वरकृत चारों वेदों में से अथर्ववेद एक वेद है। उसके नाम छन्द (छन्दांसि), अथर्वाङ्गिरा (अथर्वाङ्गिरसः) और ब्रह्म वेद हैं। इन शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं। (१) अथर्ववेद, यह अथर्व [अथर्वन्] और वेद इन दो शब्दों का समुदाय है। थर्व धातु का अर्थ चलना और अथर्व का अर्थ निश्चल है, और वेद का अर्थ ज्ञान है, अर्थात् अथर्व, निश्चल, जो एक रस सर्वव्यापक परब्रह्म है, उस का ज्ञान अथर्ववेद है। (२) छन्द, इस का अर्थ आनन्ददायक है, अर्थात् उस में आनन्ददायक पदार्थों का वर्णन है। (३) अथर्वाङ्गिरा, इस पद का अर्थ यह है कि उस में अथर्व, निश्चल परब्रह्म बोधक अङ्गिरा अर्थात् ज्ञान के मन्त्र हैं। (४) ब्रह्मवेद अर्थात् जिस में ब्रह्म जगदीश्वर का ज्ञान है, और जिसके मनन और साक्षात् करने से ब्रह्माओं [ब्राह्मणों, ब्रह्मज्ञानियों] को मोक्ष सुख प्राप्त होता है ॥

---

(१) अथर्वाणोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः-निरु० ११ । १८ । स्नामदिपद्यर्त्तिपृशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति अ+थर्व चरणे-वनिप् । वकारलोपः । न थर्वति न चरतीति अथर्वा दृढस्वभावः । हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति विद ज्ञाने-घञ् । इति वेदो ज्ञानम् । अथर्वणो दृढस्वभावस्य परमेश्वरस्य वेदोऽथर्ववेदः ॥

(२) चन्देरादेश्च छः । उ० ४ । २१९ । इति चदि आह्लादे-असुन्, चस्य छः । चन्दयति आह्लादयतीति छन्दः ॥

(३) अङ्गतेरसिरिरुडागमश्च । उ० ४ । २२६ । इति अगि गतौ—असि, इरुट् आगमः । अङ्गति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा परब्रह्म येनेति अङ्गिराः, वेदः । अथर्वणोऽङ्गिरसोऽथर्वाङ्गिरसः ॥

(४) बृंहेर्नोऽच्च । उ० ४ । १४६ । इति बृहि वृद्धौ—मनिन् । नकारस्य अकारः, रत्वं च । बृंहति वर्धते सर्वस्योऽधिको भवतीति ब्रह्म परमेश्वरः । ब्रह्मणो वेदो ब्रह्मवेदः ॥

अथर्ववेद संहिता भट्ट आर० रोथ साहिब और डबिल्यू० डी० व्हिटनी साहिब [Professors R. Roth and W. D. Whitney] ने जर्मनी देश के बर्लिन नगर में सन् १८५६ ईस्वी में छपवाई थी [See Page 10, Critical Notes on Atharva Samhita with the Commentary of Sayanacharya, Government Central Book Depot, Bombay; and page XIII, Griffith's English Translation of the Atharva Veda.] अथर्ववेद संहितायें तो और भी छप गयी हैं। श्री सायणाचार्यकृत भाष्य केवल गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो बंबई की ओर से छपा है, वह भी असंपूर्ण [लगभग आधे वेद का भाष्य] और केवल संस्कृत में है और उस के चार वेष्टनों का मूल्य ४०) चालीस रुपया है। इससे बड़े २ धनी विद्वान् ही उस को देख सकते हैं, सामान्य पुरुषों को उसका मिलना और समझना कठिन है।

४—अथर्ववेद विस्तार ॥

हमारे पास तीन अथर्व संहिता पुस्तक हैं, १—सायणभाष्य सहित बम्बई गवर्नमेन्ट मुद्रापित, २—पं० सेवकलाल कृष्णदास मुद्रापित, और ३—अजमेर वैदिक यन्त्रालय मुद्रित। हम ने तीनों संहिताओं का मिलाकर अध्ययन किया है। विस्तार का विवरण अजमेर पुस्तक के अनुसार अन्य पुस्तकों से मिलान करके आगे लिखा है।

अथर्ववेद (ये त्रिषप्ताः परियन्ति....) इस मन्त्र से लेकर [पुनाय्यं तदश्विना कृतं वां....] इस मन्त्र तक है। इस में २० बीस काण्ड, ७३१ सात सौ इकतीस सूक्त, और ५,६७७ पांच सहस्र नौ सौ सतहत्तर मन्त्र हैं। यह गणना आगे भूमिका के अन्त में चक्रों में वर्णित है।

उक्त तीनों पुस्तकों को मिलाने से मन्त्र संख्या में यह भेद है।

(अ) पं० सेवकलाल के पुस्तक से मिलान।

काण्ड ८।

	उक्त पुस्तक में मन्त्र		अन्य दो पुस्तकों में मन्त्र	भेद
सूक्त १० । पर्याय १ ।	मन्त्र १ से ७=७	=	१३	—६
” ” ३ ।	म० १८ से २१=४	=	८	—४
” ” ४ ।	म० २२ से २५=४	=	१६	—१२
” ” ५ ।	म० २६ से २९=४	=	१६	—१२
	योग १९		५३	—३४

काण्ड ६ ।

सूक्त ६ । पर्याय ४ ।	म० ४० से ४४=५	=	१०	—५
,, ,, ५ ।	म० ४५ से ४८=४	=	१०	—६
	योग ९		२०	—११

काण्ड १९ ।

सूक्त ३८ ।	म० १ से २ = २	=	३	—१
,, ४७ ।	म० १ से १०=१०	=	९	+१
,, ५४ ।	म० ५, ६ = २	=	१ (म० ५)	+१
,, ५५ ।	म० १ से ७ = ७	=	६	+१
,, ५७ ।	म० १ से ६ = ६	=	५	+१
	योग २७		२४	+३

काण्ड २० ।

सूक्त ९६ ।	म० १-२३=२३	=	२४	—१
सूक्त १३१ ।	म० १-२३=२३	=	२०	+३
	योग ४६		४४	+२
	महा योग १०१		१४१	—४०

सब मिलाकर पं० सेवकलाल् कृष्णदास के पुस्तक में जो ४० मन्त्र घटते हैं, (हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् । यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीहनो यक्नस्ते वि वृहामसि ।) वस्तुतः यह एक मन्त्र अन्य दोनों पुस्तकों के का० २० सू० ९६ का मन्त्र १९ उस में नहीं है । अन्य ३९ मन्त्रों की न्यूनता केवल मन्त्र भागों के छोटे बड़े और आगे पीछे होने से है, इन का पूरा पाठ तौ मिलाकर अन्य पुस्तकों के तुल्य है । इस गणना से इस पुस्तक के समग्र मन्त्र ५,९७७-४०=५,९३७ होते हैं ॥

(आ)—वैदिक यन्त्रालये के पुस्तक का सायणभाष्य सहित बंबई के पुस्तक से मिलान ।

सायणभाष्य वाले पुस्तक में इतना अधिक है कि काण्ड १९ के अन्त में ७२ मन्त्र का एक पर्य्याय है, जो १८ मन्त्र इस पुस्तक के काण्ड ११ सूक्त ४

पर्याय २ में मन्त्र १ से १८ तक, और अन्य पुस्तकों के काण्ड ११ सूक्त ३ पर्याय २ में मन्त्र ३२ से ४९ तक आ चुके हैं, अर्थात् इन १८ मन्त्रके ७२ मन्त्र होकर सायण भाष्य में एक पर्याय काण्ड १६ के अन्त में अलग है । अन्य पुस्तकों में [भट्ट ग्रिफ़्फ़िथ के अँगरेज़ी अनुवाद सहित] यह पर्याय काण्ड १६ के अन्त में नहीं है, केवल काण्ड ११ में ही आया है, यही पाठ हमने रक्खा है । यह पुनर्लेख सायण पुस्तक में उस समय की पाठ प्रणाली के अनुसार दीखता है। इस बात को छोड़कर शेष मन्त्र संख्या अजमेर पुस्तक के तुल्य है ॥

५–सूक्त भेद ॥

सायण भाष्य में ७५९ [सात सौ उनसठ] और अजमेर वैदिक यन्त्रालय की पुस्तक में ७३१ सूक्त हैं । यह २८ सूक्तों की अधिकता का विवरण नीचे दिखाया जाता है । मन्त्रों का वर्णन ऊपर हो चुका है ।

काण्ड जिनमें भेद है	सायण भाष्य में सूक्त	वैदिक यन्त्रालय की पुस्तक में सूक्त	सायणभाष्य में अधिक
७	१२३	११८	५
८	१५	१०	५
९	१५	१०	५
११	१२	१०	२
१२	११	५	६
१३	९	४	५
६ कांड	१८५	१५७	२८

६–अनुवाक ।

सूक्त और मन्त्रों के अतिरिक्त, काण्डों का विभाग अनुवाक और सूक्तों में है । परन्तु काण्डों में सूक्तों की गणना लगातार चली गयी है, इससे अनुवाकों की गणना को यहां नहीं दिखाया, पुस्तक के भीतर अपने स्थान पर दिखाया है ।

७–सायण भाष्य असंपूर्ण है ।

अथर्ववेद संहिता, सायणाचार्य विरचित भाष्य सहित, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो, बंबई बड़े खोज से छपी दीखती है, इसके अतिरिक्त और कोई भाष्य

प्रतीत नहीं होता । इस पुस्तक में केवल दस काण्डों से कुछ अधिक का भाष्य इस प्रकार है-काण्ड १, २, ३, ४, ६, ७, ८ [सूक्त ६ तक], ११, १७, १८, १९, २० [सूक्त ३७ तक] । [इतना भाष्य नहीं है-काण्ड ५, ८ [सूक्त ७-७५], ९, १०, १२, १३, १४, १५, १६, २० (सूक्त ३८-१४३)] ॥

८-अथर्ववेद पुस्तकें और अपना भाष्य ।

१—अथर्ववेद संहिता श्री सायणाचार्य विरचित भाष्य सहित, गवर्नमेन्ट बुक डिपो, बंबई, चार वेष्टन । वेष्टन १ तथा २ सन् १८९५, वेष्टन ३ तथा ४ सन् १८९८ ईसवी ।

२—अथर्ववेद संहिता मूल, पण्डित सेवकलाल कृष्णदास संशोधित-बंबई, सन् १८९३ [पत्थर का छापा] ।

३—अथर्ववेद संहिता, मूल, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, संवत् १९५८ विक्रमीय [सन् १९०१ ईस्वी] ।

४—अथर्ववेद संहिता, अंग्रेजी अनुवाद, मट्ट ग्रिफ़िथ साहिब कृत दो वेष्टन, वेष्टन १ सन् १८९५, वेष्टन २ सन् १८९६ ई० ।

इस भाष्य के बनाने में यह सब पुस्तकें और श्री सायणाचार्य कृत ऋग्वेद और सामवेद भाष्य, श्री महीधर कृत शुक्ल यजुर्वेद भाष्य, श्री मद्दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य, पण्डित तुलसीराम कृत सामवेद भाष्य, यास्क मुनि कृत निघण्टु और निरुक्त, और पाणिनि मुनि कृत अष्टाध्यायी व्याकरण, सर राजा राधाकान्त देव बहादुर कृत शब्द कल्प द्रुम कोष, और अन्य ग्रन्थ मुझे बहुत उपयोगी हुये हैं, इस लिये उन ग्रन्थ कर्त्ता महाशयों को मेरा हार्दिक धन्यवाद है ।

हमारे भाष्य में संहिता पाठ वैदिक यन्त्रालय अजमेर के पुस्तक का है, पदपाठ इस पुस्तक और सायण भाष्य के अनुसार है । पाठान्तर टिप्पणियों में दिखाया है । स्पष्टता और संक्षेप के ध्यान से भाष्य का क्रम यह रक्खा है ।

१—देवता, छन्द, उपदेश ।

२—मूलमन्त्र-स्वरसहित ।

३—पदपाठ-स्वरसहित ।

४—सान्वय भावार्थ ।

५—भावार्थ ।

६—आवश्यक टिप्पणी, संहिता पाठान्तर, अनुरूप विषय और वेदों में मन्त्र का पता आदि विवरण ।

७—शब्दार्थ व्याकरणादि प्रक्रिया-व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त, पर्याय आदि ।

सहज पते के लिये काण्ड काण्ड के विषय आदि और अथर्ववेद के अन्य वेदों में मन्त्रों की सूची भी दियी है ।

९—ऋषि, देवता, छन्द ।

ऋषि वह महात्मा कहलाते हैं जिन्हों ने वेदों के सूक्ष्म अर्थों को प्रकाशित किया है [निरु० १ । २० । तथा २ । ११], देवता उसको कहते हैं जिस के गुणों का वर्णन मन्त्र में प्रधानता से हो [निरु० ७ । १], मिताक्षर वाक्य छन्द कहाते हैं । जिस प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद और साम वेद में सूक्त इत्यादि के साथ ऋषि, देवता और छन्द लिखे हैं, उस प्रकार अथर्ववेद संहिताओं में नहीं हैं । हम ने इस भाष्य में सूक्तों के शीर्षक पर देवता, छन्द और प्रकरण दिये हैं । ऋषियों का निश्चय नहीं हो सका । [टिप्पणी-द्वितीय आवृत्ति में अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका सम्पादित पं० रामगोपाल शास्त्री लाहौर मुद्रित संवत् १९७९ वि०, सन् १९२२ ई० से ऋषि भी लिख दिये हैं—क्षे० दा० त्रिवेदी, भाद्रपद संवत् १९८२ ।]

१०—निवेदन ।

निःसन्देह अब वह समय है कि सब स्त्री पुरुष घर घर में वेदों का अर्थ जानें और धर्मज्ञ होकर पुरुषार्थी बनें । भारतीय और अन्य देशीय विद्वान् भी वेदों का अर्थ खोजने और प्रकाशित करने में बड़ा परिश्रम उठा रहे हैं । मेरा भी संकल्प है कि अथर्ववेद का यथाशक्ति सरल, स्पष्ट, प्रामाणिक, और अल्पमूल्य भाष्य एक एक पूरे काण्ड के पुस्तक रूप में प्रस्तुत करूं, जिससे सब लोग स्वाध्याय [वेद के अर्थ समझने और विचारने] में लाभ उठावें । और यदि वैदिक जिज्ञासु वेदों के सत्यार्थ और तत्त्वज्ञान प्राप्ति में कुछ भी सहायता पावेंगे तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा ।

५२ लूकरगंज, प्रयाग
(अलाहाबाद) ।
भाद्र कृष्ण जन्माष्टमी १९६९ वि०,
५ सितम्बर १९१२ ।

क्षेमकरणदास त्रिवेदी ।
जन्म, कार्त्तिकशुक्ला ७ संवत् १९०५ विक्रमीय,
(ता० ३ नवम्बर १८४८ ईस्वी)
जन्मस्थान, ग्राम शाहपुर मड़राक,
ज़िला अलीगढ़ ॥

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
काण्ड १		२९	६	२०	५	१०	१३	५	७	३५	७
१	४	३०	४	२१	५	११	८	६	८	३६	१०
२	४	३१	४	२२	५	१२	९	७	७	३७	१२
३	९	३२	४	२३	५	१३	७	८	७	३८	७
४	४	३३	४	२४	८	१४	६	९	१०	३९	१०
५	४	३४	५	२५	५	१५	८	१०	७	४०	८
६	४	३५	४	२६	५	१६	७	११	१२	४०	३२४
७	७	३५	१५३	२७	७	१७	९	१२	७	काण्ड ५	
८	४	काण्ड २		२८	५	१८	६	१३	७	१	९
९	४	१	५	२९	७	१९	८	१४	९	२	९
१०	४	२	५	३०	५	२०	१०	१५	१६	३	११
११	६	३	६	३१	५	२१	१०	१६	९	४	१०
१२	४	४	६	३२	६	२२	६	१७	८	५	९
१३	४	५	७	३३	७	२३	६	१८	८	६	१४
१४	४	६	५	३४	५	२४	७	१९	८	७	१०
१५	४	७	५	३५	५	२५	६	२०	९	८	९
१६	४	८	५	३६	८	२६	६	२१	७	९	८
१७	४	९	५	३६	२०७	२७	६	२२	७	१०	८
१८	४	१०	८	काण्ड ३		२८	६	२३	७	११	११
१९	४	११	५	१	६	२९	८	२४	७	१२	११
२०	४	१२	८	२	६	३०	७	२५	७	१३	११
२१	४	१३	५	३	६	३१	११	२६	७	१४	१३
२२	४	१४	६	४	७	३१	२३०	२७	७	१५	११
२३	४	१५	६	५	८	काण्ड ४		२८	७	१६	११
२४	४	१६	५	६	८	१	७	२९	७	१७	१८
२५	४	१७	७	७	७	२	८	३०	८	१८	१५
२६	४	१८	५	८	६	३	७	३१	७	१९	१५
२७	४	१९	५	९	६	४	८	३२	७	२०	१२
२८	४							३३	८		
								३४	८		

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
२१	१२	१६	४	४६	३	७६	४	१०६	३	१३६	३
२२	१४	१७	४	४७	३	७७	३	१०७	४	१३७	३
२३	१३	१८	३	४८	३	७८	३	१०८	५	१३८	५
२४	१७	१९	३	४९	३	७९	३	१०९	३	१३९	५
२५	१३	२०	३	५०	३	८०	३	११०	३	१४०	३
२६	१२	२१	३	५१	३	८१	३	१११	४	१४१	३
२७	१२	२२	३	५२	३	८२	३	११२	३	१४२	३
२८	१४	२३	३	५३	३	८३	४	११३	३	१४२	४५४
२९	१५	२४	३	५४	३	८४	४	११४	३	काण्ड ७	
३०	१७	२५	३	५५	३	८५	३	११५	३	१	२
३१	१२	२६	३	५६	३	८६	३	११६	३	२	१
		२७	३	५७	३	८७	३	११७	३	३	१
३१	३७६	२८	३	५८	३	८८	३	११८	३	४	१
		२९	३	५९	३	८९	३	११९	३	५	५
काण्ड ६		३०	३	६०	३	९०	३	१२०	३	६	४
१	३	३१	३	६१	३	९१	३	१२१	४	७	१
२	३	३२	३	६२	३	९२	३	१२२	५	८	१
३	३	३३	३	६३	४	९३	३	१२३	५	९	४
४	३	३४	५	६४	३	९४	३	१२४	३	१०	१
५	३	३५	३	६५	३	९५	३	१२५	३	११	१
६	३	३६	३	६६	३	९६	३	१२६	३	१२	४
७	३	३७	३	६७	३	९७	३	१२७	३	१३	२
८	३	३८	४	६८	३	९८	३	१२८	४	१४	४
९	३	३९	३	६९	३	९९	३	१२९	३	१५	१
१०	३	४०	३	७०	३	१००	३	१३०	४	१६	१
११	३	४१	३	७१	३	१०१	३	१३१	३	१७	४
१२	३	४२	३	७२	३	१०२	३	१३२	५	१८	२
१३	३	४३	३	७३	३	१०३	३	१३३	५	१९	१
१४	३	४४	३	७४	३	१०४	३	१३४	३	२०	६
१५	३	४५	३	७५	३	१०५	३	१३५	३	२१	१

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
२२	२
२३	१
२४	१
२५	२
२६	८
२७	१
२८	१
२९	२
३०	१
३१	१
३२	१
३३	१
३४	१
३५	३
३६	१
३७	१
३८	५
३९	१
४०	२
४१	२
४२	२
४३	१
४४	१
४५	२
४६	३
४७	२
४८	२
४९	२
५०	९
५१	१

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
५२	२
५३	७
५४	२
५५	१
५६	८
५७	२
५८	२
५९	१
६०	७
६१	२
६२	१
६३	१
६४	२
६५	३
६६	१
६७	१
६८	३
६९	१
७०	५
७१	१
७२	३
७३	११
७४	४
७५	२
७६	६
७७	३
७८	२
७९	४
८०	४
८१	६

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
८२	६
८३	४
८४	३
८५	१
८६	१
८७	१
८८	१
८९	४
९०	३
९१	१
९२	१
९३	१
९४	१
९५	३
९६	१
९७	८
९८	१
९९	१
१००	१
१०१	१
१०२	१
१०३	१
१०४	१
१०५	१
१०६	१
१०७	१
१०८	४
१०९	७
११०	३
१११	१
११२	२
११३	२
११४	२
११५	४

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
११६	२
११७	१
११८	१
११८	२८६

काण्ड ८	
१	२१
२	२८
३	२६
४	२५
५	२२
६	२६
७	२८
८	२४
९	२६
१०(१)	१३
(२)	१०
(३)	८
(४)	१६
(५)	१६
(६)	४
१०	२९३

काण्ड ९	
१	२४
२	२५
३	३१
४	२४
५	३८
६(१)	१७

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
(२)	१३
(३)	९
(४)	१०
(५)	१०
(६)	१४
७	२६
८	२२
९	२२
१०	२८
१०	३१३

काण्ड १०	
१	३२
२	३३
३	२५
४	२६
५	५०
६	३५
७	४४
८	४४
९	२७
१०	३४
१०	३५०

काण्ड ११	
१	३७
२	३१
३	५६
४	२६
५	२६

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
६	२३
७	२७
८	३४
९	२६
१०	२७
१०	३१३

काण्ड १२	
१	६३
२	५५
३	६०
४	५३
५	७३
५	३०४

काण्ड १३	
१	६०
२	४६
३	२६
४	५६
४	१८८

काण्ड १४	
१	६४
२	७५
२	१३९

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
काण्ड १५	
१	८
२	२८
३	११
४	१८
५	१६
६	२६
७	५
८	३
९	३
१०	११
११	११
१२	११
१३	१४
१४	२४
१५	९
१६	७
१७	१०
१८	५
१८	२२०
काण्ड १६	
१	१३
२	६
३	६
४	७
५	१०
६	११
७	१३
८	३३
९	४
९	१०३

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
काण्ड १७	
१	३०
१	३०
काण्ड १८	
१	६१
२	६०
३	७३
४	८९
४	२८३
काण्ड १९	
१	३
२	५
३	४
४	४
५	१
६	१६
७	५
८	७
९	१४
१०	१०
११	६
१२	१
१३	११
१४	१
१५	६
१६	२
१७	१०
१८	१०

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
१९	११
२०	४
२१	१
२२	२१
२३	३०
२४	८
२५	१
२६	४
२७	१५
२८	१०
२९	९
३०	५
३१	१४
३२	१०
३३	५
३४	१०
३५	५
३६	६
३७	४
३८	३
३९	१०
४०	४
४१	१
४२	४
४३	८
४४	१०
४५	१०
४६	७
४७	९
४८	६

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
४९	१०
५०	७
५१	२
५२	५
५३	१०
५४	५
५५	६
५६	६
५७	५
५८	६
५९	३
६०	२
६१	१
६२	१
६३	१
६४	४
६५	१
६६	१
६७	८
६८	१
६९	४
७०	१
७१	१
७२	१
७२	४५३
काण्ड २०	
१	३
२	४

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
३	३
४	३
५	७
६	९
७	४
८	३
९	४
१०	२
११	११
१२	७
१३	४
१४	४
१५	६
१६	१२
१७	१२
१८	६
१९	७
२०	७
२१	११
२२	६
२३	९
२४	९
२५	७
२६	६
२७	६
२८	४
२९	५
३०	५
३१	५
३२	३

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
३३	३
३४	१८
३५	१६
३६	११
३७	११
३८	६
३९	५
४०	३
४१	३
४२	३
४३	३
४४	३
४५	३
४६	३
४७	२१
४८	६
४९	७
५०	२
५१	४
५२	३
५३	३
५४	३
५५	३
५६	६
५७	१६
५८	४
५९	४
६०	६
६१	६
६२	१०

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
६३	९	७७	८	९१	१२	१०५	५	१२३	२	१४१	५
६४	६	७८	३	९२	२१	१०६	३	१२४	६	१४२	६
६५	३	७९	२	९३	८	१०७	१५	१२५	७	१४३	९
६६	३	८०	२	९४	११	१०८	३	१२६	२३		
६७	७	८१	२	९५	४	१०९	३	१२७	१४		
६८	१२	८२	२	९६	२४	११०	३	१२८	१६		
६९	१२	८३	२	९७	३	१११	३	१२९	२०		
७०	२०	८४	३	९८	२	११२	३	१३०	२०		
७१	१६	८५	४	९९	२	११३	२	१३१	२०		
७२	३	८६	१	१००	३	११४	२	१३२	१६		
७३	६	८७	७	१०१	३	११५	३	१३३	६		
७४	७	८८	६	१०२	३	११६	२	१३४	६		
७५	३	८९	११	१०३	३	११७	३	१३५	१३		
७६	८	९०	३	१०४	४	११८	४	१३६	१६		
						११९	२	१३७	१४		
						१२०	२	१३८	३		
						१२१	२	१३९	५		
						१२२	३	१४०	५	१४३	९५८

योगचक्र।

काण्ड	सूक्त	मंत्र	काण्ड	सूक्त	मन्त्र	काण्ड	सूक्त	मन्त्र	काण्ड	सूक्त	मन्त्र
१	३५	१५३	६	१४२	४५४	११	१०	३१३	१६	९	१०३
२	३६	२०७	७	११८	२८६	१२	५	३०४	१७	१	३०
३	३१	२३०	८	१०	२९३	१३	४	१८८	१८	४	२८३
४	४०	३२४	९	१०	३१३	१४	२	१३९	१९	७२	४५३
५	३१	३७६	१०	१०	३५०	१५	१८	२२०	२०	१४३	९५८
५	१७३	१२९०	५	२९०	१६९६	५	३९	११६४	५	२२९	१८२७

महायोग, काण्ड २०, सूक्त ७३१ मन्त्र ५,९७७॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	ये त्रिषप्ताः परियन्ति	वाचस्पति	बुद्धि वृद्धि	अनुष्टुप्
२	विद्मा शरस्य पितरं	इन्द्र	तथा	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
३	विद्मा शरस्य पितरं	पर्जन्य आदि	शान्ति करण	पङ्क्ति, अनुष्टुप्
४	अम्बयो यन्त्यध्वभिर्	आपः	परोपकार	गायत्री, पङ्क्ति।
५	आपो हिष्ठा मयोभुवस्	तथा	बल प्राप्ति	गायत्री।
६	शं नो देवी रभीष्टय	,,	आरोग्यता	गायत्री, पङ्क्ति।
७	स्तुवानमग्न आ वह	इन्द्राग्नी	सेनापति	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्।
८	इदं हविर्यातुधानान्	अग्नि, सोम	तथा	,, ,,
९	अस्मिन् वसु वसवो	विश्वे देवा	सर्वसम्मत्ति	त्रिष्टुप्
१०	अयं देवानामसुरो	वरुण	वरुण वर्णन	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्।
११	वषट् ते पूषन्नस्मिन्	पूषा	सृष्टि विद्या	अनुष्टुप्, पङ्क्ति।
१२	जरायुजः प्रथम उस्रियः	वृषा	ईश्वर आदि	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्।
१३	नमस्ते अस्तु विद्युते	प्रजापति	आत्म रक्षा	अनुष्टुप्, जगती
१४	भगमस्या वर्च आदिष्य	वधूवर	विवाह	अनुष्टुप्।
१५	सं संस्रवन्तु सिन्धवः	प्रजापति	ऐश्वर्यप्राप्ति	अनुष्टुप्, आदि
१६	योऽमावास्यां रात्रि	अग्निआदि	विघ्ननाश	अनुष्टुप्।
१७	अमूर्या यन्ति योषितो	हिरा	नाड़ी छेदन	अनुष्टुप्, गायत्री
१८	निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं	सविता	राजधर्म	अनुष्टुप्, जगती।
१९	मा नो विदन् वि व्याधि	इन्द्र	जय और न्याय	अनुष्टुप्, पङ्क्ति।
२०	अदारसृद् भवतु देव	सोम, मरुत्	शत्रुओं से रक्षा	जगती, अनुष्टुप्।
२१	स्वस्तिदा विशां पतिर्	इन्द्र	राजनीति	अनुष्टुप्
२२	अनु सूर्यमुदयतां	सूर्य	रोग का नाश	,,
२३	नक्तं जातास्योषधे	ओषधि	रोग नाश	,,
२४	सुपर्णो जातः प्रथमस्	तथा	तथा	अनुष्टुप्, पङ्क्ति।
२५	यदग्निरापो अदहत्	अग्नि	रोगशान्ति	त्रिष्टुप्।
२६	आरे ऽसावस्मदस्तु	इन्द्र	युद्ध प्रकरण	गायत्री।
२७	अमूः पारे पृदाक्वस्	प्रजापति	,,	पङ्क्ति, अनुष्टुप्।
२८	उप प्रागाद्देवो अग्नी	अग्नि	,,	अनुष्टुप्।
२९	अभी वर्तेन मणिना	ब्रह्मणस्पति	राजतिलक	,,
३०	विश्वे देवा वसवो	विश्वे देवा	,,	त्रिष्टुप्।
३१	आशानामाशापालेभ्य	प्रजापति	पुरुषार्थ	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्।
३२	इदं जनासो विदथ	ब्रह्म	ब्रह्मविचार	अनुष्टुप्।

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
३३	हिरण्यवर्णाः शुचयः	आपः	तन्मात्रायें	त्रिष्टुप्
३४	इयं वीरुन्मधुजाता	वीरुध्=लता	विद्याप्राप्ति	त्रिष्टुप्
३५	यदाबध्नन् दाक्षायणा	हिरण्य	सुवर्ण आदि	त्रिष्टुप्

२—अथर्ववेद, काण्ड १ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से

संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद सूक्त, मंत्र	ऋग्वेद, मंडल, सूक्त, मंत्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, इत्यादि
१	अम्बयो यन्त्यध्वभिर्	४ । १	१ । २३ । १६		
२	अमूर्या उप सूर्ये	४ । २	१ । २३ । १७		
३	अपो देवीरुप ह्वये	४ । ३	१ । २३ । १८		
४	अप्स्वन्तरमृत	४ । ४	१ । २३ । १९	९ । ६	
५	आपो हि ष्ठा मयो	५ । १	१० । ९ । १	११।५०–५२	
६	यो वः शिवतमो	५ । २	१० । ९ । २	तथा	उ०९।२।१०
७	तस्मा अरं गमाम वो	५ । ३	१० । ९ । ३	३६।१४–१६	
८	ईशाना वार्याणां	५ । ४	१० । ९ । ५		
९	शं नो देवीरभिष्टय	६ । १	१ । २३ । २०, २१	३६ । १२	पू०१।३।१३
१०	अप्सु मे सोमो	६ । २	१० । ९ । ४, ६		
११	आपः पृणीत भेषजं	६ । ३	१० । ९ । ७		
१२	यो नः स्वो यो अरणः	१९ । ३,४	६ । ७५ । १९		उ० ९।१।८
१३	वि महच्छर्म यच्छ	२० । ३	१० । १५२ । ५		
१४	शास इत्था महां असि	२० । ४	१० । १५२ । १		
१५	स्वस्तिदा विशां पति	२१ । १	१० । १५२ । २		
१६	वि न इन्द्र मृधो जहि	२१ । २	१० । १५२ । ३		उ० ९।३।७
१७	वि रक्षो वि मृधो जहि	२१ । ३	१० । १५२ । ४		
१८	अपेन्द्र द्विषतो मनो	२१ । ४	१० । १५२ । ५		
१९	शुकेषु ते हरिमाणं	२२ । ४	१ । ५० । १२		
२०	अभी वर्तेन मणिना	२९ । १	१० । १७४ । १		
२१	अभिवृत्य सपत्नानभि	२९ । २	१० । १७४ । २		
२२	अभि त्वा देवः सविता	२९ । ३	१० । १७४ । ३		
२३	उदसौ सूर्यो अगादुदिदं	२९ । ५	१० । १५९ । १		
२४	सपत्नक्षयणो वृषा	२९ । ६	१० । १७४ । ५		
२५	यदाबध्नन् दाक्षायणा	३५ । १	—	३४ । ५२	
२६	नैनं रक्षांसि न पिशाचाः	३५ । २	—	३४ । ५१	

ओ३म् ।

अथर्ववेदः ॥

प्रथमं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

मन्त्राः १-४ । अथर्वा ऋषिः । वाचस्पतिर्देवता । अनुष्टुप्छन्दः, ८×४ अक्षराणि ॥

बुद्धिवृद्ध्युपदेशः—बुद्धि की वृद्धि के लिये उपदेश ।

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १ ॥

ये । त्रि-सप्ताः । परि-यन्ति । विश्वा । रूपाणि । बिभ्रतः ।
वाचः । पतिः । बला । तेषाम् । तन्वः । अद्य । दधातु । मे ॥१॥

सान्वय भाषार्थ—(ये) जो पदार्थ (त्रि-सप्ताः) १-सब के संतारक, रक्षक परमेश्वर के सम्बन्ध में, यद्वा, २—रक्षणीय जगत् [यद्वा—तीन से सम्बन्धी ३-तीनों काल भूत, वर्तमान और भविष्यत् । ४-तीनों लोक, स्वर्ग, मध्य, और भूलोक । ५-तीनों गुण, सत्त्व, रज और तम । ६-ईश्वर, जीव,

---

१-शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—(ये) पदार्थाः । (त्रि-सप्ताः) तरतेर्ड्रिः । उ० ५ । ६६ । इति तॄ तरणे—ड्रि । तरति तारयति तार्यते वा त्रिः ।

और प्रकृति। यद्वा, तीन और सात=दस। ७-चार दिशा, चार विदिशा, एक ऊपर की ओर एक नीचे की दिशा। ८-पांच ज्ञान इन्द्रिय, अर्थात् कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका और पांच कर्म इन्द्रिय, अर्थात् वाक्, हाथ, पांव, पायु, उपस्थ। यद्वा, तीन गुणित सात=इक्कीस। ९-महाभूत ५+प्राण ५+ज्ञान इन्द्रिय ५+कर्म इन्द्रिय ५+अन्तःकरण १ इत्यादि] के सम्बन्ध में [वर्त्तमान] हो कर, (विश्वा=विश्वानि) सब (रूपाणि) वस्तुओं को (बिभ्रतः) धारण करते हुये (परि) सब ओर (यन्ति) व्याप्त हैं। (वाचस्पतिः) वेदरूप वाणी का स्वामी परमेश्वर (तेषाम्) उन के (तन्वः) शरीर के (बला=बलानि बलों को (अद्य) आज (मे) मेरे लिये (दधातु) दान करे ॥ १ ॥

भावार्थ—आशय यह है कि तृण से लेकर परमेश्वर पर्यन्त जो पदार्थ संसार की स्थिति के कारण हैं, उन सब का तत्त्वज्ञान (वाचस्पतिः) वेद वाणी के स्वामी सर्वगुरु जगदीश्वर की कृपा से सब मनुष्य वेद द्वारा प्राप्त करें और

परमेश्वरो जगद्वा। संख्यावाची वा। सप्यशूभ्यां तुट् च। उ० १। १५७। इति षप समवाये—कनिन्, तुट् च। सपति समवैतीति सप्तन् संख्याभेदो वा। यद्वा, षप समवाये-क्त। त्रिणा तारकेण परमेश्वरेण तारणीयेण जगता वा सह सम्बद्धाः पदार्थाः। यद्वा। त्रयश्च सप्त चेति त्रिषप्ता दश दिशाः। यद्वा। त्रिगुणिताः सप्त एकविंशतिसंख्याकाः पदार्थाः। डच्प्रकरणे संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्। वार्तिकम्, पा० ५। ४। ७३। इति समासे डच्। विशेषव्याख्या भाषायां क्रियते (परि-यन्ति) इण् गतौ—लट्। परितः सर्वतो गच्छन्ति व्याप्नुवन्ति (विश्वा) अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्। उ० १। १५१। इति विश प्रवेशे-क्वन्। शेश्छन्दसि बहुलम्। पा० ६। १। ७०। इति शेर्लोपः। विश्वानि। सर्वाणि (रूपाणि) खष्प शिल्प शष्प बष्परूपपर्पतल्पाः। उ० ३। २८। इति रु ध्वनौ—प प्रत्ययो दीर्घश्च। रूयते कीर्त्यते तद् रूपम्। यद्वा, रूप रूपकरणे—अच्। सौंदर्याणि, चेतनाचेतनात्मकानि वस्तूनि (बिभ्रतः) डुभृञ् धारणपोषणयोः—लटः शतृ। जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः। नाभ्यस्ताच्छतुः। पा० ७। १। ७८। इति नुमः प्रतिषेधः। धारयन्तः। पोषयन्तः (वाचः) क्विब् वचिप्रच्छिश्रि० । उ० २। ५७। इति वच् वाचि—क्विप्। दीर्घश्च। वाण्याः। वेदात्मिकायाः (पतिः) पातेर्डतिः। उ० ४। ५७। इति पा रक्षणे—डति। रक्षकः। सर्वगुरुः परमेश्वरः (वाचस्पतिः)—षष्ठ्याः पतिपुत्र०। पा० ८। ३। ५३। इति विसर्गस्य सत्वम् (बला) बल हिंसे जीवने

उस अन्तर्यामी पर पूर्ण विश्वास करके पराक्रमी और परोपकारी होकर सदा आनन्द भोगें ॥ १ ॥

भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—योगदर्शन, पाद १ सूत्र २६।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥

वह ईश्वर सब पूर्वजों का भी गुरु है क्योंकि वह काल से विभक्त नहीं होता।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।

वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ २ ॥

पुनः । आ । इहि । वाचः । पते । देवेन । मनसा । सह ।

वसोः । पते । नि । रमय । मयि । एव । अस्तु । मयि । श्रुतम् ॥२॥

भाषार्थ—(वाचस्पते) हे वाणी के स्वामी परमेश्वर ! तू (पुनः) बारंबार (एहि) आ । (वसोः पते) हे श्रेष्ठ गुण के रक्षक ! (देवेन) प्रकाशमय (मनसा सह) मन के साथ (नि) निरन्तर (रमय) [मुझे] रमण करा, (मयि) मुझ में [वर्त्तमान] (श्रुतम्) वेदविज्ञान (मयि) मुझ में (एव) ही (अस्तु) रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक (वाचस्पति) परम गुरु परमेश्वर का ध्यान निरन्तर करता रहे और पूरे स्मरण के साथ वेद विज्ञान से अपने हृदय को शुद्ध करके सदा सुख भोगे ॥ २ ॥

च—पद्याद्यच् । पूर्ववत् शेर्लोपः । बलानि (तेषाम्) त्रिसप्तानां पदार्थानाम् (तन्वः) भूमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति तनु विस्तृतौ—उ प्रत्ययः । ततः स्त्रियाम् ऊङ् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति विभक्तेः स्वरितः, उदात्तस्य ऊकारस्य यणि परिवर्त्तिते । तन्वाः शरीरस्य (अद्य) सद्यः परुत्परार्यैषमः० । पा० ५ । ३ । २२ । इति इदम् शब्दस्य अश्भावः, द्यस् प्रत्ययो दिनेऽर्थे च निपात्यते । अस्मिन् दिने, अध्ययनकाले (दधातु) डुधाञ् धारणपोषणयोः, दाने च—लोट् । जुहोत्यादिः । शपः श्लुः । धारयतु, स्थापयतु, ददातु (मे) मह्यम्, मदर्थम् ।

२—(पुनः) पनाय्यते स्तूयत इति । पन स्तुतौ-अर्, अकारस्य उत्वं पृषोदरादित्वात् । अवधारणेन । बारंबारम् (आ+इहि) आ+इण् गतौ लोट् । आगच्छ (वाचः+पते) मं० १ । हे वाण्याः स्वामिन्, हे ब्रह्मन् । वाचस्पतिर्वाचः पाता वा पालयिता वा-निरु० १० । १७ (देवेन) नन्दिग्रहि-

टिप्पणी—भगवान् यास्क मुनि ने (वाचस्पति) का अर्थ "वाचःपाता वा पालयिता वा '—अर्थात् वाणी की रक्षा करने वाला वा कराने वाला किया है— निरु० १०। १७। और निरु० १०। १८। में उदाहरण रूप से इस मन्त्र का पाठ इस प्रकार है।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते निरामय मय्येव तन्वं१ मम॥ १॥

हे वाणी के स्वामी तू बारम्बार आ। हे धन वा अन्न के रक्षक! प्रकाशमय मन के साथ मुझ में ही मेरे शरीर को नियम पूर्वक रमण करा॥

मन की उत्तम शक्तियों के बढ़ाने के लिये (यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैवम्) इत्यादि यजुर्वेद अ० ३४ म० १–६ भी हृदयस्थ करने चाहियें।

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥ ३॥

इह। एव। अभि। वि। तनु। उभे इति। आर्त्नी इवेत्यार्त्नी इव। ज्यया। वाचः। पतिः। नि। यच्छतु। मयि। एव। अस्तु। मयि। श्रुतम्॥ ३॥

भाषार्थ—(इह) इस के ऊपर (एव) ही (अभि) चारो ओर से (वि तनु)

पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। पा० ३। १। १३४। इति दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—पचाद्यच्। दिव्येन, द्योतकेन, प्रकाशमयेन (मनसा) सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति मन ज्ञाने असुन्। चित्तेन, अन्तःकरणेन (वसोः) शृस्वृस्निहीति। उ० १। १०। इति वस निवासे आच्छादने—उ प्रत्ययः। श्वसो वसीयश्श्रेयसः। पा० ५। ४। ८०। अत्र वसु शब्दः प्रशस्तवाची। श्रेष्ठगुणस्य। अथवा छन्दसि वसुनः धनस्य (पते) मं० १। पालयितः, स्वामिन् (वसोष्पते) षष्ठ्याः पतिपुत्र०। पा० ८। ३। ५३। इति विसर्गस्य सत्वम्। आदेशप्रत्यययोः। पा० ८। ३। ५९। इति षत्वम् (नि) नियमेन, नितराम् (रमय) हेतुमति च। पा० ३। १। २६। इति रमु क्रीडायाम्—णिच्—लोट्। णिचि वृद्धिप्राप्तौ। मितां ह्रस्वः। पा० ६। ४। ९२। इति मित्वात् उपधाह्रस्वः। क्रीडय, आनन्दय माम् (मयि) ममात्मनि वर्त्तमानम् (श्रुतम्) श्रूयतेस्म यदिति। श्रु श्रुतौ—क्त। अधीतम्, वेदशास्त्रम्॥

३—(इह) अत्र, अस्योपरि, अस्मिन् ब्रह्मचारिणि, ममोपरि (अभि)

तू अच्छे प्रकार फैल, (इव) जैसे (उभे) दोनों (आर्त्नी) धनुष कोटियें (ज्यया) जय के साधन, चिल्ला के साथ [तन जाती हैं]। (वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी (नि यच्छतु) नियम में रक्खे, (मयि) मुझ में [वर्त्तमान] (श्रुतम्) वेद विज्ञान (मयि) मुझ में (एव) ही (अस्तु) रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे संग्राम में शूरवीर धनुष् की दोनों कोटियों को डोरी में चढ़ा कर बाण से रक्षा करता है उसी प्रकार आदिगुरु परमेश्वर अपने कृपा-युक्त दोनों हाथों को [अर्थात् अज्ञान की हानि और विज्ञान की वृद्धि को] इस मुझ ब्रह्मचारी पर फैला कर रक्षा करे और नियम पालन में दृढ़ करके परम सुखदायक ब्रह्मविद्या का दान करे और विज्ञान का पूरा स्मरण मुझ में रहे ॥३॥

भगवान् यास्क के अनुसार-निरुक्त ६। १७ (ज्या) शब्द का अर्थ जीतने वाली यद्वा आयु घटाने वाली अथवा बाणों को छोड़ने वाली वस्तु है ॥

उप॑हूतो वा॒चस्प॑ति॒रुपा॒स्मान् वा॒चस्पति॒र्ह्व॑यताम् ।
सं श्रु॒तेन॑ गमेमहि॒ मा श्रु॒तेन॒ वि रा॑धिषि ॥ ४ ॥

उप॑-हूतः । वा॒चः । पति॑ः । उप॑ । अ॒स्मान् । वा॒चः । पति॑ः । ह्व॒य॒ता॒म् । सम् । श्रु॒तेन॑ । ग॒मे॒म॒हि॒ । मा । श्रु॒तेन॑ । वि । रा॒धि॒षि॒ ॥ ४

भाषार्थ—(वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी, परमेश्वर (उपहूतः) समीप बुलाया गया है, (वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी (अस्मान्) हम को (उपह्वय-

---

अभितः सर्वतः (वितनु) तनु विस्तारे-लोट् अकर्मकः। वितनुहि, वितन्यस्व विस्तृतो भव (उभे) ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्। पा० १। १। ११। इति प्रगृह्यम्। द्वये (आर्त्नी) आङ्+ऋ गतौ–क्तिन्, नकारोपसर्जनम्। पूर्ववत् प्रगृह्यम् आर्त्नी, धनुष्कोटी, अटन्यौ, धनुःप्रान्ते। आर्त्नी अर्तन्यौ वारण्यौ वारिषण्यौ वा निरु० ६। ३६ (ज्यया) ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीषूनिति वा–निरु० ६। १७। अघ्न्यादयश्च। उ० ४। ११२। इति जि जये, वा ज्या वयोहानौ णिच्–वा, जु रंहसि गतौ, णिच्—यक्। निपातनात् साधुः। यद्वा। अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३। २। १०१। इति ज्यु गत्याम् यद्वा, ज्या वयोहानौ णिच्–ड। टाप्। धनुर्गुणेन, मौर्व्या (वाचः+पतिः) म० १। वाण्याः स्वामी (नि+यच्छतु) नियमतु, नियमे रक्षतु। अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च।

४—(उप+हूतः) उप+ह्वेञ् आह्वाने—क्त। समीपं कृताह्वानः, कृत-

ताम्) समीप बुलावे। (श्रुतेन) वेद विज्ञान से (सं गमेमहि) हम मिले रहें। (श्रुतेन) वेद विज्ञान से (मा वि राधिषि) मैं अलग न हो जाऊं ॥ ४ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी लोग परमेश्वर का आवाहन करके निरन्तर अभ्यास और सत्कार से वेदाध्ययन करें जिस से प्रीति पूर्वक आचार्य की पढ़ायी ब्रह्मविद्या उन के हृदय में स्थिर हो कर यथावत् उपयोगी होवे ॥ ४ ॥

टिप्पणी—इस सूक्त का यह भी तात्पर्य है कि जिज्ञासु ब्रह्मचारी अपने शिक्षक आचार्यों का सदा आदर सत्कार करके यत्न पूर्वक विद्याभ्यास करें जिस से वह शास्त्र उन के हृदय में दृढ़भूमि होवे ॥

सूक्तम् २ ॥

१-४ ॥ अथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४ । अनुष्टुप्, ८×४ । ३ त्रिपदा त्रिष्टुप्, ११×३ अक्षराणि ॥

बुद्धिवृद्ध्युपदेशः—बुद्धि की वृद्धि के लिये उपदेश ।

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॑ प॒र्जन्यं॒ भूरि॑धायसम् ।
वि॒द्मो ष्व॑स्य मा॒तरं॑ पृथि॒वीं भूरि॑वर्पसम् ॥ १ ॥

वि॒द्म । श॒रस्य॑ । पि॒तर॑म् । प॒र्जन्य॑म् । भूरि॑-धायसम् ।
वि॒द्मो इति॑ । सु । अ॒स्य॒ । मा॒तर॑म् । पृ॒थि॒वीम् । भूरि॑-वर्पसम् १

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [वाणधारी] शूर पुरुष के (पितरम्) रक्षक, पिता, (पर्जन्यम्) सींचने वाले मेघ रूप (भूरिधायसम्) बहुत प्रकार

स्मरणः (वाचः+पतिः) मं० १ ॥ वाण्याः पालयिता, परमेश्वरः (उप) समीपे । आदरेण (ह्वयताम्) ह्वेञ्—लोट् । आह्वयतु स्मरतु (श्रुतेन) मं० २ । अधीतेन, शास्त्रविज्ञानेन (सम्+गमेमहि) सम् पूर्वकात् गम्लृ संगतौ-आशीर्लिङि । समो गम्यृच्छि प्रच्छि०। पा० १ । ३ । २६ । इति आत्मनेपदम् । व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । ८२ इति समः क्रियापदेन सम्बन्धः । संगच्छेमहि, संगता भूयास्म (मा+वि+राधिषि) राध संसिद्धौ । विराध वियोगे-लुङि, आत्मनेपदमेकवचनम् इडागमश्च । माङि लुङ् । पा० ३ । ३ । १७५ । इति लुङ् । नमाङ् योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । इति माङि अटोऽभावः । अहं वियुक्तो मा भूवम् ।

१—(विद्म) विद ज्ञाने-लट् । अदादित्वात् शपो लुक् । द्व्यचोऽतस्तिङः ।

से पोषण करनेवाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। (अस्य) इस शूर की (मातरम्) माननीया माता, (पृथिवीम्) विख्यात वा विस्तीर्ण पृथिवीरूप (भूरिवर्पसम्) अनेक वस्तुओं से युक्त [ईश्वर] को (सु) भली भांति (विद्म उ) हम जानते ही हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ, जल की वर्षा करके और पृथ्वी, अन्न आदि उत्पन्न करके प्राणियों का बड़ा उपकार करती है, वैसे ही वह जगदीश्वर परब्रह्म सब मेघ, पृथ्वी आदि लोक लोकान्तरों का धारण और पोषण नियम पूर्वक करता है। जितेन्द्रिय शूरवीर विद्वान् पुरुष उस परब्रह्म को अपने पिता के समान रक्षक, और माता के समान माननीय और मान कर्त्ता जान कर (भूरिधायाः)

पा० ६ । १ । १३५ । इति सांहितिको दीर्घः । वयं जानीमः (शरस्य) शृणाति शत्रून् । ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति शॄ हिंसे-अप् । शत्रुनाशकस्य बाणस्य। अथवा, शरो बाणः, तदस्यास्ति । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे अच् । बाणवतः शूरपुरुषस्य (पितरम्) नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० । उ० २ । ९५ । इति पा रक्षणे-तृन् वा तृच् निपातनात् साधुः । रक्षकम् । जनकम्। पातारं पालयितारं वा-निरु० ४ । १६ (पर्जन्यम्) पर्षति सिञ्चति वृष्टिं करोतीति पर्जन्यः । पर्जन्यः । उ० ३ । १०३ । इति पृषु सेचने-अन्यप्रत्ययः, षस्य जकारः । पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः परो जेता वा जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानाम्-निरु० १० । १० । सेचकम् । मेघम् । मेघवद् उपकर्त्तारम् (भूरि-धायसम्) वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि । उ० ४ । २२१ । इति भूरि+ डुधाञ् धारणपोषणयोः दाने च-असुन्, स च णित् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० । ७ । ३ । ३३ । इति युक् । बहुपदार्थधारयितारं सृष्टेः पोषयितारं परमेश्वरम् (विद्मो इति) विद्म-उ । वयं जानीम एव (सु) सुष्ठु (अस्य) शरस्य (मातरम्) मान्यते पूज्यते सा माता । नप्तृनेष्टृत्वष्टृ । उ० २ । ९५ । इति मान पूजायाम्-तृन् वा तृच्, निपातः । माननीयाम् । जननीम् (पृथिवीम्) १ । ३० । ३ प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च । उ० १ । २८ । इति प्रथ प्रख्याने-कु । वोतो गुणवचनात् । पा० ४ । १ । ४४ । इति । पृथु-ङीष् । विस्तीर्णा प्रख्याता वा पृथिवी । अथवा, प्रथते विस्तीर्णा भवतीति पृथिवी । प्रथेः षिवन्षवन्ष्वनः संप्रसारणं च । उ० १ । १५० । इति प्रथ ख्यातौ विस्तारे —षिवन्, संप्रसारणं च । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीष् । भूमिम् । भूमिवद् गुणवन्तम् (भूरिवर्पसम्) व्रियते स्वीक्रियते तत् । वर्पो

अनेक प्रकार से पोषण करने वाला और (भूरिवर्पाः) अनेक वस्तुओं से युक्त होकर परोपकार में सदा प्रसन्न रहे ॥ १ ॥

ज्याके॒ परि॑ णो नमाश्मानं॑ तुन्वं॑ कृधि ।
वीडुर्व॒रीयोऽरा॑तीरप॒ द्वेष्यांस्या कृ॑धि ॥ २ ॥

ज्याके॑ । परि॑ । नः॒ । न॒म॒ । अश्मा॑नम् । तन्व॑म् । कृ॒धि॒ ।
वी॒डुः । वरी॑यः । अरा॑तीः । अप॑ । द्वेषां॑सि । आ । कृ॒धि॒ ॥२॥

भाषार्थ—[हे इन्द्र] (ज्याके) जय के लिये (नः) हम को (परि) सर्वथा (नम) तू झुका, (तन्वम्) [हमारे] शरीर को (अश्मानम्) पत्थर सा [सुदृढ़] (कृधि) बनादे। (वीडुः) तू दृढ़ होकर (अरातीः) विरोधों और (द्वेषांसि) द्वेषों को (अप=अपहृत्य) हटाकर (वरीयः) बहुत दूर (आ कृधि) करदे ॥ २ ॥

अथवा, (ज्याके) दोनों जय के साधनों [मेघ और भूमि] को (नः परि) हमारी ओर (नम) तू झुका । यह अर्थ प्रयुक्त करो ।

भावार्थ—परमेश्वर में पूर्ण विश्वास करके मनुष्य आत्मबल और शरीर बल प्राप्त करें और सब विरोधों को मिटावें ॥ २ ॥

रूपम्—निघ० ३ । ७ वृङ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुट् च । उ० ४ । २०१ । इति वृङ् स्वीकरणे—असुन्, पुट् आगमः । भूरीणि बहूनि रूपाणि वस्तूनि यस्मिन् स भूरिवर्पाः । अनेकवस्तुयुक्तं परमेश्वरम् ॥

२—ज्याके । ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीषूनिति वा-निरु० ६ । १७ । सजेराकः । उ० ४ । १३ । इति जि जये-आकप्रत्ययः । निपात्यते च । सप्तम्यधिकरणे च । पा० २ । ३ । ३६ । अत्र । निमित्तात् कर्मसंयोगे सप्तमी वक्तव्या । वार्तिकम् । इति निमित्ते सप्तमी । जयनिमित्ते=जयार्थम् । यद्वा १ । १ । ३ । ज्या-स्वार्थे कन्, टाप् च । जयसाधने [उभे पर्जन्यपृथिव्यौ]-स्त्रियां द्वितीयाद्विवचनम् (परि) परितः सर्वतः (नः) अस्मान् (नम) नमय, प्रह्वीकुरु (अश्मानम्) अशि शकिभ्यां छन्दसि । उ० ४ । १४७ । इति अशू व्याप्तौ, वा अश भोजने—मनिन् । अश्मा मेघनाम-निघ० १ । १० । पाषाणं, प्रस्तरवद् दृढम् (तन्वम्) १ । १ । १ छंदसि यण् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । तनूम्, शरीरम् (कृधि) डुकृञ् करणे—लोट् । कुरु (वीडुः) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति वील संस्तम्भे उ, लस्य डः । वीलु

सायणाचार्य ने अर्थ किया है कि (ज्याके) हे कुत्सित चिल्ला ! (नः) हम को (परि) छोड़ कर (नम) झुक। हमारी समझ में यह असंगत है, सम्पूर्ण सूक्त का देवता इन्द्र है ॥

वृक्षं यद् गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम्। शरुमस्मद् यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥

वृक्षम्। यत्। गावः। परि-सस्वजानाः। अनु-स्फुरम्। शरम्। अर्चन्ति। ऋभुम्। शरुम्। अस्मत्। यवय। दिद्युम्। इन्द्र ३

भावार्थ—(यत्) जब (वृक्षम्) धनुष से (परि-सस्वजानाः) लिपटी हुयी (गावः) चिल्ले की डोरियां (अनुस्फुरम्) फुरती करते हुये (ऋभुम्) विस्तीर्ण ज्योति वाले, अथवा सत्य से प्रकाशमान वा वर्त्तमान, बड़े बुद्धिमान् (शरम्) बाणधारी शूरपुरुष की (अर्चन्ति) स्तुति करें। [तब] (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्यवाले जगदीश्वर ! [वा, हे वायु !] (शरुम्) बाण और (दिद्युम्) वज्र को (अस्मत्) हम से (यावय) तू अलग रख ॥ ३ ॥

बलनाम—निघ० २। ६। वीलयतिश्च व्रीलयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ—निरु० ५। १६। वीड्वी दृढा (वरीयः) प्रियस्थिरेत्यादिना। पा० ६। ४। १५७। इति उरु—ईयसुन् वरादेशः। क्रियाविशेषणम्। उरुतरं दूरतरम् (अरातीः) न राति ददाति सुखं स अरातिः शत्रुः। क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्। पा० ३। ३। १७४। इति रा दाने-क्तिच्, नञ्समासः। सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण०। पा० ७। १। ३९ इति पूर्वसवर्णः। अरातीन् शत्रून्। यद्वा क्तिन् प्रत्ययान्ते, शत्रुभावान्, विरोधान् (अप) अपहत्य (द्वेषांसि) द्विष अप्रीतौ भावे-असुन्। द्वेषान् (आ) ईषदर्थे।

३—(वृक्षम) स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्। उ० ३। ६६। इति ओ व्रश्चू छेदने-क्स प्रत्ययः। वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि वृक्षो व्रश्चनात्—निरु० २। ६। धनुर्दण्डम्। धनुः (यत्) यदा (गावः) गमेर्डोः। उ० २। ६७। इति गम्लृ गतौ-डो। ज्यापि गौरुच्यते गव्या चेत् ताद्धितमथचेन्न गव्या गमयतीषूनिति-निरु० २। ५। ज्याः, मौर्व्यः (परि-सस्वजानाः) ष्वञ्ज परिष्वङ्गे, लिटः कानच्, नकारलोपे द्विर्वचनम्। आश्लिष्य धनुष्कोटी आरोपिताः (अनु स्फुरम्)

भावार्थ-जब दोनों ओर से (आध्यात्मिक वा आधिभौतिक) घोर संग्राम होता हो, बुद्धिमान् चतुर सेनापति ऐसा साहस करे कि सब योद्धा लोग उस की बड़ाई करें, और वह परमेश्वर का सहारा लेकर और अपने प्राण वायु को साधकर शत्रुओं को निरुत्साह करदे, और जय प्राप्त करके आनन्द भोगे ॥ ३ ॥

निरुक्त अध्याय २, खंड ६ और ५ के अनुसार (वृत्त) का अर्थ [धनुष] इस लिये है कि उस से शत्रु छेदा जाता है और (गौ) का नाम चिल्ला इस लिये है कि उस से बाणों को चलाते हैं ॥

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् ।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥ ४ ॥

यथा । द्याम् । च । पृथिवीम् । च । अन्तः । तिष्ठति । तेजनम् । एव । रोगम् । च । आ-स्रावम् । च । अन्तः । तिष्ठतु । मुञ्जः । इत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (तेजनम्) प्रकाश (द्यां च) सूर्य लोक (च) और

स्फुर संचलने-घञर्थे कविधानम् । प्रनिस्फुरणम्, स्फूर्तियुक्तम् (शरम्) म० १ । शत्रुछेदकम् । बाणधारकं शूरम् (अर्चन्ति) पूजयन्ति, स्तुवन्ति । (ऋभुम्) ऋ गतौ-क्विप् । ऋकारः=उरु वा ऋतम् । ऋ+भा दीप्तौ वा भू सत्तायाम्-डु । यद्वा, उरुशब्दस्य ऋतशब्दस्य वा ऋकार आदेशः । ऋभव उरु भान्तीति वर्त्तेन भान्तीति वर्त्तेन भवन्तीति वा-निरु०११ । १५ । ऋभुः=मेधावी-निघ०३।१५ । उरुभासनम्, ऋतेन सत्येन भान्तं भवन्तं वा । मेधाविनम् (शरुम्) शृस्वृस्निहि०।उ०१।१० । इति शॄ हिंसायाम्-उ प्रत्ययः । छेदकं बाणम् (अस्मत्) अस्मत्तः (यवय) यु मिश्रणामिश्रणयोः-णिच्-लोट् । पृथक् कुरु (दिद्युम्) द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च । वार्त्तिकम् । पा० ३ । २ । १७८ । इति द्युत दीप्तौ-क्विप् । द्योतते उज्ज्वलत्वात् । अथवा दो अवखण्डने-क्विप् । द्यति खण्डयति शत्रून् । पृषोदरादिः, तलोपश्छान्दसः । दिद्युत्, वज्रः—निघ० २ । २० । वज्रम् (इन्द्र) ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति इदि परमैश्वर्ये—रन् । ञिनत्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १९७ । इति नित्वात् आद्युदात्तत्वे प्राप्ते आमन्त्रितत्वात् सर्वानुदात्तत्वम् । इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । पा० ५ । २ । ९३ । वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः-निरु० ७ । ५ । हे परमैश्वर्यवन्, वायो, हे जीव ।

४—(यथा) येन प्रकारेण (द्याम्) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । इति बाहु-

(पृथिवीम) पृथिवी लोक के (अन्तः) बीच में (तिष्ठति) रहता है। (एव) वैसे ही (मुञ्जः) शोधने वाला परमेश्वर [वा औषध] (इत्) भी (रोगं च) शरीर भंग (च) और (आस्रावम्) रुधिर के बहाव वा घाव के (अन्तः) बीच में (तिष्ठतु) स्थित होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने बाहिरी और भीतरी क्लेशों में (मुञ्ज) हृदय संशोधक परमेश्वर का स्मरण रखते हैं वे दुःखों से पार होकर तेजस्वी होते हैं। अथवा जैसे सद्वैद्य (मुञ्ज) संशोधक औषधि से बाहिरी और भीतरी रोग का प्रतीकार करता है, वैसे ही आचार्य विद्या प्रकाश से ब्रह्मचारी के अज्ञान का नाश करता है ॥ ४ ॥

सायण भाष्य में (तेजनम्) नपुंसक लिङ्ग को [तेजनः] पुलिंग मानकर [वेणुः] अर्थात् बांस अर्थ किया है वह असंगत है ॥

सूक्तम ३ ॥

१-६ ॥ अथर्वा ऋषिः। पर्जन्यादयो देवताः। १-५ पंक्तिः ८×५, ६-६ अनुष्टुप् छन्दः, ८×४ अक्षराणि ॥

शान्तिकरणम्—शान्ति के लिये उपदेश।

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ १ ॥

लकात् द्युत दीप्तौ-डो प्रत्ययः। सूर्यलोकम् (पृथिवीम्) मं० २। प्रख्यातां विस्तीर्णां वा भूमिम् (अन्तः) अम गतौ-अरन्, तुडागमः। अन्तरान्तरेण युक्ते। पा० २।३।४। इति छन्दसि मध्यशब्दस्य पर्यायवाचकत्वात् अन्तर् इति शब्देन सह द्वितीया। द्वयोर्मध्ये (तिष्ठति) वर्तते (तेजनम्) नपुंसकम्। तिज तीक्ष्णीकरणे-ल्युट्। तेजः प्रकाशः (एव) निपातस्य च। पा० ६।३। १३६। इति छन्दसि दीर्घम्। एवम्, तथा (रोगम्) पदरुजविशस्पृशो घञ्। पा० ३।३।१६। इति रुज भंगे हिंसे च-घञ्। रुजति शरीरम्। शरीरभङ्गम् (आस्रावम्) । श्याऽऽद्व्यधास्त्रु० । पा० ३।१।१४१ । इति आङ्+स्रु स्रवणे-ण प्रत्ययः। अचो ञ्णिति। पा० ७।२।११५। इति वृद्धिः। आस्रवम्, रुधिरादिस्रवणम्। आघातम् (मुञ्जः) गुञ्ज्यते मृज्यते अनेन। मुजि मार्जने शोधने-अच्। परमेश्वरः। संशोधकः पदार्थो वा (इत्) एव। अपि ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । पर्जन्यम् । शत-वृष्ण्यम् । तेन । ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम । बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [वा बाण धारी] शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता, (पर्जन्यम्) सींचने वाले मेघ रूप (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (शम्) नीरोगता (करम्) मैं करूं, और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते) तेरा (निसेचनम्) बहुत सेचन [वृद्धि] होवे, और (ते) तेरा (बाल्) वैरी (बहिः) बाहिर (अस्तु) होवे, (इति) बस यही ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ अन्न आदि उत्पन्न करता है वैसे ही मेघ के भी मेघ अनन्त शक्तिवाले परमेश्वर को साक्षात् करके जितेन्द्रिय पुरुष (शतवृष्ण्य) सैकड़ों सामर्थ्य वाला होकर अपने शत्रुओं का नाश करता और आत्मबल बढ़ा कर संसार में वृद्धि करता है ॥ १ ॥

इस मन्त्र के पूर्वार्ध के लिये १।२।१। देखो।

१—(विद्म, शरस्य, पितरम्, पर्जन्यम्) इति पदानि व्याख्यातानि १। २।१ (शतवृष्ण्यम्) वर्षतीति वृषा। कनिन् युवृषितक्षीत्यादिना। उ० १। १५६। इति वृषु सेचने-कनिन्। भवे छन्दसि। पा० ४।४।११०। इति वृषन्-यत्। वृष्णि भवं वृष्ण्यं वीर्यं सामर्थ्यम्। बहुसामर्थ्योपेतं परमेश्वरम् (तन्वे) १।१।१। तन्वत् सिद्धिः स्वरितश्च। शरीराय (शम्) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्त। पा० ३।२।७५। इति शमु उपशमने-विच्। शान्तिम्, स्वास्थ्यम्। सुखम्-निघ० ३।६ (करम्) डुकृञ् करणे-लेट्। अहं कुर्याम् (पृथिव्याम्) १।२।२। प्रख्यातायां भूमौ (ते) तव (नि-सेचनम्) नि+षिच सेचने-भावे ल्युट्। आर्द्रीकरणं, वर्धनम्, वृद्धिः (बहिः) वह प्रापणे—इसुन्। बाह्यम्। बहिर्देशे (बाल्) बल बधे-क्विप्, बलति हिनस्तीति बाल् बलः, असुरः, दैत्यः, वैरी (इति) इण् गतौ-क्विच्। पर्य्याप्तम्। अलम् (इति सर्वकम्) मं० ६-८ ॥

विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ २ ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । मित्रम् । शत-वृष्ण्यम् । तेन । ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् । बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक शूर [वा बाणधारी] के (पितरम्) रक्षक पिता, (मित्रम्) सब के चलाने वाले [वा स्नेहवान्] वायु रूप (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्यवाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। तेन उस [ज्ञान] से…… ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे वायु सब प्राणियों के जीवन का आधार है वैसे ही परमेश्वर वायु का भी प्राण है इत्यादि ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (मित्र) शब्द का अर्थ दिन का अभिमानी देवता है ॥

विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ३ ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । वरुणम् । शत-वृष्ण्यम् । तेन । ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् । बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ ३ ॥

२—(मित्रम्) अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः । उ० ४ । १६४ । इति डुमिञ् प्रक्षेपणे—क्त्र । मिनोति प्रेरयति वृष्टिं अन्यपदार्थान् चेति मित्रः, यद्वा मिद् स्नेह—त्र । सर्वप्रेरकः । स्नेहवान् । वायुः । वायुवत् उपकारकम् । मित्रशब्दो भगवता यास्केन मध्यस्थानदेवतासु पठितः—निरु० १० । २१-२२ । अहरभिमानी देवो मित्रः—इति सायणः । वायुम् । दिनकालम् । शेषं पूर्ववद् योज्यम्, मन्त्रे १ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [वा बाणधारी] शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता, (वरुणम्) लोकों के ढकने वाले आकाश रूप विस्तीर्ण (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से...... ॥ ३ ॥

भावार्थ—आकाश में सूर्य भूमि आदि लोक स्थित हैं और परमेश्वर के आधीन आकाश भी है—इत्यादि ॥ ३ ॥

(वरुण) मध्यस्थान देवता—निरु० १०। ३। इस से वृष्टिजल का अर्थ प्रतीत होता है, परन्तु (पर्जन्य) शब्द मं० १ में आ चुका है, इस से यहां पर वृष्टि का आधार और सब का ढकने वाला आकाश अर्थ है। सायण भाष्य में रात्रि का अभिमानी देवता अर्थ है ॥

विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम्
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ४ ॥

विद्म। शरस्य। पितरम्। चन्द्रम्। शत-वृष्ण्यम्। तेन। ते। तन्वे। शम्। करम्। पृथिव्याम्। ते। नि-सेचनम्। बहिः। ते। अस्तु। बाल्। इति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रुनाशक [वा बाणधारी] शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता (चन्द्रम्) आनन्द देने वाले, चन्द्रमा रूप उपकारी (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर को] (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से...... ॥ ४ ॥

३-(वरुणम्) कृवृदारिभ्य उनन्। उ० ३। ५३। इति वृञ् वरणे-उनन्। आवृणोति लोकान्। मध्यस्थानदेवतासु—वरुणो वृणोतीति सतः—निरु० १०। ३। लोकानामावरकम् अन्तरिक्षम् आकाशं वा। वरुणो राज्यभिमानी देवः-इति सायणः। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् मं० १।

४-(चन्द्रम्) स्फायितञ्चीत्यादिना, उ० २। १३। इति चदि आह्लादने-रक्। चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः-निरु० ११। ५। आह्लादकं देवं, हिमांशुम्।

भावार्थ—(चन्द्र) आनन्द देनेवाला अर्थात् अपनी किरणों से अन्न आदि औषधों को पुष्ट करके प्राणियों को बल देता है। उस चन्द्रमा का भी आह्लादक वह परमेश्वर है, ऐसा ही मनुष्य को आनन्द देने वाला होना चाहिये ॥ ४ ॥

विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ५ ॥

विद्म। शरस्य। पितरम्। सूर्यम्। शत-वृष्ण्यम। तेन। ते। तन्वे। शम्। करम्। पृथिव्याम। ते। नि-सेचनम्। बहिः। ते। अस्तु। बाल्। इति ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शरस्य, शत्रुनाशक [वा बाणधारी] शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता (सूर्यम्) चलनेवाले वा चलानेवाले सूर्य समान [उपकारी] (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (शम्) नीरोगता (करम्) मैं करूं और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते) तेरा (निसेचनम्) बहुत सेचन [वृद्धि] होवे और (ते) तेरा (बाल्) वैरी (बहिः) बाहिर (अस्तु) होवे, (इति) बस यही ॥५॥

भावार्थ—(सूर्य) आकाश में वायु से चलता है और लोकों को चलाता और वृष्टि आदि उपकार करता और बड़ा तेजस्वी है। वह परब्रह्म उस सूर्य का भी सूर्य है। उसके उपकारों को जान कर तेजस्वी मनुष्य परस्पर उन्नति करते हैं ॥ ५ ॥

इन्दुम्। तद्वत् उपकारकम्। अन्यत्—यथा मं० १।

५—(सूर्यम्) राजसूयसूर्येत्यादिना। पा० ३। १। ११४। इति सृ सरणे क्यप्। निपातनात् ऋकारस्य ऊत्वम्। सरत्याकाशे स सूर्यः। यद्वा, षू प्रेरणे, तुदादिः-क्यप्, रुट् आगमः। सुवति प्रेरयति लोकान् कर्मणि स सूर्यः। यद्वा सु+ईर गतौ कर्मणि क्यपि निपात्यते। वायुना सुष्ठु ईर्यते प्रेर्य्यते स सूर्यः। सूर्यः सर्त्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्य्यतेर्वा। इति यास्कः—निरु० १२। १४। आदित्यम्, सूर्यवत् उपकारकम्। शेषम्—व्याख्यातम् मं० १।

यदा॒न्त्रेषु॑ ग॒वीन्यो॒र्यद् व॒स्ताव॒धि संश्रु॑तम् ।
ए॒वा ते॒ मूत्रं॑ मुच्यतां ब॒हिर्बालि॒ति॑ सर्व॒कम् ॥ ६ ॥

यत् । आ॒न्त्रेषु॑ । ग॒वीन्योः॑ । यत् । व॒स्तौ । अधि॑ । सम्-श्रु॑तम् ।
ए॒व । ते॒ । मूत्र॑म् । मु॒च्यता॑म् । ब॒हिः । बाल् । इति॑ । स॒र्व॒कम् ॥६॥

भाषार्थ—(यत्) जैसे (यत्) कि (आन्त्रेषु) आंतों में और (गवीन्योः) दोनों पार्श्वस्थ नाड़ियों में और (वस्तौ अधि) मूत्राशय के भीतर (संश्रुतम्) एकत्र हुआ [मूत्र छूटता है]। (एव) वैसे ही (ते मूत्रम्) तेरा मूत्र रूप (बाल्) वेग से (बहिः) बाहिर (मुच्यताम्) निकाल दिया जावे (इति सर्वकम्) यही बस है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे शरीर में रुका हुआ सारहीन मल विशेष, मूत्र अर्थात् प्रस्राव क्लेश देता है और उस के निकाल देने से चैन मिलता है वैसे ही मनुष्य आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक शत्रुओं के निकाल देने से सुख पाता है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—सायण भाष्य में (संश्रुतम्) के स्थान में (संश्रितम्) मानकर "समवस्थितम्" [ठहरा हुआ] अर्थ किया है ॥

६—(यत्) यथा (आन्त्रेषु) अमत्यनेन, अम गतौ—क्त । अति बन्धने—करणे ष्ट्रन्, उपधादीर्घः । अन्त्रेषु, उदरनाड़ीविशेषेषु । (गवीन्योः) हुश्चिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । इति गुङ् ध्वनौ-इनन् । ङीप् । छान्दसो दीर्घः । पार्श्वद्वयस्थे नाड्यौ गवीन्यौ इत्युच्यते, तयोः—इति सायणः (वस्तौ) वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । इति वस आच्छादने—ति प्रत्ययः । वसति मूत्रादिकम् । मूत्राशये (अधि) उपरि, मध्ये (सम्-श्रुतम्) श्रु श्रवणे गतौ च-क्त । सम्यक् श्रुतम् । संगतम् (एव) एवम्, तथा (मूत्रम्) मूत्र प्रस्रावे-घञ् । यद्वा, सिविमुच्योष्टेरू च । उ० ४ । १६३ । इति मुच त्यागे—ष्ट्रन् ऊत्वं च । मुच्यते त्यज्यते इति । प्रस्रावः, मेहनम् । सारहीनो मलद्रवः (मुच्यताम्) मुच—कर्मणि लोट् । त्यज्यताम्, निर्गच्छतु (सर्वकम्) अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः । पा० ५ । ३ । ७१ । इति अकच् । सर्वम् । अन्यद् व्याख्यातं म० १ ॥

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ७ ॥

प्र । ते । भिनद्मि । मेहनम् । वर्त्रम् । वेशन्त्याः-इव ।
एव । ते । मूत्रम् । मुच्यताम् । बहिः । बाल् । इति ।
सर्वकम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—(ते) तेरे (मेहनम्) मूत्र द्वार को (प्र भिनद्मि) मैं खोले देता हूं, (इव) जैसे (वेशन्त्याः) झील का पानी (वर्त्रम्) बन्ध को [खोल देता है]। (एव), वैसे ही······म० ६ ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य लोह शलाका से रोगी के रुके हुये मूत्र को झील के पानी के समान खोलकर निकाल देता है वैसे ही मनुष्य अपने शत्रु को निकाल देवे ॥ ७ ॥

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ८ ॥

वि-सितम् । ते । वस्ति-बिलम् । समुद्रस्य । उदधेः-इव ।
एव । ते । मूत्रम् । मुच्यताम् । बहिः । बाल् । इति ।
सर्वकम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—(ते) तेरा (वस्तिबिलम्) मूत्र मार्ग (विषितम्) खोल दिया

(प्र+भिनद्मि) भिदिर् विदारणे-लट् । व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । ८२ । इति उपसर्गस्य व्यवधानम् । विदृणोमि, विवृतं करोमि (मेहनम्) मिह सेचने-करणे ल्युट् । मेहति सिञ्चति मूत्रम् । मूत्रमार्गम् (वर्त्रम्) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । वृतु वर्तने-ष्ट्रन् । बन्धम् (वेशन्त्याः) जॄविशिभ्यां झच् । उ० ३ । १२६ । इति विश प्रवेशे-झच् । झोऽन्तः । पा० ७ । १ । ३ । इति झस्य अन्तादेशः, वेशन्तः, जलाशयः । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । वेशन्ते सरोवरे भवा आपः । अन्यत् पूर्ववत् म० ६ ।

८—(वि-सितम्) वि+षो अन्तकर्मणि-क्त यद्वा, षिञ् बन्धे-क्त । विमुक्तम् (वस्ति-बिलम्) म० १ । वस्ति+बिल स्तृतौ-क । मूत्रस्य छिद्रं मार्गम् ।

गया है, (इव) जैसे (उदधेः) जल से भरे (समुद्रस्य) समुद्र का [मार्ग] । (एव) वैसे ही ...... । म० ६ ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ देखो ॥

यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ९ ॥

यथा । इषुका । परा-अपतत् । अव-सृष्टा । अधि । धन्वनः ।
एव । ते । मूत्रम् । मुच्यताम् । बहिः । बाल् । इति । सर्वकम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (धन्वनः अधि) धनुष् से (अवसृष्टा) छुटा हुआ (इषुका) बाण (परा-अपतत्) शीघ्र चला गया है । (एव) वैसे ही (ते) तेरा (मूत्रम्) मूत्र रूप (बाल्) वैरी (बहिः) बाहिर (मुच्यताम्) निकाल दिया जावे (इति सर्वकम्) यह बस है ॥ ९ ॥

भावार्थ—सरल है, ऊपर के मन्त्र देखो ॥ ९ ॥

(समुद्रस्य) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । इति सम्+उन्दी क्लेदने-रक् सम्यक् उनत्ति क्लेदयति जलेन जगत् इति समुद्रः । समुद्रः कस्मात् समुद्द्रव-न्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि समुदको भवति समुनत्तीति वा-निरु० २ । १० । समुद्रः=अन्तरिक्षम्-निघ० १ । ३ । सागरस्य (उदधेः) कर्मण्यधिकरणे च । पा० ३ । ३ । ९३ । इति उद वा उदक+डुधाञ् धारणपोषणयोः-कि । उदकपूर्णस्य । अन्यत् पूर्ववत् म० ६ ॥

९—(इषुका) इषुरीषतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा । निरु० ९ । १८ । इति ईष गतौ वधे-उ प्रत्ययः । स्वार्थे-कन्, टाप् । इषुः, बाणः (परा-अपतत्) पत गतौ—लङ् । शीघ्रं दूरे अगच्छत् (अवसृष्टा) सृज—विसर्गे—क्त । विमुक्ता (अधि) पञ्चम्यर्थानुवादी (धन्वनः) कनिन् युवृषितक्षिराजि-धन्विद्युपतिदिवः । उ० १ । १५६ । इति धन्व गतौ—कनिन् । धनुषः सकाशात्, चापात् । शेषं पूर्ववत् म० ६ ॥

सूक्तम् ॥ ४ ॥

१—४ । सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवताः १–३ गायत्री, ४ पङ्क्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

परस्परोपकारोपदेशः—परस्पर उपकार के लिये उपदेश ॥

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् ।
पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥ १ ॥

अम्बयः । यन्ति । अध्व-भिः । जामयः । अध्वरि-यताम् ।
पृञ्चतीः । मधुना । पयः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अम्बयः) पाने योग्य मातायें और (जामयः) मिलकर भोजन करने हारी, बहिनें [वा कुलस्त्रियां] (मधुना) मधु के साथ (पयः) दूध को (पृञ्चतीः) मिलाती हुई (अध्वरीयताम्) हिंसा न करने हारे यजमानों के (अध्वभिः) सन्मार्गों से (यन्ति) चलती हैं ॥ १ ॥

१-(अम्बयः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति अम्ब गतौ-इन् । प्रापणीया मातरः । मातृभूता आपः । अम्बाशब्दवद् अम्बिशब्दो वेदे मातृवाची । यथा । अम्बितमे नदीतमे । ऋ० २ । ४१ । १६ । अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके । य० २३ । १८ (यन्ति) इण् गतौ-लट् गच्छन्ति (अध्वभिः) अत्ति, गमनेन बलं नाशयति स अध्वा । अदेर्ध च । उ० ४ । ११६ । इति अद भक्षणे-क्वनिप्, पृषोदरादित्वात् दस्य धः । यद्वा । अत सातत्यगमने-क्वनिप्, तकारस्य धः । सन्मार्गैः (जामयः) वसिवपियजिराजि० । उ० ४ । १२५ जम भक्षणे-इञ् । जमन्ति, संगत्य भोजनं कुर्वन्ति ताः । कुलस्त्रियः । भगिन्यः । भगनीवत् सहायभूताः पुरुषाः (अध्वरि-यताम्) अध्वानं सत्पथं रातीति । अध्वन्+रा-दानग्रहणयोः-क । यद्वा । न ध्वरति कुटिलीकरोति हिनस्तीति वा । न+ध्वृ कुटिलीकरणे, हिंसने च-अच् । अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः- निरु० १ । ८ । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति अध्वर + क्यच् । शतृ । क्यचि च । पा० ७ । ४ । ३३ । अकारस्य ईत्वम् । सन्मार्गदातारं कौटिल्यरहितं वा यज्ञमिच्छतां यजमानानाम् (पृञ्चतीः) पृची सम्पर्के-शतृ । ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । पृञ्चत्यः । संयोज-

भावार्थ जो पुरुष, पुत्रों के लिये माताओं के समान, और भाइयों के लिये बहिनों के समान, हितकारी होते हैं, वे सन्मार्गों से आप चलते और सब को चलाते हैं ॥ १ ॥

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ।
ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ २ ॥

अमूः । याः । उप । सूर्ये । याभिः । वा । सूर्यः । सह ।
ताः । नः । हिन्वन्तु । अध्वरम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अमूः) वह (याः) जो [माता और बहिनें] (उप=उपेत्य) समीप होकर (सूर्ये) सूर्य के प्रकाश में रहती हैं, (वा) और (याभिः सह) जिन [माताओं और बहिनों] के साथ (सूर्यः) सूर्य का प्रकाश है। (ताः) वह (नः) हमारे (अध्वरम्) उत्तम मार्ग देने हारे वा हिंसा रहित कर्म को (हिन्वन्तु) सिद्ध करें वा बढ़ावें ॥ २ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में दो बातों का वर्णन है एक यह कि किसी में उत्तम गुणों का होना, दूसरे यह कि उन उत्तम गुणों को फैलाना ॥ २ ॥

१–जो नररत्न माता और भगिनियों के समान परिश्रमी और उपकारी होकर सूर्य रूप विद्या के प्रकाश में विराजते हैं और जिनके सत्य अभ्यास से सूर्यवत् विद्या का प्रकाश संसार में फैलता है, वे तपस्वी पुण्यात्मा संसार में सुख की वृद्धि करते हैं ॥

यन्त्यः (मधुना) फलिपाटिनमिमनिजनां गुक्पटिनाकिधतश्च । उ० १ । १८ । इति मन ज्ञाने-उ । धश्चान्तादेशः । रसभेदेन । मधुरगुणेन (पयः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति पीङ् पाने-असुन् । दुग्धम्, रसम् ॥

२–(अमूः) अदस्, स्त्रियां जस् । ताः परिदृश्यमानाः (याः) अम्बयो जामयश्च, म० १ । यद्वा । आपः, म० ३ (उप) समीपे, उपेत्य । आधिक्येन । आदरेण (सूर्ये) १ । ३ । ५ । आदित्यलोके । सूर्यवद् ज्ञानप्रकाशे । सूर्यप्रकाशे (याभिः) अम्बिजामिभिः । अद्भिः (वा) समुच्चये । विकल्पे (सूर्यः) १ । ३ । ५ । सवितृलोकः । तद्वद् ज्ञानप्रकाशः । सवितृप्रकाशः (सह) षह समायाम्-अच् । साहित्ये

२-जो (अमूः) इत्यादि स्त्री लिंग शब्दों का संबंध मंत्र ३ के (आपः) शब्द से माना जावे तो यह भावार्थ है। पहिले जल मूर्त्तिमान पदार्थों से किरणों द्वारा सूर्य मंडल में [जहां तक सूर्य का प्रकाश है] जाता है, फिर वही जल सूर्य की किरणों से छिन्न भिन्न होने के कारण दिव्य बनकर भूमि आदि पदार्थों के आकर्षण से बरसता और महा उपकारी होता है। इस जल के समान, विद्वान् पुरुष ब्रह्मचर्य आदि तप करके संसार का उपकार करते हैं॥

अपो देवीरुपह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः ।
सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः ॥ ३ ॥

अपः । देवीः । उप । ह्वये । यत्र । गावः । पिबन्ति । नः ।
सिन्धुभ्यः । कर्त्वम् । हविः ॥ ३ ॥

भाषार्थ-(यत्र) जिस जल म से (गावः) सूर्य की किरणें [वा गौयें आदि जीव वा भूमि प्रदेश] (नः) हमारे लिये (हविः) देने वा लेने योग्य अन्न वा जल (कर्त्वम्) उत्पन्न करने को (सिन्धुभ्यः) बहने वाले समुद्रों से (पिबन्ति) पान करती हैं। (देवीः) उस उत्तम गुण वाले (अपः) जल को (उप) आदर से (ह्वये) मैं बुलाता हूं॥ ३॥

(नः) अस्माकम् (हिन्वन्तु) हिवि प्रीणने, लोट् । इदितो नुम्धातोः । पा० ७ । १ । ५८ । इति इदित्वात् नुम् । अथवा । हि वर्धने स्वादिः-लोट । प्रीणयन्तु, साधयन्तु । वर्धयन्तु (अध्वरम्) म० १ । सन्मार्गदातृ हिंसारहितं वा कर्म । यज्ञम् ॥

३—(अपः) आप्नोतेर्ह्रस्वश्च । उ० २ । ५८ । इति आप्लृ व्याप्तौ—क्विप् । इति अप् । अप् शब्दो नित्यस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च । व्यापयित्रीः, जलधाराः । जलवत् उपकारिणः पुरुषान् (देवीः) नन्दिग्रहिपचादिभ्यः० । पा० ३ । १ । १३४ । इति दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—पचाद्यच् । ङीप् । देवो दानाद्वा दीपनाद्वा······निरु० ७ । १५ । दिव्याः, द्योतमानाः (ह्वये) अहमाह्वयामि (यत्र) यासु अप्सु (गावः) १ । २ ३ । धेनवः । उपलक्षणमेतत् । सर्वे जीवा इत्यर्थः । सूर्यकिरणाः । भूलोकाः (पिबन्ति) पाघ्रा० इत्यादिना । पा० ७ । ३ । ७८ । इति पा पाने-शपि पिबादेशः । पानं कुर्वन्ति (नः) अस्मदर्थम् (सिन्धुभ्यः) स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च । उ० १ ।

भावार्थ—जल को सूर्य की किरणें समुद्र आदि से खींचती हैं वह जल फिर बरस कर हमारे लिये अन्न आदिक पदार्थ उत्पन्न करके सुख देता है। अथवा गौ आदि सब प्राणी जल द्वारा उत्पन्न पदार्थों से सुखी होकर सब को सुखी करते हैं, वैसे ही हम को परस्पर सहायक और उपकारी होना चाहिये ॥ ३ ॥

अप्स्वं१न्तरमृतमप्सु भेषजम्।
अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो
गावो भवथ वाजिनीः ॥ ४ ॥

अप्-सु। अन्तः। अमृतम्। अप्-सु। भेषजम्। अपाम्। उत। प्रशस्ति-भिः। अश्वाः। भवथ। वाजिनः। गावः। भवथ। वाजिनीः ॥ ४ ॥

भाषार्थ-(अप्सु अन्तः) जल के बीच में (अमृतम्) रोग निवारक अमृत रस है और (अप्सु) जल में (भेषजम्) भय जीतने वाला औषध है। (उत) और (अपाम्) जल के (प्रशस्तिभिः) उत्तम गुणों से (अश्वाः) हे घोड़ो तुम, (वाजिनः) वेग वाले (भवथ) होते हो, (गावः) हे गौओ, तुम (वाजिनीः=०—न्यः) वेग वाली (भवथ) होती हो ॥ ४ ॥

११। इति स्यन्दू स्रवणे—उ प्रत्ययः, दस्य धः सम्प्रसारणं च। स्यन्दनशीलेभ्यः समुद्रेभ्यः सकाशात् (कर्त्वम्) डुकृञ् करणे—तुम्। छान्दसं रूपम्। कर्तुम् (हविः) अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः। उ० २। १०८ इति। हु दानादानादनेषु—इसि। यद्वा ह्वेञ् आह्वाने—इसि। हूयते दीयते गृह्यते वा तद् हविः। हव्यम्। अन्नम्। आवाहनम्। उदकम्—निघ० १। १२ ॥

४—(अप्सु) मन्त्र ३। जलधारासु (अन्तः) मध्ये (अमृतम्) रोगनिवारकं रसम् (भेषजम्) भिषजो वैद्यस्येदम्। भिषज्—अण्, निपातनात् एत्वम्। यद्वा भेषं भयं रोगं जयतीति, जि जये—ड। औषधम् (अपाम्) म० ३। जलधाराणाम् (उत) अपि च (प्रशस्ति-भिः) प्र+शन्स स्तुतौ—क्तिन्। उत्तमगुणैः (अश्वाः) हे तुरगाः (भवथ) भू—लट्। यूयं वर्तध्वे।

भावार्थ—जल से रोग निवारक और पुष्टि वर्धक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जैसे जल से उत्पन्न हुये घास आदि से गौयें और घोड़े बलवान् होकर उपकारी होते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य अन्न आदि के सेवन से पुष्ट रह कर और ईश्वर की महिमा जान कर सदा परस्पर उपकारी बनें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १ । २३ । १६, है ॥

भगवान् मनु ने कहा है—अ० १ । ८ ॥

सो ऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ १ ॥

उस [परमात्मा] ने ध्यान करके अपने शरीर [प्रकृति] से अनेक प्रजाओं के उत्पन्न करने की इच्छा करते हुये पहिले (अपः) जल को ही उत्पन्न किया और उस में बीज को छोड़ दिया ॥

सूक्तम् ५ ॥

१–४ । सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवताः । गायत्री छन्दः ॥

बलप्राप्त्युपदेशः—बल की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

आपः । हि । स्थ । मयः-भुवः । ताः । नः । ऊर्जे । दधातन ।
महे । रणाय । चक्षसे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो ! [जल के समान उपकारी पुरुषों] (हि)

(वाजिनः) अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति वाज—भूम्नि मत्वर्थीय इनि प्रत्ययः । वेगवन्तः, बलयुक्ताः । वाजी वेजनवान्—निरु० २ । २८ (गावः) १ । २ । ३ हे धेनवः (अश्वाः । गावः)—सर्वे प्राणिनः इत्यर्थः (वाजिनीः) ऋन्नेभ्यो ङीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति वाजिन्—ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । वाजिन्यः, वेगवत्यः, बलवत्यः ॥

१—(आपः) १ । ४ । ३ । हे व्यापयित्र्यः । जलधाराः । जलवत् उपकारिणः,

निश्चय करके (मयोभुवः) सुखकारक (स्थ) होते हो, (ताः) सो तुम (नः) हम को (ऊर्जे) पराक्रम वा अन्न के लिये, (महे) बड़े बड़े (रणाय) संग्राम या रमण के लिये और (चक्षसे) [ईश्वर के] दर्शन के लिये (दधातन) पुष्ट करो ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे जल स्नान, पान, खेती, बाड़ी, कला, यन्त्र, आदि में उपकारी होता है, वैसे मनुष्यों को अन्न, बल, और विद्या की वृद्धि से परस्पर वृद्धि करनी चाहिये ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद १० । ९ । १—३ ॥ यजुर्वेद ११ । ५०—५२, तथा ३६ । १४-१६ सामवेद उत्तरार्चिक प्रपा० ९ अर्धप्र० २ सूक्त १० ॥

यो वः॑ शि॒वत॑मो॒ रस॒स्तस्य॑ भाजयते॒ह नः॑ ।
उ॒श॒तीरि॑व मा॒तरः॑ ॥ २ ॥

यः । वः॒ । शि॒व-त॑मः । रसः॑ । तस्य॑ । भा॒ज॒य॒त॒ । इ॒ह । नः॒ ।
उ॒श॒तीः-इ॑व । मा॒तरः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (यः) जो (वः) तुम्हारा (शिवतमः) अत्यन्त सुखकारी (रसः) रस है, (इह) यहां [संसार में] (नः) हम को (तस्य) उस

पुरुषाः (हि) निश्चयेन (स्थ) अस सत्तायां-लट् । भवथ (मयः-भुवः) मयः+भू सत्तायां-क्विप् । मिञ् हिंसायाम्-असुन् । मिनोति हिनस्ति दुःखम् । मयः सुखम्-निघ० ३। ६ । सुखस्य भावयित्र्यः कर्त्र्यः (ताः) आपो यूयम् (नः) अस्मान् (ऊर्जे) क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति ऊर्ज बलप्राणनयोः-क्विप् । बलार्थम्, अन्नार्थं वा (दधातन) तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति डुधाञ् धारणपोषणयोः-लोट्, तकारस्य तनप् आदेशः । धत्त, पोषयत (महे) मह पूजायां-क्विप् । महते । विशालाय (रणाय) रण रवे—घञर्थे क । युद्धाय । यद्वा । रमतेर्भावे—ल्युट् मकारलोपश्छान्दसः । रमणाय । क्रीडनाय । रणाय रमणीयाय-निरु० ९ । २७, यत्रायं मन्त्रो भगवता यास्केन व्याख्यातः (चक्षसे) चक्षेर्बहुलं शिच्च । उ० ४ । २३३ । इति चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च-भावे असुन् । दर्शनाय ॥

२—(शिव-तमः) अतिशायने तमबिष्ठनौ । पा० ५ । ३ । ५५ । इति तमप् । अतिशयेन कल्याणकरः (रसः) रस आस्वादे—अच् । सारः ।

-का (भाजयत) भागी करो, (इव) जैसे (उशतीः) प्रीति करती हुई (मातरः) मातायें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे मातायें प्रीति के साथ सन्तानों को सुख देती हैं और जैसे जल संसार में उपकारी पदार्थ है, वैसे ही सब मनुष्य परस्पर उपकारी बन कर लाभ उठावें और आनन्द भोगें ॥ २ ॥

तस्मा॒ अरं॑ गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ ।
आपो॑ ज॒नय॑था च नः ॥ ३ ॥

तस्मै॑ । अर॑म् । ग॒मा॒म॒ । वः॒ । यस्य॑ । क्षया॑य । जिन्व॑थ ।
आपः॑ । ज॒नय॑थ । च॒ । नः॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुषार्थी मनुष्यो !] (तस्मै) उस पुरुष के लिये (वः) तुम को (अरम्) शीघ्र वा पूर्ण रीति से (गमाम) हम पहुचावें, (यस्य) जिस पुरुष के (क्षयाय) ऐश्वर्य के लिये (जिन्वथ) तुम अनुग्रह करते हो । (आपः) हे जलो [जल समान उपकारी लोगो] (नः) हम को (च) अवश्य (जनयथ) तुम उत्पन्न करते हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे जल, अन्न आदि को उत्पन्न करके शरीर के पुष्ट करने और नौका, विमान आदि के चलाने में उपयोगी होता है इसी प्रकार जल के

(भाजयत) हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति भज सेवायां—णिच्-लोट् । भागिनः कुरुत । सेवयत (उशतीः) वश कान्तौ=अभिलाषे-शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । उशत्यः, कामयमानाः, प्रीतियुक्ताः (मातरः) १ । २ । १ । जनन्यः ॥

३—(अरम्) ऋ गतौ-अच् । शीघ्रम् । यद्वा, अल भूषणे निवारणे-अनु । लस्य रत्वम् । अलम्, पर्य्याप्तं पूर्णतया (गमाम) गम्लृ गतौ णिच्-छान्दसो लोट् । वयं गमयाम, प्रापयाम (क्षयाय) एरच् । पा० ३ । ३ । ५६ । इति क्षि निवासे ऐश्वर्ये च—अच् । निवासाय । ऐश्वर्यप्राप्तये (जिन्वथ) जिवि प्रीणने लट् । यूयं तर्पयथ । वर्धयथ । अनुगृह्णीध्वम् (आपः) १ । ४ । ३ । हे जल-

समान उपकारी पुरुष सब लोगों को लाभ और कीर्त्ति के साथ पुनर्जन्म देते हैं ॥ ३ ॥

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् ।
अपो याचामि भेषजम् ॥ ४ ॥

ईशानाः । वार्याणाम् । क्षयन्तीः । चर्षणीनाम् ।
अपः । याचामि । भेषजम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वार्याणाम्) चाहने योग्य धनों की (ईशानाः) ईश्वरी और (चर्षणीनाम्) मनुष्यों की (क्षयन्तीः) स्वामिनी (अपः) जल धाराओं [जल के समान उपकारी प्रजाओं] से मैं, (भेषजम्) भय जीतने वाले औषध को (याचामि) मांगता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जल से अन्न आदि औषध उत्पन्न होकर मनुष्य के धन और बल का कारण हैं । सो जल के समान गुणी महात्माओं से सहाय लेकर मनुष्यों को आनन्दित रहना चाहिये ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋ० १० । ६ । ५ । है ॥

धाराः (जनयथ) हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति जनी प्रादुर्भावे-णिच्-लट्, सांहितको दीर्घः । यूयं प्रादुर्भावयथ, उत्पादयथ, प्रजया यशसा वा वर्धयथ (च) अवधारणे, अवश्यम् । समुच्चये ॥

४—(ईशानाः) ईश ऐश्वर्ये-शानच् । ईश्वरीः, नियन्त्रीः (वार्याणाम्) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति वृङ् संभक्तौ-ण्यत् । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति कर्मणि षष्ठी । वरणीयानां, धनानाम् (क्षयन्तीः) क्षि निवासे, ऐश्वर्ये च-लटः शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । ईश्वरीः, स्वामिनीः । (चर्षणीनाम्) कृषेरादेश्च चः । उ० २ । १०४ । इति कृष कर्षणे-अनि, चादेशः । आकर्षन्ति वशीकुर्वन्ति—इत्यर्थः । चर्षणयः=मनुष्याः-निघ० २ । ३ । पूर्ववत् कर्मणि षष्ठी । मनुष्याणाम् (अपः) अकथितं च । पा० १ । ४ । ५१ । इति अपादाने द्वितीया । जलधाराः । जलधारासकाशात् । जलवत् उपकारिभ्यो मनुष्येभ्यः (याचामि) याचृ याच्ञायाम्—लट् । द्विकर्मकः । अहं याचे प्रार्थये । (भेषजम्) १ । ४ । ४ । रोगनिवर्तकम्, औषधम् ॥

सूक्तम् ६ ॥

१-४ ॥ सिन्धुद्वीपोऽथर्वाकृतिर्ऋषिः । आपो देवताः । १-३ गायत्री, ४ पंक्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

आरोग्यतोपदेशः—आरोग्यता के लिये उपदेश ॥

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ ।
शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १ ॥

शम् । नः॒ । दे॒वीः । अ॒भिष्ट॑ये । आपः॑ । भ॒वन्तु॒ । पी॒तये॑ ।
शम् । योः । अ॒भि । स्र॒वन्तु॒ । नः॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवीः) दिव्य गुण वाले (आपः) जल [जल के समान उपकारी पुरुष] (नः) हमारे (अभिष्टये) अभीष्ट सिद्धि के लिये और (पीतये) पान वा रक्षा के लिये (शम्) सुख दायक (भवन्तु) होवें। और (नः) हमारे (शम्) रोग की शान्ति के लिये, और (योः) भय दूर करने के लिये (अभि) सब ओर से (स्रवन्तु) वर्षा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—वृष्टि से जल के समान उपकारी पुरुष सब के दुःख की निवृत्ति और सुख की प्रवृत्ति में प्रयत्न करते रहें ॥ १ ॥

१—(शम्) १।३।१। सुखं, सुखकारिण्यः (देवीः) १।४।३। वा छन्दसि। पा० ६।१।१०६। इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः। देव्यः। दिव्याः (अभिष्टये) अभि+इष वाञ्छायाम्—क्तिन्। शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम्। वा० पा० ६।१।९४। इति पररूपम्। अभीष्टसिद्धये (आपः) १।४।३। जलानि, जलवद् गुणिनः पुरुषाः (पीतये) घुमास्थागापाजहातिसां हलि। पा० ६।४।६६। इति पा पाने-क्तिनि प्रत्यये ईत्वम्। यद्वा। पा रक्षणे, ओप्यायी, प्यैङ् वृद्धौ वा-क्तिन्, क्तिच् वा। यद्वा। पः किच्च। उ० १।७१। इति पा-तु प्रत्ययः। पिबति पाति वा स पीतुः। कित्वात् ईकारः। पानाय रक्षणाय, वृद्धये (शम्) १।३।१। रोगशमनाय (योः) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ३।२।७५। इति यु मिश्रणामिश्रणयोः-विच्, सकारश्छान्दसः यद्वा। यु—डोस्।

मन्त्र १, य० ३६ । १२ । मन्त्र १— ऋ० म० १० सू० ६ म० ४, ६, ७ । तथा मन्त्र २, ३ ऋ० म० १ सू० २३ म० २०, २१ हैं ॥

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥ २ ॥

अप्-सु । मे । सोमः । अब्रवीत् । अन्तः । विश्वानि । भेषजा ।
अग्निम् । च । विश्व-शंभुवम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सोमः) बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर ने [चन्द्रमा वा सोमलता ने] (मे) मुझे (अप्सु अन्तः) व्यापन शील जलों में (विश्वानि) सब (भेषजा =०-नि) औषधों को, (च) और (विश्वशम्भुवम्) संसार के सुखदायक (अग्निम्) अग्नि [बिजुली वा पाचनशक्ति] का (अब्रवीत्) बताता है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब विद्याओं का प्रकाशक है, चन्द्रमा औषधियों को पुष्ट करता है, और सोमलता मुख्य औषधि है । यह सब पदार्थ जैसे जल द्वारा औषधों, अन्न आदि और शरीरों के बढ़ाने, बिजुली और पाचन शक्ति पहुंचाने और तेजस्वी करने में मुख्य कारण होते हैं वैसे ही मनुष्यों को परस्पर सामर्थ्य बढ़ाकर उपकार करना चाहिये ॥ २ ॥

शंयोः······शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्, इति निरु० । ४ । २१ । भयपृथक्कारणाय (अभि) सर्वतः (स्रवन्तु) स्रु प्रस्रवणे । वर्षन्तु ॥

२—(अप्सु) १ । ४ । ३ । व्यापयितृषु, जलेषु जलवद् गुणिषु मनुष्येषु—इत्यर्थः (सोमः) अर्त्तिस्तुसु० । उ० । १ । १४० । इति षु प्रसवैश्वर्ययोः—मन् । सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः । परमेश्वरः । चन्द्रमाः । सोमलता । सोमो व्याख्यातः—निरु० १४ । १२ (अब्रवीत्) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लङ् । उपदिष्टवान् । अकथयत् (अन्तः) मध्ये (विश्वानि) सर्वाणि (भेषजा) १ । ४ । ४ । शेश्छन्दसि बहुलम् । पा० ६ । १ । ७० । इति शेर्लोपः । भेषजानि । भयनिवारणानि । औषधानि (अग्निम्) अङ्गेर्नलोपश्च । उ० ४ । ५० । इति अगि गतौ—नि, नलोपः । तेजः । वैश्वानरं । वह्निम् । पाचनशक्तिम् (विश्व-शंभुवम्) क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति विश्व+शम्+भू सत्तायां—क्विप्, उवङ्, आदेशः । विश्वस्य जगतः सुखस्य भावयितारं कर्तारम्, सर्वसुखकरम ॥

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे ३ मम ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ३ ॥

आपः । पृणीत । भेषजम् । वरूथम् तन्वे मम ।
ज्योक् । च । सूर्यम् । दृशे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे व्यापनशील जलो [जल समान उपकारी पुरुषो] (मम) मेरे (तन्वे) शरीर के लिये (च) और (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) चलने वा चलाने वाले सूर्य को (दृशे) देखने के लिये (वरूथम्) कवचरूप (भेषजम्) भय निवारक औषध को (पृणीत) पूर्ण करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे युद्ध में योद्धा की रक्षा झिलम से होती है वैसे ही जल समान उपकारी पुरुष परस्पर सहायक होकर सब का जीवन आनन्द से बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

शं न आपो धन्वन्या ३ः शमु सन्त्वनूप्याः ।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः
शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥ ४ ॥

शम् । नः । आपः । धन्वन्याः । शम् । ऊं इति । सन्तु ।
अनूप्याः । शम् । नः । खनित्रिमाः । आपः । शम् । ऊं इति ।

३-(आपः) हे व्यापनशीलानि जलानि [जल समानोपकारिणः पुरुषाः]। (पृणीत) पॄ पालनपूरणयोः—लोट्। पालयत, पूरयत (भेषजम्) १। ४। ४। भयनिवारकम्। औषधम् (वरूथम्) जॄवृञ्भ्यामूथन्। उ० २। ६। इति वृञ् वरणे—ऊथन्, व्रियते शरीरमनेन। तनुत्राणम्, कवचम् (तन्वे) १। १। १। तद्वत् पदसिद्धिः स्वरितश्च। तन्यते विस्तीर्यते तनूः। शरीराय। (मम) मदीयाय (ज्योक्) ज्या नियमे-डोकि। चिरकालम् (सूर्यम्) १। ३। ५। जगतः प्रेरकम्, आदित्यम् (दृशे) दृशे विख्ये च। पा० ३। ४। ११। इति दृशिर् प्रेक्षणे-तुमर्थे के प्रत्ययान्तो निपात्यते। द्रष्टुम् ॥

याः । कुम्भे । आ-भृ॑ताः । शि॒वाः । नः । स॒न्तु॒ । वार्षि॑कीः ॥४॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (धन्वन्याः) निर्जल देश के (आपः) जल (शम्) सुखदायक, (उ) और (अनूप्याः) जलवाले देश के [जल] (शम्) सुखदायक (सन्तु) होवें। (नः) हमारे लिये (खनित्रिमाः) खनती वा फावड़े से निकाले गये (आपः) जल (शम्) सुखदायक होवें, (उ) और (याः) जो (कुम्भे) घड़े में (आभृताः) लाये गये वह भी (शम्) सुखदायी होवें, (वार्षिकीः) वर्षा के जल (नः) हम को (शिवाः) सुखदायी (सन्तु) होवें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे जल सब स्थानों में उपकारी होता है वैसे ही जल समान उपकारी मनुष्यों को प्रत्येक कार्य और प्रत्येक स्थान में परस्पर लाभ पहुंचाकर सुखी होना चाहिये ॥ ४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः

४—(शम्) १ । ३ । १ । सुखकारिण्यः (नः) अस्मभ्यम् (आपः) जलानि, जलवद् गुणिनः पुरुषाः (धन्वन्याः) कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्वि-द्युप्रतिदिवः । उ० १ । १५६ । इति धवि गतौ—कनिन् । इदित्वात् नुम् । इति धन्वन् । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । तित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । १८५ । इति स्वरितः । धन्वनि मरुभूमौ भवा आपः (उ इति) च (अनूप्याः) अनुगता आपो यत्रेति अनूपो देशः । ऋक्पूरब्धूः० । पा० ५ । ४ । ७४ । इति अनु+अप्—अकारः समासान्तः । ऊदनोर्देशे । पा० ६ । ३ । ९८ । इति अप् शब्दस्य अकारस्य ऊकारः । पूर्ववद् यत् प्रत्ययः स्वरितश्च । अनूपे जलप्राये देशे भवा आपः (खनित्रिमाः) खनु अवदारणे-अस्माच्छान्दसः क्त्रि प्रत्ययः । आर्धधातुकस्येड् वलादेः । पा० ७ । २ । ३५ । इति इडागमः । क्त्रे-र्मम्नित्यम् । इति मप् खनित्रेण अन्यविशेषेण निर्वृत्ताः कूपाद्भवाः (कुम्भे) कुं भूमिं उम्भति जलेन । उम्भ पूरणे-अच् । शकन्ध्वादित्वात् साधुः । घटे, कलशे (आभृताः) हञ् हरणे-क्त । हग्रहोर्भः-इति भत्वम् । आहृताः, आनीताः । (शिवाः) सुखदात्र्यः (वार्षिकीः) छन्दसि ठञ् । पा० ४ । ३ । १९ । इति वर्षा । ठञ् । ङीप् । जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । वार्षिक्यः, वर्षासु भवाः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७ ॥

१-७ ॥ चातन ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । १-४, ६, ७ अनुष्टुप् ८×४, ५ त्रिष्टुप् ११×४ अक्षराणि ।

सेनापतिलक्षणानि—सेनापति के लक्षण ॥

स्तुवानमंग्न आ वंह यातुधानं किमीदिनंम् ।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥ १ ॥

स्तुवानम् । अग्ने । आ । वह । यातु-धानंम् । किमीदिनंम ।
त्वम् । हि । देव । वन्दितः । हन्ता । दस्योः । बभूविंथ ॥१॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्ने ! [अग्नि समान प्रतापी] (स्तुवानम्) [तेरी] स्तुति करते हुये (यातुधानम्) पीड़ा देने हारे (किमीदिनम्) यह क्या यह क्या हो रहा है ऐसा कहने वाले लुतरे को (आवह) ले आ । (हि) क्योंकि (देव) हे राजन् (त्वम्) तू (वन्दितः) स्तुति को प्राप्त करके (दस्योः) चोर वा डाकू का (हन्ता) हनन कर्ता (बभूविथ) हुआ था ॥ १ ॥

१—(स्तुवानम्) ष्टुञ् स्तुतौ—लटः शानच् । अचि श्नुधातुभ्रुवां० । पा० ६ । ४ । ७७ । इति उवङ् । त्वां प्रसशंन्तं स्तुवन्तम् (अग्ने) १ । ६ । २ । अग्नि शब्दो यास्केन बहुविधिं व्याख्यातः—निरु० ७ । १४ । हे वह्ने, हे पावक, हे अग्निवत् तेजस्विन् सेनापते ! (आ-वह) आनय (यातु-धानम्) कृवापाजिमि० । उ० । १ । १ । इति यत ताडने-उण् । यातुं पीड़ां दधाति ददाति । डुधाञ् धारणपोषणदानेषु—युच् । पीड़ाप्रदं राक्षसम् (किमीदिनम्) किम्+इदानीम् वा किम्+इदम्-इनि । किमीदिने किमिदानीमिति चरते किमिदं

भावार्थ—जब अग्नि के समान तेजस्वी और यशस्वी राजा दुःखदायी लुतरों [चुगल खोरों] और डाकुओं और चोरों को आधीन करता है तो शत्रु लोग उसके बल और प्रताप की प्रशंसा करते हैं और राज्य में शान्ति फैलती है ॥१॥

(किमीदिन्) शब्द का अर्थ भगवान् यास्क ने अब क्या हो रहा है वा यह क्या यह क्या हो रहा है ऐसा कहते हुये छली, सूचक वा चुगलखोर का किया है—निरु० ६ । ११ ॥

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन् ।

अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥ २ ॥

आज्यस्य । परमे-स्थिन् । जात-वेदः । तनू-वशिन् ।

अग्ने । तौलस्य । प्र । अशान । यातु-धानान् । वि । लापय ॥२॥

भावार्थ—(परमेष्ठिन्) हे बड़े ऊंचे पदवाले ! (जातवेदः) हे ज्ञान वा धन के देने वाले ! (तनूवशिन्) । शरीरों को वश में रखने हारे ! (अग्ने) अग्नि, राजन् ! तू (तौलस्य) तोल से पाये हुये (आज्यस्य) घृत का (प्र-अशान) भोजन कर । और (यातुधानान्) दुखदायी राक्षसों से (विलापय) विलाप करा ॥ २ ॥

किमिदमिति वा पिशुनाय चरते-निरु० ६ । ११ । इति यास्कवचनात् किमिदानीं वर्तते किमिदं वर्तते-इति एवमन्वेषमाणः किमिदी, पिशुनः । साधुजनवैरिणं, सदा विरुद्धबुद्धिं, पिशुनम् (हि) यस्मात् । अवश्यम् (देव) १ । ४ । ३ । हे द्योतमान ! राजन् ! (वन्दितः) वदि स्तुत्यभिवादयोः—क्त । स्तुतः । नमस्कृतः (हन्ता) हन—तृच् । हननकर्ता, घातयिता (दस्योः) यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् । उ० ३ । २० । इति दसु उपक्षये—युच् । दस्यति परस्वान् नाशयतीति । चोरस्य । शत्रोः (बभूविथ) भू सत्तायां प्राप्तौ च—लिट् मध्यमैकवचनम् । त्वं भवसि स्म ॥

२-(आज्यस्य) आङ्+अञ्जु म्रक्षणे गतौ च-क्यप्, न लोपः । कर्मणि षष्ठी, आ अज्यते शरीरेण । आज्यं, घृतम् (परमे-स्थिन्) परमे कित् । उ० ४ । १० । इति परमे+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-इनि, स च कित् । हलन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम् ।

भावार्थ—जैसे अग्नि स्रुवादि के तोल वा परिमाण से दिये हुये घृतादि हवन सामग्री को पाकर प्रज्वलित होता है वैसे ही प्रतापी राजा प्रजा का दिया हुआ कर लेकर दुष्टों को दण्ड देता है, उससे प्रजा सदा आनन्द युक्त रहती है २॥

वि लपन्तु यातुधाना अत्त्रिणो ये किमीदिनः ।
अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम् ॥ ३ ॥

वि । लपन्तु । यातु-धानाः । अत्त्रिणः । ये । किमीदिनः । अथ । इदम् । अग्ने । नः । हविः । इन्द्रः । च । प्रति । हर्यतम् ॥३॥

भाषार्थ—(ये) जो (यातुधानाः) पीड़ा देने हारे, (अत्त्रिणः) पेट भरने वाले (किमीदिनः) यह क्या यह क्या, ऐसा करनेवाले लुतरे [हैं], [वे] (वि लपन्तु)

पा० ६ । ३ । ६ । इत्यलुक् । स्थाशिन्स्पृणाम् । वा० पा० ८ । ३ । ६७ । इति षत्वम् । परमे उत्तमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी । हे उच्चपदस्थ राजन् । (जात-वेदः) गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च । उ० ४ । २२७ । इति जात+विद ज्ञाने, वा विद्लृ लाभे-असुन् । जातं प्रादुर्भूतं वेदो ज्ञानं धनं वा यस्मात् स जातवेदाः । जातवेदाः कस्माज् जातानि वेद जातानि वैनं विदुर्जाते जाते विद्यत इति वा जातवित्तो वा जातधनो जातविद्यो वा जात-प्रज्ञानो वा--इति निरु० ७ । १६ । हे जातधन, हे जातप्रज्ञान (तनू-वशिन्) वशोऽस्त्यस्य—इनि । हे तनूनां अस्माकं शरीराणां वशयितः (अग्ने) म० १ । हे अग्निवत् तेजस्विन् (तौलस्य) तुल उन्माने—घञ् । तोल्यते उन्मीयते स्रुवादिना इति तोलम् । तोल-अण् । कर्मणि षष्ठी । तौलम् । तोलेन परिमाणेन कृतम् (प्र+अशान) अश भोजने-लोट् । हलः श्नः शानज् झौ । पा० ३ । १ । ८३ । इति श्नाप्रत्ययस्य शानच् । हौ परतः । अतो हेः । पा० ६ । ४ । १०५ । इति हेर्लुक् । त्वं भोजनं कुरु । भक्षय (यातु-धानान्) मं० १ । पीड़ाप्रदान् राक्षसान् (वि+लापय) हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति वि विकृतं । लप भाषे-णिच्-लोट् । विलापेन दुःख वचनेन युक्तान् कुरु ॥

३—(विलपन्तु) लप कथने—लोट् । विकृतं लपनं परिवेदनं कुर्वन्तु

विलाप करें। (अथ) और (अग्ने) हे अग्नि (च) और (इन्द्रः) हे वायु, तुम दोनों (इदम्) इस (हविः) होम सामग्री को (प्रति हर्यतम्) अङ्गीकार करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि, वायु के साथ हवन सामग्री से प्रचंड होकर दुर्गन्धादि दोषों का नाश करती है वैसे ही अग्नि के समान तेजस्वी और वायु के समान वेगवान् महाप्रतापी राजा से दुःखदायी, स्वार्थी, बतबने लोग अपने किये का दंड पाकर विलाप करते हैं तब उसके राज्य में शान्ति होती है ॥ ३ ॥

अ॒ग्निः पूर्व॒ आ र॑भतां॒ प्रेन्द्रो॑ नुदतु बा॒हुमा॑न् ।
ब्रवी॑तु॒ सर्वो॑ यातु॒मान॒यम॒स्मीत्येत्य॑ ॥ ४ ॥

अ॒ग्निः। पूर्वः॑। आ। र॒भ॒ता॒म्। प्र। इन्द्रः॑। नु॒द॒तु॒। बा॒हु-मा॑न्। ब्रवी॑तु। सर्वः॑। या॒तु॒-मान्। अ॒यम्। अ॒स्मि॒। इति॑। आ॒-इत्य॑॥४॥

भाषार्थ—(पूर्वः) मुखिया (अग्निः) अग्नि रूप राजा (आरभताम्) [शत्रुओं] को पकड़ लेवे, (बाहुमान्) प्रबल भुजा वाला (इन्द्रः) वायु रूप सेनापति (प्रनुदतु) निकाल देवे। (सर्वः) एक एक (यातुमान्) दुःखदायी राक्षस (एत्य) आकर (अयम् अस्मि) यह मैं हूं—(इति) ऐसा (ब्रवीतु) कहे ॥ ४ ॥

(यातु-धानाः) म० १। पीड़ाप्रदाः राक्षसाः (अत्त्रिणः) अदेस्त्रिनिश्च। उ० ४। ६८। इति अद भक्षणे-त्रिनि। अदनशीलाः, उदरपोषकाः (किमीदिनः) म० १। विरुद्धबुद्धयः, पिशुनाः (अथ) अनन्तरम्। अपि च (इदम्) प्रस्तुतमुपस्थितम् (अग्ने) म० १। अग्निवत् तेजस्विन् राजन् (हविः) १। ४। ३। दानम्। हव्यं द्रव्यम्। आह्वानम् (इन्द्रः) १। २। ३। परमैश्वर्यवान् (वायुः) वायुवद् वेगवान् राजा (प्रति+हर्यतम्) हर्य गतिकान्त्योः-लोट्। युवां कामयेथां, स्वीकुरुतम् ॥

४—(अग्निः) म० १। अग्निवत् तेजस्वी राजा (पूर्वः) पूर्व निमन्त्रणे निवासे वा-अच्। पुरोगामी, मुख्यः (आरभताम्) रभ राभस्ये=उपक्रमे। आङ् पूर्वकात् रभ स्पर्शे—लोट्। स्पृशतु। निगृह्णातु (इन्द्रः) १। २। ३ वायुः, वायुवद् वेगवान् राजा (प्र+नुदतु) णुद प्रेरणे तुदादित्वात् शः। प्रेरयतु।

भावार्थ—जब अग्नि के समान तेजस्वी और वायु के समान वेगवान् महा-प्रतापी राजा उपद्रवियों को पकड़ता और देश से निकालता है तब उपद्रवी लोग अपना अपना नाम लेकर उस राजा के शरणागत होते हैं ॥ ४ ॥

पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान् नृचक्षः । त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात् त आयन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥ ५ ॥

पश्याम । ते । वीर्यम् । जात-वेदः । प्र । नः । ब्रूहि । यातु-धानान् । नृ-चक्षः । त्वया । सर्वे । परि-तप्ताः । पुरस्तात् । ते । आ । यन्तु । प्र-ब्रुवाणाः । उप । इदम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञान देने हारे वा बहुत धन वाले राजा ! (ते) तेरे (वीर्यम्) पराक्रम को (पश्याम) हम देखें, (नृचक्षः) हे मनुष्यों के देखने हारे ! (नः) हमें (यातुधानान्) दुःख दायी राक्षसों को (प्रब्रूहि) बतादे । (त्वया) तुझ से (परितप्ताः) जलाये हुये (ते सर्वे) वह सब (प्रब्रुवाणाः) जय बोलते हुये (पुरस्तात् [तेरे] आगे (इदम्) इस स्थान में (उप आ यन्तु) चले आवें ॥ ५ ॥

अपसारयतु (बाहुमान्) तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्। पा० ५ । २ । ६४ । भूम-निन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबा-दयः ॥ १ ॥ कारिका ॥ इति बाहुशब्दात् प्रशंसायां मतुप् । प्रबलभुजः । महा-बली (ब्रवीतु) ब्रूञ्—लोट् । कथयतु (सर्वः) निखिलः (यातु-मान्) कृवा पा० । उ० १ । १ । इति यत ताडने—उण् । ततो मतुप् पूर्ववत् निन्दायाम् । यातवो यातना विद्यन्तेऽस्मिन् स यातुमान् पीड़ावान्, महापीड़ाकारी (अयम्) एतन्नामकोऽहम् (इति) एवम् (आ-इत्य) समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् । पा० ७ । १ । ३७ । इति आङ्+इण् गतौ-इति क्त्वाप्रत्ययस्य ल्यबा-देशः । ह्रस्वस्य पिति कृति० । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् आगमः । आगत्य ॥

५—(पश्याम) दृशिर् प्रेक्षणे—लोट् । पाघ्राध्मास्था० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति शपि पश्यादेशः । अवलोकयाम (वीर्यम्) वीरस्य भावः, वीर-यत् ।

भावार्थ--राजा को योग्य है कि अपने राज्य में विद्या प्रचार करे, सब प्रजा पर दृष्टि रक्खे और उपद्रवियों को अपने आधीन सर्वथा रक्खे कि वह लोग उसकी आज्ञा को सर्वदा मानते रहें ॥ ५ ॥

आ रंभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे ।
दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥ ६ ॥

आ। रभस्व। जात-वेदः। अस्माक। अर्थाय। जज्ञिषे। दूतः। नः। अग्ने। भूत्वा। यातु-धानान्। वि। लापय ॥ ६ ॥

भाषार्थ-(जातवेदः) हे ज्ञान वा धन देनेवाले राजन्! (आ रभस्व) [वैरियों को] पकड़ ले, (अस्माक) हमारे (अर्थाय) प्रयोजन के लिये (जज्ञिषे) तू उत्पन्न हुआ है। (अग्ने) हे अग्ने [सेनापते] (नः) हमारा (दूतः) दूत (भूत्वा) होकर (यातुधानान्) दुःखदायियों से (वि लापय) विलाप करा ॥ ६ ॥

यद्वा, वीरे साधु। तत्र साधुः। पा० ४। ४। ९८। इति यत्। तित् स्वरितम्। पा० ६। १। १८५। इति स्वरितः। पराक्रमम्, सामर्थ्यम् (जात-वेदः) म० २। हे जातप्रज्ञान (नः) अकथितं च। पा० १। ४। ५१ इति कर्मत्वम्। अस्मान् प्रति (प्र+ब्रूहि) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लोट्, द्विकर्मकः। प्रकथय (यातुधानान्) म० १। पीड़ाप्रदान् राक्षसान् (नृचक्षाः) चष्टिः पश्यति कर्मा—निघ० ३। ११। चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि-असुन्, नॄन् मनुष्यान् चष्टे पश्यतीति नृचक्षाः। हे मनुष्याणां द्रष्टः, अथवा उपदेशक (त्वया) अग्निना, अग्निवत् तेजस्विना (परि-तप्ताः) सम्यग् दग्धाः (पुरस्तात्) अग्रे (ते) प्रसिद्धाः (आ+यन्तु) आगच्छन्तु (प्र-ब्रुवाणाः) ब्रूञ्-शानच्। प्रकथयन्तः, जयं प्रलपन्तः (इदम्) दृश्यमानम् स्थानम् ॥

६—(आ+रभस्व) म० ४। आङ्+रभ स्पर्शे-लोट्। निगृहाण (जात-वेदः) म० २। जातप्रज्ञान! (अस्माक) अन्त्यलोपश्छान्दसः। अस्माकम् (अर्थाय) अर्थ याचने-घञ्। प्रयोजनाय, धनाय (जज्ञिषे) जनी प्रादुर्भावे लिट्, त्वंजातवानसि (दूतः) दुतनिभ्यां दीर्घश्चः। उ० ३। ९०। इति दु

भावार्थ—(दूत) का अर्थ शीघ्रगामी और सन्तापकारी है, जैसे दूत शीघ्र चल कर सन्देश पहुंचाता है वैसे ही विजुली रूप अग्नि शरीरों में प्रविष्ट होकर वेग उत्पन्न करता है अथवा काष्ठ आदि को जलाता है, इसी प्रकार अग्नि के समान तेजस्वी और प्रतापी राजा अपनी प्रजा की दशा को जान कर यथोचित न्याय करता और दुष्टों को दण्ड देता है ॥ ६ ॥

त्वम॑ग्ने यातु॒धाना॒नुप॑बद्धाँ इ॒हा व॑ह ।
अथै॑षा॒मिन्द्रो॒ वज्रे॒णापि॑ शी॒र्षाणि॑ वृश्चतु ॥ ७ ॥

त्वम् । अ॒ग्ने॒ । या॒तु॒ऽधाना॑न् । उप॑ऽबद्धान् । इ॒ह । आ । व॒ह॒ । अथ॑ । ए॒षा॒म् । इन्द्रः॑ । वज्रे॑ण । अपि॑ । शी॒र्षाणि॑ । वृ॒श्च॒तु॒ ॥७॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू (उप बद्धान्) दृढ़ बांधे हुये (यातु-धानान्) दुःखदायी राक्षसों को (इह) यहां पर (आ वह) लेआ । (अथ) और (इन्द्रः) वायु (वज्रेण) कुल्हाड़े से (एषाम्) इन के (शीर्षाणि) मस्तकों को (अपि) भी (वृश्चतु काट डाले ॥ ७ ॥

भावार्थ—अग्नि के समान प्रतापी और (इन्द्र) वायु के समान वेगवान् राजा उत्पातियों को कारागार में डाल दे और उनके सिर उड़ा दे ॥

इसी प्रकार सब मनुष्य आध्यात्म विषय में आत्मा को सेनानी, और लोभ,

---

गतौ—क्त । यद्वा टु दु उपतापे—क्त दीर्घश्च । द्रवति गच्छति दुनोत्युपतापयतीति दूतः । वार्त्ताहरः, सन्देशहरः । सन्तापकः । अग्निः (अग्ने) अग्निवत् तेजस्विन् राजन् (यातु-धानान्) म० १ । पीड़ाप्रदान् (विलापय) म० २ । विलापयुक्तान् कुरु, रोदय ।

७—(यातु-धानान्) म० १ पीड़ाप्रदान् (उप-बद्धान्) बन्ध बन्धने—क्त-दृढ़बन्धनयुक्तान् (इह) निपातस्य च । पा० ६ । ३ । १३६ । इति दीर्घः । अत्र । (अथ) च । तदनन्तरम् (एषाम्) यातुधानानाम् (इन्द्रः) १ । २ । ३ । वायुः । वायुवद् वेगवान् । परमैश्वर्यवान् (वज्रेण) ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र० । उ० २ । २८ । इति वज गतौ—रन् । कुलिशेन, कुठारेण (अपि) एव, अवश्यम् । (शीर्षाणि) शीर्षश्छन्दसि । पा० ६ । १ । ६० । इति शिरः शब्दस्य शीर्षन्

मोह, आदि को शत्रु, और गृहस्थिति में गृहपति को सेनापति और विघ्नों को बैरी मान कर योग्य व्यवहार करें ॥

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१-४ ॥ चातन ऋषिः । अग्निः सोमश्च देवते । १-३ अनुष्टुप् ८×४, ४ त्रिष्टुप् ११×४ अक्षराणि ॥

सेनापतिलक्षणानि—सेनापति के लक्षण ॥

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत् ।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥ १ ॥

इदम् । हविः । यातु-धानान् । नदी । फेनम्-इव । आ । वहत् । यः । इदम् । स्त्री । पुमान् । अकः । इह । सः । स्तुवताम् । जनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (हविः) [हमारी] भक्ति (यातुधानान्) राक्षसों को (आ वहत्) ले आवे, (इव) जैसे (नदी) नदी (फेनम्) फेन को । (यः) जिस किसी (पुमान्) मनुष्य ने अथवा (स्त्री) स्त्री ने (इदम्) इस [पापकर्म] को (अकः) किया है (सः जनः) वह पुरुष (इह) यहां (स्तुवताम्) [तेरी] स्तुति करे ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजा की पुकार सुनकर जब राजा दुष्टों को पकड़ता है, अपराधी स्त्री और पुरुष अपने अपराध को अङ्गीकार कर लेते और उस प्रतापी राजा की स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

आदेशः । शिरांसि, मस्तकानि (वृश्चतु) ओव्रश्चू छेदने, तुदादित्वात् शः । छिनत्तु ॥

१—(इदम्) प्रस्तुतं, क्रियमाणम् (हविः) १ । ४ । ३ दानम् । भक्तिः । आवाहनम् (यातु-धानान्) १ । ७ । १ । पीडाप्रदान् राक्षसान् (नदी) नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति णद ध्वनौ—पचाद्यच् । गणे नदट् इति पाठात् टित्वात्—ङीप् । नदति प्रवाहवेगेन शब्दायत इति । नद्यः

(स्त्री) शब्द का अर्थ संग्रह करने हारी वा स्तुति योग्य, और [पुमान्] का अर्थ रक्षक वा पुरुषार्थी है।

अयं स्तु॑वान आग॑मदि॒मं स्म॒ प्रति॑ ह॒र्य॑त ।
बृह॑स्पते॒ वशे॑ ल॒ब्ध्वाग्नी॑षोमा॒ वि वि॑ध्यतम् ॥ २ ॥

अ॒यम् । स्तु॒वा॒नः । आ । अ॒ग॒म॒त् । इ॒मम् । स्म॒ । प्रति॑ । ह॒र्य॒त ।
बृह॑स्पते । वशे॑ । ल॒ब्ध्वा । अ॒ग्नी॑षोमा । वि । वि॒ध्य॒त॒म् ॥२॥

भावार्थ—(अयम्) यह [शत्रु] (स्तुवानः) स्तुति करता हुआ (आ अगमत्) आया है, (इमम्) इसको (स्म) अवश्य (प्रति हर्यत) तुम सब स्वागत करो। (बृहस्पते) हे बड़े बड़ों के रक्षक राजन्! [दूसरे वैरी को] (वशे) वश में (लब्ध्वा) लाकर [वर्त्तमान हो,] (अग्नीषोमा=०-मौ) हे अग्नि और चन्द्रमा! तुम दोनों [अन्य वैरियों को] (वि) अनेक भांति से (विध्यतम्) ताड़ो ॥ २ ॥

कस्मात् नदना भवन्ति शब्दवत्यः-निरु० २ । २४ । नदनशीला, सरित्, तरङ्गिणी (फेनम्) फेनमीनौ । उ० ३ । ३ । इति स्फायी वृद्धौ-नक्, फेशब्दादेशः । स्फायते वर्धते स फेनः । डिण्डीरम्, समुद्रफेनम् (आ+वहत्) वह प्रापणे—लेट् । आनयेत् (स्त्री) स्त्यायतेड्रट् । उ० ४ । १६६ । इति स्त्यै संहतौ, ध्वनौ-ड्रट्, ङीप् । स्त्यायति शब्दयति गृह्णाति वा गुणान् सा । यद्वा, ष्टुञ् स्तुतौ-ड्रट् । ङीप् । स्तौति गुणान् वा स्तूयते सा स्त्री । नारी (पुमान्) पातेर्डुमसुन् । उ० ४ । १७८ इति पा रक्षणे डुमसुन् । डित्वात् टिलोपः । पातीति पुमस्=पुमान् मनुष्यः, पुरुषः (अकः) डुकृञ् करणे-लुङ् । हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० । पा० ६ । १ । ६८ । इति ति इत्यस्य इकार लोपे तलोपः । अकार्षीत् (स्तुवताम्) ष्टुञ् स्तुतौ-लोट् । छन्दसि शः । स्तुतिं करोतु (जनः) जनी प्रादुर्भावे, वा जन जनने-अच् । जायते जनयति वा स जनः । लोकः ॥

२—(अयम्) शत्रुः (स्तुवानः) ष्टुञ् स्तुतौ—शानच् । युष्मान् स्तुवन् (आ+अगमत्) गम्लृ गतौ—लुङ् । आगतवान् (इमम्) शत्रुम् (स्म) अवश्यम्, प्रीत्या (प्रति+हर्यत) हर्य गतिकान्त्योः—लोट् । यूयं प्रतिकामयध्वम्, स्वकीयत्वेन परिगृह्णीत (बृहस्पते) तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः

भावार्थ—जो शत्रु राजा का प्रभुत्व मानकर शरणागत हो, राजा और कर्मचारी उसका स्वागत करें। प्रतापी राजा दूसरे वैरी को शम दम आदि से अपने आधीन रक्खे। और अन्य वैरियों को (अग्नीषोमा) दंड देने में अग्नि सा प्रचंड और न्याय करने में (सोम) चन्द्रमा सा शान्त स्वभाव रहे ॥ २ ॥

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च ।
नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम् ॥ ३ ॥

यातु-धानस्य । सोम-प । जहि । प्र-जाम् । नयस्व । च ।
निः । स्तुवानस्य । पातय । परम् । अक्षि । उत । अवरम् ॥३॥

भाषार्थ—(सोमप) हे अमृत पीने हारे [राजन्] तू (यातुधानस्य) पीड़ा देने हारे पुरुष के (प्रजाम्) मनुष्यों को (जहि) मार, (च) और (नयस्व) लेआ। (निःस्तुवानस्य) अपस्तुति [निन्दा] करते हुये [शत्रु की] (परम्) उत्तम् [हृदय]

सुट् तलोपश्च । वार्त्तिकम्, पा० ६।१।१५७। इति बृहत्+पतिः, सुट् आगमः, तकारलोपश्च। हे बृहतां महतां विदुषां पालयितः, विद्वन् राजन्! (वशे) वशिरण्योरुपसंख्यानम्। वा० । पा० ३।३।५८। इति वश स्पृहायाम्—अप्। अधीनत्वे, आयत्ततायाम् (लब्ध्वा) लभ प्राप्तौ-क्त्वा। आनीय। प्राप्य [अन्य-शत्रुं, तिष्ठ, इति शेषः] (अग्नीषोमा) अग्निश्च सोमश्चेति द्वन्द्वे। ईदग्नेः सोमवरुणयोः। पा० ६।३।२७। इति ईत्वम्। अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः। पा० ८।३।८२। इति षत्वम्। सुपां सुलुक्०। पा० ७।१।३९। इति पूर्वसवर्ण-दीर्घः। अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षि०। उ० १।१४०। इति षु ऐश्वर्यप्रसवयोः—मन्। सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति, यद्वा सवति सौति अमृतमुत्पादयतीति सोमः। वायुः। चन्द्रः। बलवर्धकौषधविशेषः। अमृतम्। अग्निः। अग्निवत् तेजः। वायुः, वायुवद् वेगः, अथवा चन्द्रवत् प्रजायै शान्तिप्रदगुणः। अनेन सेनापति-गुणद्वयवर्णनम् (वि) विविधम् (विध्यतम्) व्यध ताडने-लोट्। युवां ताडय-तम् अन्यं पापात्मानम् ॥

३—(यातु-धानस्य) १।७।१। पीड़ाप्रदस्य (सोम-प) आतोऽनुपस-र्गे कः। पा० ३।२।३। इति सोम+पा पाने-क। हे अमृतस्य पातः! (जहि)

की] (उत) और (अवरम्) नीची [शिर की] (अक्षि) आंख को (पातय) निकाल दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—(सोमप) अमृत पीने हारा अर्थात् शान्त स्वभाव यशस्वी राजा दुष्टों का नाश करे और पकड़ लावे। निन्दा फैलाने हारे मिथ्याचारी शत्रु को नष्ट भ्रष्ट कर दे कि वह पापी अपने मन के भीतरी कुविचार और बाहिरी कुचेष्टा और पाप कर्म छोड़ दें ॥ ३ ॥

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्रिणां
जातवेदः। तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां
शततर्हमग्ने ॥ ४ ॥

यत्र। एषाम्। अग्ने। जनिमानि। वेत्थ। गुहा। सताम्। अत्रिणाम्। जात-वेदः। तान्। त्वम्। ब्रह्मणा। ववृधानः। जहि। एषाम्। शत-तर्हम्। अग्ने ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे अनेक विद्या वाले वा धन वाले! (अग्ने) अग्नि [अग्निस्वरूप राजन्] (यत्र) जहां पर (गुहा) गुफा में (सताम्) वर्त्तमान (एषाम्) इन (अत्रिणाम्) उदर पोषकों के (जनिमानि) जन्मों को (वेत्थ) तू जानता

हन हिंसागत्योः—लोट्। नाशय (प्र-जाम्) जनम्। मनुष्यान् (नयस्व) आनय (निः) क्षेपेण, अपवादेन। निषेधेन (स्तुवानस्य) म० २। स्तुवतः शत्रोः (पातय) पत अधोगतौ—णिच् लोट्। अधोगमय, च्यावय (परम्) ऋदोरप्। पा० ३। ३। ५७। इति पॄ-पालने पूर्त्तौ च—अप्। श्रेष्ठम्। उत्तमम् (अक्षि) अशेर्नित्। उ० ३। १५६। इति अशू व्याप्तौ—क्सि। यद्वा। अक्षू व्याप्तौ-इन्। चक्षुः, नेत्रम् (अवरम्) ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च। पा० ३। ३। ५८। इति न+वृञ् वरणे-अप्। न व्रियते इति। निकृष्टम्, नीचम् ॥

४—(अग्ने) अग्निवत् तेजस्विन् राजन् (जनिमानि) जनिमृङ्भ्यामिमनिन्। उ० ४। १४९। इति जनी प्रादुर्भावे—इमनिन्। जन्मानि, उत्पत्तिकारणानि।

है । (अग्ने) हे अग्निरूप राजन् ! (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान [वा अन्न वा धन] से (वावृधानः) बढ़ता हुआ (त्वम्) तू (तान्) उनकी और (एषाम्) इनकी (शततर्हम्) सैकड़ों प्रकार की हिंसा को (जहि) नाश कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—अग्नि के समान तेजस्वी महाबली राजा गुप्त उपद्रवियों का खोज करे और उनको यथानीति कड़े कड़े दण्ड देकर प्रजा में शान्ति रक्खे ॥४॥

सूक्तम् ६ ॥

१-४॥ अथर्वा ऋषिः । १, २ विश्वे देवा देवताः, ३, ४ अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ११×४ अक्षराणि ॥

सर्वसम्पत्तिप्रयत्नोपदेशः—सब सम्पत्तियों के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

अस्मिन् वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो
मित्रो अग्निः । इममादित्या उत विश्वे च देवा
उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु ॥ १ ॥

अस्मिन् । वसु । वसवः । धारयन्तु । इन्द्रः । पूषा । वरुणः । मित्रः । अग्निः । इमम् । आदित्याः । उत । विश्वे । च । देवाः । उत्-तरस्मिन् । ज्योतिषि । धारयन्तु ॥ १ ॥

(वेत्थ) विद ज्ञाने-लट् । त्वं जानासि (गुहा) इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति गुहू संवरणे-क, टाप् च । गूहति रक्षतीति । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति विभक्तिलोपः । गुहायाम्, गर्त्ते, गह्वरे, गुप्तस्थाने (सताम्) अस सत्तायां-शतृ । विद्यमानानाम् । निवसताम् (अत्रिणाम्) १ । ७ । ३ । अदनशीलानां, उदरपोषकाणाम् (जात-वेदः) १ । ७ । २ । हे जातविद्य ! (ब्रह्मणा) बृहेर्नोऽच्च । उ० ४ । १४६ । इति बृहि वृद्धौ-मनिन्, नकारस्य अकारः, रत्वं च । ब्रह्म अन्नम्-निघ० २ । ७ । तथा, धनम्-निघ० २ । १० । वेदेन । वेदज्ञानेन । परमेश्वरेण (वावृधानः) वृधु वृद्धौ-लिटः कानच्, छन्दसि दीर्घः । प्रवृद्धः (जहि) म० ३ । मारय (शत-तर्हम्) शतं बहुनाम—निघ० ३ । १ । तृह हिंसायाम्-घञ् । बहुविधहिंसनम् ॥

भाषार्थ—(वसवः) प्राणियों के बसाने वाले वा प्रकाशमान, श्रेष्ठ देवता [अर्थात्] (इन्द्रः) परमेश्वर वा सूर्य, (पूषा) पुष्टि करने वाली पृथिवी, (वरुणः) मेघ, (मित्रः) वायु, और (अग्निः) आग, (अस्मिन्) इस पुरुष में [मुझ में] (वसु) धन को (धारयन्तु) धारण करें। (आदित्याः) प्रकाशवाले [बड़े विद्वान् शूरवीर पुरुष] (उत च) और भी (विश्वे) सब (देवाः) व्यवहार जाननेहारे महात्मा (इमम्) इस को [मुझको] (उत्तरस्मिन्) अति उत्तम (ज्योतिषि) ज्योति में (धारयन्तु) स्थापित करें ॥ १ ॥

भावार्थ—चतुर पुरुषार्थी मनुष्य के लिये परमेश्वर और संसार के सब पदार्थ उपकारी होते हैं। अथवा जो सूर्य, भूमि, मेघ, वायु, और अग्नि के

१—(अस्मिन्) उपासके, मयि, इत्यर्थः। म० ४ (वसु) शृस्वृस्निहित्रप्यसि०। उ० १। १०। इति वस आच्छादने, निवासे दीप्तौ च—उप्रत्ययः। निवासयितृ प्रकाशमानं वा धनम् (वसवः) पूर्ववत्, वस-उ। श्वसोवसीयश्रेयसः। पा० ५। ४। ८०। अत्र वसुशब्दः प्रशस्तवाची। प्राणिनां वासयितारः, प्रकाशमानाः। प्रशस्ता देवाः, इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः (धारयन्तु) धृञ् धारणेचुरादिः। स्थापयन्तु (इन्द्रः) १। २। ३। परमेश्वरः। सूर्यः (पूषा) श्वन्नुक्षन्पूषन्०। उ० १। १५९। इति पुष पुष्टौ, पूष वृद्धौ—कनिन् प्रत्ययान्तो निपात्यते। पुष्यति पूषति वा वर्धते धान्यादिभिः, पोषयति वान्नैः प्रजाः। पूषा पृथिवीनाम-निघ० १। १ (वरुणः) १। ३। ३। वृणोति व्रियते वाऽसौ वरुणः। वृष्टिजलम्। मेघः (मित्रः) १। ३। २। डुमिञ् प्रक्षेपणे-क्त। वायुः। अहरभिमानी देवः—इति सायणः (अग्निः) १। ६। २। औरवंजाठरवैद्युतादिरूपः प्रकाशः। वह्निः (इमम्) उपासकम् (आदित्याः) अघ्न्यादयश्च। उ० ४। ११२। इति आङ्+डुदाञ् दाने, वा दीपी दीप्तौ—यक्। निपातितः। यद्वा। दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः। पा० ४। १। ८५। इति अदिति-ण्यप्रत्ययः, अपत्यार्थे। अदितिः=पृथिवी-निघ० १। १। वाक्-निघ० १। ११। अदितिरदीना देवमाता—निरु० ४। २२। अथास्य [आदित्यस्य] कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रसधारणं यच्च किंचित् प्रवल्हितमादित्यकर्मैव तच्चन्द्रमसा वायुना संवत्सरेणेति संस्तवः—निरु० ७। ११। आदातारः, ग्रहीतारो गुणानाम्। प्रकाशमानाः। भूमिपुत्राः, देशहितैषिणः। सरस्वतीपुत्राः, विद्वांसः। सूर्य-

समान उत्तम गुण वाले और दूसरे शूर वीर विद्वान् लोग (आदित्याः) जो विद्या के लिये और धरती अर्थात् सब जीवों के लिये पुत्र समान सेवा करते हैं और जो सूर्य के समान उत्तम गुणों से प्रकाशमान हैं, वे सब नरभूषण पुरुषार्थी मनुष्य के सदा सहायक और शुभचिन्तक रहते हैं ॥ १ ॥

अस्य दे॒वाः प्र॒दिशि॒ ज्योति॑रस्तु॒ सूर्यो॑ अ॒ग्निरु॒त वा॒ हिर॑ण्यम् । सप॑त्ना अ॒स्मदध॑रे भवन्तूत्त॒मं नाक॒मधि॑ रोहये॒मम् ॥ २ ॥

अ॒स्य । दे॒वाः । प्र॒-दिशि॑ । ज्योति॑ः । अ॒स्तु॒ । सूर्य॑ः । अ॒ग्निः । उ॒त । वा॒ । हिर॑ण्यम् । स॒-प॑त्नाः । अ॒स्मत् । अध॑रे । भ॒व॒न्तु॒ । उ॒त्-त॒मम् । नाक॑म् । अधि॑ । रो॒ह॒य॒ । इ॒मम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे व्यवहार जानने हारे महात्माओ ! (अस्य) इसके [मेरे] (प्रदिशि) शासन में (ज्योतिः) तेज, [अर्थात्] (सूर्यः) सूर्य, (अग्निः) अग्नि, (उत वा) और भी (हिरण्यम्) सुवर्ण (अस्तु) होवे। (सपत्नाः) सब वैरी (अस्मत्) हम से (अधरे) नीचे (भवन्तु) रहें। (उत्तमम्) अति ऊंचे (नाकम्) सुख में (इमम्) इस को [मुझ को] (अधि) ऊपर (रोहय=०—यत) तुम चढ़ाओ ॥ २ ॥

वत् तेजस्विनः (देवाः) १ । ४ । ३ । दिवु व्यवहारे-अच् । व्यवहारिणः । प्रकाशमानाः (उत्-तरस्मिन्) उत्कृष्टे (ज्योतिषि) द्युतेरिसिन्नादेश्च जः । उ० २ । ११० । इति द्युत दीप्तौ-इसिन्, दस्य जः । तेजसि, प्रकाशे (धारयन्तु) स्थापयन्तु ॥

२—(अस्य) उपासकस्य (देवाः) म० १ । हे प्रकाशमया व्यवहारिणो वा (प्रदिशि) सम्पदादिभ्यः क्विप् । वा० पा० ३ । ३ । ९४ । प्रपूर्वात् दिश दाने, आज्ञापने—क्विप् । प्रदेशने, शासने, आज्ञायाम् (ज्योतिः) म० १ । तेजः, प्रकाशः (सूर्यः) १ । ३ । ५ । सरणशीलः, प्रेरकः । ग्रहविशेषः (अग्निः)

भावार्थ—प्रकाश वाले, सूर्य, अग्नि की और सुवर्ण आदि की विद्यायें, अथवा सूर्य, अग्नि और सुवर्ण के समान प्रकाश वाले लोग, पुरुषार्थी मनुष्य के अधिकार में रहें और वह यथायोग्य शासन करके सर्वोत्तम सुख भोगे ॥ २ ॥

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम् ॥ ३ ॥

येन । इन्द्राय । सम्-अभरः । पयांसि । उत्-तमेन । ब्रह्मणा । जात-वेदः । तेन । त्वम् । अग्ने । इह । वर्धय । इमम् । स-जातानाम् । श्रैष्ठ्ये । आ । धेहि । एनम् ॥ ३ ॥

म० १ । दावानलजाठरवैद्युतादिरूपः । पावकः (हिरण्यम्) हर्यतिः कान्तिकर्मा–निघ० २ । ६ । हर्यतेः कन्यन् हिर् च । उ० ४ । ४४ । इति हर्य्य गतिकान्त्योः–कन्यन्, हिरादेशः । हर्यते काम्यते तत् । यद्वा, हृञ् हरणे–कन्यन् हिर् च । ह्रियते जनाज्जनं व्यवहारार्थम्, अथवा द्रव्यस्वभावत्वात् नैकत्रास्य स्थितिः । हिरण्यनामसु–निघ० १ । २ । हर्यतेः प्रेप्साकर्मणः—निरु० २ । १० । सुवर्णम् । तेजः (स-पत्नाः) सह + पत् पतने ऐश्वर्ये च–न प्रत्ययः, सहस्य सः । सह पतन्ति यतन्ते एकार्थं, यद्वा, सह पत्यन्ते ईश्वरा भवन्ति । सह मतित्ववन्तः । शत्रवः (अधरे) न + धृञ्–अच्, नञ्समासः, न ध्रियतेऽसौ । नीचाः, हीनाः, अपकृष्टाः (उत्-तमम्) उत् + तमप्, अतिशयेन उत्कृष्टम् । यद्वा, उत् + तमु इच्छायाम्–अच् । भद्रम्, उत्कृष्टम् (नाकम्) कं सुखम् अकं दुःखम्, तन्नास्त्यत्रेति नाकः । नभ्राण्नपान्नवेदानासत्या० । पा० ६ । ३ । ७५ । इति नञः प्रकृतिभावः । अथवा पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । इति णी प्रापणे–आकप्रत्ययः, टिलोपः । नाक आदित्यो भवति नेता भासां ज्योतिषां प्रणयोऽथ द्यौः कमिति सुखनाम तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्यते—निरु० २ । १४ । स्वर्गम् । सुखम् । आकाशम् । आदित्यलोकम् (अधि) उपरि (रोहय) रुह जन्मनि, प्रादुर्भावे–णिच्–लोट् । एक वचनं बहुवचने । उन्नयत यूयम् (इमम्) उपासकम् ॥

भाषार्थ-(जातवेदः) हे विज्ञानयुक्त, परमेश्वर ! तूने (येन उत्तमेन ब्रह्मणा) जिस उत्तम वेद विज्ञान से (इन्द्राय) पुरुषार्थी जीव के लिये (पयांसि) दुग्धादि रसों को (समभरः) भर रक्खा है। (तेन) उसी से (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (त्वम्) तू (इह) यहां पर (इमम्) इसे (मुझे) (वर्धय) वृद्धि युक्त कर, (सजातानाम्) तुल्य जन्म वाले पुरुषों में (श्रैष्ठ्ये) श्रेष्ठ पद पर (एनम्) इसको [मुझ को] (आ) यथा विधि (धेहि) स्थापित कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर पुरुषार्थियों को सदा पुष्ट और आनन्दित करता है। मनुष्य को प्रयत्न करके अपनी श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा बढ़ानी चाहिये ॥ ३ ॥

(अग्नि) शब्द ईश्वरवाची है, इस में यह प्रमाण है—मनु १२। १२३।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्

इन्द्रमेके ऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १ ॥

इस को कोई अग्नि, दूसरे मनु, और प्रजापति, कोई इन्द्र, दूसरे प्राण और नित्य ब्रह्म कहते हैं ॥

३—(येन) ब्रह्मणा (इन्द्राय) १। २। ३। जीवाय, पुरुषार्थिने जीवाय। (सम्-अभरः) डुभृञ् भरणे, पोषणे—लङि सिप्। सम्यग् भृतवानसि पोषितवानसि (पयांसि) १। ४। १। दुग्धानि, दुग्धघृतादिपदार्थान् (उत्-तमेन) म० २। अतिश्रेष्ठेन (ब्रह्मणा) १। ८। ४। वेदज्ञानेन (जात-वेदः) १। ७। २। हे जातप्रज्ञान, परमेश्वर (तेन) ब्रह्मणा (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (इह) अत्र, अस्मिन् जन्मनि (वर्धय) वृधु-णिच्। समर्धय। (इमम्) उपासकं, माम् (स-जातानाम्) समान+जनीप्रादुर्भावे-क्त। जनसनखनां सञ्झलोः। पा० ६। ४। ४२। इति आत्वम्। समानस्य छन्दस्यमूर्ध०। पा० ६। ३। ८४। इति समासे समानस्य सभावः। समानजन्मनां स्वकुटुम्बिनां मध्ये (श्रैष्ठ्ये) गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च। पा० ५। १। १२४। इति श्रेष्ठ-ष्यञ्। श्रेष्ठत्वे, प्रधानत्वे (आ) समन्तात्-यथाविधि। (धेहि) डुधाञ् धारणपोषणयोः—लोट्। धारय, स्थापय (एनम्) उपासकम ॥

ऐषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्ता-न्यग्ने । सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

आ । एषाम् । यज्ञम् । उत । वर्चः । ददे । अहम् । रायः । पोषम् । उत । चित्तानि । अग्ने । स-पत्नाः । अस्मत् । अधरे । भवन्तु । उत्-तमम् । नाकम् । अधि । रोहय । इमम् ॥४॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे परमेश्वर ! (एषाम्) इन के [अपने लोगों के] दिये (यज्ञम्) सत्कार, (उत) और (वर्चः) तेज, (रायः) धन की (पोषम्) बढ़ती (उत) और (चित्तानि) मानसिक बलों को (अहम्) मैं (आ ददे) ग्रहण करता हूं। (सपत्नाः) वैरी लोग (अस्मत्) हम से (अधरे) नीचे (भवन्तु) होवें, (उत्तमम्) अति ऊंचे (नाकम्) सुख में (एनम्) इस को [मुझे] (अधि) ऊपर (रोहय) चढ़ा ॥ ४ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् नीति निपुण पुरुष अपने पक्षवालों के किये हुये उपकार, और सत्कार को सधन्यवाद स्वीकार करे और विपक्षियों को नीचा दिखा कर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ावे ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध मन्त्र २ का उत्तरार्ध है ॥

४—(एषाम्) स्वपुरुषाणाम् (यज्ञम्) यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् । पा० ३।३।९० । इति यज देवार्चादानसङ्गतिकरणेषु-नङ् । पूजाम्, कीर्त्तिम् (वर्चः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४।१८९ । इति वर्च दीप्तौ—असुन् । नित्त्वात् आद्युदात्तः । वर्चः, अन्ननाम-निघ० २।७ । रूपम् । तेजः (आ-ददे) आङ् पूर्वात् डुदाञ् ग्रहणे-लट् । अहं गृह्णामि, स्वीकरोमि (रायः) रातेर्डैः । उ० २।६६ । इति रा दाने-डै प्रत्ययः, रै । धनस्य (पोषम्) पुष पुष्टौ-घञ् । पोषणं वर्धनं समृद्धिम् (रायस्पोषम्) षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८।३।५३ । इति विसर्गस्य सः (चित्तानि) चित ज्ञाने—क्त । मनांसि, मानसबलानि (अग्ने) म० ३ । हे परमेश्वर (सपत्नाः.........इमम्) व्याख्यातं म० २ ॥

सूक्तम् १० ॥

१-४ ॥ अथर्वा ऋषिः । वरुणो देवता । १, २ त्रिष्टुप् , ३, ४ अनुष्टुप् ।

वरुणस्य क्रोधः प्रचण्डः—वरुण का क्रोध प्रचण्ड है ॥

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या
वरुणस्य राज्ञः । ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान
उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥ १ ॥

अयम् । देवानाम् । असुरः । वि । राजति । वशा । हि । सत्या । वरुणस्य । राज्ञः । ततः । परि । ब्रह्मणा । शाशदानः । उग्रस्य । मन्योः । उत् । इमम् । नयामि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (देवानाम्) विजयी महात्माओं का (असुरः) प्राणदाता [वा प्रज्ञावान् वा प्राणवान्] परमेश्वर (वि राजति) बड़ा राजा है, (वरुणस्य) वरुण अर्थात् अति श्रेष्ठ (राज्ञः) राजा परमेश्वर की (वशा) इच्छा (सत्या) सत्य (हि) ही है। (ततः) इस लिये (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से (परि) सर्वथा (शाशदानः) तीक्ष्ण होता हुआ मैं (उग्रस्य) प्रचंड परमेश्वर के (मन्योः) क्रोध से (इमम्) इस को [अपने को] (उत् नयामि) छुड़ाता हूं ॥ १ ॥

१—(अयम्) पुरोवर्ती (देवानाम्) १।४।३। दिव्यगुणवतां विदुषाम् (असुरः) असेरुरन्। उ० १।४२। इति असु क्षेपे-उरन्। ञिनत्यादिर्नित्यम्। पा० ६।१।१९७। इति नित्त्वाद् आद्युदात्तः। अस्यति शत्रून्। यद्वा, अस गति-दीप्त्यादानेषु-उरन्। असति गच्छति व्याप्नोति सर्वत्र, दीप्यते स्वयम्, आदत्ते वा साधून्। यद्वा। असुं प्राणं राति ददातीति, असु+रा दानादानयोः-क। मेघनाम-निघ० १।१०। असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वापिवासुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था असुरत्वमादिलुप्तम्-निरु० १०।३४। क्षेप्ता। शूरः। व्यापकः। दीप्यमानः। ग्रहीता। प्राणदाता। प्रज्ञावान्। यद्वा, मेघवद् उदारः। वरुणविशेषणमेतत् (वि) विशेषेण (राजति) राजृ दीप्तौ। दीप्यते, ईष्टे ईश्वरो भवति-निरु० २।२१ (वशा) वशस्पृहि-अप्, टाप्। इच्छा, स्पृहा।

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के क्रोध से डर कर मनुष्य पाप न करें और सदा उसे प्रसन्न रक्खें ॥ १ ॥

नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्युग्र निचिकेषि द्रुग्धम्। सहस्रमन्यान् प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥ २ ॥

नमः। ते। राजन्। वरुण। अस्तु। मन्यवे। विश्वम्। हि। उग्र। नि-चिकेषि। द्रुग्धम्। सहस्रम्। अन्यान्। प्र। सुवामि। साकम्। शतम्। जीवाति। शरदः। तव। अयम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे अतिश्रेष्ठ (राजन्) बड़े ऐश्वर्य वाले, राजा, (ते) तुझ (मन्यवे) क्रोधरूप को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (उग्र) हे प्रचंड ! तू (विश्वम्) सब (हि) ही (द्रुग्धम्) द्रोह को (नि-चिकेषि) सदा जानता है। [मैं] (सहस्रम्) सहस्र (अन्यान्) दूसरे जीवों को (साकम्)

(हि) अवश्यम् । यस्मात् (सत्या) तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ इति सत्+यत् टाप्। सद्भ्यो हिता, अवितथा (वरुणस्य) १ । ३ । ३ । वियते स्वीक्रियते स वरुणः । अतिश्रेष्ठस्य । परमेश्वरस्य (राज्ञः) राजति, ऐश्वर्यकर्मा-निघ० २ । २१ । कनिन् युवृषितक्षिराजि० । उ० १ । १५६ । इति राजृ दीप्तौ-ऐश्वर्ये च-कनिन् । स्वामिनः, अधिपतेः, ईश्वरस्य (ब्रह्मणा) १ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन (शाशदानः) शद्लृ शातने यङ्लुगन्ताद् छन्दसि शानच्। शाशद्यमानः—निरु० ६ । १६ । अत्यर्थं तीक्ष्णः । विजयी (उग्रस्य) ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ०२।२८। इति उच समवाये-रक् । उच्यते क्रुधा सम्बध्यते। उत्कटस्य, प्रचण्डस्य (मन्योः) यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् । उ० ३ । २० । इति मन ज्ञाने गर्वे, धृतौ च-भावे कर्तरि वा-युच् । मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा-निरु० १० । २९ । क्रोधात् (उत्+नयामि) उपसर्गस्य व्यवधानम् । ऊर्ध्वं गमयामि, मोचयामीत्यर्थः ॥

२—(राजन्) म० १ । हे ऐश्वर्यवन् (वरुण) म० १ । हे परमेश्वर ! (मन्यवे) म० १ । क्रोधाय, क्रोधरूपाय (नि-चिकेषि) कि ज्ञाने—लट्,

एक साथ (प्रसुवामि) आगे बढ़ाता हूं, (ते) तेरा (अयम्) यह [सेवक] (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीवाति) जीता रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वज्ञ परमेश्वर के महा क्रोध से भय मानकर मनुष्य पातकों से बचें और सब के साथ उपकार करके जीवन भर आनन्द भोगें ॥ २ ॥

यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु ।
राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम् ॥ ३ ॥

यत् । उवक्थ । अनृतम् । जिह्वया । वृजिनम् । बहु ।
राज्ञः । त्वा । सत्य-धर्मणः । मुञ्चामि । वरुणात् । अहम् ॥३॥

भाषार्थ—[हे आत्मा !] (यत्) जो (बहु) बहुत सा (अनृतम्) असत्य और (वृजिनम्) पाप (जिह्वया) जिह्वा से (उवक्थ) तू बोला है । (अहम्) मैं (त्वा) तुझ को (सत्यधर्मणः) सच्चे धर्मात्मा वा न्यायी, (वरुणात्) सब में श्रेष्ठ परमेश्वर (राज्ञः) राजा से (मुञ्चामि) छुड़ाता हूं ॥ ३ ॥

जुहोत्यादिः, शपः श्लुः । त्वं नितरां जानासि (द्रुग्धम्) द्रुह जिघांसायाम्-भावे-क्त । द्रोहम्, अपराधम् (सहस्रम्) सहो बलमस्त्यस्मिन्, महस्+रप्रत्ययो मत्वर्थे । बहुनाम—निघ० ३ । १ । बहून्, अनेकान् (अन्यान्) माछाशासिभ्यो यः । उ० ४ । १०६ । इति अन प्राणने, जीवने—य प्रत्ययः । अनिति जीवतीति अन्यः । जीवान्, प्राणिनः । इतरान् वा (प्र+सुवामि) षूङ् प्रेरणे, तुदादिः, ङित्वाद् गुणप्रतिषेधे उवङ् । प्रकर्षेण प्रेरयामि, ऊर्ध्वं नयामि, उपकरोमि (साकम्) इणभीकापा० । उ० ३ । ४३ । इति षो अन्तकर्मणि-कन् । सह, समम् (शतम्) बहुनाम, निघ० ३ । १ । बह्वीः (जीवाति) जीव प्राणधारणे—लेट्, लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ६४ । इति आडागमः । जीवेत् । (शरदः) शृदॄ भसोऽदिः । उ० १ । १३० । इति शॄ हिंसायाम्—अदि । काला-ध्वनोरत्यसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । आश्विनकार्तिक-मास-युक्तान् ऋतुविशेषान् । संवत्सरान् ॥

३—(यत्) वचनम् (उवक्थ) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-लिट्, त्वम् उक्त-वानसि (अनृतम्) न ऋतम् । असत्यं । मिथ्याभाषणम् (जिह्वया)

भावार्थ—जो मनुष्य मिथ्यावादी दुराचारी भी हो कर उस प्रभु की शरण लेते और सत्कर्मों में प्रवृत होते हैं, वे लोग उस जगदीश्वर की न्याय व्यवस्था के अनुसार दुःख पाश से छूटकर आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

मुञ्चामि॑ त्वा वैश्वान॒राद॑र्ण॒वान्म॑ह॒तस्परि॑ ।
स॒जा॒ताऩु॑ग्रे॒हा व॑द॒ ब्रह्म॒ चाप॑ चिकीहि नः ॥ ४ ॥

मु॒ञ्चामि॑ । त्वा॒ । वै॒श्वा॒न॒रात् । अ॒र्ण॒वात् । म॒ह॒तः । परि॑ ।
स॒-जा॒तान् । उ॒ग्र॒ । इ॒ह । आ । व॒द॒ । ब्रह्म॑ । च॒ । अप॑ ।
चि॒की॒हि॒ । नः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे आत्मा !] (महतः) विशाल (अर्णवात्) समुद्र के समान गंभीर (वैश्वानरात्) सब नरों के हितकारक वा सब के नायक परमेश्वर से (त्वा) तुझ को (परि मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूं। (उग्र) हे प्रचण्ड स्वभाव [परमेश्वर !] (सजातान्) [मेरे] तुल्य जन्म वालों को (इह) इस विषय में (आ वद) उपदेश कर (च) और (नः) हमारे (ब्रह्म) वैदिक ज्ञान को (अप) आनन्द से (चिकीहि) तू जान ॥ ४ ॥

शेवाह्वजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवाः । उ० । १ । १५४ । इति जि जये—वन, हुक् आगमे निपातितः । जयति रसमनया । रसनया (वृजिनम्) वृजेः किच्च । उ० २ । ४७ । इति वृजी वर्जने-इनच्, स च कित् । पापम् (बहु) अधिकम् (राज्ञः) म० १ । अध्यक्षात् (त्वा) त्वाम् । सेवकम्, आत्मानम् (सत्य-धर्मणः) धर्मादनिच् केवलात् । पा० ५ । ४ । १२४ । इति सत्य+धर्म—अनिच्, बहुव्रीहौ । यथार्थन्यायस्वभावात् (मुञ्चामि) मुच्लृ मोक्षे-लट् । मोचयामि, वियोजयामि (वरुणात्) म० १ । श्रेष्ठात् परमेश्वरात् (अहम्) उपासकः ॥

४—(परि+मुञ्चामि) म० ३ । सर्वथा मोचयामि (वैश्वानरात्) नॄ प्रापणे-अच् । नृणातीति नरः पुरुषः । विश्वश्चासौ नरश्चेति । नरे संज्ञायाम् । पा० ६ । ३ । १२६ । इति विश्वस्य दीर्घः । विश्वानर एव वैश्वानरः । स्वार्थे अण् । यद्वा । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । यद्वा । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति

भावार्थ-मनुष्य पापकर्म छोड़ने से सर्व हितकारी परमेश्वर के कोप से मुक्त होते हैं। परमात्मा सब प्राणियों को उपदेश करता और सब की सत्य भक्ति को स्वीकार कर यथार्थ आनन्द देता है ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ११ ॥

१-६ ॥ अथर्वा ऋषिः । पूषा देवता । १ विराट् स्थाना त्रिष्टुप् ६+१०+६+११=३६, २, ३ अनुष्टुप् ८×४, ४-६ पंक्तिः ८×५ ॥

सृष्टिविद्यावर्णनम्—सृष्टि विद्या का वर्णन ॥

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः । सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ ॥ १ ॥

वषट् । ते । पूषन् । अस्मिन् । सूतौ । अर्यमा । होता । कृणोतु । वेधाः । सिस्रताम् । नारी । ऋतऽप्रजाता । वि । पर्वाणि । जिहताम् । सूतवे । उं इति ॥ १ ॥

अण् । वैश्वानरः कस्माद् विश्वान् नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वापि वा विश्वानर एव स्यात् प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानरः-निरु० ७ । २१। सर्वनायकात् । सर्वोपास्यात् । सर्वनरहितात् परमेश्वरात् (अर्णवात्) केशाद् वोऽन्यतरस्याम् । पा० ५ । २ । १०९ । अत्र । अर्णसो लोपश्च । इति वार्त्तिकम् । अर्णस्+व, सलोपः । अर्णांसि जलानि सन्त्यस्मिन् । समुद्रात्, समुद्रवद् गम्भीरस्वभावात् (महतः) वर्तमाने पृषद् बृहन्महज्जगच्छतृवच्च । उ० २ । ८४ । इति मह पूजायाम्-अति । बड्रात् । विशालात् (सजातान्) समानजन्मनः पुरुषान् (उग्र) म० १ । हे प्रचण्ड, महाक्रोधिन् वरुण ! (आ+वद) समन्तात् कथय, उपदिश (ब्रह्म) १ । ८ । ४ । वेदविज्ञानम् (अप) आनन्दे—इति शब्दस्तोममहानिधौ (चिकीहि) म० २ । कि ज्ञाने—लोट् । जानीहि ॥

भाषार्थ—(पूषन्) हे सर्वपोषक, परमेश्वर ! (ते) तेरे लिये (वषट्) यह आहुति [भक्ति] है । (अस्मिन्) इस समय पर (सूतवै) सन्तान के जन्म को (अर्यमा) न्याय कारी, (होता) दाता, (वेधाः) सब का रचने वाला ईश्वर (कृणोतु) करे । (ऋतप्रजाता) पूरे गर्भवाली (नारी) नर का हित करने हारी स्त्री (सिस्रताम्) सावधान रहे, (पर्वाणि) इस के सब अङ्ग (उ) भी (सूतवै) सन्तान उत्पन्न करने के लिये (विजिहताम्) कोमल होजावें ॥ १ ॥

भावार्थ– प्रसव समय होने पर पति आदि विद्वान् लोग परमेश्वर की भक्ति के साथ हवनादि कर्म प्रसूता स्त्री की प्रसन्नता के लिये करें और वह स्त्री सावधान होकर श्वास प्रश्वास आदि द्वारा अपने अंगों को कोमल रक्खे जिस से बालक सुख पूर्वक उत्पन्न होवे ॥ १ ॥

१—(वषट्) वह प्रापणे–डपटि । इति शब्दस्तोममहानिधौ । आहुतिः, हविर्दानम् । भक्तिः । स्वाहा (पूषन्) १ । ६ । १ । पुष्णातीति पूषा । हे सर्वपोषक, परमेश्वर (अस्मिन्) अस्मिन् काले, इदानीम् (सूतौ) षूङ् प्राणिप्रसवे–क्तिन् । सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् । वार्तिकम्, पा० ७ । १ । ३९ । इति द्वितीयार्थे सप्तमी । प्रसवकर्म, जन्म (अर्यमा) ऋ गतौ–यत् । अर्यः श्रेष्ठः । श्वनुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५९ । इति अर्य+मा माने–कनिन् । अर्य्यान् श्रेष्ठान् मिमीते मानयतीति । अर्यमादित्योऽरीन् नियच्छति–निरु० ११ । २३ । यथार्थज्ञाता, न्यायकारी (होता) नप्तृनेष्टृत्वष्टृ होतृ० । उ० २ । ९६ । इति हु दानादानादनेषु । यद्वा ह्वेञ् आह्वाने–तृन् । निपातनात् आद्युदात्तः । दाता । होमकर्त्ता, ऋत्विक्, आह्वाता (कृणोतु) कृवि हिंसाकरणयोः—लोट् । भवान् पूषा उपकरोतु (वेधाः) विधाञो वेध च । उ० ४ । २२५ । वि+धाञ् धारणपोषणदानेषु—असि, वेधादेशः । यद्वा विध विधाने–असुन् । विशेषेण दधातीति । ब्रह्मा, चतुर्वेदवेत्ता । मेधावी–निघ० ३ । १५ । विधाता, रचयिता (सिस्रताम्) सृ गतौ–लोट्, आत्मनेपदम् जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । अभ्यासस्य ह्रस्वम् पुनरपि विकरणः शः । गच्छतु, सावधाना सुखप्रसूता वा भवतु (नारी) ऋतोऽञ् । पा० ४ । ४ । ४९ । इति नॄ नये–अच् । नृणाति नयतीति नरः । नराच्चेति वक्तव्यम् । तत्र वार्त्तिकम् । नर–अञ् । शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् । पा० ४ । १ । ७३ । इति ङीन् नुर्नरस्य वा धर्म्या नरधर्माचारयुक्ता । स्त्री, वधूः (ऋत-प्रजाता) अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ ।

टिप्पणी—इस सूक्त में माता से सन्तान उत्पन्न होने का उदाहरण देकर बताया गया है कि मनुष्य सृष्टि विद्या के ज्ञान से ईश्वर की अनन्त महिमा का विचार करके परस्पर उपकारी बनें ॥

चत॑स्रो दि॒वः प्र॒दिश॒श्चत॑स्रो॒ भूम्या॑ उ॒त ।
दे॒वा गर्भं॒ समै॑रय॒न् तं व्यू॑र्णुवन्तु॒ सूत॑वे ॥ २ ॥

चत॑स्रः । दि॒वः । प्र॒ऽदिशः॑ । चत॑स्रः । भूम्याः॑ । उ॒त । दे॒वाः । गर्भ॑म् । सम् । ए॒र॒य॒न् । तम् । वि । ऊ॒र्णु॒व॒न्तु॒ । सूत॑वे ॥२॥

भाषार्थ—(दिवः) आकाश की (चतस्रः) चारों (उत) और (भूम्याः) भूमि की (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाओं ने और (देवाः) दिव्य गुण वाले [अग्नि वायु आदि] देवताओं ने (गर्भम्) गर्भ को (समैरयन्) संगत किया है, वे सब (तम्) उस गर्भ को (सूतवे) उत्पन्न होने के लिये (व्यूर्णुवन्तु) प्रस्तुत करें ॥ २ ॥

भावार्थ—अग्नि आदि दिव्य पदार्थों के यथार्थ संयोग से ईश्वरीय नियम के अनुसार यह गर्भ स्थिर हुआ है मनुष्य उन तत्त्वों की अनुकूलता को, माता और गर्भ में, स्थिर रखने के लिये सदा प्रयत्न करते रहें जिससे बालक बलवान् और नीरोग होकर पूरे समय पर उत्पन्न होवे ॥ २ ॥

इति ऋत+प्रजात-अच्, टाप् । ऋतं सत्यं प्रजातं प्रजननमस्त्यस्याः । सत्य-प्रसवा, उचितसमयप्रसूता, जीवदपत्या (पर्वाणि) पर्व गतौ-कनिन् । यद्वा स्नामदिपद्यर्त्तिपशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति पॄ पूर्त्तौ पालने च-वनिप् । शरीरग्रन्थयः, देहसन्धयः (वि+जिहताम्) ओहाङ् गतौ-लोट् बहुवचनम्, जहात्यादिः । विशेषेण गच्छन्तु कोमलानि सुखप्रसवयोग्यानि भव-न्तु (सूतवै) तुमर्थे सेसेन्० पा० ३ । ४ । ९ । इति षूङ् प्राणिगर्भविमोचने तवै प्रत्ययः । प्रसवार्थम् ॥

२—(चतस्रः) त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ । पा० ७ । २ । ९९ । इति चतुः-शब्दस्य जसि चतसृ आदेशः । अचि र ऋतः । पा० ७ । २ । १०० । इति रेफादेशः । चतुः संख्याकाः (दिवः) १ । ११ । २ । आकाशस्य (प्र+दिशः)

टिप्पणी—देव वा देवता का अर्थ दिव्य वा अच्छे गुण वाला है। यजुर्वेद १४। २० में यह देवता कहे हैं।

अ॒ग्निर्दे॒वता॒ । वातो॑ दे॒वता॒ । सूर्यो॑ दे॒वता॒ । च॒न्द्रमा॑ दे॒वता॒ । वस॑वो दे॒वता॒ । रु॒द्रो दे॒वता॒ । आ॒दि॒त्या दे॒वता॒ । म॒रुतो॑ दे॒वता॒ । विश्वे॑ दे॒वा दे॒वता॒ । बृह॒स्पति॑र्दे॒वता॒ । इन्द्रो॑ दे॒वता॒ । वरु॑णो दे॒वता॒ ॥

अग्नि १, वायु २, सूर्य ३, चन्द्रमा ४, सबके बसाने वाले अन्नादि पदार्थ ५, दुःख दूर करने वाले जीव वा पदार्थ ६, प्रकाश करने वाले पदार्थ अथवा अदिति, विद्या वा पृथिवी के पुत्र के समान सेवा करने वाले पुरुष ७, दुष्टों के मारने वाले शूर वीर पुरुष ८, सब अच्छे गुण वाले विद्वान् ९, बड़े वेद वचनों वा ब्रह्माण्डों का रक्षक परमेश्वर १०, ऐश्वर्य वा धन ११, और जल १२; यह सब (देवता) उत्तम गुण वाले हैं॥

सू॒षा व्यू॑र्णोतु॒ वि योनिं॒ हापयामसि ।
अ॒थया॑ सूषणे॒ त्वमव॒ त्वं बि॑ष्कले सृज ॥ ३ ॥

सू॒षा । वि । ऊ॒र्णो॒तु॒ । वि । योनि॑म् । हा॒प॒या॒म॒सि॒ ।
अ॒थय॑ । सू॒ष॒णे॒ । त्वम् । अव॑ । बिष्क॒ले॒ । सृ॒ज ॥ ३ ॥

१। ६। २। प्रकृष्टा दिशः। प्राच्याद्याः प्रधानदिशः (भूम्याः) भुवः कित्। उ० ४। ४५। इति भू सत्तायां-मि। कृदिकारादक्तिनः। इति पक्षे ङीष्। पृथिव्याः, भूलोकस्य (देवाः) १। ४। ३। दिव्यपदार्था अग्न्यादयः। विद्वांसश्च। (गर्भम्) अर्त्तिगृभ्यां भन्। उ० ४। १५२। इति गॄ विज्ञापने, निगरणे च भन्। गीर्यते जीवसंचितकर्मफलदात्रा ईश्वरेण प्रकृतिबलात् जठरगह्वरे स्थाप्यते पुरुषशक्रयोगेण स गर्भः। भ्रूणम्, उदरस्थसन्तानम् (सम्) सम्यक्, यथाविधि (ऐरयन्) ईर गतौ लङ्। संगतमकुर्वन् (वि+ऊर्णुवन्तु) ऊर्णुञ् आच्छादने-लोट्। विवृतं प्रस्तुतं कुर्वन्तु (सूतवे) तुमर्थे से सेन से०। पा० ३। ४। ९। इति पूङ् प्राणिगर्भविमोचने-तवेन्। नित्वात् आद्युदात्तः। प्रसवितुम्॥

भाषार्थ—(सूषा) सन्तान उत्पन्न करने वाली माता (व्यर्णोतु) अङ्गों को कोमल करे (योनिम्) प्रसूतिका गृह को (विहापयामसि) हम प्रस्तुत करते हैं । (सूषणे) हे जन्म देने हारी माता ! (त्वम्) तू (श्रथय) प्रसन्न हो । (विष्कले) हे वीर स्त्री ! (त्वम्) तू (अव सृज) [बालक को] उत्पन्न कर ॥३॥

भावार्थ—गर्भ के पूरे दिनों में गर्भिणी की शारीरिक और मानसिक अवस्था को विशेष ध्यान से स्वस्थ रक्खें । माता के प्रसन्न और सुखी रहने से बालक भी प्रसन्न और सुखी होता है । प्रसूतिका गृह भी पहिले से देश, काल विचार कर प्रस्तुत रक्खें कि प्रसूता स्त्री और बालक भले प्रकार स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट रहें ॥ ३ ॥

नेवं मांसे न पीवंसि नेवं मज्जस्वाहंतम् ।
अवैतु पृश्नि शेवंलं शुने जरायवत्तवेऽवं जरायु पद्यताम् ॥ ४ ॥

न-इव । मांसे । न । पीवंसि । न-इव । मज्ज-सु । आऽहंतम् । अवं । एतु । पृश्निं । शेवंलम् । शुने । जरायु । अत्तवे । अवं । जरायु । पद्यताम् ॥ ४ ॥

३—(सूषा) सूयति प्रसवतीति । षूङ्, सूङ् वा प्रसवे— पचाद्यच् . टाप् । सवित्री जननी, माता (वि + ऊर्णोतु) म० १ । अङ्गानि प्रस्तुतानि करोतु (योनिम्) वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित् । उ० ४ । ५१ । इति यु मिश्रणामिश्रणयोः-नि । योनिर्गृहनाम-निघ० ३ । ४ । गृहम् । प्रसूतिकागृहम् (वि + हापयामसि) ओ हाङ् गतौ—णिच् । अर्त्तिह्री० । पा० ७ । ३ । ३६ । इति पुगागमः । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इकारः । विहापयामः । विशेषेण गमयामः । प्रस्तुतं कुर्मः (श्रथय) श्रथ यत्ने प्रहर्षे च, चुरादिः । यत्नवती । हृष्टा भव (सूषणे) संपदादिभ्यः क्विप् । वा० पा० ३ । ३ । ९४ । इति षूङ् प्रसवे—क्विप् । सूः सवनम्, उत्पत्तिः । छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् । पा० ३ । ३ । २७ इति सू + षण दाने-इन् । सुवं सनोति ददातीति सूषणिः । तत्सम्बोधनम् । हे प्रसवस्य दात्रि कारिणि ! (विष्कले) कलस्तृपश्च । उ० १ । १०४ । इति विष्क हिंसायां दर्शने च कल प्रत्ययः । टाप् । हे वीरे, शूरे । दर्शनीये (अव + सृज) उपसर्गस्य व्यवधानम् । सृज विसर्गे । गर्भं बालकम् उत्पादय ॥

भाषार्थ—[यह जरायु] (नेव) न तो (मांसे) मांस में (न) न (पीवसि) शरीर की मुटाई में (नेव) और न (मज्जसु) हड्डियों की मींग में (आहतम्) बंधी हुयी है। (पृश्नि) पतली (शेवलम्) सेवार घास के समान (जरायु) जेला वा भिल्ली (शुने) कुत्ते के लिये (अत्तवे) खाने को (अव) नीचे (पतु) आवे, (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जरायु एक झिल्ली होती है जिसे जेली या जेरी कहते हैं और जिस में बालक गर्भ के भीतर लिपटा रहता है, कुछ उस में से बालक के साथ निकल आती है और कुछ पीछे। यह जरायु बालक उत्पन्न होने पर नाभि आदि के बन्धन से छुट जाता है और सार रहित होकर माता के उदर में तैरा फिरती है जैसे सेवार नाम घास जलाशय में। शरीर में उस के रह जाने से रोग हो जाता है। इस से उस जरायु का उदर से निकल जाना आवश्यक है जिस से प्रसूता नीरोग होकर सुखी रहे ॥ ४ ॥

४—(न-इव) इव अवधारणे। नेव (मांसे) मनेर्दीर्घश्च। उ० ३। ६४। इति मन ज्ञाने धृतौ च सप्रत्ययः, दीर्घश्च। रक्तजधातुविशेषे (न) निषेधे (पीवसि) सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८६। इति पीव स्थौल्ये-असुन्। ञ्नित्यादिर्नित्यम्। पा० ६। १। १९७। इति नित्वाद् आद्युदात्तः। स्थूलत्वे (मज्जसु) श्वनुक्षन् पूषन्०। उ० १। १५६। इति मस्ज जलान्तः प्रवेशे-कनिन्, निपात्यते च। अस्थिमध्यस्थस्नेहेषु (आ-हतम्) आङ्+हन वधे गतौ च—क। संबद्धम् (अव) अवाक्, अधस्तात् (पतु) गच्छतु, पततु (पृश्नि) घृणिपृश्नीति। उ० ४। ५२। इति स्पृश स्पर्शे-नि, सलोपः। स्वल्पम् (शेवलम्) शीङो धुक्लक् वलञ् वालनः। उ० ४। ३८। इति शीङ् शयन-वालन्, ह्रस्वो वा, नित्वाद् आद्युदात्तः। जलस्योपरिस्थतृणविशेषः, शेवालं शैवलं वा। तद्वत् जननीजठरे स्थितं जरायु (शुने) श्वनुक्षन्पूषन्। उ० १। १५६। इति श्वि गतौ-कनिन्। कुक्कुराय (जरायु) किंजरयोः श्रिणः। उ० १। ४। इति जरा+इण् गतौ-ञुण्। गर्भ वेष्टनचर्म। उल्वम्। मांसपिण्डश्च यः प्रजननानन्तरं निःसरति (अत्तवे) तुमर्थे सेसेन्०। पा० ३। ४। ६। इति अद भक्षणे-तवेन् प्रत्ययः। भक्षितुम् (पद्यताम्) पद गतौ दिवादित्वात् श्यन्। नित्यवीप्सयोः। पा० ८। १। ४। इति नित्यतायां पुनः कथनम् गच्छतु, पततु ॥

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके ।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम् ॥ ५ ॥

वि । ते । भिनद्मि । मेहनम् । वि । योनिम् । वि । गवीनिके इति । वि । मातरम् । च । पुत्रम् । च । कुमारम् । जरायुणा । अव । जरायु । पद्यताम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ–(ते) तेरे (मेहनम्) गर्भमार्ग को (वि) विशेष करके और (योनिम्) गर्भाशय को (वि) विशेष करके और (गवीनिके) पार्श्वस्थ दोनों नाड़ियों को (वि) विशेष कर के (भिनद्मि) [मलसे] अलग करती हूं (च) और (मातरम्) माता को (च) और (कुमारम्) क्रीड़ा करने वाले (पुत्रम्) पुत्र को (जरायुणा) जरायु से (वि वि) अलग अलग [करती हूं], (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे ॥ ५ ॥

भावार्थ–इस मन्त्र में धात्रेयी [धायी] अपने कर्म का वर्णन करके प्रसूता को उत्साहित करती है, अर्थात् धायी बड़ी सावधानी से प्रसव समय प्रसूता के अंगों का आवश्यकतानुसार कोमल मर्दन करे और उत्पन्न होनेपर माता और

५—(वि+भिनद्मि) भिदिर् विदारणे, द्विधाकरणे च । मलात् पृथक् करोमि, विश्लेषयामि (मेहनम्) १ । ३ । ७ । गर्भमार्गम् । वि=विभिनद्मि । एवं (वि) इति शब्देन सह सर्वत्र योजनीयम् (योनिम्) म० ३ । गर्भाशयम् । (गवीनिके) १ । ३ । ६ । पार्श्ववर्तिन्यौ नाड्यौ (मातरम्) १ । २ । १ । मान्यते पूज्यते सा माता । जननीम् (पुत्रम्) पुवो ह्रस्वश्च । उ० ४ । १६५ । इति पूङ् शोधे क्, ह्रस्वश्च धातोः । पुनाति पित्रादीनिति पुत्रः । पुत्रः पुरुत्रायते निपरणाद्वा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा–इति यास्कः, निरु० २ । ११ । पुरु+त्रैङ् रक्षणे—ड । यद्वा, पुत्+त्रैङ्–ड । यथा च रामायणे । २ । १०७ । १२ । पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः । तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः ॥ अपत्यम् । सन्तानम् (कुमारम्) कुमार क्रीडने–अच् । क्रीडा-

सन्तान की यथायोग्य शुद्धि करके सुधि रक्खे और ऐसा यत्न करे कि जरायु अपने आप गिर जावे जिस से दोनों माता और सन्तान सुखी रहें ॥

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पतावं जरायु पद्यताम् ॥ ६ ॥

यथा । वातः । यथा । मनः । यथा । पतन्ति । पक्षिणः । एव । त्वम् । दश-मास्य । साकम् । जरायुणा । पत । अव । जरायु । पद्यताम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वातः) पवन और (यथा) जैसे (मनः) मन और (यथा) जैसे (पक्षिणः) पक्षी (पतन्ति) चलते हैं । (एव) वैसे ही (दशमास्य) हे दश महीने वाले [गर्भ के बालक !] (त्वम्) तू (जरायुणा साकम्) जरायु के साथ (पत) नीचे आ, (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—(दशमास्य) दशवें अथवा ग्यारहवें महीने में बालक माता के गर्भ में बहुत शीघ्र चेष्टा करता है तब वह उत्पन्न होता है और जरायु वा जेली कुछ उस के साथ और कुछ उसके पीछे निकलती है ॥ ६ ॥

शीलम् । शिशुम् (जरायुणा) म० ४ । गर्भवेष्टनचर्मणा । अन्यत् गतम्–म० ४ ।

६—(यथा) येन प्रकारेण (वातः) हसिमृग्रिण् वा० । उ० ३ । ८६ । इति वा सुखाप्तिगतिसेवासु-तन् । नित्वादू आद्युदात्तः । वायुः, पवनः (मनः) १ । १ । २ । ज्ञानसाधकम् अन्तः करणम् (पतन्ति) शीघ्रं गच्छन्ति उड्डीयन्ते (पक्षिणः) अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति पक्ष—इनि । विहगाः (एव) निपातस्य च । पा० । ६ । ३ । १३६ । इति दीर्घः । एवम्, तथा (दश-मास्य) तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च । पा० २ । १ । ५१ । इति

ऋग्वेद म० ५ सू० ७८ म० ८ में इस प्रकार है।

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा ॥ १ ॥

जैसे वायु, जैसे वृक्ष और जैसे समुद्र हिलता है, ऐसे ही तू हे दस महीने वाले [गर्भ के बालक !] जरायु के साथ नीचे आ।

शब्दकल्पद्रुम कोश में लिखा है।

अष्टमे मासि यातें च अग्नियोगः प्रवर्तते।
मासे तु नवमे प्राप्ते जायते तस्य चेष्टितम् ॥ १ ॥
जायते तस्य वैराग्यं गर्भवासस्य कारणात्।
दशमे च प्रसूयेत तथैकादशमासि वा ॥ २ ॥

और आठवां महीना आने पर अग्नियोग होता है और नवमे महीने में उस [गर्भ] में चेष्टा होती है ॥ १ ॥ गर्भ में वास करने के कारण उस को वैराग्य (उच्चाटन) होता है, तब दसवें अथवा ग्यारहवें महीने में वह उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

तद्धितार्थे विषयभूते समासः। संख्यापूर्वो द्विगुः। पा० २।१।५२। इति द्विगु संज्ञायाम्। द्विगोर्यप्। पा० ५।१।८२। इति भरणार्थे यप्। हे दशसु मासेषु मात्रा पोषित शिशो (साकम्) सह। सहयुक्तेऽप्रधाने। पा० २।३।१९। इति सहार्थेन साकं शब्देन योगे जरायुणा इति अप्राधान्ये तृतीया (पत) अधो गच्छ (अव) इत्यादि गतं म० ४।

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १२ ॥

१–४ ॥ भृग्वंगिरा ऋषिः । वृषा देवता । १, २ ईश्वरगुणाः, ३, ४, रोगनिवृत्तिः । १–३ त्रिष्टुप् ११ × ४, ४ अनुष्टुप् ॥

१, २ ईश्वरगुणाः, ३, ४ रोगनिवृत्तः—१, २ ईश्वर के गुण और ३, ४ रोग निवृत्ति का उपदेश ॥

जरायुजः प्रथम उस्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या । स नो मृडाति तन्वं ऋजुगो रुजन् य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥ १ ॥

जरायु-जः । प्रथमः । उस्रियः । वृषा । वात-भ्रजाः । स्तनयन् । एति । वृष्ट्या । सः । नः । मृडाति । तन्वे । ऋजु-गः । रुजन् । यः । एकम् । ओजः । त्रेधा । वि-चक्रमे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जरायुजः) झिल्ली में [जरायुरूप प्रकृति से] उत्पन्न करने वाला, (प्रथमः) पहिले से वर्तमान, (उस्रियः) प्रकाशवान् [हिरण्यगर्भनाम], (वातभ्रजाः) पवन के साथ पाकशक्ति वा तेज देने वाला, (वृषा) मेघ रूप परमेश्वर (स्तनयन्) गरजता हुआ (वृष्ट्या) वरसा के साथ (एति) चलता रहता है । (सः) वह (ऋजुगः) सरलगामी (रुजन्) [दोषों को]

१—(जरायुजः) पञ्चम्यामजातौ । पा० ३ । २ । ९८ । इति जरायु+जन जननप्रादुर्भावयोः–ड । जरायोः प्रकृतिरूपाद् गर्भाशयाज्जनयति उत्पादयति सः । जरायुरूपायाः प्रकृतेः सृष्टिजनयिता (प्रथमः) प्रथेरमच् । उ० ५ । ६८ । इति

मिटाता हुआ, (नः) हमारे (तन्वे) शरीर के लिये (मृडाति) सुख देवे, (यः) जिस (एकम्) अकेले (ओजः) सामर्थ्य ने (त्रेधा) तीन प्रकार से (विचक्रमे) सब ओर को पद बढ़ाया था ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे माता के गर्भ से जरायु में लिपटा हुआ बालक उत्पन्न होता है वैसे ही (उस्रियः) प्रकाशवान् हिरण्यगर्भ और मेघ रूप परमेश्वर (वातभ्रजाः) सृष्टि में प्राण डालकर पाचन शक्ति और तेज देता हुआ सब संसार को प्रलय के पीछे प्रकृति, स्वभाव, वा सामर्थ्य से उत्पन्न करता है, वही त्रिकालज्ञ और त्रिलोकीनाथ आदि कारण जगदीश्वर हमें सदा आनन्द देवे ॥ १ ॥

प्रथ ख्यातौ—अमच् । आदिमः, जगतः पूर्वं वर्तमानः (उस्रियः) स्फायितञ्चि० । उ० २ । १३ । इति वस निवासे—रक् । वसन्त्येषु सूर्यादिपरतेजः, वसन्त्येषु रसाः इति उस्राः किरणाः, ततो मत्वर्थीयो घः । रश्मिवान् । हिरण्यगर्भः । परमेश्वरः (वृषा) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ । इति वृषु सेचने, प्रजननैश्वर्ययोः-कनिन् । नित्वाद् आद्युदात्तः । वर्षकः । ऐश्वर्यवान् । इन्द्रः, सूर्यः, मेघः । तद्वद् वर्तमानः (वातभ्रजाः) वात+भ्रस्ज पाके वा भ्राज दीप्तौ–असुन् । वातेन सह पाकः, दीप्तिस्तेजो वा यस्य स वातभ्रजाः (स्तनयन्) स्तन देवशब्दे, चुरादिः,–शतृ । गर्जयन् (एति) गच्छति (वृष्ट्या) वृषु सेचने–क्तिन् । वर्षणेन (मृडाति) मृड सुखने–लेट्, आडागमः । सुखयेत् (तन्वे) १ । १ । १ । स्वरितश्च । शरीराय (ऋजुगः) ऋजु+गम्लृ–ड । सरलगामी (रुजन्) रुजो भङ्गे, तुदादिः–शतृ । भञ्जन्, दोषान् निवारयन् (एकम्) इण् भीकापा० । उ० ३ । ४३ । इति इण् गतौ–कन् । एति सर्वं व्याप्नोतीति एकः । मुख्यम्, केवलम् (ओजः) उब्जेर्बले बलोपश्च । उ० ४ । १९२ । इति उब्ज आर्जवे–असुन् । बलम्, तेजः (त्रेधा) संख्याया विधार्थे धा । पा० ५ । ३ । ४२ । त्रिप्रकारेण, भूतवर्तमानभविष्यति वर्तमानत्वेन, त्रिलोक्यां व्यापनेन (वि-चक्रमे) क्रमु पादविक्षेपे–लिट् । वेः पादविहरणे । पा० १ । ३ । ४१ । इति आत्मनेपदम् । विविधम् आक्रान्तवान् ॥

यजुर्वेद में इस प्रकार वर्णन है—य० १३। ४॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(हिरण्यगर्भ) तेजों का आधार परमेश्वर पहिले ही पहिले नियम पूर्वक वर्तमान था, वह संसार का प्रसिद्ध एक स्वामी था। उस ने इस पृथिवी और प्रकाश को धारण किया था, हम सब उस प्रकाशमय प्रजापति परमेश्वर की भक्ति से सेवा किया करें॥

और भी देखो—ऋ० १। २२। १७।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे॥

(विष्णु) व्यापक परमेश्वर ने इस [जगत्] में अनेक अनेक प्रकार से पग को बढ़ाया, उस ने अपने विचारने योग्य पद को तीन प्रकार से परमाणुओं से युक्त [संसार] में जमाया॥

सायणभाष्य में (वातभ्रजाः) के स्थान में (वातभ्रजाः) शब्द और अर्थ "वायु समान शीघ्रगामी" है॥

अङ्गे अङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम। अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत् पर्वास्या ग्रभीता॥ २॥

अङ्गे-अङ्गे। शोचिषा। शिश्रियाणम्। नमस्यन्तः। त्वा। हविषा। विधेम। अङ्कान्। सम्-अङ्कान्। हविषा। विधेम। यः। अग्रभीत्। पर्व। अस्य। ग्रभीता॥ २॥

भावार्थ—(शोचिषा) अपने प्रकाश से (अङ्गे-अङ्गे) अङ्ग अङ्ग में

२—(अङ्गे-अङ्गे) अङ्ग चिन्हकरणे-अच्। नित्यवीप्सयोः। पा० ८। १। ४

(शिश्रियाणम्) ठहरे हुये (त्वा) तुझ को (नमस्यन्तः) नमस्कार करते हुये हम (हविषा) भक्ति से (विधेम) सेवा करते रहें । [उस के] (अङ्कान्) पृथक् पृथक् चिन्हों को और (समङ्कान्) मिले हुये चिन्हों को (हविषा) भक्ति से (विधेम) हम आराधें, (यः) जिस (प्रभीता) ग्रहण करने हारे परमेश्वर ने (अस्य) इस [सेवक वा जगत्] के (पर्व) अवयव अवयव को (अग्रभीत्) ग्रहण किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—वह (कृपा-म० १) परमात्मा हमारे और सब व्यस्ति और समस्ति रूप जगत् के रोम रोम में परिपूर्ण है उस प्रकाश स्वरूप के गुणों को यथावत् जानकर हम लोग उस पर पूरी श्रद्धा से आत्म समर्पण करें । वह हमारे शरीर और आत्मा को बल देकर सहाय और आनन्द देता है ॥ २ ॥

इति द्विर्वचनम् । अङ्ग इत्यादौ च । पा० ६ । १ । ११९ । इति प्रकृतिभावः । सर्वेष्वङ्गेषु अवयवेषु (शोचिषा) अर्चिशुचिहुसृपि० । उ० २ । १०८ । इति शुच शौचे=शुद्धौ-इसि । दीप्त्या, प्रकाशेन (शिश्रियाणम्) लिटः कानज्वा । पा० ३ । २ । १०६ । इति । श्रिञ् सेवायाम्-कानच् । अचि श्नुधातु० । पा० ६ । ४ । ७७ । इति इयङादेशः । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तत्वम् । आश्रितम्, परिपूर्णम् (नमस्यन्तः) नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् । पा० ३ । १ । १९ । इति नमस्—क्यच् पूजायाम्, लटः शतृ । पूजयन्तः (त्वा) त्वां कृपाणम् । (हविषा) १ । ४ । ३ । दानेन, आत्मसमर्पणेन भक्त्या (विधेम) विध विधाने, तुदादिः, विधिलिङ् । परिचरणकर्मा-निघ० ५ । ५ । परिचरेम, सेवेमहि (अङ्कान्) हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति अञ्चु गतिपूजनयोः—कर्तरि घञ् । चजोः कु घिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । अञ्चनशीलान् गमनशीलान्, व्यस्तिरूपेण पृथक् पृथग् वर्तमानान् गुणान् (समङ्कान्) सम्भूय गमनशीलान् । समस्तिरूपेण संगतान् गुणान् (अग्रभीत्) ग्रह उपादाने—लुङ्, हस्य भकारः । अग्रहीत् (पर्व) स्नामदिपद्यर्तिपॄशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति पॄ पालने, पूर्तौ—वनिप् । प्रत्येकावयवम् । (प्रभीता) ग्रह उपादाने—तृच् । हस्य भः । ग्रहीता, धारकः ॥

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य। यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥ ३ ॥

मुञ्च। शीर्षक्त्याः। उत। कासः। एनम्। परुःऽपरुः। आऽविवेश। यः। अस्य। यः। अभ्रऽजाः। वातऽजाः। यः। च। शुष्मः। वनस्पतीन्। सचताम्। पर्वतान्। च ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(एनम्) इस पुरुष को (शीर्षक्त्याः) शिरकी पीड़ा से (उत) और [उस खांसीसे] (मुञ्च) छुड़ा (यः कासः) जिस खांसी ने (अस्य) इस पुरुष के (परुःपरुः) जोड़ जोड़ में (आविवेश) घर कर लिया है। (यः) जो खांसी (अभ्रजाः) मेघ से उत्पन्न, (वातजाः) वायु से उत्पन्न (च) और (यः) जो (शुष्मः) सूखी [होवे और जो] (वनस्पतीन्) वृक्षों से (च) और (पर्वतान्) पहाड़ों से (सचताम्) संबन्ध वाला होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—खाँसी सब रोगों की माता है जैसा कि प्रसिद्ध है "लड़ाई का घर हांसी और रोग का घर खांसी"। जैसे सद्वैद्य मन्त्र में कहे अनुसार मस्तक

३—(मुञ्च) मुच्लृ मोक्षणे। मोचय (शीर्षक्त्याः) शीर्ष+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्तिन्। शीर्षं शिरः अञ्चति गच्छति व्याप्नोतीति शीर्षक्तिः, तस्याः शिरःपीड़ायाः सकाशात् (उत) अपि च (कासः) हलश्च। पा० ३। ३। १२१। इति कासृ शब्दकुत्सनयोः—घञ्। रोगविशेषः। कासी वा खांसी इति भाषा। त्वयथुः (परुः-परुः) अर्त्तिपॄवपियजि०। उ० २। ११७। इति पॄ पूर्त्तिपालनयोः—उसि। सर्वान् शरीरसन्धीन् (आ-विवेश) विश प्रवेशने—लिट्। छान्दसो दीर्घः। प्रविष्टवान् (अभ्रजाः) अप्+भृ-क। अपो बिभर्त्तीति अभ्रं मेघः। जनसनखनक्रमगमो विट्। पा० ३। २। ६७। इतिअभ्र+जनी प्रादुर्भावे—विट्। विड्वनोरनुनासिकस्यात्। पा० ६। ४। ४१। इति आत्वम्। मेघस्य सम्बन्धाज्जातः (वातजाः) पूर्ववत्। वात+जनी—विट्। वायोर्जात उत्पन्नः कासः (शुष्मः) अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षिविशुषिभ्यः कित्। उ० १। १४४। इति

की पीड़ा और खांसी आदि बाहिरी और भीतरी रोगों का निदान जान कर रोगी को स्वस्थ करता है इसी प्रकार परमेश्वर वेद ज्ञान से मनुष्य को दोषों से छुड़ा कर और ब्रह्म ज्ञान देकर अत्यन्त सुखी करता है। इसी प्रकार राज प्रबन्ध और गृह प्रबंध आदि व्यवहार में विचारना चाहिये ॥ ३ ॥

शं मे॒ पर॑स्मै॒ गात्रा॑य॒ शम॒स्त्वव॑राय मे ।
शं मे॑ च॒तुर्भ्यो॒ अङ्गे॑भ्य॒ः शम॑स्तु त॒न्वे॒ ३॒ मम॑ ॥४॥

शम् । मे॒ । पर॑स्मै । गात्रा॑य । शम् । अ॒स्तु॒ । अव॑राय । मे॒ ।
शम् । मे॒ । च॒तुः-भ्यः॑ । अङ्गे॑भ्यः । शम् । अ॒स्तु॒ त॒न्वे॑ । मम॑ ॥४॥

भाषार्थ—(मे) मेरे (परस्मै) ऊपर के (गात्राय) शरीर के लिये (शम्) सुख और (मे) मेरे (अवराय) नीचे के [शरीर के] लिये (शम्) सुख (अस्तु) होवे। (मे) मेरे (चतुर्भ्यः) चारों (अङ्गेभ्यः) अंगों के लिये (शम्) सुख और (मम) मेरे (तन्वे) सब शरीर के लिये (शम्) सुख (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

शुष शोषे-मन् स च कित्। शोषकः, पित्तविकारादिजनितः कासः (वनस्पतीन्) १ । ३५ । ३ । वनानां पतिः पाता वा वनस्पतिः । वनति सेवते अथवा वन्यते सेव्यते इति वनम् । वन सेवने, याचने, उपकारे-अच् । पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् । पा० ६ । १ । १५७ । इति सुडागमः । सर्ववृक्षान् (सचताम्) षच समवाये-लोट् । सचन्ताम्=संसेव्यन्ताम्-निरु० ६ । ३३ । समवैतु, सम्बध्नातु (पर्वतान्) भृमृदृशियजिपर्विपच्चि । उ० ३ । ११० । इति पर्व पूरणे-अतच् । शैलान् ॥

४—(परस्मै) १ । ८ । ३ । श्रेष्ठाय, उपरिवर्तमानाय (गात्राय) गमेरात्र । उ० ४ । १६६ । इति गम्लृ-त्रन्, मस्य आकारः । गच्छति चेष्टतेऽनेन । अङ्गाय, शरीराय (अवराय) १ । ८ । ३ । निकृष्टाय, अवस्माद् वर्तमानाय (चतुः-भ्यः) चतुःसंख्येभ्यः । द्वौ हस्तौ, द्वौ पादौ-इति चत्वारि तेभ्यः (अङ्गेभ्यः) अङ्ग पदे= गतौ-अच् । अङ्गयति चेष्टतेऽनेन । अवयवेभ्यः, गात्रेभ्यः (तन्वे) म० १ । शरीराय सर्वस्मै ॥

भावार्थ—चारों अंग दो हाथ और दो पद हैं। मनुष्य को योग्य है कि परमेश्वर की प्रार्थना पूर्वक अपने सब अमूल्य शरीर को प्रयत्न से सर्वथा स्वस्थ रक्खे और मानसिक बल बढ़ा कर संसार में उपकारी हो और सदा सुख भोगे ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १३ ॥

१–४ ॥ भृग्वंगिरा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । १, २ नुअष्टुप्, ३, ४ जगती १२×४ ॥

आत्मरक्षोपदेशः—आत्मरक्षा के लिये उपदेश ॥

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते अस्त्वश्मने येना दूडाशे अस्यसि ॥ १ ॥

नमः । ते । अस्तु । वि-द्युते । नमः । ते । स्तनयित्नवे ।
नमः । ते । अस्तु । अश्मने । येन । दुः-दाशे । अस्यसि ॥१॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (ते) तुझ (विद्युते) कौंधा लेती हुयी, बिजुली समान को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (ते) तुझ (स्तनयित्नवे) गड़गड़ाते हुये, बादलसमान को (नमः) नमस्कार होवे। (ते) तुझ (अश्मने) पाषाण समान को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (येन) जिस [पत्थर] से (दूडाशे) दुःखदायी पुरुष को (अस्यसि) तू ढा देता है ॥ १ ॥

१—(विद्युते) भ्राजभासधुर्विद्युतो० । पा० ३ । २ । १७७ । इति वि+द्युत दीप्तौ—क्विप् विशेषेण दीप्यमानायै तडिते, सौदामिन्यै, तडिद्रूपाय । (स्तनयित्नवे) स्तनिहृषिपुषिगदिमदिभ्यो णेरित्नुच् । उ० ३ । २९ । इति स्तन देवशब्दे-इत्नुच् । चुरादित्वात् णिच् । अदन्तत्वाद् उपधावृद्ध्यभावः । अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु । पा० ६ । ४ । ५५ । इति णेः अयादेशः । गर्जनशीलाय मेघाय, तद्रूपाय (अश्मने) अशिशकिभ्यां छन्दसि । उ० ४ । १४७ । इति अशूङ् व्याप्तिसंहत्योः—मनिन् । व्यापनशीलाय । पाषाणाय, तद्रूपाय (दुः-

भावार्थ—न्यायकारी परमात्मा दुःखदायी अधर्मी पापियों का आधिदैविक आदि दंड देकर असह्य विपत्तियों में डालता है, इस लिये सब मनुष्य उस के कोप से डर कर उसकी आज्ञा का पालन करें और सदा आनन्द भोगें ॥१

नम॑स्ते प्रवतो नपा॒द् यत॒स्तपः॑ स॒मूह॑सि ।
मृ॒डया॑ नस्त॒नूभ्यो॒ मय॑स्तो॒केभ्य॑स्कृधि ॥ २ ॥

नमः॑ । ते॒ । प्र॒ऽव॒तः॒ । न॒पा॒त् । यतः॑ । तपः॑ । स॒म्ऽऊह॑सि ।
मृ॒डय॑ । नः॒ । त॒नूभ्यः॑ । मयः॑ । तो॒केभ्यः॑ । कृ॒धि॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—हे (प्रवतः) अपने भक्त के (नपात्) न गिराने हारे ! (ते) तुझ को (नमः) नमस्कार है, (यतः) क्योंकि तू [दुष्टों पर] (तपः) संताप को (समूहसि) संयुक्त करता है। (नः) हमें (तनूभ्यः) हमारे शरीरों के लिये (मृडय) सुख दे और (तोकेभ्यः) हमारे सन्तानों के लिये (मयः) सुख (कृधि) प्रदान कर ॥ २ ॥

दाशं) दुर्+दाशृ दाने—घञ् वा खल् । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । पा० ६ । ३ । १०६ । अत्र । दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वमुत्तरपदादेः ष्टुत्वं च । इति वार्त्तिकेन ऊत्वं डत्वं च । दुर् दुःखं दाशति ददातीति दूडाशः । सुपां सुलुक् भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३६ । इति द्वितीयायां सप्तमी । दुःखदायिनम् अधार्मिकं पुरुषम् (अस्यसि) असु क्षेपणे—श्यन् । क्षिपसि नाशयसि ॥

२—(प्र-वतः) प्रपूर्वकात् वन संभक्तौ = सेवने, याचे च-क्विप् । गमः क्वौ । पा० ६ । ४ । ४० । अत्र । गमादीनामिति वक्तव्यम् । इति वार्त्तिकेन नकारलोपः । ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् आगमः । भक्तस्य सेवकस्य याचकस्य अथवा भक्तान् द्वितीयार्थे (नपात्) नञ् पूर्वकात् पत अधःपतने, णिच्—क्विप् । नभ्राण् नपात्० । पा० ६ । ३ । ७५ । इति नञः प्रकृतिभावः । न पातयतीति नपात् । हे नपातयितः, न पातनशील ! धारयितः । (नपात्) य० १२ । १०८ । न विद्यते पाता धर्मात् पतनं यस्य सः—इति श्रीमद्दयानन्दः (यतः) यस्मात् कारणात् (तपः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति तप सन्तापे—असुन् । सन्तापम् (सम्+ऊहसि) ऊह वितर्के ।

भावार्थ—परमेश्वर भक्तों को आनन्द और पापियों को कष्ट देता है। सब मनुष्य नित्य धर्म में प्रवृत्त रहें और संसार भर में सुख की वृद्धि करें ॥

प्रवतो नपान् नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः । विद्म ते धाम परमं गुहा यत् समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः ॥ ३ ॥

प्र-वतः । नपात् । नमः । एव । अस्तु । तुभ्यम् । नमः । ते । हेतये । तपुषे । च । कृण्मः । विद्म । ते । धाम । परमम् । गुहा । यत् । समुद्रे । अन्तः । नि-हिता । असि । नाभिः ॥ ३॥

भावार्थ—हे (प्रवतः) अपने भक्त के (नपात्) न गिराने वाले ! (तुभ्यम्) तुझ को (एव) अवश्य (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (ते) तुझ (हेतये) वज्र समान को (च) और (तपुषे) तपाने वाले तोप आदि अस्त्रसमान को (नमः) नमस्कार (कृण्मः) हम करते हैं। (यत्) क्योंकि (ते) तेरे (परमम्) बड़े ऊंचे (धाम) धाम [निवास] को (गुहा=गुहायाम्) गुफा में [अपने हृदय और प्रत्येक अगम्य स्थान में] (विद्म) हम जानते हैं। (समुद्रे अन्तः) आकाश के बीच में

उपसर्गवशात् संप्रीकरणे। संहतं करोषि, संयोजयषि (मृडय) मृड तोषणे। तोषय, अनुगृहाण (तनूभ्यः) १।१।१। शरीरेभ्यः। तेषां हिताय (मयः) मिञ् हिंसायाम्—असुन्। मिनोति दुःखम्। सुखम्। निघ० ३।६ (तोकेभ्यः) कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः। उ० ३।४०। इति तु वृद्धौ पूर्तौ—क प्रत्ययः। तौति पूरयति गृहमिति तोकम्। अपत्यनाम—निघ०।२।२। अपत्येभ्यः (कृधि) कुरु। देहि (तोकेभ्यस्कृधि) कः करत्करतिकृधितेष्वनदितेः। पा० ८।३। ५०। इति विसर्गस्य सत्वम् ॥

३—(प्र-वतः नपात्) म० २। हे स्वभक्तस्य न पातयितः (हेतये) ऊतियूतिजूतिहेतिकीर्तयश्च। पा० ३।३। ९७। इति हन वधे गतौ च क्तिन्। एत्वम् उदात्तत्वं च निपात्यते। यद्वा हि वर्धने गतौ च—क्तिन् निपातितश्च। हन्यन्तेऽनया शत्रवः। गम्यतेऽनया जयः, वर्ध्यते वैश्वर्यम्। हेतिः, वज्र-

(नाभिः) बन्ध में रखने वाली नाभि के समान तू (निहिता) ठहरा हुआ (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस भक्त रक्षक, दुष्टनाशक परमात्मा का (परम धाम) महत्त्व सब के हृदयों में और सब अगम्य स्थानों में वर्तमान है। जैसे (नाभि) सब नाड़ियों को बन्धन में रखकर शरीर के भार को समान तोल कर रखती है, वैसे ही परमेश्वर (समुद्र) अन्तरिक्ष वा आकाश में स्थित मनुष्य आदि प्राणियों और सब पृथिवी, सूर्य्य आदि लोकों का धारण करने वाला केन्द्र है। विद्वान् लोग उसको माथा टेकते और उसकी महिमा को जानकर संसार में उन्नति करते हैं ॥ ३ ॥

यां त्वा दे॒वा अस्॑जन्त॒ विश्व॒ इषुं॑ कृण्वा॒ना अस॑नाय धृ॒ष्णुम्। सा नो॑ मृड वि॒दथे॑ गृणा॒ना तस्यै॑ ते॒ नमो॑ अस्तु देवि ॥ ४ ॥

नाम-निघ० ३। २७। वज्राय, वज्ररूपाय (नपुंसं) अर्त्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो-नित्। उ० २। ११७। इति तप ऐश्वर्यसंतापयोः इषु-उसि। दाहकाय अस्त्राय, तद्रूपाय (कृणमः) कृवि हिंसाकरणयोः—लट्। वयं कुर्मः (विद्म) विदो लटो वा। पा० ३।४। ८३। इति विद ज्ञाने, मसो मादेशः। विद्मः। वयं जानीमः। (धाम) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। इति धा-मनिन्। स्थानम्, गृहम्। प्रभावम् (परमम्) आतोऽनुपसर्गे कः। पा० ३। २। ४। इति पर+मा माने—क। उत्कृष्टम् (गुहा) १। ८। ४। सप्तम्या लुक्। गुहायाम्, गर्ते हृदये। गुहावद् अगम्ये प्रदेशे (यत्) यस्मात् कारणात (समुद्रे) १। ३। ८। अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३। २। १०१ इति सम्+उत्+द्रु गतौ-डप्रत्ययः, यद्वा, स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ० २। १३। सम्+मुद हर्षे—अधिकरणे रक्। यद्वा, सम्+उन्दी क्लेदने-रक्। सागरे, उदधौ, अन्तरिक्षे-निघ० १। ३ (अन्तः) मध्ये (नि-हिता) दधातेर्हिः। पा० ७। ४। ४२। इति नि पूर्वात् धाञः—क्त, हिरादेशः। स्थापिता (नाभिः) नहो भश्च। उ० ४। १२६। इति णह बन्धने-इञ् प्रत्ययः ञिनत्यादिर्नित्यम्। पा० ६। १। १६७। इति आद्युदात्तः। नह्यति बध्नाति नाडीः। आलिंगता। तुन्दकूपी। नाभिचक्रवत् मध्यस्थः ॥

याम्। त्वा। देवाः। असृ॑जन्त। विश्वे॑। इषु॑म्। कृण्वानाः। असंनाय। धृष्णुम्। सा। नः। मृड। विदथे॑। गृणाना। तस्यै॑। ते। नमः॑। अस्तु। देवि ॥ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) सब (देवाः) विद्वानों ने (याम् त्वा) जिस तुझ [परमेश्वर] को (असनाय) नाश के लिये (धृष्णुम्) बहुत दृढ़ (इषुम्) शक्ति अर्थात् बरछी (कृण्वानाः) बना कर (असृजन्त) माना है। (सा) सो तू (विदथे) यज्ञ में (गृणाना) उपदेश करती हुयी (नः) हमको (मृड) सुख दे, (देवि) हे देवी [दिव्य बरछी] (तस्यै ते) उस तेरे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमेश्वर के क्रोध को सब संसार के दोषों के नाश के लिये बरछी रूप समझ कर सदा सुधार और उपकार करते हैं तब संसार में प्रतिष्ठा और मान पाकर सुख भोगते और परमात्मा के क्रोध का धन्यवाद देते ॥ ४ ॥

यजुर्वेद में लिखा है-यजु० १६। ३॥

यामिषु॑ गिरिशन्त॒ हस्ते॒ बिभर्ष्यस्त॑वे।

शि॒वां गि॑रित्र॒ तां कु॑रु॒ मा हिं॑सीः॒ पुरु॑षं॒ जग॑त् ॥ १ ॥

४—(त्वा) प्रवता नपातम्, म० ३ (देवाः) विद्वांसः (असृजन्त) सृज विसर्गे—लङ्। सृष्टवन्तः, त्यक्तवन्तः। मनसा कल्पितवन्तः (इषुम्) ईषेः किच्च। उ० १। १३। इति ईष हिंसने-उ, ह्रस्वश्च। अथवा। इष गतौ—उ। बाणम्। शक्तिनामायुधम् (कृण्वानाः) कृवि हिंसाकरणयोः-शानच्। कुर्वाणाः (असनाय) असु क्षेपणे-भावे ल्युट्। क्षेपणाय। नाशनाय (धृष्णुम्) त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः। पा० ३। २। १४०। इति ञिधृषा प्रागल्भ्ये-क्नु। प्रगल्भाम्, निर्भयाम् सुदृढाम् (मृड) मृडय, सुखय (विदथे) रुविदिभ्यां ङित्। उ० ३। ११५। इति विद ज्ञाने विद्लृ लाभे विद विचारणे, विद सत्तायाम्-अथप्रत्ययः। स च ङित्। विदथः. यज्ञनाम-निघ० ३। १७। ज्ञायते हि यज्ञः, लभते हि दक्षिणादिरत्र, विचार्यते हि विद्वद्भिः, भावयत्यनेन फलम्—इति तत्र टीकायां देवराज यज्वा। यज्ञे। वदितव्ये कर्मणि (गृणाना) गॄ शब्दे-शानच्। शब्दायमाना, उपदिशन्ती (देवि) हे द्योतमाने, हे दिव्यगुणयुक्ते ॥

हे वेद द्वारा शान्ति फैलाने वाले ! जिस बरछी वा बाण को चलाने के लिये अपने हाथों में तू धारण करता है । हे वेदद्वारा रक्षा करने वाले ! उस को मंगलकारी कर, पुरुषार्थी लोगों को तू मत मार ॥

सूक्तम् १४ ॥

१-४ ॥ भृग्वंगिरा ऋषिः । वधूवरौ देवते । अनुष्टुप् ८×४ ॥

विवाहसंस्कारोपदेशः—विवाहसंस्कार का उपदेश ॥

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥ १ ॥

भगम् । अस्याः । वर्चः । आ । अदिषि । अधि । वृक्षात्-इव । स्रजम् । महाबुध्नः-इव । पर्वतः । ज्योक् । पितृषु । आस्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्याः) इस [वधू] से (भगम्) [अपने] ऐश्वर्य को और (वर्चः) तेज को (आ अदिषि) मैं ने पाया है, (इव) जैसे (वृक्षात् अधि) वृक्ष से (स्रजम्) फूलों की माला को । (महाबुध्नः) विशाल जड़वाले (पर्वतः इव) पर्वत के समान [यह वधू] (पितृषु) [मेरे] माता पिता आदि बान्धवों में (ज्योक्) बहुत काल तक (आस्ताम्) रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—यह वर का वचन है । विद्वान् पुरुष खोज कर अपने समान गुणवती स्त्री से विवाह करके संसार में ऐश्वर्य और शोभा पाता है जैसे वृक्ष के सुन्दर फूलों से शोभा होती है । वधू अपने सास ससुर आदि माननीयों की

१—(भगम्) पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति भज सेवायाम्-घ प्रत्ययः । चजोः कु घिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति घत्वम् । भगः, धननाम निघ० २ । १० । श्रियम्, ऐश्वर्यम्, कीर्त्तिम् (अस्याः) नवोढायाः स्त्रियाः सकाशात् (वर्चः) १ । ६ । ४ । रूपम् । तेजः (आ+अदिषि) आङ् पूर्वकात् डुदाञ् दाने-लुङ् । आङो दोऽनास्य विहरणे । पा० १ । ३ । २० । इति आत्मने पदम् । अहं गृहीतवान् प्राप्तवानस्मि (अधि) पञ्चम्यर्थानुवादी । उपरि ।

सेवा और शिक्षा से दृढ़चित्त होकर घर के कामों का सुप्रबन्ध करके गृहलक्ष्मी की पक्की नेव जमावे और पति पुत्र आदि कुटुम्बियों में बड़ी आयु भोग कर आनन्द करे ॥ १ ॥

मन्त्राः २—४। वधूपत्न्युक्तिः ॥

एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम।
सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

एषा। ते। राजन्। कन्या। वधूः। नि। धूयताम्। यम। सा। मातुः। बध्यताम्। गृहे। अथो इति। भ्रातुः। अथो इति। पितुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यम) हे नियम में चलाने वाले, वर (राजन्) राजा! (एषा) यह (कन्या) कामना योग्य कन्या (ते) तेरी (वधूः) वधू (नि) नियम से (धूयताम्) व्यवहार करे। (सा) वह (मातुः) [तेरी] माता के, (अथो) और भी (पितुः) पिता के (अथो) और (भ्रातुः) भ्राता के साथ (गृहे) घर में (बध्यताम्) नियम से बन्धी रहे ॥ २ ॥

(वृतात् इव) १। २। ३। इगुपधज्ञाप्रीकिरः। पा० ३। १। १३५। इति वृञ् वरणे-क। वृक्षं व्रियते सेव्यते छायाफलार्थम्। विटपात् यथा। (स्रजम्) ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक्०। पा० ३। २। ५९। इति सृज विसर्गे-क्विन्। सृजति ददाति शोभामिति स्रक्। पुष्पमालाम् (महाबुध्नः) बन्धेर्ब्रधिबुधी च। उ० ३। ५। इति बन्ध बन्धने-नक्, बुधादेशश्च। विशालमूलः, दृढमूलः (पर्वतः) १। १२। ३। शैलः। भूधरः (ज्याक्) १। ६। २। चिरकालम् (पितृषु) १। २। १। रक्षकेषु। जनकवत् मान्येषु, मातापित्रादिषु बन्धुषु (आस्ताम्) आस उपवेशने-लोट्। तिष्ठतु। निवसतु ॥ १ ॥

२—(राजन्) १। १०। १। हे ऐश्वर्यवन् जामातः (कन्या) अघ्न्यादयश्च। उ० ४। ११२। इति कन प्रीतौ, द्युतौ, गतौ,-यक्, टाप् च। कन्यते काम्यते दीप्यते गच्छति वा सा। कमनीया। पुत्री (वधूः) वहेर्धश्च। उ० १। ८३। वह प्रापणे—ऊ प्रत्ययः, धश्च। वहति प्रापयति सुखानीति। यद्वा। बन्ध—ऊ,

भावार्थ—मन्त्र २—४ वधू पक्ष के वचन हैं। वधू के माता पिता आदि वर से कहें कि यह सुशिक्षिता गुणवती कन्या आप को सौंपी जाती है यह आप के माता, पिता और भ्राता आदि सब कुटुम्बियों में रहकर अपने सुप्रबन्ध से सब को प्रसन्न रक्खे और सुख भोगे ॥ २ ॥

मनु जी महाराज ने कहा है—मनुस्मृति अ० २ श्लोक २४० ॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ १ ॥

स्तुति योग्य स्त्रियां, रत्न, विद्या, धर्म, शुद्धता, और मीठी बोली, और अनेक प्रकार की हस्त क्रियायें सब से यत्नपूर्वक लेना चाहियें ॥

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता ।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किंचित् कार्यं गृहेष्वपि ॥ १ ॥

म० ५ । १४७ ॥

चाहे स्त्री बालक या युवती वा बूढ़ी हो, वह स्वतन्त्रता से कोई काम घरों में भी न करे ॥

नलोपः । बध्नाति प्रेम्णा या नवोढा स्त्री, भार्या (नि) नितराम्, नियमेन (धूयताम्) धूञ् कम्पने-कर्मणि लोट् । चेष्टताम्, गृहकार्येषु प्रवर्तताम् (यम) यम नियमने—अच् । यमयति नियमयति गृहकार्याणीति । यमो यच्छतीति सतः, मध्यस्थानदेवतासु—निरु० १० । १६ । द्युस्थानः-निरु०, १२ । १०, ११ । वायुः, सूर्यः । हे नियामक वर ! (मातुः) १ । २ । १ । तव जनन्याः (बध्यताम्) बन्ध बन्धने कर्मणि लोट् । प्रेमबद्धा भवतु (गृहे) गेहे कः । पा० ३ । १ । १४४ । इति ग्रह आदाने-क । वासस्थाने, भवने, मन्दिरे (अथो) अथ+उ । अपि च (भ्रातुः) नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ० । उ० २ । ९५ । इति भ्राज दीप्तौ—तृन् । सहोदरस्य (पितुः) म० १ । जनकस्य ॥ २ ॥

एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि ।
ज्योक् पितृष्वासाता आशीर्ष्णः समोप्यात् ॥ ३ ॥

एषा । ते । कुल-पाः । राजन् । ताम् । ऊं इति । ते । परि । दद्मसि । ज्योक् । पितृषु । आसातै । आ । शीर्ष्णः । सम्-ओप्यात् ॥३॥

भाषार्थ—(राजन्) हे वर राजा (एषा) यह कन्या (ते) तेरे (कुलपाः) कुल की रक्षा करने हारी है, (ताम्) उस को (उ) ही (ते) तेरे लिये (परि) आदर से (दद्मसि) हम दान करते हैं। यह (ज्योक्) बहुत काल तक (पितृषु) तेरे माता पिता आदिकों में (आसातै) निवास करे, और (आ शीर्ष्णः) अपने मस्तक तक [जीवन पर्यन्त वा बुद्धि की पहुंच तक] (समोप्यात्) ठीक ठीक बढ़ती का बीज बोवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—फिर वधूपक्ष वाले माता पिता आदि इस मन्त्र से जामाता की विनती करते और स्त्री धर्म का उपदेश करते हुये कन्या दान करके गृहाश्रम में प्रविष्ट कराते हैं ॥ ३ ॥

३—(कुलपाः) कुल+पा रक्षणे-कर्मण्युपपदे विच् प्रत्ययः। पातिव्रत्येन कुलस्य पालयित्री रक्षयित्री (राजन्) हे ऐश्वर्यवन् जामातः (ऊं इति) अवश्यम् (परि+दद्मसि) इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तत्वम्। रक्षणार्थं दानं परिदानम् । रक्षणार्थं दद्मः, समर्पयामः (ज्योक्) म० १ । दीर्घकालम् (पितृषु) म० १ । मातापित्रादिबन्धुषु (आसातै) आस उपवेशने—लेटि आडागमः। टेः एत्वे। वैतोऽन्यत्र । पा० ३ । ४ । ९६ । इति ऐकारः। आस्ताम्, निवसतु (आ-शीर्ष्णः) १ । ७ । ७ । आङ् मर्यादावचने । पा० १ । ४ । ८९ । इति आङः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा। पञ्चम्यपाङ्परिभिः । पा० २ । ३ । १० । इति पञ्चमी । शीर्षंश्छन्दसि । पा० ६ । १ । ६० । इति शिरः शब्दस्य शीर्षन् आदेशः । मस्तकस्थितिपर्यन्तं, जीवनपर्य्यन्तम् (सम्-ओप्यात्) सम्+आ+उप्यात् । वप बीजवपने मुण्डने च—आशीर्लिङ् । यथामर्यादं बीजवपनं वर्धनं कुर्य्यात् ॥ ३ ॥

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च ।
अन्तः कोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥ ४ ॥
असितस्य । ते । ब्रह्मणा । कश्यपस्य । गयस्य । च ।
अन्तः-कोशम्-इव । जामयः । अपि । नह्यामि । ते । भगम् ॥४॥

भाषार्थ—(असितस्य) जो तू बन्धन रहित, (कश्यपस्य) [सोम] रस पीने हारा, (च) और (गयस्य) कीर्तन के योग्य है उस (ते) तेरे (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान के कारण (ते) तेरे लिये (भगम्) ऐश्वर्य को (अपि) अवश्य (नह्यामि) मैं बांधता हूं। (इव) जैसे (जामयः) कुल स्त्रियां [वा बहिनें] (अन्तःकोशम्) मञ्जूषा वा पिटारे को [बांधती] हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ-इस मन्त्र के अनुसार वधू पक्ष वाले पुरुष और स्त्रियां विनती करके श्रेष्ठ वर और कन्या को धन, भूषण, और वस्त्र आदि से सत्कार के साथ विदा करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १५ ॥

१–४ ॥ अथर्वा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । १ पूर्वार्धोऽनुष्टुप्, द्वितीयार्धस्त्रिष्टुप्, २ पूर्वार्धो जगती द्वितीयोऽनुष्टुप्, ३, ४ अनुष्टुप् छन्दः ॥

४-(असितस्य) अञ्जिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८६ । इति षिञ् बन्धने-क्त, नञ्समासः । अबद्धस्य, मुक्तस्य (ब्रह्मणा) १ । ८ । ४ । वेदज्ञानकारणेन (कश्यपस्य) कश शब्दे—बाहुलकात् करणे—यत् । कशति अनेनेति कश्यं सुखकरो रसः । कश्य+पा पाने—क । कश्यं सोमरसं पिबतीति कश्यपः । सोमपानशीलस्य (गयस्य) गै गाने—यत्, पृषोदरादित्वात् ह्रस्वः । गेयस्य कीर्तनीयस्य (अन्तःकोशम्)-अन्तः+कुश संश्लेषणे-अधिकरणे घञ् । वस्त्रादिधारणाय आवरणम्, मञ्जूषाम् (जामयः) १ । ४ । १ । कुलस्त्रियः, माताभगिन्यादयः (अपि) अवधारणे, अवश्यम् (नह्यामि) णह बन्धने श्यन् । बध्नामि (भगम्) म० १ ऐश्वर्यम् ॥ ४ ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य की प्राप्ति का उपदेश ॥

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः । इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१॥

सम् । सम् । स्रवन्तु । सिन्धवः । सम् । वाताः । सम् । पतत्रिणः । इमम् । यज्ञम् । प्र-दिवः । मे । जुषन्ताम् । सम्-स्राव्येण । हविषा । जुहोमि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सिन्धवः) सब समुद्र (सम् सम्) अत्यन्त अनुकूल (स्रवन्तु) बहें, (वाताः) विविध प्रकार के पवन और (पतत्रिणः) पक्षी (सम् सम्) बहुत अनुकूल [बहें] (प्रदिवः) बड़े तेजस्वी विद्वान् लोग (इमम्) इस (मे) मेरे (यज्ञम्) सत्कार को (जुषन्ताम्) स्वीकार करें, (संस्राव्येण) बहुत आर्द्रभाव [कोमलता] से भरी हुयी (हविषा) भक्ति के साथ [उनको] (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि नौका आदि से समुद्रयात्रा को, विमान आदि से वायुमण्डल में जाने आने के मार्गों को, और यथा योग्य व्यवहार से

१—(सम् सम्) अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—निरु० १० । ४२ । अत्यन्त-सम्यक्, अत्यनुकूलाः (स्रवन्तु) स्रु गतौ, स्रवणे च—लोट् । गच्छन्तु, प्रव-हन्तु (सिन्धवः) १ । ४ । ३ । स्यन्दनशीलाः । समुद्राः । स्त्रियां, नद्यः (सम्=संस्रवन्तु) उपसर्गवशात् स्रवन्तु इति सर्वत्र अनुषज्यते । अनुकूलाः प्रवर्तन्ताम् (वाताः) १ । ११ । ६ । विविधपवनाः (सम्) सम्यग् अनुकू-लाश्चरन्तु (पतत्रिणः) पतत्रं पक्षः । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति पतत्र-इनि मत्वर्थे । पक्षिणः (इमम्) प्रवृत्तमानम् (यज्ञम्) १ । ६ । ४ । यागं विदुषां पूजनम् (प्र-दिवः) प्र+दिवु द्युतिस्तुतिगत्यादिषु—क्विप् । प्रकृष्टप्रकाशाः, देवाः, विद्वांसः (जुषन्ताम्) जुषी प्रीतिसेवनयोः—लोट् । सेवन्ताम्, स्वीकुर्वन्तु (सम्-स्राव्येण) स्रु गतौ—ण्यत् । तस्येदम् । पा० ४ ।

पक्षी आदि सब जीवों को अनुकूल रक्खें, और विज्ञान पूर्वक सब पदार्थों से उपकार लेवें । और विद्वानों में पूर्ण प्रीति और श्रद्धा रक्खें जिससे वह भी उत्साह पूर्वक वर्ताव करें ॥ १ ॥

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥ २ ॥

इह । एव । हवम् । आ । यात । मे । इह । सम्-स्रावणाः । उत । इमम् । वर्धयत । गिरः । इह । आ । एतु । सर्वः । यः । पशुः । अस्मिन् । तिष्ठतु । या । रयिः ॥ २ ॥

भाषार्थ-(संस्रावणाः) हे बहुत आर्द्रभाव वाले [बड़े कोमल स्वभाव वाले] (गिरः) स्तुति योग्य विद्वानो ! (इह) यहां पर (इह) यहां पर (एव) ही (मे) मेरे (हवम्) आवाहन को (आ यात) तुम पहुंचो, (उत) और (इमम्) इस पुरुष को (वर्धयत) बढ़ाओ । (यः सर्वः पशुः) जो प्रत्येक जीव है [वह] (इह) यहां (एतु) आवे और (या रयिः) जो लक्ष्मी है [वह भी सब] (अस्मिन्) इस [पुरुष] में (तिष्ठतु) ठहरा रहे ॥ २ ॥

---

३ । १२० । इति संस्राव-यत् । यद्वा । अचो यत् । पा० । ३ । १ । ९७ । इति सम् + स्रु-णिच्-यत् । संस्राव्येण सम्यक् स्रवणेन आर्द्रभावेन युक्तेन (हविषा) १ । ४ । ३ । आत्मदानेन, भक्त्या (जुहोमि) हु दानादानादनेषु-लट् । अहम् आददे, स्वीकरोमि तान् प्रदिवः ॥

२—(हवम्) भावेऽनुपसर्गस्य । पा ३ । ३ । ७५ । इति ह्वेञ् आह्वाने, स्पर्धे च—अप् । आह्वानम्, आवाहनम् (आ + यात) या गतौ-लोट् । आगच्छत (इह) नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति वीप्सायां इह शब्दस्य द्विर्वचनम् । अस्मिन्नेव यज्ञे (सम्-स्रावणाः) स्रु स्रवणे गतौ-णिचि-ल्युट् । युवोरनाकौ । पा० ७ । १ । १ । इति अन आदेशः । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे अच् । हे संस्रावेण सम्यक् स्रवणेन, अत्यार्द्रभावेन युक्ताः (इमम्) उपस्थितं माम् (वर्धयत) वृधु वृद्धौ णिचि लोट्, छन्दसि दीर्घः ।

भावार्थ—विद्वान् लोग विद्या के बल से संसार की उन्नति करते हैं, इस से मनुष्य विद्वानों का सत्संग पाकर सदा अपनी वृद्धि करें और उपकारी जीवों और धन का उपार्जन पूर्ण शक्ति से करते रहें ॥

टिप्पणी—पशु शब्द जीव वाची है, अथर्ववेद का० २ सू० ३४ म० १ ॥

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ॥१॥

जो (पशुपतिः) जीवों का स्वामी चौपाये और जो दो पाये (पशूनाम्) जीवों का (ईशे=ईष्टे) राजा है ॥ १ ॥

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ २ ॥

ये । नदीनाम् । सम्-स्रवन्ति । उत्सासः । सदम् । अक्षिताः ।
तेभिः । मे । सर्वैः । सम्-स्रावैः । धनम् । सम् । स्रावयामसि ॥२॥

भाषार्थ—(नदीनाम्) नाद करनेवाली नदियों के (ये) जो (अक्षिताः) अक्षय (उत्सासः) स्रोते (सदम्) सर्वदा (संस्रवन्ति) मिलकर बहते हैं । (तेभिः सर्वैः) उन सब (संस्रावैः) जल प्रवाहों के साथ (मे) अपने (धनम्) धन को (सम्) उत्तम रीति से (स्रावयामसि) हम व्यय करें ॥ २ ॥

समर्धयत (गिरः) गृणातिः स्तुतिकर्मा–निरु० ३ । ५ । अर्चतिकर्मा–निघ० ३ । १४ । गॄ शब्दे—कर्मणि क्विप् । गीर्यन्ते स्तूयन्त इति गिरः । हे अर्चनीयाः; स्तुत्याः पुरुषाः (आ+एतु) आगच्छतु (पशुः) अर्जिदृशिकम्यमि० । उ० १ । २७ । इति दृशिर् प्रेक्षणे–कु, पश्यादेशः । पशुः पश्यतेः—निरु० ३ । १६ । प्राणिमात्रम्, जीवः । अथवा । गवाश्वगजादिरूपः (अस्मिन्) मयि, मदीये आत्मनि (तिष्ठतु) निवसतु (रयिः) अच इः । उ० ४ । १३९ । इति रीङ् गतौ–इ प्रत्ययः, गुणः । यद्वा । रा दानग्रहणयोः–इप्रत्ययः, युगागमो धातोर्ह्रस्वश्च । धनम् ॥ २ ॥

२—(नदीनाम्) १ । ८ । १ । नदनशीलानां सरिताम्, सरस्वतीनाम् (सम्-स्रवन्ति) सम्भूय प्रवहन्ति (उत्सासः) उन्दिगुधिकषिभ्यश्च । उ०

भावार्थ—जैसे पर्वतों पर जल के स्रोत मिलने से वेगवती और उपकारिणी नदियें बनती हैं जो ग्रीष्म ऋतु में भी नहीं सूखतीं, इसी प्रकार हम सब मिलकर विज्ञान और उत्साह पूर्वक तडित्, अग्नि, वायु, सूर्य, जल, पृथिवी आदि पदार्थों से उपकार लेकर अक्षय धन बढ़ावें। और उसे उत्तम कर्मों में व्यय करें ॥ ३ ॥

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ४ ॥

ये । सर्पिषः । सम्-स्रवन्ति । क्षीरस्य । च । उदकस्य । च ।
तेभिः । मे । सर्वैः । सम्-स्रावैः । धनम् । सम् । स्रावयामसि ॥४॥

भावार्थ—(सर्पिषः) घृत की (च) और (क्षीरस्य) दूध की (च) और (उदकस्य) जल की (ये) जो धारायें (संस्रवन्ति) मिलकर बह चलती हैं। (तैः सर्वैः) उन सब (संस्रावैः) धाराओं के साथ (मे) अपने (धनम्) धन को (सम्) उत्तम रीति से (स्रावयामसि) हम व्यय करें ॥ ४ ॥

३ । ६८ । इति उन्दी क्लेदे—स प्रत्ययः । आज्जसेरसुक् । पा० । ७ । १ । ५० । इति असि असुक् आगमः । उत्सः कूपनाम—निघ० ३ । २३ । जलस्रवणस्थानानि, स्रोतांसि (सदम्) सर्वदा, ग्रीष्मादावपि (अक्षिताः) क्षि क्षये—क्त । अक्षीणाः (तेभिः) बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । १० । इति भिस ऐसभावः । तैः (मे) मम=अस्माकम् । एकवचनं बहुवचने (सम्-स्रावैः) श्याऽद्व्यधास्रुसंस्रवतीण० । पा० ३ । १ । १४१ । इति सम् + स्रु स्रवणे—ण प्रत्ययः । अचो ञ्णिति । पा० ७ । २ । ११५ । इति वृद्धिः । प्रवाहैः (धनम्) धन धान्ये—अच् यद्वा, कृपृवृजिमन्दिनिधाञः क्युः । उ० २ । ८१ । इति डुधाञ् धारणपोषणयोः क्यु । वित्तम्, सम्पदम् (स्रावयामसि) स्रु स्रवणे—णिचि लट्, इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तता । स्रावयामः, प्रवाहयामः, व्ययं कुर्मः ॥

४—(ये) संस्रावाः प्रवाहाः (सर्पिषः) अर्चिशुचिहुसृपि० । उ० २ । १०८ । इति सृप गतौ=सर्पणे—इसि । सर्पणशीलस्य द्रवणस्वभावस्य घृतस्य (क्षीरस्य) घसेः किच्च । उ० ४ । ३४ । इति घस=अद भक्षणे—ईरन्, उपधालोपे कत्वं षत्वं च । दुग्धस्य (उदकस्य)—उदकं च । उ० । २ । ३९ । इति उन्दी

भावार्थ—जैसे घी, दूध और जल की बूंद बूंद मिलकर धारें बंध जाती और उपकारी होती हैं इसी प्रकार हम लोग उद्योग करके थोड़ा थोड़ा संचय करने से बहुत सा विद्या धन और सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके उत्तम कामों में व्यय करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् १६ ॥

१-४ ॥ चातन ऋषिः । १ अग्निः, २ वरुणाग्नीन्द्राः, ३-४ सीसं देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

विघ्ननाशनोपदेशः—विघ्न के नाश का उपदेश ॥

ये॑ऽमावा॒स्यां३॒॑ रात्रि॑मु॒दस्थु॑र्व्रा॒जम॒त्त्रिणः॑ ।
अ॒ग्निस्तु॒रीयो॑ यातु॒हा सो अ॒स्मभ्य॒मधि॑ ब्रवत् ॥ १ ॥

ये । अ॒मा-वा॒स्या॒म् । रात्रि॑म् । उत्-अस्थु॑ः । व्रा॒जम् । अ॒त्त्रिणः॑ । अ॒ग्निः । तु॒रीय॑ः । या॒तु-हा । सः । अ॒स्मभ्य॑म् । अधि॑ । ब्र॒वत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ये) वे जो (अत्त्रिणः) उदर पोषक [खाऊ लोग] (अमावास्याम्) अमावसी में (रात्रिम्) विश्राम देने हारी रात्रि को (व्राजम्) गोशालाओं पर [अथवा समूह के समूह] (उदस्थुः) चढ़ आये हैं । (सः) वह (तुरीयः) वेगवान् (यातुहा) राक्षसों का नाश करने हारा (अग्निः) अग्नि [अग्नि सदृश तेजस्वी राजा] (अस्मभ्यम्) हमारे हित के लिये (अधि) [उन पर] अधिकार जमा कर (ब्रवत्) घोषणा दे ॥ १ ॥

क्लेदने-क्वुन् । युवोरनाकौ । पा० ७ । १ । १ । इति अकादेशः । जलस्य । अन्यद् व्याख्यातं म० ॥ ३ ॥

१—(अमा-वास्याम्) अमा+वस निवासे-घञ् । अमा साहित्येन चन्द्रार्कयोर्वासो यत्र । पिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीष् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । अमावस्यायां रात्रौ, महान्धकारे (रात्रिम्) राशदिभ्यां त्रिप् । उ० ४ । ६७ । इति रा दानग्रहणयोः-त्रिप्, ददाति विश्रामं, गृह्णाति श्रमं च । कालाध्वनोरत्यन्त-

भावार्थ—जो दुष्ट जन अन्धेरी रातों में गोशाला आदि पर धावा करके प्रजा को सतावें तो प्रतापी राजा ऐसे राक्षसों से रक्षा करके राज्य भर में शान्ति फैलावे ॥ १ ॥

सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति ।

सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत् तदङ्ग यातुचातनम् ॥ २ ॥

सीसाय । अधि । आह । वरुणः । सीसाय । अग्निः । उप । अवति । सीसम् । मे । इन्द्रः । प्र । अयच्छत् । तत् । अङ्ग । यातु-चातनम् ॥ २ ॥

भावार्थ–(वरुणः) चाहने योग्य, समुद्रादि का जल (सीसाय) बन्धन काटने वाले सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति] के लिये (अधि) अधिकार पूर्वक (आह) कहता है, (अग्निः) व्यापक, सूर्य, बिजुली आदि अग्नि (सीसाय) बन्धन काटने वाले सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] के लिये (उप) समीप रह कर (अवति) रक्षा करता है । (इन्द्रः) महा प्रतापी परमेश्वर ने (सीसम्) बन्धन काटने वाला सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] (मे) मुझ को (प्र-अयच्छत्) दिया है, (अङ्ग) हे भाई (तत्) वह सामर्थ्य (यातुचातनम्) पीड़ानाशक है ॥२॥

संयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । रजनीम् । निशाकाले (उत-अस्थुः) ष्ठा गतिनिवृत्तौ-लुङ् । उत्थितवन्तः, संचरणं कृतवन्तः (व्राजम्) तस्य समूहः । पा० ४ । २ । ३७ । इति व्रज-अण् समूहे, नपुंसकत्वम् । गोष्ठसमूहम् । अथवा । क्रिया विशेषणम् । व्रजः=समूहः-अण् । अतिसमूहेन (अत्रिणः) १ । ७ । ३ । अदनशीलाः, स्वार्थिनः, उदरपोषकाः (अग्निः) १ । ६ । २ । अग्निवत् तेजस्वी राजा (तुरीयः) तुरो वेगः । घच्छौ च । पा० ४ । ४ । ११७ । इति तुर—छः प्रत्ययः, तत्रभव इत्यर्थे । वेगवान् (यातुहा) कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । इति यत ताडने—उण् । यातयतीति यातुः, राक्षसः । बहुलं छन्दसि । पा० ३ । २ । ८८ । इति यातूपपदे हन हिंसागत्योः—क्विप् । राक्षसघातकः । दुष्टनाशकः (अधि) अधिकृत्य, स्वामित्वेन (ब्रवत्) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लेट् । ब्रूयात् ॥

२—(सीसाय) षिञ् बन्धने-क्विप्+षो नाशने-क । पृषोदरादित्वात् तुक् लोपे दीर्घः । सीं सितं बन्धं प्रतिबन्धं स्यति नाशयतीति सीसम् । प्रतिबन्धस्य

भावार्थ—जल, अग्नि, वायु, आदि पदार्थ ईश्वर की आज्ञा से परस्पर मिलकर हमारे लिये बाहिर और भीतर से उपकारी होते हैं। वह ब्रह्मज्ञान प्रत्येक मनुष्य आदि प्राणी को परमेश्वर ने दिया है उस ज्ञान को साक्षात् करके प्राणी दुःखों से छूट कर शारीरिक, आत्मिक और समाजिक आनन्द पाते हैं ॥ २ ॥

टिप्पणी—(सीस) शब्द का धात्वर्थ [षिञ् बांधना—क्विप्+षो नाश करना-कप्रत्यय] बन्धन का काटने वाला है। लोक में वस्तु विशेष, सीसा को कहते हैं। सायण भाष्य में (सीस) का अर्थ "नदी के फेन आदि रूप द्रव्य" और ग्रिफ़िथ साहिब ने (lead) सीसा धातु विशेष किया है॥

इ॒दं वि॒ष्कन्धं सहत इ॒दं बाधते अ॒त्त्रिणः॑ ।
अ॒नेन॒ विश्वा॑ ससहे॒ या जा॒तानि॑ पिशा॒च्याः॑ ॥ ३ ॥

इ॒दम् । वि॒-स्कन्धम् । स॒ह॒ते॒ । इ॒दम् । बा॒ध॒ते॒ । अ॒त्त्रिणः॑ ।
अ॒नेन॑ । विश्वा॑ । स॒स॒हे॒ । या । जा॒तानि॑ । पि॒शा॒च्याः॑ ॥३॥

भाषार्थ—(इदम्) यह [सामर्थ्य] (विष्कन्धम्) विघ्न को (सहते) जीतता है। और (इदम्) यह (अत्त्रिणः) उदर पोषक खाउओं को (बाधते) हटाता है। (अनेन) इस से (विश्वा=विश्वानि) उन सब दुःखों को (ससहे) मैं

विघ्नस्य नाशकसामर्थ्याय। ब्रह्मज्ञानप्राप्तये (अधि) अधिकारेण (आह) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-लट्। ब्रवीति (वरुणः) १। ३। ३। वरणीयं समुद्रादि-जलम् (अग्निः) १।६।२। व्यापकः। सूर्यविद्युदादिरूपोऽग्निः (उप) उपेत्य (अवति) रक्षति। व्याप्नोति (इन्द्रः) १। २। ३। महाप्रतापी पर-मेश्वरः (प्र-अयच्छत्) पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्० । पा० ७। ३। ७८। इति दाण् दाने—यच्छादेशः—लङ्। प्रादात् (तत्) निर्दिष्टं सीसम् (अङ्ग) सम्बोधने। हे सखे (यातु-चातनम्) कृवापाजिमि० । उ० १। १। यत ताडने-उण्। चातयतिर्नाशने-निरु० ६। ३०। पीड़ानाशकम्। राक्षसनाशकम् ॥

३—(इदम्) सीसम् (विष्कन्धम्) वि विकारे+स्कन्दिर् गतिशोषणयोः-अच। दस्य धः। वेः स्कन्देरनिष्ठायाम्। पा० ८। ३। ७३। इति षत्वम् यद्वा,

जीतता हूं (या=यानि) जो (पिशाच्याः) मांस खाने हारी [कुवासना] से (जातानि) उत्पन्न हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—दूरदर्शी पुरुषार्थी मनुष्य उत्तम ज्ञान के सामर्थ्य से अपने क्लेशों के कारण को जानते और कुवासनाओं के कुसंस्कारों को अपने हृदय में नहीं जमने देते ॥ ३ ॥

भगवान् पतञ्जलि जी ने कहा है—योगदर्शन पाद २ सूत्र १६ ॥

हेयं दुःखमनागतम् ॥

न आया हुआ [परन्तु आने वाला] दुःख हटाना चाहिये ॥

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम् ।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा ॥ ४ ॥

यदि । नः । गाम् । हंसि । यदि । अश्वम् । यदि । पुरुषम् । तम् । त्वा । सीसेन । विध्यामः । यथा । नः । असः । अवीर-हा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यदि) जो (नः) हमारी (गाम्) गाय को, (यदि) जो (अश्वम्)

विष्क हिंसायाम्-क+धाञ्-ड । हिंसां दधातीति । विशेषेण शोषकम् । विष्कम् (सहते) षह अभिभवे । अभिभवति जयति (बाधते) बाध प्रतिबन्धे प्रति-बन्ध-लट् । प्रतिबध्नाति, निवारयति (अ त्रिणः) म० १ । अदनस्वभावान् राक्षसान् (अनेन) सीसेन (सहे) बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७६ । इति षह अभिभवे लटि शपः श्लुः । अहम् अभिभवामि (जातानि) जनी प्रादुर्भावे-कर्त्तरि क्त । उत्पन्नानि । अपरथरूपाणि दुष्टाचरणानि (पिशाच्याः) कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति पिशित+अश भक्षणे-अण् । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । पा० ६ । ३ । १०९ । इति रूपसिद्धिः । पिशितं मांसमश्नातीति पिशाचः । अथवा । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति पिश अवयवे-क । इति पिशः पिशितम् । पुनः । पिश+आङ्+चम भक्षणे-ड प्रत्ययः । पिशं पिशितं मांसम् आचमति सम्यग् भक्षयतीति पिशाचः । प्राणिनां मांसभक्षी पिशिताशी ततो ङीप् । मांसभक्षिण्याः । राक्षसीरूपायाः कुवासनायाः ॥

४—(यदि) संभावनायाम् । चेत् (गाम्) १ । २ । ३ । गोजातिम् (हंसि)

घोड़े को और (यदि) जो (पुरुषम्) पुरुष को (हंसि) तू मारता है । (तम् त्वा) उस तुझ को (सीसेन) बन्धन काटने हारे सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] से (विध्यामः) हम वेधते हैं (यथा) जिस से तू (नः) हमारे (अवीरहा असः) वीरों का नाश करने हारा न होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य वर्तमान क्लेशों को देखकर आने वाले क्लेशों को यत्न पूर्वक रोककर आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

हन हिंसागत्योः-लट् । मारयसि । नाशयसि (अश्वम्) अशूप्रुषिलटि० । उ० १ । १५१ । इति अशूङ् व्याप्तौ-क्वन् । यद्वा, अश भोजने—क्वन् । अश्वः कस्माद्-अश्नुतेऽध्वानं महाशनो भवतीति वा—निरु० २ । २७ । जातावेकवचनम् । घोटम् । तुरङ्गम् (पुरुषम्) पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । पुर अग्रगतौ—कुषन् । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३७ । इति निपातनाद् दीर्घः । पुरति अग्रे गच्छतीति पुरुषः । नरं, जनम् (तम्) तथाविधम् (त्वा) त्वां हिंसकम् (सीसेन) म० २ । विघ्ननाशकसामर्थ्येन, ब्रह्मज्ञानेन (विध्यामः) व्यध ताडने वेधे—दिवादित्वात् श्यन् । ग्रहिज्यावयिव्यधि० । पा० ६ । १ । १६ । इति संप्रसारणम् । छिन्द्मः । ताडयामः, मारयामः (यथा) येन प्रकारेण । (असः) अस सत्तायाम्—लेटि अडागमः । त्वम् भूयाः (अवीर-हा) वीरयतीति वीरः, वीर शौर्ये-अच् । वीरान् हन्तीति वीरहा, वीर+हन्-क्विप् । न वीरहा अवीरहा । अशूरहन्ता ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

—o:o:o—

सूक्तम् १७ ॥

१–४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । हिरा देवता । १–३ अनुष्टुप् ४ गायत्री छन्दः

नाडीछेदनदृष्टान्तेन कुवासना नाशः—नाडीछेदन [फ़स्द खोलने] के दृष्टान्त से दुर्वासनाओं के नाश का उपदेश ॥

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः ।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः ॥ १ ॥

अमूः । याः । यन्ति । योषितः । हिराः । लोहित-वाससः ।
अभ्रातरः-इव । जामयः । तिष्ठन्तु । हत-वर्चसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अमूः) वे (याः) जो (योषितः) सेवा योग्य वा सेवा करने हारी [अथवा स्त्रियों के समान हितकारी] (लोहितवाससः) लोहू में ढकी हुयी (हिराः) नाड़ियां (यन्ति) चलती हैं, वे, (अभ्रातरः) बिना भाइयों की (जामयः इव) बहिनों के समान, (हतवर्चसः) निस्तेज होकर (तिष्ठन्तु) ठहर जायें ॥१॥

१—(अमूः) १।४।२। ताः परिदृश्यमानाः (यन्ति) गच्छन्ति (योषितः) हसृरुहियुषिभ्य इतिः । उ० १ । ९७ । युष सेवने—इति, अयं सौत्रो धातुः । योषति सेवते युष्यते सेव्यते वा सा योषित् । सेवयित्र्यः । सेव्याः, । स्त्रियः ।, (हिराः) स्फायितञ्चिशकि० । उ० २ । १३ । इति हि वर्धने गतौ च—रक् टाप् । हिनोति वर्धयति वा गच्छति व्याप्नोति शरीररुधिरादिकमिति हिरा, नाड़ी । सिराः, नाड्यः (लोहित-वाससः) वसेर्णित् । उ० ४ । २१८ । इति लोहित + वस आच्छादने, असुन् । णित्वाद्वाद्धू उपधावृद्धिः । रुधिरस्य आच्छा-

भावार्थ—इस सूक्त में सिरा छेदन, अर्थात् नाड़ी [फ़स्द] खोलने का वर्णन है। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि नाड़ियां रुधिर संचार का मार्ग होने से शरीर की (योषितः) सेवा करने हारी और सेवा योग्य हैं। जब किसी रोग के कारण वैद्य राज नाड़ी छेदन करे और रुधिर निकलने से रोग बढ़ाने में नाड़ियां ऐसी असमर्थ हो जायें जैसे माता पिता और भाइयों के बिना कन्यायें असहाय हो जाती हैं, तब नाड़ियों को रुधिर बहने से रोक दे।

२—मनुष्य के सब कार्य कुकामनाओं को रोक कर मर्यादापूर्वक करने से सुफल होते हैं ॥ १ ॥

तिष्ठा॑व॒रे तिष्ठ॑ प॒र उ॒त त्वं ति॑ष्ठ मध्य॒मे ।
क॒नि॒ष्ठि॒का च॒ तिष्ठ॑ति॒ तिष्ठा॒दिद्धम॒निर्म॒ही ॥ २ ॥

तिष्ठ॑ । अ॒व॒रे॒ । तिष्ठ॑ । प॒रे॒ । उ॒त । त्वम् । तिष्ठ॑ । म॒ध्य॒मे॒ । क॒नि॒ष्ठि॒का । च॒ । तिष्ठ॑ति । तिष्ठा॑त् । इत् । ध॒म॒निः । म॒ही ॥२॥

भावार्थ—(अवरे) हे नीचे की [नाड़ी] (तिष्ठ) तू ठहर, (परे) हे ऊपर वाली (तिष्ठ) तू ठहर, (उत) और (मध्यमे) हे बीच वाली (त्वम्) तू (तिष्ठ)

दनभूताः । रक्तवर्णवस्त्राः (अभ्रातरः) नप्तृत्वष्टृ० । उ० २ । ९६ । इति भ्राजृ दीप्तौ—तृन्, निपात्यते । अभ्रातृकाः, सहोदररहिताः, असहायाः इत्यर्थः । (जामयः) १ । ४ । १ । भगिन्यः (तिष्ठन्तु) स्थिता निवृत्तगतयो भवन्तु (हत-वर्चसः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति वर्च दीप्तौ—असुन् । हततेजस्काः, नष्टवीर्याः । रोगोत्पादने असमर्थाः ॥

२—(तिष्ठ) निवृत्तगतिर्भव (अवरे) १ । ८ । ३ । अवर-टाप् । हे निकृष्टे । अधोभागस्थिते हिरे (परे) १ । ८ । ३ । हे श्रेष्ठे, ऊर्ध्वाङ्गवर्तिनि ! त्वम् । हिरे, सिरे (मध्यमे) मध्यान्मः । पा० ४ । ३ । ८ । मध्य-मप्रत्ययो भवार्थे । हे शरीरमध्यवर्तिनि (कनिष्ठिका) युवाल्पयोः कन् अन्यतरस्याम् । पा० ५ । ३ । ६४ । इति अल्प-इष्ठनि कन् आदेशः । स्वार्थे क प्रत्ययः । प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः । पा० ७ । ३ । ४४ । इति इत्वं टापि परतः ।

ठहर, (च) और (कनिष्ठिका) अति छोटी नाड़ी (तिष्ठति) ठहरती है, (मही) बड़ी (धमनिः) नाड़ी (इत्) भी (तिष्ठात्) ठहर जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—१-चिकित्सक सावधानी से सब नाड़ियों को अधिक रुधिर बहने से रोक देवे ॥

२-मनुष्य अपने चित्त की वृत्तियों को ध्यान देकर कुमार्ग से हटावे, और हड़बड़ी करके अपने कर्तव्य को न बिगड़ने दे किन्तु यत्न पूर्वक सिद्ध करे ॥ २ ॥

शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम् ।
अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत ॥ ३ ॥

शतस्य । धमनीनाम् । सहस्रस्य । हिराणाम् । अस्थुः । इत् । मध्यमाः । इमाः । साकम् । अन्ताः । अरंसत ॥३॥

भाषार्थ—(शतस्य धमनीनाम्) सौ प्रधान नाड़ियों में से और (सहस्रस्य हिराणाम्) सहस्र शाखा नाड़ियों में से (इमाः) ये सब (मध्यमाः) बीच वाली (इत्) भी (अस्थुः) ठहर गयीं, (अन्ताः) अन्त की [अवशिष्ट नाड़ियां] (साकम्) एक साथ (अरंसत) क्रीड़ा करने लगी हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—सिरा छेदन से असंख्य धमनी और सिरा नाड़ियों का रुधिर यथाविधि चिकित्सक निकाल कर बन्ध कर देवे कि नाड़ियां पहिले के समान चेष्टा करने लगें ॥ ३ ॥

अल्पतमा, सूक्ष्मतरा नाड़ी (तिष्ठात्) ष्ठा गतिनिवृत्तौ-लेट् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ९४ । इति आडागमः । अवतिष्ठताम् (धमनिः) अर्त्तिसृधृधमि० । उ० २ । १०२ । इति धम ध्माने, ध्याने च—अनि । सिरा, नाड़ी (मही) मह पूजायाम्-अच् । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीप् । महती, बृहती स्थूला ॥

३—(शतस्य)—शतसंख्यानां अपरिमितानाम् (धमनीनाम्) म० २ । हृदयगतानां प्रधाननाड़ीनाम् (सहस्रस्य) अपरिमितानाम् (हिराणाम्) म० १ । सिराणाम् । सूक्ष्मशाखानाड़ीनाम् (अस्थुः) १ । १६ । १ । स्थिता अभूवन्

२—मनुष्य अपनी अनन्त चित्त वृत्तियों को कुमार्ग से रोक कर सुमार्ग में चलावे ॥ २ ॥

परि॑ वः॒ सिक॑तावती ध॒नूर्बृ॑ह॒त्य॑क्रमीत् ।
ति॒ष्ठते॑ल॒यंता॒ सु कम् ॥ ४ ॥

परि॑ । वः॒ । सिक॑ता-वती । ध॒नूः । बृ॒ह॒ती । अ॒क्र॒मी॒त् ।
तिष्ठत । इ॒ल॒यंत । सु । क॒म् ।

भाषार्थ—(सिकतावती) सेचन स्वभाव [कोमल रखने वाली] बालू आदि से भरी हुई (बृहती) बड़ी (धनूः) पट्टी ने (वः) तुम [नाड़ियों] को (परि अक्रमीत्) लपेट लिया है। (तिष्ठत) ठहर जाओ, (सु) अच्छे प्रकार (कम्) सुख से (इलयत) चलो ॥ ४ ॥

भावार्थ, १—(धनूः) अर्थात् धनु चार हाथ परिमाण को कहते हैं। इसी प्रकार की पट्टी से जो सूक्ष्म चूर्ण बालू से वा बालू के समान राल आदि औषध से युक्त होवे, चिकित्सक घाव को बांध देवे कि रक्त बहने से ठहर जाये और घाव पुरकर सब नाड़ियां यथा नियम चलने लगें, मन प्रसन्न और शरीर पुष्ट हो।

(मध्यमाः) म० २। मध्यभवाः (साकम्) युगपत् (अन्ताः) अम गतौ-तन्। अन्तिमाः, अवशिष्टाः सर्वा नाड्यः (अरंसत) रमु क्रीडायाम्-लुङ्। यथापूर्वं रमन्ते स्म, चेष्टां कृतवत्यः ॥

४—(वः) युष्मान्, नाडीः (सिकतावती) पृषिरञ्जिभ्यां कित्। उ० ३। १११। इति षिक सेचने-अतच् टाप्। सेचनवती, कोमलस्वभावयुक्ता। बालुयुक्ता (धनूः) कृषिचमितनिधनिसर्जिखर्जिभ्य ऊः स्त्रियाम्। उ० १। ८०। इति धन धान्योत्पादने, रव च-ऊ। धनुः=चतुर्हस्तपरिमाणम्। तत्परिमाणवस्त्र-पट्टी (बृहती) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च। उ० २। ८४। इति बृह वृद्धौ-अति। ङीप्। महती (अक्रमीत्) क्रमु पादविक्षेपे-लुङ्। क्रा-

२—मनुष्य कुमार्ग गामिनी मनो वृत्तियों को रोक कर यत्न पूर्वक हानि पूरी करे, और लाभ के साथ अपनी वृद्धि करे और आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-४ ॥ द्रविणोदा ऋषिः ॥ सविता देवता । १, ४ अनुष्टुप्, २, ३ जगती ।

राजधर्मोपदेशः—राजा के लिये धर्म का उपदेश ॥

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं १ निररातिं सुवामसि ।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि ॥ १ ॥

निः । लक्ष्म्यम् । ललाम्यम् । निः । अरातिम् । सुवामसि । अथ । या । भद्रा । तानि । नः । प्र-जायै । अरातिम् । नयामसि ॥ १ ॥

भावार्थ—(ललाम्यम्=०—मीम्) [धर्म से] रुचि हटाने वाली (निर्लक्ष्म्यम्=०—क्ष्मीम्) अलक्ष्मी [निर्धनता] और (अरातिम्) शत्रुता को (निः सुवामसि=०-मः) हम निकाल देवें। (अथ) और (या=यानि) जो (भद्रा=भद्राणि) मंगल हैं (तानि) उन को (नः) अपनी (प्रजायै) प्रजा के लिये (अरातिम्) सुख न देने हारे शत्रु से (नयामसि=०—मः) हम लावें ॥ १ ॥

न्तवर्ती, व्यामवती (तिष्ठत) निवृत्तगतयो भवत (इलयत) इल गतौ। गच्छत, चेष्टध्वम् (कम्) सुखेन ॥

१—(निः+लक्ष्म्यम्) नॄ नये-क्विप् । ऋत इद्धातोः । पा० ७ । १ । १०० । इति धातोरिकारस्य इत् । इति निर् । लक्षेर्मुट् च । उ० ३ । १६० । इति लक्ष दर्शनाङ्कनयोः-ईप्रत्ययो मुडागमः । लक्ष्यते दृश्यते सा लक्ष्मीः । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति अमि पूर्वरूपाभावे । इको यणचि । पा० ६ । १ । ७७ । इति यण् आदेशः । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८।२।४ । इति यणः परतोऽनुदात्तस्य स्वरितत्वम् । निर्लक्ष्मीम्, अलक्ष्मीम्, निर्धनताम्, दुर्भाग्यताम् (ललाम्यम्) लल ईप्से-अच् । ततः । अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः । उ० ३ । १५८ । इति बाहुलकात्, अम रोगे, पीडने-ईप्रत्ययः । ललम् इच्छां शुभरुचिं आमयति नाशय-

भावार्थ—राजा अपने और प्रजा की निर्धनता और दुर्लक्षणों को मिटावे और शत्रु को दण्ड देकर प्रजा में आनन्द फैलावे ॥ १ ॥

सायण भाष्य में (लक्ष्म्यम्) के स्थान में [लक्ष्मम्] पाठ है ॥ १ ॥

निररणिं सविता साविषत् पदोर्निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा । निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषुः सौभगाय ॥ २ ॥

निः । अरणिम् । सविता । साविषत् । पदोः । निः । हस्तयोः । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । निः । अस्मभ्यम् । अनु-मतिः । रराणा । प्र । इमाम् । देवाः । असाविषुः । सौभगाय ॥ २ ॥

भावार्थ—(सविता) [सब का चलाने हारा] सूर्य [सूर्य रूप तेजस्वी], (वरुणः) सब के चाहने योग्य जल [जल समान शान्त स्वभाव], (मित्रः) चेष्टा

तीति ललामीः । पूर्ववत् यण् स्वरितत्वं च । ललामीम्, शुभरुचिनाशिनीम् । निर् । नॄ नयने-क्विप्, न दीर्घः । ऋत इद्धातोः । पा० ७ । १ । १०० । इति इकारः । बहिर्भावे । निश्चये (अरातिम्) क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति रा दाने-क्तिच् । यद्वा, रा-क्तिन् । न राति ददाति सुखम्, नञ्-समासः । सुखस्य अदातारम् शत्रुम् । शत्रुनाम्, दुष्टनाम् (नि+सुवामसि) षू प्रेरणे, तुदादिः-लट् । मस इदन्तत्वम् । व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । ८२ । इति उपसर्गस्य व्यवधानम् । निःसुवामः, निःसारयामः (अथ) अनन्तरम् । (भद्रा) ऋजेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति भदि कल्याणे-रन् । निपात्यते च । भद्राणि, मङ्गलानि (तानि) उदीरितानि भद्राणि (नः) अस्माकम्, स्वकीयायै (प्रजायै) उपसर्गे च संज्ञायाम् । पा० ३ । २ । ९९ । इति जनी प्रादुर्भावे-डप्रत्ययः । जनाय (अरातिम्) शत्रुम् । शत्रुसकाशात् (नयामसि) णीञ् प्रापणे, द्विकर्मकः । मस इदन्तत्वम् । प्रापयामः ॥

२—(निर्) म० १ । निश्चयेन । नितराम् । बहिर्भावे (अरणिम्) अर्तिसृधृ० । उ० २ । १०२ । ऋ हिंसने-अनि । आर्त्तिम्, पीडाम् (सविता)

देने हारा वायु [वायु समान वेगवान् उपकारी], (अर्यमा) श्रेष्ठों का मान करने हारा न्यायकारी राजा (अरणिम्) पीड़ा को (पद्भ्यः) दोनों पदों और (हस्तयोः) दोनों हाथों से (निः) निरन्तर (निः सावियत्) निकाल देवे। (रराणा) दानशीला (अनुमतिः) अनुकूल बुद्धि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (निः = निः साविषत्) [पीड़ा को] निकाल देवे, (देवाः) उदार चित्त वाले महात्माओं ने (इमाम्) इस [अनुकूल बुद्धि] को (सौभगाय) बड़े ऐश्वर्य के लिये (प्र असाविषुः) भेजा है॥२॥

भावार्थ—मन्त्रोक्त शुभ लक्षणों वाला राजा और प्रजा परस्पर हितबुद्धि से और शुभचिन्तक महात्माओं के सहाय से क्लेशों का नाश करके सब का ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ २ ॥

टिप्पणी—सायण भाष्य में (अरणिम्) के स्थान में [अरणीम्] है और बंबई गवर्नमेन्ट के पुस्तक में लिखे [साविषक्] के स्थान में सायण भाष्य में और अन्य दोनों पुस्तकों में (साविषत्) पद है, वही पाठ हमने रक्खा है। गवर्नमेन्ट पुस्तक में टिप्पणी है कि [साविषक्] शब्द शोध कर लिखा है, परन्तु यह अशुद्ध है क्योंकि अथर्व० ६। १। ३ में, ७। ७७। ७ में और ६। १५। ४ में (सविता साविषत्) पाठ है वही (सविता साविषत्) यहां भी शुद्ध है ॥

षूञ् प्रसवे प्रेरणे-तृच्। सविता सर्वस्य प्रसविता = उत्पादकः। निरु० १०। ३१। सर्वप्रेरकः सूर्यः (निः+साविषत्) षूञ् प्रेरणे—लेट्। निःसुवतु, निःसारयतु (पद्भ्यः) पद्दन्नोमास्० । पा० ६। १। ६३। इति पाद शब्दस्य पद् आदेशः। पादयोः सकाशात् (हस्तयोः) हसिमृग्रिण्वामि० । उ० ३। ८६। इति हस विनाशे—तन्। करयोः सकाशात् (वरुणः) १। ३। ३। वरणीयं जलम् (मित्रः) १। ३। ३। सर्वप्रेरको वायुः (अर्यमा) १। ११। १। अर्यान् श्रेष्ठान् मिमीते मानयतीति। न्यायकारी राजा (अनुमतिः) अनु+मन ज्ञाने—क्तिन्। सम्मतिः। अनुकूला, सहायिका बुद्धिः (रराणा) रा दाने—कानच्। दानशीला। (देवाः) पूज्याः, दातारः (प्र+असाविषुः) षूञ् प्रेरणे-लुङ्। प्रेरितवन्तः, दत्तवन्तः (सौभगाय) प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्। पा० ५। १। १२६। इति सुभग-भावे अञ्। ञित्यादिर्नित्यम्। पा० ६। १। १६७। इति आद्युदात्तः। सुभगत्वाय, शोभनैश्वर्याय ॥

यत् त॑ आत्मनि॑ त॒न्वां॑ घो॒रमस्ति॒ यद्वा॒ केशे॑षु प्रति॒चक्ष॑णे वा । सर्वं॒ तद् वा॒चाप॑ हन्मो व॒यं दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता सू॑दयतु ॥ ३ ॥

यत् । ते॒ । आ॒त्मनि॑ । त॒न्वा॑म् । घो॒रम् । अस्ति॑ । यत् । वा॒ । केशे॑षु । प्र॒ति॒ऽचक्ष॑णे । वा॒ । सर्व॑म् । तत् । वा॒चा । अप॑ । ह॒न्मः॒ । व॒यम् । दे॒वः । त्वा॒ । स॒वि॒ता । सू॒द॒य॒तु॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य] ! (यत्) जो कुछ (ते) तेरे (आत्मनि) आत्मा में और (तन्वाम्) शरीर में (वा) अथवा (यत्) जो कुछ (केशेषु) केशों में (वा) अथवा (प्रतिचक्षणे) दृष्टि में (घोरम्) भयानक (अस्ति) है । (वयम्) हम (तत् सर्वम्) उस सब को (वाचा) वाणी से [विद्याबल से] (अप) हटाकर (हन्मः) मिटाये देते हैं । (देवः) दिव्य स्वरूप (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर (त्वा) तुझ को (सूदयतु) अंगीकार करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य अपने आत्मिक और शारीरिक दुर्गुणों और दुर्लक्षणों को विद्वानों के उपदेश और सत्सङ्ग से छोड़ देता है, परमेश्वर उसे अपना करके अनेक सामर्थ्य देता और आनन्दित करता है ॥ ३ ॥

३—(आत्मनि) सातिभ्यां मनिन्मनिणौ । उ० ४ । १५३ । इति अत सातत्यगमने—मनिण् । अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोतीति आत्मा । स्वभावे, मनसि, जीवे (तन्वाम्) १ । १ । १ । शरीरे, देहे (घोरम्) हन्तेरच् घुर् च । उ० ५ । ६४ । इति हन वधे—अच् घुरादेशः । हन्ति विनाशयतीति । भयंकरं दुर्लक्षणम् (केशेषु) के मस्तके शेते । शीङ् शयने—अच् । अलुक्समासः । अथवा । क्लिशेरन् लो लोपश्च । उ० ५ । ३३ । इति क्लिश उपतापे—अन्, ल लोपः । वालेषु, शिरोरुहेषु (प्रति-चक्षणे) चष्टे, पश्यतिकर्मा—निघ० ३ । ११ । चक्षिङ् कथने, दर्शने च—करणे ल्युट् । दर्शनसाधने चक्षुषि (वाचा) १ । १ । १ । वाण्या । सरस्वतीद्वारा । विद्याद्वारा (अप) वर्जयित्वा (हन्मः) नाशयामः (वयम्) उपासकाः (त्वा) त्वाम् आत्मानम् (सविता) सर्वप्रेरकः । सर्वपिता परमात्मा (सूदयतु) षूद आश्रुतिहत्योः—लोट्, आश्रुतिरङ्गीकारः । आशृणोतु, अङ्गीकरोतु ॥

रि॒श्य॑पदीं॒ वृष॑दतीं॒ गो॒षे॒धां वि॑ध॒माम् उ॒त ।
वि॒ली॒ढ्यं॑ ल॒ला॒म्यं॑ १ ता अ॒स्मन्ना॑शयामसि ॥ ४ ॥

रि॒श्य॑-पदीम् । वृष॑-दतीम् । गो॒-से॒धाम् । वि॒-ध॒माम् । उ॒त ।
वि॒ऽली॒ढ्य॑म् । ल॒ला॒म्य॑म् । ताः । अ॒स्मत् । ना॒श॒या॒म॒सि ॥४॥

भाषार्थ—(रिश्यपदीम्) हरिण के समान [बिना जमाये शीघ्र] पद की चेष्टा, (वृषदतीम्) बैल के समान दांत चबाना, (गोषेधाम्) बैल की सी चाल, (उत) और (विधमाम्) बिगड़ी भाथी [धोंकनी] के समान श्वास क्रिया, (ललाम्यम्=०-मीम्) रुचि नाश करने हारी (विलीढ्यम्=०-ढम्) चाटने की बुरी प्रकृति, (ताः) इन सब [कुचेष्टाओं] को (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि=०-मः) हम नाश करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष मनुष्य स्वभाव से विरुद्ध कुचेष्टाओं को छोड़ कर विद्वानों के सत्सङ्ग से सुन्दर स्वभाव बनावें और मनुष्य जन्म को सुफल करके आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में (रिश्यपदीम्) के स्थान में (ऋष्यपदीम्) पाठ है। और जो (विलीढ्यम, ललाम्यम्) पदों का नपुंसक लिङ्ग माना है वह

४—(रिश्य-पदीम्) रिश हिंसे-क्यप् । रिश्यते हिंस्यते—इति रिश्यः, मृगः । पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः । पा० ५ । ४ । १३८ । इति पादस्य अन्त्यलोपः । पादोऽन्यतरस्याम् । पा० ४ । १ । ८ । इति ङीप्, भसंज्ञायां । पादः पत् । पा० ६ । ४ । १३० । इति पद्भावः । हरिणपदवत् गतिं कुचेष्टाम् (वृष-दतीम्) अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च । पा० ५ । ४ । १४५ । इति दन्त शब्दस्य दतृ आदेशः । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । वृषदन्तवत् क्रियायुक्तां कुचेष्टाम् (गो-सेधाम्) षिधु गत्याम्-पचाद्यच् । टाप् । वृषभवद् गतिं चेष्टाम् (वि-धमाम्) वि विकृतौ । ध्मा, धम वा, दीर्घश्वासहेतुके शब्दभेदे-अच् । टाप् । विधमावद् विकृतभस्त्रावत् श्वासक्रियाम् (विलीढ्यम्) वि विकृतौ + लिह आस्वादने । क्त । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति अमि पूर्वरूपाभावे । इको यणचि । पा० ६ । १ । ७७ । इति यण् आदेशः । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति यणः परतोऽनुदात्तस्य स्वरितः ।

अशुद्ध है क्योंकि मन्त्र में (ताः) स्त्रीलिङ्ग सर्वनाम होने से ऊपर के सब छह पद स्त्रीलिङ्ग हैं ॥

सूक्तम् १६ ॥

१-४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । इन्द्रो देवता ॥ जयन्यायौ । १, २, ४ अनुष्टुप्, ३ पंक्तिः ।

जयन्यायोपदेशः—जय और न्याय का उपदेश ॥

मा नो॑ विदन् विव्या॒धिनो॒ मो अ॑भिव्या॒धिनो॑ विदन् ।
आ॒राच्छ॑र॒व्या॑ अ॒स्मद् विषू॑चीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥

मा । नः॒ । वि॒दन् । वि॒-व्या॒धिनः॑ । मो इति॑ । अ॒भि॒-व्या॒धिनः॑ । वि॒दन् । आ॒रात् । श॒र॒व्याः॑ । अ॒स्मत् । विषू॑चीः । इ॒न्द्र॒ । पा॒त॒य॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(विव्याधिनः) अत्यन्त बेधने हारे शत्रु (नः) हम तक (मा विदन्) न पहुंचें, और (अभिव्याधिनः) चारों ओर से मारने हारे (मो विदन्) कभी न पहुंचें । (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजन् (विषूचीः) सब ओर फैले हुए (शरव्याः) बाण समूहों को (अस्मत्) हम से (आरात्) दूर (पातय) गिरा ॥१॥

त्रिलीढिम्, विकृतास्वादनचेष्टाम् (ललाम्यम्) म० १ । ललामीम्, रुचि-नाशिनीम् (ताः) पूर्वोक्ताः कुचेष्टाः (नाशयामसि) णश अदर्शने—णिच् । मस इदन्तत्वम् । नाशयामः, दूरीकुर्मः ॥

१—(नः) अस्मान् (मा+विदन्) विद्लृ लाभे, माङि लुङि । न माङ्योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । इति अडभावः । मा लभन्ताम् (विव्याधिनः) सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । पा० ३ । २ । ७८ । इति वि+व्यध ताडने-णिनिः । विशेषेण छेदकाः, धनुर्धराः (मो) मा+उ । मैव (अभि-व्याधिनः) पूर्ववद् णिनिः । आघातकाः, सर्वतो हननकर्तारः (मो विदन्) मैव प्राप्नुवन्तु स्पृशन्तु (आरात्) दूरदेशे (शरव्याः) शॄस्वृस्निहित्रप्यसि० । उ० १ । १० । इति शॄ हिंसे-उ प्रत्ययः । उगवादिभ्यो यत् । पा० ५ । १ । २ । इति शरु-यत् समूहार्थे । ओर्गुणः । पा० ६ । ४ । १४६ । इति गुणः । वान्तो यि प्रत्यये ।

भावार्थ—सर्वरक्षक जगदीश्वर पर पूर्ण श्रद्धा करके चतुर सेनापति अपनी सेना को रणक्षेत्र में इस प्रकार खड़ा करे कि शत्रु लोग पास न आसकें और न उनके अस्त्र शस्त्रों के प्रहार अपने किसी के लगें ॥ १ ॥

विष्वंञ्चो अस्मच्छरंवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः ।
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत ॥ २ ॥

विष्वंञ्चः । अस्मत् । शरंवः । पतन्तु । ये । अस्ताः । ये । च । आस्याः । दैवीः । मनुष्य-इषवः । ममं । अमित्रान् । वि । विध्यत ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो बाण (अस्ताः) छोड़े गये हैं (च) और (ये) जो (आस्याः) छोड़े जायेंगे, (विष्वञ्चः) [वे] सब ओर फैले हुये (शरवः) बाण (अस्मत्) हम से [दूर] (पतन्तु) गिरें । (दैवीः मनुष्येषवः) हे [हमारे] मनुष्यों के दिव्य बाणो ! [बाण चलाने वाले तुम] (मम) मेरे (अमित्रान्) पीड़ा देने हारे शत्रुओं को (वि विध्यत) छेद डालो ॥ २ ॥

पा० ६ । १ । ७६ । इति अय् आदेशः । नित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । ८५ । इति स्वरितः । शरुसमूहान् शरसंहतीः (अस्मत्) अन्यारादितरर्ते० । पा० २ । । २९ । इति आरात् योगे पञ्चमी । अस्मत्तः (विषूचीः) ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिग्-गुष्णिगञ्चु० । पा० ३ । २ । ५९ । इति विषु+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । अनिदिताम्० । पा० ६ । ४ । २४ । इति नलोपः । अञ्चतेश्चोपसंख्यानम् । वा० पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । इति अकारलोपे । चौ । पा० ६ । ३ । १३८ । इति दीर्घः । विष्वक् नानामुखम् अञ्चनशीलाः । सर्वत्रव्यापिनीः (इन्द्र) हे परमेश्वर (पातय) पत-णिच् । प्रक्षिप ॥

२—(विष्वञ्चः) म० १ । विषु+अञ्चु-क्विन् । विविधगमनाः (शरवः) म० १ । शॄस्वृस्निहि । उ० १ । १० । इति शॄ हिंसायाम् -उ । बाणाः । अस्त्रशस्त्राणि (पतन्तु) निपतन्तु अधोगच्छन्तु (अस्ताः) असु क्षेपणे—क्त । क्षिप्ताः, विनिर्मुक्ताः (आस्याः) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति असु क्षेपणे-ण्यत् । क्षेपणीयाः (दैवीः) देवाद् यञञौ । वार्त्तिकम्, पा०

भावार्थ—सेनापति इस प्रकार अपनी सेना का व्यूह करे कि शत्रुओं के अस्त्र शस्त्र जो चल चुके हैं अथवा चलें वे सेना के न लगें और उस निपुण सेनापति के योद्धाओं के (दैव्याः) दिव्य अर्थात् आग्नेय [अग्निबाण] और वारुणेय [जलबाण जो बन्दूक आदि जल में वा जल से छोड़े जावें] अस्त्र शत्रुओं को निरन्तर छेद डालें ॥ २ ॥

इस मन्त्र में वर्तमान काल का अभाव है क्योंकि वह अति सूक्ष्म और वेगवान् है और मनुष्यों को अगम्य है ॥

यो नः॒ स्वो यो अर॑णः सजा॒त उ॒त निष्ट्यो॒ यो अ॒स्माँ अ॒भि॒दास॑ति । रु॒द्रः श॑र॒व्य॑यै॒तान् म॑मा॒मित्रा॒न् वि वि॑ध्यतु ॥ ३ ॥

यः । नः॒ । स्वः । यः । अर॑णः । स॒ऽजा॒तः । उ॒त । निष्ट्यः॑ । यः । अ॒स्मान् । अ॒भि॒ऽदास॑ति । रु॒द्रः । श॒र॒व्य॑या । ए॒तान् । मम॑ । अ॒मित्रा॑न् । वि । वि॒ध्य॒तु॒ ॥ ३ ॥

भावार्थ-(यः) जो (नः) हमारा (स्वः) जाति वाला अथवा (यः) जो (अरणः) न बोलने योग्य शत्रु वा विदेशी, अथवा (सजातः) कुटुम्बी (उत) अथवा

---

४ । १ । ८५ । इति देव-अञ्, देवस्य इयमित्यर्थे । टिड्ढाणञ्० पा० ४ । १ । १५ । इति ङीप् । वा छन्दसि पा० ६ । १ । १०६ इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः ञ्नित्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १९७ । इति आद्युदात्तः । दिव्याः । आग्नेयवारुणेया बाणाः (मनुष्य-इषवः) मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च । पा० ४ । १ । १६१ । इति मनु-यत् अपत्यार्थे, षुगागमश्च । मनोरपत्यम् मनुष्यः मनुजः, मानवः । इष गतौ-उ । इषुः, बाणः । मनुष्याणाम् अस्मदीयानाम् इषवः, बाणाः, अस्त्रशस्त्राणि (मम) मदीयान् (अमित्रान्) अमेर्द्विषति चित् । उ० ४ । १७४ । इति अम रोगे, पीडने-इत्रच् । पीडकान् शत्रून् (वि) विविधम् (विध्यत) व्यध ताडने वेधने-लोट् । छिन्त, भिन्त ॥

३-(स्वः) स्वन शब्दे-ड । ज्ञातिः (अरणः) वशिरण्योरप्युपसंख्यानम् । वार्त्तिकम्, पा० ३ । ३ । ५८ । इति रण शब्दे—कर्मणि अप् । नञ् समासः ।

(यः) जो (निष्ट्यः) वर्णसङ्कर नीच (अस्मान्) हम पर (अभिदासति) चढ़ाई करे (रुद्रः) शत्रुओं को रुलाने वाला महा शूर वीर सेनापति (शरव्यया) बाणों के समूह से (मम) मेरे (एतान्) इन (अमित्रान्) पीड़ा देने हारे बैरियों को (विविध्यतु) छेद डाले ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को अपने और पराये का पक्षपात छोड़ कर दुष्टों को यथोचित दण्ड देकर राज्य में शान्ति रखनी चाहिये ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध सू० ६। ७१। १६ में कुछ भेद से है ॥ ३ ॥

यः स॒पत्नो॒ योऽस॑पत्नो॒ यश्च॑ द्वि॒षन् छपा॑ति नः ।
दे॒वास्तं सर्वे॑ धूर्वन्तु॒ ब्रह्म॒ वर्म॒ ममान्त॑रम् ॥ ४ ॥

यः । स॒-पत्नः॑ । यः । असं॑पत्नः । यः । च॒ । द्वि॒षन् । शपा॑ति । नः॒ । दे॒वाः । तम् । सर्वे॑ । धूर्व॒न्तु॒ । ब्रह्म॑ । वर्म॑ । मम॑ । अन्त॑रम् ॥ ४ ॥

अरणीयः, असंभाष्यः । विदेशी जनः । शत्रुः (सजातः) १। ६। ३। समानजन्मा, स्वकुटुम्बी (निष्ट्यः) अव्ययात् त्यप् । पा० ४। २। १०४। अत्र । निसो गते । इति वार्तिकेन । निस्—त्यप् गतार्थे । ह्रस्वात् तादौ तद्धिते । पा० ८। ३। १०१। इति षत्वम् । निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो यः । चाण्डालः, म्लेच्छः (अस्मान्) आज्ञाकारिणो धार्मिकान् (अभिदासति) दसु उत्क्षेपे, लेट् । उत्क्षिपेत् (अस्माँ अभिदासति) दीर्घादटि समानपादे । पा० ८। ३। ६। इति संहितायां नकारस्य रुत्वम् । आतोऽटि नित्यम् । पा० ८। ३। ३। इति आकारस्य अनुनासिकः (रुद्रः) रोदेर्णिलुक् च । उ० २। २२। इति रुदिर् अश्रुविमोचने णयन्तात् रक् प्रत्ययः, णिलुक् च । रोदयति शत्रूनिति । महाशूरः सेनापतिः । (शरव्यया) म० १। पाशादिभ्यो यः । पा० ४। २। ४६। इति शरु—यप्रत्ययः समूहार्थे । ओर्गुणः । पा० ६। ४। १४६। इति गुणः । वान्तो यि प्रत्यये । पा० ६। १। ७६। इति अव् आदेशः । टाप् च् । इति शरव्या तया शरसंहत्या (अमित्रान्) म० २। हिंसकान् शत्रून् (विविध्यतु) म० २। विशेषेण छिनत्तु भिनत्तु ॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (सपत्नः) प्रतिपक्षी और (यः) जो (असपत्नः) प्रकट प्रतिपक्षी नहीं है (च) और (यः) जो (द्विषन्) द्वेष करता हुआ (नः) हमको (शपाति) कोसे [कोशे]। (सर्वे) सब (देवाः) विजयी महात्मा (तम्) उसको (धूर्वन्तु) नाश करें, (ब्रह्म) परमेश्वर, (वर्म) कवच रूप (मम) मेरे (अन्तरम्) भीतर है ॥ ४ ॥

भावार्थ—छान बीन करके प्रकट और अप्रकट प्रतिपक्षियों और अनिष्ट-चिन्तकों को (देवाः) शूरवीर विद्वान् महात्मा नाश कर डालें। वह परब्रह्म सर्वरक्षक, कवच रूप होकर, धर्मात्माओं के रोम रोम में भर रहा है वही आत्मबल देकर युद्ध क्षेत्र में सदा उनकी रक्षा करता है ॥ ४ ॥

मन्त्र का उत्तरार्ध ऋ० ६ । ७५ । १६ । है ॥

सूक्तम् २० ॥

१-४ ॥ अथर्वा ऋषिः । सोमो मरुतश्च देवताः । १ जगती, २—४ अनुष्टुप् ॥

शत्रुभ्यो रक्षणोपदेशः—शत्रुओं से रक्षा का उपदेश ॥

अदारसृद् भवतु देव सोमास्मिन् यज्ञे मरुतो मृडता नः । मा नो विदद्भिभा मो अशंस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥ १ ॥

अदार-सृत् । भवतु । देव । सोम । अस्मिन् । यज्ञे । मरुतः । मृडत । नः । मा । नः । विदत् । अभि-भाः । मो इति । अशंस्तिः । मा । नः । विदत् । वृजिना । द्वेष्या । या ॥ १ ॥

४—(सपत्नः) १ । ६ । २ । प्रतियोगी, शत्रुः (असपत्नः) अशत्रुः, अप्रकटशत्रुः (द्विषन्) द्विष अप्रीतौ-शतृ । द्वेषं कुर्वन् (शपाति) शप आक्रोशे-लेट् । शपेत् (देवाः) दीप्यमानाः । विजयिनः । शूराः (धूर्वन्तु) धुर्वी हिंसायाम् । हिंसन्तु नाशयन्तु (ब्रह्म) १ । १० । ४ । परमेश्वरः (वर्म) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति वृञ्-मनिन् वृणोति आच्छादयति शरीरमिति । तनुत्रम्, सर्वथा रक्षकम् (अन्तरम्) यदन्ते समीपे रमते । अन्त + रम-ड । अन्तरात्मा । आभ्यान्तरं मध्ये भवम् ॥

भाषार्थ-(देव) हे प्रकाश मय, (साम) उत्पन्न करने वाले परमेश्वर ! [वह शत्रु] (अदारसृत्) डर का न पहुंचाने वाला अथवा अपने स्त्री आदि के पास न पहुंचने वाला (भवतु) होवे, (मरुतः) हे [शत्रुओं के] मारने वाले देवताओ ! (अस्मिन्) इस (यज्ञे) पूजनीय काम में (नः) हम पर (मृडत) अनुग्रह करो। (अभिभाः) सन्मुख चमकती हुई, आपत्ति (नः) हम पर (मा विदत्) न आ पड़े, और (मो=मा उ) न कभी (अशस्तिः) अपकीर्ति और (या) जो (द्वेष्या) द्वेषयुक्त (वृजिना) पाप बुद्धि है [वह भी] (नः) हम पर (मा विदत्) न आ पड़े ॥१॥

भावार्थ—सब मनुष्य परमेश्वर के सहाय से शत्रुओं को निर्बल कर दें अथवा घर वालों से अलग रक्खें और विद्वान् शूरवीरों से भी सम्मति लेवें जिस से प्रत्येक विपत्ति, अपकीर्त्ति और कुमति हट जाय और निर्विघ्न अभीष्ट सिद्ध होवे ॥ १ ॥

मरुत् देवताओं के बिजुली आदि के विमान हैं, इस पर वैज्ञानिकों को विशेष ध्यान देना चाहिये-ऋग्वेद १ । ८८ । १ । म वर्णन है ॥

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैः रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः । आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः ॥ १ ॥

(मरुतः) हे शूर महात्माओ ! (विद्युन्मद्भिः) बिजुली वाले, (स्वर्कैः)

१—(अदारसृत्) दारजारौ कर्तरि णिलुक् च । वार्तिकम् । पा० ३ । ३ । २० । इति दॄ विदारणे-णिच्-घञ् । णिलुक् च । सृ गतौ-णिचि क्विप् । दारं दरं भयं सारयतीति दारसृत् । न दारसृत् अदारसृत् अभयप्रापकः, अहानिकरः । अथवा दारयन्ति दुःखानि विदारयन्ति यास्ताः स्त्रियः । स्त्र्यादिगृहस्थाः । दार + सृ क्विप् । अगृहगामी (देव) हे दीप्यमान ! (साम) १ । ६ । २ । हे सर्वोत्पादक परमेश्वर ! (यज्ञे) १ । ६ । ४ । पूज्यकर्मणि यागे, अध्वरे (मरुतः) मृग्रोरुतिः । उ० १ । ६४ । इति मृङ् प्राणत्यागे-उति । मारयन्ति नाशयन्ति दुष्टान् दुर्गन्धादिदुर्गुणान् वा ते मरुतः, देवाः । वायुः । ऋत्विजः-निघ० ३ । १८ । मरुत् हिरण्यनाम-निघ० १ । २ । हे शूरवीरा देवाः (मृडत) मृड सुखने-लोट् मृडयत, सुखयत (नः) अस्मान् [त्रिवारं वर्तते] (मा विदत्) १ । १६ । १ । विद्लृ

अच्छी ज्वाला वाले [वा अच्छे विचारों से बनाये गये], (ऋष्टिमद्भिः) दो-धारा तलवारों वाले [आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे चलाने की कलाओं वाले] (रथेभिः) रथों से (आ यात) तुम आओ, और (सुमायाः) हे उत्तम बुद्धि वाले ! (नः) हमारे लिये (वर्षिष्ठया) अति उत्तम (इषा) अन्न के साथ (वयः न) पक्षियों के समान् (आ पतत) उड़ कर चले आओ ॥

यो अ॒द्य सेन्यो॑ व॒धोऽघा॒यू॒नामु॒दीर॑ते ।

यु॒वं तं मि॑त्रावरुणाव॒स्मद्॑ यावयतं॒ परि॑ ॥ २ ॥

यः । अ॒द्य । सेन्यः॑ । व॒धः । अ॒घ॒ऽयू॒नाम् । उ॒त्ऽईर॑ते ।

यु॒वम् । तम् । मि॒त्रा॒व॒रु॒णौ॒ । अ॒स्मत् । य॒व॒य॒त॒म् । परि॑ ॥२॥

भाषार्थ—(अद्य) आज (अघायूनाम) बुरा चीतने वाले शत्रुओं की (सेन्यः) सेना का चलाया हुआ (यः) जो (वधः) शस्त्र प्रहार (उदीरते) उठ रहा है । (मित्रावरुणौ) हे [हमारे] प्राण और अपान (युवम्) तुम दोनों (तम्) उस [शस्त्र प्रहार] को (अस्मत्) हम लोगों से (परि) सर्वथा (यावयतम्) अलग रक्खो ॥ २ ॥

लाभे लुङ् । मा लभताम् , मा प्राप्नोतु (अभि-भाः) अभि, घर्षणे, आभिमुख्ये वा + भा दीप्तौ-क्विप् । अभिभूय भाति दीप्यते अभिभाः = अभिभूतिः-निरु० ८ । ४ । परोपद्रवः । आपत्तिः (मो) मा-उ । मैव (अशस्तिः) शंसु स्तुतौ-क्तिन् । अपकीर्त्तिः (वृजिना) वृजेः किच्च । उ० २ । ४७ । इति वृजी वर्जने-इनच् स च कित्, टाप् । यद्वा । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति वृजन-अस्त्यर्थे अच् टाप् च । वृजनं पापमस्यामस्तीति वृजना । वक्रा, कुटिला, पाप-बुद्धिः (द्वेष्या) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति द्विष अप्रीतौ-कर्मणि ण्यत् । द्वेषणीया, अप्रीता ॥

२—(अद्य) १ । १ । १ । वर्तमाने दिने (सेन्यः) भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति सेना-यत् । सेनायां भवः (वधः) हनश्च वधः पा० ३ । ३ । ६७ । इति हन हिंसागत्योः—अप्, वधादेशः । हननसाधनः, शस्त्रप्रहारः (अघा-

भावार्थ-(मित्रावरुणौ) का अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती ने [य० २।३] प्राण और अपान किया है। जो वायु शरीर के भीतर जाता है वह प्राण और जो बाहिर निकलता है वह अपान कहाता है। जिस समय युद्ध में शत्रु सेना आ दबावे उस समय अपने प्राण और अपान वायु को यथायोग्य सम रखकर और सचेत होकर शरीर में बल बढ़ाकर सैन्यक लोग युद्ध करें, तो शत्रुओं पर शीघ्र जीत पावें॥

२—श्वास के साधने से मनुष्य स्वस्थ और बलवान् होते हैं॥

३—प्राण और अपान के समान उपकारी और बलवान् होकर योद्धा लोग परस्पर रक्षा करें॥

इ॒तश्च॒ यद॒मुत॑श्च॒ यद्व॒धं व॑रुण यावय।
वि म॒हच्छर्म॑ यच्छ॒ वरी॑यो यावया व॒धम्॥ ३॥

इ॒तः। च॒। यत्। अ॒मुतः॑। च॒। यत्। व॒धम्। व॒रु॒ण॒। य॒व॒य॒। वि। म॒हत्। शर्म॑। य॒च्छ॒। वरी॑यः। य॒व॒य॒। व॒धम्॥ ३॥

भाषार्थ—(वरुण) हे सब में श्रेष्ठ, परमेश्वर! (इतः च) इस दिशा से (च) और (अमुतः) उस दिशा से (यत् यत्) प्रत्येक (वधम्) शत्रु

यूनाम्) अघ पापकरणे-अच्। अघम्, पापम्। सुप आत्मनः क्यच्। पा० ३। १। ८। इत्यत्र। छन्दसि परेच्छायामपि वक्तव्यम्। वार्त्तिकम्। इति अघ-क्यच्। क्याच् छन्दसि। पा० ३। २। १७०। इति उप्रत्ययः। अश्वाघस्यात्। पा० ७। ४। ३७। इति आत्वम्। पापेच्छूनाम्। दुराचारिणाम् (उत्-ईरते) ईर गतौ उद्गच्छति, उत्तिष्ठति (युवम्) युवाम् (मित्रावरुणौ) १। ३। २, ३। मित्रश्च वरुणश्च। देवता द्वन्द्वे च। पा० ६। ३। २६। इति पूर्वपदस्य आनङ् आदेशः। प्राणापानौ (यावयतम्) यु मिश्रणामिश्रणयोः—णयन्तात् लोट्। वियोजयतम्, पृथक् कुरुतम्॥

३—(इतः) पञ्चम्यास्तसिल्। पा० ५। ३। ७। इति इदम्—तसिल्। अस्मात् स्थानात् (अमुतः) अदस्—तसिल् पूर्ववत्। तस्माद् देशात् (यत् यत्) इति अव्ययद्वयम्। प्रत्येकं वधं यः कश्चिद् भवेत् इत्यर्थे (वधम्)

प्रहार को (यावय) हटा दे । (महत्) [अपनी] बड़ी (शर्म) शरण को (वि) अनेक प्रकार से (यच्छ) [हमें] दान कर, और (वधम्) [शत्रुओं के] प्रहार को (वरीयः) बहुत दूर (यावय) फेंक दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो सेनापति ईश्वर पर विश्वास करके अपनी सेना को प्रयत्नपूर्वक शत्रु के प्रहार से बचाता और उन में वैरों को जीतने का उत्साह बढ़ाता है। वह शूरवीर जीत पाकर आनन्द पाता है ॥ ३ ॥

मन्त्र का पिछला आधा ऋ० १० । १५२ । ५ । का दूसरा आधा है, वहां (महत्) के स्थान में [मन्योः] शब्द है ॥

शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः ।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ॥ ४ ॥

शासः । इत्था । महान् । असि । अमित्र-सहः । अस्तृतः ।
न । यस्य । हन्यते । सखा । न । जीयते । कदा । चन ॥४॥

भाषार्थ—(इत्था) सत्य सत्य (महान्) बड़ा (शासः) शासनकर्ता (अमित्रसहः) शत्रुओं को हराने हारा और (अस्तृतः) कभी न हारने हारा (असि) तू है । (यस्य) जिस का (सखा) मित्र (कदा चन) कभी भी (न) न (हन्यते) मारा जाता है और (न) न (जीयते) जीता जाता है ॥ ४ ॥

म० २ । शस्त्रप्रहारम् (वरुण) १ । ३ । ३ । हे वरणीय, परमेश्वर ! (यावय) म० २ । वियोजय (महत्) १ । १० । ४ । विपुलं विस्तीर्णम् (शर्म) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति शॄ हिंसायाम्—मनिन् । स्वशरणम्, सुखम् (वि) विशेषेण (यच्छ) पाघ्राध्मास्थाम्ना० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति दाण्—दाने-यच्छादेशः । देहि (वरीयः) २ । २ । २ । उरुतरम् विस्तीर्णतरम्, दूरतरम् ॥

४—(शासः) नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति शासु अनुशिष्टौ-पचाद्यच् । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । शासकः, नियन्ता, वरुणः (इत्था) सत्यनाम-निघ० ३ । १० । सत्यम् । (महान्) १ । १० । ४ । सर्वोत्कृष्टः (महाँअसि) इत्यत्र संहितायाम् ।

भावार्थ—वह परमात्मा (वरुण) सर्व शक्तिमान् शत्रुनाशक है इस प्रकार श्रद्धा करके जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक, आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक बल बढ़ाते रहते हैं वह ईश्वर के भक्त दृढ़ विश्वासी अपने शत्रुओं पर सदा जय प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १५२ । १ में है ॥

सूक्तम् २१ ॥

१-४ ॥ अथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ८×४ अक्षराणि ॥

राजनीतिस्वस्तिस्थापनोपदेशः—राजनीति और शान्ति स्थापन का उपदेश ॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥ १ ॥

स्वस्ति-दाः । विशाम् । पतिः । वृत्र-हा । वि-मृधः । वशी । वृषा । इन्द्रः । पुरः । एतु । नः । सोम-पाः । अभयम्-करः ॥१॥

भावार्थ—(स्वस्तिदाः) मंगल का देने हारा, (विशाम्) प्रजाओं का (पतिः) पालने हारा (वृत्रहा) अन्धकार मिटाने हारा (विमृधः) शत्रुओं

दीर्घादटि समानपादे । पा० ८ । ३ । ९ । इति नकारस्य रुत्वम् । आतोऽटि नित्यम् । पा० ८ । ३ । ३ । इति अकारस्य अनुनासिकः (अमित्र-सहः) अमेर्द्विषति चित् । उ० ४ । १७४ । इति अम रोगे पीडने-इत्रच् । षह अभिभवे—पचाद्यच् । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । अमित्राणां शत्रूणां सोढा, अभिभविता (अस्तृतः) स्तृञ् हिंसायाम्-कर्मणि क्त । अहिंसितः (न) निषेधे (यस्य) वरुणस्य (हन्यते) सार्वधातुके यक् । पा० ३ । १ । ६७ । इति कर्मणि यक् । हिंस्यते । अभिभूयते (सखा) समाने ख्यः स चोदात्तः । उ० ४ । १३७ । इति समान+ख्या प्रसिद्धौ कथने च-इन् । टिलोपयलोपौ समानस्य सभावश्च । अनङ् सौ । पा० ७ । १ । ९३ । इति अनङ् । मित्रम्, सुहृद् (जीयते) जि जये-पूर्ववद् यक् । अभिभूयते (कदा) कस्मिन् काले (चन) अपि ॥

१—(स्वस्तिदाः) साक्सेः । उ० ४ । १८१ । इति सु+अस सत्तायाम्-

को (वशी) वश में करने हारा (वृषा) महा बलवान् (सोमपाः) अमृत रस का पीने हारा (अभयंकरः) अभय दान करने हारा (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (नः) हमारे (पुरः) आगे आगे (एतु) चले ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य मन्त्रोक्त गुणों से युक्त राजा को अपना अगुआ बनाते हैं, वे अपने सब कामों में विजय पाते हैं ॥

२—वह जगदीश्वर सब राजा महाराजाओं का लोकाधिपति है उस को अपना अगुआ समझकर सब मनुष्य जितेन्द्रिय हों ॥ १ ॥

इस सूक्त में ऋग्वेद १० । १५२ । मन्त्र २—५ कुछ भेद के साथ हैं ॥

तिप्रत्ययः । ततः । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति दुदाञ् दाने—क्विप् । समासस्य । पा० ६ । १ । २२३ । इति अन्तोदात्तः । क्षेमप्रदः (विशाम्) विश प्रवेशे—क्विप् । विशः, मनुष्याः—निघ० २ । ३ । प्रजानाम् मनुष्याणाम् । (पतिः) १ । १ । १ । पालकः, स्वामी (वृत्र-हा) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । इति वृञ् वर्तने-रक् । इति वृत्रः, अन्धकारः । शत्रुः । ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् । पा० ३ । २ । ८७ । इति हन हिंसागत्योः-क्विप् शत्रुनाशकः । अन्धकार-निवारकः (वि-मृधः) वि + मृध हिंसायाम्—क्विप् । विशेषेण हिंसकान् । शत्रून् । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः । पा० २ । ३ । ७० । इति (वशी) शब्देन सह द्वितीया, यथा (मां कामिन्यसः) १ । ३४ । ५ (वशी) वशोऽस्त्यस्य । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति वश आयत्तत्वे, स्पृहायाम्—इनि । वश-यिता (वृषा) १ । १२ । १ । सुखस्य वर्षयिता, महाबली (इन्द्रः) १ । ७ । ३ । परमेश्वरः । राजा । जीवः (पुरः) पुरस्तात्, अग्रे (एतु) इण्—गतौ । गच्छतु, अग्रगामी भवतु (सोम-पाः) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । सोम + पा पाने—विच् । सोमस्य अमृतरसस्य पानशीलः । (अभयम्-करः) मेघर्तिभयेषु कृञः । पा० ३ । २ । ४३ । उपपदविधौ भयादि-ग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयति । इति वार्त्तिकेन । अभय + कृञ्-खच् । अरुर्द्वि-षदजन्तस्य मुम् । पा० ६ । ३ । ६७ इति मुम् आगमः । अभयस्य रक्षणस्य जयस्य कर्ता ॥

वि न॑ इन्द्र मृधो॑ जहि नी॒चो य॑च्छ पृतन्य॒तः ।
अ॒ध॒मं ग॑मया॒ तमो॒ यो अ॒स्माँ अ॑भि॒दास॑ति ॥ २ ॥

वि । नः॒ । इ॒न्द्र॒ । मृधः॑ । ज॒हि॒ । नी॒चा । य॒च्छ॒ । पृ॒त॒न्य॒तः ।
अ॒ध॒मम् । ग॒म॒य॒ । तमः॑ । यः । अ॒स्मान् । अ॒भि॒ऽदास॑ति ॥२॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्! (नः) हमारे (मृधः) शत्रुओं को (वि जहि) मार डाल, (पृतन्यतः) और सेना चढ़ाकर लानेहारों को (नीचा) नीचे करके (यच्छ) रोक दे। (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) हानि पहुंचावे उसको (अधमम्) नीचे (तमः) अन्धकार में (गमय) पहुंचा दे ॥२॥

भावार्थ—१, न्यायशील, प्रतापी राजा अन्यायी दुराचारियों को परमेश्वर के दिये हुये बल से सब प्रकार परास्त करके दृढ़ बन्धीगृह में डाल दे ॥

२—महाबली परमेश्वर को हृदयस्थ समझ कर सब मनुष्य अपनी कुवृत्तियों का दमन करें ॥ २ ॥

वि रक्षो॒ वि मृधो॑ जहि॒ वि वृ॒त्रस्य॒ हनू॑ रुज ।
वि म॒न्युमि॑न्द्र वृत्रहन्न॒मित्र॑स्याभि॒दास॑तः ॥ ३ ॥

वि । रक्षः॑ । वि । मृधः॑ । ज॒हि॒ । वि । वृ॒त्रस्य॑ । हनू॒ इति॑ । रु॒ज॒ ।
वि । म॒न्युम् । इ॒न्द्र॒ । वृ॒त्र॒ऽह॒न् । अ॒मित्र॑स्य । अ॒भि॒ऽदास॑तः ॥३॥

२—(वि) विविधम् (मृधः) म० १। मृध हिंसायाम्-क्विप्। मर्धयितॄन्, हिंसकान्, शत्रून् (जहि) १।८।३। नाशय (नीचा) सुपां सुलुक्०। पा० ७।१।३९। नीचैः शब्दात् सुपो डा प्रत्ययः, डित्वात् टिलोपः। नीचैः। (यच्छ) १।१।३। नियमय, न्यग्भूतान् कुरु (पृतन्यतः) सुप आत्मनः क्यच्। पा० ३।१।८। इति पृतना—क्यच्। कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः। पा० ७।४।३९। इति अकार लोपः। तदन्तस्य धातुसंज्ञायां लटः शतृ। युद्धार्थं पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छतः शत्रून् (अधमम्) अधस्+मप्रत्ययः, अन्त्यलोपः। अतिनीचं। निकृष्टम् (गमय) गम्लृ णिचि—लोट्, द्विकर्मकः। प्रापय तं शत्रुम् (तमः) तमिर् खेदे—असुन्। अन्धकारम् (अस्मान्, अभिदासति) व्याख्यातम्, १।१९।३॥

भाषार्थ—(रक्षः=रक्षांसि) राक्षसों और (मृधः) हिंसकों को (वि वि) सर्वथा (जहि) तू मार डाल, (वृत्रस्य) शत्रु के (हनू) दोनों जावड़ों को (वि रुज) तोड़ दे, (वृत्रहन्) हे अन्धकार मिटाने हारे (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (अभिदासतः) चढ़ाई करने हारे (अमित्रस्य) पीड़ाप्रद शत्रु के (मन्युम्) कोप को (वि=वि रुज) भंग कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—१, राजा को पुरुषार्थी हो कर शत्रुओं का नाश करके और प्रजा में शान्ति फैलाकर आनन्द भोगना चाहिये ॥

२—सर्वरक्षक परमेश्वर के प्रताप से मनुष्य अपने बाहिरी और भीतरी शत्रुओं को निर्बल करें ॥ ३ ॥

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् ।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

अप । इन्द्र । द्विषतः । मनः । अप । जिज्यासतः । वधम् ।
वि । महत् । शर्म । यच्छ । वरीयः । यवय । वधम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् (द्विषतः) वैरी के (मनः) मन को (अप=अपकृत्य) तोड़कर, और (जिज्यासतः) [हमारी] आयु की हानि

३—(रक्ष) रक्ष पालने-असुन् । रक्षो रक्षितव्यमस्मात्-निरु० ४ । १८ । जातावेकवचनम् । राक्षसम् । शत्रुम् (वि) विशेषण, सर्वथा (मृधः) म० २ । मर्धयितॄन्, हिंसकान् (जहि) म० २ । नाशय (वृत्रस्य) म० १ । शत्रोः । (हनू) शॄस्वृस्निहि० । उ० १ । १० । इति हन वधे—उ प्रत्ययः । हन्ति कठोर-द्रव्यादिकमिति हनुः । कपोलद्वयोपरिमुखभागौ (रुज) रुजो भङ्गे तुदादिः । भङ्ग्धि । विदारय (वि) विरुज (मन्युम्) १ । १० । १—क्रोधं, कोपम् (वृत्र-हन्) म० १ । हे अन्धकारनाशक ! (अमित्रस्य) १ । १६ । २ । पीडकस्य, शत्रोः (अभि-दासतः) दसु उत्क्षेपे-शतृ । उपक्षपयतः, उत्क्षेपणशीलस्य ॥

४—(अप) अपाकृत्य, तिरस्कृत्य (द्विषतः) द्विष अप्रीतौ-शतृ । अप्रीति-

चाहने हारे शत्रु के (वधम्) प्रहार को (अप=अपकृत्य) छिन्न भिन्न करके (महत् शर्म) [अपना] विस्तीर्ण शरण (वि यच्छ) [हमें] दान कर, और (वधम्) [शत्रु के] प्रहार को (वरीयः) बहुत दूर (यावय) फेंक दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के विश्वास से मनुष्य अपने पुरुषार्थ और बुद्धि बल से शत्रु को निरुत्साही करके विजयी होवें ॥ ४ ॥

टिप्पणी—पिछले आधे मन्त्र के लिये १ । २० । ३ । देखो ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

करस्य शत्रोः (मनः) १ । १ । २ । अन्तःकरणं हृदयम् आत्मबलम् (जिज्यामतः) धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायाम् । पा० । पा० ३ । १ । ७ । इति ज्या वयोहानौ—सन् प्रत्ययः । सन्यङोः । पा० ६ । १ । ९ । इति द्विर्वचने हलादिः शेषे ह्रस्वे च कृते । सन्यतः । पा० ७ । ४ । ७८ । इति अभ्यासाकारस्य इत्वम् । सन्नन्तस्य धातुसंज्ञायां लटः शतृ । वयोहानिमिच्छतः, अस्मान् जेतुमिच्छतः पुरुषस्य (वधम्) १ । २० । १ । प्रहारम् । अन्यद् व्याख्यातम् । १ । २० । ३ ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

—०:०:०—

सूक्तम् २२ ॥

१–४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । सूर्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग नाश के लिये उपदेश ॥

अनु सूर्य्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते ।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥

अनु । सूर्यम् । उत् । अयताम् । हृत्ऽद्योतः । हरिमा । च । ते ।
गोः । रोहितस्य । वर्णेन । तेन । त्वा । परि । दध्मसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (हृद्-द्योतः) हृदय की सन्ताप [चमक] (च) और (हरिमा) शरीर का पीलापन (सूर्यम् अनु) सूर्य के साथ साथ (उद् अयताम्) उड़ जावे । (रोहितस्य) निकलते हुये लाल रंग वाले (गोः) सूर्य के (तेन) प्रसिद्ध (वर्णेन) रंग से (त्वा) तुझ को (परि) सब प्रकार से (दध्मसि) हम पुष्ट करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रातः और सायं काल सूर्य की किरणें तिरछी पड़ने से रक्त वर्ण दीखती हैं, और वायु शीतल, मन्द, सुगन्ध चलता है । उस समय मानसिक और शारीरिक रोगी को सद्वैद्य वायु सेवन और ओषधि सेवन करावें,

१—(अनु) अनुर्लक्षणे । पा० १ । ४ । ८४ । लक्षणेऽर्थे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । पा० २ । ३ । ८ । इति सूर्य शब्दस्य द्वितीया । लक्षीकृत्य (सूर्यम्) १ । ३ । ५ । लोकप्रेरकम् । आदित्यम् (उत् +

जिस से वह स्वस्थ हो जाये और रुधिर के संचार से उस का रंग रक्त सूर्य के समान लाल चमकीला हो जाये ॥ १ ॥

१—(गौः) सूर्य है वह रसों को ले जाता [और पहुंचाता] है, और अन्तरिक्ष में चलता है–निरु० २ । १४ ॥

२—मनु महाराज ने भी दो सन्ध्याओं का विधान [स्वस्थता के लिये] किया है–मनु, अ० २ श्लो० १०१ ॥

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १ ॥

प्रातःकाल की संध्या में गायत्री को जपता हुआ सूर्य दर्शन होने तक स्थित रहे और सायंकाल की सन्ध्या में तारों के चमकने तक बैठा हुआ ठीक ठाक जप करे ॥

परि॑ त्वा॒ रोहि॑तै॒र्वर्णै॑र्दीर्घायु॒त्वाय॑ दध्मसि ।
यथा॒यम॑र॒पा अस॒दथो॒ अह॑रितो॒ भुव॑त् ॥ २ ॥

परि॑ । त्वा॒ । रोहि॑तैः । वर्णैः॑ । दी॒र्घा॒यु॒ऽत्वाय॑ । द॒ध्म॒सि॒ । यथा॑ । अ॒यम् । अ॒र॒पाः । अस॑त् । अथो॒ इति॑ । अह॑रितः । भुव॑त् ॥ २ ॥

अयताम्) अय गतौ । अनुदात्तत्वाद् आत्मनेपदम् । उद्गच्छतु, विनश्यतु, इति यावत् (हृद्-द्योतः) द्युत दीप्तौ—भावे घञ् । हृदयस्य सन्तापः (हरिमा) वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च । पा० ५ । १ । १२३ । इति हरित्—भावे इमनिच् । यचि भम् । पा० १ । ४ । १८ । इति भसंज्ञायाम् । टेः । पा० ६ । ४ । १४३ । इति टिलोपः । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । कामिलादिरोगजनितः शारीरो हरिद्वर्णः (गोः) पुंलिङ्गम् । गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । गम्लृ गतौ–डो । गौरादित्यो भवति गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षे—इति भगवान् यास्कः–निरु० २ । १४ । आदित्यस्य, सूर्यस्य (रोहितस्य) रुहेरश्च लो वा । उ० ३ । ९४ । इति रुह जन्मनि प्रादुर्भावे च–इतन् । प्रादुर्भूतस्य, उदितस्य । प्रभातकाले रक्तवर्णस्य (वर्णेन) वर्ण शुक्लादिवर्णकरणे दीपने च—घञ् । रागेण, रञ्जनेन । रूपेण (दध्मसि) दध्मः पोषयामः ॥

भाषार्थ—(रोहितैः) लाल (वर्णैः) रंगों के साथ (त्वा) तुझ को (दीर्घायुत्वाय) चिर काल जीवन के लिये (परि) सब प्रकार से (दध्मसि) हम पुष्ट करते हैं। (यथा) जिस से (अयम्) यह (अरपाः) नीरोग (असत्) हो जाये, (अथो) और (अहरितः) पीले वर्ण रहित (भुवत्) रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य और कुटुम्बी लोग रोगी को प्रातः सायम् वायु सेवन और औषधि सेवन कराकर स्वस्थ करें कि रुधिर संचार से उस का शरीर रक्त वर्ण हो जाय और ज्वर, पीलिया आदि रोग का पीलापन शरीर से जाता रहे ॥ २ ॥

या रोहि॑णीर्दे॒व॒त्या॒ ३ गावो॒ या उ॒त रोहि॑णीः ।
रू॒पंरू॑पं॒ वयो॑वयु॒स्ताभि॑ष्ट्वा॒ परि॑ दध्मसि ॥ ३ ॥
याः । रोहि॑णीः । दे॒व॒त्याः॑ । गावः॑ । याः । उ॒त । रोहि॑णीः ।
रू॒पम्-रू॑पम् । वयः॑-वयः । ताभिः॑ । त्वा॒ । परि॑ । द॒ध्म॒सि॒ ॥३॥

भाषार्थ—(याः) जो (देवत्याः) दिव्य गुण युक्त (रोहिणीः) स्वास्थ्य उत्पन्न करने वाली ओषधें (उत) और (याः) जो (रोहिणीः) लाल वर्ण वाली (गावः) दिशायें हैं। (ताभिः) उन सब के साथ (त्वा) तुझ को (रूपम्-

---

२—(त्वा) त्वां रोगिणं (रोहितैः) म० १ । लोहितैः, रक्तैः (वर्णैः) म० १ । रक्तैः । रञ्जनैः (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ-आयुत्वाय । छन्दसीणः । उ० १ । २ । दीर्घ+इण् गतौ-उण्, भावे त्वप्रत्ययः । चिरकालजीवनाय (परि दध्मसि) म० १ । सर्वतः पोषयामः (अरपाः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति रप लप कथने-असुन् । रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः—निरु० ४ । २१ । अपापः, नीरुजः, नीरोगः (असत्) अस सत्तायाम्-लेट् । भवेत् (अथो) अथ—उ । तदनन्तरम् एव (अहरितः) हृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ९३ । इति न+हृञ् हरणे—इतन् । पीतवर्णरहितः (भुवत्) भू सत्तायाम्-लेट् । भवेत् ॥

३—(रोहिणीः) रुहेश्च । उ० २ । ५५ । इति रुह उद्भवे-इनन् । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति गौरादित्वात् ङीष् । वा छन्दसि । पा०

रूपम्) सब प्रकार की सुन्दरता और (वयःवयः) सब प्रकार के बल के लिये (परि दध्मसि) हम सर्वथा पुष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब सूर्य की किरणों से दिशायें रक्त वर्ण दिखायी देती हैं तब प्रातः सायं दोनों समय मनुष्य रोगी को सुपरीक्षित ओषधों और यथायोग्य वायु सेवन से स्वस्थ करके सब प्रकार से हृष्ट पुष्ट और बलवान् करें ॥३॥

सुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।
अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

सुकेषु । ते । हरिमाणम् । रोपणाकासु । दध्मसि ।
अथो इति । हारिद्रवेषु । ते । हरिमाणम् । नि । दध्मसि ॥४॥

भाषार्थ—(सुकेषु) उत्तम उत्तम उपदेशों में और (रोपणाकासु) लेप आदि क्रियाओं में (ते) तेरे (हरिमाणम्) सुख हरने वाले शरीर रोग को (दध्मसि) हम रखते हैं । (अथो) और भी (हारिद्रवेषु) रुचिर रसों में (ते) तेरे (हरिमाणम्) चित्त विकार को (नि) निरन्तर (दध्मसि) हम रखते हैं ॥ ४ ॥

६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । रोहयन्ति जनयन्ति स्वास्थ्यं ता रोहिण्यः, ओषधयः (देवत्याः) भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति देवता-यत् । दिव्यगुणयुक्ताः (गावः) स्त्रीलिङ्गम् । दिशाः (रोहिणीः) वर्णादनुदात्तात् तो नः । पा० ४ । १ । ३६ । इति रोहित-ङीप्, तकारस्य नकारः । जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । रोहिण्यः, लोहितवर्णाः प्रातः सायंकालभवाः (रूपं-रूपम्) नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्वचनम् । सर्वसौन्दर्येण । सर्वसौन्दर्याय (वयः-वयः) वय गतौ-असुन् । वीप्सयां द्विर्वचनम् । कृत्स्नेन यौवनेन, सर्वेण सामर्थ्येण । सर्वसामर्थ्याय (ताभिः) गोभिश्च रोहिणीभिश्च ॥

४—(सुकेषु) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति सु०+कै+शब्दे, यद्वा, कच दीप्तौ-ड । उत्तमेषु शब्देषु । उपायकथनेषु (हरिमाणम्) म० १ ।

भावार्थ—सद्वैद्य बाहिरी शारीरिक रोगों को यथायोग्य औषधि और लेप आदि से, और भीतरी मानसिक रोगों को उत्तम उत्तम औषधि रसों से नाश करके रोगी को स्वस्थ करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋ० १ । ५० । १२ । में कुछ भेद से है वहां (सुकेषु) के स्थान में [शुकेषु] है । और सायण भाष्य में भी [शुकेषु] माना है । परन्तु तीनों अथर्व-संहिताओं में (सुकेषु) पाठ है वही हम ने लिया है । सायणाचार्य ने [शुक] का अर्थ तोता पक्षी और (रोपणाका) का [काष्ठशुक] नाम हरिद्वर्ण पक्षी अथर्ववेद में और [शारिका पक्षी विशेष] अर्थात् मैना ऋग्वेद में, और (हारिद्रव) का अर्थ [गोपीतनक नाम हरिद्वर्ण] [पक्षी] अथर्ववेद में, और [हरिताल का वृक्ष] ऋग्वेद में किया है इस अर्थ का यह आशय जान पड़ता है कि रोग विशेषों में पक्षी विशेषों को रोगी के पास रखने से भी रोग की निवृत्ति होती है ॥

सूक्तम् २३ ॥

१–४ ॥ अथर्वा ऋषिः । ओषधिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

महारोगनाशोपदेशः—महारोग के नाश के लिये उपदेश ॥

नक्तं॒जाता॑स्योषधे॒ रामे॒ कृष्णे॒ असि॑क्नि च ।
इ॒दं र॑जनि रजय कि॒लासं॑ पलि॒तं च॒ यत् ॥ १ ॥

रोग जनितं हरिद्वर्णम् , सुखहरणशीलं रोगं शारीरिकं हार्दिकं वा (रोपणा-कासु) रोपणु—आकासु । रुह प्रादुर्भावे, णिच्-ल्युट् , हस्य पः । व्रणरोगे मांसाङ्कुरजननार्थक्रियादिकं इति रोपणम् , ततः, आ+कम कान्तौ–ड ॥"रोपणं समन्तात् कामयन्ति तासु क्रियासु लिप्तास्वोषधिषु"–इति श्रीमद् दयानन्द-भाष्यम् ऋ० १ । ५० । १२ (दध्मसि) म० । १ । वयं धारयामः, स्थापयामः । (हारिद्रवेषु) वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति हृञ् हरणे–इञ् । हरति रोगमिति हारिः, रुचिरः, मनोहरः । ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति द्रु द्रवणे गमने-अप् । इति, द्रवः, रसः । रुचिररसेषु (नि) नियमेन ॥

नक्तम्-जाता । असि । ओषधे । रामे । कृष्णे । असिक्कि । च । इदम् । रजनि । रजय । किलासम् । पलितम् । च । यत् ॥१॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे उष्णता रखने हारी, ओषधि तू (नक्तंजाता) रात्रि में उत्पन्न हुई (असि) है, जो तू (रामे) रमण कराने हारी (कृष्णे) चित्त को खींचने हारी, (च) और (असिक्कि) निर्बन्ध [पूर्ण सार वाली] है। (रजनि) हे उत्तम रंग करने हारी ! तू (इदम्) यह (यत्) जो (किलासम्) रूप का बिगाड़ने हारा कुष्ठ आदि (च) और (पलितम्) शरीर का श्वेतपन रोग है [उसको] (रजय) रंगदे ॥ १ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य उत्तम परीक्षित औषधों से रोगों की निवृत्ति करे ॥१॥

१—रात में उत्पन्न हुई ओषधि से यह आशय है कि ओषधें, गेहूं, जौ, चावल आदि अन्न, और कमल आदि रोगनिवर्तक पदार्थ, चन्द्रमा की किरणों से पुष्ट होकर उत्पन्न होते हैं ॥

१—(नक्तम्-जाता) नज व्रीडे-क्त । नजते लज्जां प्राप्नोति अस्याम् । यद्वा । नक्क नाशने-क्त । नक्कयति नाशयति प्रकाशम् इति नक्तं रात्रिः । जनी प्रादुर्भावे-क्त । रात्रौ जाता उत्पन्ना । अज्ञातजन्मा (ओषधे) ओषः पाको धीयतेऽस्याम्, ओष+डुधाञ् धारणपोषणयोः-कर्मण्यधिकरणे च । पा० ३ । ३ । ९३ । इति कि प्रत्ययः । ओषधय ओषद् धयन्तीति वौषत्येना धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा-निरु० ९ । २७ । अस्यार्थः-ओषत् शरीरे दहद् रोगजातं धयन्ति पिबन्ति नाशयन्ति । ओषति दाहके ज्वरादौ एना धयन्ति पिबन्ति रोगिणो दाहोपशमनाय । पक्षद्वये, ओषत्+धेट् पाने-कि । अथवा दोषं वातपित्तादिकं धयन्तीति वा । दोष+धेट्-कि । पृषोदरादित्वाद् दलोपः । हे रोगनाशकद्रव्य ! (रामे) रमु क्रीडायाम् णिच् वा-घञ् । टाप् । रमते रमयति वेति रामा, हे रमणशीले, रमणकारिणि, सुखप्रदे (कृष्णे) कृषेर्वर्णे । उ० ३ । ४ । इति बाहुलकात् वर्णं विनापि । कृष आकर्षणे-नक् । टाप् । कर्षति आनन्दयति चित्तानि स्वमनोहरगुणेन । यद्वा, कर्षति वशीकरोति रोगान् सा कृष्णा । हे आकर्षणशीले (असिक्कि) अञ्चिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । इति षिञ् बन्धने-क्त । अथवा । षो अन्तकर्मणि-क्त नञ्समासः । छन्दसि क्नमित्येके । वार्तिकम्, पा० ४ । १ । ३९ । इति असित-

२—इसी प्रकार मनुष्यों को गर्भाधान क्रिया रात्रि में करनी चाहिये ॥

३—ओषधि आदि मूर्त्तिमान पदार्थ पांच तत्त्वों से बने हैं तौ भी उनके भिन्न २ आकार और भिन्न २ गुण हैं, यह मूल संयोग वियोग क्रिया ईश्वर के अधीन है, वस्तुतः मनुष्य के लिये यह कर्म रात्रि अर्थात् अंधकार वा अज्ञान में है ॥

४—प्रलय रूपी रात्रि के पीछे, पहिले अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं फिर मनुष्य आदि की सृष्टि होती है ॥ १ ॥

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥२॥

किलासम् । च । पलितम् । च । निः । इतः । नाशय । पृषत् ।
आ । त्वा । स्वः । विशताम् । वर्णः । परा । शुक्लानि । पातय ॥२

भावार्थ—[हे ओषधि !] (इतः) इस [पुरुष] से (किलासम्) रूप बिगाड़ने वाले कुष्ठ आदि रोग को (च) और (पलितम्) शरीर के श्वेतपन (च) और (पृषत्) विकृत चिन्ह को (निर्णाशय) निरन्तर नाश कर दे। (स्वः वर्णः) [रोग

ङीप्, तकारस्य क्नः। असिता असिक्नी। हे अबद्धशक्ते, अखंडवीर्ये, पूर्णसारयुक्ते (रजनि) रञ्जेः क्युन्। उ० २। ७९। इति रन्ज रागे—क्युन्, स्त्रियां ङीप्। रञ्जयतीति रजनी। हे सुरञ्जनशीले ! (रजय) रन्ज रागे, नकारलोपः रञ्जय, स्वाभाविकरागयुक्तं कुरु (किलासम्) क्लीबलिंगम्। किल प्रेरणे, क्रीड़े—क। कर्मण्यण्। पा० ३। २। १। किल+असु क्षेपणे—अण्। किलं वर्णं अस्यति क्षिपति विकृतं करोतीति तत् किलासम्। वर्णदूषकम् सिध्मम्। कुष्ठरोगादिकं (पलितम्) फलेरितजादेश्च पः। उ० ५। ३४। इति फल भेदने निष्पत्तौ च—इतच्, फस्य पत्वम्। फलति निष्पन्नं पक्कमिव भवतीति पलितम्। अथवा पल गतौ रक्षणे च—इतच्। शरीरश्वेततारोगः (यत्) यत् किञ्चित् ॥

२—(किलासम्) म० १। वर्णविकारकरं कुष्ठादिरोगम् (पलितम्) म० १। शरीरश्वेततारोगम् (निर्) निरन्तरम् (इतः) अस्मात् पुरुषात्

का] अपना रंग (त्वाम्) तुझ में [ओषधि में] (आ विशताम्) प्रविष्ट हो जाय और (शुक्लानि) [उसके] श्वेत चिन्हों को (परा पातय) दूर गिरा दे ॥ २ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य की उत्तम ओषधि से रोगी के शरीर का बिगड़ा हुआ रूप फिर यथापूर्व सुन्दर रुचिर और मनोहर हो जाता है ॥ २ ॥

असि॑तं ते प्र॒लय॑नमा॒स्थान॒मसि॑तं॒ तव॑ ॥
असि॑क्न्यस्योषधे॒ निरि॒तो ना॑शया॒ पृष॑त् ॥ ३ ॥

असि॑तम् । ते॒ । प्र॒ऽलय॑नम् । आ॒ऽस्थान॑म् । असि॑तम् । तव॑ ।
असि॑क्नी । अ॒सि॒ । ओ॒ष॒धे॒ । निः । इ॒तः । ना॒श॒य॒ । पृष॑त् ॥३॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे ओषधि ! (ते) तेरा (प्रलयनम्) लाभ (असितम्) निर्बन्ध वा अखंड है, और (तव) तेरा (आस्थानम्) विश्राम स्थान (असितम्) निर्बन्ध है, (असिक्नी असि) और तू निर्बन्ध [कार्यकारी] है, (इतः) इस [पुरुष] से (पृषत्) [विकृत] चिन्ह को (निर्णाशय) सर्वथा नाश कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ--सद्वैद्य विचार करे कि यह ओषधि पूर्ण लाभयुक्त है यथायोग्य

(नाशय) णश अदर्शने--णिच् । विनष्टं कुरु, घातय (पृषत्) वर्तमाने पृषद्-बृहन्महत्० । उ० २ । ८४ । पृष सेके हिंसने च—अति । विकृतचिन्हम् । (त्वा) त्वाम् । ओषधिम् (स्वः) स्वन शब्दे—ड । स्वकीयः, आत्मीयः । (आ + विशताम्) प्रविशतां, व्याप्नोतु (वर्णः) १ । २२ । १ । रूपम् (शुक्लानि) ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति शुच शौचे--रन् । रस्य लः । श्वेतानि श्येतानि सितानि चिन्हानि (परा + पातय) पत, णिच् । दूरं प्रेरय ॥

३-(असितम्) अञ्जिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । इति षिञ् बन्धने-क्त । अथवा । षो अन्तकर्मणि=नाशने-क्त । नञ्समासः । अबद्धम्, अखण्डितम् । कृष्णवर्णम्—इति सायणः (प्र-लयनम्) प्र + लीङ् श्लेषे, प्राप्तौ-ल्युट् । प्रापणं, प्राप्तिः, लाभः (आ-स्थानम्) आङ् + ष्ठा गतिनिवृत्तौ-ल्युट् । विश्राम-

स्थान में उत्पन्न हुई है और सब अंशों में सारयुक्त है, ऐसी ओषधि के प्रयोग से रोग निवृत्ति होती है ॥ ३ ॥

अस्थिजस्य॑ कि॒लास॑स्य तनू॒जस्य॑ च॒ यत् त्व॒चि ।
दू॒ष्या कृ॒तस्य॒ ब्रह्म॑णा॒ लक्ष्म॑ श्वे॒तम॑नीनशम् ॥ ४ ॥
अ॒स्थि॒-जस्य॑ । कि॒लास॑स्य । त॒नू॒-जस्य॑ । च॒ । यत् । त्व॒चि ।
दू॒ष्या । कृ॒तस्य॑ । ब्रह्म॑णा । लक्ष्म॑ । श्वे॒तम् । अ॒नी॒न॒श॒म् ॥४॥

भाषार्थ—(दूष्या कृतस्य अस्थिजस्य तनूजस्य च किलासस्य यत् श्वेतम् लक्ष्म त्वचि अस्ति तत् ब्रह्मणा अहम् अनीनशम्–इत्यन्वयः) । (दूष्या) दुष्ट क्रिया से (कृतस्य) उत्पन्न हुये, (अस्थिजस्य) हड्डी से उत्पन्न हुये (च) और (तनूजस्य) शरीर से निकले हुये (किलासस्य) रूप बिगाड़ने हारे, कुष्ट आदि रोग का (यत्) जो (श्वेतम्) श्वेत (लक्ष्म) चिन्ह (त्वचि) त्वचा पर है [उस को] (ब्रह्मणा) वेद विज्ञान से (अनीनशम्) मैं ने नाश कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—भारी रोग दो प्रकार के होते हैं एक (अस्थिज) हड्डी से उत्पन्न होने वाले अर्थात् भीतरी रोग जो ब्रह्मचर्य के खंडन और कुपथ्य भोजन आदि के कारण मज्जा और वीर्य के विकार से हो जाते हैं, और दूसरे (तनुज)

स्थानम् (तव) त्वदीयम् (असिक्नी) म० १ । अबद्धा, सारवती (ओषधे) म० १ । हे रोगनाशकद्रव्य ! । अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च ॥

४—(अस्थि-जस्य) असिसञ्जिभ्यां क्थिन् । उ० ३ । १५४ । इति असु क्षेपणे-क्थिन् । अस्यते क्षिप्यते शरीरे तत् अस्थि, शरीरस्य सप्तधातुमध्ये धातुविशेषः, कीकसम् । ततः । पञ्चम्यामजातौ । पा० । ३ । २ । ९८ । इति जनी प्रादुर्भावे-ड प्रत्ययः । अस्थ्नो जातस्य मज्जाधातोः (किलासस्य) म० १ । वर्णनाशकस्य कुष्ठरोगादिकस्य (तनू-जस्य) तन्वाः शरीरात् जायते, पूर्ववत् तनू + जनी-ड । शरीरजातस्य (यत्) लक्ष्म (त्वचि) तनोरनश्च वः । उ० २ । ६३ । इति तनु विस्तारे-चिक प्रत्ययः, अन्भागस्य वकारश्च । तन्यते विस्ती-

शरीर से उत्पन्न हुये बाहिरी रोग जो मलिन वायु, मलिन घर, आदि के कारण होते हैं, इस प्रकार (ब्रह्मणा) वैदिक ज्ञान से रोगों का निदान करके उत्तम परीक्षित ओषधियों से रोगियों को स्वस्थ करे ॥ ४ ॥

इस सूक्त का आशय यह है कि जिस प्रकार सद्वैद्य रोगों का आदि कारण जानकर ओषधि करके रोग निवृत्ति करता है, उसी प्रकार नीतिज्ञ राजा नियम पूर्वक दुष्टों का दमन करता है, सेनापति शत्रु के प्रहार से अपनी सेना की रक्षा करके जीत पाता है, और ब्रह्मज्ञानी और वैज्ञानिक लोग बाह्य और आभ्यान्तर विघ्नों को हटाकर अपना कार्य सिद्ध करते हैं ॥

सूक्तम् २४ ॥

१–४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । ओषधिर्देवता ॥ १, ३, ४, अनुष्टुप्, २ पंक्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

महारोगनाशोपदेशः—महारोग के नाश के लिये उपदेश ॥

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ ।
तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥ १ ॥

सु-पर्णः । जातः । प्रथमः । तस्य । त्वम् । पित्तम् । आसिथ ।
तत् । आसुरी । युधा । जिता । रूपम् । चक्रे । वनस्पतीन् ॥१॥

यते सा त्वक् । यद्वा । त्वच् संवरणे-क्विप् । त्वचति संवृणोति मेदः शोणितादिकम् ना । शरीरावरणे, चर्मणि (दूष्या) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति दुष वैरे, दुष्टकर्मणि-इन् । दूषयति प्राणिनं हिनस्तीति दूषिः, तया दुष्टक्रियया ब्रह्मचर्यखंडनमद्यादिकुपथ्यसेवनरूपया (कृतस्य) उत्पादितस्य (ब्रह्मणा) १ । ८ । ४ । वेदविज्ञानेन (लक्ष्म) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति लक्ष दर्शने-मनिन् । चिह्नम् (श्वेतम्) श्वित शुक्लतायाम्-अच् घञ् वा । शुक्लवर्णयुक्तम् (अनीनशम्) णश अदर्शने-णिचि लुङि रूपम् । अहं नाशितवानस्मि ॥

भाषार्थ—(सुपर्णः) उत्तम रीति से पालन करने हारा, वा अति पूर्ण परमेश्वर (प्रथमः) सब का आदि (जातः) प्रसिद्ध है। (तस्य) उस [परमेश्वर] के (पित्तम्) पित्त [बल] को, [हे औषधि !] (त्वम्) तू ने (आसिथ) पाया था। (तत्) तब (युधा) संग्राम से (जिता) जीती हुयी (आसुरी) असुर [प्रकाशमय परमेश्वर] की माया [प्रज्ञा वा बुद्धि] ने (वनस्पतीन्) सेवा करने वालों के रक्षा करने हारे वृक्षों को (रूपम्) रूप (चक्रे) किया था ॥ १ ॥

भावार्थ—सृष्टि से पहिले वर्त्तमान परमेश्वर की नित्य शक्ति से ओषधि अन्न आदि में पोषण सामर्थ्य रहता है। वह (आसुरी) परमेश्वर की शक्ति (युधा जिता) युद्ध अर्थात् प्रलय के अन्धकार के उपरान्त प्रकाशित होती है, जैसे अन्न, और घास पात आदि का बीज शीत और ग्रीष्म ऋतुओं में भूमि के भीतर पड़ा रहता और वृष्टि का जल पाकर हरा होजाता है ॥ १ ॥

१—(सु-पर्णः) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति सु+पॄ पालनपूरणयोः—न। शोभनपालनः, शोभनपूरणः परमेश्वरः (जातः) प्रादुर्भूतः। प्रसिद्धः (प्रथमः) १। १२। १। आद्यः, अग्रिमः, उत्तमः (पित्तम्) अपि+दैङ् पालने, दो छेदने वा—क। अच उपसर्गात् तः। पा० ७। ४। ४७। इति तादेशः, अपेरल्लोपः। अपि अवश्यं दयते पालयति सुगुणान्, अथवा द्यति नाशयति दुर्गुणान् तत् पित्तम्। वीर्यम् अथवा शरीरस्थधातुविशेषः। तत्पर्यायः तेजः, उष्मा, अग्निः। तस्य कर्माणि। "पाचकं पचते भुक्तं शेषाग्निबलवर्धनम्। रसमूत्रपुरीषाणि विरेचयति नित्यशः" ॥ १ ॥ इति शब्दकल्पद्रुमे (आसिथ) अस दीप्तिग्रहणगतिषु—लिट्। त्वं गृहीतवती प्राप्तवती (तत्) तदा (आसुरी) १। १०। १। असुरस्य इयम्। मायायामण्। पा० ४। ४। १२४। इति असुर—अण्। टिड्ढाणञ्द्वयस०। पा० ४। १। १५। इति ङीप्। माया= प्रज्ञा-निघ० ३। ६। असुरस्य दीप्यमानस्य परमेश्वरस्य माया प्रज्ञा (युधा) युध संप्रहारे—क्विप्। युद्धेन संग्रामेण विघ्ननिवारणेन (जिता) प्राप्तपराजया। वशीकृता (रूपम्) १। १। १। आकारम्। सौन्दर्य्यम् (चक्रे)

टिप्पणी--(असुर) शब्द के लिये १ । १० । १ और (आसुरी) के लिये ७ । ३९ । १ । देखो । हे ओषधि ! तू रात्रि में उत्पन्न हुई है । ऐसा, १ । २३ । १ में आया है । ऋग्वेद १० । १२९ । ३, में कहा है ।

तम॑ आसी॒त् तम॑सा गू॒ढमग्रे॑ऽप्रके॒तं स॑लि॒लं सर्व॑मा इ॒दम्॑ ।

पहिले [प्रलय काल में] अन्धकार था । और यह सब अन्धकार से ढका हुआ चिन्हरहित समुद्र था ।

आ॒सु॒री च॑क्रे प्रथ॒मेदं कि॑ला॒सभे॒ष॒जमि॒दं कि॑ला॒स॒नाश॑नम् ।
अनी॑नशत् कि॒ला॒सं॒ सरू॑पामकर॒त् त्वच॑म् ॥ २ ॥

आ॒सु॒री । च॒क्रे॒ । प्र॒थ॒मा । इ॒दम् । कि॒ला॒स॒-भे॒ष॒जम् । इ॒दम् । कि॒ला॒स॒-नाश॑नम् । अनी॑नशत् । कि॒ला॒स॑म् । सरू॑पाम् । अ॒क॒र॒त् । त्वच॑म् ॥ २ ॥

भाषार्थ--(प्रथमा) प्रथम प्रकट हुई (आसुरी) प्रकाशमय परमेश्वर की माया [बुद्धि वा ज्ञान] ने (इदम्) इस [वस्तु] को (किलासभेषजम्) रूपनाशक महा रोग की ओषधि और (इदम्) इस [वस्तु] को ही (किलासनाशनम्) रूप बिगाड़ने वाले महारोग की नाश करने हारी (चक्रे) बनाया । [उस ने] [ईश्वर माया ने] (किलासम्) रूप बिगाड़ने वाले महारोग को (अनीनशत्) नाश किया और (त्वचम्) त्वचा को (सरूपाम्) सुन्दर रूप वाली (अकरत्) बना दिया ॥ २ ॥

डुकृञ् करणे--लिट् । कृतवती, दत्तवती (वनस्पतीन्) १ । ११ । ३ । वनानां सेवकानां पालकान् । वृक्षान् सृष्टिपदार्थान्, इत्यर्थः ॥ १ ॥

२--(आसुरी) म० १ । प्रकाशमय परमेश्वरस्य माया प्रज्ञा (चक्रे) म० १ । कृतवती (प्रथमा) म० १ । आदिभूता (इदम्) प्रसिद्धम् । उपस्थितम् (किलास-भेषजम्) किलासम् १ । २३ । १ । किल + असु क्षेपणे-अण् । भिषजो वैद्यस्येदमिति अण् निपातनात् एत्वम् यद्वा, भेषं भयं रोगं जयतीति जि-ड । रूपनाशकस्य महारोगस्य औषधम् (किलास-नाशनम्) कृत्य-

भावार्थ—(आसुरी) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर की शक्ति से प्रलय के पश्चात् अनेक विघ्नों के हटाने पर मनुष्य के सुखदायक पदार्थ उत्पन्न हुये जिस से पृथिवी पर समृद्धि और क्षुधा आदि रोगों की निवृत्ति हुई ॥

सरूपा नाम॑ ते माता सरूपो नाम॑ ते पिता ।
सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ ३ ॥

स-रूपा । नाम॑ । ते । माता । स-रूपः । नाम॑ । ते । पिता । सरू-प-कृत् । त्वम् । ओषधे । सा । स-रूपम् । इदम् । कृधि ॥ ३ ॥

भावार्थ—(ओषधे) हे उष्णता रखने हारे अन्न आदि ओषधि (सरूपा) समान गुण वा स्वभाव वाली (नाम) नाम (ते) तेरी (माता) माता है, (सरूपः) समान गुण वा स्वभाव वाला (नाम) नाम (ते) तेरा (पिता) पिता है । (त्वम्) तू (सरूपकृत्) सुन्दर वा समान गुण करने हारी है, (सा=सा त्वम्) सो तू (इदम्) इस [अंग] को (सरूपम्) सुन्दर रूप युक्त (कृधि) कर ॥३॥

ल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति किलास+णश अदर्शने-कर्तरि ल्युट् । किलासस्य रूपनाशकस्य महारोगस्य कुष्टादिकस्य निवर्तकम् (अनीनशत्) णश अदर्शने-णिच्, लुङ् । नाशयति स्म (किलासम्) १ । २३ । १ । वर्ण-नाशकं महारोगम् (स-रूपाम्) ज्योतिजनपद० । पा० ६ । ३ । ८५ । इति समानस्य सभावः । समानरूपाम् । साधुरूपाम् (अकरत्) डुकृञ् करणे लुङ् । कृतवती (त्वचम्) १ । २३ । ४ । त्वचाम्, शरीरावरणं चर्म ॥

३—(स-रूपा) म० २ । समानं रूपं स्वभावो गुणो यस्याः सा । समान-स्वभावा (नाम) अव्ययम् । नामन्सीमन्व्योमन्० । उ० ४ । १५१ । इति म्ना अभ्यासे—मनिन् । निपातनात् साधुः । म्नायते अभ्यस्यते यत् । प्रसिद्धा । प्रसिद्धम् (माता) १ । २ । १ । माननीया जननी भूमिः प्रकृतिर्वा (स-रूपः) समानरूपः । समानस्वभावः, समानगुणः (पिता) १ । २ । १ । पालको जनकः । परमेश्वरः, मेघः सूर्यो वा (सरूप-कृत्) डुकृञ् करणे—क्विप् । इत्वस्य

भावार्थ—(औषधि) क्षुधा रोगादि निवर्तक वस्तु को कहते हैं जिस से शरीर में उष्णता रहती है, उसकी (माता) प्रकृति वा पृथिवी और (पिता) परमेश्वर वा मेघ वा सूर्य्य है जिनके गुण वा स्वभाव सब प्राणियों के लिये समान हैं। ईश्वर से प्रेरित प्रकृति से अथवा भूमि और मेघ वा सूर्य्य के संयोग से सब पुष्टि दायक और रोग नाशक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। विद्वान् लोग पदार्थों के गुणों को यथार्थ जान कर नियम पूर्वक उचित भोजन आदि के सेवन और यथोचित उपकार लेने से अपने को और अपने सन्तानों को रूपवान् और वीर्य्यवान् बनावें ॥ ३ ॥

श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अध्युद्भृता ।
इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥ ४ ॥

श्यामा । सरूपम्-करणी । पृथिव्याः । अधि । उत्-भृता । इदम् । ऊं इति । सु । प्र । साधय । पुनः । रूपाणि । कल्पय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(श्यामा) व्यापनशीला वा सुखप्रदा, (सरूपंकरणी) सुन्दरता करने हारी तू (पृथिव्याः अधि) विख्यात वा विस्तीर्ण पृथिवी में से (उद्भृता) उखाड़ी गई है। (इदम् उ) इस [कर्म्म] को (सु) भली भांति से (प्र साधय) सिद्ध कर, (पुनः) और (रूपाणि) [इस पुरुष] की सुन्दरताओं को (कल्पय) पूर्ण कर ॥ ४ ॥

षिति कृति तुक्। पा० ६। १। ७१। इति तुक् आगमः। शोभनरूपकारिणी। समानगुणकारिणी (त्वम् ओषधे) १। २३। १। हे रोगनाशकद्रव्य त्वम् (स-रूपम्) सुन्दररूपयुक्तम् (इदम्) रोगदूषितम् अङ्गम् (कृधि) श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि। पा० ६। ४। १०२। इति हेर्धिरादेशः। कुरु ॥

४—(श्यामा) इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक्। उ० १। १४५। इति श्यैङ् गतौ-मक्, टाप्। श्यायति गच्छति सुखं प्राप्नोति सा श्यामा व्यापनशीला। सुखप्रदा। ओषधिः (सरूपम्-करणी) सरूपं क्रियते अनयेति। करणाधिकरणयोश्च। पा०। ३। ३। ११७। इति कृञ् करणे-ल्युट्। पूर्वपदे सुपो लुगभावश्छन्दसः। टिड्ढाणञ्द्वयसज्०। पा० ४। १। १५। इति ङीप्। सुन्दररूप-

भावार्थ—जैसे उत्तम वैद्य उत्तम औषधों से रोग को निवृत कर रोगी को सर्वाङ्ग पुष्ट करके आनन्दयुक्त करते हैं, इसी प्रकार दूरदर्शी पुरुष सब विघ्नों को हटा कर कार्य्य सिद्धि कर आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

मुद्राराक्षस में कहा है—

"धरि लात विघ्न अनेक पैं निरभय न उद्यम तें टरैं ।
जे पुरुष उत्तम अन्त में ते सिद्ध सब कारज करैं ॥"

सूक्तम् २५ ॥

१–४ ॥ भृग्वंगिरा ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः, ११×३ अक्षराणि ॥

ज्वरादिरोगशान्त्युपदेशः—ज्वर आदि रोग की शान्ति के लिये उपदेश ॥

यदुग्निरापो अदहत् प्रविश्य यत्राकृण्वन् धर्म्मधृतो नमांसि । तत्र त आहुः परमं जनित्रं स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ १ ॥

यत् । अग्निः । आ । अपः । अदहत् । प्र-विश्य । यत्र । अकृण्वन् । धर्म-धृतः । नमांसि । तत्र । ते । आहुः । परमम् । जनित्रम् । सः । नः सम्-विद्वान् । परि । वृङ्ग्धि । तक्मन् ॥१॥

कर्त्री (पृथिव्याः) १ । २ । १ । प्रख्यातायाः विस्तीर्णाया वा भूमेः सकाशात् (अधि) पंचम्यर्थानुवादी (उत्-भृता) उत् + भृञ्-क्त । उत्खाता । उत्पादिता (ऊं इति) पादपूरणः । पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः, कमीमिद्विति- निरु० १ । ६ (प्र + साधय) प्र + षाध सिद्धौ, णिच् । सिद्धं कुरु, प्रवर्धय (पुनः) अनन्तरम् (पुना रूपाणि) रोरि । पा० ८ । ३ । १४ । इति रेफस्य लोपे कृते । ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः । पा० ६ । ३ । १११ । इति पूर्वदीर्घः (रूपाणि) सौन्दर्याणि, स्वास्थ्यलक्षणानि (कल्पय) कृपू सामर्थ्ये, णिच् कृपो रो लः । पा० ८ । २ । १८ । इति लत्वम् । संपादय, पूरय ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस [सामर्थ्य] से (अग्निः) व्यापक अग्नि [ताप] ने (प्रविश्य) प्रवेश करके (अपः) व्यापन शील जल को (आ अदहत्) तपा दिया है और (यत्र) जिस [सामर्थ्य] के आगे (धर्मधृतः) मर्यादा के रखनेवाले पुरुषों ने (नमांसि) अनेक प्रकार से नमस्कार (अकृण्वन्) किया है। (तत्र) उस [सामर्थ्य] में (ते) तेरे (परमम्) सब से ऊंचे (जनित्रम्) जन्म स्थान को (आहुः) वह [मर्यादापुरुष] बताते हैं, (सः=स त्वम्) सो तू, (तक्मन्) हे जीवन को कष्ट देने वाले, ज्वर ! [ज्वर समान पीड़ा देने वाले ईश्वर !] (संविद्वान्) [यह बात] जानता हुआ (नः) हमको (परि वृङ्धि) छोड़ दे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर उष्ण स्वभाव अग्नि द्वारा शीतल स्वभाव जल को तपाता है अर्थात् विरुद्ध स्वभाव वालों को संयोग वियोग से अनुकूल करके सृष्टि का धारण करता है, जिस परमेश्वर से बढ़ कर कोई मर्यादा पालक नहीं है जो स्वयंभु सब का अधिपति है, और ज्वर आदि रोगों से पापियों को दण्ड

१—(यत्) यस्मात् सामर्थ्यात् (अग्निः) १ । ६ । २ । तेजः पदार्थ-विशेषः । औष्ण्यम् (आ) समन्तात् (अपः) १ । ४ । ३ । आप्नुवन्ति शरीर-मित्यापः । अस्य नित्यं बहुवचनत्वम् स्त्रीत्वं च । जलानि । प्राणान् । "आपः" य० १७ । २६ । प्राणाः । इति दयानन्द सरस्वती (अदहत्) दह दाहे=सन्तापे-लङ् । अतपत् (प्र-विश्य) अन्तर्विगाह्य (यत्र) सामर्थ्ये (अकृण्वन्) कृवि हिंसाकरणयोः-लङ् । अकुर्वन् (धर्मधृतः) अर्त्तिस्तुसुहुसृधृ० । उ० १ । १४० । इति धृञ् धारणे-मन् । धरति लोकान् ध्रियते पुण्यात्मभिर्वा स धर्मः, न्यायः, मर्यादा । ततः । धृञ्-क्विप्, तुक् आगमः । धर्मधारकाः । मर्य्यादा-पालकाः पुरुषाः (नमांसि) णम प्रह्वत्वे-असुन्, आद्युदात्तः । नम्रभावान् (तत्र) सामर्थ्ये (आहुः) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-लट् । ब्रुवन्ति, कथयन्ति (परमम्) आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ४ । इति पर+मा माने-क । प्रधा-नम् (जनित्रम्) अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ । उ० ४ । १७३ । इति जन जनने, प्रादु-र्भावे-इत्र प्रत्ययः । जन्मस्थानम् (सः) स त्वम् (सम्-विद्वान्) विदेः शतु-र्वसुः । पा० ७ । १ । ३६ । इति विद ज्ञाने-शतुर्वसुरादेशः सम्यग् जानन् । ज्ञान-वान् (परि वृङ्धि) वृजी वर्जने—रुधादित्वात् श्नम् परिवर्जय, परित्यज ।

देता है उस न्यायी जगदीश्वर का स्मरण करते हुये हम पापों से बच कर सदा आनन्द भोगें, सब विद्वान् लोग उस ईश्वर के आगे सिर झुकाते हैं ॥ १ ॥

यद्य॒र्चिर्यदि॒ वासि॑ शो॒चिः शकल्ये॒षि यदि॑ वा ते॒ जनित्र॑म् । ह्रू॒डुर्नामा॑सि हरितस्य दे॒व स नः॑ संवि॒द्वान् परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ २ ॥

यदि॑ । अ॒र्चिः । यदि॑ । वा॒ । असि॑ । शो॒चिः । श॒क॒ल्य॒ऽइ॒षि । यदि॑ । वा॒ । ते॒ । ज॒नित्र॑म् । ह्रू॒डुः । नाम॑ । अ॒सि॒ । ह॒रि॒त॒स्य॒ । दे॒व॒ । सः । नः॒ । स॒म्ऽवि॒द्वान् । परि॑ । वृ॒ङ्ग्धि॒ । त॒क्म॒न् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यदि) चाहे तू (अर्चिः) ज्वाला रूप (यदि वा) अथवा (शोचिः) ताप रूप (असि) है (यदि वा) अथवा (ते) तेरा (जनित्रम्) जन्म स्थान (शकल्येषि) अंग अंग की गति में है । (हरितस्य) हे पीले रंग के (देव) देने वाले ! (ह्रूडुः) दबाने की कल (नाम असि) तेरा नाम है, (सः) सो तू (तक्मन्) जीवन को कष्ट देने वाले ज्वर ! [ज्वर समान पीड़ा देने वाले ईश्वर] (संविद्वान्) [यह बात] जानता हुआ (नः) हम को (परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे ॥ २ ॥

भावार्थ—वह परब्रह्म ज्वर आदि रोग से दुष्कर्मियों की नाड़ी नाड़ी को दुःख से दबा डालता है जैसे कोई किसी को दबाने की कल में दबावे ।

(तक्मन्) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति तकि कृच्छ्रजीवने=दुःखेन जीवने-मनिन् । हे कृच्छ्रजीवनकारिन्, ज्वर ॥

२—(यदि) संभावनायाम्, चेत् (अर्चिः) अर्चिशुचिहुसृ० । उ० २ । १०८ । इति अर्च पूजायाम्—इसि । अर्चिः, शोचिः, ज्वलतो नामधेयेषु—निघ० २ । १७ । ज्वलनकरः (शोचिः) शुच शोके, शौचे—पूर्ववत् इसि । शोचति । ज्वलतिकर्मा, निघ० १ । १६ । तापकरः (शकल्य-इषि) शकिशम्योर्नित् । उ० १ । ११२ । इति शक्लृ शक्तौ—कल प्रत्ययः । शकलः खण्डः । पुनः समूहार्थे—य प्रत्ययः, ततः । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति इष गतौ क्विप् । शकल्यं अंग-

उस न्यायी जगदीश्वर का स्मरण करते हुये पापों से बच कर सदा आनन्द भोगें ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (ह्रूडुः) के स्थान में [रूढुः] पढ़ कर [रोहकः] उत्पन्न करने वाला अर्थ किया है।

यदि॑ शो॒को यदि॑ वा भिशो॒को यदि॑ वा॒ राज्ञो॒ वरु॑ण-स्यासि॑ पु॒त्रः । ह्रूडु॒र्नामा॑सि हरितस्य देव॒ स नः॑ संवि-द्वान् परि॑ वृङ्ग्धि । तक्मन् ॥ ३ ॥

यदि॑ । शो॒कः । यदि॑ । वा॒ । अ॒भि॒-शो॒कः । यदि॑ । वा॒ । राज्ञः॑ । वरु॑णस्य । असि॑ । पु॒त्रः । ह्रूडुः॑ । नाम॑ । अ॒सि॒ । ह॒रि॒तस्य॒ । दे॒व॒ । सः । नः॒ सम्-वि॒द्वान् । परि॑ । वृ॒ङ्ग्धि॒ । त॒क्मन् ॥३॥

भाषार्थ—(यदि) चाहे, तू (शोकः) हृदयपीड़क (यदि वा) चाहे (अभिशोकः) सर्व शरीर पीड़क है, (यदि वा) अथवा तू (राज्ञः) तेज वाले (वरुणस्य) सूर्य वा जल का (पुत्रः) पुत्र रूप (असि) है। (हरितस्य) हे पीले रंग के (देव) देने वाले ! (ह्रूडुः) दबाने की कल (नाम असि) तेरा नाम है (सः) सो तू, (तक्मन्) हे जीवन को कष्ट देने वाले, ज्वर ! [ज्वर समान पीड़ा देने हारे !] (संविद्वान्) [यह बात] जानता हुआ (नः) हम को (परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे । ॥ ३ ॥

भावार्थ—मानसिक और शारीरिक पीड़ा, सूर्य्य की ताप वा जल से उत्पन्न ज्वर, और पीलिया आदि रोग, पाप अर्थात् ईश्वरीय नियम से विरुद्ध

समूहम् इष्यतीति शाकल्येट् । अंगानां गतौ (जनित्रम्) म० १ । जन्मस्थानम् (ह्रूडुः) ईषेः मिश्च । उ० १ । ११३ । इति ह्रूड गतौ, अत्र पीडने—कु । पीडा-यन्त्रम् (नाम) १ । २ । ३ । प्रसिद्धः (हरितस्य) हृञ् हरणे—इतन् । रोग-जनितस्य पीतवर्णस्य (देव) हे द्योतक, दातः । अन्यद् व्याख्यातम् , म० १ ॥

३—(शोकः) शुचि शोके—कर्तरि घञ् । चजोः कुघिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । मनःपीडकः (अभि-शोकः) सर्वशरीरपीडकः ।

आचरण का फल है, इस लिये मनुष्य पुरुषार्थ पूर्वक परमेश्वर के नियमों का पालन करें, और दुष्ट आचरण छोड़ कर सुखी रहें ॥ ३ ॥

नमः शीतायं तक्मने नमो रूरायं शोचिषें कृणोमि ।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने ॥ ४ ॥

नमः । शीतायं । तक्मनें । नमः । रूरायं । शोचिषें । कृणोमि । यः । अन्येद्युः । उभय-द्युः । अभि-एति । तृतीयकाय । नमः । अस्तु । तक्मनें ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शीताय) शीत (तक्मने) जीवन को कष्ट देनेहारे ज्वर [ज्वर रूप परमेश्वर] को (नमः) नमस्कार, और (रूराय) क्रूर (शोचिषे) ताप के ज्वर को [ज्वर रूप परमेश्वर को] (नमः) नमस्कार (कृणोमि) मैं करता हूं। (यः) जो (अन्येद्युः) एकान्तरा ज्वर और (उभयद्युः) दो अन्तरा ज्वर (अभि एति) चढ़ता है, [तस्मै] [उस ज्वर रूपको और] (तृतीयकाय) तिजारी (तक्मने) ज्वर [ज्वर रूप परमेश्वर] को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥४॥

(राज्ञः) १ । १० । १ । दीप्यमानस्य, तेजस्विनः (वरुणस्य) १ । ३ । ३ । सूर्यतापस्य जलस्य वा (पुत्रः) १ । ११ । ५ । शोधकः । सुतः, तनूजः पुत्रवत् उत्पन्नः । अन्यद् व्याख्यानम्-म० २ ॥

४—(शीताय) श्यैङ् गतौ-क्त । द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोः श्यः । पा० ६ । १ । २४ । इति सम्प्रसारणम् । हलः । पा० ६ । ४ । २ । इति दीर्घः । शीतलाय । शीतस्पर्शवते (तक्मने) म० १ । कृच्छ्रजीवनकारिणे रोगाय, ज्वराय ज्वरसमानाय परमेश्वराय (रूराय) स्फायितञ्चिवञ्चिशकि० । उ० २ । १३ । इति रुङ् बधे-रक्, दीर्घश्च । घातकाय, पीड़काय, क्रूराय (शोचिषे) म० २ । तापकराय (कृणोमि) कृवि हिंसाकरणयोः । करोमि (यः) तक्मा, ज्वरः (अन्येद्युः) अव्ययम् । अन्यस्मिन् दिने, परदिने (उभयद्युः) अव्ययम् । उभयस्मिन् द्वितीये-

भावार्थ—परमेश्वर अनेक प्रकार के ज्वर आदि रोगों से पापियों को कष्ट देता है, उस के क्रोध से भय मान कर हम खोटे कामों से बचकर सदा शान्त चित्त और आनन्द में मग्न रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् २६ ॥

१-४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

आरे ३' ऽसावस्मदस्तु हेतिर्देवासो असत् ।
आरे अश्मा यमस्यथ ॥ १ ॥

आरे । असौ । अस्मत् । अस्तु । हेतिः । देवासः । असत् ।
आरे । अश्मा । यम् । अस्यथ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवासः) हे विजयी शूर वीरो ! (असौ) वह (हेतिः) सांग वा बर्छी (अस्मत्) हम से (आरे) दूर (अस्तु) रहे, और (अश्मा) वह पत्थर (आरे) दूर (असत्) रहे (यम्) जिसे (अस्यथ) तुम फेंकते हो ॥१॥

भावार्थ—युद्ध कुशल सेनापति लोग चक्रव्यूह, पद्मव्यूह, मकरव्यूह, क्रौञ्चव्यूह सूचीव्यूह, आदि के अपनी सेना का विन्यास इस प्रकार करें कि शत्रु के अस्त्र शस्त्र का प्रहार अपने प्रजा और सेना के न लगें, और न अपने अस्त्र शस्त्र उलट कर अपने ही लगें, किन्तु शत्रुओं का विध्वंस करें ॥ १ ॥

ऽहनि (अभि-एति) आगच्छति (तृतीयकाय) त्रेः सम्प्रसारणं च । पा० ५ । २ । ५५ । इति त्रि-तीयः पूरणे, संप्रसारणं च । स्वार्थे कन् । तृतीयदिने आगच्छते ॥

१—(आरे) दूरे (असौ) सा शत्रुप्रयुक्ता (हेतिः) १ । १३ । ३ । वज्रायुधं शक्तिनामास्त्रम् (देवासः) १ । ७ । १ । आज्जसेरसुक् । पा० । ७ । १ । ५० । इति असुक् । हे विजयिनो महात्मानः सेनापतयः (असत्) १ । २२ । २ । भवेत् (अश्मा) १ । २ । २ मेघः, आयुधवृष्टिः । पाषाणः (यम्) अश्मानम् (अस्यथ) असु क्षेपणे-लट्, दिवादित्वात् श्यन् । यूयं क्षिपथ ॥

सखासावस्मभ्यंमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः ।
सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥

सखा । असौ । अस्मभ्यंम् । अस्तु । रातिः । सखा । इन्द्रः ।
भगः । सविता । चित्र-राधाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(असौ) वह (रातिः) दान शील राजा (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (सखा) मित्र (अस्तु) होवे, (भगः) सब का सेवनीय, (सविता) लोकों को चलाने वाले सूर्य के समान प्रतापी, (चित्रराधाः) अद्भुत धन युक्त (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला (सखा) मित्र (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा अपनी प्रजा, सेना, और कर्मचारियों पर सदा उदारचित्त रहे और सूर्य के समान महाप्रतापी और ऐश्वर्यशाली और महाधनी होकर सब का हितकारी बने और सब की उन्नति से अपनी उन्नति करे ॥ २ ॥

यूयं नः प्रवतो नपान् मरुतः सूर्यत्वचसः ।
शर्म यच्छाथ सप्रथः ॥ ३ ॥

यूयम् । नः । प्र-वतः । नपात् । मरुतः । सूर्य-त्वचसः ।
शर्म । यच्छाथ । स-प्रथः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(प्रवतः) हे [अपने] भक्त के (नपात्) न गिराने हारे राजन् ! और (सूर्यत्वचसः) हे सूर्य समान प्रताप वाले (मरुतः) शत्रुओं के मारने हारे

२—(सखा) १ । २० । ४ । सुहृत्, मित्रम् (रातिः) क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति रा दाने-क्तिच् । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । उदारः, दाता राजा (इन्द्रः) १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवान् (भगः) १ । १४ । १ । भज सेवायाम्-घ । घत्वम् । सर्वैर्भजनीयः, सर्वैः सेवनीयः (सविता) १ । १८ । २ । सर्वप्रेरकः । सर्ववशी, सूर्यवत् प्रतापी (चित्रराधाः) चित्र+राध संसिद्धौ-असुन् । राध इति धननाम राध्नुवन्त्यनेनेति यास्कः-निरु० ४ । ४ । विचित्रधनयुक्तः, अद्भुतधनः ॥

शूरवीर महात्माओ ! (यूयम्) तुम सब (नः) हमारे लिये (सप्रथः) बहुत विस्तीर्ण (शर्म) सुख वा शरण (यच्छाथ) दान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—अपने भक्तों की रक्षा करने हारा राजा और महाप्रतापी धर्मधुरंधर शूरवीर मन्त्री आदि मिलकर प्रजा की सर्वथा रक्षा करके अपने शरण में रक्खें ॥ ३ ॥

टिप्पणी—अजमेर वैदिक यन्त्रालय और बंबई गवर्नमेन्ट के पुस्तक के संहिता पाठ में (सप्रथाः) पाठ अशुद्ध दीखता है, सायण भाष्य और बंबई के सेवकलाल कृष्णदास शोधित पुस्तक का (सप्रथः) पाठ शुद्ध जान कर हमने यहां पर लिया है ॥

सुषूदतं मृडतं मृडया नस्तनूभ्यः ।
मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

सुसूदत । मृडत । मृडय । नः । तनूभ्यः । मयः । तोकेभ्यः । कृधि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सुषूदत) तुम सब [हमें] अंगीकार करो, और (मृडत) सुखी करो, [हे राजन !] तू (नः) हमारे (तनूभ्यः) शरीरों को (मृडय)

३—(यूयम्) प्रवतो नपात् मरुतश्च (प्र-वतः) १ । १३ । २ । भक्तस्य, सेवकस्य । भक्तान् । द्वितीयायां बहुवचनं वा (नपात्) १ । १३ । २ । न पातयतीति । हे अपातनशील राजन ! (मरुतः) १ । २० । १ । मारयन्ति शत्रून् ते । हे शूरवीराः पुरुषाः (सूर्य-त्वचसः) त्वच संवरणे–असुन् । सूर्यस्य त्वक् संवरणमिव संवरणं येषां ते । सूर्यसमानतेजस्काः (शर्म) १ । २० । ३ । सुखम्, शरणम् (यच्छाथ) दाण् दाने-लेट् । प्रयच्छत, दत्त (स-प्रथः) सह + प्रथ ख्यातौ असुन् । प्रथसा सहितं, सविस्तारम् ॥

४—(सुसूदत) षूद आश्रुतिहत्योः । निरासे च । आश्रुतिरङ्गीकारः । इति शब्दकल्पद्रुमः । अङ्गीकुरुत (मृडत) मृड सुखने । सुखयत (मृडय)

सुख दे और (तोकेभ्यः) बालकों को (मयः) आनन्द (कृधि) कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—महाप्रतापी राजा और सुयोग्य कर्मचारी मिल कर सब प्रजा और उनकी सन्तानों की उत्तम शिक्षा आदि से उन्नति करें और सुख पहुंचाते रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१–४ ॥ स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । १ पंक्तिः ८×५, २–४ अनुष्टुप् ॥

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

अमूः पारे पृदाक्वस्त्रिषप्ता निर्जरायवः ।
तासां जरायुभिर्वयमक्ष्या३ वपि व्ययामस्य-
घायोः परिपन्थिनः ॥

अमूः । पारे । पृदाक्वः । त्रि-सप्ताः । निः-जरायवः । तासाम् । जरायु-भिः । वयम् । अक्ष्यौ । अपि । व्ययामसि । अघ-योः । परि-पन्थिनः ॥ १ ॥

भावार्थ—(अमूः) वह (त्रिषप्ताः) तीन [ऊंचे, मध्यम और नीचे] स्थान में खड़ी हुई, (निर्जरायवः) जरायु [गर्भ की झिल्ली] से निकली हुई (प्रदाकः) सर्पिणी [वा बाघिनी] रूप शत्रु सेनायें (पारे) उस पार [वर्तमान] हैं । (तासाम्) उनकी (जरायुभिः) जरायु रूप गुप्त चेष्टाओं सहित [वर्तमान] (अघायोः) बुरा चीतने वाले, (परिपन्थिनः) उलटे आचरण वाले शत्रु की (अक्ष्यौ) दोनों आंखों को (वयम्) हम (अपि व्ययामसिः) ढके देते हैं ॥ १ ॥

सुखय (तनूभ्यः) १ । १ । १ । शरीरेभ्यः (मयः) १ । १३ । २ । सुखम् । १ (तोकेभ्यः) १ । १३ । २ । अपत्येभ्यः ॥

१—(अमूः) परिदृश्यमानाः, ताः (पारे) पार कर्मसमाप्तौ-पचाद्यच्, अथवा पॄ पूर्तौ—घञ् । परतीरे । प्रान्तभागे, सीमाप्रदेशे (पृदाकः) पर्दते-र्नित् सम्प्रसारणमल्लोपश्च । उ० ३ । ८० । इति पर्द अपानशब्दे—काकु, रेफस्य

भावार्थ—जब शत्रु की सेना अपने पड़ावों से निकल कर घात स्थानों पर ऐसी खड़ी होवे, जैसे सर्पिणी वा बाघिनी माता के गर्भ से निकल कर बहुत से उपद्रव फैलाती है, तब युद्ध कुशल सेनापति शत्रु सेना की गुप्त कपट चेष्टाओं का मर्म समझ कर ऐसी हल चल मचा दे कि शत्रु की दोनों आंखें हृदय की और मस्तक की मुंद जावें और वह घबराकर हार मान लेवे ॥ १ ॥

सायणभाष्य में (निर्जरायवः) के स्थान में [निर्जरा इव] शब्द है ॥

विषूं॑च्येतु कृन्त॒ती पिना॑कमिव॒ बिभ्र॑ती ।
विष्व॑क् पुन॒र्भुवा॒ मनो॒ऽसमृद्धा अघा॒यवः॑ ॥ २ ॥

सम्प्रसारणं अकारलोपश्च । स्त्रियां ऊङ् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । पर्दते कुत्सितं शब्दयति सा पृदाकूः सर्पिणी व्याघ्री वा । सर्पिण्यो व्याघ्र्य इव वा दुष्टस्वभावाः शत्रुसेनाः (त्रि-सप्ताः) १ । १ । १ । त्रि+षप समवाये—क्त । त्रिषु उच्चमध्यमनीचस्थानेषु सम्बद्धाः, स्थिताः (निः-जरायवः) निर्+जरायवः । १ । ११ । ४ । षिद्भिदादिभ्योऽङ् पा० ३ । ३ । १०४ । इति जॄ-ष्, वयोहानौ-अङ्, टाप् । ऋदृशोऽङि गुणः । पा० ७ । ४ । १६ । इति गुणः । जरा, वार्द्धक्यम्, शरीरनिर्बलत्वम् । किंजरयोः श्रिणः । उ० १ । ४ । इति जरा+इण् गतौ-ञुण् । जरां जीर्णताम् एति जरायुः, गर्भवेष्टनचर्म । निर्गता जरायोः, गर्भवेष्टनात् याः । निर्गतगर्भवेष्टनाः । घातस्थानात् प्रादुर्भूताः (तासाम्) पृदाकूरूपाणां शत्रुसेनानाम् (जरायु-भिः) पूर्ववत्, जरा+इण्-ञुण् । गर्भवेष्टनैः । गुप्तकपटचेष्टाभिः-इति यावत् (वयम्) योद्धारः पुरुषाः (अक्ष्यौ) १ । ८ । ३ । अशू व्याप्तौ—क्सि । यद्वा, अक्षू व्याप्तौ-इन्, ततो ङीप् । छान्दसं रूपम् पूर्ववत् स्वरितः । अक्षिणी, उभे मानसिकमास्तिकनेत्रे (अपि॰ह्यामसि) व्येञ् संवरणे । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तता । अपिव्ययामः, आच्छादयामः, स्वबुद्धिबलैः प्रमोहयामः (अघायोः) १ । २० । २ । अघं परहिंसनमिच्छतीति अघायुः । अनिष्टचारिणः । पापात्मनः (परि-पन्थिनः) छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि पा० ५ । २ । ८९ । इति परि+पथि गतौ—णिनि । निपातितः । यद्वे प्रत्यवस्थातुः, प्रतिकूलाचारिणः, शत्रोः ॥

विषूची । एतु । कृन्तती । पिनाकम्-इव । बिभ्रती ।
विष्वक् । पुनः-भुवाः । मनः । असम्-ऋद्धाः । अघ-यवः ॥२॥

भाषार्थ—(पिनाकम् इव) त्रिशूल सा (बिभ्रती) उठाये हुये (कृन्तती) काटती हुयी [हमारी सेना] (विषूची) सब ओर फैल कर (एतु) चले। और (पुनर्भुवाः) फिर जुड़ कर आयी हुयी [शत्रु सेना] का (मनः) मन (विष्वक्) इधर उधर उड़ाऊ [हो जावे] (अघायवः) बुरा चीतने वाले शत्रु लोग (असमृद्धाः) निर्धन हो जावें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे चतुर सेनापति अस्त्र शस्त्र वाली अपनी साहसी सेना के अनेक विभाग करके शत्रुओं पर झपट कर धावा मारता और उन्हें व्याकुल करके भगा देता है जिससे वह लोग फिर न तो एकत्र हो सकते और न धन जोड़ सकते हैं, ऐसे ही बुद्धिमान् मनुष्य कुमार्ग गामिनी इन्द्रियों को वश में करके सुमार्ग में चलावें और आनन्द भोगें ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (पुनर्भुवाः) के स्थान में [पुनर्भवाः] है ॥

न बहवः समशकन् नार्भका दाधृषुः ।
वेणोरद्गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः ॥ ३ ॥

२—(विषूची) १ । १९ । १ । नानाविधं गच्छन्ती, नानामुखी (एतु) गच्छतु (कृन्तती) कृती छेदने-शतृ । तुदादित्वात् शः । शे मुचादीनाम् । पा० ७ । १ । ५९ । इति नुम्, ततो ङीप् । छिन्दती, भिन्दती शत्रुसेना (पिनाकम्) पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । पा रक्षणे पन स्तुतौ वा- आकप्रत्ययेन निपात्यते । त्रिशूलम् (बिभ्रती) १ । १ । १ । डुभृञ् धारणपोषणयोः—शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । धारयन्ती (विष्वक्) १ । १९ । १ । नानामुखम्, अनवस्थितम् (पुनः-भुवाः) पुनः+भू सत्तायाम्—क्विप् । पुनः संघीभूतायाः पृदाकाः, शत्रुसेनायाः-इत्यर्थः (मनः) चित्तम् (असम्-ऋद्धाः) ऋधु वृद्धौ-क्त । असम्पन्नाः, निर्धनाः (अघायवः) म० १ । अनिष्ट-चिन्तकाः शत्रवः ॥

न । बहवः । सम् । अशकन् । न । अर्भकाः । अभि । दाधृषुः । वेणोः । अद्गाः-इव । अभितः । असम्-ऋद्धाः । अघ-यवः ॥३॥

भाषार्थ—(न) न तो (बहवः) बहुत से शत्रु (समशकन्) समर्थ हुये (न) और न (अर्भकाः) वह निर्बल हो जाने पर (अभिदाधृषुः) कुछ साहस कर सके, (वेणोः) बांस के (अद्गाः) मालपुओं के (इव) समान (अघायवः) बुरा चीतने वाले शत्रु (असमृद्धाः) निर्धन [होवें] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा दुराचारी दुष्टों को ऐसा वश में करे कि वह एकत्र न हो सकें और न सता सकें, और जैसे नीरस सूखे बांस आदि तृण का भोजन पुष्टिदायक नहीं होता, इसी प्रकार सर्वथा निर्बल कर दिये जावें । इसी प्रकार मनुष्य आत्म शिक्षा करें ॥ ३ ॥

सायणभाष्य में (दाधृषुः) के स्थान में [दादृशुः] और (अद्गाः) के स्थान में [उद्गाः] है ॥

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् ।
इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः ॥ ४ ॥

३—(बहवः) लङ्घिबंह्योर्नलोपश्च । उ० १ । २९ । इति बहि वृद्धौ-कु, नस्य लोपः । विपुलाः, हस्त्यश्वरथपदातियुक्ताः शत्रवः (सम्) सम्यक्, अल्पमपीत्यर्थः (अशकन्) शक्लृ शक्तौ-लुङ् । जेतुं शक्ता अभूवन् (अर्भकाः) अर्तिगृभ्यां भन् । उ० ३ । १५२ । इति ऋ गतौ-भन् स्वार्थे-कन् । दभ्रमर्भकमित्यल्पस्य । इति यास्कः-निरु० । ३ । २० । अल्पाः, निर्बलाः (अभि) आभिमुख्येन (दाधृषु) धृषु संहतौ, हिंसे, प्रागल्भ्ये-लिट्, दीर्घः । धृष्टाः प्रगल्भा बभूवुः (वेणोः) अजिवृरीभ्यो निच्च । उ० ३ । ३८ । इति अज गतिक्षपणयोः-णु । वीभावो गुणश्च । वंशकाण्डस्य नीरसतृणस्य इत्यर्थः (अद्गाः) गन् गम्यद्योः । उ० १ । १२३ । इति अद भक्षणे-गन् । अद्यते भक्ष्यते स अद्गः । पुरोडाशाः (अभितः) सर्वतः । अन्यद् व्याख्यातम् । म० २ ॥

प्र। इतम्। पादौ। प्र। स्फुरतम्। वहतम्। पृणतः। गृहान्।
इन्द्राणी। एतु। प्रथमा। अजीता। अमुषिता। पुरः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पादौ) हे हमारे दोनों पांव (प्रेतम्) आगे बढ़ो, (प्रस्फुरतम्) फुरती करे जाओ, (पृणतः) तृप्त करने वाले (गृहान्) कुटुम्बियों के पास [हमें] (वहतम्) पहुंचाओ। (प्रथमा) अपूर्व वा विख्यात (अजीता=अजिता) बिना जीता और (अमुषिता) बिना लूटी हुई (इन्द्राणी) इन्द्र की शक्ति, महा सम्पत्ति (पुरः) [हमारे] आगे आगे (एतु) चले ॥ ४ ॥

भावार्थ—१, महा प्रतापी शूर वीर पुरुषार्थी राजा विजय करके और बहुत धन प्राप्त करके सावधान होकर अपने घर को लौटे, और अपने मित्रों में अनेक प्रकार से उन्नति करके सुख भोग करे ॥

२—जितेन्द्रिय पुरुष आत्मस्थ परमेश्वर के दर्शन से परोपकार करके सुख प्राप्त करे ॥

(इहेन्द्राणीमुपंह्वये वरुणानीं स्वस्तये) ऋ० १। २२। १२।
इस मन्त्र में (इन्द्राणी) इन्द्र सूर्य वा वायु की शक्ति और (वरुणानी) वरुण जल की शक्ति ऐसा अर्थ श्रीमद् दयानन्द भाष्य में है ॥

४—(प्र+इतम्) इण् गतौ—लोट्। युवां प्रकर्षेण गच्छतम् (पादौ) हे मम पादौ (स्फुरतम्) स्फुर स्फुर्तौ, चलने च—लोट् शीघ्रं चलतम् (वहतम्) वह प्रापणे—लोट्, द्विकर्मकः। अस्मान् प्रापयतम् (पृणतः) पृण तर्पणे, तुदादिः—शतृ। तर्पयितॄन् सुखयितॄन् पुरुषान् (गृहान्) पुंलिङ्गम्। गेहे कः। पा० ३। १। १४४। इति ग्रह आदाने-क। दारान् दारादीन् गृहस्थान् प्रति (इन्द्राणी) इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी-निरु० ११। ३७। इन्द्रस्य विभूतिः—इति दुर्गाचार्यस्तद्वृत्तौ। इन्द्रवरुणभवशर्व०। पा० ४। १। ४६। इति इन्द्र—ङीष् आनुक् च। इन्द्रस्य ऐश्वर्यशालिनः पत्नी पालयित्री शक्तिः। महासमृद्धिः महालक्ष्मीः (एतु) इण्—गतौ। गच्छतु (प्रथमा) १। १२। १ अपूर्वा। प्रख्याता, उत्कृष्टा (अजीता) जि—क। सांहितिको दीर्घः। अनिर्जिता, अपराभूता (अमुषिता) मुष बधे, लुण्ठने—क। अनपहृता (पुरः) पुरस्तात्। अस्माकम् अग्रे ॥

सूक्तम् २८ ॥

१-४ । चातन ऋषिः । अग्निर्देवता । १-३ अनुष्टुप्, ४ पङ्क्तिः ।

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

उप प्रागा॑द् दे॒वो अ॒ग्नी र॑क्षो॒हामी॑व॒चात॑नः ।
द॒हन्नप॑ द्वया॒विनो॑ यातु॒धाना॑न् किमी॒दिनः॑ ॥ १ ॥

उप॑ । प्र । अ॒गा॒त् । दे॒वः । अ॒ग्निः । र॒क्षः॒-हा । अ॒मी॒व॒-चात॑नः ।
द॒हन् । अप॑ । द्व॒या॒विनः॑ । या॒तु॒-धाना॑न् । कि॒मी॒दिनः॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(रक्षोहा) राक्षसों का मार डालने वाला (अमीवचातनः) दुःख मिटाने वाला (देवः) विजयी (अग्निः) अग्नि रूप सेनापति (द्वयाविनः) दुमुखे कपटी, (यातुधानान्) पीड़ा देने वाले (किमीदिनः) यह क्या है यह क्या है ऐसा करने वाले छली सूचकों वा लंपटों को (अप दहन्) मिटाकर भस्म करता हुआ (उप) हमारे समीप (प्र-अगात्) आ पहुंचा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जब सेनापति अग्नि रूप होकर शतघ्नि [तोप] भुशुण्डी [बन्दूक], धनुष बाण तरवार आदि अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं का नाश करता है तब राज्य में शान्ति रहती है ॥ १ ॥

१—(अगात्) इण् गतौ-लुङ् । अगमत् (देवः) १ । ७ । १ । विजयी (अग्निः) अग्निवत् तेजस्वी सेनापतिः (रक्षः—हा) रक्ष पालने-अपादाने असुन्, रक्षो रक्षितव्यमस्मात् । इति यास्कः-निरु ४ । १८ । बहुलं छन्दसि । पा० ३ । २ । ८८ । इति रक्षः+हन-क्विप् । हिंसकानां हन्ता (अमीव-चातनः) इणशीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । इति बाहुलकात् अम रोगे-वन्, ईडागमः । अमीवं दुःखम् । चातयतिर्नाशने-निरु० ६ । ३० । दुःखानां नाशयिता । (अप+दहन्) दह-शतृ । संतापयन्, । भस्मसात् कुर्वन् (द्वयाविनः) द्वयं वाचिकं माधुर्यं मानसिकं हिंसनं च येषामस्तीति । बहुलं छन्दसि । पा० ५ । २ । १२२ । इति द्वय-विनिप्रत्ययः । दीर्घश्च । मायाविनः (यातु-धानान्) १ । ७ । १ । पीड़ाप्रदान् (किमीदिनः,) १ । ७ । १ । पिशुनान, कपटिनः, सूचकान् ॥

प्रति॑ दह यातु॒धाना॒न् प्रति॑ देव किमी॒दिनः॑ ।
प्र॒ती॒चीः॑ कृष्णवर्तने॒ सं द॑ह यातु॒धान्यः॑ ॥ २ ॥

प्रति॑ । द॒ह॒ । या॒तु॒-धाना॑न् । प्रति॑ । दे॒व॒ । कि॒मी॒दिनः॑ ।
प्र॒ती॒चीः॑ । कृष्ण॒-व॒र्त॒ने॒ । सम् । द॒ह॒ । या॒तु॒-धान्यः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देव) हे विजयी सेनापति (यातुधानान्) दुःखदायी राक्षसों और (किमीदिनः) क्या क्या करने हारे छली सूचकों को (प्रति) एक एक करके (प्रति दह) जला दे। (कृष्णवर्तने) हे धूंआ धाड़ मार्ग वाले अग्नि रूप सेनापति (प्रतीचीः) सन्मुख धावा करती हुयी (यातुधान्यः=०—नीः) दुःखदायिनी शत्रु सेनाओं को (सम् दह) चारों ओर से भस्म करदे ॥ २ ॥

भावार्थ—युद्धकुशल सेनापति अपने घातस्थानों से तोप तुपक आदि द्वारा अग्नि के समान धुआं धाड़ करता हुआ शत्रुओं के मुखियाओं और सेनादलों को व्याकुल करके भस्म कर देवे ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (कृष्णवर्तने) के स्थान में [कृष्णवर्तमने] पद और उस का अर्थ [हे कृष्णवर्तमन्] है ॥

या श॒शाप॒ शप॑नेन॒ याघं मूर॑माद॒धे ।
या रस॑स्य॒ हर॑णाय जा॒तमा॑रे॒भे तो॒कम॑त्तु॒ सा ॥ ३ ॥

२—(प्रति) प्रतिमुखम्। प्रत्येकम् (दह)। भस्मीकुरु, (यातु-धानान्) म० १। पीड़ादातॄन्, राक्षसान् (देव) म० १। हे विजयशील! (किमीदिनः) म० १। पिशुनान् (प्रतीचीः) ऋत्विग्दधृक०। पा० ३। २। ५९। इति। प्रति+अञ्चु गतिपूजनयोः-क्विन्। नलोपः, ङीप्। यथा विषूचीः शब्दः, १। १९। १। प्रतिकूलं गच्छन्तीः (कृष्ण-वर्तने) वृतेश्च। उ० २। १०६। इति वृतु वर्तने-अनि। कृष्णा कृष्णवर्णा शतघ्नीभुशुण्ड्यादिप्रसारितधूमेन वर्तनिः वर्तिः पन्थाः यस्य सः, अग्निर्वा। हे कृष्णमार्ग, अग्निरूपसेनापते (सम्) सम्यक्, सर्वथा (यातु-धान्यः) पुंयोगादाख्यायाम्। पा० ४। १। ४८। इति यातु-धान-ङीष्, शसः स्थाने छन्दसि जस्। यणि कृते स्वरितः। यातुधानीः पीड़ादायिनीः शत्रुसेनाः ॥

या । शुशापं । शपनेन । या । अघम् । मूरंम् । आ-दुधे ।
या । रसस्य । हरणाय । जातम् । आ-रे भे । तोकम् । अत्तु । सा ॥३॥

भाषार्थ—(या) जिस [शत्रुसेना] ने (शपनेन) शाप [कुवचन] से (शशाप) कोसा है और (या) जिस ने (अघम्) दुःख की (मूरम्) मूल को (आदधे) आकर जमाया है। और (या) जिस ने (रसस्य) रस [बलादि] के (हरणाय) हरण के लिये (जातम्) [हमारे] समूह को (आरेभे) हाथ लगाया है. (सा) वह [शत्रुसेना] (तोकम्) अपनी बढ़ती वा सन्तान को (अत्तु) खालेवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—रण क्षेत्र में जब शत्रु सेना कोलाहल मचाती, धावा मारती और लूट खसोट करती आगे बढ़ती आवे, तो युद्धकुशल सेनापति शत्रुओं में भेद डाल दे कि वह लोग आपस में लड़ मरें और अपने सन्तान अर्थात् हितकारियों का ही नाश करदें ॥

सायण भाष्य में (आदधे) के स्थान में [आददे] पाठ है ॥

३—(या) यातुधानी शत्रुसेना (शशाप) शप आक्रोशे—लिट् । शापं । अनिष्टकथनं कृतवती (शपनेन) शप आक्रोशे—करणे ल्युट् । आक्रोशेन, कुवचनेन (अघम्) अघ पापकरणे—णिच्—अच् । पापं, दुःखम् । दुःखकरम् (मूरम्) क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति मुर्छा मोहसमुच्छ्राययोः-क्विप् । राल् लोपः । पा० ६ । ४ । २१ । इति छकारलोपः । मूर्छाकरम् । यद्वा । मूल, प्रतिष्ठायाम्, रोपणे-कु, लस्य रकारः । मूलम् । प्रतिष्ठाम् (अघं मूरम्) दुःखकरं मूलं शरणम् (आ-दधे) आङ्+डुधाञ् धारणपोषणयोः, दाने च—लिट् । परिजग्राह (रसस्य) रस आस्वादे-पचाद्यच् । सारस्य, बलस्य, धनस्य, आनन्दस्य (हरणाय) अपहरणाय, नाशनाय (जातम्) जनी प्रादुर्भावे-क्त । अस्माकं समूहम् (आ-रेभे) आङ् पूर्वात् लभ आलम्भे= स्पर्शे-लिट्, लस्य रकारः । आलेभे, स्पृष्टवती (तोकम्) १ । १३ । २ । वृद्धिकरं । सन्तानम् (अत्तु) भक्षयतु नाशयतु (सा) शत्रुसेना ।

पुत्रमंत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम् ।
अधा मिथो विकेश्यो३ वि घ्नतां यातुधान्यो३
वि तृह्यन्तामराय्यः ॥ ४ ॥

पुत्रम् । अत्तु । यातु-धानीः । स्वसारम् । उत । नप्त्यम् ।
अध । मिथः । वि-केश्यः । वि । घ्नताम् । यातु-धान्यः ।
वि । तृह्यन्ताम् । अराय्यः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यातुधानीः = ०—नी) दुःख दायिनी [शत्रुसेना] (पुत्रम्) [अपने] पुत्र को, (स्वसारम्) भली भांति काम पूरा करने हारी बहिन को (उत) और (नप्त्यम् = नप्त्रीम्) नातिनी वा धेवती को (अत्तु) खालेवे अर्थात् नष्ट करे । (अध) और (विकेश्यः) केश बिखेरे हुये वह सब [सेनायें] (मिथः) आपस में (वि घ्नताम्) मर मिटें और (अराय्यः) दान अर्थात् कर न देने हारी (यातु-धान्यः) दुःख पहुंचाने हारी [शत्रु प्रजायें] (वितृह्यन्ताम्) विविध प्रकार के दुःख उठावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति राजा अपनी बुद्धि बल से दुष्ट शत्रुसेना में हलचल मचादे कि वह सब घबराकर आपस में कट मर कर एक दूसरे को सताने लगें और जो प्रजा गण हट दुराग्रह करके, कर आदि न देवें उन को दण्ड देकर वश में कर लेवे ॥ ४ ॥

४—(पुत्रम्) १ । ११ । ५ । स्वसुतम् (यातु-धानीः) म० २ । प्रथमैकवचनं छन्दसि यथा श्रीः । यातुधानी, दुःखप्रदा, शत्रुसेना (स्वसारम्) सावसेर्ऋन् । उ० २ । ९६ । इति सु+असु क्षेपणे—ऋन् । सुष्ठु अस्यति समाप्नोति कार्याणि सा स्वसा । भगिनीम् (उत) अपि च (नप्त्यम्) नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ० । उ० २ । ९५ । इति न+पत अधोगमने—तृच् । न पतति वंशो यस्मात् स नप्ता । ऋन्नेभ्योङीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति नप्तृशब्दात् ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वरूपस्य विकल्पाद् यणादेशः । नप्त्रीम्, पौत्रीं दौहित्रीं वा (अध) थस्य धः । अथ, अनन्तरम् (मिथः) मिथ वधे, मेधायाम्-

तीनों संहिताओं में (यातुधानीः) सविसर्ग पाठ लेख प्रमाद दीखता है । सायण भाष्य में (यातुधानी) विसर्ग रहित व्याख्यात है वह (अत्तु) क्रिया के संबन्ध में ठीक है ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

—:०:०:०:—

सूक्तम् २६ ॥

१-६ ॥ वसिष्ठ ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ के लिये उपदेश ॥

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

अभि-वर्तेन । मणिना । येन । इन्द्रः । अभि-ववृधे ।
तेन । अस्मान् । ब्रह्मणः । पते । अभि । राष्ट्राय वर्धय ॥१॥

भाषार्थ—(येन) जिस (अभिवर्तेन) विजय करने वाले (मणिना) मणि से [प्रशंसनीय सामर्थ्य वा धन से] (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष

असुन्, पृषोदरादित्वात् ह्रस्वः । अन्योऽन्यम् । परस्पम् (वि-केश्यः) स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद् सं० । पा० ४ । १ । ५४ । इति विकेश-ङीष् । विकीर्णकेशयुक्ताः परस्परताडनेन (वि) विविधम् (घ्नताम्) हन हिंसागत्योः—लोटि बहुवचने । हन्यन्ताम् । म्रियन्ताम् (यातुधान्यः) म० १ । पीड़ाप्रदाः शत्रुसेनाः (तृह्यन्ताम्) तृह हिंसायाम्-कर्मणि लोट् । हिंस्यन्ताम् (अराय्यः) रा दाने-घञ् युक् आगमः ङीष् । अदानशीलाः प्रजाः ॥

१—(अभि-वर्तेन) अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १६ । इति अभि+वृतु वर्तने भवने—घञ् छान्दसो दीर्घः । अभिवर्तते अभिभवति शत्रून्

(अभि) सर्वथा (वबृधे) बढ़ा था । (तेन) उसी से, (ब्रह्मणस्पते) हे वेद वा ब्रह्मा [वेदवेत्ता] के रक्षक परमेश्वर ! (अस्मान्) हमलोगों को (राष्ट्राय) राज्य भोगने के लिये (अभि) सब ओर से (वर्धय) तू बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार हम से पहिले मनुष्य उत्तम सामर्थ्य और धन को पाकर महा प्रतापी हुये हैं, वैसे ही उस सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के अनन्त सामर्थ्य और उपकार का विचार करके हम लोग पूर्ण पुरुषार्थ के साथ (मणि) विद्याधन और सुवर्ण आदि धन की प्राप्ति से सर्वदा उन्नति करके राज्य का पालन करें ॥ १ ॥

मन्त्र १-३, ६ ऋग्वेद मंडल १० सूक्त १७४ म० १-३ और ५ कुछ भेद से हैं। जैसे (मणिना) के स्थान में [हविषा] पद है, इत्यादि ॥

अभिवृत्यं सपत्नानभि या नो अरातयः ।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥

अभि-वृत्यं । स-पत्नान् । अभि । याः । नः । अरातयः ।
अभि । पृतन्यन्तम् । तिष्ठ । अभि । यः । नः । दुरस्यति ॥२॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मणस्पते] (सपत्नान्) [हमारे] प्रतिपक्षियों को, और (याः) जो (नः) हमारी (अरातयः) कर न देने हारी प्रजायें हैं,

---

स अभिवर्तः । अभिभवनशीलेन, जयशीलेन (मणिना) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । मण कूजे—इन् । रत्नेन, प्रशंसनीयसामर्थ्येन धनेन, वा राज-चिन्हेन (इन्द्रः) १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवान् पुरुषो जीवः (अभि-वबृधे) वृधु वृद्धौ—लिट् तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य । पा० । ६ । १ । ७ । इति दीर्घः । अभितः सर्वतः प्रवृद्धो बभूव (तेन) मणिना (ब्रह्मणः+पते) १ । ८ । ४ । १ । १ । १ । षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । हे ब्रह्मणो वेदस्य विप्रस्य वा पालक परमेश्वर ! (राष्ट्राय) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५६ । इति राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च-ष्ट्रन् । राजति ऐश्वर्यकर्मा-निघ० २ । २१ । व्रश्चभ्रस्जसृज० । पा० ८ । २ । ३६ । इति षः । राज्यवर्धनाय (वर्धय) वृधु वृद्धौ—णिच् लोट् । समर्धय, समृद्धान् कुरु ॥

[उन को] (अभि) सर्वथा (अभिवृत्य) जीतकर (प्रतन्यन्तम्) सेना चढ़ा कर लाने वाले शत्रु को [और उस पुरुष को] (यः) जो (नः) हम से (दुरस्यति) दुष्ट आचरण करे, (अभि) सर्वथा (अभि तिष्ठ) तू दबा ले ॥२॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर पर श्रद्धा करके अपने स्वदेशी और विदेशी दोनों प्रकार के शत्रुओं को यथा योग्य दंड देकर वश में रक्खे ॥ २ ॥

टिप्पणी—(अरातयः) शब्द का अर्थ ऋ० १० । १७४ । २ । में सायणाचार्य ने भी अदानशील प्रजा किया है ॥

अभि त्वा देवः संविताभि सोमो अवीवृधत् ।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यंभीवर्तो यथासंसि ॥ ३ ॥

अभि । त्वा । देवः । सविता । अभि-सोमः । अवीवृधत् ।
अभि । त्वा । विश्वा । भूतानि । अभि-वर्तः । यथा । असंसि ॥३॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर ।] (देवः) प्रकाशमय (सविता) लोकों के चलाने हारे, सूर्य्य और (सोमः) अमृत देने वाले, चन्द्रमा ने (त्वा) तेरी

२—(अभि-वृत्य) अभि+वृतु—ल्यप् । अभिभूय, पराजित्य (सपत्नान्) १ । ९ । १ प्रतियोगिनः स्वदेशिनः शत्रून् (अभि) अभितः । सर्वथा (याः) ताः याः (अरातयः) १ । २ । २ । अदानशीलाः प्रजाः । इति सायणोऽपि ऋ० १० । १७४ । २ (अभि+तिष्ठ) अभिभव, पराजय,त्वं ब्रह्मणस्पते (पृतन्यन्तम्) १ । ३१ । २ । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति पृतना क्यच्- शतृ । पृतनाः सेना आत्मानमिच्छन्तं युयुत्सुम् (यः)= तम् यः (नः) अस्मान् (दुरस्यति) जरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति । पा० ७ । ४ । ३६ । इति क्यचि दुष्ट शब्दस्य दुरस् भावो निपात्यते । दुष्टीयति दुष्टम् । अनिष्टं कर्तुमिच्छति ॥

३—(अभि) अभितः सर्वतः (त्वा) त्वाम् ब्रह्मणस्पतिम् (देवः) प्रकाशमयः (सविता) १ । १८ । २ । सूर्यः (सोमः) १ । ६ । २ । सवति अमृ-

(अभि अभि) सब प्रकार से (अवीवृधत्) बड़ाई की है । और (विश्वा) सब (भूतानि) सृष्टि के पदार्थों ने (त्वा) तेरी (अभि) सब प्रकार [बड़ाई की है,] (यथा) क्यों कि तू (अभिवर्तः) [शत्रुओं का] दबाने वाला (असति) है ॥३॥

भावार्थ—सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पदार्थों की रचना और उपकार से उस परमेश्वर की महिमा दीख पड़ती है, उसी अन्तर्यामी के दिये हुये आत्मबल से शूर वीर पुरुष रणभूमि में राक्षसों को जीत कर राज्य में शान्ति फैलाते हैं ॥ ३ ॥

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।
राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ४ ॥

अभि-वर्तः । अभि-भवः । सपत्न-क्षयणः । मणिः ।
राष्ट्राय । मह्यम् । बध्यताम् । स-पत्नेभ्यः । परा-भुवे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अभिवर्तः) शत्रुओं का जीतने वाला, और (अभिभवः) हराने वाला, और (सपत्नक्षयणः) प्रतिपक्षियों का नाश करने वाला (मणिः) मणि [प्रशंसनीय सामर्थ्य], रत्न आदि राज्य चिन्ह (मह्यम्) मुझ पर (राष्ट्राय)

तम् । चन्द्रः (अवीवृधत्) वृधु वृद्धौ, णिच–लुङ् । वर्धितवान्, अस्तावीत् (अभि)=अभि अवीवृधन् अस्तुवन् (विश्वा) शेर्लुक् । विश्वानि सर्वाणि (भूतानि) प्राणिजातानि, चराचरात्मकानि वस्तूनि, तत्त्वानि (अभिवर्तः) म० १ । वृतु–घञ् । अभिभविता, शत्रुजेता (यथा) यस्मात् कारणात् (असति) अस भुवि–लट् । बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७३ इति शपोऽलुक् । असि भवसि ॥

४—(अभिवर्तः) म० १ । जयशीलः (अभिभवः) अभि+भू–अप् । अभिभविता (सपत्न–क्षयणः) नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति सपत्न पूर्वात् क्षि क्षये–कर्तरि ल्यु । शत्रूणां क्षयकारः (मणिः)

राज्य की वृद्धि के लिये और (सपत्नेभ्यः) वैरियों को (पराभुवे) दबाने के लिये (बध्यताम्) बांधा जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—राज्य लक्ष्मी का प्रभाव जताने के लिये राजा मणि रत्न आदि को धारण करके अपना सामर्थ्य बढ़ावे और राज सभा में राज सिंहासन पर विराजे कि जिस से शत्रु दल भयभीत होकर आज्ञाकारी बने रहें और राज्य में ऐश्वर्य की सदा वृद्धि होवे ॥ ४ ॥

उद॒सौ सूर्यो॑ अगादुदि॒दं मा॑म॒कं वचः॑ ।
यथा॒हं श॑त्रु॒होऽसा॑न्यसप॒त्नः स॑पत्न॒हा ॥ ५ ॥

उत् । अ॒सौ । सूर्यः॑ । अ॒गा॒त् । उत् । इ॒दम् । मा॒म॒कम् । वचः॑ ।
यथा॑ । अ॒हम् । श॒त्रु॒-हः । असा॑नि । अ॒स॒प॒त्नः । स॒प॒त्न॒-हा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(असौ) वह (सूर्यः) लोकों का चलाने हारा सूर्य (उत् अगात्) उदय हुआ है और (इदम्) यह (मामकम्) मेरा (वचः) वचन (उत्=उत् अगात्) उदय हुआ है (यथा) जिस से कि (अहम्) मैं (शत्रुहः) शत्रुओं का

म० १ । रत्नम् । प्रशस्तं सामर्थ्यम् (राष्ट्राय) म० १ । राज्यवर्धनाय (मह्यम्) मदर्थम् (बध्यताम्) बन्ध बन्धने, कर्मणि लोट् । धार्यताम् (सपत्नेभ्यः) शत्रुभ्यः (पराभुवे) परा+भू-भावे क्विप् । पराभवनाय ॥

५—(उत्+अगात्) १ । २८ । ११ उदितवान् (सूर्यः) १ । ३ । ५ । लोकानां प्रेरकः । आदित्यः, राज्यलक्ष्मीरूपः (उत्)=उत् अगात् (इदम्) वक्ष्यमाणं वचनम् (मामकम्) तस्येदम् । पा० । ४ । ३ । १२० । इति अस्मद् अण् । तवकममकावेकवचने । पा० ४ । ३ । ३ । इति ममकादेशः । मदीयम् (वचः) वच कथने-असुन् । वाक्यम् । वचनम् (यथा) येन कारणेन (अहम्) राजा (शत्रु-हः) अशिषि हनः । पा० ३ । २ । ४९ । इति शत्रु+हन हिंसागत्योः-डप्रत्ययः । शत्रूणां हन्ता (असानि) अस सत्तायां-लोट् । अहं

मारने वाला, और (सपत्नहा) रिपु दल का नाश करने वाला होकर (असपत्नः) शत्रु रहित (असानि) रहूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा राज सिंहासन पर विराजकर राजघोषणा करे कि जिस प्रकार पृथिवी पर सूर्य प्रकाशित है उसी प्रकार से यह राज घोषणा [ढंढोरा] प्रकाशित की जाती है कि राज्य में कोई उपद्रव न मचावे, और न अराजकता फैलावे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋ० १० । १५६ । १ । का पूर्वार्ध है वहां (वचः) के स्थान में (भगः) है ॥

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः ।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

सपत्न-क्षयणः । वृषा । अभि-राष्ट्रः । वि-ससहिः ।
यथा । अहम् । एषाम् । वीराणाम् । वि-राजानि । जनस्य । च ॥६॥

भाषार्थ—(यथा) जिस से कि (सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का नाश करने वाला (वृषा) ऐश्वर्य वाला (विषासहिः) सदा विजय वाला (अहम्) मैं (अभिराष्ट्रः) राज्य पाकर (एषाम्) इन (वीराणाम्) वीर पुरुषों का (च) और (जनस्य) लोकों का (विराजानि) राजा रहूं ॥ ६ ॥

भवानि (असपत्नः) म० २ । शत्रुरहितः (सपत्नहा) क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति सपत्न+हन-क्विप् । रिपुहन्ता ॥

६—(सपत्न-क्षयणः) म० ४ । शत्रुनाशकः (वृषा) १ । १२ । १ । वृषु ऐश्वर्ये-कनिन् । ऐश्वर्यवान् । सुखवर्षकः । इन्द्रः । महाबली (अभि-राष्ट्रः) म० १ । अभिगतराज्यः । प्राप्तराज्यः (विषासहिः) सहिवहिचलियतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ । वा० पा० ३ । २ । १७१ । इति षह अभिभवे-कि । अतोलोपयलोपौ । विविधं पुनः पुनः परेषां सोढा, अभिभविता (एषाम्) उपस्थितानाम् (वीराणाम्) वीर विक्रान्तौ-पचाद्यच् । विक्रान्तानां, शूराणाम्, भटानाम् (वि-राजानि) राजति=ईष्टे—निघ० २ । २१ । ईश्वरः

भावार्थ—राजा सिंहासन पर विराजकर राजघोषणा करते हुये शूरवीर योद्धाओं और विद्वान् जनों का सत्कार और मान करके शासन करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१-४ ॥ आयुष्कामोऽथर्वा ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ का उपदेश ॥

विश्वे॑ दे॒वा॒ वस॑वो॒ रक्ष॑ते॒ममु॒तादि॑त्या॒ जागृ॒त यू॒य-
मु॒स्मिन् । मेमं सना॑भिरु॒त वा॒न्यना॑भि॒र्मेमं प्राप॑त्
पौरु॑षेयो व॒धो यः ॥ १ ॥

विश्वे॑ । दे॒वाः । वस॑वः । रक्ष॑त । इ॒मम् । उ॒त । आ॒दि॒त्याः । जा॒गृ॒त । यू॒यम् । अ॒स्मिन् । मा । इ॒मम् । स-ना॑भिः । उ॒त । वा॒ । अ॒न्य-ना॑भिः । मा । इ॒मम् । प्र । आ॒प॒त् । पौरु॑षेयः । व॒धः । यः ॥ १ ॥

भावार्थ—(वसवः) हे श्रेष्ठ (विश्वे) सब (देवाः) प्रकाशमान महात्माओ ! (इमम्) इस पुरुष की (रक्षत) रक्षा करो, (उत) और (आदित्याः) हे सूर्य समान तेज वाले विद्वानो ! (यूयम्) तुम (अस्मिन्) इस राजा के विषय में (जागृत) जागते रहो। (सनाभिः) अपने बन्धु का, (उत वा)

शासिता भवानि (जनस्य) जनी प्रादुर्भावे-अच् । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति षष्ठी । लोकस्य, प्राणिजातस्य ॥

१—(देवाः) १ । ७ । १ । विजयिनः पुरुषाः (वसवः) १ । ९ । १ । निवासयितारः । प्रशस्ताः श्रेष्ठाः (रक्षत) पालयत (इमम्) माम् राजानम् (आदित्याः) १ । ९ । १ । विद्यादिशुभगुणानां रसस्य आदातारो ग्रहीतारः । अथवा आदित्यवत् तेजस्विनः महाविद्वांसः (जागृत) जागृ निद्राक्षये—लोट् । प्रबुद्धा रक्षार्थम् अवहिताः संनद्धा भवत (मा) निषेधे (स-नाभिः)

अथवा (अन्यनाभिः) अबन्धु का, अथवा (पौरुषेयः) किसी और पुरुष का किया हुआ, (यः) जो (वधः) वध का यत्न है [वह] (इमम्) इस (इमम्) इस पुरुष को (मा मा) कभी न (प्रापत्) पहुंच सके ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपने सुपरीक्षित न्याय मन्त्री और युद्ध मन्त्री आदि कर्मचारी शूरवीरों को राज्य की रक्षा के लिये सदा चैतन्य करता रहे कि कोई सजाती वा स्वदेशी वा विदेशी पुरुष प्रजा में अराजकता न फैलावे ॥ १ ॥

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेद-मुक्तम् । सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्येनं जरसे वहाथ ॥ २ ॥

ये । वः । देवाः । पितरः । ये । च । पुत्राः । स-चेतसः । मे । शृणुत । इदम् । उक्तम् । सर्वेभ्यः । वः । परि । ददामि । एतम् । स्वस्ति । एनम् । जरसे । वहाथ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजयी देवताओ ! और (ये) जो (वः) तुम्हारे (पितरः) पितृगण (च) और (ये) जो (पुत्राः) पुत्रगण हैं, वह तुम सब (सचेतसः) सावधान होकर (मे) मेरे (इदम्) इस (उक्तम्) वचन को

नहो भश्च । उ० ४ । १२६ । इति णह बन्धने-कर्मणि इञ् समानस्य सः । समानेन स्वकीयेन संबद्धः । स्वजातिकृतो वधः (अन्य-नाभिः) अन्येन संबद्धः । अजातिकृतो वधः (प्र+आपत्) आप्लृ व्याप्तौ—लुङि । प्राप्नोतु (पौरुषेयः) सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ । पा० ५ । १ । १० । इत्यत्र । पुरुषाद् वधविकारसमूह-तेनकृतेषु । वार्तिकम् । इति पुरुष-ढञ् । पुरुषकृतः (वधः) १ । २० । २ । हननम् । हिंसनप्रयोगः ॥

२—(पितरः) १ । २ । १ । पालकाः, उत्पादकाः (पुत्राः) १ । ११ । ५ । आत्मजाः (स-चेतसः) समान+चिती ज्ञाने—असुन् । समानस्य छन्दसि० । पा० ६ । ३ । ८४ । इति सभावः । समानचित्ताः, एकमनस्काः (शृणुत) श्रु

(शृणुत) सुनो । (सर्वेभ्यः वः) तुम सब को मैं (एनम्) इसे [अपने को] (परि ददामि) सौंपता हूं, (एनम्) इस पुरुष के लिये [मेरे लिये] (स्वस्ति) कल्याण और मङ्गल (जरसे) स्तुति के अर्थ (वहाथ) तुम पहुंचाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—जो बुद्धिमान् मनुष्य शास्त्रवित् विजयशील वृद्ध, युवा और ब्रह्मचारियों की सेवा में आत्म समर्पण करता है वह पुरुष उन महात्माओं के सत्संग, उपदेश और सत्कर्मों से लाभ उठाकर संसार में अपनी स्तुति फैलाता है ॥ २ ॥

टिप्पणी—(जरसे) शब्द का अर्थ "स्तुति के लिये" निघंटु ३ । १४ । निरु० १० । ८ । और सायणभाष्य ऋग्वेद १ । २ । २ । के प्रमाण से किया है । यहां पर सायणभाष्य में "जरायै, जराप्राप्तिपर्यन्तम् । बुढ़ापे के लिये, बुढ़ापे के आने तक" जो अर्थ है वह असंगत है, वेद में जीवन को स्वस्थ और स्तुति-योग्य रखने का उपदेश है । देखो—अथर्ववेद, का० ६ सू० १२० म० ३ ॥

यत्रा॑ सु॒हार्दः॑ सु॒कृतो॒ मद॑न्ति वि॒हाय॒ रोगं॑ त॒न्व१ः॒ स्वायाः॑ ।
अश्लो॑णा अङ्गै॒रह्रु॑ताः स्व॒र्गे तत्र॑ पश्येम पि॒तरौ॑ च पु॒त्रान् ॥

जहां पर पुण्यात्मा मित्र अपने शरीर का रोग छोड़ कर आनन्द भोगते हैं,

श्रवणे—लोट् । आकर्णयत (इदम्) वक्ष्यमाणम् (उक्तम्) वच कथने—क्त । वचिस्वपियजादी० पा० ६ । १ । १५ । इति संप्रसारणम् । वचनम् (वः) युष्मभ्यम् (परि ददामि) रक्षणार्थं दानं परिदानं समर्पणम् । रक्षितुं प्रयच्छामि, समर्पयामि (एतम्) आत्मानम् (स्वस्ति) सावसेः । उ० ४ । १८१ । सु+अस सत्तायां—ति । आशीर्वादम्, क्षेमम् (एनम्) माम् प्रति । (जरसे) जरते स्तौतीत्यर्चतिकर्माणौ—निघ० ३ । १४ । जरा स्तुतिर्जरते—स्तुतिकर्मणः । निरु० १० । ८ । यथा । वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः । ऋ० १ । २ । २ । जरन्ते=स्तुवन्ति, जरितारः=स्तोतारः, इति सायणस्तद्भाष्ये । जॄ स्तुतौ, नैरुक्तधातुः । यद्वा । गॄ शब्दे=स्तुतौ—असुन्, गकारस्य जकारः । स्तुत्यर्थम् । प्रशंसाप्राप्त्यर्थम् (वहाथ) वह प्रापणे-लेट् । द्विकर्मकः । यूयं प्रापयत ॥

वहां पर स्वर्ग में बिना लंगड़े हुये और अंगों से बिना टेढ़े हुये हम माता पिता और पुत्रों को देखते रहें ।

और देखो यजुर्वेद २५ । २१ । तथा ऋग्वेद १ । ८९ । ८ ।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

हे विद्वान् जनो ! कानों से हम शुभ सुनते रहें, हे पूज्य महात्माओ ! आंखों से हम शुभ देखते रहें । दृढ़ अङ्गों और शरीरों से स्तुति करते हुये हम लोग वह जीवन पावें जो विद्वानों का हितकारक है ॥

ये देवा दिवि ष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः । ते कृणुत जरसमायुरस्मै शतमन्यान् परि वृणक्तु मृत्यून् ॥ २ ॥

ये । देवाः । दिवि । स्थ । ये । पृथिव्याम् । ये । अन्तरिक्षे । ओषधीषु । पशुषु । अप्-सु । अन्तः । ते । कृणुत । जरसम् आयुः । अस्मै । शतम् । अन्यान् । परि । वृणक्तु । मृत्यून् ॥२॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वान् महात्माओ ! (ये) जो तुम (दिवि) सूर्य लोक में, (ये) जो (पृथिव्याम्) पृथिवी में, (ये) जो (अन्तरिक्षे) आकाश वा मध्यलोक में, (ओषधिषु) ओषधियों में, (पशुषु) सब जीवों में और (अप्सु) व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं वा जल में (अन्तः) भीतर (स्थ) वर्तमान हो । (ते) वह तुम (अस्मै) इस पुरुष के लिये (जरसम्) कीर्तियुक्त

२—(देवाः) हे दिव्यगुणाः । दिव्यगुणयुक्ता विद्वांसः (दिवि) दिवु क्रीड़ा-विजिगीषाकान्तिगत्यादिषु-क्विप् । प्रकाशे सूर्यसमानलोके (स्थ) अस भुवि लट् । भवथ, वर्तध्वे (पृथिव्याम्) १ । २ । १ । विस्तृतायां प्रख्यातायां वा भूमौ (अन्तरिक्षे) अन्तः सूर्यपृथिव्योर्मध्ये ईक्ष्यते । अन्तर् + ईक्ष दर्शने-कर्मणि

(आयुः) जीवन (कृणुत) करो, [यह पुरुष] (अन्यान्) दूसरे प्रकार के (शतम्) सौ (मृत्यून) मृत्युओं को (परि वृणक्तु) हटावे ॥

भावार्थ—जो विद्वान् सूर्य विद्या, भूमि विद्या, वायुविद्या, ओषधि अर्थात् अन्न, वृक्ष, जड़ी बूटी आदि की विद्या, पशु अर्थात् सब जीवों की पालन विद्या और जल विद्या वा सूक्ष्म तन्मात्राओं की विद्या में निपुण हैं उनके सत्संग और उनके कर्मों के विचार से शिक्षा ग्रहण करके और पदार्थों के गुण, उपकार और सेवन को यथार्थ समझ कर मनुष्य अपना सब जीवन शुभ कर्मों में व्यतीत करें, और दुराचरणों में अपने जन्म को न गमाकर सुफल करें ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(पशु) शब्द जीववाची है, देखो अथर्व० २ । ३४ । १ ।

भम्। यद्वा । अन्तर्मध्ये ऋक्षाणि नक्षत्राणि यस्य तत् अन्तरिक्षम् । पृषोदरादित्वात् ईकारस्य ह्रस्वः, अकारस्य इकारः । अन्तरिक्षं कस्मादन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा—इति भगवान् यास्कः, निरु० २ । १० । सर्वमध्ये दृश्यमाने । आकाशे (ओषधीषु) १ । २३ । १ ओषधि—ङीप् ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः । इति मनुः, १ । ४६ ॥ इति कदलीव्रीहियवफलधान्यादिषु (पशुषु) अर्जिदृशिकम्यमिपसीति० । उ० १ । २७ । इति दृशिर् प्रेक्षणे—कु, पश्यादेशः । पश्यन्ति दृश्यन्ते वा ते पशवः । प्राणिमात्रेषु, सर्वजीवेषु (अप्सु) १ । ४ । ३ । आप्लृ—क्विप् । व्यापिकासु सूक्ष्मतन्मात्रासु । यथा श्रीमद्दयानन्दभाष्ये यजुः । ३७ । २५, २६ । जलेषु वा (अन्तः) मध्ये (ते) सर्वे देवा यूयम् (कृणुत) कुरुत (जरसम्) म० २ । जरस् स्तुतिः । अर्शआदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे अच् । स्तुतियुक्तम् । प्रशंसनीयम् (आयुः) एतेर्णिच्च । उ० २ । ११८ । इति इण् गतौ—उसि । ईयते प्राप्यते यत्तद् आयुः । जीवनम्, जीवितकालः (अस्मै) आत्मने, मह्यम् (शतम्) अपरिमितान् (अन्यान्) स्तुत्यजीवनाद् भिन्नान् मृत्यून (परि+वृणक्तु) वृजी वर्जने—लोट् । अयम् उपासकः परिवर्जयतु (मृत्यून्) भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ । उ० ३ । २१ । इति मृङ् प्राणत्यागे—त्युक् । प्राणवियोगान्, मरणानि । अत्र पश्यत अ० २ । २८ । १ । तथा ८ । २ । २७ ॥

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।

जो पशुपति चौपाये और दोपाये पशुओं [अर्थात् जीवों] का राजा है ।

(अप्सु) व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं में । देखो श्रीमद्दयानन्द भाष्य, यजुर्वेद ३७ । २५ और २६ ॥

येषां प्रयाजा उत । वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः । येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान् वो अस्मै सत्रसदः कृणोमि ॥ ४ ॥

येषाम् । प्र-याजाः । उत । वा । अनु-याजाः । हुत-भागाः । अहुत-अदः । च । देवाः । येषाम् । वः । पञ्च । प्र-दिशः । वि-भक्ताः । तान् । वः । अस्मै । सत्र-सदः । कृणोमि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(येषाम्) जिन [तुम्हारे] (प्रयाजाः) उत्तम पूजनीय कर्म (उत वा) और (अनुयाजाः) अनुकूल पूजनीय कर्म, और (हुतभागाः) देने लेने के विभाग (च) और (अहुतादः) यज्ञ वा दान से बचे पदार्थों के आहार (देवाः) विजय करने हारे [वा प्रकाश वाले] हैं । और (येषाम् वः) जिन तुम्हारे (पञ्च) विस्तीर्ण [वा पांच] (प्रदिशः) उत्तम् दान क्रियायें [वा प्रधान दिशायें] (विभक्ताः) अनेक प्रकार बटी हुयी हैं (तान् वः) उन तुम को (अस्मै) इस [पुरुष] के हित के लिये [अपने लिये] (सत्रसदः) सभासद् (कृणोमि) बनाता हूं ॥ ४ ॥

४—(प्र-याजाः) अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । पा । ३ । ३ । १९ । इति प्र+यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु-घञ् । प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे । पा० ७ । ३ । ६२ । इति कुत्वप्रतिषेधो निपात्यते । प्रकृष्टपूजनीयकर्माणि (वा) समुच्चये, पादपूरणे वा (अनु-याजाः) अनु+यज-घञ् पूर्ववत् । अनुकूलानि पूजनीयकर्माणि (हुतभागाः) हु दानादानदनेषु-क्त । भज भागसेवयोः-भावे घञ् । हुतस्य, दत्तस्य, दानस्य गृहीतस्य वा विभागाः (अहुत-अदः) संपदादिभ्यः क्विप् । वार्त्तिकम् , पा०३ । ३ । ९४ । अहुत+अद भक्षणे-भावे क्विप् । अदानस्य दानशेषस्य

भावार्थ—जो धर्मात्मा विद्वान् पुरुष स्वार्थ छोड़ कर दान करते हों और सब संसार के हित में दत्तचित्त हों, राजा उन महात्माओं को चुनकर अपनी राजसभा का सभासद् बनावे ॥ ४ ॥

यज्ञशेष के भोजन के विषय में भगवान् श्री कृष्ण महाराज ने कहा है। भगवद्गीता अ० ४ श्लोक ३१ ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ १ ॥

यज्ञ [दान वा देवपूजा] से बचे अमृत का भोजन करने वाले पुरुष सनातन ब्रह्म को पाते हैं। यज्ञ न करने वाले का यह लोक नहीं है, हे कौरवों में श्रेष्ठ ! फिर उस का परलोक कहां से हो ३१ ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१–४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । १, २ अनुष्टुप् ३, ४ त्रिष्टुप् उपरिष्ठाज् ज्योतिः, ११ × ३ + ८ = ४१ ॥

पुरुषार्थानन्दोपदेशः—पुरुषार्थ और आनन्द के लिये उपदेश ॥

आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः ।
इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम् ॥

भोजनानि । धनधान्यादीनि (देवाः) १ । ७ । १ । विजयिनः । प्रकाशमयाः (पञ्च) सप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति बाहुलकात् पचि व्यक्तीकारे विस्तारे च–कनिन् । विस्तीर्णाः, व्यक्ताः प्रसिद्धाः । संख्यावाची वा (प्र-दिशः) प्र + दिश दाने आज्ञापने च–क्विप् । प्रकृष्टा दानक्रियाः । प्राच्याद्याः सर्वा दिशः (वि-भक्ताः) वि + भज-क्त । प्राप्तविभागाः (अस्मै) आत्मने, मदर्थम् (सत्र-सदः) गुधृवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यस्त्रः । उ० । ४ । १६७ । इति षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु–त्रप्रत्ययः । सीदन्ति यत्रेति सत्रं सदनं यज्ञः । सभास्थानम् । पुनः । सत्सूद्विषद्रुह० । पा० ३ । २ । ६१ इति सत्रोपपदे तस्मादेव धातोः–कर्तरि क्विप् । सभासदः, सभ्यान् (कृणोमि) कृवि हिंसाकरणयोः-लट् । करोमि ॥

आशा॑नाम् । आ॒शा॒ऽपा॒लेभ्यः॑ । च॒तुःऽभ्यः॑ । अ॒मृते॑भ्यः ।
इ॒दम् । भू॒तस्य॑ । अधि॑ऽअक्षेभ्यः । वि॒धेम॒ । ह॒विषा॑ । व॒यम् ॥१॥

भाषार्थ—(इदम्) इस समय (वयम्) हम (आशानाम्) सब दिशाओं के मध्य (आशापालेभ्यः) आशाओं के पालने हारे, (चतुर्भ्यः) प्रार्थना के योग्य पुरुषों [अथवा, चार धर्म अर्थ काम और मोक्ष पदार्थों] के लिये (अमृतेभ्यः) अमर रूप वाले, (भूतस्य) संसार के (अध्यक्षेभ्यः) प्रधानों की (हविषा) भक्ति से (विधेम) सेवा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को उत्तम गुण वाले पुरुषों अथवा चतुर्वर्ग, धर्म, अर्थ, काम [ईश्वर में प्रेम] और मोक्ष की, प्राप्ति के लिये सदा पूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिये। इन के हो पाने से मनुष्य की सब आशायें वा कामनायें पूर्ण होती हैं ॥ १ ॥

य आशा॑नामाशा॒पा॒लाश्च॒त्वार॒ स्थन॑ दे॒वाः ।
ते नो॒ निर्ऋ॑त्याः॒ पाशे॑भ्यो मु॒ञ्चतांह॑सोअंहसः ॥ २ ॥

१—(आशानाम्) आङ्+अशू व्याप्तौ-पचाद्यच्, टाप् । दिशानां मध्ये (आशा-पालेभ्यः) कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति आशा+पल वा पाल, रक्षणे-अण् । दिशानाम् आकांक्षानां वा पालकेभ्यः । लोकपालेभ्यः (चतुःभ्यः) चतेरुरन् । उ० ५ । ५८ । इति चत याचने-उरन् । याचनीयेभ्यः, कमनीयेभ्यः । अथवा चतुःसंख्याकेभ्यः, धर्मार्थकाममोक्षेभ्यः (अमृतेभ्यः) मृतं मरणम् । मरणरहितेभ्यः, अमरेभ्यः, महायशस्विभ्यः (इदम्) इदानीम् (भूतस्य) लोकस्य (अधि-अक्षेभ्यः) अध्यक्ष्णोति समन्ताद् व्याप्नोति । अधि+अक्ष व्याप्तौ संहतौ-अच् । व्यापकेभ्यः । अधिपतिभ्यः (विधेम) १ । १२ । २ । परिचरेम (विधेम) इत्यस्य प्रयोगे बहुधा कर्मणि चतुर्थी दृश्यते, यथा (कस्मै देवाय हविषा विधेम) य० १३ । ४ (हविषा) १ । १२ । २ । आत्मदानेन, भक्त्या ॥

ये । आशानाम् । आशा-पालाः । चत्वारः । स्थन । देवाः ।
ते । नः । निः-ऋत्याः । पाशेभ्यः । मुञ्चत । अंहसः-अंहसः ॥२॥

भाषार्थ—(देवाः) हे प्रकाशमय देवताओ ! (ये) जो तुम (आशानाम्) सब दिशाओं के मध्य (चत्वारः) प्रार्थना के योग्य [अथवा चार] (आशापालाः) आशाओं के रक्षक (स्थन) वर्तमान हो, (ते) वे तुम (नः) हमें (निर्ऋत्याः) अलक्ष्मी वा महामारी के (पाशेभ्यः) फंदों से और (अंहसो-अंहसः) प्रत्येक पाप से (मुञ्चत) छुड़ाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को प्रयत्न पूर्वक सब उत्तम पदार्थों [अथवा चारो पदार्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष] को प्राप्त कर के सब क्लेशों का नाश करना चहिये ॥ २ ॥

अस्रामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि । य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभूतमेह वक्षत् ॥ ३ ॥

२—(आशानाम्) म० १ । दिशानां मध्ये (आशा-पालाः) म० १ । आकांक्षानाम् पालकाः, लोकपालाः (चत्वारः) म० १ । याचनीयाः प्रार्थनीयाः । चतुःसंख्याका धर्मार्थकाममोक्षा वा (स्थन) तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति अस भुवि लोटि मध्यमपुरुषबहुवचने थनादेशः । यूयं स्त भवत (देवाः) हे दिव्यगुणाः पुरुषाः (निःऋत्याः) निः+ऋ हिंसने क्तिन् । नितराम् ऋतिर्घृणा अशुभं वा यस्याः सा निर्ऋतिः, तस्याः । अलक्ष्म्याः । उपद्रवस्य (पाशेभ्यः) पश बाधे, ग्रन्थे-घञ् । बन्धनेभ्यः (मुञ्चत) मुच्लृ मोक्षे । मोचयत (अंहसः-अंहसः) अमेर्हुक् च । उ० ४ । २१३ । इति अम रोगे, पीडने-असुन्, हुक् आगमः । नित्यवीप्सयोः, पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्वचनम् । सर्वस्माद् दुःखात्, पापात् ॥

अस्त्रामः । त्वा । हविषा । यजामि । अश्लोणः । त्वा । घृतेन जुहोमि । यः । आशानाम् । आशा-पालः । तुरीयः । देवः । सः । नः । सु-भूतम् । आ । इह । वक्षत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (अस्त्रामः) श्रम रहित मैं (त्वा) तुझ को (हविषा) भक्ति से (यजामि) पूजता हूं, (अश्लोणः) लंगड़ा न होता हुआ मैं (त्वा) तुझ को (घृतेन) [ज्ञान के] प्रकाश से [अथवा घृत से] (जुहोमि) स्वीकार करता हूं । (यः) जो (आशानाम्) सब दिशाओं में (आशापालः) आशाओं को पालन करने वाला, (तुरीयः) बड़ा वेगवान् परमेश्वर [अथवा, चौथा मोक्ष] (देवः) प्रकाशमय है, (सः) वह (नः) हमारे लिये (इह) यहां पर (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य (आ+वक्षत्) पहुंचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य निरालस्य होकर परमेश्वर की आज्ञा का पालन करते हैं अथवा जो घृत से अग्नि के समान प्रतापी होते हैं वे शीघ्र ही जगदीश्वर का दर्शन करके [अथवा धर्म, अर्थ, और काम की सिद्धि से पाये हुये चौथे मोक्ष के लाभ से] महासमर्थ होजाते हैं ॥ ३ ॥

३—(अस्त्रामः) श्रमु तपःखेदयोः-घञ् । शस्य सकारः । श्रमरहितः, खेदरहितः (त्वा) त्वाम्, परमेश्वरम् (हविषा) म० १ । भक्त्या । (यजामि) पूजयामि (अश्लोणः) श्रोणृ संघाते=राशीकरणे—अच् । रस्य लः । अश्रोणः, अपङ्गुः (घृतेन) अञ्जिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । इति घृ भासे—भावे क्त । दीप्त्या, स्वज्ञानप्रकाशेन । आज्येन (जुहोमि) १ । १५ । १ । अहम् आददे, स्वीकरोमि (यः) आशापालः (आशानाम्) म० १ । दिशानाम् (आशा-पालः) म० १ । इच्छापालकः (तुरीयः) तुरो वेगः, अस्त्यर्थे छ प्रत्ययः । तुरवान्, वेगवान् परमेश्वरः [अथवा] चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च । वार्तिकम् । पा० ५ । २ । ५१ । इति चतुर—छ, चकारलोपश्चः । चतुर्थः । चतुर्णां पूरको मोक्षः-इति (सु-भूतम्) सु+भू सत्तायां भावे-क्त । सुभूतिम् । सु सुष्ठु प्रभूतं धनम्, (आ) समन्तात् (इह) अत्र ।

सायणभाष्य में (अश्रामः) के स्थान में [अश्रामः] और (अश्लोणः) के स्थान में [अश्रोणः] हैं वे अधिक शुद्ध जान पड़ते हैं ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः । विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति । मात्रे । उत । पित्रे । नः । अस्तु । स्वस्ति । गोभ्यः । जगते । पुरुषेभ्यः । विश्वम् । सु-भूतम् । सु-विदत्रम् । नः । अस्तु । ज्योक् । एव । दृशेम । सूर्यम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिये (उत) और (पित्रे) पिता के लिये (स्वस्ति) आनन्द (अस्तु) होवे, और (गोभ्यः) गौओं के लिये (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये और (जगते) जगत् के लिये (स्वस्ति) आनन्द [होवे] । (विश्वम्) संपूर्ण (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य और (सुविदत्रम्)

(वक्षत्) वह प्रापणे-लेटि अडागमः, द्विकर्मकः । आवहेत् , प्रापयेत् , आहृत्य दद्यात् ।

४-(स्वस्ति) १ । ३० । २ । क्षेमम् , मङ्गलम् (मात्रे) १ । २ । १ माननीयायै जनन्यै (पित्रे) १ । २ १ । पालकाय, जनकाय (गोभ्यः) १ । २ । ३ । गन्तव्याभ्यः प्रापणीयाभ्यः धेनुभ्यः, गवादिपशुभ्यः (जगते) वर्तमानपृषद्-बृहन्महज् जगच्छतृवच्च । उ० २ । ८४ । इति गम्लृ-अति । निपातितश्च । गतिशीलाय संसाराय (पुरुषेभ्यः) पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । पुर अग्र-गत्याम्-कुषन् । पुरति अग्रे गच्छतीति । पुत्रभृत्यादिमनुष्येभ्यः (विश्वम्) सर्वम् (सु-भूतम्) म० ३ । प्रभूतमैश्वर्यम् (सुविदत्रम्) सुविदेः कत्रन् । उ० ३ । १०८ । इति सु + विद ज्ञाने, विद्लृ लाभे वा-कत्रन् । यास्कस्तु द्वेधा व्युत्पादयामास । सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेर्वैकोपसर्गाद् ददातेर्वा स्याद्

उत्तम ज्ञान वा कुल (नः) हमारे लिये (अस्तु) हो, (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) सूर्य को (एव) ही (दृशेम) हम देखते रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य माता पिता आदि अपने कुटुम्बियों और अन्य माननीय पुरुषों और गौ आदि पशुओं से लेकर सब जीवों और संसार के साथ उपकार करते हैं, वे पुरुषार्थी सब प्रकार का उत्तम धन, उत्तम ज्ञान और उत्तम कुल पाते और वही सूर्य जैसे प्रकाश मान होकर दीर्घ आयु अर्थात् बड़े नाम को भोगते हैं ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१-४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । ब्रह्म देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविचारोपदेशः—ब्रह्म विचार का उपदेश ॥

इदं जनासो विदथं महद् ब्रह्म वदिष्यति ।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥१॥

इदम् । जनासः । विदथ । महत् । ब्रह्म । वदिष्यति । न । तत् । पृथिव्याम् । नो इति । दिवि । येन । प्राणन्ति । वीरुधः ॥१॥

भावार्थ—(जनासः) हे मनुष्यो ! (इदम्) इस बात को (विदथ) तुम जानते हो, वह [ब्रह्मज्ञानी] (महत्) पूजनीय (ब्रह्म) परब्रह्म का (वदिष्यति) कथन करेगा । (तत्) वह ब्रह्म (न) न तो (पृथिव्याम्) पृथिवी में (नो) और न

ब्रयुत्सर्गात्-निरु० ७। ६ । तथा । सुविदत्रः कल्याणविद्यः-निरु० ६ । १४ । शोभनं ज्ञानं कुटुम्बं वा (ज्योक्) १ । ६ । ३ । चिरकालम् (दृशेम) दृशिर् प्रेक्षणे-आशीर्लिङ् । वयं पश्येम (सूर्यम्) १ । ३ । ५ । आदित्यम् । भानुप्रकाशम् ॥

१—(इदम्) वक्ष्यमाणम् (जनासः) १८ । १ । आज्जसेरसुक् । पा० ७। १। ५०। इति असि असुक । हे जनाः, विद्वांसः (विदथ) विद ज्ञाने अदादिः—लट् मध्यमबहुवचनं छन्दसि शः । यूय वित्थ, जानीथ (महत् ,

(दिवि) सूर्य्य लोक में है (येन) जिस के सहारे से (वीरुधः) यह उगती हुयीं जड़ी बूटी [लता रूप सृष्टि के पदार्थ] (प्राणन्ति) श्वास लेती हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—यद्यपि वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् परब्रह्म भूमि वा सूर्य्य आदि किसी विशेष स्थान में वर्तमान नहीं है तो भी वह अपनी सत्ता मात्र से ओषधि अन्न आदि सब सृष्टि का नियम पूर्वक प्राणदाता है। ब्रह्मज्ञानी लोग उस ब्रह्म का उपदेश करते हैं ॥ १ ॥

केनोपनिषत् में वर्णन है, खंड १ मन्त्र ३।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनु शिष्यादन्यदेव तद्वि-दितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥ १ ॥

न वहां आंख जाती है, न वाणी जाती है, न मन, हम न जानते हैं न पहिचानते हैं कैसे वह इस जगत् का अनुशासन करता है। वह जाने हुये से भिन्न है और न जाने हुये से ऊपर है। ऐसा हमने पूर्वजों से सुना है, जिन्हों ने हमें उसकी शिक्षा दी थी ॥

१।१०।४। पूजनीयम् (ब्रह्म) १।८।४। परब्रह्म, परमात्मानम्, परमकारणम् (वदिष्यति) वद वाक्ये—लृट् । कथयिष्यति (न) निषेधे (तत्) ब्रह्म (पृथिव्याम्) १।२।१। प्रख्यातायां भूमौ (नो इति) न—उ। नैव (दिवि) १।३०।३। द्युलोके, सूर्यमण्डले (येन) ब्रह्मणा (प्राणन्ति) प्र+अन जीवने, अदादिः। जीवन्ति, श्वसन्ति (वीरुधः) विशेषेण रुणद्धि वृक्षानन्यान् वा सा वीरुत्। वि+रुध आवरणे-क्विप्, दीर्घश्च। अथवा। वि+रुह प्रादुर्भावे-क्विप्। न्यङ्क्वादीनां च। पा० ७।३।५३। इति हस्य धः। विरोहण-शीलाः। विस्तृता लतादयः। लतादिवद् विरोहिताः सृष्टिपदार्थाः ॥

और भी केनोपनिषत् का वचन है, ख० १ म० ८ ॥

यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ २ ॥

जो प्राण द्वारा नहीं श्वास लेता है। जिस करके प्राण चलाया जाता है। उस को ही तू ब्रह्म जान, यह वह नहीं है जिस के पास वे बैठते हैं ॥

अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव ।
आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद् वेधसो न वा ॥ ४ ॥

अन्तरिक्षे । आसाम् । स्थाम । श्रान्तसदाम्ऽइव ।
आऽस्थानम् । अस्य । भूतस्य । विदुः । तत् । वेधसः न । वा ॥२॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षे) सब के भीतर दिखाई देनेहारे आकाश रूप परमेश्वर में (आसाम्) इन का [लतारूप सृष्टियों का] (स्थाम) ठहराव है (श्रान्तसदाम् इव) जैसे थक कर बैठे हुये यात्रियों का पड़ाव। (वेधसः) बुद्धिमान लोग (तत्) उस ब्रह्म को (अस्य भूतस्य) इस संसार का (आस्थानम्) आश्रय (विदुः) जानते हैं, (वा) अथवा (न) नहीं [जानते हैं] ॥२॥

भावार्थ—सूर्य आदि असंख्य लोक उसी परमब्रह्म में ठहरे हैं, वही समस्त जगत् का केन्द्र है। इस बात को विद्वान् लोग विधि और निषेध रूप

२—(अन्तरिक्षे) १। ३०। ३। सर्वमध्ये दृश्यमाने परमेश्वरे (आसाम्) वीरुधाम् । म० १। विरोहणशीलानां पदार्थानाम् (स्थाम) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४०। ष्ठा गतिनिवृत्तौ—मनिन्। स्थानं। स्थितिः (श्रान्तसदाम्) श्रमु तपःखेदयोः—भावे क्त+षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—क्विप्। श्रमेण मार्गखेदेन स्थितानाम् (आ-स्थानम्) आ+ष्ठा—ल्युट्। स्थानम्। आश्रयम् (अस्य) परिदृश्यमानस्य (भूतस्य) लोकस्य, जगतः (विदुः) विद ज्ञाने—लट्। विदन्ति जानन्ति (तत्) कारणभूतं ब्रह्म (वेधसः) १। ११। १। मेधाविनः, विद्वांसः (न) निषेधे (वा) अथवा ॥

विचार से निश्चित करते हैं जैसे ब्रह्म जड़ नहीं है किन्तु चैतन्य है, इत्यादि, अथवा जितना अधिक ब्रह्मज्ञान होता जाता है उतना ही वह ब्रह्म अति अधिक अनन्त और अगम्य जान पड़ता है इस से वह ब्रह्मज्ञानी अपने को अज्ञानी समझते हैं ॥ २ ॥

यद् रोद॑सी रेज॑माने॒ भूमि॑श्च निर॑त॑क्षतम् ।
आर्द्रं तद॒द्य स॑र्व॒दा स॑मु॒द्रस्ये॑व स्रो॒त्याः ॥ ३ ॥

यत् । रोद॑सी इति॑ । रेज॑माने॒ इति॑ । भूमि॑ः । च । निः-अत॑क्षतम् । आ॒र्द्रम् । तत् । अ॒द्य । स॒र्व॒दा । स॒मु॒द्रस्य॑-इव । स्रो॒त्याः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रोदसी=सि) हे सूर्य (च) और (भूमिः) भूमि ! (रेजमाने) कांपते हुये तुम दोनों ने (यत्) जिस [रस] को (निरतक्षतम्) उत्पन्न किया है, (तत्) वह (आर्द्रम्) रस (अद्य) आज (सर्वदा) सदा से (समुद्रस्य) सींचनेवाले समुद्र के (स्रोत्याः) प्रवाहों के (इव) समान वर्तमान है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस रस वा उत्पादन शक्ति को, परमेश्वर ने सूर्य और भूमि को (कंपमान) वश में रख के, सृष्टि के आदि में उत्पन्न किया था वह शक्ति

३—(यत्) आर्द्रम् (रोदसी) एकवचनं स्त्री। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८६। इति रुध आवरणे-असुन्। षिद्गौरादिभ्यश्च। पा० ४। १। ४१। इति ङीष्। द्युलोको भूमिर्वा। सम्बोधने दीर्घश्छान्दसः। हे रोदसि। सूर्यलोक (रेजमाने) रेजृ कम्पने-शानच्। भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः-निरु० ३। २१। उभे कम्पमाने (भूमिः) १। ११। २। भवन्ति पदार्था अस्यामिति। पृथिवी (निः-अतक्षतम्) तक्षू तनूकरणे-लङ्। युवामुदपादयतम् (आर्द्रम्) अर्देर्दीर्घश्च। उ० २। १८। इति अर्द वधे, गतौ-रक्, दीर्घश्च। क्लेदनं रसत्वम् उत्पादनसामर्थ्यम् (तत्) प्रसिद्धम् (अद्य) १। १। १। वर्तमाने दिने। (समुद्रस्य) १। ३। ८। समुन्दनशीलस्य सागरस्य, अर्णवस्य (स्रोत्याः) पुंलि०। स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ। पा० ४। ४। ११३। इति स्रोतस्-ड्य। डित्वात् टि लोपः। स्रोतसि भवाः, जलप्रवाहाः ॥

मेघ आदि रस रूप से सदा संसार में सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति का कारण है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में (रोदसी इति) यह पद पाठ और उस का अर्थ [हे द्यावापृथिव्यौ] हे सूर्य और भूमि अशुद्ध है। यहां (रोदसी) एक वचन और केवल सूर्य वाची है क्योंकि (भूमिः च) [और भूमि] यह पद मन्त्र में वर्तमान है। फिर (भूमिः च) का भी अर्थ [भूमि और द्युलोक) उक्त भाष्य में है ॥

विश्वंमुन्यामंभीवार तदुन्यस्यामधिं श्रितम्।
दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥ ४ ॥

विश्वम्। अन्याम्। अभि-वार। तत्। अन्यस्याम्। अधि। श्रितम्। दिवे। च। विश्व-वेदसे। पृथिव्यै। च। अकरम्। नमः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(विश्वम्) उस सर्व व्यापक [रस ने (अन्याम्) एक [सूर्य वा भूमि] को (अभि) चारों ओर से (वार=ववार) घेर लिया, (तत्) वही [रस] (अन्यस्याम्) दूसरी में (अधि श्रितम्) आश्रित हुआ। (च) और (दिवे) सूर्य रूप वा आकाश रूप (च) और (पृथिव्यै) पृथिवी रूप (विश्ववेदसे) सब के जानने वाले [वा सब धनों के रखने वाले, वा सब में विद्यमान ब्रह्म] को (नमः) नमस्कार (अकरम्) मैं ने किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सृष्टि का कारण रस अर्थात् जल, सूर्य की किरणों से आकाश

४—(विश्वम्) १। १०। २। सर्वं व्याप्तं आर्द्रम्। म० ३ (अन्याम्) एकाम् द्यां भूमिं वा (अभि वार) वृञ् वरणे-लिट्। वकारलोपश्छान्दसः। सर्वतो ववार, आच्छादितं चकार (तत्) आर्द्रम् (अन्यस्याम्) अपरस्याम् (अधि+श्रितम्) आश्रितम् (दिवे) १। ३०। ३। आकाशाय। तद्रूपाय (विश्व-वेदसे) विद्लृ लाभे, वा विद् ज्ञाने सत्तायां च-असुन्। सर्वधनयुक्तायै, सर्वाधारभूतायै (पृथिव्यै) १। २। १। विस्तीर्णायै भूम्यै, तद्रूपाय परमेश्वराय (अकरम्। डुकृञ् करणे-लुङ्। अहं कृतवानस्मि ॥

में जाकर फिर पृथिवी में प्रविष्ट होता, वही फिर पृथिवी से आकाश में जाता और पृथिवी पर आता है। इस प्रकार उन दोनों का परस्पर आकर्षण, जगत् को उपकारी होता है। विद्वान् लोग इसी प्रकार जगदीश्वर की अनन्त शक्तियों को विचार कर सत्कार पूर्वक उपकार लेकर आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

यजुर्वेद अ० ३। म० ५। में इस प्रकार वर्णन है—

भूर्भुवः स्वर्द्यौरि॑व भू॒म्ना पृ॑थि॒वीव॑ वरि॒म्णा ॥

सब का आधार, सब में व्यापक, सुखस्वरूप परमेश्वर बहुत्व के कारण [सब लोकों के धारण करने से] आकाश के समान और अपने फैलाव से पृथिवी के समान है ॥

सूक्तम् ३३ ॥

१-४ ॥ शंतातिर्ऋषिः। आपो देवताः। त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सूक्ष्मतन्मात्राविचारः—सूक्ष्म तन्मात्राओं का विचार ॥

हिर॑ण्यवर्णाः शुच॑यः पाव॒का यासु॑ जा॒तः स॑वि॒ता यास्व॒ग्निः। या अ॒ग्निं गर्भं॑ दधि॒रे सु॒वर्णा॒स्ता न॒ आपः॒ शं स्यो॒ना भ॑वन्तु ॥ १ ॥

हिर॑ण्य-वर्णाः। शुच॑यः। पा॒व॒काः। यासु॑। जा॒तः। स॒वि॒ता। यासु॑। अ॒ग्निः। याः। अ॒ग्निम्। गर्भ॑म्। द॒धि॒रे। सु॒-वर्णाः। ताः। नः॒। आप॑ः। शम्। स्यो॒नाः। भ॒व॒न्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—[जो] (हिरण्यवर्णाः) व्यापनशील वा कमनीय रूप वाली (शुचयः) निर्मल स्वभाव वाली और (पावकाः) शुद्धि की जताने वाली

१—(हिरण्य-वर्णाः) हर्यतेः कन्यन् हिर् च। उ० ५। ४४। इति हर्य गति-कान्त्योः—कन्यन्, हिर् आदेशश्च, नित्वाद् आद्युदात्तः। कृवृजृसिद्रुपन्यनिस्वपि-भ्यो नित्। उ० ३। १०। इति वृञ् वरणे—न, स च नित्। बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्व-

हैं, (यासु) जिन में (सविता) चलाने हारा वा उत्पन्न करने हारा सूर्य और (यासु) जिन में (अग्निः) [पार्थिव] अग्नि (जातः) उत्पन्न हुई। (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने (अग्निम्) [बिजुली रूप] अग्नि को (गर्भम्) गर्भ के समान (दधिरे) धारण किया था, (ताः) वे [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करने हारी और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा ने कामना के और खोजने के योग्य तन्मात्राओं के संयोग वियोग से अग्नि, सूर्य, और बिजुली, इन तीन तेजधारी पदार्थ आदि सब संसार को उत्पन्न किया है, उसी प्रकार मनुष्यों को शुभ गुणों के ग्रहण और दुर्गुणों के त्याग से आपस में उपकारी होना चाहिये ॥ १ ॥

१-(आपः)=व्यापक तन्मात्रायें-श्रीमद्दयानन्द भाष्य, यजुर्वेद २७ । २५ ॥

२-(आपः) के विषय में सूक्त ४, ५ और ६ और सूक्त ४ में मनु महाराज का श्लोक भी देखें ॥

पदम् । पा० ६ । २ । १ । इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन आद्युदात्तः । कमनीयरूपयुक्ताः, गतिशीलरूपयुक्ताः । प्रकाशस्वरूपाः (शुचयः) इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति शुचर् शौचे=शुद्धौ-इन्, स च कित् । शुद्धस्वभावाः (पावकाः) पूञ् शोधे-घञ् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति कै शब्दे-कः । उपपदमतिङ् । पा० २ । २ । १९ । इति समासः । टाप् । यद्वा । पूञ्-ण्वुल् । टाप् । पावकादीनां छन्दसीति । वा० पा० ७ । ३ । ४५ । इत्वं निषिद्धम् । पावस्य शुद्धव्यवहारस्य शब्दयित्र्यः, ज्ञापयित्र्यः । पावयित्र्यः, शोधयित्र्यः (यासु) अप्सु (जातः) जनी प्रादुर्भावे-क्त । प्रादुर्भूतः, उत्पन्नः (सविता) १ । १८ । २ । सूर्यः (अग्निः) १ । ६ । २ । पार्थिवाग्निः (अग्निम्) वैद्युताग्निम् (गर्भम्) १ । ११ । २ । पदार्थेषु गर्भवत् स्थितम् (दधिरे) डुधाञ् धारणपोषणयोः-लिट् । दधुः, स्थापयामासुः (सु-वर्णाः) वृञ्-न । शोभनरूपाः (नः) अस्मभ्यम् (आपः) १ । ५ । १ । व्यापिकास्तन्मात्राः-इति श्रीमद्दयानन्दभाष्ये, यजु० २७ । २५ (शम्) १ । ३ । १ । शुभकारिण्यः (स्योनाः) सिवेष्टेर्यू च । उ० ३ । ९ । इति षिवु तन्तुसन्ताने—न प्रत्ययः टिभागस्य यू इत्यादेशः । स्योनं सुखनाम-निघ० । ३ । ६ । अर्शआदिभ्योऽच् पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे-अच । सुखवत्यः ॥

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम् । या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ २ ॥

यासाम् । राजा । वरुणः । याति । मध्ये । सत्यानृते इति सत्य-अनृते । अव-पश्यन् । जनानाम् । याः । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे सु-वर्णाः । ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥२॥

भाषार्थ—(यासाम्) जिन तन्मात्राओं के (मध्ये) बीच में (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ (राजा) राजा परमेश्वर (जनानाम्) सब जन्मवाले जीवों के (सत्यानृते) सत्य और असत्य को (अवपश्यन्) देखता हुआ (याति) चलता है । (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने (अग्निम्) [बिजुली रूप] अग्नि को (गर्भम्) गर्भ के समान (दधिरे) धारण किया था, (ताः) वे [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करनेहारी और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—इन तन्मात्राओं का नियन्ता अर्थात् संयोजक और वियोजक (वरुण राजा) परमेश्वर है, वही सब जीवोंके पुण्य पाप को देखकर यथावत् फल देता है । इन गुणों से उपकार लेकर मनुष्यों को सुख भोगना चाहिये ॥ २ ॥

२—(यासाम्) अपाम् तन्मात्राणाम् (राजा) १ । १० । १ । ईश्वरः । नियन्ता (वरुणः) १ । ३ । ३ । वृणाति सर्वं, व्रियते अन्यैरिति वरुणः । सर्ववरणीयः परमेश्वरः (याति) गच्छति । व्याप्नोति (मध्ये) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति मन ज्ञाने-यक्, नस्य धः । अन्तर्वर्त्तिनि भागे (सत्य-अनृते) सद्भ्यो हितम् । सत्-यत् । सत्यं, यथार्थं, तथ्यम् । न ऋतम् । अनृतम् असत्यम्, मिथ्याकरणम् । सत्यं च असत्यं च उभे कर्मणी (अव-पश्यन्) दृशिर्-शतृ । अवलोकयन् विजानन् (जनानाम्) १ । ८ । १ । जन्मवतां लोकानाम् । अन्यद् गतम्-म० १ ॥

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति। या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ ३ ॥

यासाम्। देवाः। दिवि। कृण्वन्ति। भक्षम्। याः। अन्तरिक्षे। बहु-धा। भवन्ति। याः। अग्निम्। गर्भम्। दधिरे। सु-वर्णाः। ताः। नः। आपः। शम्। स्योनाः। भवन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) सब प्रकाशमय पदार्थ (दिवि) व्यवहार के योग्य आकाश में (यासाम्) जिन का (भक्षम्) भोजन (कृण्वन्ति) करते हैं और (याः) जो [तन्मात्रायें] (अन्तरिक्षे) सब के मध्यवर्ती आकर्षण में (बहुधा) अनेक रूपों से (भवन्ति) वर्त्तमान हैं। और (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने (अग्निम्) [बिजुली रूप] अग्नि को (गर्भम्) गर्भ के समान (दधिरे) धारण किया था, (ताः) वे [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करने हारी और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—अपरिमित तन्मात्रायें ईश्वर कृत परस्पर आकर्षण से संसार के (देवाः) सूर्य, अग्नि, वायु आदि सब पदार्थों के धारण और पोषण का कारण हैं। (देवाः) विद्वान् लोग इन के सूक्ष्म विचार से संसार में अनेक उपकार करके सुख पाते हैं ॥ ३ ॥

३—(यासाम्) अपाम् (देवाः) १।७।१। व्यावहारिकपदार्थाः। प्रकाशमयाः किरणाः (दिवि) १।३०।३। व्यवहारयोग्ये आकाशे। जगति (कृण्वन्ति) कृवि हिंसाकरणयोः। कुर्वन्ति (भक्षम्) भक्ष अदने-कर्मणि घञ्। भक्ष्यम्, अन्नम्, पोषणम् (याः) आपः (अन्तरिक्षे) १।३०।३ मध्ये दृश्यमाने आकर्षणसामर्थ्ये (बहु-धा) विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले। पा० ५।४।२०। इति बहु+धा। बहुप्रकारेण, अविप्रकृष्टकाले (भवन्ति) वर्तन्ते। अन्यद् व्याख्यातम्-म० १॥

शिवेन॑ मा चक्षु॑षा पश्यतापः शिवया॑ त॒न्वोप॑ स्पृशत॒ त्वचं॑ मे । घृत॒श्चुतः॒ शुच॑यो॒ याः पा॑व॒कास्ता न॒ आपः॒ शं स्यो॒ना भ॑वन्तु ॥ ४ ॥

शि॒वेन॑ । मा॒ । चक्षु॑षा । प॒श्य॒त॒ । आ॒पः॒ । शि॒वया॑ । त॒न्वा॑ । उप॑ । स्पृ॒श॒त॒ । त्वच॑म् । मे॒ । घृ॒त॒ऽश्चुतः॑ । शुच॑यः । याः । पा॒व॒काः । ताः । नः॒ । आप॑ः । शम् । स्यो॒नाः । भ॒व॒न्तु॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे तन्मात्राओ ! (शिवेन) सुखप्रद (चक्षुषा) नेत्र से (मा) मुझ को (पश्यत) तुम देखो, (शिवया) अपने सुखप्रद (तन्वा) रूप से (मे) मेरे (त्वचम्) शरीर को (उप स्पृशत) तुम पास से छूओ । (याः) जो (आपः) तन्मात्रायें (घृतश्चुतः) अमृत बरसाने वाली, (शुचयः) निर्मल स्वभाव और (पावकाः) शुद्धि जताने वाली हैं, (ताः) वह [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करने हारी और (स्योनाः) सुख देनेवाली (भवन्तु) होवें ॥ ४ ॥

४—(शिवेन) सर्वनिघृष्वरिष्व० उ० १ । १५३ । इति शीङ् शयने यद्वा, शो तनूकरणे-वन् । शेरते विद्यन्ते शुभगुणा यत्र, वा श्यति अशुभानीति । सुखकरेण (मा) माम् (चक्षुषा) चक्षेः शिच्च । उ० २ । ११६ । इति चक्ष कथने दर्शने च-उसि । स च शित् । शित्वात् ख्याञादेशाभावः । लोचनेन, नयनेन, (पश्यत) अवलोकयत (आपः) म० १ । हे सूक्ष्मतन्मात्राः (शिवया) कल्याण्या, इष्टप्राप्तिहेतुभूतया (तन्वा) १ । १ । १ । रूपेण । (उप+स्पृशत) संस्पृशत (त्वचम्) १ । २४ । २ । शरीरम् (घृत-श्चुतः) घृ दीप्तौ सेके च-क्त । घृतं सारः, अमृतम् । श्चुतिर् क्षरणे क्विप् । अमृतस्राविण्यः । अन्यद् व्याख्यातम्-म० १ ॥

भावार्थ—(आपः) तन्मात्रायें मुझे नेत्र से देखें, अर्थात् पूर्ण ज्ञान हमें प्राप्त हो और उस से हमारे शरीर और आत्मा स्वस्थ रहें। अथवा, (आपः) शब्द से तन्मात्राओं के ज्ञाता और वशयिता परमेश्वर वा विद्वान् पुरुष का ग्रहण है। जो मनुष्य सृष्टि के विज्ञान से शरीर का स्वास्थ्य और आत्मा की उन्नति करके उपकारी होते हैं उन के लिये परमेश्वर की कृपा से सदा अमृत अर्थात् स्थिर सुख बरसता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१—५ ॥ अथर्वा ऋषिः। वीरुद् [लता] देवता। अनुष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्राप्त्युपदेशः—विद्या की प्राप्ति का उपदेश ॥

इ॒यं वी॒रुन्मधु॑जाता॒ मधु॑ना त्वा खनामसि।
मधो॒रधि॒ प्रजा॑तासि॒ सा नो॒ मधु॑मतस्कृधि ॥ १ ॥

इ॒यम्। वी॒रुत्। मधु॑-जाता। मधु॑ना। त्वा॒। ख॒ना॒म॒सि॒।
मधोः। अधि॑। प्र-जा॑ता। अ॒सि॒। सा। नः॒। मधु॑-मतः। कृ॒धि॒॥१॥

भावार्थ—(इयम्) यह तू (वीरुत्) बढ़ती हुई [विद्या] (मधुजाता) ज्ञान से उत्पन्न हुई है, (मधुना) ज्ञान के साथ (त्वा) तुझ को (खनामसि) हम खोदते हैं। (मधोः अधि) विद्या से (प्रजाता असि) तू जन्मी है (सा)

१—(इयम्) पुरोवर्तिनी त्वम् (वीरुत्) १। ३२। १। विरोहणशीला विस्तृता लतारूपा विद्या (मधु-जाता) १। ४। १। मन ज्ञाने-उ, धश्चान्तादेशः। जनी-क्त। मधुनो ज्ञानात् क्षौद्राद् वा यथा उत्पन्ना (मधुना) १। ४। १। ज्ञानेन, क्षौद्ररसेन यथा वा (त्वा) त्वाम् वीरुधम् (खनामसि) खनु अवदारणे-लट्, मस इदम्। खनामः, अवदारयामः अन्वेषणेन प्राप्नुमः (मधोः) पुंलिंगे। वसन्तर्तुसकाशात्। स्त्रियाम्। विद्यायाः सकाशात् (अधि) पञ्चम्यर्थानुवादी (प्र-जाता) प्रादुर्भूता (असि) वर्त्तसे (सा) सा त्वम् (नः) अस्मान् (मधु-मतः) मधु ज्ञानमस्यास्मिन्निति मतुप्।

सो तू (नः) हम को (मधुमतः) उत्तम विद्या वाले (कृधि) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मधु शब्द [मन जानना-उ, न=ध] का अर्थ ज्ञान है। धात्वर्थ के अनुसार यह आशय है कि शिक्षा के ग्रहण, अभ्यास, अन्वेषण और परीक्षण से मनुष्य को उत्तम सुखदायक विद्या मिलती है ॥ १ ॥

दूसरा अर्थ ॥

(इयम् वीरुत्) यह तू फैलती हुई बेल (मधुजाता) मधु [शहत्] से उत्पन्न हुई है, (मधुना) मधु के साथ (त्वा) तुझ को (खनामसि) हम खोदते हैं । (मधोः अधि) वसन्त ऋतु से (प्रजाता असि) तू जन्मी है, (सा) सो तू (नः) हम को (मधुमतः) मधु रस वाले (कृधि) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मधु शब्द उसी धातु [मन जानना] से सिद्ध होकर [शहत्] के रस का वाचक है। इस अर्थ में विद्या को मधुलता अर्थात् शहत् की बेल वा प्रेमलता माना है। (मधु) शहत् वसन्त ऋतु में अनेक पुष्पों के रस से मधुमक्षिकाओं द्वारा मिलता है, इसी प्रकार (मधुना) प्रेम रस के साथ [खोदने] अर्थात् अन्वेषण और परीक्षण से विद्वान् लोग अनेक विद्वानों से विद्यारूप मधु को पाकर (मधु) आनन्द रस का भोग करते हैं ॥ १ ॥

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

जिह्वायाः । अग्रे । मधु । मे । जिह्वा-मूले । मधूलकम् । मम । इत् । अह । क्रतौ । असः । मम । चित्तम् । उप-आयसि ॥२॥

भावार्थ—(मे) मेरी (जिह्वायाः) रस जीतने वाली, जिह्वा के (अग्रे सिरे पर (मधु) ज्ञान [वा मधु का रस] होवे और (जिह्वामूले) जिह्वा की

पा० ५ । २ । ९४ । इति प्रशंसायां मतुप् । प्रशस्तज्ञानयुक्तान्, क्षौद्ररसोपेतान् वा यथा (कृधि) कुरु ॥

२—(जिह्वायाः) । १ । १० । ३ । जयति रसमनया । रसनायाः (अग्रे)

मूल में (मधूलकम्) ज्ञान का लाभ [वा मधु का स्वादु] होवे। (मम) मेरे (क्रतौ) कर्म वा बुद्धि में (इत्) ही (अह) अवश्य (असः) तू रह, (मम चित्तम्) मेरे चित्त में (उपायसि) तू पहुंच करती है ॥ २ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विद्या का रटन, मनन और परीक्षण से प्रेमपूर्वक प्राप्त करते हैं, तब विद्या उनके हृदय में घर करके सुख का बरदान देती है ॥२॥

मधु॑मन्मे नि॒क्रम॑णं॒ मधु॑मन्मे प॒राय॑णम् ।
वा॒चा व॑दामि॒ मधु॑मद् भूयासं॒ मधु॑संदृशः ॥ ३ ॥

मधु॑-मत् । मे॒ । नि॒-क्रम॑णम् । मधु॑-मत् । मे॒ । प॒रा-अय॑नम् ।
वा॒चा । व॒दा॒मि॒ । मधु॑-मत् । भू॒या॒स॒म् । मधु॑-संदृशः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरा (निक्रमणम्) पास आना (मधुमत्) बहुत ज्ञानवाला वा रस से भरा हुआ, और (मे) मेरा (परायणम्) बाहिर जाना (मधुमत्)

अजेन्द्राग्रवज्रविप्र० । उ० २ । २८ । इति अगि गतौ-रन् । उपरिभागे (मधु) म० १ । ज्ञानं क्षौद्ररसो वा (जिह्वा-मूले) मूशक्यविभ्यः क्लः । उ० ४ । १२८ । इति मूङ् बन्धे-क्ल । मवते बध्नाति वृक्षादिकं मूलम् । जिह्वाया रसनाया मूलभागे । (मधूलकम्) मधु+उर गतौ-क, रस्य लत्वम्, स्वार्थे कन् । यद्वा मधु+लक स्वादे, प्राप्तौ च-अच्, दीर्घत्वम् । मधुनो ज्ञानस्य प्राप्तिः । मधुनः क्षौद्रस्य स्वादः (मम) मदीये (इत्) एव (अह) अवश्यम् (क्रतौ) कृञः कतुः । उ० १ । ७६ । इति कृञ्-कतु । क्रतुः, कर्म-निघ० २ । १ । प्रज्ञा-निघ० ३ । ६ । कर्मणि बुद्धौ वा (असः) १ । १६ । ४ । त्वं भूयाः (चित्तम्) चिती संज्ञाने-क । अन्तःकरणम् (उप-आयसि) उप+आङ्+अयङ् गतौ-लट् । उपागच्छसि, आदरेण सर्वतः प्राप्नोषि ॥

३—(मधु-मत्) म० १ । अतिविज्ञानयुक्तम् । मधुरसोपेतम् (नि-क्रमणम्) नि+क्रमु गतौ—ल्युट् । निकटगमनम्, आगमनम् (परा-अयनम्)

बहुत ज्ञान वाला वा रस में भरा हुआ होवे । (वाचा) वाणी से मैं (मधुमत्) बहुत ज्ञान वाला वा रसयुक्त (वदामि) बोलूं और मैं (मधुसन्दृशः) ज्ञान रूप वाला वा मधुर रूप वाला (भूयासम्) रहूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य घर, सभा, राजद्वार, देश, परदेश आदि में आने, जाने, निरीक्षण, परीक्षण, अभ्यास आदि समस्त चेष्टाओं और वाणी से बोलने अर्थात् शुभ गुणों के ग्रहण और उपदेश करने में (मधुमान्) ज्ञान वान् वा रस से भरे अर्थात् प्रेम में मग्न होते हैं, वह महात्मा (मधुसन्दृशः) रसीले रूप वाले अर्थात् संसार भर में शुभ कर्मी होकर उपकार करते हैं ॥ ३ ॥

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः ।
मामित् किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥ ४ ॥

मधोः । अस्मि । मधु-तरः । मदुघात् । मधुमत्-तरः ।
माम् । इत् । किल । त्वम् । वनाः । शाखाम् । मधुमतीम्-इव ॥४॥

भावार्थ—(मधोः) मधुर रस से, मैं (मधुतरः) अधिक मधुर (अस्मि) होऊं, (मदुघात्) लड्डू [वा मुलहटी ओषधि] से भी (मधुमत्तरः) अधिक मधुर रस वाला होऊं। (त्वम्) तू (माम् इत्) मुझ से ही (किल) निश्चय

परा+अय गतौ ल्युट्। दूरगमनम् , प्रस्थानम् (वाचा) १ । १ । १ । वाण्या (वदामि) वद वाचि-लिङर्थे लट् । कथयासम्, उच्यासम् (भूयासम्) भू सत्तायाम्—आशिषि लिङ् । अहं स्याम् (मधु-सन्दृशः) इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति मधु+सम्+दृशिर् प्रेक्षे=चाक्षुषज्ञाने-क । ज्ञानरसरूपः, मधुरदर्शनः ॥

४—(मधोः) म० १ । मधुररसात्, क्षौद्ररसात् (अस्मि) अहं भवानि (मधु-तरः) द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ । पा० ५ । ३ । ५७ । इति मधु+तरप् । अधिकमाधुर्योपेतः (मदुघात्) मुद हर्षे-ण्वुल् । छान्दसं रूपम् । मोदकात् । मिष्टखाद्यविशेषात्। यद्वा [मधुकात्]मधु+कै-क । मधु मधुरं कायति

करके (वनाः) प्रेमकर, (इव) जैसे (मधुमतीम्) मधुर रसवाली (शाखाम्) शाखा से [अनुराग करते हैं] ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्या का रस सांसारिक स्वादिष्ठ मिष्टान्न आदि रोचक पदार्थों से बहुत ही रसीला अर्थात् अधिक लाभदायक और उपकारी होता है। जैसे जैसे ब्रह्मचारी यत्न पूर्वक विद्या की लालसा करता है वैसे ही वैसे विद्या देवी भी उस से अनुराग करती है ॥ ४ ॥

मनु महाराज ने कहा है—अ० ४ श्लोक २० ॥

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ १ ॥

जैसे जैसे ही पुरुष शास्त्र को पढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे वह अधिक विद्वान् होता जाता है, और विज्ञान में उसकी रुचि होती है ॥

परि॑ त्वा परितत्नुने॒क्षुणा॑गा॒मवि॑द्विषे।
यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ असः॑ ॥ ५ ॥

परि॑। त्वा॒। प॒रि॒-त॒त्नुना॑। इ॒क्षुणा॑। अ॒गा॒म्। अवि॑-द्विषे। यथा॑। माम्। का॒मिनी॑। असः॑। यथा॑। मत्। न। अप॑-गाः। अस॒ः ॥५॥

शब्दयति विज्ञापयतीति मधुकम्। यष्टिमधुकायाः, ओषधिविशेषात्। सायण-भाष्ये तु (मदुघात्)=मधुदुघात्, मधु+दुह प्रपूरणे-कप्, घत्वं च, मधु-शब्दे धुलापश्छान्दसः, मधुस्राविणः पदार्थविशेषात्–इति वर्तते (मधुमत्-तरः) मधु+मतुप्+तरप् पूर्ववत्। पा० ५। ३। ५७। अधिकतरमधुमान्, उपकारि-तरः (माम्) विद्यार्थिनं ब्रह्मचारिणम् (किल) प्रसिद्धौ, निश्चयेन (त्वम्) विद्ये (वनाः) वन संभक्तौ—लेट्। लेटोऽडाटौ। पा० ३। ४। ६४। इति आडागमः। त्वं संभजेः, सेवस्व, कामयेथाः (शाखाम्) शाख व्याप्तौ–अच्, टाप्। वृक्षाङ्गविशेषम् (मधुमतीम्) म० १। मधु+मतुप्—ङीप्। मधुररसयुक्ताम् ॥

भाषार्थ—(परितत्नुना) बहुत फैली हुई (इक्षुणा) लालसा के साथ [अथवा, ऊख जैसी मधुरता के साथ] (अविद्विषे) वैर छोड़ने के लिये (त्वा) तुझ को (परि) सब ओर से (अगाम्) मैं ने पाया है । (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना करने वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगाः) बिछुड़ने वाली (न) न (असः) होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी पूर्ण अभिलाषा से विद्या के लिये प्रयत्न करता है तो कठिन से कठिन भी विद्या उस को अवश्य मिलती और अभीष्ट आनन्द देती है ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा २ । ३० । १ और ६ । ८ । १—३ में भी है ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१–४ ॥ अथर्वा ऋषिः । हिरण्यं देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सुवर्णादिधनलाभोपदेशः—सुवर्ण आदि धन प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः । तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ १ ॥

५—(परि) सर्वतो भावेन (त्वा) त्वाम् मधुलतां विद्याम् (परितत्नुना) दाभाभ्यां नुः । उ० ३ । ३२ । इति बाहुलकात् । तनु विस्तारे–नु प्रत्ययः । सर्वत्रव्याप्तेन (इक्षुणा) इषेः क्सुः । उ० ३ । १५७ । इति इष इच्छायाम्–क्सु । अभिलाषेण, यद्वा । गुडतृणेन प्रेमकरेण (अगाम्) इण गतौ–लुङ् । प्राप्तवानस्मि (अवि-द्विषे) न+वि+द्विष वैरे-भावे क्विप् । वैरत्यागार्थम् (यथा) येन प्रकारेण (माम्) ब्रह्मचारिणम् (कामिनी) अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति काम–इनि । ङीप् । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः । पा० २ । ३ । ७० । इति द्वितीया । माम् कामयमाना (असः) १ । १६ । ४ । त्वम् भवेः, भूयाः (मत्) मत्तः (न) निषेधे (अप-गाः) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति अप+गाङ् गतौ–विच् । अपगमनशीला, प्रस्थानशीला, वियोगिनी ॥

यत्। आ-अबध्नन्। दाक्षायणाः (=दक्ष-अयनाः)। हिरण्यम्।
शत-अनीकाय। सु-मनस्यमानाः। तत्। ते। बध्नामि। आयुषे।
वर्चसे। बलाय। दीर्घायु-त्वाय। शत-शारदाय॥ १॥

भाषार्थ—(यत्) जिस (हिरण्यम्) कामनायोग्य विज्ञान वा सुवर्णादि को (दाक्षायणाः) बल की गति रखने वाले, परम उत्साही (सुमनस्यमानाः) शुभचिन्तकों ने (शतानीकाय) सौ सेनाओं के लिये (अबध्नन्) बांधा है। (तत्) उस को (आयुषे) लाभ के लिये, (वर्चसे) यश के लिये, (बलाय) बल के लिये और (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतुओं वाले (दीर्घायुत्वाय) चिरकाल जीवन के लिये (ते) तेरे (बध्नामि) मैं बांधता हूं॥ १॥

भावार्थ—जिस प्रकार कामना योग्य उत्तम विज्ञान और धन आदि से

१—(यत्) हिरण्यम् (आ) समन्तात् (अबध्नन्) बन्ध बन्धने—लङ्। अधारयन्, अस्थापयन्। (दाक्षायणाः) दक्ष-अयनाः। दक्ष वृद्धौ—अच्। दक्षते प्रवृद्धये समर्थो भवतीति। दक्षः, बलम्। निघ० २। ६। अय गतौ—ल्युट्। अयनं गतिः। पूर्वपददीर्घत्वं छान्दसम्। दक्षस्य बलस्य अयनं गतिर्येषां ते दक्षायणाः। परमोत्साहिनः शूरवीरा विद्वांसो वा (हिरण्यम्) १। ६। २। कमनीयं विज्ञानं। सुवर्णादिकं धनम् (शत-अनीकाय) दिक्संख्ये संज्ञायाम्। पा० २। १। ५०। इति तत्पुरुषः। शतसेनाप्राप्तये (सु-मनस्यमानाः) कर्तुः क्यङ् सलोपश्च। पा० ३। १। ११। इति मनस्—क्यङ्, विकल्पत्वादत्र सकारभावः, ततो लटः शानच्। शोभनं मनः कुर्वन्ते सुमनस्यन्ते सुमनायन्ते वा ते सुमनस्यमानाः, शोभनं ध्यायन्तः शुभचिन्तकाः सज्जनाः (बध्नामि) बन्ध बन्धने—क्र्यादि। धारयामि (आयुषे) १। ३०। ३। ईयते प्राप्यते यत्तद् आयुः। आयाय, लाभाय (वर्चसे) १। ६। ४। तेजसे, यशसे (बलाय) १। १। १। पराक्रमाय (दीर्घायु-त्वाय) दॄ विदारणे—घञ्। छन्दसीणः। उ० १। २। इति इण् गतौ—उण्—आयुः। भावे त्वप्रत्ययः। लम्बमानजीवनाय, चिरकालजीवनाय (शत-शारदाय) सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्। पा० ४। ३। १६। इति शरद्—अण्। शरदृतोः संबन्धी कालः संवत्सरः। शतसंवत्सरयुक्ताय॥

दूरदर्शी, शुभचिन्तक, शूर वीर विद्वान् लोग बहुत सेना लेकर रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य विज्ञान और धन की प्राप्ति से संसार में कीर्ति और सामर्थ्य बढ़ावें और अपना जीवन सुफल करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है । अ० ३४ म० ५२ ॥

नैनं॒ रक्षां॑सि॒ न पि॑शा॒चाः सह॑न्ते दे॒वाना॒मोजः॑ प्रथम॒जं ह्ये॒३॒॑तत् । यो बिभ॑र्ति दाक्षाय॒णं हिर॑ण्यं॒ स जी॒वेषु॑ कृणु॒ते दी॒र्घमायुः॑ ॥ २ ॥

न । ए॒न॒म् । रक्षां॑सि । न । पि॒शा॒चाः । स॒ह॒न्ते॒ । दे॒वाना॑म् । ओजः॑ । प्र॒थ॒म॒-जम् । हि । ए॒तत् । यः । बिभ॑र्ति । दा॒क्षा॒य॒णम् (=द॒क्ष॒-अ॒य॒नम्) । हिर॑ण्यम् । सः । जी॒वेषु॑ । कृ॒णु॒ते॒ । दी॒र्घम् । आयुः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(न) न तो (रक्षांसि) हिंसा करने हारे राक्षस और (न) न (पिशाचाः) मांसाहारी पिशाच (एनम्) इस पुरुष को (सहन्ते) दबा सकते हैं, (हि) क्योंकि (एतत्) यह [विज्ञान वा सुवर्ण] (देवानाम्) विद्वानों का (प्रथमजम्) प्रथम उत्पन्न (ओजः) सामर्थ्य है । (यः) जो पुरुष (दाक्षायणम्)

२—(न) निषेधे (एनम्) हिरण्यधारिणं पुरुषम् (रक्षांसि) १ । २१ । ३ । राक्षसाः, नष्टबुद्धयः स्वार्थिनः (पिशाचाः) १ । १६ । ३ । मांसभक्षिणः पिशिताशिनो महादुःखदायिनः (सहन्ते) अभिभवन्ति, बाधन्ते (देवानाम्) विदुषाम् (ओजः) १ । १२ । १ । पराक्रमः (प्रथम-जम्) प्रथेरमच् । उ० ५ । ६८ । इति प्रथ ख्यातौ—अमच्+जनी—ड । प्रथमतो मातापितृगुरुकारिताभ्यासत उत्पन्नम् (हि) खलु, यस्मात् कारणात् (एतत्) हिरण्यम् (यः) पुरुषः (बिभर्त्ति) भृञ् भरणधारणपोषणेषु—जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । बिभर्ति (दाक्षायणम्) म० १ । बलस्य गतियुक्तम् परमोत्साहवर्धकम्

बल की गति बढ़ाने वाले (हिरण्यम्) कमनीय तेजः स्वरूप विज्ञान वा सुवर्ण को (बिभर्त्ति) धारण करता है, (सः) वह (जीवेषु) सब जीवों में (आयुः) अपनी आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणुते) करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुष (प्रथमजम्) प्रथम अवस्था में गुणी माता, पिता और आचार्य से ब्रह्मचर्य सेवन करके शिक्षा पाते हैं, वह उत्साही जन सब विघ्नों को हटाकर दुष्ट हिंसकों के फंदे में नहीं फंसते हैं, और वही सत्कर्मी पुरुष विज्ञान और सुवर्ण आदि धन को प्राप्त करके संसार में यश पाते हैं, इसी का नाम दीर्घ आयु करना है ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है, अ० ३४ म० ५१ ॥

अ॒पां तेजो॒ ज्योति॒रोजो॒ बलं॑ च॒ वन॒स्पती॑नामु॒त वी॒र्या॑णि । इन्द्र॑ इवेन्द्रि॒याण्यधि॑ धारयामो अ॒स्मिन् तद् दक्ष॑माणो बिभर॒द्धिर॑ण्यम् ॥ ३ ॥

अ॒पाम् । तेजः॑ । ज्योतिः॑ । ओजः॑ । बल॑म् । च॒ । वन॒स्पती॑नाम् । उ॒त । वी॒र्या॑णि । इन्द्रे॑-इव । इ॒न्द्रि॒याणि॑ । अधि॑ । धा॒र॒या॒मः॒ । अ॒स्मिन् । तत् । दक्ष॑माणः । बि॒भ॒र॒त् । हिर॑ण्यम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—(अपाम्) प्राणों वा प्रजाओं के (तेजः) तेज , (ज्योतिः) कान्ति, (ओजः) पराक्रम (च) और (बलम्) बल को (उत) और भी

(हिरण्यम्) म० १ । कमनीयं विज्ञानं सुवर्णादिकं वा (जीवेषु) इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति जीव प्राणने-क । प्राणिषु (कृणुते) कृञ् हिंसाकरणयोः, स्वादिः । करोति (दीर्घम्) म० १ । दॄ विदारणे-घञ् । लम्बमानम् (आयुः) म० १ । इण्-उसि । जीवनम् ॥

३—(अपाम्) आप्नोतेर्ह्रस्वश्च । उ० २ । ५८ । इति आप्लृ व्याप्तौ-क्विप् । आप्नुवन्ति शरीरमिति आपः । प्राणानाम् । आप्तानां प्रजानां वा । यथा श्रीमद्दयानन्दभाष्ये । आपः=प्राणा जलानि वा । यजुः ४ । ७ । पुनः । आप्ताः प्रजाः ।

(वनस्पतीनाम्) सेवनीय गुणों के रक्षक विद्वानों की (वीर्याणि) शक्तियों को (अस्मिन् अधि) इस [पुरुष] में (धारयामः) हम धारण करते हैं, (इव) जैसे (इन्द्रे) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष में (इन्द्रियाणि) इन्द्र के चिन्ह, [बड़े बड़े ऐश्वर्य] होते हैं। [इस लिये] (दक्षमाणः) वृद्धि करता हुआ यह पुरुष (तत्) उस (हिरण्यम्) कमनीय विज्ञान वा सुवर्ण आदि को (बिभरत्) धारण करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वानों के सत्संग से महा प्रतापी, विक्रमी, तेजस्वी, गुणी पुरुष वृद्धि करके विज्ञान और धन संचय करे और सामर्थ्य बढ़ावे ॥ ३ ॥

समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि । इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

समानाम् । मासाम् । ऋतु-भिः । त्वा । वयम् । सम्-वत्सरस्य । पयसा । पिपर्मि । इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः । ते । अनु । मन्यन्ताम् । अहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

म० ६ । २७ (तेजः) तिज निशाने-असुन् । दीप्तिः, कान्तिः । रेतः, सारः । (ज्योतिः) १ । ६ । १ । प्रकाशः, कान्तिः (ओजः) म० २ । पराक्रमः (बलम्) म० १ सामर्थ्यम् । शौर्य्यम् (वनस्पतीनाम्) १ । १२ । ३ । वन+पतिः, सुट् च । वृक्षाणाम् । अथवा । सेवनीयगुणपालकानां सज्जनानां पालकानाम् । यथा श्रीमद्दयानन्दभाष्ये यजु० २७ । २१ । वनस्पते=वनस्य संभजनीयस्य शास्त्रस्य पालक (वीर्याणि) १ । ७ । ५ । सामर्थ्यानि । रेतांसि । (इन्द्रे) १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवति पुरुषे (इन्द्रियाणि) इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । पा० ५ । २ । ६३ । इन्द्र–घच् इन्द्रस्य लिङ्गानि चिन्हानि । परमैश्वर्याणि, धनादीनि (अधि) उपरि (धारयामः) स्थापयामः (अस्मिन्) पुरुषे (तत्) तस्मात् कारणात् (दक्षमाणः) दक्ष वृद्धौ-शानच् । वर्धमानः पुरुषः (बिभरत्) डुभृञ् धारणपोषणयोः-लेट् । धारयेत्, बिभर्तु (हिरण्यम्) म० १ । कमनीयं धनम् ॥

भाषार्थ—(वयम्) हम लोग (त्वा) तुझ को [आत्मा को] (समानाम्) अनुकूल (मासाम्) महीनों को (ऋतुभिः) ऋतुओं से और (संवत्सरस्य) वर्ष के (पयसा) दुग्ध वा रस से (पिपर्मि=पिपर्मः) पूर्ण करते हैं। (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि [वायु और अग्नि के समान गुण वाले] (ते) वह (विश्वे देवाः) सब दिव्य गुणयुक्त पुरुष (अहृणीयमानाः) संकोच न करते हुये (अनु मन्यन्ताम्) [हम पर] अनुकूल रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य महीनों, ऋतुओं और वर्ष का अनुकूल विभाग करते हैं, वह वर्ष भर की उपज, अन्न, दूध, फल पुष्प आदि से पुष्ट रहते हैं,

---

४—(समानाम्) षम वैक्लव्ये-पचाद्यच्। अविषमानाम्। पूर्णानाम्। साधूनाम्, अनुकूलानाम् (मासाम्) सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति माङ् माने-असुन्। मासानाम् (ऋतुभिः) अर्त्तेश्च तुः। उ० १। ७२। इति ऋ गतौ-तु, स च कित्। वसन्तादिकालविशेषैः (त्वा) त्वाम्, पुरुषम्। (सम्-वत्सरस्य) संपूर्वाच्चित्। उ० ३। ७२। इति सम्+वस निवासे-सरन्, सस्य तकारः। संवसन्ति ऋतवो यत्र। वर्षस्य, द्वादशमासात्मकस्य कालस्य (पयसा) पय गतौ वा पीङ् पाने-असुन्। दुग्धेन सारेण वा, धान्यफलादिना, इत्यर्थः (पिपर्मि) पॄ पालनपूरणयोः, जुहोत्यादिः। एकवचनं बहुवचने। वयं पिपर्मः पालयामः, पूरयामः (इन्द्राग्नी) वाय्वग्नी। यथा श्रीमद्दयानन्दभाष्ये, य० २१। २०। इन्द्राग्नी=इन्द्रश्चाग्निश्च तौ वाय्वाग्नी। तद्वद् गुणवन्तः (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणाः पुरुषाः (अनु मन्यन्ताम्) अनु+मन बोधे-लोट्। अनुजानन्तु, स्वीकुर्वन्तु, अनुकूलं कुर्वन्तु (अहृणीयमानाः) कण्ड्वादिभ्यो यक्। पा० ३। १। २७। इति हृणीङ् रोषणे लज्जायां वैमनस्ये च-यक्। ङित्वाद् आत्मनेपदम्। ततः शानच्। हृणीयते=कुध्यति, निघ० २। १२। अक्रुध्यन्तः, असङ्कुचन्तः ॥

और वायु के समान वेग वाले, और अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् महात्मा उस पुरुषार्थी मनुष्य के सदा शुभचिन्तक होते हैं ॥ ४ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति प्रथमं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीसयाजीरावगायकवाड़ा-
धिष्ठितबड़ोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेद-
भाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डितक्षेमकरणदासत्रिवेदिना
कृते अथर्ववेदभाष्ये प्रथमं काण्डं
समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे श्रावणमासे रक्षाबन्धनतिथौ १९६९ तमे
विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि-
श्रीराज राजेश्वर जार्जपञ्चम-
महोदयस्य सुसाम्राज्ये
सुसमाप्तिमगात् ॥

इति

॥ ओ३म् ॥

नया आनन्द समाचार ॥

अथर्ववेद भाष्य और गोपथब्राह्मण भाष्य हिन्दी सहित छप गये। शीघ्र मंगाइये ॥

१—अथर्ववेद भाष्य—अथर्ववेद का अर्थ अभी तक यहां की किसी भाषा में न था, और संस्कृत में भी श्री सायण भाष्य पूरा नहीं है। अब परमात्मा की कृपा से इस वेद का हिन्दी और संस्कृत प्रामाणिक भाष्य प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी का किया हुआ श्रीमान् राजाधिराज धीर-वीर-चिरप्रतापी श्री सयाजी राव गायकवाड़ बड़ोदाधीश, तथा श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभाओं संयुक्त प्रान्त और पंजाब प्रान्त तथा विद्वान् ग्राहक महाशयों की विशेष प्रचार सहायता से पूरा होकर छप गया।

इस वेद के बीसों काण्डों का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य विषय सूची, मन्त्रसूची, पदसूची, आदि सहित अल्प मूल्य में उपस्थित है। वेदप्रेमी महाशय सब स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत्पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, राजविद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें, छपाई उत्तम और कागज़ देशी बढ़िया रायल अठपेजी है।

पुराने ग्राहक जिन के पास सब काण्ड नहीं हैं और नये ग्राहक भाष्य शीघ्र मंगावें, पुस्तक थोड़े रहे हैं, ऐसे बड़े ग्रन्थ का फिर शीघ्र छपना कठिन है। बोझ लगभग ६०० तोला वा ७॥ सेर है, रेल से मंगाने वाले महाशय रेलवे स्टेशन लिखें। पूरा भाष्य २३ भाग मूल्य ४७॥), वी० पी० व्यय ४।॥)

काण्ड	१ भूमिका सहित			२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
मूल्य	१।≈)			१।-)	१॥-)	२)	१॥≈)	३)	२।)	२)	२।)	२॥)	२।)
काण्ड	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	परिशिष्ट	मन्त्र सूची	पद सूची	योग
मूल्य	२≈	१।≈)	१।)	१-)	॥-)	।≈)	२।≈)	३।)	७।)	।≈)	१≈)	४)	४७॥)

२—गोपथब्राह्मण भाष्य—गोपथब्राह्मण अथर्ववेद का ब्राह्मण प्राचीन ग्रन्थ है। इसका अब तक न कोई भाष्य और न कोई अनुवाद है। अब परमात्मा

की कृपा से उक्त पण्डित जी ने अथर्ववेद भाष्य के समान इस ब्राह्मण का भाष्य सरल हिन्दी और संस्कृत में करके मूल ग्रन्थ, अनेक टिप्पणियों, व्याकरणादि प्रक्रियाओं, विनियोगीय मन्त्रों सहित प्रकाशित कर दिया है। सब स्त्री पुरुष इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से आत्मोन्नति करें। इस ग्रन्थ को महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने सत्यार्थ प्रकाशादि पुस्तकों में वैदिक साहित्य के उपयोगी ग्रन्थों में माना है। पुस्तक थोड़े छपे हैं, ग्राहक महाशय शीघ्रता करें। छपाई उत्तम कागज़ देशी सफ़ेद बढ़िया रायल अठपेजी मूल्य ७।), वी० पी० व्यय ॥।≈)

३–हवनमन्त्राः–धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक–चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल हिन्दी में शब्दार्थ सहित, गुरुकुलों, डी० ए० वी० कालिजों और स्कूलों में प्रचलित संशोधित ।–), डाक महसूल –)

४–रुद्राध्यायः–प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत हिन्दी और अंग्रेज़ी में मूल्य ।=), डाक महसूल =)

५–रुद्राध्ययः–मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४ मूल्य)॥, डाक महसूल)॥

६–वेदविद्यायें–कांगड़ी गुरुकुल में हिन्दी व्याख्यान। वेदों में विमान, नौका, अस्त्र शस्त्र, व्यापार, गृहस्थ, अतिथि, सभा, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन, मूल्य –)॥, डाक महसूल)॥

मार्गशीर्ष संवत् १९८२,
नोवेम्बर १९२५

पता–पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी
५२, लूकरगंज, प्रयाग।

Address—**Pt. Khem Karan Das Trivedi.**
52, LUKERGANJ, ALLAHABAD.

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां ॥

श्रीमती आर्य प्रतिनिधिसभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्तावसंख्या ३ तिथि ६-१२-७३ की प्रति।

ला० दीवान चन्द प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि पं० क्षेमकरणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे, उपस्थित हुआ। निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उन से स्वीकार की जावें ॥

टिप्पणी—यह नियम बत्तीस महीने तक रहा ॥

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावे कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिस का बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

टिप्पणी—यह नियम चार वर्ष तक रहा ॥

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५९७३ प्राप्त २० जुलाई १९१६ ई०)

मान्यवर, नमस्ते ! ॥ ओ३म् ॥

आप को ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आप ने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है। भाष्य काण्डों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य होरहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिस के कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्त्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मी मात्र श्री त्रिवेदी जी को उन के महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहस प्रदान करें। स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्त्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहियें

समाज के पुस्तकालयों में तो उन का रखना बहुत ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य मंगइये।

भवदीय—

नन्दलाल सिंह, बी० एस सी० एलएल० बी० उपमन्त्री।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१९१४। कार्यालय श्रीमती **आर्यप्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।**

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धिशाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आप को उत्तरोत्तर उस महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए० एलएल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पंडित तुलसीराम स्वामी—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३।

ऋग्यजुर्वेद, का भाष्य श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है। सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है। अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १९१३

श्री० पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं। मैं ने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौन सा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ

में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे ।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का उद्योग किया है । ईश्वर उनको बल तथा वेद सम्बन्धी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और कागज़ भी अच्छा है ।

श्रीयुत महाशय **मुन्शीराम जी**-जिज्ञासु—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार-पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१९०९ ।

अथर्ववेद भाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है ।

तथा-पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९०९ ।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ ।

श्रीयुत पं० **शिवशंकर शर्मा** काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि, सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १९१३ ।

अथर्ववेद भाष्य । श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है ।......आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे । अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं । आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं । आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है ।

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद्, गीतादि भाष्यकर्ता, वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १९१३ ॥

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है । इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में......अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है अतएव भाष्य भी आर्यसामाजि शैली का हुआ है । तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है । और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है ।

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, ठिकाना हकीम देवी प्रसाद जी, १३७ अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१९१५ ॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आप का भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैं ने चारो कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ । आप ने हम सभों पर अत्यन्त कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं । आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा ।

दो पुस्तक **हवनमन्त्राः** की जिसका मूल्य ।)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पण्डित **महावीरप्रसाद द्विवेदी**—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूलमन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ पाठान्तर टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलंकृत किया है आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद भाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित **गणेश प्रसाद शर्मा**—संपादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी, उस की पूर्ति का आरम्भ हो गया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थ युक्त भाषार्थ उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वार्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू **कालिका प्रसाद जी**—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८६ ता० २७-३-१३।

आप का भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आपका भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपे मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद जी वर्मा**, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१३।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आपने यह साह दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डारे के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय **पंडित श्रीधर पाठक जी (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)**—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेण्ट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-६-१३।

आपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोहर तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहोर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६—लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पंडित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है—कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पंडितजी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं-पंडितजी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है—जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच काण्ड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बंधी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्यसमाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इस के ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई।..........इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उन के पास हों वैसा वैसा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको ग्रन्थ [illegible] प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है..........त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह [illegible] धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर—इसलिये न केवल सब आर्य [illegible] का यह कर्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें, [illegible] पुरुषों [illegible] का भी कर्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें।

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), Baroda State, letter No. 624 dated 6th February 1913.

...It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम् It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address lable "For Encouragement Fund."

Rai Thakur Datta, Retired District Judge, Dera Ismail Khan, Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya—It is a gignatic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAHABAD.

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18, 1914.

The Atharva Veda Bhashya or commentary on the Atharva Veda, which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the introduction and the First Kanda or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature. The arrangement is good, the original Mantra is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of Ashtadhyayi of Panini, Unadikosha of Dayanand, Nirukta of Yaska, Yoga Darshana of Patanjali and other standard ancient works......The pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves.....Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest.....

N. B.—The printing and paper are good, price is moderate.

वैदिक ग्रन्थ अङ्क ५ । All rights reserved.

ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करो देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सारे दृष्टि वाले, औ शूद्र और आर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

द्वितीयं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद–भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरण–निरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बडोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितम् प्रकाशितञ्च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to everyone who sees, to
Sūdra and to Āryan man.
Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1.

अयं ग्रन्थः पण्डित काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

सर्वाधिकारो ग्रन्थकारेण स्वाधीन एव रक्षितः ।

प्रथमावृत्ती, १००० पुस्तकानि । } संवत् १९७० वि० । सन् १९१३ ई० । { मूल्यम् १।-)

अथर्ववेदभाष्य-सम्मतियां ।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३ ।

...ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्य्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त। आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १९१३ ।

...श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं,...मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द की शैली के अनुसार, भावपूर्ण, संक्षिप्त, और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका, देदेने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्य समाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक२ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का उद्योग किया है। ईश्वर उन को बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें, निर्विघ्नता के साथ यह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और कागज़ भी अच्छा है। ...

श्रीयुत महात्मा **मंशीराम जी** जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार-पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१९९९ ।

अथर्ववेद भाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं, आपका परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९९९ ।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ॥

(टैटिल पेज पृष्ठ ३ देखिये)

ओ३म् ।

आनन्द समाचार ।

[आप देखिये और अपने मित्रों को भी दिखाइये ।]

अथर्ववेदभाष्यम्—ब्रह्मा जी से लेकर सब बड़े २ ऋषि, मुनि, और योगी जिन वेदों का महत्व गाते आये हैं, और विदेशीय विद्वान् भी जिन की महिमा और अर्थ खोजने में लग रहे हैं, वे अब तक संस्कृत में होनेके कारण बड़े कठिन समझे जाते थे, और कुछ विद्वानों को छोड़ सर्वसाधारण उन का अर्थ नहीं समझ सकते थे । ईश्वर के अनुग्रह से इस समय तक ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद का भाषा में अर्थ हो चुका है, और लोगों को उन के मर्म जानने का सौभाग्य मिला है । परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, जो लोगों को बहुत खटक रहा था । बड़ा हर्ष है कि इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी सरल भाषा और संस्कृत में वेद, निघण्टु निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से भाष्य बनाने में परिश्रम कर रहे हैं ।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, पूरे एक एक काण्ड का भावपूर्ण, संक्षिप्त, स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल भाषा और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है । पूरे भाष्य के स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जनों को नियत मूल्य में से २०) सैकड़ा छूट देकर पुस्तक वी० पी० द्वारा, वा नगद मूल्य पर दिये जाते हैं । वेदप्रेमी श्रीमान् राजे महाराजे, सेठ साहूकार, और विद्वान् और सर्वसाधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य को मंगावें, और जगत्पिता परमेश्वर के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति से कीर्त्तिमान् होवें ।

भाष्य की छपाई उत्तम और काग़ज़ बढ़िया रायल अठपेजी है, और क्रम इस प्रकार है, १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्र के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूपपाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण, निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि ।

	मूल्य	स्थायी ग्राहकों से
काण्ड १—छप गया, भूमिका सहित, पृष्ठ २०२,	१।)	१)
काण्ड २—छप गया, पृष्ठ २१२	१।-)	१-)
काण्ड ३—शीघ्र प्रकाशित होगा ।		

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक-चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण, हवनमन्त्र, वामदेवगान-सरल भाषा में शब्दार्थ सहित, संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य ।) ॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्म निरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अङ्गरेज़ी में, बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८, मूल्य ।=)

२५ अगस्त १६२१ ।

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी,
५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)

१—सूक्त विवरण, काण्ड २ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	वेनस्तत् पश्यत्	ब्रह्म	ब्रह्म प्राप्ति	त्रिष्टुप्
२	दिव्यो गन्धर्वो	गन्धर्वअप्सरा	ईश्वर सर्व-शक्तिमान्	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
३	अदो यदवधावत्य-	भेषज	रोग निवृत्ति	अनुष्टुप्
४	दीर्घायुत्वाय बृहते	जङ्गिड	आयु वृद्धि	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
५	इन्द्र जुषस्व प्र वहा	इन्द्र	उन्नति प्रयत्न	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
६	समास्त्वा अग्न ऋतवो	अग्नि	राजनीति	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
७	अघद्विष्टा	ईश्वर	राजधर्म	अनुष्टुप्
८	उदगातां भगवती	ब्रह्म	पौरुष	अनुष्टुप्
९	दशवृक्ष मुञ्चेमं	ईश्वर	आत्मोन्नति	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१०	क्षेत्रियात् त्वा	ब्रह्म	मुक्ति प्राप्ति	त्रिष्टुप्, जगती
११	दूष्या दूषिरसि	पुरुष	पुरुषार्थ	गायत्री
१२	द्यावापृथिवी उर्व	विश्वे देवाः	सर्वरक्षा	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१३	आयुर्दा अग्ने जरसं	ब्रह्मचारी	समावर्त्तनवस्त्र	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१४	निः सालां धृष्णुं	अलक्ष्मी	निर्धनता का नाश	अनुष्टुप्
१५	यथा द्यौश्च पृथिवी	प्राण	धर्म का पालन	गायत्री
१६	प्राणापानौ मृत्योर्मा	आत्मा	आत्मरक्षा	पङ्क्ति,गायत्रीआदि
१७	ओजोऽस्योजो मे	ईश्वर	आयु वृद्धि	त्रिष्टुप्, उष्णिक्
१८	भ्रातृव्यक्षयणमसि	ईश्वर	शत्रु से रक्षा	साम्नी बृहती
१९	अग्ने यत्ते तपस्तेन	अग्नि	कुप्रयोगत्याग	त्रिष्टुप्, जगती
२०	वायो यत्ते तपस्तेन	वायु	,, ,,	,, ,,
२१	सूर्य यत्ते तपस्तेन	सूर्य	,, ,,	,, ,,
२२	चन्द्र यत्ते तपस्तेन	चन्द्र	,, ,,	,, ,,
२३	आपो यद् वस्तपस्तेन	आपः (जल)	,, ,,	,, ,,
२४	शेरभक शेरभ	ईश्वर	कुसंस्कारादि त्याग	त्रिष्टुप् आदि
२५	शं नो देवी पृश्नि-	पृश्निपर्णी	शत्रुओं का नाश	अनुष्टुप्

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
२६	यह यन्तु पशवो	त्वष्टा सविता वा	मेल करना	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
२७	नेच्छत्रुः प्राशं जयाति	ओषधि, इन्द्र	बुद्धि से विवाद	अनुष्टुप्
२८	तुभ्यमेव जरिमन्	अग्नि	आयु बढ़ाना	त्रिष्टुप्
२९	पार्थिवस्य रसे देवा	बृहस्पति, इन्द्र	उन्नति करना	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
३०	यथेदं भूम्या अधि	अश्विनौ	गृहस्थाश्रम प्रवेश	पङ्क्ति, त्रिष्टुप्
३१	इन्द्रस्य या मही दृषत्	इन्द्र	दोष नाश	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
३२	उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्	आदित्य	तथा	गायत्री, अनुष्टुप्
३३	अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां	आत्मा	शरीररक्षा	अनुष्टुप् पङ्क्ति
३४	य ईशे पशुपतिः पशूनां	पशुपति	बन्ध से मुक्ति	त्रिष्टुप्
३५	ये भक्षयन्तो न वसू-	विश्वकर्मा	पाप त्याग	त्रिष्टुप्
३६	आ नो अग्ने सुमतिं	अग्नि	विवाहसंस्कार	त्रिष्टुप् आदि

२-अथर्ववेद, काण्ड २ के मन्त्र अन्य वेदों में संपूर्ण वा कुछ भेद से ॥

संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड २) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद मंडल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१-२	वेनस्तत् पश्यत्-इत्यादि	१।१—२	—	३२।८-९	
३	स नः पिता जनिता	१।३	१०।८२।३	१७।२७	
४	परि विश्वा भुवनान्या	१।५	—	३२।१०	
५-७	इन्द्र जुषस्वप्र वह-इत्यादि	५।१-३	—	—	उ० ३।१।२२
८-१०	इन्द्रस्य नु प्रवोचं-इत्यादि	५।५-७	१।३२।१-३	—	
११-१३	समास्त्वाग्न-इत्यादि	६।१-३	—	२७।१-३	
१४-१५	क्षत्रेणाग्ने स्वेन-इत्यादि	६।४-५	—	२७।५-६	
१६	अतीव यो मरुतो	१२।६	६।५२।२	—	
१७-१९	ओजोऽस्योजो-इत्यादि	१७।१-७	—	१९।९	
२०-२६	अक्षीभ्यां ते-इत्यादि	३३।१-७	१०।१६३।१-६	—	

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

द्वितीयं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ।

सूक्तम् १ ।

मन्त्राः १—५ । ब्रह्म देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मप्राप्त्युपदेशः—ब्रह्म के मिलने का उपदेश ।

वे॒नस्तत् प॑श्यत् प॒र॒मं गुहा॒ यद् यत्र॒ विश्वं॒ भव॒त्येक॑रूपम् ।
इ॒दं पृश्नि॑रदुह॒ज्जाय॑माना॒: स्व॒र्विदो॑ अ॒भ्य॑नूषत॒ व्राः ॥१॥

वे॒नः । तत् । प॒श्य॒त् । प॒र॒मम् । गुहा॑ । यत् । यत्र॑ । विश्व॑म् । भव॑ति । एक॑-रूपम् । इ॒दम् । पृश्नि॑ः । अ॒दु॒ह॒त् । जाय॑मानाः । स्व॒ः-विद॑ः । अ॒भि । अ॒नू॒ष॒त॒ । व्राः ॥ १ ॥

सान्वयभाषार्थ—(वेनः) बुद्धिमान् पुरुष (तत्) उस (परमम्) अति श्रेष्ठ परब्रह्म को (पश्यत्=०—ति) देखता है, (यत्) जो ब्रह्म (गुहा=गुहायाम्) गुफा के भीतर [वर्त्तमान है], और (यत्र) जिसमें (विश्वम्) सब जगत्

१—शब्दार्थव्याकरण। प्रक्रिया—वेनः । धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति अज गतिक्षेपणयोः—नप्रत्ययः, वीभावः । यद्वा, वेनति कान्ति-

(एकरूपम्) एक रूप [निरन्तर व्याप्त] (भवति) वर्त्तमान है। (इदम्) इस परम ऐश्वर्य के कारण [ब्रह्मज्ञान] को (पृश्निः) [ईश्वर से] स्पर्श रखने वाले मनुष्य ने (जायमानाः) उत्पन्न होती हुयी अनेक रचनाओं से (अदुहत्) दुहा है, और (स्वर्विदः) सुखस्वरूप वा आदित्यवर्ण ब्रह्म के जानने वाले (व्राः) वरणीय विद्वानों ने [उस ब्रह्म की] (अभि) विविध प्रकार से (अनूषत) स्तुति की है ॥ १ ॥

भावार्थ—वह परम ब्रह्म सूक्ष्म तो ऐसा है कि वह (गुहा) हृदय आदि प्रत्येक सूक्ष्म स्थान का अन्तर्यामी है, और स्थूल भी ऐसा है कि संपूर्ण ब्रह्मांड उसके भीतर समा रहा है। धीर ध्यानी महात्मा उस जगदीश्वर की अनन्त रचनाओं से विज्ञान और उपकार प्राप्त करके मुक्त कण्ठ से आत्मसमर्पण करते हुये उसकी स्तुति करते और ब्रह्मानन्द में मग्न रहते हैं ॥ १ ॥

देखिये—यजुर्वेद अध्याय ३२ मन्त्र ८।

वे॒नस्तत्प॑श्य॒न्निहि॑तं॒ गुहा॒ सद्यत्र॒ विश्वं॒ भव॒त्येक॑नी॒डम्। तस्मि॑न्नि॒दꣳ सं च॒ वि चै॑ति॒ सर्वꣳ॒ स ओतः॒ प्रोत॑श्च वि॒भूः प्र॒जासु॑ ॥ १ ॥

(वेनः) पण्डित जन (तत्) उस (गुहा) बुद्धि वा गुप्त कारण में (निहितम्) वर्त्तमान (सत्) नित्यस्वरूप ब्रह्म को (पश्यत्=०—ति) देखता है, (यत्र) जिस ब्रह्म में (विश्वम्) सब जगत् (एकनीडम्) एक आश्रय वाला (भवति) होता है। (च) और (तस्मिन्) उसमें (इदम्) यह (सर्वम्) सब जगत् (सम्)

कर्मा-निघ० २। ६। ततः। पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण पा० ३। ३। ११८। इति घ प्रत्ययः। वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः-इति यास्कः, निरु० १०। ३८। गतिमान्। दीप्यमानः। मेधावी-निघ० २। १५। **पश्यत्**। इकारलोपः। पश्यति, साक्षात्करोति। **परमम्**। अ० १। १३। ३। पर+मा माने-क। उत्कृष्टम्। **गुहा**। अ० १। ८। ४। गुहायाम्। गुप्तस्थाने। **यत्र**। यस्मिन् सर्वाधिष्ठाने ब्रह्मणि। **विश्वम्**। अ० १। १। १। सर्वं जगत्। **एकरूपम्**। इण् भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन्। उ० ३। ४३। इति इण् गतौ-कन्। एति प्राप्नोतीत्येकम्। रूप्यते कीर्त्यते तद्रूपम्। अ० १। १। १। सर्वथा, निरन्तरं व्याप्तम्। **इदम्**। इन्देः कमिन्नलोपश्च। उ० ४। १५७। इति इदि परमैश्वर्ये-कमिन्। नकारलोपः।

मिलकर (च) और (वि) अलग अलग होकर (एति) चेष्टा करता है, (सः) वह (विभूः) सर्वव्यापक परमात्मा (प्रजासु) प्रजाओं में [वस्त्र में सूत के समान] (ओतः) ताना किये हुये (च) और (प्रोतः) बाना किये हुये है ॥

प्र तद् वो॑चेद॒मृत॑स्य वि॒द्वान् ग॑न्ध॒र्वो धाम॑ प॒र॒मं गुहा॒ यत्। त्रीणि॑ प॒दानि॒ निहि॑ता॒ गुहा॑स्य॒ यस्तानि॒ वेद॒ स पि॒तुष्पि॒ता॑सत् ॥ २ ॥

प्र । तत् । वो॒चे॒त् । अ॒मृत॑स्य । वि॒द्वान् । ग॒न्ध॒र्वः । धाम॑ । प॒र॒मम् । गुहा॑ । यत् । त्रीणि॑ । प॒दानि॑ । नि-हि॑ता । गुहा॑ । अ॒स्य॒ । यः । तानि॑ । वेद॑ । सः । पि॒तुः । पि॒ता । अ॒स॒त् ॥ २ ॥

भावार्थ—(विद्वान्) विद्वान् (गन्धर्वः) विद्या का धारण करने वाला

इन्दति परमैश्वर्यहेतुर्भवतीति इदम्। प्रत्यक्षज्ञानम्। **पृश्निः**। घृणिपृश्नि-पार्ष्णि०। उ० ४। ५२। इति स्पृश स्पर्शे-निप्रत्ययः, सलोपः। स्पृशति, योगेन ब्रह्म प्राप्नोतीति पृश्निः। समाधिस्थयोगी पुरुषः। पृश्निरादित्यो भवति प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः संस्प्रष्टा रसान् संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषां संस्पृष्टो भासेति वा-निरु० २। १४। इति यास्कवचनाद् योगैश्वर्येण सूर्यवत् प्रकाशमानः पुरुषः। **अदुहत्**। दुह प्रपूरणे-लुङ्, छान्दसो अङ्। आकृष्टवान्, प्राप्त-वान्। द्विकर्मकत्वात् (इदम्) इति (जायमानाः) इति शब्दस्य च कर्मकत्वम्। **जायमानाः**। जनी जनने, प्रादुर्भावे-शानच्। उत्पद्यमानाः प्रजाः। **स्वर्विदः**। अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ३। २। ७५। इति स्वृ शब्दोपतापयोः—विच्। यद्वा सु+ऋ गतौ, ईर गतौ वा-विच्। स्वरादित्यो भवति सु अरणः सु ईरणः स्वृतो रसान् स्वृतो भासं ज्योतिषां स्वृतो भासेति वा—निरु० २। १४। ततो विद ज्ञाने-क्विप्। स्वः शब्दाभिधेयं सुखस्वरूपम् आदित्यवर्णं वा परब्रह्म विदन्ति जानन्तीति स्वर्विदः परब्रह्मज्ञातारः। **अभि**। आभिमुख्येन, सर्वतः। **अनूषत**। णू स्तवने-लुङ्, छान्दसम् आत्मनेपदम्। स्तुतवन्तः। **व्राः**। गेहे कः। पा० ३। १। १४४। इति वृञ् वरणे-बाहुलकात् कः, यणादेशः, जस्। स्वशोभनगुणैर्व्रियमाणाः संभज्यमानाः स्वीक्रियमाणाः पुरुषाः। यद्वा। ब्रह्मणो वरितारो अन्वेष्टारः ॥

२—**वोचेत्**। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि आशीर्लिङि वच्यादेशे। लिङ्याशिष्यङ्।

पुरुष (अमृतस्य) अविनाशी ब्रह्म के (तत्) उस (परमम्) सब से ऊंचे (धाम) पद का (प्र वोचद्) उपदेश करे (यत्) जो पद (गुहा = गुहायाम्) गुफा [प्रत्येक अगम्य पदार्थ हृदय आदि] के भीतर है। (अस्य) इस [ब्रह्म] की (गुहा) गुफा [अगम्य शक्ति] में (त्रीणि) तीनों (पदानि) पद (निहिता = ०-तानि) ठहरे हुये हैं, (यः) जो [विद्वान् पुरुष] (तानि) उनको (वेद) जान-लेता है, (सः) वह (पितुः) पिता का (पिता) पिता (असत्) हो जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् महात्मा पुरुष उस परब्रह्म की महिमा का सदा उपदेश करते रहते हैं। वह ब्रह्म सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है। उसके ही वश में तीन पद, अर्थात् संसार की सृष्टि, स्थिति और नाश यह तीनों अव-

---

पा० ३। १। ८६। इति अङ् प्रत्ययः। वच उम्। पा० ७। ४। २०। इति उम् आगमः। उच्यात्। उपदिशेत्। व्यवहिताश्च। पा० १। ४। ८२। इति (प्र) उपसर्गस्य क्रियया संबन्धः। **अमृतस्य**। तनिमृङ्भ्यां किच्च। उ० ३। ८८। इति अ+मृङ् प्राणत्यागे-तन्, स च कित्। मरणरहितस्य। अविनाशिनः परब्रह्मणः। **विद्वान्**। वेत्तीति। विद ज्ञाने-शतृ। विदेः शतुर्वसुः। पा० ७। १। ३६। इति शतुर्वसुरादेशः। आत्मवित्। प्राज्ञः। पण्डितः। **गन्धर्वः**। गां वाणीं पृथिवीं गतिं वा धरति धारयति वा सः। कृगशॄदृभ्यो वः। उ० १। १५५। इति गो+ धृञ् धारणे-व प्रत्ययः, पृषोदरादिना गोशब्दस्य गमादेशः। वेदवाणीधारकः। वेदवेत्ता। स्वर्गगायकः। सूर्यः। घोटकः। **धाम**। अ० १। १३। ३। स्थानम्। प्रभावम्। **त्रीणि**। तरतेड्रिः। उ० ५। ६६। सृष्टिस्थितिप्रलयादिरूपाणि। **पदानि**। पद्यन्ते गम्यन्ते प्राणिभिः। पद गतौ-अच्। कर्माणि। वस्तूनि। **निहिता**। दधातेर्हिः। पा० ७। ४। ४२। इति नि+डुधाञ् धारणपोषणयोः-क्त। हिरादेशः। शेश्छन्दसि बहुलम्। पा० ६। १। ७०। इति शिलोपः। निहितानि। स्थापितानि, स्थितानि। **वेद**। विद ज्ञाने। विदो लटो वा। पा० ३। ४। ८३। इति तिपो णल् आदेशः। वेत्ति। जानाति। साक्षात्करोति। **पितुः पिता**। नप्तृनेष्टृ होतृ०। उ० २। ६५। इति पा रक्षणे-तृच्। निपातनात् साधुः। ज्ञानप्रदानेन स्वरक्षकस्यापि रक्षकः। महाविद्वान्। **असत्**। अस सत्तायां- लेट्, अडागमः। भूयात्॥

स्थायें, अथवा भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, तीनों काल, अथवा सत्त्व, रज और तम, तीनों गुण वर्त्तमान हैं। जिस महापुरुष योगी को इन अवस्थाओं का विज्ञान व्यष्टि और समष्टि रूप से होता है; वह पिता का पिता अर्थात् महाविज्ञानियों में महाविज्ञानी होता है ॥ २ ॥

१—यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३२। म० ६।

२—मनु महाराज ने कहा है—अ० २। १५३।

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१॥

अज्ञानी ही बालक होता है, वेदोपदेष्टा पिता होता है। [मुनि लोग] अज्ञानी को ही बालक, और वेदोपदेष्टा को ही पिता कहते हैं ॥ १ ॥

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

सः। नः। पिता। जनिता। सः। उत। बन्धुः। धामानि। वेद। भुवनानि। विश्वा। यः। देवानाम्। नामधः। एकः। एव। तम्। सम्-प्रश्नम्। भुवना। यन्ति। सर्वा ॥३॥

भाषार्थ—(सः) वही [ईश्वर] (नः) हमारा (पिता) पालक और (जनिता) जनक, (उत) और (सः) वही (बन्धुः) बान्धव है, वह (विश्वा = विश्वानि) सब (धामानि) पदों [अवस्थाओं] और (भुवनानि) लोकों को (वेद) जानता है। (यः)

३—**पिता**। म० २ पालयिता। **जनिता**। जनी जनने-णिचि तृच्। जनिता मन्त्रे। पा० ६। ४। ५३। इति तृचि णिलोपो निपात्यते। जनयिता। उत्पादकः। **बन्धुः**। शृस्वृस्निहि०। उ० १। १०। इति बन्ध बन्धने उप्रत्ययः, स च नित्। ञ्नित्यादिर्नित्यम्। पा० ६। १। १९७। इति नित्त्वाद् आद्युदात्तः, प्रेम्णा बध्नातीति। बान्धवः। **धामानि**। म० २। धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति-निरु० ९। २८ जन्मस्थाननामानि। **वेद**। म० १। वेत्ति।

जो [परमेश्वर] (एकः) अकेला (एव) ही (देवानाम्) दिव्य गुण वाले पदार्थों का (नामधः) नाम रखने वाला है (सम्प्रश्नम्) यथाविधि पूछने योग्य (तम्) उस को (सर्वा = सर्वाणि) सब (भुवना = ०—नानि) प्राणी (यन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर संसार का माता, पिता, बन्धु और सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है, वही पिता के समान सृष्टि के पदार्थों का नामकरण संस्कार करता है, जैसे, सूर्य, पृथिवी, मनुष्य, गौ, घोड़ा आदि। विद्वान् लोग सत्संग करके उस जगदीश्वर को पाते और आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

(नामधः) के स्थान पर सायणभाष्य, ऋग्वेद और यजुर्वेद में [नामधाः] है।

२—यह मन्त्र ऋ० १० । ८२ । ३ । तथा य० । १७ । २७ । में कुछ भेद से है।

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य । वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे३षो अग्निः ॥४॥

परि । द्यावापृथिवी इति । सद्यः । आयम् । उप । आ-तिष्ठे । प्रथम-जाम् । ऋतस्य । वाचम्-इव । वक्तरि । भुवने-स्थाः । धास्युः । एषः । ननु । एषः । अग्निः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सद्यः) अभी (द्यावापृथिवी = ०—व्यौ) सूर्य और पृथिवी लोक में (परि = परीत्य) घूमता हुआ (आयम्) मैं [प्राणी] आया हूं (ऋतस्य) सत्य

भुवनानि । भूसूधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि । उ० २ । ८० । इति भू सत्तायाम्—क्युन् । सर्वपदार्थाधिकरणानि । लोकान् । **देवानाम्** । दिवु पचाद्यच् पृथिव्यादिदिव्य-पदार्थानाम् । **नामधः** । नाम + धाञ् धारणे—क । नामकरणकर्ता, नामधारकः । **एकः** । इण् गतौ-कन् । अद्वितीयः । असहायः । **सम्प्रश्नम्** । सम्यक् पृच्छन्ति यस्मिंस्तम् । परमात्मानम् । यथाविधि प्रश्नीयम् । अन्वेषणीयम् । **भुवना** । भुवनानि । लोकाः । **यन्ति** । इण् गतौ-लट् । गच्छन्ति, प्राप्नुवन्ति । लभन्ते ॥

४—**द्यावापृथिवी** । दिवो द्यावा । पा० ६ । ३ । २९ । इति दिव् शब्दस्य द्यावा इत्यादेशो ,देवताद्वन्द्वे । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्ण-दीर्घः । देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । २ । १४१ । इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् । द्यौश्च

नियम के (प्रथमजाम्) पहिले से उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] को (उप+आ-तिष्ठे) मैं प्राप्त होता हूं, (इव) जैसे [श्रोता गण] (वक्तरि) वक्ता में [वर्त्तमान] (वाचम्) वाणी को [प्राप्त होते हैं]। (भुवनेष्ठाः) सम्पूर्ण जगत् में स्थित (एषः) यह परमेश्वर (धास्युः) पोषण करने वाला, और (ननु) अवश्य करके (एषः) यह (अग्निः) अग्नि [सदृश उपकारी वा व्यापक परमात्मा] है ॥ ४ ॥

भावार्थ—तत्त्ववेत्ता पुरुष सूर्य और पृथिवी आदि प्रत्येक कार्य रूप पदार्थ के आकर्षण, धारणादि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा को साक्षात् करता है, जैसे श्रोता लोग वक्ता के बोलने पर उसकी वाणी के अभिप्राय को अपने आत्मा में ग्रहण करते हैं। वही ईश्वर वेद रूप सत्य नियम को सृष्टि के पहिले प्रकट करता, और सब जगत् का धारण और पोषण करता रहता है, जैसे सूर्य का ताप अन्न आदि को परिपक्क करके, और जाठर अग्नि भोजन को पचा कर, और उससे रुधिर आदि को उत्पन्न करके शरीर को पुष्ट करता है ॥ ४ ॥

पातंजल योगदर्शन में वर्णन है—पाद ३ सूत्र २५।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥

सूर्य में संयम से लोकों का ज्ञान [योगी को] होता है। अर्थात् वह सूर्य को केन्द्र मान कर सूर्य से लोकों का सम्बन्ध, और परमेश्वर से सूर्य का सम्बन्ध अपनी विद्या द्वारा जान लेता है ॥

पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ। सूर्यभूमी। तदुपलक्षितं कृत्स्नं जगत्। **सद्यः**। सद्यः परुत्परार्यैषमः०। पा० ५।३।२२। इति समान-द्यस् प्रत्ययो दिनार्थे, समानस्य सभावः। समानेऽहनि। सपदि। तत्क्षणे। तत्त्वज्ञानसमकालमेव। **आयम्**। इण् गतौ-लङ् उत्तमैकवचने गुणायादेशयोः अडागमः। अहं प्राप्तवानस्मि। **उपातिष्ठे**। उप+आ-तिष्ठे। उपेत्य स्थितोऽस्मि। नमस्करोमि। **प्रथमजाम्**। जन सन खन क्रमगमो विट्। पा० ३।२।६७। इति जनी प्रादुर्भावजननयोः-विट्। विड्वनोरनुनासिकस्यात्। पा० ६।४।४१। इति आत्वम्। प्रथमं जनयतीति प्रथमजाः। सृष्टेः पूर्वं जनयितारम्, उत्पादकम्। **ऋतस्य**। ऋ गतौ-क्त। सत्यस्य। यथार्थज्ञानस्य। वेदविज्ञानस्य। **वाचम्**। क्विब वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घो ऽसंप्रसारणं च। उ० २।५७। इति वच कथने-क्विप्। दीर्घोऽसम्प्रसारणं च। वाणीम्। वाक्यम्। **वक्तरि**। वच कथने तृच्। उपदेशके। प्रयोक्तरि वर्तमानां वाचं श्रोतारो यथा प्रयोगसमकाले

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥५॥

परि । विश्वा । भुवनानि । आयम् । ऋतस्य । तन्तुम् । वि-ततम् । दृशे । कम् । यत्र । देवाः । अमृतम् । आनशानाः । समाने । योनौ । अधि । ऐरयन्त ॥ ५

भाषार्थ—(विश्वा = विश्वानि) सब (भुवनानि) लोकों में (परि = परीत्य) घूम कर (ऋतस्य) सत्य नियम के (विततम्) सब ओर फैले हुये (तन्तुम) फैलने वाले [अथवा वस्त्र में सूत के समान सर्वव्यापक] (कम्) प्रजापति परमेश्वर को (दृशे) देखने के लिये (आयम्) मैं [प्राणी] आया हूं । (यत्र) जिस [परमात्मा] में (देवाः) तेजस्वी महात्मा (अमृतम्) अमृत [अमरण अर्थात् जीवन की सफलता वा अनश्वर आनन्द] को (आनशानाः) भोगते हुये (समाने) साधारण (योनौ) आदि कारण ब्रह्म में [प्रवृष्ट होकर] (अधि) ऊपर (ऐरयन्त) पहुंचे हैं ॥ ५ ॥

जानन्ति । **भुवनेष्ठाः** । भू सू धू भ्रस्जिभ्यश्छन्दसि । उ० २ । ८० । इति भू-क्युन् । भवन्त्यस्मिन् भूतानीति भुवनं जगत् । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति भुवन + ष्ठा गतिनिवृत्तौ-विच् । तत्पुरुषे कृति बहुलम् । पा० ६ । ३ । १४ । इति सप्तम्या अलुक् । सर्वलोके परिपूर्णः परमात्मा । **धास्युः** । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति डुधाञ् धारणपोषणयोः-असुन । छन्दसि । परेच्छायामपि । वा० पा० ३ । १ । ८ । इति धास् क्यच् । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । इति उप्रत्ययः । धाः धारणं पोषणं जगत इच्छतीति धास्युः सर्वपोषणेच्छुः । **अग्निः** । अ० १ । ६ । २ । सर्वव्यापकः सर्वज्ञः परमेश्वरः । अग्निवत् पोषकः ॥

५—**तन्तुम्** । सितनिगमिमसि० । उ० १ । ६६ । इति तनु विस्तारे-तुन् । तनोति विस्तृणाति तन्यते विस्तीर्यते वा स तन्तुः । विस्तारकम् । विस्तीर्णं सूत्रम् । पटस्य सूत्रवत् जगतः कारणभूतम् । **विततम्** । वि + तनु विस्तारे-क्त । विस्तृतम् । व्याप्तम् । **दृशे** । दृशे विख्ये च । पा० ३ । ४ । ११ । इति दृशिर् प्रेक्षणे-तुमर्थे के प्रत्ययः । द्रष्टुम् । **कम्** । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ ।

भावार्थ—ध्यानी धीर वीर पुरुष सामान्यतः समष्टि रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की परीक्षा करके सब स्थान में व्यापक जगदीश्वर को साक्षात् करके आनन्द भोगते हैं, और यह अनुभव करते हैं, कि सब महात्मा अपने को उस परम पिता में लय करके आत्मा की परम उन्नति करते हैं, अर्थात् जो स्वार्थ छोड़ कर आत्म समर्पण करते हैं वही परोपकारी सज्जन परम आनन्द की सिद्धि [मुक्ति] को सदा हस्तगत करते हैं ॥ ५ ॥

यजुर्वेद अ० ३२ म० १० इस प्रकार है ।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा । यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ १ ॥

वही हमारा बन्धु और उत्पन्न करने हारा है, और वही पोषण करने हारा परमेश्वर सब (धामानि) अवस्थाओं और (भुवनानि) लोकों को जानता है जिस तीसरे लोक परब्रह्म [प्राणियों और सब भुवनों के स्वामी] में तेजस्वी जन अमृत को भोगते हुये ऊपर पहुंचे हैं ॥

इति क्रमेः क्रमेर्वा-ड प्रत्ययः । क्रमते रेफलोपः । कः कमनो क्रमणो वा सुखो वा-निरु० १० । २२ । प्रजापतिम् । विष्णुम् । ब्रह्म । सूर्यं, सूर्यवत् प्रकाशकम् । सुखस्व-रूपम् । **यत्र** । यस्मिन् के परब्रह्मणि । **देवाः** । दिव्यगुणवन्तो महात्मानः । **अमृतम्** । म० २ । अमरणम् । जीवनसाफल्यम् । मोक्षम् । **आनशानाः** । लिटः कानज्वा । पा० ३ । २ । १०६ । इति अशू व्याप्तौ—कानच् । अश्नोतेश्च । पा० ७ । ४ । ७५ । नुडागमः । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । अश्नु-वानाः । प्राप्नुवन्तः । **समाने** । सम्यक् अनिति नीयते वा । सम् + अन जीवने-घञ्, यद्वा, सम् + आङ् + णीञ् प्रापणे-अच् । एकस्मिन्नेव । **योनौ** । वहि-श्रिश्रुयुद्रु० । उ० ४ । ५१ । इति यु मिश्रणामिश्रणयोः-नि । आदिकारणे । ब्रह्मणि । **अध्यैरयन्त** । ईर गतौ । ऊर्ध्वं गतवन्तः । अन्यत् व्याख्यातं सुगमं च ॥

सूक्तम् २ ॥

१-५ ॥ गन्धर्वाप्सरा देवताः १—३ त्रिष्टुप्, ४ त्रिपदा त्रिष्टुप्, ५ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरः सर्वशक्तिमानित्युपदिश्यते-परमेश्वर सर्वशक्तिमान है इसका उपदेश।

दिव्यो गंधर्वो भुवनस्य यस्पतिरेकं एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः। तं त्वां यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥ १ ॥

दिव्यः। गन्धर्वः। भुवनस्य। यः। पतिः। एकः। एव। नमस्यः। विक्षु। ईड्यः। तम्। त्वा। यौमि। ब्रह्मणा। दिव्य। देव। नमः। ते। अस्तु। दिवि। ते। सध-स्थम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो तू (दिव्यः) दिव्य [अद्भुत स्वभाव] (गन्धर्वः) गन्धर्व [भूमि, सूर्य, वेदवाणी वा गति का धारण करने वाला] (भुवनस्य) सब ब्रह्मांड का (एकः) एक (एव) ही (पतिः) स्वामी, (विक्षु) सब प्रजाओं [वा मनुष्यों] में (नमस्यः) नमस्कार योग्य और (ईड्यः) स्तुति योग्य है। (तम्) उस (त्वा) तुझ से, (दिव्य) हे अद्भुत स्वभाव (देव) जयशील परमेश्वर! (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (यौमि) मैं मिलता हूं, (ते) तेरे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो, (दिवि) प्रत्येक व्यवहार में (ते) तेरा (सधस्थानम्) सहवास है ॥ १ ॥

भावार्थ—धीर, वीर, ऋषि, मुनि पुरुष उस परम पिता जगदीश्वर की सत्ता को अपने में और प्रत्येक पदार्थ में वैदिक ज्ञान की प्राप्ति से साक्षात् करके अभिमान छोड़ कर आत्मबल बढ़ाते हुये आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

१—(गन्धर्व) परमेश्वर का नाम है, देखिये-ऋग्वेद मं० ६ सू० ८३ म० ४

गन्धर्व इत्था पदमस्य रक्षति पाति देवानां जनिमान्यद्भुतः। गृभ्णाति रिपुं निधया निधापतिः सुकृत्तमा मधुनो भक्षमाशत ॥ १ ॥

१—**दिव्यः**। छन्दसि च। पा० ५।१।६७। इति दिव-यः। दिवं प्रकाशं स्वर्गं वार्हतीति। द्योतनात्मकः। स्वर्गीयः। मनोज्ञः। **गन्धर्वः**। अ० २।१।२। गो+धृ-व। वाग्भूमिसूर्यस्वर्गाणां धारकः परमेश्वरः। **भुवनस्य**। अ० २।

(गन्धर्वः) पृथिवी आदि का धारण करने वाला, गन्धर्व, (इत्था) सत्यपन से (अस्य) इस जगत् की (पदम्) स्थिति की (रक्षति) रक्षा करता है और वह (अद्भुतः) आश्चर्यस्वरूप (देवानाम्, दिव्य गुणवालों के (जनिमानि) जन्मों अर्थात् कुलों की (पाति) चौकसी रखता है। (निधापतिः) पाश [बन्धन] का स्वामी (निधया) पाश से (रिपुम्) वैरी को (गृभ्णाति) पकड़ता है, (सुकृत्तमाः) बड़े बड़े सुकृती पुण्यात्मा लोगों ने (मधुनः) मधुर रस के (भक्षम्) भोग को (आशत) भोगा है॥

दि॒वि स्पृ॒ष्टो य॑ज॒तः सूर्य॑त्वगवया॒ता हर॑सो॒ दैव्य॑स्य। मृ॒डाद् ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यः॑ सु॒शेवाः॑ ॥२॥

दि॒वि। स्पृ॒ष्टः। य॒ज॒तः। सूर्य॑-त्वक्। अ॒व॒-या॒ता। हर॑सः। दैव्य॑स्य। मृ॒डात्। ग॒न्ध॒र्वः। भुव॑नस्य। यः। पति॑ः। एक॑ः। ए॒व। न॒म॒स्यः॑। सु॒-शेवाः॑ ॥२॥

भावार्थ—(दिवि) प्रत्येक व्यवहार में (स्पृष्टः) स्पर्श किये हुये, (यजतः)

१।३। जगतः। **नमस्यः**। तदर्हति। पा० ५।१।६३। इति नमस्-यत्। तित् स्वरितः। पा० ६।१।१८५। इति स्वरितत्वम्। नमस्कारयोग्यः। **विक्षु**। विश प्रवेशने-क्विप्। विशः=मनुष्याः—निघ० २।३। प्रजासु। मनुष्येषु। **ईड्यः**। ऋहलोर्ण्यत्। पा० ३।१।१२४। इति ईड् स्तुतौ-ण्यत्। स्तुत्यः। **यौमि**। उतो वृद्धिर्लुकि हलि। पा० ७।३।८९। इति यु मिश्रणे-वृद्धिः। संयोजयामि। **ब्रह्मणा**। म० १।८।४। वेदज्ञाने। **ते**। तुभ्यम्। नमः स्वस्तिस्वाहा०। पा० २।३।१६। इति चतुर्थी। अनुदात्तं सर्वमपादादौ। पा० ८।१।१८। इत्यनुदात्तः। **दिवि**। दिवु क्रीडाविजिगीषा-व्यवहारद्युतिस्तुति०-क्विप्। स्वर्गे। प्रकाशे। व्यवहारे। **सधस्थम्**। सह तिष्ठन्त्यत्रेति। सह+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-अधिकरणे क प्रत्ययः। सध मादस्थयोश्छन्दसि। पा० ६।३।९६। इति सहस्य सधादेशः। सहस्थानम्। निवासस्थानम्। अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च॥

२—**दिवि**। म० १। प्रत्येकव्यवहारे। **स्पृष्टः**। स्पृश सम्पर्के-क्त। स्पर्शयुक्तः। स्थितः। **यजतः**। भृमृदृशियजि०। उ० ३।११०। इति यज देवपूजा-

पूजनीय, (सूर्यत्वक्) सूर्य को त्वचा अर्थात् रूप देने वाला, (दैव्यस्य) मदशील [प्रमत्त] मनुष्य के, अथवा आधिदैविक (हरसः) क्रोध का (अवयाता) हटाने वाला वह परमेश्वर (मृडात्) [सब को] आनन्द देवे, (यः) जो (गन्धर्वः) गन्धर्व, [म० १। भूमि, सूर्य, वेदवाणी वा गति का धारण करने वाला] (भुवनस्य) सब जगत् का (एकः) एक (एव) ही (पतिः) स्वामी (नमस्यः) नमस्कार योग्य और (सुशेवाः) अत्यन्त सेवा योग्य है ॥२॥

भावार्थ-वह सर्वव्यापी, सूर्यादि प्रकाशक जगत्पिता परमेश्वर हमें सामार्थ्य देकर हमारे कुक्रोध और आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक क्लेश का नाश करता है। उस अद्वितीय, सर्व सेवनीय परमेश्वर की उपासना से सब को आनन्द मिलता है ॥२॥

१—परमेश्वर आदित्यवर्ण रूप है, य० अ० ३१। १८॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१॥

सङ्गतिकरणदानेषु—अतच्। चित्वाद् अन्तोदात्तः। यष्टव्यः। पूजनीयः। **सूर्यत्वक्**। सूर्यः, व्याख्यातः-अ० १। ३। ५।। सुवति सरति वा स सूर्यः। त्वच संवरणे—क्विप्। यद्वा। तनोतेरनश्च वः। उ० २। ६३। इति तनु विस्तारे-चिक्, अन् इत्यस्य वः। त्वचति संवृणोति, यद्वा, तनोति विस्तारयतीति त्वक्। सूर्यस्य त्वग् रूपं यस्मात् सः। सूर्यस्रष्टा। **अवयाता**। या गतौ, अन्तर्भावितणिच्-तृच्। अवयापयिता, अवगमयिता। **हरसः**। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति हृञ् हरणे-असुन्। क्रोधस्य-निघ० २। १३। **दैव्यस्य**। अ० २। १२। ४ देवाद् यञञौ। वा० पा० ४। १। ८५। इति देव+यञ्। देवसम्बन्धस्य। आधिदैविकस्य। यद्वा मदशीलस्य, प्रमत्तस्य पुरुषस्य। **मृडात्**। मृड सुखने-लेटि आडागमः। इतश्चलोपः परस्मैपदेषु। पा० ३। ४। ९७। इति इकारलोपः। मृडयतु। सुखयतु। **सुशेवाः**। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति सु+शेवृ सेवने-असुन्। शोभनं शेवः शेवनं यस्येति। अनायासेन सेवनीयः। अन्यद् गतं मन्त्रे १॥

(अहम्) मैं, (तमसः) अन्धकार वा अज्ञान से (परस्तात्) परे होकर, (एतम्) इस (महान्तम्) पूजनीय वा सबसे बड़े (आदित्यवर्णम्) सूर्य को रूप देने वाले (पुरुषम्) अग्रगामी परमात्मा को (वेद) जानता हूं। (तम्) उस को (एव) ही (विदित्वा) जान कर [जीव] (मृत्युम्) मृत्यु को (अत्येति) लांघ जाता है, (अन्यः) दूसरा (पन्थाः) मार्ग (अयनाय) चलने के लिये (न) नहीं (विद्यते) विद्यमान है॥

२—परमेश्वर ने सूर्य और चन्द्र बनाया है। ऋग्वेद म० १०। सू० १९० ।३।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।

(धाता) विधाता ने (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्र को (यथापूर्वम्) पहिले के समान (अकल्पयत) बनाया है॥

अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत्।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति॥३

अनवद्याभिः। सम्। ऊं इति। जग्मे। आभिः। अप्सरासु। अपि। गन्धर्वः। आसीत्। समुद्रे। आसाम्। सदनम्। मे। आहुः। यतः। सद्यः। आ। च। परा। च। यन्ति॥३॥

भाषार्थ—(गन्धर्वः) गन्धर्व [म० १] (आभिः) इन (अनवद्याभिः) निर्दोष [अप्सराओं] के साथ (उ) अवश्य (संजग्मे) संगति वाला था, और (अप्सरासु) अप्सराओं में [सब प्राणियों, वा अन्तरिक्ष वा बीज रूप जल में व्यापक, वा उत्तम रूप वाली अपनी शक्तियों में] (अपि) निः सन्देह (आसीत्) वर्त्तमान था। (आसाम्) इन [अप्सराओं] का (सदनम्) घर (समुद्रे) अन्तरिक्ष में [वा समुद्र रूप गंभीर स्थान में] (मे) मुझको (आहुः) वे बताते हैं, (यतः) जिस

३—अनवद्याभिः। अवद्यपण्यवर्यागर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु। पा० ३।१।१०१। इति अन्+अ+वद वाचि—यत्प्रत्ययान्तो निपातः। अगर्ह्याभिः। प्रशस्तगुणाभिः। सम्-जग्मे। सम्+गम्लृ-लिट्। समो गम्यृच्छि०। पा० १। ३।२९। इति सम्पूर्वाद् अकर्मकाद् गमेरात्मने पदम्। गमहन०। पा० ६।४। ९८। इत्युपधालोपः। संगतवान्। अप्सरासु। आप्नोते ह्रस्वश्च। उ० २।

स्थान से वे (च) अवश्य (आ यन्ति) आती (च, और (परा = परायन्ति) दूर चली जाती हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—(गन्धर्व) भूमि आदि लोकों और वेदवाणी का धारक (अप्सराओं) अर्थात् सब प्राणियों और जल आदि सृष्टि के उपादान कारण पदार्थों में वर्त्तमान अपनी शक्तियों के साथ विराजमान रहता है, यह अद्भुत शक्तियां अति विस्तीर्ण आकाश में वर्त्तमान रहती, और मनुष्य आदि के शरीरों में परमाणुओं की संयोग दशा में दृश्य, और उनकी वियोग दशा में अदृश्य हो जाती हैं ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(गन्धर्वः) और (अप्सरसः) शब्दों के लिये यजुर्वेद अ० १८ म० ३८–४३, छह मन्त्र देखें। वहाँ (अप्सरसः) शब्द है जो (अप्सराः) शब्द का पर्य्यायवाची है।

ऋ॒ता॒षाडृ॒तधा॑मा॒ग्निर्ग॑न्ध॒र्वस्तस्यौष॑धयो ऽप्स॒रसो॒ मुदो॒ नाम॑। स न॑ इ॒दं ब्रह्म॑ क्ष॒त्रं पा॑तु॒ तस्मै॒ स्वाहा॒ वाट् ताभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥१ ॥

५८। इति आप्लृ व्याप्तौ–क्विप्। आपः, अन्तरिक्षनाम निघ० १। ३। उदक नाम-निघ० १। १२। दयानन्दभाष्ये प्राणा जलानि वा—य० ४। ७। आप्ताः प्रजाः—६। २७। व्यापिकास्तन्मात्राः—२७। २५। नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। पा० ३। १। १३४। इति सृ गतौ–पचाद्यच्। यद्वा। वृतॄवदिहनिकमिकषिभ्यः सः। उ० ३। ६२। इति आप्लृ व्याप्तौ—सप्रत्ययः। उपधाह्रस्वः। अप्सः = रूपम् निघ० ३। ७। रो मत्वर्थीयः। अथवा, रा दानादानयोः—अच्। टाप्। अप्सरा अप्सारिण्यपि वा ऽप्स इति रूपनाम, अप्सातेरप्सानीयं भवति, आदर्शनीयं व्यापनीयं वेति, तद्रा भवति रूपवती तदनयात्तमिति वा तदस्यै दत्तमिति वा-निरु० ५। १३। अप्सु आकाशे जलेषु प्राणेषु प्रजासु वा सरणशीलाः, अथवा रूपवत्यः परमेश्वरशक्तयः। **समुद्रे**। अ० १। ३। ८। अन्तरिक्षे–निघ० १।३।८। **सदनम्**। सीदन्त्यत्रेति। षद्लृ गतौ–ल्युट्। गृहम्। **आहुः**। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि–लट्। ब्रुवन्ति कथयन्ति ब्रह्मवादिनः। **आ+यान्ति**। इण् गतौ। आगच्छन्ति, आविर्भवन्ति सृष्टिकाले। **परा+यन्ति**। दूरे गच्छन्ति तिरोभवन्ति प्रलयकाले ॥

(ऋताषाट्) सत्य नियम का सहने वाला, (ऋतधामा) सत्य प्रभाव वाला, (अग्निः) सर्व व्यापक, वा अग्नि समान रक्षक, परमेश्वर (गन्धर्वः) सूर्य, पृथिवी, और वेद वाणी आदि का धारण करने वाला है। (तस्य) उसकी [गन्धर्व की बनायी] (मुदः) आनन्द देने वाली (औषधयः) ओषधें [अन्नादि वस्तुयें] (नाम) प्रसिद्ध रूप से (अप्सरसः) अप्सरायें अर्थात् आकाश, वा प्राणों, व जल में चलने वाली वा उत्तम रूप वाली सामग्री हैं। (सः) वह परमेश्वर (नः) हमारे लिये (इदम्) इस (ब्रह्म) ब्राह्मण कुल और (क्षत्रम्) क्षत्रिय कुल की (पातु) रक्षा करे। (तस्मै) उस परमेश्वर को (स्वाहा सुन्दर वाणी और (वाट्) आवाहन, और (ताभ्यः) उन सामग्रियों के लिये (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है ॥

यह मन्त्र ३८ वां है। इसी प्रकार अन्य पांच मन्त्रों में (गन्धर्वः) शब्द (सूर्यः चन्द्रमाः, वातः, यज्ञः, मनः) शब्दों के साथ, और (अप्सरसः) शब्द (मरीचयः, नक्षत्राणि, आपः, दक्षिणाः, ऋक्सामानि) शब्दों के साथ क्रम से आये हैं।

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे। ताभ्यो वो देवीर्नम इत् कृणोमि ॥ ४ ॥

अभ्रिये। दिद्युत्। नक्षत्रिये। याः। विश्व-वसुम्। गन्धर्वम्। सचध्वे। ताभ्यः। वः। देवीः। नमः। इत्। कृणोमि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अभ्रिये) अभ्र [मेघ] में [रहने वाली], (दिद्युत्=०—ति) विजुली में [वर्तमान] और (नक्षत्रिये) नक्षत्रों में [रहने वाली] (याः) जो तुम सब (विश्वावसुम्) सब प्रकार के धनों के वा सब निवासस्थानों [लोकों] के

४—**अभ्रिये**—नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। पा० ३। १। १३४ इति अभ्र गतौ-पचाद्यच्। अथवा। अपो बिभर्तीति। अप्+भृ-क। अभ्रम्=मेघः-निघ० १। १०। समुद्राभ्राद् घः। पा० ४। ४। ११८। इति अभ्र-भवे घप्रत्ययः। घस्य इय् आदेशः। मेघेषु भवे स्थाने मेघस्य मण्डले वर्त्तमानाः। **दिद्युत्**। द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च। वा०। पा० ३। २। १७८ इति द्युत दीप्तौ-क्विप्। द्वित्वं च। द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्। पा० ७। ४। ६७। इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम्। अथवा दो अवखण्डने-क्विप्। पृषोदरादिरूपम्। द्यति पदार्थान्। सुपां सु लुक्०। पा० ७। १। ३९। इति सप्तम्या लुक्। द्योतमाने विद्युन्मण्डले। **नक्षत्रिये**। नक्षत्राद्

स्वामी (गन्धर्वम्) गन्धर्व [पृथिवी, सूर्य वा वेद वाणी के धारण करने वाले परमेश्वर] की (सचध्वे) सेवा करती हो। (देवीः=हे देव्यः!) हे देवियो! [दिव्य अर्थात् अद्भुत गुण वालियो!] (ताः) उन (वः) तुमको (नमः) नमस्कार (इत्) अवश्य (कृणोमि) मैं करता हूं॥ ४॥

भावार्थ—यहां शक्तियों से शक्तिमान् परमेश्वर का ग्रहण है। संसार के प्रत्येक पदार्थ के अवलोकन से देखा जाता है कि यह अप्सरायें [परमेश्वर की अनन्त और अद्भुत शक्तियां] परमेश्वर के वशीभूत होकर सब सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और अन्त का कारण हैं। उन शक्तियों अर्थात् उनके स्वामी जगदीश्वर को बड़े छोटे प्राणी नम्रता से स्वीकार करते और उपकारों को विचार कर उपकारी बनकर आनन्द भोगते हैं॥ ४॥

याः क्रन्दास्तमिषीचयो ऽक्षकामा मनोमुहः।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्यो ऽप्सराभ्योऽकरं नमः॥ ५॥

याः। क्रन्दाः। तमिषीचयः। अक्ष-कामाः। मनः-मुहः।
ताभ्यः। गन्धर्व-पत्नीभ्यः। अप्सराभ्यः। अकरम्। नमः॥५॥

भषार्थ—(याः) जो (क्रन्दाः) आवाहन करने हारी, (तमिषीचयः) इच्छा को सीचने [पूरा करने] हारी, (अक्षकामाः) अवहारों में कामना करानेवाली, (मनोमुहः) मन को आश्चर्य में करने वाली हैं। (ताभ्यः) उन (गन्धर्वपत्नीभ्यः) गन्धर्व की

घः। पा० ४।४।१४१। इति नक्षत्र-घ प्रत्ययः। नक्षत्रेषु भवे लोके वर्त्तमानाः। **याः**। अप्सराः, यूयम्। **विश्वावसुम्**। विश्वस्य वसुराटोः। पा०। ६। ३। १२८। इति पूर्वपदस्य दीर्घः। बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्। पा० ६। २। १०६। इतिपूर्वपदस्य विश्वशब्दस्य अन्तोदात्तत्वम्॥ विश्वानि वसूनि यस्मिन् सः। सर्वधनसम्पन्नम्। यद्वा। सर्वे वसवो निवासा लोका यस्मिन् सः। सर्वाश्रयम्। **सचध्वे**। षच सेचने सेवने च, आत्मने पदम्। सेवध्वे। **देवीः**। वा छन्दसि। पा० ६। १। १०६। इति पूर्वसवर्णदीर्घः। देव्यो द्योतमानाः। **कृणोमि**। धिन्विकृण्व्योर च पा० ३। १। ८०। इति कृवि हिंसाकरणयोः-उप्रत्ययः, अकारश्चान्तादेशः। करोमि। अन्यत् सुगमम्॥

५—**क्रन्दाः**। क्रदि आह्वाने रोदने च-पचाद्यच्। टाप्। आवाहनशीलाः। **तमिषीचयः**। तमि-षिचयः। सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति तमु इच्छायां खेदे च-इन्। इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। इति षिच सेचने-इन्,

पत्नी [परमेश्वर की रक्षा में रहने वाली] (अप्सराभ्यः) अप्सराओं [प्राणियों में रहने वाली ईश्वर शक्तियों] को मैं ने (नमः) नमस्कार (अकरम्) किया है ॥५॥

भावार्थ—इस मन्त्र में भी अप्सराओं अर्थात् शक्तियों से उनके स्वामी परमेश्वर का ग्रहण है। वह परमेश्वर दुष्टों पर गरजता और शिष्टों का आवाहन करता, अनन्त बलवान्, उत्तम कर्मों में प्रीति कराने वाला और मनोहर स्वभाव है, सब जड़ और चेतन्य नमस्कार करके उस सर्वशक्तिमान् की आज्ञा मानते, और आनन्दित होते हैं ॥ ५ ॥

सूक्तम् ॥ ३ ॥

१—६ ॥ भेषजं देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

शारीरिकमानसिकरोगनाशोपदेशः—शारीरिक और मानसिक रोग की निवृत्ति के लिये उपदेश।

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात् ॥
तत् ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि ॥ १ ॥

अदः । यत् । अव-धावति । अवत्-कम् । अधि । पर्वतात् ।
तत् । ते । कृणोमि । भेषजम् । सु-भेषजम् । यथा । असंसि ॥१॥

भाषार्थ—(अदः) वह (यत्) जो संगति योग्य ब्रह्म (अवत्कम्) नित्य

क्विति ह्रस्वः। छान्दसो दीर्घः। तस्मिम् इच्छां सिञ्चन्ति तास्तमिसिचयः। इच्छापूरयित्र्यः। **अक्षकामाः**। अक्ष व्याप्तौ, संहतौ—पचाद्यच्। यद्वा। अशू—देवने। उ० ३। ६५। इति अशू व्याप्तौ—सप्रत्ययः। अक्षो व्यवहारः। यथा, अक्षदर्शकः, अक्षदृक्=व्यवहारनिर्णेता, न्यायकर्त्ता। काम्यतेऽसौ। कमु स्पृहायाम्—कर्मणि घञ्। अक्षेषु व्यवहारेषु सत्कर्मसु कामोऽभिलाषो याभ्यस्तास्तथाभूताः। व्यवहारोत्साहिन्यः। **मनोमुहः**। मनस्+मुह वैचित्ये—क्विप्। मनसः, चित्तस्य मोहयित्र्यः, आश्चर्ये विस्मये कर्त्र्यः। **गन्धर्वपत्नीभ्यः**। विभाषा सपूर्वस्य पा० ४। १। ३४। इति गन्धर्व+पति—नकारङीपौ। गन्धर्वः पूर्वोक्तः परमात्मा पतिः, रक्षकः, स्वामी यासां ताभ्यः। गन्धर्वेण परमेश्वरेण रक्षिताभ्यः। **अप्सराभ्यः**। मन्त्रे ३। आकाशप्राणादिषु वर्त्तमानाभ्यः। **अकरम्**। डुकृञ् करणे—लुङ्। कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि। पा० ३। १। ५६। इति च्लेः अङ् आदेशः। ऋदृशोऽङि गुणः। पा० ७।४।१६। इति गुणः। अहं कृतवान्। **नमः**। सत्कारम् ॥

१—**अदः**। न दस्यते उत्क्षिप्यतेऽङ्गुलिर्यत्र इदन्तया। न+दसु

चलने वाला जल प्रवाह [के समान] (पर्वतात् अधि) पर्वत के ऊपर से (अवधावति) नीचे को दौड़ता आता है। [हे औषध !] (तत्) उस [ब्रह्म] को (ते) तेरे लिये (भेषजम्) औषध (कृणोमि) मैं बनाता हूं, (यथा) जिस से कि (सुभेषजम्) उत्तम औषध (असति) तू हो जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—हिम वाले पर्वतों से नदियां ग्रीष्म ऋतु में भी बहती रहती और अन्न आदि औषधों को हरा भरा करके अनेक विधि से जगत् का पोषण करती हैं, इसी प्रकार औषध का औषध, वह ब्रह्म सब के हृदय में व्यापक हो रहा है। सब मनुष्य ब्रह्मचर्य सेवन और सुविद्या ग्रहण से शारीरिक और मानसिक रोगों की निवृत्ति करके सदा उपकारी बनें और आनन्द भोगें ॥ १ ॥

आदुङ्ग कुविदुङ्ग शृतं या भेषजानि ते ।
तेषामसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम् ॥ २ ॥

आत् । अङ्ग । कुवित् । अङ्ग । शतम् । या । भेषजानि । ते । तेषाम् । असि । त्वम् । उत्-तमम् । अनास्रावम् । अरोगणम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अङ्ग) हे ! (अङ्ग) हे [ब्रह्म !] (आत्) फिर (कुवित्) अनेक

उत्क्षेपे—क्विप् । अनुत्क्षेपणीयम् । पुरोवर्त्ति । विप्रकृष्टम् । यत् । त्यजितनियजिभ्यो डित् । उ० १ । १३२ । इति यज—अदिः, स च डित् । यजति सर्वैः पदार्थैः सह सङ्गतं भवतीति । यजनीयं संगन्तव्याम् । प्रसिद्धम् । ब्रह्मणो नाम—इति दयानन्दः—उणादिकोषव्याख्यायाम् । अव-धावति । पाघ्राध्मास्थाम्ना०। पा० ७ । ३ । ७८ । इति सृधातोः धौ इत्यादेशः शीघ्रगमने । अवरुह्य शीघ्रं सरति गच्छति । अवत्कम् । अव-अतकम् । इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन् । उ० ३ । ४३ । इति अव+अत सातत्यगमने-कन् । शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम् । वा० पा० ६ । १ । ६४ । इति पररूपम् । अवातति खन्यमानमधोगच्छति । जलप्रवाहः । अवतः कूपनाम-निघ० ३ । २३ । पर्वतात् । अ० १ । १२ । ३ । शैलात् । तत् । त्यजितनियजिभ्यो डित् । उ० १ । १३२ । इति तनु उपकृतौ विस्तृतौ च—अदः, डित् । तनोति सर्वं, यद्वा, तन्यते सर्वत्र । ब्रह्मणो नामविशेषः । विस्तीर्णम् । ब्रह्म । भेषजम् । अ० १ । ४ । ४ । औषधम् । सुभेषजम् । सुः पूजायाम् । पा० १ । ४ । ६४ । उत्कृष्टमौषधम् । अतिशयितवीर्ययुक्तम् । यथा । येन प्रकारेण । असति । बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७३ । इति शपोऽलुक् । असि । भवेः ॥

२—आत् । अव्ययम् । पुनः । अनन्तरम् । अङ्ग । अव्ययम् । निपातस्य

प्रकार से (या=यानि) जो (ते) तेरी [बनायी] (शतम्) सौ [असंख्य] (भेष-जानि) भय निवर्त्तक श्रोषधें हैं, (तेषाम्) उनमें से (त्वम्) तू आप (उत्तमम्) उत्तम गुण वाला, (अनास्रावम्) बड़े क्लेश का हटाने वाला और (अरोगम्) रोग दूर करने वाला (असि) है ॥ २ ॥

भावार्थ—संसार की सब ओषधियों में क्लेशनाशक और रोगनिवर्त्तक शक्ति का देने वाला वही ओषधियों का ओषधि परब्रह्म है ॥ २ ॥

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत् ।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥

नीचैः । खनन्ति । असुराः । अरुः-स्राणम् । इदम् । महत् । तत् । आ-स्रावस्य । भेषजम् । तत् । ऊं इति । रोगम् । अनीनशत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(असुराः) बुद्धिमान् पुरुष (इदम्) इस (अरुस्राणम्) व्रण [स्फोट=फोड़े] को पका कर भर देने वाली, (महत्) उत्तम औषध को (नीचैः) नीचे नीचे (खनन्ति) खोदते जाते हैं । (तत्) वही विस्तृत ब्रह्म

च । पा० ६ । ३ । १ । १३६ । इति सांहितको दीर्घः । इत्युभयत्र दीर्घः । संबोधने । हे । **कुवित्** । निपातोऽयम् । बहुनाम-निघ० ३ । १ । बहुधा बहुप्रकारेण । **शतम्** । दश दशतः परिमाणमस्येति । पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्च० । पा० ५ । १।५९। इति तः । दशाणां शभावश्च निपात्यते । दशगुणित दश सङ्ख्या । शतं दशदशतः-निरु० ३ । १० । बहुनाम-निघ० ३ । १ । अपरिमितानि । असङ्ख्यातानि । **भेषजानि** । अ० १ । ४ । ४ । भिषज् अण् । यद्वा । भेष+जि-ड । औषधानि । **उत्तमम्** । अ० १ । ६ । २ । उत्—तमप् । उत्कृष्टतमम् । **अनास्रावम्** । अ० १ । २ । ४ । अन्+आङ्+स्रु-ण । क्लेशरहितम् । **अरोगणम्** । रुजो भङ्गे-भावे ल्युट्, छान्दसं कुत्वम् । अरोजनाम् । रोगनिवर्तकम् ॥

३—**नीचैः** । नौ दीर्घश्च उ० ५ । १३ । इति नि+चि चयने-डैसि, नेर्दीर्घत्वं च । अधोऽधः । अन्तरन्तः । **खनन्ति** । खनु अवदारणे । अवदारयन्ति, उत्मू-लयन्ति । अन्वेषणेन प्राप्नुवन्ति । **असुराः** । अ० १० । १ । १ । असेरुरन् । उ०

(आस्रावस्य) बड़े क्लेश का (भेषजम्) औषध है, (तत्) उसने (उ) ही (रोगम्) रोग को (अनीनशत्) नाश कर दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य बड़े बड़े परिश्रम और परीक्षा करके उत्तम औषधों को लाकर रोगों की निवृत्ति करके प्राणियों को स्वस्थ करते हैं, वैसे ही विज्ञानियों ने निर्णय किया है कि उस परमेश्वर ने आदि सृष्टि में ही मानसिक और शारीरिक रोगों की ओषधि उत्पन्न कर दी है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में (अनीनशत्) के स्थान में [अशीशमत्] पाठ है ॥

उ॒प॒जीका॒ उद्भ॑रन्ति समु॒द्राद॑धि भेष॒जम् ।
तदा॑स्रा॒वस्य॑ भेष॒जं तदु रोग॑मशीशमत् ॥ ४ ॥

उ॒प॒-जीकाः । उत् । भ॒रन्ति॒ । स॒मु॒द्रात् । अधि॑ । भे॒ष॒जम् ।
तत् । आ॒-स्र॒वस्य॑ । भे॒ष॒जम् । तत् । ऊं॒ इति॑ । रोग॑म् । अ॒शी॒श॒म॒त् ॥

भाषार्थ—(उपजीकाः) [परमेश्वर के] आश्रित पुरुष (समुद्रात् अधि) आकाश [समस्त जगत्] में से (भेषजम्) भयनिवारक ब्रह्म को, (उद्भरन्ति) ऊपर निकालते हैं । (तत्) वही [ब्रह्म] (आस्रावस्य) बड़े क्लेश का (भेषजम्)

---

१ । ४२ । इति असु क्षेपणे, यद्वा, अस गतिदीप्त्यादानेषु-उरन् । यद्वा, असुः, प्राणः, रो मत्वर्थीयः । ज्ञानवन्तः । दीप्यमानाः । प्रज्ञावन्तः—निरु० १० । ३४ । प्राणवन्तः पुरुषाः । **अरुस्राणम्** । अरुः—स्राणम् । अर्त्तिपृवपियजि० । उ० २ । ११७ । इति ऋ गतौ, हिंसायां वा-उसि । इति अरुः, व्रणः । स्रै पाके-ल्युट् । अरुषो व्रणस्य पाककरम् । **महत्** । अ० १ । १० । ४ । बड़म् । विपुलम् । **आस्रवस्य** । अ० १ । २ । ४ । महाक्लेशस्य । **रोगम्** । पदरुजविशस्पृशो घञ् । पा० ३ । ३ । १६ । इति रुजो भङ्गे-घञ् । व्याधिम् । उपतापम् । **अनीनशत्** । इति णश अदर्शने, नाशे च-णयन्तात् लुङि चङि रूपम् । नाशयति स्म ॥

४—**उपजीकाः**—कपिदूपिभ्यामीकन् । उ० ४ । १६ । इति बाहुलकात्, उप+जीव प्राणधारणे-ईकन्, स च डित् । उपजीविनः । परमेश्वराश्रिताः । प्राणिनः । वल्मीकनिष्पादिका वम्रयः-इति सायणः । **उद्भरन्ति** । उत्-भृञ् ।

औषध है, (तत्) उसने (उ) ही (रोगम्) रोग को (अशीशमत्) शान्त कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर का सहारा रखने वाले पुरुष संसार के प्रत्येक पदार्थ में ईश्वर को पाते हैं। और उस आदिकारण की महिमा को सक्षात् करके अपने सब क्लेशों का नाश करके आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

अरुस्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युद्भृतम्।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥

अरुः-स्राणम्। इदम्। महत्। पृथिव्याः। अधि। उत्-भृतम्। तत्। आ-स्रावस्य। भेषजम्। तत्। ऊं इति। रोगम्। अनीनशत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (अरुस्राणम्) फोड़े को पका कर भरने वाला (महत्) उत्तम [औषध] (पृथिव्याः) पृथिवी से (अधि) ऊपर (उद्भृतम्) निकाल कर लाया गया है। (तत्) वही [ज्ञान] (आस्रावस्य) बड़े क्लेश का (भेषजम्) औषध है, (तत्) उस ने (उ) ही (रोगम्) रोग को (अनीनशत्) नाश कर दिया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—महाक्लेश नाशक ब्रह्म ज्ञान रूप औषध पृथिवी आदि लोकों के प्रत्येक पदार्थ में वर्त्तमान है, मनुष्य उस को प्रयत्न पूर्वक प्राप्त करें और रोगों की निवृत्ति करके स्वस्थ चित्त होकर आनन्दित रहें ॥ ५ ॥

उद्धरन्ति। ऊर्ध्वं हरन्ति। **समुद्रात्**। अ० १। ३। ८। अन्तरिक्षात्। सर्वसंसारात्। **भेषजम्**। भय निवारकं परब्रह्म। उदकम्-निघ० १। १२। सुखम् निघ० ३। ६। **आस्रावस्य**। म० ४। महाक्लेशस्य। **अशीशमत्**। शमु उपशमे, णयन्तात् लुङि चङि रूपम्। उपशाम्यति नाशयति स्म ॥

५—**अरुस्राणम्**। म० ३। अरुषः पाचयितृ। **पृथिव्याः**। अ० १। २। १। विस्तीर्णाद् भूलोकात्। **उद्भृतम्**। उत्-भृञ्-क्त। **उद्धृतम्**। उन्मूलितम्। सर्वथा ज्ञानने प्राप्तम्। अन्यद् व्याख्यातं म० ३ ॥

शं नो॑ भवन्त्वाप ओष॑धयः शि॒वाः । इन्द्र॑स्य वज्रो॒ अप॑ हन्तु र॒क्षस॑ आ॒राद् विसृ॑ष्टा॒ इष॑वः पतन्तु र॒क्षसा॑म् ॥६॥

शम् । नः॒ । भ॒वन्तु॒ । आ॒पः । ओष॑धयः । शि॒वाः । इन्द्र॑स्य । वज्रः॑ । अप॑ । ह॒न्तु॒ । र॒क्षसः॑ । आ॒रात् । वि-सृ॑ष्टाः । इष॑वः । प॒त॒न्तु॒ । र॒क्षसा॑म् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(आपः) जल और (ओषधयः) उष्णता धारण करने वाली वा ताप नाश करने वाली अन्नादि ओषधें (नः) हमारे लिये (शम्) शान्ति कारक और (शिवाः) मंगल दायक (भवन्तु) होवें । (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य वाले पुरुष का (वज्रः) (रक्षसः) राक्षस का (अपहन्तु) हनन कर डाले, (रक्षसाम्) राक्षसों के (विसृष्टाः) छोड़े हुये (इषवः) बाण (आरात्) दूर (पतन्तु) गिरें ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के अनुग्रह से हम पुरुषार्थ करते रहें, जिस से जल, अन्न आदि सब पदार्थ शुद्ध रह कर प्रजा में आरोग्यता बढ़ावें, और जैसे राजा चोर, डाकू आदि दुष्टों को दण्ड देता है कि प्रजा गण कष्ट न पावें और सदा आनन्द भोगें, ऐसे ही हम अपने दोषों का नाश करके आनन्द भोगें ।

टिप्पणी—अजमेर के पुस्तक और सायणभाष्य की संहिता में (अपः) पाठ है, और सायणभाष्य और पं० सेवकलाल मुद्रापित पुस्तक में (आपः) पाठ है, हमने भी (आपः) ही लिया है ॥

६—**शम्** । अ० १ । ३ । १ । शमनाय । शान्तिप्रदाः । **आपः** । अ० १ । ५ । ३ । जलानि । **ओषधयः** । अ० १ । २३ । १ । ओष-डुधाञ् धारणपोषणयोः-कि । अन्नादिबलप्रदपदार्थाः । **शिवाः** । अ० १ । ६ । ४ । सर्वनिघृष्व० । उ० १ । १५३ । इति शीङ् शयने-वन् । शीङो ह्रस्वत्वम् । शिवम्=सुखम्—निघ० ३ । ६ । ततो अर्श आद्यच् । सुखकारिण्यः । **इन्द्रस्य** । अ० १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवतः पुरुषस्य । **वज्रः** । अ० १ । ७ । ७ । कुलिशः । कुठारः । **अपहन्तु** । अपहननं विनाशं करोतु । **रक्षसः** । सर्वधातुभ्यो ऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति रक्ष पालने—अपादाने असुन् । रक्षो रक्षित-व्यमस्मात्—निरु० ४ । १८ । कर्मणि षष्ठी । राक्षस्य । दुष्टस्य । **आरात्** । दूरदेशे । **वि-सृष्टाः** । वि+सृज त्यागे—क्त । त्यक्ताः । प्रेषिताः । प्रयुक्ताः । **इषवः** । अ० १ । १३ । ५ । शत्रुहिंसका बाणाः । **पतन्तु** । अधोगच्छन्तु । **रक्षसाम्** । दुराचारिणां पुरुषाणाम् ॥

सूक्तम् ४ ॥

१—६ ॥ जङ्गिडो देवता । १—पूर्वार्धो द्विपदा त्रिष्टुप् ११×२=२२, उत्तरार्धो द्विपदाऽनुष्टुप् ८×२=१६, २—६ अनुष्टुप्छन्दः ॥

मनुष्यः परमेश्वरभक्त्यायुर्वर्धयेत्—मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से आयु बढ़ावे ।

दीर्घायुत्वाय॑ बृह॒ते रणा॒याऽरि॑ष्यन्तो॒ दक्ष॑माणाः॒ सदै॒व ।
म॒णिं वि॑ष्कन्धदू॒षणं॑ जङ्गि॒डं बि॑भृमो व॒यम् ॥१॥

दी॒र्घा॒यु॒-त्वाय॑ । बृ॒ह॒ते । रणा॑य । अरि॑ष्यन्तः । दक्ष॑माणाः । स॒दा॑ । ए॒व । म॒णिम् । वि॒स्क॒न्ध॒-दू॒षण॑म् । ज॒ङ्गि॒डम् । बि॒भृ॒मः । व॒यम् ॥१॥

भाषार्थ—(दीर्घायुत्वाय) बड़ी आयु के लिये और (बृहते) बड़े (रणाय) रण में [जीत] वा रमण के लिये (अरिष्यन्तः) [किसी को] न सताते हुये और (सदा एव) सदा ही, (दक्षमाणाः) वृद्धि करते हुये (वयम्) हम लोग (विष्कन्धदूषणम्) विघ्न निवारक और (मणिम) प्रशंसनीय (जङ्गिडम्) शरीर भक्षक रोग वा पाप के निगलने वाले [औषध वा परमेश्वर] को (बिभृमः) हम धारण करें ॥१॥

भावार्थ—जगत् में कीर्त्तिमान् होना ही आयु का बढ़ाना है । मनुष्यों को परमेश्वर के ज्ञान और पथ्य पदार्थों के सेवन से पुरुषार्थ पूर्वक पाप और

१—**दीर्घायुत्वाय** । छन्दसीणः । उ० १ । २ । इति दीर्घ+इण गतौ-उण् । ततो भावे त्व प्रत्ययः । चिरकालजीवनाय । **रणाय** । रमणाय, मकार-लोपे यद्वा, संग्रामाय । **अरिष्यन्तः** । रिष हिंसायाम् शतृ, नञ्समासः । अहिंसन्तः । **दक्षमाणाः** । दक्ष वृद्धिशैघ्रययोः—शानच् । वर्धमानाः । **मणिम्** । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति मण शब्दे—इन् । मण्यते स्तूयते स मणिः । बहुमूल्यः पाषाणो वा रत्नम् । प्रशस्तम् । **विष्कन्ध-दूषणम्** । वि+स्कन्दिर् शोषणे गत्यां च—घञ्, धश्चान्तादेशः । दुष वैकृत्ये ण्यन्तात् करणे ल्युट् । दोषो णौ । पा० ६ । ४ । ९० । इति ऊत्वम् । विशेषेण शोषकस्य विघ्नस्य विकर्तारं निवारकम् । **जङ्गिडम्** । जमति भक्षयतीति

रोग रूप विघ्नों को हटा कर सत्पुरुषों की वृद्धि में अपनी और संसार की उन्नति समझ कर सदा सुख भोगना चाहिये ॥१॥

१—सायणभाष्य में (दक्षमाणाः) के स्थान में [रक्षमाणाः] पद है।

२—सायणाचार्य ने (जङ्गिड) वृक्ष विशेष वाराणसी में प्रसिद्ध बताया है ॥

जङ्गिडो जम्भाद् विशराद् विष्कन्धादभिशोचनात्। मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥

जङ्गिडः। जम्भात्। वि-शरात्। वि-स्कन्धात्। अभि-शोचनात्। मणिः। सहस्र-वीर्यः। परि। नः। पातु। विश्वतः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सहस्रवीर्यः) सहस्रों सामर्थ्य वाला, (जङ्गिडः) शरीर भक्षक रोगों का निगलने वाला (मणिः) मणिरूप अति श्रेष्ठ औषध वा परमेश्वर (नः) हमको (जम्भात्) नाश से, (विशरात्) हिंसा से, (विष्कन्धात्) विघ्न से, और (अभिशोचनात्) महा शोक से, (विश्वतः) सब प्रकार और (परि) सब ओर (पातु) बचावे ॥ २ ॥

जः। अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३।२।१०१। इति जम भक्षे—ड। गिरतीति गिरः। मेघर्तिभयेषु कृञः। पा० ३।२।४३। इति बाहुलकात्, गॄ निगरणे—खच्। अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्। पा० ६।३।६७। इति अजन्तस्य मुम्। रकारस्य डत्वम्। आत्मभक्षकस्य रोगस्य पापस्य वा निगरणशीलं भक्षकम् औषधं परमात्मानं वा। **बिभृमः**। डुभृञ् धारणपोषणयोः—श्लौ लट्। धारयामः ॥

२—**जङ्गिडः**। म० १। आत्मभक्षकस्य रोगस्य पापस्य वा भक्षको नाशकः। **जम्भात्**।। जभि नशीकरणे, जृम्भे वा—पचाद्यच्। रधिजभोरचि। पा० ७।१।६१। इति नुम्। नाशनात्। हानिसकाशात्। क्रूरकर्मत्वात्। **विशरात्**। ऋदोरप्। पा ३।३।५७। इति वि+शॄ हिंसायाम्—अप्। विशरणात्। वधात्। मारणात्। **विष्कन्धात्**। म० १। शोषकात्। विघ्नात्। **अभिशोचनात्**। अभि+शुच् शोके—ल्युट्। मनसः पीडायाः। अतिशोकात्। **मणिः**। म० १। प्रशंसनीयः। **सहस्रवीर्यः**। तत्र साधुः। पा० ४।४।९८। इति वीर—यत्। अथवा, भावे यत् प्रत्ययः। सहस्राणि वीर्याणि सामर्थ्यानि यस्मिन् सः। अपरि-

भावार्थ—मनुष्य सर्व रक्षक और सर्वशक्तिमान् परमेश्वर में श्रद्धालु होकर पथ्य पदार्थों का सेवन करता हुआ पुरुषार्थ करे कि आलस्य आदि दुर्व्यसन और हिंसक राक्षस आदि रोग न सतावें, किन्तु सुरक्षित होकर आनन्द प्राप्त करें ॥ २ ॥

अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्रिणः।
अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥३॥

अयम् । वि-स्कन्धम् । सहते । अयम् । बाधते । अत्रिणः ।
अयम् । नः । विश्व-भेषजः । जङ्गिडः । पातु । अंहसः ॥३॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (विश्वभेषजः) सर्वौषध (जङ्गिडः) पापों वा रोगों का भक्षक [परमेश्वर वा औषध] (विष्कन्धम्) विघ्न को (सहते) दबाता है, (अयम्) यही (अत्रिणः) खाउओं वा रोगों को (बाधते) रोकता है। (अयम्) यही (नः) हमको (अंहसः) पाप से (पातु) बचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—उत्साही विचारवान् पुरुष परमेश्वर में विश्वास और पथ्य पदार्थों का सेवन करके अपनी दूरदर्शिता से मानसिक और शारीरिक बाधाओं को हटाकर अटल सुख भोगते हैं ॥ ३ ॥

मितपराक्रमः। **परि** । परितः। सर्वतः। **नः** । अस्मान्। उपसर्गाद् बहुलम्। पा० ८। ४। २८। इति नसो णत्वम्। **विश्वतः** । पञ्चम्यास्तसिल्। पा० ५। ३। ७। इति विश्व-तसिल्। लिति। पा० ६। १। १९३। इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम्। विश्वस्मात् सर्वस्मात् खेदात् ॥

३—**विष्कन्धम्** । म० १। विघ्नम्। **सहते** । षह अभिभवे। अभिभवति। **बाधते**। बाधृ विलोडने। निवारयति नाशयति। **अत्त्रिणः** । अ० १। ७। ३। अद भक्षणे-त्रिनि। अत्तॄन्, भक्षकान् पुरुषान् रोगान् वा। **विश्वभेषजः** । सर्वेषां रोगादीनां जेता निवर्तकः। सर्वौषधः। **अंहसः** । अमेर्हुक् च। उ० ४। ११३। इति अम रोगे, गतौ च- असुन् हुक् च। रोगात्। पापात् ॥

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा ।
विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥४॥

देवैः । दत्तेन । मणिना । जङ्गिडेन । मयः-भुवा । वि-स्कन्धम् । सर्वा । रक्षांसि । वि-आयामे । सहामहे ॥४॥

भाषार्थ—(देवैः) विद्वानों करके (दत्तेन) दिये हुये [उपदेश किये हुये] (मणिना) मणि [अति श्रेष्ठ], (मयोभुवा) आनन्द के देने हारे (जङ्गिडेन) रोगों के भक्षक [परमेश्वर वा औषध] द्वारा (विष्कन्धम्) विघ्न और (सर्वा=सर्वाणि) सब (रक्षांसि) राक्षसों को (व्यायामे) संग्राम में (सहामहे) हम दबावें ॥४॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि विद्वानों के सत्संग से दुःख नाशक परमेश्वर के उपकारों पर दृष्टि करके पुरुषार्थ के साथ पथ्य द्रव्यों का सेवन करके विघ्नकारी दुष्ट जीवों, पापों और रोगों को हटाकर सदा आनन्द में रहें ॥ ४ ॥

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम् ।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥

शणः । च । मा । जङ्गिडः । च । वि-स्कन्धात् । अभि । रक्षताम् । अरण्यात् । अन्यः । आ-भृतः । कृष्याः । अन्यः । रसेभ्यः ॥५॥

भाषार्थ—(च) निश्चय करके (शणः) आत्मदान वा उद्योग, (च) और (जङ्गिडः) रोग भक्षक परमेश्वर वा औषध दोनों, (मा) मुझको (विष्क-

४—**देवैः** । विद्वद्भिः । **दत्तेन** । दीयते इति । दा-क्त । कृतदानेन । उपदिष्टेन । **मयोभुवा** । अ० १ । ५ । १ । सुखस्य भावयित्रा, उत्पादकेन । **व्यायामे** । वि+आङ्+यम परिवेषणे-घञ् । मल्लक्रीड़ाप्रदेशे । संग्रामे । **सहामहे** । अभिभवामः । अन्यद् व्याख्यातम्, म० १ ॥

५-**शणः** । शण दाने, गतौ-पचाद्यच् । दानम् । आत्मसमर्पणम् । गतिः ।

ण्यात्) विघ्न से (अभि) सर्वथा (रक्षताम्) बचावें। (अन्यः) एक (अरण्यात्) तप के साधन वा विद्याभ्यास से और (अन्यः) दूसरा (कृष्याः) कर्षण अर्थात् खोजने से (रसेभ्यः) रसों अर्थात् पराक्रमों वा आनन्दों के लिये (आभृतः) लाया जाता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—आत्मदानी, उद्योगी, पथसेवी और परमेश्वर के विश्वासी पुरुष अपनी और सब की रक्षा कर सकते हैं। वही योगी जन तपश्चर्या, विद्याभ्यास, और खोज करने से आत्मदान [ध्यान शक्ति] और परमेश्वर में श्रद्धा प्राप्त करके अनेक सामर्थ्य और आनन्द का अनुभव करते हैं ॥ ५ ॥

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः।
अथो सहस्वाञ् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥६॥

कृत्यादूषिः। अयम्। मणिः। अथो इति। अराति-दूषिः। अथो इति। सहस्वान्। जङ्गिडः। प्र। नः। आयूंषि। तारिषत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (मणिः) प्रशंसनीय पदार्थ (कृत्यादूषिः) पीड़ा देने हारी विरुद्ध क्रियाओं में दोष लगाने वाला, (अथो) और भी (अरातिदूषिः)

उद्योगः। **जङ्गिडः**। म० १। पापभक्षकः परमेश्वरः। औषधम्। **अभि**। अभितः, सर्वतः। **रक्षताम्**। उभौ पालयताम्। **अरण्यात्**। अर्तेर्निच्च। उ० ३। १०२। इति ऋ गतौ-अन्यप्रत्ययः। ऋच्छन्ति गच्छन्ति तपस्विनो यत्र। यद्वा। अघ्न्यादयश्च। उ० ४। ११२। इति नञ्+रम-यत्। अरमणं शरीरश्रमो यत्र। तपः साधनात् विद्याभ्यासात्। **अन्यः**। माछाससिभ्यो यः। उ० ४। १०९। इति अन जीवने-यः। एकतरः। **आभृतः**। अ० १। ६। ४। हृस्य भः। आहृतः। आनीतः। **कृष्याः**। इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। इति कृष विलेखने-इन्, सच कित्। कर्षणात्। अनुसन्धानात्। अन्वेषणात्। **रसेभ्यः**। पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण। पा० ३। ३। ११८। इति रस आस्वादे, स्नेहे-घ। रस्यते अनुभूयत इति रसः। रसानां वीर्याणां प्राप्तये। अथवा। आनन्दानामनुभवाय ॥

६—**कृत्यादूषिः**। विभाषा कृवृषोः। पा० ३। १। १२० इति कृञ्

अदानशीलों [कंजूसों] में दोष लगानेवाला है। (अथो) और भी (सहस्वान्) वही महाबली (जङ्गिडः) रोग भक्षक परमेश्वर वा औषध (नः) हमारे (आयूंषि) जीवनों को (प्र तारिषत्) बढ़ती वाला करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो कुचाली मनुष्य विरुद्ध मार्ग में चलते और सत्य पुरुषार्थों में आत्मदान अर्थात् ध्यान नहीं करते, वे ईश्वर नियम से महा दुःख उठाते हैं। सत्य पराक्रमी और पथ्य सेवी पुरुष उस महाबली परमेश्वर के गुणों के अनुभव से अपने जीवन को बढ़ाते हैं, अर्थात् संसार में अनेक प्रकार से उन्नति करके आनन्द भोगते और अपना जन्म सफल करते हैं ॥ ६ ॥

सूक्तम् ॥ ५ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता । १—३ अनुष्टुप्, ४—७ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

मनुष्यः सदैवोन्नतिप्रयत्नं कुर्य्यात्—मनुष्य सदैव उन्नति का उपाय करता रहे ॥

इन्द्र॑ जु॒षस्व॒ प्र व॒हा या॑हि शूर॒ हरि॑भ्याम् ।
पिबा॑ सु॒तस्य॑ म॒तेरि॒ह मधो॑श्चका॒नश्चारु॒र्मदा॑य ॥१॥

इन्द्र॑ । जु॒षस्व॑ । प्र । व॒ह॒ । आ । या॒हि॒ । शू॒र॒ । हरि॑ऽभ्याम् ।
पिब॑ । सु॒तस्य॑ । म॒तेः । इ॒ह । मधोः॑ । च॒का॒नः । चारुः॑ । मदा॑य ॥१॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन् ! (जुषस्व) तू प्रसन्न हो,

---

हिंसायाम्—क्यप् तुक् च, टाप् च । अच इः । उ० ४ । १३९ । दुष वैकृत्ये-एयन्तात् इ प्रत्ययः । कृत्यायाः । हिंसाया दूषको निवारकः । **अथो** । ओत् । पा० १ । १ । १५ । इति प्रगृह्यत्वात् सन्धिनिषेधः । अपि च । **अरातिदूषिः** । अरातिः । अ० १ । २ । २ । न+रा दाने-क्तिच् । आरातयोऽदानकर्माणो वादानप्रज्ञा वा- निरु० ३ । ११ । दूषिः-इति गतम् । अदातॄणां कृपणानां शत्रूणां दूषको नाशकः । **आयूंषि** । अ० १ । ३० । ३ । जीवनानि । **प्र+तारिषत्** । प्र पूर्वस्तरतिर्वृद्ध्यर्थः । लेट् । सिब् बहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३४ । इति सिप् । सिपो णिद्वद्भावाद् वृद्धिः । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ९४ । आडागमः । इतश्च लोपः परस्मैपदेषु । पा० ३ । ४ । ९७ । इकार लोपः । प्रवर्धयेत् ॥

१—**इन्द्र** । अ० १ । २ । ३ । इदि परमैश्वर्ये-रन् । हे परमैश्वर्यवन् राजन् !

(प्र वह) आगे बढ़, (शूर) हे शूर ! (हरिभ्याम्) हरणशील दिन और रात अथवा प्राण और अपान के हित के लिये (आ याहि) तू आ। (चारुः) मनोहर स्वभाव वाला, (मदाय) हर्ष के लिये (चकानः) तृप्त होता हुआ तू, (इह) यहां पर (मतेः) बुद्धिमान पुरुष के (सुतस्य) निचोड़ के (मधोः) मधुर रसका (पिब) पानकर ॥१॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि सदा प्रसन्न रहकर उन्नति करे और करावे। और सब के (हरिभ्याम्) दिन और रात अर्थात् समय को, और प्राण और अपान वायु अर्थात् जीवन को परोपकार में लगावे और बुद्धिमानों के ज्ञान के सारांश [निचोड़] के रस का ग्रहण करके आनन्द भोगे ॥१॥

म० १—३, सामवेद उत्तरार्चिक प्रपाठक ३. अर्धप्रपाठक १ तृच २२ में कुछ भेद से हैं ॥

इन्द्रं जुठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न ।
अस्य सुतस्य स्व१र्णोपं त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥२॥

इन्द्रं । जुठरम् । नव्यः । न । पृणस्व । मधोः । दिवः । न ।
अस्य । सुतस्य । स्वः । न । उप । त्वा । मदाः । सु-वाचः । अगुः ॥२॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे राजन् ! (नव्यः) नवीन [बहुत तृषित] के (न)

मनुष्य। **जुषस्व**। जुषी प्रीतिसेवनयोः-लोट्। प्रीयस्व। हृष्टो भव। **प्रवह**। प्रगच्छ। **शूर**। शुचिचिमीनां दीर्घश्च। उ० २। २५ इति शु गतौ-क्रन्। शवति वीर्य्यं प्राप्नोतीति। यद्वा, शूर विक्रमे उद्यमे-अच्। हे वीर! **हरिभ्याम्**। हृपिषि रुहिवृति०। उ० ४। ११८। इति हृञ् हरणे-इन्। हरणं प्रापणं स्वीकारः स्तेयं नाशनं च। हरतीति हरिः सूर्यः, चन्द्रः, वायुः, इति कोषे। द्विवचनत्वात् सूर्यचन्द्राभ्याम् तयोरुपलक्षितदिनरात्रिहिताय। अथवा, वायुभ्याम् प्राणापानाभ्यां तयोरुपलक्षितजीवनहिताय। हरिभ्यां हरणसाधनाभ्यामहोरात्राभ्यां कृष्णशुक्लपक्षाभ्याम्-इति श्रीमद् दयानन्दभाष्ये, ऋ० १। ३५। ३। **सुतस्य**। षुञ् अभिषवे, यद्वा, षु प्रसवैश्वर्ययोः-क्त। अभिषवस्य, सारस्य ऐश्वर्यस्य। **मतेः**। क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्। पा० ३।३।१७४। इति मन् बोधे-क्तिच्। मतयः, मेधाविनामसु-निघ० ३। १५। मेधाविनः पुरुषस्य। **मधोः**। मधुररसस्य। **चकानः**। चक तृप्तौ-शानच्। तृप्तिकामः। **चारुः**। दृसनिजनिचरिचटिभ्यो ञुण्। उ० १। ३। इति चर गतौ-ञुण्। शोभनस्वभावः, मनोज्ञः ॥

२—**जठरम्**। जायते गर्भो मलं वा अस्मिन्निति जठरः। जनेररष्ठश्च। उ०

समान, (दिवः) स्वर्ग के (न) सदृश (मधोः) मधुर रस से (जठरम्) अपने उदर को (पृणस्व) तृप्त कर । (अस्य) इस (सुतस्य) निचोड़ [तत्त्व] के (सुवाचः) सुन्दर वाणियों से युक्त (मदाः) आनन्द (स्वर्) स्वर्ग में (न) जैसे [वर्त्तमान] (त्वा) तुझको (उप अगुः) उपस्थित हुये हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा विद्वानों के साथ संभाषण करके बड़ी प्रीति से नीति का सारांश ग्रहण करके आनन्द प्राप्त करे ॥ २ ॥

इस मन्त्र में तीन (न) सदृशता वाची हैं, और मन्त्र ३ में दो हैं ।

इन्द्र॑स्तु॒रा॒षाण्मि॒त्रो वृ॒त्रं यो ज॒घान॑ य॒तीर्न ।
बि॒भेद॑ व॒लं भृ॒गुर्न स॑सहे॒ शत्रू॑न् मदे॒ सोम॑स्य ॥ ३ ॥

इन्द्रः॑ । तु॒रा॒षाट् । मि॒त्रः । वृ॒त्रम् । यः । ज॒घान॑ । य॒तीः । न । बि॒भेद॑ । व॒लम् । भृगुः॑ । न । स॒स॒हे॒ । शत्रू॑न् । मदे॑ । सोम॑स्य ॥३॥

भाषार्थ—(यतीः) यति [यत्नशील] पुरुष के (न) समान (यः)

---

५ । ३८ । इति जन जननप्रादुर्भावयोः—अर, नस्य ठः । अथवा, जटति एकत्री भवति अन्नादिकमत्र । जट संहतौ-अर, टस्य ठः । उदरम् । **नव्यः** । नूयते स्तूयत इति । अचो यत् । पा० ३ । १ । ९७ । इति णु स्तुतौ-यत् । यद्वा, नवएव । स्वार्थे यत् । नूतनः । स्तुत्यः । **न** । उपमार्थे । अग्निर्न ये भ्राजसा, अग्निरिव-निरु० । ३ । १५ । इव । यथा । **पृणस्व** । पृण तृप्तीकरणे । तर्पय । पूरय । **मधोः** । तृतीयार्थे षष्ठी । मधुररसेन । **दिवः** । स्वर्गस्य । अत्यानन्दस्य । **सुतस्य** । म० १ । तत्त्वस्य । **स्वर्** । अव्ययं व्याहृतिविशेषश्च । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति सु+ऋ गतौ-विच् । यद्वा । स्वृ शब्दोपतापयोः—विच् । स्वरादित्यो भवति सु अरणः सु ईरणः स्वृतो रसान् स्वृतो भासं ज्योतिषां स्वृतो भासेति वा-निरु० २ । १४ । स्वर्गे आनन्दविशेषे वर्त्तमानम् । **मदाः** । मदि स्तुति मोद मद स्वप्न कान्ति गतिषु-अच् । आमोदाः । हर्षाः । **सुवाचः** । शोभना वाचा येषां ते । शोभनस्तुतियुक्ताः । **अगुः** । इण् गतौ-लुङ् । इणो गा लुङि पा० २ । ४ । ४५ । गतवन्तः । प्राप्तवन्तः ॥

३—तुराषाट् । तुतोर्त्ति वेगेन गच्छतीति तुरः, वेगवान् । तुर वेगे-क ।

जिस (तुराषाट्) शीघ्र जीतने वाले, (मित्रः) सब के प्रेरक (इन्द्रः) प्रतापी राजा ने (वृत्रम्) अन्धकार वा डांकू को (जघान) नाश किया था। (भृगुः) ज्ञान में परिपक्व ऋषि के (न) सदृश उस ने (वलम्) हिंसक दैत्य को (बिभेद) तोड़ फोड़ डाला और (सोमस्य) अपने ऐश्वर्य [ठाट] के (मदे) मद में (शत्रून्) शत्रुओं को (ससहे) हराया था॥ ३॥

भावार्थ—महा प्रतापी राजा बड़े बड़े यत्न वाले और बुद्धिनिपुण वीरों का अनुकरण करके विरोधी शत्रुओं और अज्ञान का नाश करके प्रजा को आनन्द देते और आप आनन्द पाते हैं॥ ३॥

(यतीः) पद के स्थान में सामवेद में उपरोक्त पते पर [यतिः] पद है॥

अथवा, घञर्थे भावेक। वेगः। तुरं वेगवन्तं शत्रुं वेगेन सहते अभिभवतीति तुराषाट्। तुर+षह अभिभवे, णिच्-क्विप्। सहेः साडः सः। पा० ८। ३।५६। इति षत्वम्। अन्येषामपि दृश्यते। पा० ६। ३। १३७। इति पूर्व पदस्य दीर्घः। शीघ्रं शत्रूणामभिभविता। **मित्रः**। अ० १। ३। २। स्नेहवान्। अन्धकारस्य क्षेपको नाशकः। **वृत्रम्**। अ० १। २१। १। वृतु वर्त्तने-रक्। यद्वा, वृञ्-क्त उ० ४। १६४। तत् को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका।—निरु० २। १६। त्वाष्ट्रः=त्वष्टुः सूर्याज्जातः। अन्धकारम्। शत्रुम्। **जघान**। हतवान्। **यतीः**। अविनृस्तृतन्त्रिभ्य ईः। उ० ३। १५८। इति यत प्रयत्ने—ईप्रत्ययः। प्रयत्नवान्। तापसः। यतिः **बिभेद**। भिन्नवान्। **बलम्**। बल दाने बधे जीवने च-अच्। हिंसकं दैत्यम्। **भृगुः**। तपसा भृज्यते। प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च। उ० १। २८। इति भ्रस्ज पाके-कु। न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वं च। परिपक्वः। ज्ञानपरिपक्वः। ऋषिः। मुनिः। **ससहे**। षह अभिभवे—लिट्। अभिभूतवान् जितवान् **शत्रून्**। दृशातिभ्यां क्रुन्। उ० ४। १०३। इति शातिः क्रुन्। शति सौत्रो धातुर्हिंसार्थः—इति सायणः, ऋ० १। ५। ४। इति शत शाते=पतने पातने-क्रुन्। निरवादाद्युदात्तः। शातकान्, निपातकान्। रिपून्। **सोमस्य**। अर्त्तिस्तुसुहुसृधृ०। उ० १। १४०। इति षुप्रसवैश्वर्ययोः—मन्। सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः। ऐश्वर्यस्य॥

आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः। श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ॥ ४ ॥

आ। त्वा। विशन्तु। सुतासः। इन्द्र। पृणस्व। कुक्षी इति। विड्ढि। शक्र। धिया। इहि। आ। नः। श्रुधि। हवम्। गिरः। मे। जुषस्व। आ। इन्द्र। स्वयुक्-भिः। मत्स्व। इह। महे। रणाय ॥ ४ ॥

भाषार्थ–(इन्द्र) हे राजन्! (सुतासः) यह निचोड़े हुये रस (त्वा) तुझ में (आ) यथाविधि (विशन्तु) प्रवेश करें, (कुक्षी) दोनों कुक्षियों को (पृणस्व) तू भर, और (विड्ढि=विध) शासन कर, (शक्र) हे शक्तिमान् (धिया) [अपनी अनुग्रह] बुद्धि से (नः) हमारे पास (आ+इहि=एहि) आ। (हवम्) पुकार (श्रुधि) सुन, (इन्द्र) हे राजन्! (मे) मेरी (गिरः) वाणियों को (जुषस्व) स्वीकार कर, और (स्वयुग्भिः) अपनी युक्तियों से (इह) यहां पर (महे) बड़े (रणाय) रण [जीतने] के लिये (आ) यथा-नियम (मत्स्व) हर्षित हो ॥ ४ ॥

४। **आ+विशन्तु**। प्रविशन्तु। **सुतासः**। षुञ् अभिषवे-क्त। आज्जसेरसुक्। पा० ७। १। ५०। अभिषुताः सोमाः। **पृणस्व**। म० २। तर्पय। **कुक्षी**। प्लुषि कुषि शुषिभ्यः क्सिः। उ० ३। १५५। इति कुष निष्कर्षे-क्सि। दक्षिणोत्तरकुक्षिद्वयम्। आत्मानमित्यर्थः **विड्ढि**। विध विधाने=शासने तुदादिः। लोटि छान्दसः श विकरणस्य लुक्। हेर्ध्यादिशे ढत्वष्टुत्वजश्त्वानि। त्वं विध विधानं शासनं कुरु। **शक्र**। स्फायितञ्चिवञ्चिशकि०। उ० २। १३। इति शक्लृ शक्तौ-रक्। शक्नोतीति। हे शक्तिमन्। हे समर्थ। **धिया**। ध्यै चिन्तने-क्विप्। सम्प्रसारणं च। धीः, कर्मनाम निघ० २। १। प्रज्ञानाम-निघ० ३। ६। प्रज्ञया। बुद्ध्या। **श्रुधि**। श्रु श्रवणे। विकरणस्य लुक्। श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि पा० ६। ४। १०२। इतिहेर्धिरादेशः। अन्येषामपि दृश्यते। पा० ६। ३। १३७। इति सांहितिको दीर्घः। शृणु। **हवम्**। अ० १। १५। २। ह्वेञ

भावार्थ—राजा अनेक श्रेष्ठ विद्याओं के रस से अपने आत्मा को सन्तुष्ट करे, और न्याय पूर्वक प्रजा की रक्षा करता हुआ शत्रुओं को जीतकर आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

सायणभाष्य में (विड्ढि) के स्थान में [वृड्ढि = वर्धय] है ॥

इन्द्र॑स्य॒ नु प्र वो॑चं वी॒र्या॑णि॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री । अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त् पर्व॑तानाम् ॥५॥

इन्द्र॑स्य । नु । प्र । वो॒च॒म् । वी॒र्या॑णि । यानि॑ । च॒कार॑ । प्र॒थ॒मानि॑ । व॒ज्री । अह॑न् । अहि॑म् । अनु॑ । अ॒पः । त॒त॒र्द॒ । प्र । व॒क्षणाः॑ । अ॒भि॒न॒त् । पर्व॑तानाम् ॥५॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्यवाले पुरुष के (वीर्याणि) पराक्रमों को (नु) शीघ्र (प्र) अच्छे प्रकार (वोचम्) मैं कहूं; (यानि) जिन (प्रथमानि) प्रसिद्ध, अथवा प्रथम श्रेणि के अति श्रेष्ठ कर्मों को (वज्री) उस वज्रधारी पुरुषने (चकार) किया था। [अर्थात्] (अहिम्) सर्प के समान [हनन करने वाले], अथवा,

---

आह्वाने-अप् । आह्वानम् । अवाहनम् । **गिरः** । गॄ शब्दे-क्विप् । गृणाति = अर्चति निघ० ३ । १४ । वाचः । वाक्यानि । **जुषस्व** । सेवस्व । स्वीकुरु । **स्वयुग्भिः** । स्व + युजिर् समाधौ, यद्वा० । युज संयमने— क्विप् । युज्यते समाधत्ते, यद्वा, योजयति नियमयतीति युक् । स्वयुक्तिभिः । आत्मीयैः समाधिमद्भिः संयोगवद्भिर्वा मित्रैः । **मत्स्व** । मदी हर्षे । छान्दसम् आत्मनेपदम । हृष्टो भव । **महे** । मह पूजायां-क्विप् । महते । **रणाय** । रमणाय । आनन्दाय । यद्वा । युद्धजयाय ॥

५—**इन्द्रस्य** । ऐश्वर्यवतः पुरुषस्य । **नु** । क्षिप्रम्-निघ० २ । १५ । **प्रा** । निपातस्य च । पा० ६ । ३ । १३६ । इति दीर्घः । ऋग्वेदे तु (प्र) इति पाठः । प्रकर्षेण । **वोचम्** । वच्, वा, ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि । आशीर्लिङि छान्दसं रूपम् । अहम् उच्यासम् । **वीर्याणि** । अ० १ । ७ । ५ । वीरकर्माणि । पराक्रमान् । **प्रथमानि** । अ० १ । १२ । १ । प्रथितानि । प्रख्यातानि । सुप्रसिद्धानि । अन्यैः पूर्वकृतानि । **वज्री** । ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति वज गतौ-रन् प्रत्ययान्तो निपात्यते । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति वज्र-इनि । वज्रविशिष्टः । कुलिशयुक्तः ।

बादल के समान [प्रकाश रोकने वाले] हिंसक जन को (अहन्) उस ने मार डाला, (अनु) अनुक्रम से (अपः) [उस दुष्ट के] कर्म का (ततर्द) अपमान किया, और (पर्वतानाम्) मेघों के समान [अन्धकार से छाये हुए], अथवा पहाड़ों के समान [दृढ़ स्वभाव वाले] दुराचारियों की, अथवा, पहाड़ों में गुप्त (वक्षणाः) रुष्ट वा क्रुद्ध सेनाओं को (प्र) सर्वथा (अभिनत्) छिन्नभिन्न करदिया ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्व कालीन (इन्द्र) प्रतापी और (वज्री) तेजस्वी नीति कुशल पुरुषों का यश कीर्तन इतिहास द्वारा करें, और उनका अनुकरण करके कुरीतियों के त्याग और सुरीतियों के प्रचार से आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

मन्त्र ५-७ ऋग्वेद में हैं—मं० १ सू० ३२ म० १-३ "

(प्रा) के स्थान पर ऋग्वेद में (प्र) है ।

ईसाइयों की नवीन धर्म पुस्तक (New Testament) मत्ती, पर्व १२ वाक्य ३४ में " सांप"-बुरे पुरुष के लिये आया है । "हे सांपों के वंश ! तुम बुरे होके अच्छी बातें क्योंकर कह सकते हो क्योंकि जो मन में भरा है उसी को मुंह से बोलता है" ॥

दण्डवान् । **अहन्** । हन हिंसागत्योः—लङ् । हतवान् । **अहिम्** । आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च । उ० ४ । १३८ । इति आङ्+हन हिंसागत्योः—इण्, स च डित् । आङो ह्रस्वत्वम् । धार्मिकाणाम् आहन्तारम् । सर्पम् । सर्पवत् क्लेशप्रदम् । अहिः, मेघनाम-निघ० १ । १० । मेघवत् प्रकाशनिरोधकं पुरुषम् । **अनु** । अनुक्रमेण । **अपः** । आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा । उ० ४ । २०८ । इति आप्लृ व्याप्तौ-असुन् । कर्मनाम-निघ० ३ । १ । तस्य अर्हर्दुष्टकर्म, इत्यर्थः । **ततर्द** । उतृदिर् हिंसानादरयोः-लिट् । जिहिंस । अनादृतवान् । तिरस्कृतवान् । **वक्षणाः** । क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च । पा० ३ । २ । १५१ । इति वक्ष रोषे-युच् । चित्स्वरं बाधित्वा प्रत्ययस्वरः । रुष्टाः क्रुद्धाः सेनाः । **प्र-अभिनत्** । भिदिर् विदारणे-लङ् । भिन्नवान् । विदारितवान् । **पर्वतानाम्** । भृमृदृशियजिपर्वि० । उ० । ३ । ११० । इति पूर्व पूरणे-अतच् । पर्वति पूरयतीति पर्वतः । यद्वा, स्नामदिपद्यर्त्ति पृशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति पॄ पालन-पूरणयोः—वनिप् । पृणन्ति पालयन्ति अवयविनमिति पर्वाणि । तत् पर्वमरुद्भ्यां वक्तव्यः । वा० पा० ५ । २ । १२२ । इति पर्व-तन् मत्वर्थे । पर्वतः, मेघनाम-निघ० १ । १० । मेघवद् अन्धकारस्य वर्धकानाम् । यद्वा । शैलवद् दृढ़स्वभावान् । यद्वा । शैलानां मध्ये स्थितानाम् ॥

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥६॥

अहंन् । अहिंम् । पर्वते । शिश्रियाणम् । त्वष्टा । अस्मै । वज्रंम् । स्वर्यम् । ततक्ष । वाश्राः-इंव । धेनवंः । स्यन्दंमानाः । अञ्जः । समुद्रम् । अवं । जग्मुः । आपंः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(त्वष्टा) सूक्ष्म करने वाले [सूक्ष्मदर्शी] पुरुष ने (पर्वते) बादल [के समान प्रकाश रोकने वाले जन समूह] में, अथवा पहाड़ पर (शिश्रियाणम्) ठहरे हुये (अहिम्) सर्परूप वा मेघरूप [हिंसक वा प्रकाश रोकने वाले] को (अहन्) बध किया, (अस्मै) इस [प्रयोजन] के लिये (स्वर्यम्) ताप वा पीड़ा देने वाला (वज्रम्) वज्र (ततक्ष) उसने तीक्ष्ण किया। (वाश्राः) रंभाती हुयी (धेनवः इव) गौओं के समान, (स्यन्दमानाः) वेग से बहते हुये, (अञ्जः) प्रकट (आपः) जल [जलरूप प्रजा गण] (समुद्रम्) समुद्र में [राजा के पास] (अव) उतर कर (जग्मुः) पहुंच गये ॥ ६ ॥

६—**अहन्** । म० ५ । हतवान् । **अहिम्** । म० ५ । सर्वतो हननशीलम् । सर्पसमानहिंसकम् । मेघसमानप्रकाशनिरोधकं पुरुषम् । **पर्वते** । म० ५ । जातावेकवचनम् । पर्वतेषु । मेघसमानान्धकारवर्धकेषु पुरुषेषु । यद्वा, शैलप्रदेशे स्थितम् । **शिश्रियाणम्** । श्रिञ् सेवायां-लिटः कानच् । चित्त्वाद् अन्तोदात्तः । आश्रितम् । **त्वष्टा** । त्वष्टा तूर्णमश्नुत इति नैरुक्तास्त्विषेर्वास्याद् दीप्तिकर्मणस्त्वक्षतेर्वा स्याद् करोतिकर्मणः-निरु० ८ । १३ । नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृ० । उ० २ । ९६ । इति त्वक्षू तनूकरणे-तृन् । नित्त्वाद् आद्युदात्तः । व्यवहाराणां तनूकर्ता । सूक्ष्मदर्शी । विश्वकर्मा । इन्द्रः पुरुषः । **अस्मै** । अस्मै प्रयोजनाय । अहेर्हननायेत्यर्थः । **वज्रम्** । म० ५ । कुलिशम् । **स्वर्यम्** । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति स्वृ शब्दोपतापयोः—घ । यद्वा । नन्दिग्रहिपचादि० । पा० ३ । १ । १३४ । इति स्वर आक्षेपे-अच् । ततः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ११८ । इति स्वरे उपतापे पीड़ने यद्वा, शत्रूणाम् आक्षेपे तिरस्करणे साधु योग्यम् । **ततक्ष** । तक्षू तनूकरणे-लिट् । तनूकृतवान् । तीक्ष्णं

भावार्थ—पूर्वज विवेकी राजाओं ने दण्ड व्यवस्था स्थापन करके अपने प्रकट और गुप्त शत्रुओं को मारा, तब प्रजा गण प्रसन्न होकर उस हितकारी राजा को अभिनन्दन देने गये, जैसे रंभाती हुयी गौयें बछड़ों के पास, अथवा वृष्टि के जल एकत्र होकर समुद्र में दौड़ कर जाते हैं। इसी प्रकार सब राजा और प्रजा गण परस्पर रहकर आनन्द मनाते रहें ॥ ६ ॥

मनु जी ने कहा है-अ० ७ श्लोक १८।

दण्डः शास्ति सर्वाः प्रजा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ १ ॥

दण्ड ही सब प्रजा पर शासन रखता, दण्ड ही सब ओर से रक्षा करता, दण्ड ही सोते मुओं में जागता है, विद्वान् लोग दण्ड को धर्म जानते हैं ॥

वृषायमा॑णो अवृणीत॒ सोम॒ं त्रिक॑द्रुकेष्वपिबत्सु॒तस्य॑ ।
आ साय॑कं म॒घवा॑दत्त॒ वज्र॒ मह॑न्नेनं प्रथम॒जामही॑नाम् ॥७॥

वृष॒-यमा॑नः । अवृणीत॒ । सोम॑म् । त्रि-क॑द्रुकेषु । अपिबत॒ । सु॒तस्य॑ । आ । साय॑कम् । म॒घ-वा॑ । अ॒दत्त॒ । वज्र॑म् । अह॑न् । ए॒नम् । प्र॒थ॒म-जाम् । अही॑नाम् ॥७॥

भाषार्थ—(वृषायमाणः) ऐश्वर्यवाले के समान आचरण करते हुये पुरुष

चकार। **वाश्राः**। स्फायितञ्चिवञ्जिशकि०। उ० २। १३। इति वाशृ शब्दे-रक्। शब्दायमानाः। वत्सान् प्रति हंभारवयुक्ताः। **धेनवः**। धेट इच्च। उ० ३। ३४। इति धेट् पाने-नु। नवप्रसूता गावः। **स्यन्दमानाः**। स्यन्दू प्रस्रवणे-लटः शानच्। प्रस्रवन्त्यः। प्रवहन्त्यः। **अञ्जः**। अञ्जू व्यक्तिगति म्रक्षणेषु-क्विप्। व्यक्ताः। गमनशीलाः। **समुद्रम्**। अ० १। १३। ३। इति सम्+उन्दी क्लेदने-रक्। जलाधारम्। सागरम्। अन्तरिक्षम्। **अव**। नीचैः। अधस्तात्। अनायासेन। **जग्मुः**। गम्लृ-लिट्। प्रापुः। **आपः**। अ० १। ५। १। जलानि ॥

७—**वृषायमाणः**। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। पा० ३। १। १३५। इति

ने (सुतस्य) उत्पन्न संसार के (त्रिकद्रुकेषु) तीन आवाहनों [उत्पत्ति, स्थिति और विनाश अथवा, शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति के विधानों] के निमित्तों में (सोमम्) ऐश्वर्य वा अमृत रस [कीर्त्ति] को (अवृणीत) अङ्गीकार किया और (अपिबत्) पान किया [आत्मा में दृढ़ किया]। (मघवा) उस पूजनीय पुरुष ने (सायकम्) काटने वाले बाण वा खड्ग और (वज्रम्) वज्र हथियार को (आ अदत्त) लिया और (अहीनाम्) बड़े घातकों [प्रकाश नाशक] मेघ वा सर्प रूप असुरों के बीच (प्रथमजाम्) प्रधानता से प्रसिद्ध अर्थात् अग्रगामी (एनम्) इस [समीपस्थ अर्थात् आत्मा में स्थित दुष्ट] को (अहन्) मार डाला॥

भावार्थ—इस सूक्त के तीन मन्त्रों में ५-७ (इन्द्र) का (अहि) के मार कर उन्नति करने का वर्णन है और मन्त्र ७ में (त्रिकद्रुकेषु) पद तीन आवाहनों का द्योतक है। इसका प्रयोजन यह है कि जैसे तपस्वी, धैर्यवान्, शूर वीर पुरुषों ने जितेन्द्रिय वशिष्ठ होकर अपने आत्मिक, कायिक और सामाजिक शत्रु कुक्रोध आदि को मारा, उन्हों ने ही संसार की वृद्धि, पालन और नाश के कारण को खोजा, और तीन प्रकार की आत्मिक, शारीरिक और

वृषु सेचनप्रजननैश्वर्येषु-क। कर्तुः क्यङ् स लोपश्च। पा० ३। १। ११। इति आचारे क्यङ्। अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः। पा० ७। ४। २५। इति दीर्घः। ततः शानच्। वृष इव ऐश्वर्यवानिवाचरन् पुरुषः। **अवृणीत**। वृञ् संभक्तौ लङ्। वृतवान्, स्वीकृतवान्। **सोमम्**। ऋ० १। ६। २। षु प्रसवैश्वर्ययोः-मन्। ऐश्वर्यम्। अमृतम्। कीर्त्तिम्। **त्रिकद्रुकेषु**। दृशातिभ्यां क्रुन्। उ० ४। १०३। इति त्रि+कदि आह्वाने—क्रुन्। समासान्तः कप् च। त्रयाणां संसारोत्पत्ति-स्थितिविनाशानाम्, अथवा, शारीरिकात्मिकसामाजिकानां कद्रुकेषु आह्वानेषु विधानेषु निमित्तेषु। **अपिबत्**। पीतवान्। अनुभूतवान्। **सुतस्य**। षु प्रसवैश्वर्ययोः—क्त। उत्पन्नस्य संसारस्य। **सायकम्**। स्यति नाशयतीति सायकः। ण्वुल् तृचौ। पा० ३। १। १३३। इति षो अन्तकर्मणि-ण्वुल्, युक् आगमः। शत्रूणां घातकं बाणं खड्गं वा। **मघवा**। मह्यते पूज्यतेऽसौ। श्वन्नुक्षन्पूषन्०। उ० १। १५६। इति मह पूजायाम्—कनिन्। निपातनात् हस्य घः, अवुक् आगमश्च। पूज्यः पुरुषः। **आ-अदत्त**। लङि-रूपम्। आङो दोऽनास्यविहरणे। पा० १। ३। २०। इत्यात्मनेपदम्। अगृह्णात्।

सामाजिक उन्नति करके अमर अर्थात् महाकीर्त्तिमान् हुये, इसी प्रकार सब स्त्री पुरुष जितेन्द्रिय होकर संसार में उन्नति करके कीर्त्ति पाकर अमर हों और आनन्द भोगें ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ६ ॥

१—५ ॥ अग्निर्देवता ॥ १—४, ५ परार्धस्त्रिष्टुप्, ५ पूर्वार्धोऽनुष्टुप् ॥

राजधर्मेण मनुष्यः प्रतापी तेजस्वी च भूयात्—राजनीति से मनुष्य प्रतापी और तेजस्वी होवे ॥

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या । सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥१॥

समाः । त्वा । अग्ने । ऋतवः । वर्धयन्तु । सम्-वत्सराः ऋषयः । यानि । सत्या । सम् । दिव्येन । दीदिहि । रोचनेन । विश्वाः । आ । भाहि । प्र-दिशः । चतस्रः ॥१॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्निवत् तेजस्वी विद्वान् ! (समाः) अनुकूल (ऋतवः) ऋतुयें और (संवत्सराः) वर्षें, और (ऋषयः) ऋषि लोग, और (यानि) जो (सत्या=सत्यानि तानि) सत्य कर्म हैं [वे सब] (त्वा) तुझ

स्वीकृतवान् । **एनम्** । समीपवर्तिनम् आत्मनि स्थितम् । **प्रथमजाम्** । अ० २ । १ । ४ । जन—विट् , आत्वं च । प्रथमेन प्रधानतया जातं प्रसिद्धम् । **अहीनाम्** । म० ५ । आहन्तॄणाम् असुराणां मध्ये । अन्यद् गत मस्मिन्नेव सूक्ते ॥

१—**समाः** । षम वैक्लव्ये-पचाद्यच् । अविषमाः । साधवः । अनुकूलाः । **अग्ने** ! हे ज्ञानिन् । अग्निवत्तेजस्विन् । कार्येषु व्यापनशील वा । **ऋतवः** ।

को (वर्धयन्तु) बढ़ावें। (दिव्येन) अपनी दिव्य वा मनोहर (रोचनेन) झलक से (सम्) भले प्रकार (दीदिहि) प्रकाशमान हो, और (विश्वाः) सब (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) महादिशाओं को (आभाहि) प्रकाशमान कर ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य बड़े प्रयत्न से अपने समय को यथावत् उपयोग से अनुकूल बनावें, ऋषि आप्त पुरुषों से मिल कर उत्तम शिक्षा प्राप्त करें, और सत्यसंकल्पी, सत्यवादी और सत्यकर्मी सदा रहें। इस प्रकार संसार में उन्नति करें और कीर्त्तिमान् होकर प्रसन्न चित्त रहें ॥१॥

मन्त्र १–५ यजु० अ० २७ मन्त्र १–३, ५, ६ हैं। और वहां इनके ऋषि अग्नि माने हैं ॥

सं चे॒ध्यस्वा॑ग्ने॒ प्र च॑ वर्धये॒ममु॒च्च॑ तिष्ठ मह॒ते सौभ॑गाय। मा ते॑ रिषन्नुपस॒त्तारो॑ अग्ने ब्र॒ह्माण॑स्ते य॒शस॑: सन्तु॒ मान्ये ॥ २ ॥

सम्। च। इ॒ध्यस्व॑। अग्ने॑। प्र। च॒। व॒र्ध॒य॒। इ॒मम्। उत्। च॒। ति॒ष्ठ॒। म॒ह॒ते। सौभ॑गाय। मा। ते॒। रि॒ष॒न्। उ॒प॒-स॒त्तार॑:। अग्ने॒। ब्र॒ह्माण॑:। ते॒। य॒शस॑:। स॒न्तु॒। मा। अ॒न्ये ॥२॥

भाषार्थ—(च) और (अग्ने) हे अग्निवत् तेजस्वी विद्वान्! (सम्) भले

अर्तेश्च तुः। उ० २। ७२। इति ऋ गतौ–तु, किच्च। वसन्तादिकालाः। **वर्धयन्तु**। समर्धयन्तु। **संवत्सराः**। सम्यग्वसन्ति भूतानि यत्र। सं पूर्वाच्चित्। उ० उ० २। ७२। इति सम्+वस निवासे– सरन्। चित्वादन्तोदात्तः। द्वादशमासात्मकाः कालाः। वर्षाः। **ऋषयः**। इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। इति ऋष गतौ दर्शने च–इन्, किच्च। ऋषति प्राप्नोति सर्वान् मन्त्रान्, ज्ञानेन पश्यति संसारं परमात्मनं च वा स ऋषिः। साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः–निरु० १। २०। ऋषिर्दर्शनात्–निरु० २। ११। साक्षात्कृतधर्माणः। आप्ताः। सन्मार्गदर्शकाः। **सत्या**। शेर्लोपः। सत्यानि। सत्यकर्माणि। **दिव्येन**। अ० २। १। २। छन्दसि च। पा० ६। १। ६७। इति दिव– य प्रत्ययः। मनोज्ञेन। **दीदिहि**। बहुलं छन्दसि पा० २। ४। ६। दिवु दीप्तौ–शपः श्लुः। तुजादीनां दीर्घो०। पा० ६।१।७। इत्यभ्यासस्य दीर्घः। दीव्य। दीप्यस्व। **रोचनेन**। रुच दीप्तौ भावे ल्युट्। दीप्त्या। प्रकाशेन। **भाहि**। भा दीप्तौ अन्तर्भावितण्यर्थः। भापय। दीपय। **प्रदिशः**। प्रकृष्टाः प्राच्याद्या महादिशाः॥

२–**इध्यस्व**। इन्धी दीप्तौ कर्मकर्तरि यकि। अनिदिताम्०। पा० ६।४।२४।

प्रकार (इध्यस्व) प्रकाशमान हो, (च) और (इमम्) इस समाज] को (प्र+वर्धय) समृद्ध कर, (च) और (महते) बहुत (सौभगाय) उत्तम ऐश्वर्य के लिये (उत्+तिष्ठ) उठकर खड़ा हो। (अग्ने) हे विद्वान् (ते) तेरे (उपसत्तारः) पास बैठने हारे [उपासक] (मा रिषन्) कभी दुःख न पावें, (ते) तेरे [समीपवर्त्ती] (ब्रह्माणः) वेद जानने वाले ब्राह्मण (यशसः=यशसाः) यशस्वी (सन्तु) होवें, और (अन्ये) दूसरे (मा=मा सन्तु) न होवें ॥२॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि ब्रह्मचर्य से आत्मरक्षा, प्रजारक्षा, शिल्पविद्या, युद्धविद्या आदि सामान्य और विशेष विद्याओं में निपुण होकर अपने सभासदों को निपुण करे, और विद्वानों का सत्कार और अविद्वानों का तिरस्कार करता हुआ सदा आनन्दयुक्त रहे ॥ २ ॥

यजुर्वेद में (वर्धय, इमम्) के स्थान में [बोधय एनम्] और (ते, रिषन्, उपसत्तारः) के स्थान में [च, रिषत् उपसत्ता] पाठ है ॥

त्वाम॑ग्ने वृणते ब्राह्म॒णा इ॒मे शि॒वो अ॑ग्ने सं॒वर॑णो भवा नः। सप॒त्न॒हाग्ने॑ अभिमाति॒जिद् भ॑व॒ स्वे गये॑ जागृ॒ह्यप्र॑युच्छन् ॥ ३ ॥

त्वाम्। अग्ने। वृणते। ब्राह्मणाः। इमे। शिवः। अग्ने। सम्ऽवरणः। भव। नः। सपत्नऽहा। अग्ने। अभिमातिऽजित्। भव। स्वे। गये। जागृहि। अप्रऽयुच्छन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्निवत् तेजस्वी राजन्! (इमे) ये (ब्राह्मणाः) वेदवेत्ता

इति न लोपः। इन्त्स्व। दीप्यस्व। **वर्धय**। समर्धय। **इमम्**। समीपस्थं जनम्। **उत्-तिष्ठ**। उत्साहवान् सन्नद्धो भव। **महते**। महि वृद्धौ, दीप्तौ-अति। विपुलाय। **सौभगाय**। भगः=धनम्-निघ० २। १०। सु+भग-भावे अण्। सुभगत्वाय। उत्तमैश्वर्याय। **मा रिषन्**। रिष हिंसायाम्। कर्मण्यर्थे। मा दुःखिता भवन्तु। **उपसत्तारः**। ण्वुल्तृचौ। पा० ३। १। १३३। इति उप+षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-तृच्। उपसदनशीलाः, उपासकाः। सेवकाः **ब्रह्माणः**। बृंहेर्नोऽच्च। उ० ४। १४६। इति बृहि वृद्धौ-मनिन्। नस्य अकारः। वेदवेत्तारः। ब्राह्मणाः। **यशसः**। अर्शआदिभ्योऽच्। पा० ५। २। १२७। इति यशस्-अच् मत्वर्थे। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। इत्येकवचनं बहुवचने। यशसाः। यशस्विनः॥

३—**वृणते**। वृञ् संभक्तौ। संभजन्ते। स्वीकुर्वन्ति। **ब्राह्मणाः**।

विद्वान् लोग (त्वा) तुझ को (वृणते) चुनते हैं, (अग्ने) हे तेजस्वी राजन्! (नः) हमारे (संवरणे) चुनाव में (शिवः) मंगलकारी (भव) हो। (अग्ने) हे तेजस्वी राजन्! (सपत्नाहा) वैरियों का नाश करने वाला और (अभिमातिजित्) अभिमानियों का जीतने वाला (भव) हो, और (स्वे) अपने (गये) सन्तान पर वा धन पर वा घर अर्थात् अधिकार में (अप्रयुच्छन) चूक न करता हुआ, (जागृहि) जागता रह ॥ ३ ॥

भावार्थ—वेदवेत्ता चतुर सभासद् ऐसे पुरुषार्थी विद्वान् को अपना राजा वा प्रधान बनावें कि जो सब दोषों और दुष्टों को मिटाकर अपने अधिकार को सावधान होकर चलावे, जिसमें सब राजा और प्रजा आनन्दयुक्त रहें ॥३॥

यजुर्वेद में (अग्ने अभिमातिजित् भव) के स्थान में [नः अभिमातिजित् च] पाठ है ॥ ३ ॥

क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व ।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥४॥

क्षत्रेण । अग्ने । स्वेन । सम् । रभस्व । मित्रेण । अग्ने । मित्र-धाः । यतस्व । स-जातानाम् । मध्यमे-स्थाः । राज्ञाम् । अग्ने । वि-हव्यः । दीदिहि । इह ॥ ४ ॥

भाषार्थ— (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् (स्वेन) अपने (क्षत्रेण) क्षत्रिय

ब्रह्म वेदः परमेश्वरो वा । ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५६ । इति ब्रह्म-अण् । वेदविदः । ब्रह्मज्ञानिनः । **शिवः** । सर्वनिघृष्वरिष्वलष्व-शिव० । उ० १ । १५३ । इति शीङ् शयने, अथवा शिञ् छेदने-वन् । निपातनात् साधुः । शेरते शुभगुणा यत्र, यद्वा, शिनोति छिनत्ति दुःखानि यः । मङ्गलकारी । **संवरणे** । सहवरणे । सम्यक् स्वीकरणे । **भवा** । भव । द्व्यचोऽतस्तिङः । पा० ६ । ३ । १३५ । इति दीर्घः । **सपत्नहा** । अ० १ । २९ । ५ । शत्रुहन्ता । **अभिमातिजित्** । अभि+मा माने कर्त्रि क्तिच्+जि क्विप्, तुक् च । अभिमानिनां जेता । **गये** । अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति गम्लृ वा गाङ् गतौ, वा गै गाने-यक् । गच्छति पितृवंशं गीयते वा । गयः=अपत्यम्—निघ० २ । २ । धनम्-निघ० २ । १० । गृहम्-निघ० ३ । ४ । अपत्ये । धने । गृहे, पदे, अधिकारे । **जागृहि** । प्रबुद्धो भव । **अप्रयुच्छन** । युच्छ प्रमादे-शतृ । अप्रमाद्यन् । सावधानो भवन् ॥

४-**क्षत्रेण** । गुधृवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यस्त्रः । उ० ४ । १६७ । इति क्षद

धर्म वा धन के साथ (संरभस्व) उत्साह कर, (अग्ने) हे तेजस्वी राजन्! (मित्रेण) मित्र वर्ग के साथ (मित्रधाः) मित्रों का पुष्ट करने वाला होकर (यतस्व) प्रयत्न कर। और (अग्ने) हे तेजस्वी राजन्! (सजातानाम्) तुल्य जन्म वालों के बीच (मध्यमेष्ठाः) पंचों में बैठने वाला, और (राज्ञाम्) क्षत्रियों के बीच में (विहव्यः) विशेष करके आवाहन योग्य होकर (इह) यहां पर (दीदिहि) प्रकाशमान हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—नीति कुशल राजा धर्म कार्यों में स्फूर्ति रक्खे, और हितकारियों के साथ हित करे और सदैव न्याययुक्त व्यवहार रक्खे, जिस से सब छोटे और बड़ों में प्रेम के साथ उसकी कीर्ति बढ़े ॥ ४ ॥

यजुर्वेद अध्याय २७ म० ५। में ऐसा पाठ है।

क्ष॒त्रेणा॑ग्ने॒ स्वायुः॒ स॑ꣳरभस्व मि॒त्रेणा॑ग्ने मित्र॒धेये॑ यतस्व।
स॒जा॒ता॒नां म॑ध्यम॒स्था ए॑धि॒ राज्ञा॑मग्ने विह॒व्यो॑ दीदिही॒ह ॥

(अग्ने) हे अग्नि के तुल्य तेजस्विन् विद्वन्! (क्षत्रेण) राज्य वा धन के साथ (स्वायुः=सु-आयुः) सुन्दर जीवन (सम् रभस्व) अच्छे प्रकार आरम्भ कर। (अग्ने) हे तेजस्विन्! (मित्रेण) मित्र वर्ग के साथ (मित्रधेये) मित्रों के धारण करने में (यतस्व) यत्न कर। (सजातानाम्) समान अवस्था वालों में (मध्यमस्थाः) मध्यस्थ (एधि) हो, (अग्ने) हे न्याय प्रकाशक! (राज्ञाम्) राजाओं के बीच (विहव्यः+सन्) विशेषकर बुलाने योग्य होकर (इह) यहां पर (दीदिहि) प्रकाशित हो ॥

गतिहिंसनयोः, रक्षणे, च-अप्रत्ययः। बलेन, क्षत्रियत्वेन। धनेन-निघ० २। १०। **अग्ने**। तेजस्विन् विद्वन्। **सम्-रभस्व**। रभ राभस्ये=उत्सुकीभावे। संरम्भं उत्साहं कुरु। **मित्रेण**। सुहृद्गणेन। **मित्रधाः**। मित्र+धाञ्-विच्। मित्राणां पोषकः सन्। **यतस्व**। यती प्रयत्ने। प्रयत्नं कुरु॥ **सजातानाम्**। समानजन्मनाम्। तुल्यावस्थानाम्। **मध्यमेष्ठाः**। मध्ये भवो मध्यमः। मध्यान्मः पा० ४। ३। ८। इति मध्य-म। ष्ठा गति निवृत्तौ-विच्। वा किप्। तत्पुरुषे कृति बहुलम्। पा० ६। ३। १४। इत्यलुक्। सुषामादिषु च। पा० ८। ३। ६८ इति षत्वम्। मध्यमेषु न्यायकारिषु प्रधानेषु स्थितः। **राज्ञाम्**। ईश्वराणां क्षत्रियाणां मध्ये। **विहव्यः**। ह्वः सम्प्रसारणं च न्यभ्युपविषु। पा० ३। ३। ७२। इति ह्वेञ् आह्वाने अप् संप्रसारणं च। ततः। भवे छन्दसि। पा० ४। ४। ११०। इति यत्। विविधमाह्वानेभ्यः। **दीदिहि**। म० १। दीप्यस्व। **इह**। अत्र॥

अति॒ निहो॒ अति॒ स्रुधो॒ऽत्यचि॑त्ती॒रति॒ द्विषः॑ । विश्वा॒ ह्य॑ग्ने दु॒रि॒ता त॑र॒ त्वमथा॒स्मभ्यं॑ स॒हवी॑रं र॒यिं दाः॥५॥

अति॑ । निहः॑ । अति॑ । स्रुधः॑ । अति॑ । अचि॑त्तीः । अति॑ । द्विषः॑ । विश्वा॑ । हि । अ॒ग्ने॒ । दुः॒-इ॒ता । त॒र॒ । त्वम् । अथ॑ । अ॒स्मभ्य॑म् । स॒ह-वी॑रम् । र॒यिम् । दा॒ः ॥५॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे तेजस्वी राजन्! [(अति) अत्यन्त (निहः) शत्रुनाशक शूर होकर। अथवा] (निहः) नीच गति वालों को (अति=अतीत्य) लांघकर, (स्रुधः) हिंसकों को (अति) लांघकर, (अचित्तीः) पापबुद्धि प्रजाओं को (अति) लांघ कर, और (द्विषः) द्वेष करने वालों का (अति) तिरस्कार करके, (त्वम्) तू (हि) ही (विश्वा=विश्वानि) सब (दुरिता=०-तानि) संकटों को (तर) पारकर, (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमें (सहवीरम्) वीर पुरुषों के सहित (रयिम्) धन (दाः) दे ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा सावधानी से प्रजा के सब क्लेशों को हरे, और ऐसा प्रयत्न करे कि प्रजा के सब पुरुष उत्साही, शूर, वीर और धनाढ्य हों ॥ ५ ॥

२—इस मन्त्र का पाठ यजुर्वेद २७ । ६ । में ऐसा है।

अति॒ निहो॒ अति॒ स्रिधो॒ऽत्यचि॑त्ति॒मत्यरा॑तिमग्ने। विश्वा॒ ह्य॑ग्ने दु॒रि॒ता सह॒स्वाथा॒स्मभ्य॑ꣳ स॒हवी॑रा॒ꣳ र॒यिं दाः ॥१॥

(अग्ने) हे तेजस्वि राजन्! (अति निहः) अत्यन्त शूर होकर (स्रिधः) दुष्टों को (अति) हटाकर, (अचित्तिम्) अज्ञान को (अति) हटाकर, (अरातिम्)

५—अति । अतिशयेन। निहः । निहन्तीहि निहः। नि+हन—ड। शत्रुहन्ता। शूरः सन्। अग्नेर्विशेषणम्। अथवा। अति । अतीत्य। अतिक्रम्य। निहः । नि+ओहाङ् गतौ-क्विप्। आतो धातोः। पा० ६। ४। १४०। इति शसि आकारलोपः । निकृष्टगतीन् दुष्टान् । स्रुधः । स्रुध स्रिध वा शोषणे कुत्सितकर्मणि वा-क्विप्। छान्दसो धातुः। देहशोषकान्। कुत्सिताचारान्। अचित्तीः । अ+चित संचेतने-क्तिन् । अशोभनबुद्धीः । शत्रुसेनाः ।

कंजूसपन को (अति) हटाकर (विश्वा दुरतानि) सब विघ्नों को (सहस्व) दबादे, (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमें (सहवीराम्) वीरों से युक्त सेना और (रयिम्) धन (दाः) दे ॥

१—(सुधः) के स्थान पर सायणभाष्य में (स्रधः) पद है ॥

सूक्तम् ७॥

१-५॥ ईश्वरो देवता। अनुष्टुप् छन्दः।

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत् सर्वान् मच्छपथाँ अधि ॥१॥

अघ-द्विष्टा । देव-जाता । वीरुत् । शपथ-योपनी । आपः । मलम्-इव । प्र । अनैक्षीत् । सर्वान् । मत् । शपथान् । अधि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अघद्विष्टा) पाप में द्वेष [अप्रीति] करने वाली (देवजाता) विद्वानों में प्रसिद्ध (वीरुत्) ओषधि [ओषधि के समान फैली हुयी ईश्वर शक्ति] (शपथयोपनी) शाप [क्रोध वचन को] हटाने वाली है ।

अज्ञानानि। **द्विषः** । द्विष-क्विप्। अप्रीतिकरान्। द्वेष्टॄन्। **विश्वा** । विश्वानि सर्वाणि। **दुरिता** । दुर् दुष्टमितं गमनमनेन। दुर्+इण् गतौ-भावे क्त। पापानि। संकटानि। **तर** । तॄ तरणे, अभिभवे। अभिभव। **सहवीरम्** । तेन सहेति तुल्ययोगे। पा० ६। ३। २८ इति तुल्यक्रियायोगे बहुव्रीहिः। वोपसर्जनस्य। पा० ६। ३। ८२। इति सहस्य सभावो विकल्पत्वात् न प्रवर्त्तते। वीरैः सहितम्। **रयिम्** । अ० १। १५। २। रीङ् गतौ-इप्रत्ययः। धनम्-निघ० । २। १०। **दाः** । डुदाञ् विधिलिङि छान्दसं रूपम्। त्वं दद्याः ॥

१—**अघद्विष्टा** । अघ+द्विष अप्रीतौ—क्त। अघं पापं द्विष्टं तिरस्कृतं यया सा। पापद्वेषिणी। **देवजाता** । देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धा **वीरुत्** । अ० १। ३२। १। वीरुध ओषधयो भवन्ति विरोहणात्-निरु० ६। ३। विरोहणशीला। ओषधिः। लता। **शपथयोपनी** । शीङ्शपिरुगमि०। उ०। ३। ११।

उस ने (मत् अधि) मुझ से (सर्वान्) सब (शपथान्) शापों [कुवचनों] को (प्र+अनैक्षीत्) धो डाला है, (इव) जैसे (आपः) जल (मलम्) मल को ॥१॥

भावार्थ—जैसे उत्तम ओषधि से शरीर के रोग मिट जाते, और जल से मलीन वस्त्र आदि शुद्ध होते हैं, वैसे ही पापी कुक्रोधी मनुष्य भी ब्रह्मज्ञान द्वारा पापों से छूट कर शुद्धात्मा हो जाते और ईश्वर के उपकारों को विचार कर उपकारी बनते और सदा आनन्द भोगते हैं ॥१॥

यश्चं साप॒त्नः श॒पथो॑ जा॒म्याः श॒पथ॑श्च॒ यः।
ब्र॒ह्मा यन्म॑न्यु॒तः शपा॑त् सर्वं॒ तन्नो॑ अध॒स्पदम् ॥२॥

यः। च॒। सा॒प॒त्नः। श॒पथः। जा॒म्याः। श॒पथः। च॒। यः। ब्र॒ह्मा। यत्। म॒न्यु॒तः। शपा॑त्। सर्वम्। तत्। नः॒। अ॒धः॒ऽप॒दम् ॥२॥

भाषार्थ—(च) और (यः) जो (सापत्नः) वैरियों का किया हुआ (शपथः) शाप [क्रोधवचन], (च) और (यः) जो (जाम्याः) कुल स्त्री का (शपथः) शाप है, और (ब्रह्मा) वेदवेत्ता ब्राह्मण (मन्युतः) क्रोध से

इति शप आक्रोशे-अथ । युप विमोहने-करणे ल्युट्। शापस्य क्रोधवचनस्य फलस्य विमोहनी निवारयित्री। **आपः** । जलानि। **मलम्** । मृज्यते शोध्यते यत्। मृजेष्टिलोपश्च। उ० १। ११०। इति मृज शोधने-अलच् टिलोपश्च। ङीप्। किट्टम्। स्वेदपङ्कादिकम्। पापम्। **प्र+अनैक्षीत्** । णिजिर् शौचपोषणयोः-छान्दसे लुङि रूपम्। प्रकर्षेण अक्षालीत्। **मत्** । मत्तः ॥

२—**सापत्नः** । धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति सह+पत गतौ, ऐश्ये च-न प्रत्ययः, सहस्य सः। ततः सम्बन्धे-अण्। सपत्नसम्बन्धी। शात्रवः। **शपथः** । म० १। आक्रोशः। क्रोधवचनम्। **जाम्याः** । निवो मिः। उ० ४। ४३। इति या गतौ-मि प्रत्ययः, यकारस्य जकारः। याति कार्याणि सा जामिः स्वसा कुलस्त्री वा। अथवा। वसिवपियजि०। उ० ४। १२५। इति जम भक्षणे गतौ च-इञ्, अथवा। जन-इञ्। जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यं जमतेर्वा स्याद् गतिकमर्णः-नि० ३। ६। जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वासमानजातीयस्य

(यत्) जो कुछ (शापात्) शाप दे [क्रोध बचन कहे], (तत्) वह (सर्वम्) सब (नः) हमारे (अधस्पदम्) उद्योग के नीचे रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—यदि हम से कोई वेद विरुद्ध खोटा कर्म हो जावे, जिस से हमारे शत्रु, हमारी स्त्रियां, हमारे ब्राह्मणादि विद्वान् लोग क्रुद्ध हों, तब हम पूरा पूरा प्रयत्न करें कि हमारे शिष्टाचार और वैदिक कर्म से शापमोचन हो जावे, अर्थात् वे सब हम से पूर्ववत् फिर प्रीति करने लगें ॥२॥

दिवो मूलमवंततं पृथिव्या अध्युत्त॑तम् ।
तेनं सहस्रंकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ॥ ३ ॥

दिवः । मूलम् । अव-ततम् । पृथिव्याः । अधि । उत्-ततम् ।
तेन । सहस्र-काण्डेन । परि । नः । पाहि । विश्वतः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जो (मूलम्) मूल [तत्वज्ञान] (दिवः) सूर्यलोक से (अवततम्) नीचे को फैला हुआ है, और जो (पृथिव्याः अधि) पृथिवी पर से (उत्ततम्) ऊपर को फैला है। [हे ईश्वर !] (तेन) उस (सहस्रकाण्डेन) सहस्रों शाखा वाले [तत्वज्ञान] के द्वारा (विश्वतः) सब प्रकार से (नः) हमारी (परि) सब ओर (पाहि) रक्षा कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—सूर्य द्वारा वृष्टि, प्रकाश आदि भूमि पर आते, और भूमि से जल सूर्यलोक वा मेघमण्डल में जाता, और सब छोटे बड़े लोक परस्पर आकर्षण

वोपजनः-निरु० ४ । २० । बालिशस्य मूर्खस्य, अथवा असमानजातीयस्य असपिण्डस्य । ब्रह्मा । अ० २ । ६ । २ । वेदवेत्ता । ब्राह्मणः । मन्युतः । पञ्चम्यास्तसिल् । पा० ५ । ३ । ७ । इति तसिल् । क्रोधात् । नः । अस्माकम् । अधस्प..म् । अधःशिरसी पदे । पा० ८ । ३ । ४७ । इति विसर्गस्य सत्वम् । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति पद स्थैर्ये, गत्यां च-अच् । पदम् = व्यवसायः, पादः, चिह्नम्-इति शब्दकल्पद्रुमे । पदस्य व्यवसायस्य उद्योगस्य अधस्तात् अधोभागे, असमर्थं भवतु ॥

३—दिवः । द्युलोकात् । सूर्यमण्डलात् । मूलम् । मवते बध्नातीति । मूशक्यविभ्यः क्लः । उ० ४ । १०८ । इति मूङ् बन्धने-क्ल । अथवा । मूल प्रतिष्ठायां रापणे

और धारण रखते हैं। इसी प्रकार ईश्वरीय अनन्त नियमों को देख कर सब प्रजागण राज नियमों में चल कर परस्पर उपकार करें॥

परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद् धनम्।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः॥ ४॥

परि। माम्। परि। मे। प्र-जाम्। परि। नः। पाहि। यत्। धनम्। अरातिः। नः। मा। तारीत्। मा। नः। तारिषुः। अभि-मातयः॥ ४॥

भाषार्थ—(माम्) मेरी (परि=परितः) सब प्रकार, (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा [पुत्र, पौत्र, भृत्य आदि] की (परि) सबप्रकार और (नः) हमारा (यत्) जो (धनम्) धन है [उसकी भी] (परि) सब प्रकार (पाहि) तू रक्षा कर। (अरातिः) कोई अदानी, कंजूस, पुरुष (नः) हमें (मा तारीत्) न दबावे, और (अभिमातयः) अभिमानी लोग भी (नः) हमें (मा तारिषुः) न दबावें॥ ४॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मरक्षा, प्रजारक्षा, और धनरक्षा करके दुष्टों को न्याययुक्त दण्ड देकर सदा आनन्द से रहें॥ ४॥

षा-क। आविष्कारणम्। तत्त्वज्ञानम्। **अवततम्**। अव+तनु विस्तारे-क्त। अधोमुखं प्रसृतम्। **अधि**। उपरि। **उत्ततम्**। उत्+तनु-क्त। ऊर्ध्वम् ऊन्नत [illegible]। **सहस्रकाण्डेन**। कादिभ्यः कित्। उ० १। ११५। इति कण शब्दे गतौ च-ड, डस्य नेत्वम्। अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति। पा० ६।४। १५। इति दीर्घः। अपरिमितपर्वयुक्तेन। **विश्वतः**। भीत्रार्थानां भयहेतुः। पा० १। ४। २५। इत्यपादानसंज्ञायाम्। पञ्चम्यास्तसिल्। पा० ५। ३। ७। इति तसिल्। सर्वस्मात् कष्टात्॥

४—**प्रजाम्**। प्रजायते सा प्रजा। उपसर्गे च संज्ञायाम्। पा० ३। २। ९९। प्र+जन जनने-ड। पुत्रपौत्रभृत्यादिसन्ततिम्। जनम्। **अरातिः**। अ० १। १८। १। अदानशीलम्। कृपणम्। शत्रुम्। **नः**। अस्मान्। **मा तारीत्**। तॄ तरणे, अभिभवे-लुङ्। न माङ्योगे। पा० ६। ४। ७४। इत्यडभावः। माभिभवतु। मातिक्रामतु। **मा तारिषुः**। लुङि पूर्ववद् अडभावः। मा हिंसन्तु। **अभिमातयः**। अ० २। ६। ३। अभिमानिनो जनाः। शत्रवः॥

शुप्तारमेतु शुपथो यः सुहार्त् तेन नः सह ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥ ५ ॥

शुप्तारम् । एतु । शुपथः । यः । सु-हार्त् । तेन । नः । सह ।
चक्षुः-मन्त्रस्य । दुः-हार्दः । पृष्टीः । अपि । शृणीमसि ॥५॥

भाषार्थ—(शपथः) [हमारा] क्रोधवचन (शप्तारम्) कुवचन बोलने वाले को (एतु) प्राप्त हो, और (यः) जो (सुहार्त्) अनुकूल हृदय वाला [शुभचिन्तक] है, (तेन) उस [मित्र] के साथ (नः) हमारा (सह = सह-वासः) सहवास हो । (चक्षुर्मन्त्रस्य) आंख से गुप्त बात करने वाले, (दुर्हार्दः) दुष्टहृदय वाले पुरुष की (पृष्टीः) पसलियों को (अपि) ही (शृणीमसि = ०-मः) हम तोड़ डालें ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा को उचित है कि निन्दकों पर क्रोध और शुभचिन्तक सत्पुरुषों का आदर करे, और जो अनिष्टचिन्तक कपटी छली हों उनको भी दण्ड देता रहे ॥ ५ ॥

(चक्षुर्मन्त्रस्य) समासान्त पद को पद पाठ के विरुद्ध सायणाचार्य ने [मन्त्रस्य चक्षुः] दो पद मान कर व्याख्या की है वह असाधु है । यह समस्त पद (दुर्हार्दः) पद का विशेषण है । इसका प्रयोग अ० १६ । ४५ । १ । में इस प्रकार है ।

५—शप्तारम् । शापकर्तारम् । अनीत्या कटुवक्तारम् । **एतु** । गच्छतु । प्राप्नोतु । **शपथः** । म० २ । आक्रोशः । क्रोधवचनम् । **सुहार्त्** । हार्दम् आनुकूल्यं करोति हार्दयतीति । हार्दयतेः क्विपि णिलोपे रूपम् । शोभनहृदयः । सुमनस्कः । अनुकूलकारी । **तेन** । पूर्वोक्तेन सुहृदयेन मित्रेण । **सह** । षह क्षमायाम्-अच् । संयोगः । सम्बन्धः । **चक्षुर्मन्त्रस्य** । चक्षेः शिच्च । उ० २ । ११६ । इति चक्षिङ् कथने दर्शने च-उसि । शित्त्वात् ख्याञादेशाभावः । मत्रि गुप्तभाषणे-अच् घञ् वा । चक्षुषा नेत्रेण मन्त्रो गुप्तभाषणं परामर्शो यस्य तस्य । नेत्रसङ्केतेन विचारशीलस्य पिशुनस्य । **दुर्हार्दः** । सुहार्त् शब्दवद् व्युत्पत्तिः । दुष्टहृदयस्य । क्रूरपुरुषस्य । **पृष्टीः** । क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ ।

चक्षु॑र्मन्त्रस्य दु॒र्हार्दः पृ॒ष्टीर॑पि शृणाञ्जन ॥ (अञ्जन) हे आंख खोल देने वाले ! तू आंख से गुप्त बात करने वाले दुष्टहृदय वाले की पसलियां ही (शृण) तोड़ दे ॥

सूक्तम् ८ ॥

१—५ ॥ ब्रह्म देवता । १, २, ४ अनुष्टुप् , ३, ५ पंक्तिः ॥

पौरुषमुपदिश्यते-पौरुष का उपदेश किया जाता है ॥

उद॑गातां भग॑वती वि॒चृतौ॒ नाम॒ तार॑के ॥

वि क्ष॑त्रि॒यस्य॑ मु॒ञ्चताम॒धमं पाश॑मु॒त्त॒मम् ॥ १ ॥

उत् । अ॒गा॒ता॒म् । भग॑वती॒ इति॒ भग॑-वती । वि॒-चृतौ॑ । नाम॑ । तार॑के॒ इति॑ । वि । क्ष॒त्रि॒यस्य॑ । मु॒ञ्च॒ता॒म् । अ॒ध॒मम् । पाश॑म् । उ॒त्-त॒मम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(भगवती=०—त्यौ) दो ऐश्वर्य वाले (विचृतौ) [अन्धकार से] छुड़ाने हारे (नाम) प्रसिद्ध (तारके) तारे [सूर्य और चन्द्रमा]

१७४। इति पृषु सेचने-क्तिच्। पर्शुस्थीनि । पार्श्वावयवान्। **शृणीमसि** । शॄ हिंसायाम्। इदन्तो मसिः। पा० ७। १। ४६। इति इकारः। शृणीमः। विनाशयामः ॥

१—**उदगाताम्** । उत्+इण् गतौ-लुङ्। इणो गा लुङि। पा० २।४।४५। इति गादेशः। उदितेऽभूताम्। **भगवती** । तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् पा० ५। २। ९४। इति भग-मतुप् नित्ययोगे। मस्य वः। ततो ङीप्। सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा०। पा० ७। १। ३९। इति पूर्वसवर्णदीर्घः। भगवत्यौ। ऐश्वर्यवत्यौ। पूज्ये। **विचृतौ**। वि+चृती हिंसाग्रन्थनयोः-क्विप्। अन्धकाराद् विमोचयित्र्यौ। **नाम**। प्रसिद्धे। **तारके**। तरति तारयति वान्धकारात् तारका। तॄ-णिच्-ण्वुल्। टाप्। तारका ज्योतिषि। वा० पा० ७। ३। ४५। इति न अत इत्वम्। द्वे नक्षत्रे। ज्योतिषी। सूर्यचन्द्रौ। **क्षत्रियस्य**।

(उद्गाताम्) उदय हुये हैं। वे दोनों (क्षेत्रियस्य) शरीर वा वंश के दोष वा रोग के (अधमम्) नीचे और (उत्तमम्) ऊंचे (पाशम्) पाश को (वि+मुञ्चताम्) छुड़ा देवें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य और चन्द्रमा संसार में उदय होकर अपने ऊपर और नीचे के अन्धकार का नाश करके प्रकाश करते हैं, इसी प्रकार मनुष्य अपने छोटे और बड़े मानसिक, शारीरिक और वांशिक रोगों तथा दोषों को निवृत्त करके स्वस्थ और प्रतापी हों ॥ १ ॥

अपे॒यं रात्र्यु॑च्छ॒त्वपो॑च्छन्त्वभि॒कृत्व॑रीः ।
वी॒रुत् क्षे॑त्रिय॒नाश॒न्यप॑ क्षेत्रि॒यमु॑च्छतु ॥ २ ॥

इ॒यम् । रात्री॑ । उ॒च्छ॒तु । अप॑ । उ॒च्छ॒न्तु । अ॒भि॒-कृत्व॑रीः ।
वी॒रुत् । क्षे॒त्रि॒य॒-नाश॑नी । अप॑ । क्षे॒त्रि॒यम् । उ॒च्छ॒तु ॥२॥

भाषार्थ—(इयम्) यह (रात्री) रात (अप+उच्छतु) नष्ट हो जावे, (अभि-कृत्वरीः = ०—त्वर्यः) कतरने वाली वा हिंसाशील [कुवासनायें]

क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः । पा० ५ । २ । ६२ । इति क्षेत्रियशब्दो निपात्यते परक्षेत्रे चिकित्स्य इत्यर्थे । यद्वा । क्षेत्र-घच् प्रत्ययः । परस्मिन् पुत्रपौत्रादिकस्य शरीरे प्रतीकार्यस्य महाप्रचण्डस्य रोगस्य । यद्वा । क्षेत्रे स्वीकीये देहे वंशे वा जातस्य रोगस्य दोषस्य वा । **विमुञ्चताम्** । मुचेर्लोटि । शे मुचादीनाम् । पा० ७ । १ । ५९ । इति नुम् । विमोचयताम् । **अधमम्** । अधरशरीरस्थितम् **उत्तमम्** । ऊर्ध्वभागे स्थितम् । **पाशम्** । पश बन्धे ग्रन्थे वा-घञ् । बन्धनम् । ग्रन्थिम् ॥

२—**इयम्** । पुरोवर्त्तिनी । **रात्री** । अ० १ । १६ । १ । रा दाने-त्रिप् । रात्रेश्चाजसौ । पा० ४ । १ । ३१ । इति ङीप् । निशा । रात्रिरूपोऽन्धकारः । **अप+उच्छतु** । उच्छी विवासे = समाप्तौ, अकर्मकः, वर्जने, सक० । समाप्ता भवतु । विनश्यतु । **अप+उच्छन्तु** । दूरे गच्छन्तु । **अभिकृत्वरीः** । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति अभि + कृञ् हिंसायाम्, यद्वा, डुकृञ्

(अप+उच्छन्तु) निकल जावें । (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को नाश करने वाली (वीरुत्) ओषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे रात्रि के समाप्त होने पर आलस्य आदि का नाश होना, और जैसे ओषध से शरीर रोग निवृत्त होता है, वैसे ही मनुष्यों को अपने और अपने वंश के अज्ञान का नाश करके ज्ञान के प्रकाश में आनन्दित रहना चाहिये ॥ २ ॥

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिल-पिञ्ज्या । वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ३ ॥

बभ्रोः । अर्जुन-काण्डस्य । यवस्य । ते । पलाल्या । तिलस्य । तिल-पिञ्ज्या । वीरुत् । क्षेत्रिय-नाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] (ते) तेरे [दिये] (बभ्रोः) पोषण करने वाले, (अर्जुनकाण्डस्य) श्वेत स्तम्भ [डांठा] वाले (यवस्य) यव अन्न की (पलाल्या)

करणे—क्वनिप् , तुगागमः । यद्वा । कृती छेदने-क्वनिप् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । ङीब्रेफौ । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसः पूर्वसवर्ण-दीर्घः । व्यभिचारशीलाः कर्तनशीलाः कुवासनाः **वीरुत्** । अ० २ । ७ । १ । ओषधिः । लता । **क्षेत्रियनाशनी** । म० १ । स्वकीये शरीरे वंशे वा जातस्य दोषस्य नाशयित्री । **क्षेत्रियम** । म० १ । शरीरस्थं दोषम् । **अप+उच्छतु** । सर्वथा वर्जयतु नाशयतु ॥

३—**बभ्रोः** । कुर्भ्रश्च । उ० १ । २२ । इति भृञ् धारणपोषणयोः-कु, द्वित्वं च । बिभर्ति भरति वा बभ्रुः । पोषकस्य । **अर्जुनकाण्डस्य** । अर्जेर्णिलुक् च । उ० ३ । ५८ । इति अर्ज उपार्जने=अलब्धसम्पादने-उनन् । अर्जुनम्=रूपम्-निघ० ३ । ७ । ततः कादिभ्यः कित् । उ० १ । ११५ । इति कण शब्दे गतौ च-ड । डस्य इत्वं न । अनुनासिकस्य क्वि० । पा० ६ । ४ । १५ । इति दीर्घः । श्वेतस्तम्भस्य । परिपक्वस्य नवीनस्य चेति यावत् । **यवस्य** । यूयते

पालन शक्ति से और (तिलस्य) तिल की (तिलपिञ्ज्या) चिकनाई से (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के रोग नाश करने वाली (वीरुत्) ओषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे परिपक्व और नवीन यव, तिल आदि पदार्थों के यथावत् उपयोग से और औषधों के सेवन से शारीरिक बल स्थिर रहता है, वैसे ही मनुष्य उत्तम विद्या के प्रकाश से आत्मिक दोषों की निवृत्ति करके आनन्द प्राप्त करें ॥ ३ ॥

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ४ ॥

नमः । ते । लाङ्गलेभ्यः । नमः । ईषा-युगेभ्यः । वीरुत् । क्षेत्रिय-नाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] (लाङ्गलेभ्यः) हलों [की दृढ़ता] के लिये (नमः ते=नमस्ते) तुझे नमस्कार है, और (ईषायुगेभ्यः) हरस [हल की लंबी लकड़ी] और जूओं [की दृढ़ता] के लिये (नमः) नमस्कार है।

बलेन । यु मिश्रणे-अप् । स्वनामख्यातधान्यस्य । धान्यराजस्य । **ते** । तव । ईश्वरदत्तस्य । **पलाल्या** । तमिविशिविडिमृणिकुलिकपिपलिपञ्चिभ्यः कालन् । उ० १ । ११८ । इति पल रक्षणे-कालन् । ङीप् । पालयतीति पलाली । पालनशक्त्या । **तिलस्य** । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति तिल गतौ, स्निग्धीभावे च-क । स्वनामख्यातशस्यस्य । होमधान्यस्य । **तिलपिञ्ज्या** । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति पिजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु-इन् । तिलस्य स्नेहशक्त्या । अन्यद् गतम् ॥

४—नमस्ते । नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च । पा० ३ । २ । १६ । इति चतुर्थी । तुभ्यं नमस्कारः । **लाङ्गलेभ्यः** । लङ्गेर्वृद्धिश्च । उ० १ । १०८ इति लगि गतौ-कलच्, वृद्धिश्च । लङ्गन्ति प्राप्नुवन्ति, अन्नादिकं येन तल्लाङ्गलम् । हलानां हिताय दृढत्वाय । **ईषायुगेभ्यः** । ईष गतिहिंसादर्शनेषु-क । टाप् ।

(क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के दोष वा रोग की नाश करने वाली (वीरुत्) ओषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे किसान लोग हल आदि उपयोगी और दृढ़ सामग्री के प्रयोग से अन्न उत्पन्न करते हैं, वैसे ही सब मनुष्य परमेश्वर के नियमों को साक्षात् करके उद्योग के साथ प्रयत्न से शरीर और अन्तःकरण की दृढ़ता करके उपकारी बनें और सदा आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्येभ्यः । नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

नमः । सनिस्रस-अक्षेभ्यः । नमः । सम्-देश्येभ्यः । नमः । क्षेत्रस्य । पतये । वीरुत् । क्षेत्रिय-नाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥५॥

भाषार्थ—(सनिस्रसाक्षेभ्यः) डबडबाती हुई आंखें वालों [रोगों से पीड़ित दीनों] के लिये (नमः) अन्न हो, और (संदेश्येभ्यः) यथार्थ दानशीलों के लिये (नमः) अन्न हो। (क्षेत्रस्य) खेत के (पतये) स्वामी के लिये (नमः) अन्न हो। (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के रोग की नाश करने वाली (वीरुत्) औषध (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥ ५ ॥

ईषा लाङ्गलदण्डः । उञ्छादीनां च । पा० ६ । १ । १६० । इति युज योगे-घञ्, अगुणत्वं निपात्यते । युज्येते बलीवर्दौ अस्मिन्निति युगो युगं वा रथहलाद्यङ्गम् । ईषाश्च युगानि च तेभ्यः । हलस्य दण्डयुगानां दृढ़त्वाय । अन्यद् गतम् ॥

५—**नमः** । णमु प्रह्वत्वे-असुन् । अन्नम्-निघ० २ । ७ । **सनिस्रसाक्षेभ्यः** । स्रंसु गतौ-यङ्न्ताद् घञ्, अतोलोपयलोपौ । नीग्वञ्चुस्रंसुध्वंसु० । पा० ७ । ४ । ८४ । इति नीग् आगमः । छान्दसो ह्रस्वः । सनीस्रस्यते-इति सनीस्रसम् । सनीस्रसानि सनीस्रस्यमानानि अतिशयेन विशीर्यमाणानि अक्षाणि, नेत्राणि येषां तेभ्यस्तथाभूतेभ्यः । कुष्ठादिरोगेण पीड़ितनेत्रेभ्यो दीनेभ्यः ।

भावार्थ—सब मनुष्य ऐसा सुप्रबन्ध करें कि दीन दुःखियों का यथावत् पालन हो, उद्योगी दानी पुरुष और किसान लोग अन्न आदि प्राप्त करें। और जैसे परमेश्वर ने औषध आदि उत्पन्न करके उपकार किया है, उसी प्रकार सब को परस्पर उपकारी बनना चाहिये ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(संदेश्येभ्यः) पद के स्थान पर सायणभाष्य में [संदेशेभ्यः] की व्याख्या है ॥

सूक्तम् ८ ॥

१—५ ॥ ईश्वरो देवता ॥ १, पूर्वार्धो द्विपदा त्रिष्टुप्, उत्तरार्धो द्विपदाऽनुष्टुप्, २—५ अनुष्टुप् ॥

मनुष्य आत्मानमुन्नयेत्-मनुष्य अपने को ऊंचा करे ॥

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु। अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥ १ ॥

दश-वृक्ष । मुञ्च । इमम् । रक्षसः । ग्राह्याः । अधि । या । एनम् । जग्राह । पर्व-सु । अथो इति । एनम् । वनस्पते । जीवानाम् । लोकम् । उत् । नय ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दशवृक्ष) हे प्रकाश वाले वा दर्शनीय विद्वानों के क्लेश काटने वाले वा स्वीकार करने वाले, अथवा, हे दस दिशाओं में सेवनीय परमेश्वर !

संदेश्येभ्यः । सम्+दिश दाने आज्ञापने च-घञ्। सन्देशः सम्यग्दानम्। तत्र साधुः। पा० ४। ४। ९८। इति यत्। यथाशास्त्रं दानकुशलानां हिताय। **क्षेत्रस्य** । दादिभ्यश्छन्दसि। उ० ४। १७०। इति क्षि ऐश्वर्यक्षयनिवासगतिषु ष्ट्रन्। क्षयति ऐश्वर्यहेतुर्भवति। अथवा। नाशयति दरिद्रतामिति क्षेत्रम्। शस्योत्पत्तिस्थानस्य। केदारस्य। देहस्य। **पतये** । पा रक्षणे-डति। रक्षकाय। स्वामिने। शिष्टं व्याख्यातम् ॥

१—**दशवृक्ष** । कनिन् युवृषितक्षिराजि०। उ० १। १५६। इति दश दशि दीप्तौ, दर्शने, दंशने च-कनिन्, पदो नकारलोपः। स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्।

(इमम्) इस पुरुष को (रक्षसः) राक्षस [दुष्ट अज्ञान] की (ग्राह्याः) जकड़ने वाली पीड़ा [गठिया रोग] से (अधि) सर्वथा (मुञ्च=मोचय) छुड़ादे, (या) जिस [पीड़ा] ने (एनम्) इस [पुरुष] को (पर्वसु) सब जोड़ों में (जग्राह) पकड़ लिया है। (अथो) और (वनस्पते) हे वननीय, सेवनीय सत्पुरुषों के पति [रक्षक]! (एनम) इस [पुरुष] को (जीवानाम्) जीवधारियों के (लोकम्) संसार में (उन्नय) ऊंचा उठा ॥ १ ॥

भवार्थ—सब चर और अचर के सेवनीय और सत्पुरुषों के रक्षक परमेश्वर के उपकारों पर दृष्टि करके मनुष्य अपने शारीरिक और मानसिक क्लेशों और विघ्नों को हटाकर सदा अपनी उन्नति करे ॥ १ ॥

१—सायणभाष्य में (दशवृक्ष) पद का अर्थ—"पलाश, उदुम्बर आदि दश वृक्षों के खंडों से बनाई हुई मणि"—किया है ॥

२—ऐसा ही प्रयोग अथर्ववेद ३। ११। १। में आया है।

ग्राहि॒र्ज॒ग्राह॒ यद्ये॒तदे॑नं॒ तस्या॑ इन्द्राग्नी॒ प्र मु॑मुक्तमेनम्।

(यदि) जो (एतद्) इस समय (एनम्) इस पुरुष को (ग्राहिः) जकड़ने वाली पीड़ा ने (जग्राह) पकड़ लिया है, (इद्राग्नी) हे सूर्य और अग्नि [के समान तेजस्वी विद्वान्] (तस्याः) उस [पीड़ा] से (एनम्) इस पुरुष को (प्रमुमुक्तम्) तुम छुड़ाओ ॥

उ० ३। ६६। इति व्रश्चू छेदने स प्रत्ययः कित्। अथवा। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। पा० ३। १। १३५। इति वृञ् वरणे क। वृश्चति क्लेशम्, वृक्षते वृणाति स्वभक्तान्, व्रियते वा सर्वैः स वृक्षः। दशानां दीप्यमानानां दर्शकानां दर्शनीयानां विदुषां [अथवा दंशकानां दुष्टस्वभावानामपि] क्लेशछेदक स्वीकारक वा। अथवा दशसु दिक्षु स्वीकरणीय। **मुञ्च**। मोचय। **इमम्**। जीवम्। माम् इत्यर्थः। **रक्षसः**। राक्षसस्य, अज्ञानस्य। **ग्राह्याः**। विभाषा ग्रहः। पा० ३। १। १४३। इति ग्रह आदाने—ण। जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्। पा० ४। १। ६३। इति ङीष्। यद्वा। वसिवपियजि०। उ० ४। १२५। इति ग्रह—इञ्। गृह्णातीति ग्राहो ग्राही ग्राहिर्वा जलजन्तुविशेषो वा। ग्रहणशीलपीड़ायाः सकाशात्। **जग्राह**। गृहीतवती। **पर्वसु**। स्नामदिपद्यर्तिपॄशकिभ्यो वनिप्। उ० ४। ११३। इति पॄ पूर्तौ पालने च—वनिप्। शरीरग्रन्थिषु। **अथो एनम्**। ओत्। पा० १।

आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात्।
अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥ २ ॥

आ। अगात्। उत्। आगात्। अयम्। जीवानाम्। व्रातम्। अपि। अगात्। अभूत्। ऊं इति। पुत्राणाम्। पिता। नृणाम्। च। भगवत्-तमः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [प्राणी] (आ + अगात्) आया है, (उत् अगात्) ऊपर आया है, (जीवानाम्) जीवितों [पुरुषार्थियों] के (व्रातम्) समूह में (अपि) भी (अगात्) प्राप्त हुआ है। वह (पुत्राणाम्) पुत्रों का (पिता) पिता (च) और (नृणाम्) मनुष्यों में (भगवत्तमः) अत्यन्त ऐश्वर्यवान् (उ) अवश्य (अभूत्) हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य ही जीवित होते हैं, इस से मनुष्य संसार में जन्म पाकर ब्रह्मचर्य सेवन से विद्या ग्रहण करें, और पुरुषार्थियों के समान पुरुषार्थी होकर पुत्रादि सब प्रजा का पालन पोषण करके महाप्रतापी और यशस्वी होवें ॥ २ ॥

१। १६। इत्योदन्तो निपातः प्रगृह्यः। **वनस्पते**। अ० १। १२। ३॥ वन+पतिः सुट् च। वनस्य संभजनीयस्य शास्त्रस्य पालक-इति श्रीमद् दयानन्द भाष्ये-यजु०२७। २१। वनानां पाता वा पालयिता वा वनं वनोतेः-निरु० ८। ३॥ हे सेवनीयगुणस्य रक्षक परमेश्वर। **जीवानाम्**। जीवतीति जीवः। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। पा० ३। १। १३५। इति जीव प्राणे-क। प्राणिनाम्। **लोकम्**। लोक ईक्षे-घञ्। भुवनम् स्थानम्। **उन्नय**। ऊर्ध्वं प्रापय। द्विकर्मको धातुः ॥

२—**आ+अगात्** इण् गतौ-लुङ्। आगतवान्। **उत्+अगात्**। उदस्थात्। संचारक्षमोऽभूत्। **जीवानाम्**। जीवितानां पुरुषार्थिनाम्। **व्रातम्**। भृमृदृशियजि०। उ० ३। ११०। इति वृञ् वरणे-अतच् पृषोदरादिः। यद्वा, व्रतं कर्म-निघ० २। १। तस्येदम्। पा० ४। ३। १२०। इति व्रत-अण्। व्राताः, मनुष्याः-निघ० २। ३। समूहम्। **पुत्राणाम्**।

अधीतीरध्यंगादयमधि जीवपुरा अंगन् ।
शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥ ३ ॥

अधि-इतीः । अधि । अगात् । अयम् । अधि । जीव-पुराः । अगन् । शतम् । हि । अस्य । भिषजः । सहस्रम् । उत । वीरुधः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अयम्) इस पुरुष ने (अधीतीः) अध्ययन योग्य शास्त्रों को (अधि + अगात्) अध्ययन किया है, और (जीवपुराः) प्राणियों के पुरों वा नगरों को (अधि अगन्) जान लिया है । (हि) क्योंकि (अस्य) इस [पुरुष] के (शतम्) सौ [बहुत से] (भिषजः) वैद्य, (उत) और (सहस्रम्) सहस्र [बहुत से] (वीरुधः) औषध हैं ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य वेदादि शास्त्रों के अध्ययन, मनुष्यों में निवास, विद्वानों के सत्संग, और पदार्थों के गुणों का बोध करने से संसार में उन्नति करते हैं ॥ ३ ॥

अ० १ । ११ । ५ । सुतानाम् । सन्तानानाम् । **नृणाम्** । नयतीति ना । नयतेर्डिच्च । उ० २ । १०० । इति णी प्रापणे-ऋ प्रत्ययः, स च डित् । नृ च । पा० ६ । ४ । ६ । इति नामि दीर्घाभावो विकल्पत्वात् । नेतॄणाम् । पुरुषाणाम् । **भगवत्तमः** । अतिशायने तमबिष्ठनौ । पा० ५ । ३ । ५५ । इति भगवत् + तमप् । अतिशयेन भगवान् ऐश्वर्यवान् ॥

३—**अधीतीः** । अधि + इङ् अध्ययने, यद्वा, इक् स्मरणे-क्तिन् । अध्येतव्यान् वेदान् । स्मर्तव्यान् पदार्थान् । **अधि + अगात्** । इणो गा लुङि । पा० २ । ४ । ४५ । तत्रैव वार्त्तिकम् । इणवदिक इति वक्तव्यम् । इति इक् स्मरणे-लुङि गादेशः । अस्मार्षीत् । स्मृतवान् । **जीवपुराः** । ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे । पा० ५ । ४ । ७४ । इति पुर् इत्यस्य अकारः समासान्तः । जीवानां पुरः पुराणि नगराणि पत्तनानि **अधि + अगन्** । गमेर्लुङि । मो नो धातोः । पा० ८ । २ । ६४ । इति नत्वम् । अध्यगमत् । अज्ञासीत् । **हि** । यस्मात् कारणात् । **शतम्, सहस्रम्** । अपरमिताः । **भिषजः** । बिभेति रोगो यस्मादिति भिषक् । भियः षुग् ह्रस्वश्च । उ० १ । १३८ । इति ञिभी भये-अजि । षुगागमो ह्रस्वश्च । वैद्याः । **वीरुधः** । अ० २ । ७ । १ । ओषधयः ॥

देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माण उत वीरुधः ।
चीतिं ते विश्वे देवा अविदन् भूम्यामधि ॥ ४ ॥

देवाः । ते । चीतिम् । अविदन् । ब्रह्माणः । उत । वीरुधः
चीतिम् । ते । विश्वे । देवाः । अविदन् । भूम्याम् । अधि ॥४॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य] (ते) तेरे लिये (देवाः) प्रकाशमान (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानियों ने (उत) और (वीरुधः) ओषधों ने (चीतिम्=चितिम्) ज्ञान (अविदन्) प्राप्त किया है । (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य पदार्थों [सूर्य, चन्द्र, वायु आदि] ने (ते) तेरे लिये (चीतिम्) चेतन्यता को (भूम्याम् अधि) पृथिवी के ऊपर (अविदन्) प्राप्त किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् वेद वेत्ताओं के उपदेश से, और अन्न आदि ओषधों, और सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, आकाश आदि दिव्य पदार्थों में ईश्वरीय अटल नियमों से शिक्षा और उपकार प्राप्त करके, ईश्वर की महिमा के ध्यान में निमग्न होकर और परोपकार करके आनन्द पाते हैं ॥ ४ ॥

यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः ।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद् भिषजा शुचिः ॥५॥

यः । चकार । सः । निः । करत् । सः । एव । सुभिषक्-तमः ।
सः । एव । तुभ्यम् । भेषजानि । कृणवत् । भिषजा । शुचिः ॥५॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमेश्वर] ने (चकार) बनाया है, (सः)

४—देवाः । प्रकाशमानाः । दातारः । दिव्यपदार्थाः । सूर्यादयः । ते । तुभ्यं हे मनुष्य ! चीतिम् । इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति चिती ज्ञाने, जागरणे च-इन् , स च कित्, दीर्घश्छान्दसः । ज्ञानम् । जागरणम् । अविदन् । विद्लृ लाभे-लुङ् । लब्धवन्तः । ब्रह्माणः । अ० २ । ६ । २ । ब्रह्मज्ञानिनः । ब्राह्मणाः । वीरुधः । ओषधयः । भूम्याम् । अ० १ । ११ । २ । भू-मि । भूलोके । पृथिव्याम् ॥

५—यः । परमेश्वरः । चकार । सर्वं सृष्टवान् । निः+करत् । लेटो-

वही (निष्करत्) निस्तारा करेगा, (सः) वह (एव) ही (सुभिषक्तमः) बड़ा भारी वैद्य है। (सः) वह (एव) ही (शुचिः) पवित्रात्मा (भिषजा) वैद्य रूप से (तुभ्यम्) तेरे लिये (भेषजानि) औषधों को (कृणवत्) करेगा॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने इस सृष्टि को रचा है, वही जगदीश्वर अपने आज्ञाकारी, और पुरुषार्थी सेवकों का क्लेश हरण कर के आनन्द देता है॥ ५ ॥

टिप्पणी—(भिषजा शुचिः) "वैद्यरूप से पवित्रात्मा" के स्थान में (भिषजां शुचिः) "वैद्यों में पवित्रात्मा" ऐसा पाठ अधिक ठीक दीखता है। लिपि प्रमाद से अनुस्वार नहीं लगा। नीचे के प्रयोगों को विचारिये॥

१—ऋग्वेद २। ३३। ४। में ऐसा पाठ है।

भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि ॥

मैं तुझ को (भिषजाम्) वैद्यों में महा वैद्य सुनता हूं॥

२—अथर्ववेद ६। २४। २। ऐसा है।

आपुस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः ॥

(भिषजाम्) वैद्यों में अति पूजनीय वैद्य (आपः) परमेश्वर उस सब दुःख को हटावे॥

३—यजुर्वेद २१। ४०। में ऐसा पाठ है।

सुत्रामाणं सवितारं वरुणं भिषजां पतिं स्वाहा ॥

बड़े रक्षक, परम ऐश्वर्य वाले, श्रेष्ठ, (भिषजाम्) वैद्यों के (पतिम्) रक्षक को सुन्दर वाणी है॥

ऽडाटौ। पा० ३। ४। ९४। इति कृञ् करणे-लेटि अडागमः। कः करत्करति०। पा० ८। ३। ५०। इति निसःषत्वम्। निष्कृतिं निर्मुक्तिं पापादिभ्यउद्धारं कुर्यात्। **सुभिषक्तमः**। सु+भिषज्+तमप्। म० ३। अतिशयेन पूजनीयो भिषक्, भयनिवारको वैद्यः। **भेषजानि**। अ० २। ३। २। औषधानि। [कृ]णवत्। कृवि हिंसाकरणयोः-लेट्। कुर्यात्। **भिषजा**। म० ३। भिषग्रूपेण। इत्थंभावे तृतीया। यद्वा (भिषजाम्) इति पाठे। वैद्यानां मध्ये। **शुचिः**। अ० १। ३३। १। शुचिर् शौचे-इन्। स च कित्। शुद्धस्वभावः। पवित्रः॥

सूक्तम् १० ॥

१—८ ॥ ब्रह्म देवता । १ त्रिष्टुप्, २-७ प्रथम-द्वितीय-पंचम-षष्ठपादास्त्रिष्टुप्, तृतीय-चतुर्थौ च जगती छन्दः ॥

मुक्तिप्राप्त्युपदेशः—मुक्ति की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

क्षे॒त्रि॒यात् त्वा॒ निरृ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त्। अ॒ना॒ग॒सं ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म् ॥ १ ॥

क्षे॒त्रि॒यात् । त्वा॒ । निः॒-ऋ॑त्याः । जा॒मि॒-शं॒सात् । द्रु॒हः । मु॒ञ्चा॒मि॒ । वरु॑णस्य । पाशा॑त् । अ॒ना॒ग॒सम् । ब्रह्म॑णा । त्वा॒ । कृ॒णो॒मि॒ । शि॒वे इति॑ । ते॒ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । उ॒भे इति॑ । स्ता॒म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] (त्वा) तुझ को (क्षेत्रियात्) शरीर वा वंश के रोग से, (निर्ऋत्याः) अलक्ष्मी [महामारी दरिद्रता आदि] से, (जामिशंसात्) भक्षणशील मूर्ख के सताने से, (द्रुहः) द्रोह [अनिष्ट चिन्ता] से और (वरुणस्य) दुष्कर्मों से रोकने वाले न्यायाधीश के (पाशात्) दंड पाश वा

१—क्षेत्रियात् । अ० २ । ८ । १ । देहे वंशे वा जाताद् रोगाद् दोषाद्वा । निर्ऋत्याः । अ० १ । ३१ । २ । निर्ऋतिर्निरमणादृच्छतेः कृच्छ्रापत्तिः-निरु० २ । ७ । कृच्छ्रापत्तेः सकाशात् । जामिशंसात् । (जामिः) इति व्याख्यातम्-अ० २ । ७ । २ । जम भक्षणे-इञ् । जाम्यतिरेक नाम बालिशस्य वासमानजातीयस्य वा-निरु० ४ । २० । शंसु हिंसास्तुत्योः—अप्रत्ययः । भक्षणशीलस्य । बालिशस्य मूर्खस्य शंसनात् हिंसनात् । द्रुहः । द्रुह अनिष्टचिन्तने-क्विप् । अनिष्टचिन्तनात् । मुञ्चामि । मोचयामि । वरुणस्य । अ० १ । ३ । ३ । वृञ् वरणे उनन् । दुष्टानामावरकस्य न्यायाधीशस्य । पाशात् । पश्यते बध्यतेऽनेन । पश बन्धे बाधे च-घञ् । शस्त्रभेदात् । दण्डबन्धात् । अनागसम् । इण

बन्ध से (मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूं। (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (त्वा) तुम को (अनागसम्) निर्दोष (कृणोमि) करता हूं, (ते) तेरे लिये (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी = ०—व्यौ) आकाश और पृथिवी (शिवे) मंगल मय (स्ताम्) होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद ज्ञान प्राप्ति से ऐसा प्रयत्न करे कि आत्मिक, शारीरिक, और दैवी विपत्तियों और मूर्खों के दुष्ट आचरणों से पृथक् रहे. और न कभी कोई पाप करे जिस से परमेश्वर वा राजा उसे दण्ड न देवे, किन्तु सुशीलता के कारण संसार के सब पदार्थ आनन्द कारी हों ॥

शं ते॑ अ॒ग्निः स॒हाद्भिर॑स्तु॒ शं सोमः॑ स॒हौष॑धीभिः। ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त्। अ॒ना॒ग॒सं॒ ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म् ॥ २ ॥

शम्। ते॒। अ॒ग्निः। स॒ह। अ॒त्-भिः। अ॒स्तु॒। शम्। सोमः॑। स॒ह। ओष॑धीभिः। ए॒व। अ॒हम्। त्वाम्। क्षे॒त्रि॒यात्। निः-ऋ॑त्याः। जा॒मि-शं॒सात्। द्रु॒हः। मु॒ञ्चा॒मि॒। वरु॑णस्य। पाशा॑त्। अ॒ना॒ग॒स॑म्। ब्रह्म॑णा। त्वा॒। कृ॒णो॒मि॒। शि॒वे इति॑। ते॒। द्यावा॑-पृ॒थि॒वी इति॑। उ॒भे इति॑। स्ता॒म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे लिये (अग्निः) अग्नि (अद्भिः सह) जल के साथ (शम्) सुखदायक (अस्तु) हो, (सोमः) अमृत [ऐश्वर्य] (ओषधिभिःसह)

आगोऽपराधे च। उ० ४। ११२। इति इण् गतौ—असुन्, आगादेशः। अपराधरहितम्। निर्दोषम्। **ब्रह्मणा**। अ० १। ८। ४। वेदज्ञानेन। **शिवे**। अ० २। ६। ३। कल्याणकारिण्यौ। **द्यावापृथिवी**। अ० २। १। ४। ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्। पा० १। १। ११। इति सन्ध्यभावः। आकाशपृथिवीस्थपदार्थाः। **स्ताम्**। भवताम् ॥

२—**शम्**। सुखकरः। **ते**। तुभ्यम्। **अग्निः**। पावकः। **अद्भिः**। जलैः। अ० १। ६। २। षु प्रसवैश्वर्ययोः—मन्। ऐश्वर्यम्। **ओषधीभिः**।

अन्न आदि ओषधियों के साथ (शम्) सुखदायक हो। (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शरीर वा वंश के रोग से ...... [मन्त्र १] ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य को विज्ञान पूर्वक देश, काल, अग्नि, जल, वायु, खान, पान आदि पदार्थों का ठीक उपयोग करके स्वस्थ और ऐश्वर्यवान् रहकर आनन्द भोगना चाहिये ॥ २ ॥

शं ते॒ वातो॑ अ॒न्तरि॑क्षे॒ वयो॑ धाच्छं ते॑ भवन्तु प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः। ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त्। अ॒नागसं॒ ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म् ॥ ३ ॥

शम्। ते॒। वातः॑। अ॒न्तरि॑क्षे। वयः॑। धा॒त्। शम्। ते॒। भ॒व॒न्तु॒। प्र॒-दिशः॑। चत॑स्रः। ए॒व। अ॒हम्। त्वाम्। क्षे॒त्रि॒यात्। निः-ऋ॑त्याः। जा॒मि॒-शं॒सात्। द्रु॒हः। मु॒ञ्चा॒मि॒। वरु॑णस्य। पाशा॑त्। अ॒नाग॑सम्। ब्रह्म॑णा। त्वा॒। कृ॒णो॒मि॒। शि॒वे इति॑। ते॒। द्यावा॑पृथि॒वी इति॑। उ॒भे इति॑। स्ता॒म् ॥३॥

भाषार्थ—(ते) तेरे लिये (अन्तरिक्षे) मध्य में दीखने वाले आकाश में वर्त्तमान (शम्) सुखदायक (वातः) पवन (वयः) अन्न वा यौवन [शारीरिक बल] को (धात्=धेयात्) पुष्ट करे, (ते) तेरे लिये (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) महादिशायें (शम्) सुखदायक (भवन्तु) होवें। (एव) ऐसे ही

अ० १। २३। १। ओष+धा-कि, ङीप्। ओषो दाहो धीयतेऽत्र। व्रीहियवादिभिः। एव। एवम्। अन्यद् गतं म० १ ॥

३—वातः। अ० १। ११। ६। वा सुखातिगतिसेवासु-तन्। पवनः। अन्तरिक्षे। अ० १। ३०। ३। सर्वमध्ये दृश्यमाने। आकाशे। वयः। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८६। इति वयङ् गतौ, वी गतौ, यद्वा अज गतौ-असुन्, अजतेर्वीभावः। अन्नम्-निघ० २। ७। यौवनम्। सामर्थ्यम्। धात्। डुधाञ्

(अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से ..... [मन्त्र २]

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न और परिश्रम करके अपने शरीरस्थ प्राण वायु और देशस्थ वायु, और सब स्थानों को यथोचित शुद्ध और स्वस्थ रख कर आनन्द प्राप्त करे ॥ ३ ॥

(वयोधात् =वयः धात्) इन दो पदों के स्थान पर संहिता और पद पाठ के विरुद्ध सायणभाष्य में [वयोधाः] एक पद मानकर [वयसां पक्षिणां धाता धारयिता वयसाम् अन्नेन पोषयिता वा वातः] व्याख्या की है ।

इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे । एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥४॥

इमाः । याः । देवीः । प्र-दिशः । चतस्रः । वात-पत्नीः । अभि । सूर्यः । वि-चष्टे । एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निः-ऋत्याः । जामि-शंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् । अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सूर्यः) चलने वा चलाने वाला सूर्य लोक (इमाः) इन (याः) जिन (देवीः) दिव्यगुणवाली (वातपत्नीः) वायु मण्डल से रक्षित (चतस्रः) चारो

धारणपोषणयोः—लेटि विधिलिङि वा छान्दसं रूपम् । धत्तात् । दध्यात् । शम् । सुखकार्यः । प्रदिशः । प्रकृष्टा दिशः प्राच्याद्या महादिशाः ॥

४—देवीः । अ० १ । ४ । ३ देव-ङीप् । द्योतमानाः । दिव्याः । वातपत्नीः । विभाषा सपूर्वस्य । पा० ४ । १ । ३४ । इति वातपूर्वस्य पति-शब्दस्य इकारस्य नकारो ङीप् च । वातः पती रक्षको यासां ताः । वायुरक्षिताः

(प्रदिशः) महा दिशाओं को (अभि) सब प्रकार (विचष्टे) देखता है। (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (दोत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से...... [मन्त्र २] ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपनी किरणों से आकर्षण करके पृथिवी आदि लोकों को धारण करता और वायु मण्डल पतन होजाने से उन की रक्षा करता है, ऐसे ही मनुष्य को अपनी प्रजा का पोषण करके सुखी रहना चाहिये ॥४॥

तासु॑ त्वान्तर्ज॒रस्या द॑धामि॒ प्र यक्ष्म॑ एतु॒ निर्ऋ॑तिः परा॒चैः। ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निर्ऋ॑त्या जामिशं॒सा॒द्द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त्। अ॒ना॒ग॒सं॒ ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म् ॥ ५ ॥

तासु॑। त्वा॒। अ॒न्तः। ज॒रसि॑। आ। द॒धा॒मि॒। प्र। यक्ष्मः॑। ए॒तु॒। निः-ऋ॑तिः। प॒रा॒चैः। ए॒व। अ॒हम्। त्वाम्। क्षे॒त्रि॒यात्। निः-ऋ॑त्याः। जा॒मि॒-शं॒सात्। द्रु॒हः। मु॒ञ्चा॒मि॒। वरु॑णस्य। पाशा॑त्। अ॒ना॒ग॒स॑म्। ब्रह्म॑णा। त्वा॒। कृ॒णो॒मि॒। शि॒वे इति॑। ते॒। द्यावा॑-पृ॒थि॒वी इति॑। उ॒भे इति॑। स्ता॒म् ॥ ५ ॥

भावार्थ—(तासु) उन [दिशाओं] में (त्वा) तुझ को (जरसि) स्तुति के (अन्तः) मध्य में (आ) भले प्रकार से (दधामि) धारण करता हूं, (यक्ष्मः) राज रोग [क्षयी आदि] और (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी [महामारी दरिद्रता आदि] भी (पराचैः) औंधे मुंह होकर (प्र+एतु) चली जावे। (एव) ऐसेही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से...[मन्त्र २] ॥ ५ ॥

सर्वलोकाः। इत्यर्थः। **सूर्यः** । अ० १।३।५। आकाशे सर्ता सविता प्रेरको वा। आदित्यलोकः। **विचष्टे** । चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च-लट्, अदादित्वात् शपो लुक्। चष्टे, विचष्टे पश्यतिकर्माणौ-निघ० ३। ११। विविधं पश्यति। किरणैः प्रकाशयति, आकर्षति धारयति चेत्यर्थः ॥

५—**तासु** । पूर्वोक्तासु दिक्षु। **त्वा** । त्वां मनुष्यम्। आत्मानम्। **अन्तर्** ।

भावार्थ—मनुष्य को परमेश्वर ने सब प्राणियों में श्रेष्ठ बनाया है, इस लिये पुरुष, पुरुषार्थ करके सब विघ्नों को हटावे और कीर्त्तिमान् होकर सदा आनन्द भोगे और अमर होवे ॥ ५ ॥

टिप्पणी—हमारे विचार में यहां भी (जरस्) पद का अर्थ निघण्टु और निरुक्त आदि के अनुसार स्तुति वा कीर्त्ति है [बुढ़ापे का अर्थ बे मेल है]।

अथर्ववेद १। ३०। २। और टिप्पणी देखिये, और यजु० ३६। २४ भी विचारिये।

तच्चक्षु॑र्दे॒वहि॑तं पु॒रस्ता॑च्छु॒क्रमु॒च्चर॑त् । पश्ये॑म श॒रदः॑ श॒तं जीवे॑म श॒रदः॑ श॒तꣳ शृणु॑याम श॒रदः॑ श॒तं प्रब्र॑वाम श॒रदः॑ श॒तमदी॑नाः स्याम श॒रदः॑ श॒तं भूय॑श्च श॒रदः॑ श॒तात् ॥ १ ॥

(तत्) परब्रह्म (चक्षुः) सब का द्रष्टा, (देवहितम्) विद्वान् देवताओं का हितकारी, (शुक्रम्) वीर्यवान्, (पुरस्तात्) पहिले काल से वा सन्मुख होकर (उच्चरत्) ऊंचा चढ़ रहा है। [ऐसा ध्यान करते हुये] (शतम् शरदः) सौ शरद् ऋतु वा वर्ष तक (पश्येम) हम देखते रहें, (शतम् शरदः) सौ वर्ष तक (जीवेम) हम जीते रहें, (शतम् शरदः) सौ वर्ष तक (शृणुयाम) हम सुनते रहें, (शतम् शरदः) सौ वर्ष तक (प्रब्रवाम) हम बोलते रहें, (शतम् शरदः) सौ वर्ष तक (अदीनाः) दीनता रहित (स्याम) हम रहें, (च) और (शतात् शरदः) सौ वर्ष से (भूयः) अधिक। अर्थात् हम सर्वथा पुष्टांग रहें और कभी अङ्गहीन और धनहीन न हों ॥

मध्ये। **जरसि** । १।३०।२। जॄ स्तुतौ, यद्वा, गॄ शब्दे-असुन्। जरिता स्तोतृनाम—निघ० ३।१६। स्तुतौ। यशसि। **आ** । सम्यक्। यथाविधि। **दधामि** । अहं मनुष्यः स्वगौरवेण धारयाम्यात्मानमित्यर्थः। **यक्ष्मः** । अर्त्तिस्तुसुहु० । उ० १। १४०। इति यज्ञ पूजायाम्-मन्। पूज्यते वैद्यो रोगे। राजरोगः। क्षयः। **प्र+एतु** । प्रैतु। प्रगच्छतु। निर्गच्छतु। **निर्ऋतिः** । म० १। अलक्ष्मीः। दरिद्रतादिविपत्तिः। **पराचैः** । नौ दीर्घश्च। उ० ५। १३। इति बाहुलकात्, पर+चिञ् चयने-डैसि। अकारस्य दीर्घश्च। पराङ्मुखी ॥

अमुक्था यक्ष्माद् दुरितादवद्याद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याश्चोदमुक्थाः । एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥६॥

अमुक्थाः । यक्ष्मात् । दुः-इतात् । अवद्यात् । द्रुहः । पाशात् । ग्राह्याः । च । उत् । अमुक्थाः । एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निः-ऋत्याः । जामि-शंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि वरुणस्य । पाशात् । अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यक्ष्मात्) राज रोग [क्षयी आदि] से, (दुरितात्) दुर्गति से, और (अवद्यात्) अकथनीय, निन्दनीय कर्म से (अमुक्थाः) तू मुक्त हो गया है, और (द्रुहः) द्रोह [अनिष्ट चिन्तन] से (च) और (ग्राह्याः) जकड़ने वाली पीड़ा के (पाशात्) पाश वा बन्ध से (उत्+अमुक्थाः) तू छुट चुका है । (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से ...[मन्त्र २] ॥ ६ ॥

भावार्थ-जैसे उत्तम वैद्य रोगी के रोगों को निवृत्त करके स्वस्थ कर देता है ऐसे ही ब्रह्मचारी वेद विज्ञान की प्राप्ति से निर्मल होकर सुखी होता है ॥ ६ ॥

६—**अमुक्थाः** । मुच्लृ मोक्षणे-कर्मणि लुङि मध्यमैकवचने । झलो झलि । पा० ८ । २ । २६ । इति सिचो लोपः । मुक्तोऽसि । **यक्ष्मात्** । म० ५ । राज रोगात् । **दुरितात्** । दुर्+इण् गतौ-भावे क्त । दुर्दुष्टम् इतं गमनं नरकादिदुर्गतिः- इति दुरितम् । दुर्गतेः । पापात् । **अवद्यात्** । अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु । पा० ३ । १ । १०१ । इति अ+वद कथने-यत्प्रत्यान्तो निपात्यते क्यपि प्राप्ते । अवचनीयात् । अकथनीयात् । गर्ह्यात् । पापात् । **द्रुहः** । द्रुह-क्विप्, । अनिष्टचिन्तनात् । **पाशात्** । बन्धनात् । **ग्राह्याः** । म० २ । ६ । १ । ग्रह-इञ् । ग्रहणशीलायाः पीड़ायाः सकाशात् । **उत्** । उङ् शब्दे-क्विप, तुक् । पृषोदरादित्वाद् ह्रस्वं वा । प्राकट्येन । उत्कर्षेण । अन्यद् गतम् ॥

अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके। एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्। अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ७ ॥

अहाः। अरातिम्। अविदः। स्योनम्। अपि। अभूः। भद्रे। सु-कृतस्य। लोके। एव। अहम्। त्वाम्। क्षेत्रियात्। निः-ऋत्याः। जामि-शंसात्। द्रुहः। मुञ्चामि। वरुणस्य। पाशात्। अनागसम्। ब्रह्मणा। त्वा। कृणोमि। शिवे इति। ते। द्यावापृथिवी इति। उभे इति। स्ताम् ॥७॥

भाषार्थ—(अरातिम्) कंजूसी वा बैर को (अहाः=अहासीः) तू ने त्याग दिया है, (स्योनम्) हर्ष को (अविदः) तूने पाया है, (अपि) और भी (सुकृतस्य) सुकृत [पुण्य कर्म] के (भद्रे) आनन्दमय (लोके) लोक में (अभूः) तू वर्तमान हुआ है। (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से...... [मन्त्र २] ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य बैर छोड़ कर उदार, उपकारी, सर्वमित्र बनकर अनेक बल अर्थात् मुक्ति के आनन्द को पाता है ॥ ७ ॥

पातञ्जल योगदर्शन, पाद ३ सूत्र २२ देखिये।

७—अहाः। ओहाक् त्यागे-लुङि। मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्० । पा० २। ४। ८०। इति च्लेर्लुक्। अहासीः। अत्याक्षीः। अरातिम्। अ० १। १८। २। रा दाने-क्तिन्। अदातृताम्। शत्रुताम्। अविदः। विद्लृ लाभे-लुङ्। लृदित्वाद् अङ्। लब्धवानासि। स्योनम्। सिवेष्टेर्यू च। उ० ३। ९। इति षिवु तन्तुसन्ताने-न प्रत्ययः, टिभागस्य यू इत्यादेशे गुणः। स्योनमिति सुखनाम स्यतेरवस्यन्त्येतत् सेवितव्यं भवतीति वा-निरु० ८। ९। सुखम्। आनन्दम्। अपि। न पियति। पि गतौ-क्विप्, न तुक्। समुच्चये। अवधारणे। पुनर्थे। अभूः।

मैत्र्यादिषु बलानि ।

मित्रता आदिकों में [संयम से] अनेक बल होते हैं ॥

टिप्पणी—(अभूः) के स्थान पर सायणभाष्य में [अभूत्] माना है ।

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः । एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

सूर्यम् । ऋतम् । तमसः ग्राह्याः । अधि । देवाः । मुञ्चन्तः । असृजन् । निः । एनसः । एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निः-ऋत्याः । जामि-शंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् । अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(देवाः) [ईश्वर के] दिव्य सामर्थ्यों ने (ऋतम्) चलने वाले (सूर्यम्) सूर्य को (तमसः) अन्धकार की (ग्राह्याः) पकड़ से और (एनसः अधि) कष्ट से (मुञ्चन्तः) छुड़ा कर (निः+असृजन्) उत्पन्न किया है । (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से,

---

भू सत्तायाम्-लुङ् । त्वं वर्तमानोऽभूः । भद्रे । अ० १ । १८ । १ । भदि-रन् । भन्दनीये । सुखप्रदे । लोके । अ० २ । ६ । १ । स्थाने । अन्यद् गतम् ॥

८—सूर्यम् । अ० १ । ४ । २ । गतिशीलं प्रेरकं वादित्यम् । ऋतम् । ऋ गतौ-कर्त्तरि क्त । ऋतः, मध्यस्थानदेवतासु-निरु० १० । ४० । अर्त्तारम् अन्तरिक्षे गन्तारम् । तमसः । तमिर् खेदे-असुन् । अन्धकारस्य । ग्राह्याः । म० १ । ग्रहणात् । देवाः । ईश्वरस्य दिव्यबलानि । मुञ्चन्तः । मोचयन्तः । असृजन् । सृज विसर्गे । सृष्टवन्तः । उत्पादितवन्तः । निर् । नृ नयने-क्विप्, न दीर्घः । निश्चये । बहिर्भावे । एनसः । इण आगसि । उ० ४ । १९८ । इति

(निर्ऋत्याः) अलक्ष्मी [महामारी, दरिद्रता आदि] से (जामिशंसात्) भक्षण शील मूर्ख के सताने से, (द्रुहः) द्रोह [अनिष्ट चिन्ता] से और (वरुणस्य) दुष्कर्मों से रोकने वाले न्यायाधीश के (पाशात्) दंड पाश वा बन्ध से (मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूं। (ब्रह्मणा) वेद विज्ञान से (त्वा) तुझ को (अनागसम्) निर्दोष (कृणोमि) करता हूं, (ते) तेरे लिये (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी = ०-द्यौ) आकाश और पृथिवी (शिवे) मंगलमय (स्ताम्) होवें ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर की शक्ति से सूर्य प्रलय वा ग्रहण के अन्धकार से छूट कर प्रकाशित होकर क्लेश हरण करता है, ऐसे ही मनुष्य अपने सब विघ्नों का नाश करके, आत्मिक बल बढ़ा कर संसार में उपकार करे, और आनन्द भोगे ॥ ८ ॥

सूक्तम् ११ ॥

१—५ ॥ पुरुषो देवता । १ पंचषट्का, २-५ प्रथमद्वितीयपादौ द्व्यष्टका, तृतीय-चतुर्थौ च द्विषट्का गायत्री ।

पुरुषार्थोपदेशः-पुरुषार्थ का उपदेश ॥

दू॒ष्या दूषि॑रसि हे॒त्या हे॒तिर॑सि मे॒न्या मे॒निर॑सि ।
आ॒प्नु॒हि श्रेयां॑स॒मति॑ स॒मं क्रा॑म ॥ १ ॥

दू॒ष्याः॑ । दूषिः॑ । अ॒सि॒ । हे॒त्याः । हे॒तिः । अ॒सि॒ । मे॒न्याः । मे॒निः । अ॒सि॒ । आ॒प्नु॒हि । श्रेयां॑सम् । अति॑ । स॒मम् । क्रा॒म॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] तू (दूष्याः) दूषित क्रिया का (दूषिः) खण्डनकर्ता (असि) है, और (हेत्याः) बरछी का (हेतिः) बरछी (असि) है,

---

इण् गतौ-असुन्। नुट् च। एन एतेः-निरु० ११। २४। दुःखात्। पापात्। अपराधात्। अन्यद् व्याख्यातम् ॥

१ **दूष्याः** । अ० १। २३। ४। दुष दुष्टकर्मणि-इन्। दुष्टक्रियायाः। **दूषिः** । दूषकः, निवारकः-इति सायणोऽपि। **असि** । भवसि। **हेत्याः** । ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च पा० । ३ । ३ । ६७ । इति हन हिंसागत्योः, यद्वा, हि गतिवृद्ध्योः-क्तिनि हन्तेर्नकारस्येत्वम्, हिनोतेर्गुणश्च निपात्यते ।

(मेन्याः) वज्र का (मेनिः) वज्र (असि) है। (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति=अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मनुष्य को बड़ी शक्ति दी है। जो पुरुष उन शक्तियों को परमेश्वर के विचार और अधिक गुण वालों के सत्संग से, काम में लाते हैं वे निर्विघ्न होकर अन्य पुरुषों से अधिक उपकारी हो कर आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

स्रुक्त्यो॑ऽसि प्रतिस॒रो॑ऽसि प्रत्य॒भि॒च॒रणो॑ऽसि ।
आ॒प्नु॒हि श्रेयां॑स॒मति॑ स॒मं क्रा॑म ॥ २ ॥

स्रु॒क्त्यः॑ । अ॒सि॒ । प्र॒ति॒-स॒रः । अ॒सि॒ । प्र॒ति॒-अ॒भि॒च॒रणः॑ । अ॒सि॒ ।
आ॒प्नु॒हि । श्रेयां॑सम् । अति॑ । स॒मम् । क्रा॒म ॥ २ ॥

भाषार्थ—तू (स्रक्त्यः) गतिशील (असि) है, (प्रतिसरः) प्रत्यक्ष चलने वाला (असि) है, और (प्रत्यभिचरणः) अभिचार [दुष्ट कर्म] का हटाने वाला (असि) है। (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को

हेतिर्वज्रनाम-निघ० २। २०। वज्रस्य। आयुधस्य। **हेतिः**। अस्त्रम्। **मेन्याः**। वीज्याज्वरिभ्यो निः। उ० ४। ४८। इति मिञ् हिंसायाम्-नि। मेनिर्वज्रनाम-निघ० २। २०। वज्रस्य। **मेनिः**। वज्रः। **आप्नुहि**। प्राप्नुहि। **श्रेयांसम्**। द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ। पा० ५। ३। ५७। इति प्रशस्य-ईयसुन्। प्रशस्य श्रः। पा० ५। ३। ६०। इति प्रशस्यस्य श्र इत्यादेशः। प्रशस्यतरम्। अधिकगुणवन्तं पुरुषं परमात्मानं मनुष्यं वा। **अति**। अतीत्य। उल्लङ्घ्य। **समम्**। समानम्। तुल्यबलिनम्। **क्राम**। क्रमु पादविक्षेपे-लोट्। अग्रे गच्छ ॥

२—**स्रक्त्यः**। स्रक, स्रकि गतौ "सरकना"-क्तिन्। स्रक्तिर्गतिः। भवे छन्दसि। पा० ४। ४। ११०। इति यत्। गतिमान्। उद्यमी। **प्रतिसरः**। प्रति+सृ गतौ-अच्। चितः। ६। १। १६३। अन्तोदात्तः। प्रति प्रत्यक्षं सरतीति। अग्रगामी। **प्रत्यभिचरणः**। प्रति+अभि+चर गमने, अदने,

(आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति=अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ २॥

भावार्थ—जो पुरुषार्थी मनुष्य निष्कपट, सरल स्वभाव होकर अग्रगामी होता है वह संकटों को हटा कर आनन्द प्राप्त करता है, मन्त्र १ देखिये ॥ २॥

प्रति तमभिचर यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ३ ॥

प्रति । तम् । अभि । चर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥३॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (तम् प्रति) उस [दुराचारी पुरुष] की ओर (अभिचर) चढ़ाई कर, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) बैर करता है, और (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रीति करते हैं । (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति=अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो छली कपटी धर्मात्माओं से अप्रीति करें और जिन दुष्कर्मियों से धर्मात्मा लोग घृणा करते हों, राजा उन दुष्टों को वश में करके दण्ड देवें ॥

२—सब मनुष्य शारीरिक और मानसिक रोगों को हटाकर सत्य धर्म में प्रवृत्त हों और प्रयत्न पूर्वक सदैव उन्नति करें ॥ ३ ॥

आचारे च-ल्युट् । प्रति प्रतिकूलम् अभिचरणम् अभिचारो हिंसनं यस्मात् स प्रत्यभिचरणः । व्यभिचारनिवारकः । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

३—प्रति । अभिलक्ष्य । अभि+चर । अभिभव । नाशय । यः । दुराचारी पुरुषः । अस्मान् । धर्मचारिणः । द्वेष्टि । द्विष अप्रीतौ—अदादित्वात् शपो लुक् । अप्रीत्या गृह्णाति । जिघांसति । द्विष्मः । अप्रीत्या गृह्णीमः । अन्यद् गतम् ॥

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ४ ॥

सूरिः । असि । वर्चः-धाः । असि । तनू-पानः । असि ।
आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ ४ ॥

भाषार्थ—हे राजन् ! तू (सूरिः) विद्वान् (असि) है, (वर्चोधाः) अन्न वा तेज का धारण करने वाला (असि) है, (तनूपानः) हमारे शरीरों का रक्षक (असि) है । (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति = अतीत्य) बढ़कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् प्रतापी राजा अन्न आदि से अपनी प्रजा की सदा रक्षा और उन्नति करे ॥ ४ ॥

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५ ॥

शुक्रः । असि । भ्राजः । असि । स्वः । असि । ज्योतिः ।
असि । आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शुक्रः) तू वीर्यवान् (असि) है, (भ्राजः) प्रकाशमान् (असि) है, (स्वः) तू स्वर्ग [सुखधाम] (असि) है, (ज्योतिः) [सूर्यादि के समान]

४—**सूरिः** । सूङः क्रिः उ० ४ । ६४ । इतिषूङ् प्राणिप्रसवे, यद्वा, षू प्रेरणे क्रि । सूते उत्पादयति, सुवति प्रेरयति वा सद्वाक्यानि । स्तोता—निघ० ३ । १६ । अभिज्ञः । पण्डितः । **वर्चोधाः** । वर्चस्+धाञ्-विच् । वर्चः-अ० १ । ६ । ४ । वर्चसः, अन्नस्य तेजसो वा धाता । **तनूपानः** । तनू+पा रक्षणे-भावे ल्युट् । तनूनां पानं रक्षणं यस्मात् सः । शरीररक्षकः ॥

५—**शुक्रः** । ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति शुच दीप्तौ-रन् । शुक्रम्=पुंस्त्वम् । वीर्यम् । तेजः । उदकम्-निघ० १ । १२ । ततः । अर्श-आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ इति अच् । यद्वा । शुच-क्विप् । रो मत्वर्थीयः । वीर्यवान् ।

तेजः स्वरूप (असि) है। (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (प्राप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति=अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा महाशक्तिमान्, प्रतापी, और ऐश्वर्यवान् ईश्वर पर श्रद्धालु होकर अपनी और प्रजा की सदा वृद्धि करे ॥ ५ ॥

सूक्तम् १२ ॥

१—८ ॥ विश्वे देवा देवताः । १—६ त्रिष्टुप्, ७, ८ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सर्वरक्षोपदेशः—सबकी रक्षा के लिये उपदेश ॥

द्यावापृथिवी उर्वन्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः । उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी इति । उरु । अन्तरिक्षम् । क्षेत्रस्य । पत्नी । उरु-गायः । अद्भुतः । उत । अन्तरिक्षम् । उरु । वात-गोपम् । ते । इह । तप्यन्ताम् । मयि । तप्यमाने ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी=०—द्यौ) सूर्य और पृथिवी (उरु) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षम्) मध्य में दीखने वाला आकाश, (क्षेत्रस्य) निवास स्थान, संसार की (पत्नी) रक्षा करने वाली [दिशा वा वृष्टि], (अद्भुतः) आश्चर्य स्वरूप (उरुगायः) विस्तृत स्तुति वाला परमेश्वर, (उत) और (उरु) विस्तीर्ण (वातगोपम्) प्राण वायु से रक्षा किया हुआ (अन्तरिक्षम्) मध्य वर्त्ती)

कान्तिवान् । **भ्राजः** । टु भ्राजृ दीप्तौ—अच् । दीप्यमानः । तेजस्वी । **स्वर्** । अ० २ । ५ । २ । सु+ऋ गतौ, यद्वा, स्वृ शब्दोपतापयोः—विच् । सुगमनः । शत्रूपतापकः । स्वर्गः । सुखप्रदः । **ज्योतिः** । अ० १ । ६ । १ । द्युत दीप्तौ—इसिन् । दस्य जः । तेजः । प्रकाशः ॥

१—द्यावापृथिवी । अ० २ । १ । ४ । ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् । पा० १ । १ । ११ । इति सन्धिविषये प्रकृतिभावः । सूर्यभूमी । **उरु** । महति ह्रस्वश्च । उ० १ । ३१ । इति ऊर्णु आच्छादने—कु, नुलोपो ह्रस्वश्च । महत् । पटुम् । **अन्तरिक्षम्** । अ० १ । ३० । ३ । अन्तर्+ईक्ष दर्शने—घञ् । आकाशम् । अन्तःकरणम् । **क्षेत्रस्य** । गुधृवीपचिवचिक्षि० । उ० ४ । १६७ । इति क्षि निवासगत्यैश्वर्येषु—ष्ट्रन् । निवासस्थानस्य संसारस्य भूमेर्वा । क्षियन्ति निवसन्ति अस्मिन्निति

अन्तः करण [ये सब जो देव हैं] (ते) वे सब (इह) यहां पर [इस जन्म में] (मयि) मुझ (तप्यमाने) तपश्चर्या करते हुये पर (तप्यन्ताम्) ऐश्वर्य वाले होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि नियमों के पालन से विद्या ग्रहण करके देख भाल करता है, परमेश्वर और सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थ उस पुरुषार्थी पुरुष को ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं ॥ १ ॥

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति। पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ २ ॥

इदम् । देवाः । शृणुत । ये । यज्ञियाः । स्थ । भरत्-वाजः । मह्यम् । उक्थानि । शंसति । पाशे । सः । बद्धः । दुः-इते । नि । युज्यताम् । यः । अस्माकम् । मनः । इदम् । हिनस्ति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे दिव्य गुण वाले महात्माओ ! (ये) जो तुम (यज्ञियाः) सत्कार योग्य (स्थ) हो, (इदम्) यह (शृणुत) सुनो, (भरद्वाजः) पुष्टि-

---

त्रमुक्तं लोकत्रयम्-इति सायणोऽपि । **पत्नी** । पत्युर्नो यज्ञसंयोगे । पा० ४ । १ । ३२ । इति पतिशब्दस्य नकारादेशः, ङीप् च । पालयित्री दिशा वृष्टिर्वा । **उरुगायः** । उरु+गै गाने-घञ् । उरुभिर्महद्भिः, यद्वा, उरु विस्तीर्णं गीयते सः । बहुगीयमानः । **अद्भुतः** । अदि भुवो डुतच् । उ० ५ । १ । अततीति अत सातत्यगमने-क्विप् । अत्, अद् वा अकस्मादर्थे । अत्+भू सत्तायां भा दीप्तौ वा डुतच् । आश्चर्यस्वरूपः । अपूर्वः । **उत** । अपि च । **वातगोपम्** । वातः प्राणवायुः, गोपाः गोपयिता यस्य, यद्वा प्राणवायुना गोप्यमानं धार्यमाणं यत्तद् अन्तरिक्षं हृदयम् । **ते** । सर्वे पदार्थाः । **इह** । अस्मिन् जन्मनि । **तप्यन्ताम्** । तप उपतापे ऐश्वर्ये च । दिवादिः । आत्मनेपदी-लोट् । ऐश्वर्यवन्तो भवन्तु । पश्यत-"तप्यते धनी, ईश्वरः स्यादित्यर्थः ।" **मयि** । उपासके । **तप्यमाने** । तप उपतापे-कर्मणि शानच् । ब्रह्मचर्यादि-तपश्चर्यां कुर्वति क्लिश्यमाने वा ॥

२—**इदम्** । इन्देः कमिन्नलोपश्च । उ० ४ । १५७ । इति इदि परमैश्वर्ये-कमिन् । पुरोवर्त्ति वक्ष्यमाणं वा वाक्यम् । **देवाः** । दीप्यमानाः । दातारः । विद्वांसः ।

कारक, अन्न वा बल वा विज्ञान का धारण करने वाला, परमेश्वर (मह्यम्) मुझ को (उक्थानि) वेद वचनों का (शंसति) उपदेश करता है। (सः) वह मनुष्य (दुरिते) बड़े कठिन (पाशे) फांस में (बद्धः) बँधा हुआ (नि+युज्यताम्) आज्ञा में रहे, (यः) जो मनुष्य (अस्माकम्) हमारे (इदम्) इस [सन्मार्ग में लगे हुये] (मनः) मन को (हिनस्ति) सतावे ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वानों को परस्पर मिल कर ब्रह्मविचार करना चाहिये। वह सर्वशक्तिमान् दुष्कर्मियों को क्लेश और सुकर्मियों को आनन्द देता है। उस सर्वपोषक ने यह आज्ञा वेद द्वारा मनुष्य मात्र के लिये प्रकाशित की है ॥ २ ॥

इ॒दमि॑न्द्र शृणुहि सोमप॒ यत्त्वा॑ हृ॒दा शोच॑ता॒ जोह॑वीमि। वृ॒श्चामि॒ तं कुलि॑शेनेव वृ॒क्षं यो अ॒स्माकं॒ मन॑ इ॒दं हि॒नस्ति॑ ॥ ३ ॥

इ॒दम्। इ॒न्द्र॒। शृ॒णु॒हि॒। सो॒म॒-प॒। यत्। त्वा॒। हृ॒दा। शोच॑ता। जोह॑वीमि। वृ॒श्चामि॑। तम्। कुलि॑शेन-इव। वृ॒क्षम्। यः। अ॒स्माक॑म्। मन॑ः। इ॒दम्। हि॒नस्ति॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सोमप) हे ऐश्वर्य के रक्षक [वा अमृत पीने वाले वा अमृत

शृणुत। श्रु श्रवणे। आकर्णयत। **यज्ञियाः**। यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ। पा० ५। १। ५७। इति यज्ञ-घप्रत्ययः। यज्ञार्हाः। पूजनीयाः। **स्थ**। भवथ। **भरद्वाजः**। भरत्+वाजः। भृञ् धारणपोषणयोः-शतृ। अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्। पा० ३। ३। १६। इति वज गतौ-घञ्। वाजः, अन्नम्-निघ० २। ७। बलम्-निघ० २। ६। भरत् देवानां पोषकं वाजो हविर्लक्षणम् अन्नं यस्य सोयं भरद्वाजः-इति सायणः। बिभर्तीति भरन् वाजमन्नं यः स भरद्वाजोऽन्नधर्त्ता-इति महीधरो यजुर्वेदभाष्ये १३। ५५। वाजोऽन्नं विज्ञानं वा बिभर्त्ति येन-इति दयानन्दसरस्वती-तत्र यजुर्वेदभाष्ये। अन्नस्य बलस्य विज्ञानस्य वा भर्त्ता धारकः पोषको वा परमेश्वरः। **मह्यम्**। मदर्थम्। **उक्थानि**। पातॄतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक्। उ० २। ७। इति वच कथने-थक्। शास्त्राणि। **शंसति**। शंसु हिंसास्तुत्योः कथने च। कथयति, उपदिशति। **पाशे**। अ० २। ८। १। बन्धने। **बद्धः**। बन्ध बन्धे-क्त। निरुद्धः। निगडितः। **दुरिते**। इण्-क्त। दुर्गते। अतिकठिने। **नि+युज्यताम्**। युज संयमे बन्धने-कर्मणि लोट्। नियतो बद्धो भवतु। **मनः**। मन बोधे-असुन्। मननात्मकं चित्तम्। हृदयम्। **इदम्**। सन्मार्गप्रवृत्तम्। **हिनस्ति**। हिसि हिंसायाम्। बाधते। क्लिश्नाति ॥

३—**इदम्** म० २। वक्ष्यमाणं वाक्यम्। **इन्द्र**। हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन्!

की रक्षा करने वाले] (इन्द्र) राजन्! परमेश्वर! (इदम्) इस [वचन] को (शृणुहि) तू सुन (यत्) क्योंकि (शोचता) शोक करते हुए (हृदा) हृदय से (त्वा) तुझे (जोहवीमि) आवाहन करता रहता हूं। (इव) जैसे (कुलिशेन) कुठारी से (वृक्षम्) वृक्ष को [काटते हैं वैसे ही] मैं (तम्) उस [मनुष्य] को (वृश्चामि) काट डालूं (यः) जो (अस्माकम्) हमारे (इदम्) इस [सन्मार्ग में लगे हुए] (मनः) मन को (हिनस्ति) सतावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे प्रजा गण दुष्टों से पीड़ित होकर राजा के सहाय से उद्धार पाते हैं, वैसे ही बलवान् राजा उस परम् पिता जगदीश्वर के आवाहन से पुरुषार्थ करके अपने कष्टों से छुटकारा पावे ॥ ३ ॥

शृणुहि। उतश्च प्रत्ययादित्यत्र छन्दसि वेति वक्तव्यम्। वा० पा० ६। ४। १०६। इति हेरलुक्। शृणु। **सोमप**। अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षि०। उ० १। १४०। इति षु गतौ। ऐश्वर्यप्रसवयोश्च-मन्। सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः। आतोऽनुपसर्गे कः। पा० ३। २। ३। इति सोम+पा रक्षणे पाने वा-क। हे सोमस्य ऐश्वर्यस्य रक्षक! यद्वा। अमृतस्य मोक्षसुखस्य पानशील रक्षक वा! **यत्**। यतः। यस्मात् कारणात्। **त्वा**। त्वामिन्द्रम्। **हृदा**। हृञ् हरणे-क्विप्। तुक् च। हृदयेन। मनसा। **शोचता**। शुच शोके-शतृ। शोकार्तेन। दुःखितेन। **जोहवीमि**। ह्वेञ् आह्वाने-यङ्लुगन्तात् लडुत्तमैकवचने। ह्वः सम्प्रसारणम् पा० ६। १। ३२। अभ्यस्तस्य च। पा० ६। १। ३३। इति सम्प्रसारणम्। पुनः पुनराह्वयामि। **वृश्चामि**। ओव्रश्चू छेदने। तुदादित्वात् शः। छिनद्मि। **कुलिशेन**। कुल बन्धे संहतौ च-इन्, किच्च। कुलिः=हस्तः। यद्वा। कुल अस्त्यर्थे इनि। कुली पर्वतः। कुलौ हस्ते शेते वर्तते, शीङ् शयने-ड। यद्वा। कुलिनं संहतिवन्तं पर्वतं पर्ववन्तम् अतिदृढं श्यति, शो तनूकरणे-ड। वज्रेण। **वृक्षम्**। स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्। उ० ३। ६६। इति ओव्रश्चू छेदने-स प्रत्ययः। स च कित्। यद्वा। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। पा० ३। १। १३५। इति वृक्ष स्वीकरणे-कः। वृश्चति परिश्रमम्।। यद्वा। वृक्षते स्वीकरोति श्रान्तं जनं स वृक्षः। विटपम्। पादपम्। अन्यद् व्याख्यातम्॥

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः।
इष्टापूर्तमवतु नः पितॄणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥

अशीति-भिः । तिसृ-भिः । साम-गेभिः । आदित्येभिः । वसु-भिः । अङ्गिरः-भिः । इष्टापूर्तम् । अवतु । नः । पितॄणाम् । आ । अमुम् । ददे । हरसा । दैव्येन ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(तिसृभिः) तीन (अशीतिभिः) व्याप्तियों [अर्थात् ईश्वर, जीव, और प्रकृति] से (सामगेभिः=०—गैः) मोक्ष विद्या [ब्रह्म विद्या] के गाने वाले, (आदित्येभिः=०—त्यैः) सर्वथा दीप्यमान, (वसुभिः) प्रशस्त गुण वाले (अङ्गिरोभिः) ज्ञानी पुरुषों के साथ (पितॄणाम्) रक्षक पिताओं

४—**अशीतिभिः** । वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । इति अशू व्याप्तौ-ति छन्दसि इडागमो दीर्घश्च । अथवा, तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके । पा० ७ । ३ । ६५ । इति बाहुलकाद् ईडागमः । व्याप्तिभिः, ईश्वरजीवप्रकृतिरूपाभिः । **तिसृभिः** । त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृ चतसृ । पा० ७ । २ । ९९ । इति त्रि शब्दस्य तिसृ इत्यादेशः । त्रिसंख्याकाभिः । **सामगेभिः** । सातिभ्यां मनिन्मनिणौ । उ० ४ । १५३ । इति षो नाशे-मनिन् । स्यति नष्टीकरोति पापं दुःखमिति साम, सर्वैर्गीयमानो वेदः । साम+गै- उ । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । १० । इति भिस ऐस भावो न । सामगैः । वेदपाठिभिः । ब्राह्मणैः । **आदित्येभिः** । अ० १ । ९ । १ । आङ्+दाञ् दाने दीपी दीप्तौ वा-यक्, निपात्यते । आदातृभि-र्ग्रहीतृभिर्गुणानाम् । प्रकाशमानैः । सूर्यवत्तेजस्विभिः । **वसुभिः** । अ० १ । ९ । १ । वस आच्छादने, निवासे, दीप्तौ च-उप्रत्ययः । श्वसो वसीयश्श्रेयसः । पा० ५ । ४ । ८० । वसु शब्दः प्रशस्तवाची-इति भट्टोजिदीक्षितः सिद्धान्तकौमुद्याम् । प्रशस्तैः । श्रेष्ठैः । **अङ्गिरोभिः** । अङ्गतेरसिरिरुडागमश्च । उ० ४ । २३६ । इति अगि गतौ-असि, इरुडागमः । अङ्गनशीलैः । व्यापनशीलैः ज्ञानिभिः । महार्षिभिः । **इष्टापूर्तम्** । इष्टं च पूर्तं च द्वयोः समाहारः, पूर्वपददीर्घः । यज देवपूजनदानसङ्गतिकरणेषु, इषु वाञ्छे वा-भावे क्त । इज्यते इष्यते वा यत्तद् इष्टम् । पॄ पालने-क्त । न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम् । पा० ८ । २ । ५७ । इति तस्य न नत्वम् । यज्ञवेदाध्ययनान्नप्रदानादि पुण्यकर्म । यथा शब्द-कल्पद्रुमकोषे ।

[पिता के समान उपकारियों] के (इष्टापूर्तम्) यज्ञ, वेदाध्ययन, अन्नदानादि पुण्य कर्म (नः) हमें (अवतु) तृप्त करें, (दैव्येन) विद्वानों के सम्बन्धी (हरसा) तेज से (अमुम्) उस [दुष्ट] को (आ+ददे) मैं पकड़ता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा बहुत से सत्यवादी, सत्यपराक्रमी, सर्वहितैषी, निष्कपटी, विद्वानों की सम्मति और सहाय, और बड़े २ पुरुषों के पुण्य कर्मों के अनुकरण, और दुष्टों को दण्ड दान से प्रजा में शान्ति स्थापित करके सदा सुखी रहे ॥ ४ ॥

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् । अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ ५ ॥

द्यावापृथिवी इति । अनु । मा । आ । दीधीथाम् । विश्वे । देवासः । अनु । मा । आ । रभध्वम् । अङ्गिरसः । पितरः सोम्यासः । पापम् । आ । ऋच्छतु । अप-कामस्य । कर्ता ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी=०—द्यौ) हे सूर्य और पृथिवी ! (मा) मुझ पर (अनु=अनुलक्ष्य) अनुग्रह कर के (आ) भले प्रकार (दीधीथाम्)

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्त्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अवतु । रक्षतु । तर्पयतु । **नः** । अस्मान् । **पितॄणाम्** । अ० १ । २ । १। पालयितॄणाम् । रक्षकानाम् । **आददे** । गृह्णामि । स्वीकरोमि । **अमुम्** । तं शत्रुं पूर्वमन्त्रोक्तम् । **हरसा** । हृञ् हरणे-असुन् । हरो हरते ज्योतिर्हर उच्यते-निरु० ४ । १६ । हरः क्रोधः-निघ० २ । १३ । ज्योतिषा । तेजसा । **दैव्येन** । अ० २ । २ । २ । देव-यञ् । देवसम्बन्धिना ॥

५—**द्यावापृथिवी** । मा० १ । हे सूर्यभूमी । सर्वे पदार्थाः । **अनु** । अनुर्लक्षणे । पा० १ । ४ । ८४ । इति अनोः कर्मप्रवचनीयता । कर्मप्रवचनीयक्तेयु

दोनों प्रकाशित हो, (विश्वे) हे सब (देवासः=०—वाः) उत्तम गुण वाले महात्माओ! (मा) मुझ पर (अनु) अनुग्रह करके (आ) भले प्रकार (रभध्वम्) उत्साही बनो। (अङ्गिरसः) हे ज्ञानी पुरुषो! (पितरः) हे रक्षक पिताओ! (सोम्यासः=०—म्याः) हे सौम्य, मनोहर गुण वाले विद्वानो! (अपकामस्य) अनिष्ट का (कर्त्ता) कर्त्ता (पापम्) दुःख (आ + ऋच्छतु) प्राप्त करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिये कि सूर्य और पृथिवी अर्थात् संसार के सब पदार्थ अनुकूल रहें, और बड़े २ उपकारी विद्वानों के सत्संग से डाकू उचक्के आदि को यथोचित दण्ड देकर और वश में करके शान्ति रक्खे ५॥

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत् क्रियमाणम्। तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥६॥

अति-इव। यः। मरुतः। मन्यते। नः। ब्रह्म। वा। यः। निन्दिषत्। क्रियमाणम्। तपूंषि। तस्मै। वृजिनानि। सन्तु। ब्रह्म-द्विषम्। द्यौः। अभि-संतपाति ॥६॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे शत्रुओं को मारने वाले शूरो! (यः) जो [दुष्ट

द्वितीया। पा० २।३।८। इति मा इत्यस्य द्वितीया। अनुलक्ष्य। **मा**। माम्। **दीधीयाम्**। दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः-लोट्, अदादित्वात् शपो लुक्। दीप्येताम्। **विश्वे**। सर्वे। **देवासः**। जसि असुगागमः। हे देवाः। महात्मानः। **आ + रभध्वम्**। रभ राभस्ये=उत्सुकीभावे-लोट्। उत्सुका भवत। उद्युक्ता भवत-इति सायणाचार्यः। **अङ्गिरसः**। म० ४। हे ज्ञानिनः। महर्षयः। **पितरः**। म० ४। हे पालकाः। पितृवत् सत्करणीयाः। **सोम्यासः**। तस्मै हितम्। पा० ५।१।५। इति यत्। आज्जसेरसुक्। पा० ७।१।५। इति असुक्। हे सोम्याः। सोमाय ऐश्वर्याय हिताः। मनोहराः। प्रियदर्शनाः। **पापम्**। पानीविषिभ्यः पः। उ० ३।२३। इति पा रक्षणे-प प्रत्ययः। पाति रक्षति अस्मादात्मानमिति। अधर्मम्। पातकम्। दुःखम्। **आ + ऋच्छतु**। आर्च्छतु। ऋच्छ गतौ। उपसर्गादृति धातौ। पा० ६।१।९१। इति गुणापवादे वृद्धिः। प्राप्नोतु। **अपकामस्य**। अप नञर्थे + कम इच्छायाम्-घञ। अनिष्टस्य। अपकारस्य। अत्याचारस्य। **कर्ता**। कृञ्-तृच्। कारकः। प्रयोजकः ॥

६—**अतीव**। अतिरतिक्रमणे च। पा० १।४।९५। इव अवधारणे,

पुरुष] (नः) हम पर (अतीव=अतीत्य एव) हाथ बढ़ा कर (मन्यते= मानयते) मान करे, (वा) अथवा (यः) जो (क्रियमाणम्) उपयुक्त किये हुये (ब्रह्म) [हमारे] वेद विज्ञान वा धन की (निन्दिषेत्) निन्दा करे। (वृजिनानि) [उसके] पाप कर्म (तस्मै) उस के लिये (तपूंषि) तापकारी [तुपक रूप] (सन्तु) हों। (द्यौः) दीप्यमान परमेश्वर (ब्रह्मद्विषम्) वेद विरोधी जन को (अभिसंतपाति) सब प्रकार से सन्ताप दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेदों की सर्वोपकारी आज्ञाओं का उल्लंघन करे, उसे शूरवीर पुरुष योग्य दण्ड देवें, वह दुराचारी परमेश्वर की न्यायव्यवस्था से भी कष्ट भोगता है ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद ६ । ५२ । २ है ॥

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा ।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ ७ ॥

सप्त । प्राणान् । अष्टौ । मन्यः । तान् । ते । वृश्चामि । ब्रह्मणा ।
अयाः । यमस्य । सदनम् । अग्नि-दूतः । अरम्-कृतः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे दुष्ट जीव] (ते) तेरे (तान्) उन [प्रसिद्ध] (सप्त) सात

प्रादिसमासः । अत्येव । अतिशयेन अतिक्रम्य तिरस्कृत्य । यः । विरोधी जनः । **मरुतः** । अ० १ । २० । १ । मृङ् प्राणत्यागे अन्तर्भावितण्यर्थः-उति । हे शत्रुनाशकाः । शूराः । **मन्यते** । मन गर्वे चुरादिः, छन्दसि दिवादिः । मानयते । गर्वयते । **नः** । अस्मान् । **ब्रह्म** । अ० १ । ८ । ४ । वेदविज्ञानम् । धनम् । **निन्दिषत्** । णिदि कुत्सायाम्, इदित्वान्नुम् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ ९४ । इत्यडागमः । सिब् बहुलं लेटि । ३ । १ । ३४ । इति सिप् । निन्देत् । दूषयेत् । **क्रियमाणम्** । कृञ् करणे-कर्मणि शानच्, मुकृत्र । अनुष्ठीयमानम् । विधीयमानम् । **तपूंषि** । अर्त्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित् । उ० २ । ११६ । इति तप दाहे-उसि, नित्वाद् आद्युदात्तः । तापकानि तेजांसि आयुधानि वा-इति श्री सायणः । **वृजिनानि** । वृजेः किच्च । उ० २ । ४७ । इति वृजी वर्जने-इनच् । धर्मवर्जकानि पापकर्माणि । **ब्रह्मद्विषम्** । ब्रह्म+द्विष अप्रीतौ-क्विप् । वेदविरोधिनम् । **द्यौः** । गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । इति द्युत दीप्तौ-डो । गोतो णित् । पा० ७ । १ । ९० । इति वृद्धिः । द्योतमानः परमेश्वरः । **अभि-सम्-तपाति** । तप दाहे-लेट् । आडागमः । सर्वतः संदहेत् ॥

७—**सप्त** । सप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १ । १५७ । इति षप समवाये-कनिन्,

(प्राणान्) प्राणों को और (अष्टौ) आठ (मन्यः = मन्याः) नाड़ियों को (ब्रह्मणा) वेद नीति से (वृश्चामि) मैं तोड़ता हूं। तू (अग्निदूतः) अग्नि को दूत बनाता हुआ और (अरंकृतः) शीघ्रता करता हुआ (यमस्य) न्यायकारी वा मृत्यु के (सादनम् = सदनम्) घर में (अयाः) आ पहुंचा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—सात प्राण अर्थात् दो आंख, दो नथने, दो कान और एक मुख, और आठ प्रधान नाड़ियां वा अवयव अर्थात् दो दो दोनों भुजाओं और दोनों टांगों के हैं। तात्पर्य यह है। यथादण्ड शत्रु के अंगों को छेद कर अनेक क्लेशों के साथ भस्म करके शीघ्र नाश कर देना चाहिये कि फिर अन्य पुरुष दुष्ट कर्म न करने पावें ॥ ७ ॥

लिपि प्रमाद से [मन्याः] के स्थान में (मन्यः) पद जान पड़ता है।

टिप्पणी—देखिये अथर्ववेद १० । २ । ६ ॥

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्। येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥

(कः) प्रजापति ने (शीर्षणि) मस्तक में (सप्त) सात (खानि) गोलक (वि ततर्द) खोदे, (इमौ कर्णौ) यह दोनों कान, (नासिके) दो नथने,

---

तुट् च । सप्त संख्याकान् । **प्राणान्** । प्र+अन जीवने-करणे घञ्, प्राणिति जीवत्यनेन। शीर्षण्यानि कर्णनासिकादीन्द्रियाणि । **अष्टौ** । सप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति अशू व्याप्तौ-कनिन, तुट् च । अष्टाभ्य औश् । पा० ७ । १ । २१ । इति औश् । अष्टसंख्याकाः । **मन्यः** । मन धृतौ-क्यप्, स्त्रियां टाप् । लिपिप्रमादेन मन्याः-इत्यस्य स्थाने मन्यः, इति जातमनुमीयते। ग्रीवायाः पश्चात् शिराः । अत्र तु हस्तपादद्वयस्थान् अष्टप्रधानावयवान् । **वृश्चामि** । छिनद्मि । **ब्रह्मणा** । वेदज्ञानेन। धर्मेण । **अयाः** । या प्रापणे-लङ् । त्वं प्राप्तवानसि । **यमस्य** । यम प्रतिबन्धे-अच्, यमयति नियमयति जीवानां पुण्यापुण्यफलम् । न्यायकारिणः पुरुषस्य । मृत्योः । **सादनम्** । षद गतौ-ल्युट्, सीदन्त्यत्र ।

(चक्षुणी) दो आंखें, और (मुखम्) एक मुख। (येषाम्) जिनके (विजयस्य) विजय की (मह्मनि) महिमा में (चतुष्पादः) चौपाये और (द्विपदः) दो पाये जीव (पुरुत्रा) अनेक प्रकार से (यामम्) मार्ग (यन्ति) चलते हैं ॥

आ द॑धामि ते पुदं समि॑द्धे जातवे॑दसि ।

अ॒ग्निः शरी॑रं वेवे॒ष्ट्व॒सुं॑ वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

आ । द॒धा॒मि॒ । ते॒ । पु॒दम् । सम्-इ॑द्धे । जा॒त-वे॑दसि । अ॒ग्निः । शरी॑रम् । वे॒वे॒ष्टु॒ । असुं॑म् । वाक् । अपि॑ । ग॒च्छ॒तु॒ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे दुराचरी] (ते) तेरे (पदम्) पद [वा स्थान] को (समिद्धे) जलती हुई (जातवेदसि) वेदना अर्थात् पीड़ा देने वाली अग्नि में (आ+दधामि) डाले देता हूं । (अग्निः) अग्नि (शरीरम्) [तेरे] शरीर में (वेवेष्टु) प्रवेश करे, और (वाक्) वाणी (अपि) भी (असुम्) [अपने] प्राण [अंश] में (गच्छतु) जावे ॥ ८ ॥

सांहितको दीर्घः । सदनम् । गृहम् । **अग्निदूतः** । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । अग्निर्दूतः अनुचरो यस्य स तथोक्तः । **अरंकृतः** । ऋ गतौ-अच्, इयर्त्ति गच्छत्यनेनेति अरं शीघ्रम् । शीघ्रीकृतः । शीघ्रं न्यायालये प्राप्तः ॥

८—**आ** । समन्तात् । **दधामि** । स्थापयामि । **ते** । तव । त्वदीयम् । **पदम्** । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति पद गत्याम्-अच् । व्यवसायम् । स्थानम् । पादम् । **समिद्धे** । सम्+इन्धी दीप्तौ-क्त । प्रदीप्ते । **जातवेदसि** । अ० १ । ७ । २ । जात+विद वेदनायां, ज्ञाने, सत्तायाम् । यद्वा विद्लृ लाभे-असुन् । जातं वेदो वेदना दुःखं यस्मात् स जातवेदाः, तस्मिन् पीड़ाजनके अग्नौ । **अग्निः** । पावकः । **शरीरम्** । कॄशॄपॄकटिपटिशौटिभ्य ईरन् । उ० ४ । ३० । इति शॄ हिंसायाम्-ईरन् । शीर्य्यते हिंस्यते रोगादिना यत् । गात्रम् । कायम् । **वेवेष्टु** । विष्लृ व्याप्तौ । जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । णिजां त्रयाणां गुणः श्लौ । पा० ७ । ४ । ७५ । प्रविशतु । **असुम्** । शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसि । उ० १ । १० । इति असु क्षेपणे-उ प्रत्ययः । असुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति-निरु० ३ । ८ । प्राणम् । स्वकारणम् । **वाक्** । क्विप् वचिप्रच्छिश्रि० । उ० २ ।

भावार्थ—दुराचारी मनुष्य राजदण्ड और ईश्वर नियम से ऐसा शारीरिक और मानसिक ताप पाता है जैसे कोई प्रज्वलित अग्नि में जल कर कष्ट पाता है ॥ ८ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१—५ । ब्रह्मचारी देवता ॥ १—३, ५ त्रिष्टुप्, ४ अनुष्टुप्छन्दः ॥

ब्रह्मचारिणः समावर्त्तने वस्त्रादिधारणोपदेशः—ब्रह्मचारी के समावर्त्तन, विद्या समाप्ति पर वस्त्र आदि के लिये उपदेश ॥

आयुर्दा अ॑ग्ने जरसं॑ वृणानो घृतप्र॑तीको घृतपृ॑ष्ठो अग्ने ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं॑ पितेवं॑ पुत्रानभि र॑क्षतादिमम् ॥१॥

आयुः-दाः । अग्ने । जरसम् । वृणानः । घृत-प्रतीकः । घृत-पृ॑ष्ठः । अग्ने । घृतम् । पीत्वा । मधु॑ । चारु॑ । गव्यम् । पिता-इव । पुत्रान् । अभि । रक्षतात् । इमम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे तेजस्विन् परमेश्वर ! तू (आयुर्दाः) जीवन दाता और (जरसम्) स्तुति योग्य कर्म को (वृणानः) स्वीकार करने वाला, (घृतप्रतीकः) प्रकाश स्वरूप और (घृतपृष्ठः) प्रकाश [वा सार तत्त्व] से सींचने वाला है । (अग्ने) हे तेजस्विन् ईश्वर ! [अग्नि के समान] (मधु)

---

५७ । इति वच कथने-क्विप्, दीर्घोऽसम्प्रसारणं च । वागिन्द्रियम् । **गच्छतु** । प्राप्नोतु ॥

१—**आयुर्दाः** । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति आयुः+दा दाने-विच् । आयुः-अ० १ । ३० । ३ । जीवनदाता । **अग्ने** । हे तेजस्विन् परमेश्वर ! **जरसम्** । अ० १ । ३० । ३ । जरस्-अर्शआद्यच् । स्तुत्यम् । प्रशंसनीयंकर्म । **वृणानः** । वृङ् संभक्तौ-लटः शानच् । श्नाभ्यस्तयोरातः । पा० ६ । ४ । ११२ । इत्याकारलोपः । संभजमानः । स्वीकुर्वाणः । **घृतप्रतीकः** । अञ्जिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । इति घृ भासि सेके च-क्त ।

मधुर, (चारु) निर्मल, (गव्यम्) गौ के (घृतम्) घृत को (पीत्वा) पीकर, (पिता इव) पिता के समान (पुत्रान्) पुत्रों को (इमम्) इस [ब्रह्मचारी] की (अभि) सब ओर से (रक्षतात्) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि गौ के घृत, काष्ठ आदि हवन सामग्री से प्रज्वलित होकर, हवन, अन्न संस्कार, शिल्प प्रयोग आदि में उपयोगी होता है, वैसे ही परमेश्वर वेद विद्या के और बुद्धि, अन्न आदि पादार्थों के दान से मनुष्यों पर उपकार करता है, इसी प्रकार मनुष्यों को परस्पर उपकारी होना चाहिये ॥१॥

परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः । बृहस्पतिः प्रायच्छद् वास एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ २ ॥

परि । धत्त । धत्त । नः । वर्चसा । इमम् । जरा-मृत्युम् । [जरा-अमृत्युम् ।] कृणुत । दीर्घम् । आयुः । बृहस्पतिः । प्र । अयच्छत् । वासः । एतत् । सोमाय । राज्ञे । परि-धातवै । ऊं इति ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (नः) हमारे लिये (इमम्) इस [ब्रह्मचारी] को (परि+धत्त) वस्त्र पहराओ, और (वर्चसा) तेज वा अन्न से (धत्त)

अलीकादयश्च । उ० ४ । २५ । इति प्रति+इण् गतौ—कीकन् । घृता दीप्ताः प्रतीका अङ्गानि यस्य सः । प्रकाशस्वरूपः । **घृतपृष्ठः** । तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः । उ० २ । १२ । इति पृषु सेके—थक् प्रत्ययान्तो निपातः । घृतस्य पृष्ठं सेचनं यस्मात् सः । प्रकाशेन सेचकः । **घृतम्** । आज्यम् । **पीत्वा** । पानेन स्वीकृत्य । **मधु** । मन—उ । मधुरम् । **चारु** । अ० २ । ५ । १ । मनोहरम् । **गव्यम्** । गोपयसोर्यत् । पा० ४ । ३ । १६० । इति गो—यत् । वान्तो यि प्रत्यये । पा० ६ । १ । ७९ । इति अव् । गोसम्बन्धि । **पिता** । पाता पालकः, जनकः । **इव** । यथा । **पुत्रान्** । अ० १ । ११ । ५ । पूङ् शोधे—क्त । शुभकर्मणा मातापित्रादिशोधकान् । तनयान् । अपत्यानि । **अभि** । सर्वतः । **रक्षतात्** । हेस्तातङ् आदेशः । पाहि । **इमम्** । एनमुपासकम् । ब्रह्मचारिणम् ॥

२—**परि धत्त** । अन्तर्भावितण्यर्थः । परिधापयत । वस्त्रेण अलङ्कुरुत । **धत्त** । पोषयत । **नः** । अस्मभ्यम् । अस्मदर्थम् । **वर्चसा** । तेजसा । अन्नेन,

पुष्ट करो, [तथा इस का] (दीर्घम्) बड़ा (आयुः) आयु, वा आय, अर्थात् धन प्राप्ति, और (जरामृत्युम्=जरा-अमृत्युं जरा-मृत्युं वा) स्तुति से अमरपन, अथवा, स्तुति वा बुढ़ापे से मृत्यु (कृणुत) करो। (बृहस्पतिः) बड़े बड़े [विद्वानों] के रक्षक [राजा वा प्रधानाचार्य] ने (एतत्) यह (वासः) वस्त्र (सोमाय) सूर्य समान (राज्ञे) ऐश्वर्य वाले [ब्रह्मचारी] को (उ) ही (परिधातवै) धारण करने के लिये (प्र+अयच्छत्) दान किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी विद्या समाप्त कर चुके; विद्वान् पुरुष परस्पर उपकार के लिये उस की योग्यता का सत्कार करें और राजा वा आचार्य विशेष वस्त्र आदि से अलंकृत करके उस का मान बढ़ावें जिस से विद्या का प्रचार और आपस में प्रीति अधिक होवे ॥ २ ॥

२—जैसे विद्वान् पुरुष विद्यादि चिह्नों से अलंकृत होकर पुरुषों में दर्शनीय होता है. वैसे ही मनुष्य, मनुष्य-शरीर का चोला पाकर सृष्टि में सर्व श्रेष्ठ गिना जाता है ॥

टिप्पणी—यह मन्त्र अथर्ववेद १६।२४।३। में भी है ॥

निघ० ३।७। **इमम्**। दर्शनीयं ब्रह्मचारिणम्। **जरामृत्युम्**। जरा-अमृत्युं जरा-मृत्युं वा। षिद्भिदादिभ्योऽङ्। पा० ३।३।१०४। इति जॄ-ष् वयोहानौ वेदे तु स्तुतौ च-अङ्। ऋदृशोऽङि गुणः। पा० ७।४।१६। इति गुणः। टाप्। जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः-निरु० १०।८। भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ। उ० ३।२१। इति मृङ् प्राणत्यागे-त्युक्। जरया स्तुत्या अमृत्युम् अमरत्वम्। यद्वा। जरया स्तुत्या वृद्धत्वेन वा मृत्युं मरणम्। **कृणुत**। कुरुत। **दीर्घम्**। दृ विदारणे-घञ्। आयतम्। प्रवृद्धम्। **आयुः**। अ० १।३०।३। इण् गतौ-उसि। जीवितकालः। जीवनसाधनम्। आयः। धनप्राप्तिः। **बृहस्पतिः**। अ० १।८।२। बृहत्+पतिः, सुट्तलोपौ। बृहस्पतिर्बृहतः पाता वा पालयिता वा-निरु० १०।११। बृहतां विदुषां रक्षकः। **प्र+अयच्छत्**। दाण् दाने-लङ्। पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्०। पा० ७।३।७८। इति यच्छादेशः। अददात्। **वासः**। वसेर्णित्। उ० ४।२१८। इति वस आच्छादने-असुन्, स च णित्। वस्त्रम्। वासनम्। ज्ञानम्। **एतत्**। पुरोवर्त्ति। **सोमाय**। अ० १।६।२। षु प्रसवैश्वर्ययोः-मन्। सोमः सूर्यः प्रसवनात्, सोम आत्माप्येतस्मादेवेन्द्रियाणां जनितेत्यर्थः—निरु० १४।१२। सूर्यवत्तेजस्विने। **राज्ञे**। अ० १।१०।१। राजति=ईष्टे। निघ० २।२१। ऐश्वर्यवते पुरुषाय। **परि-धातवै**। तुमर्थे सेसेन्० पा० ३।४।६। इति तवै प्रत्ययः। परिधातुम्। **उ**। एव॥

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उं। शतं च जीवं शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥३॥

परि। इदम्। वासः। अधिथाः। स्वस्तये। अभूः। गृष्टीनाम्। अभिशस्ति-पाः। ऊं इति। शतम्। च। जीव। शरदः॥ पुरूचीः। रायः। च। पोषम्। उप-संव्ययस्व॥ ३॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारिन्!] (इदम्) इस (वासः) वस्त्र को (स्वस्तये) आनन्द बढ़ाने के लिये (परि+अधिथाः) तूने धारण किया है, और (गृष्टीनाम्) ग्रहणीय गौओं की (अभिशस्तिपाः) हिंसा से रक्षा करने वाला (उ) अवश्य (अभूः) तू हुआ है। (च) निश्चय करके (पुरूचीः) बहुत पदार्थों से व्याप्त (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीव) तू जीवित रह, (च) और (रायः) धन की (पोषम्) पुष्टि [वृद्धि] को (उप-सं-व्ययस्व) अपने सब ओर धारण कर॥ ३॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ब्रह्मचारी को विदित कर दें कि यह उस की विद्या का सन्मान इस लिये किया गया है कि संसार में गौ आदि उपकारी पदार्थों

३—**इदम्**। अ० २।१।१। पुरोवर्त्ति। **वासः**। म० २। वस्त्रम्। **परि+अधिथाः**। स्थाघ्वोरिच्च। पा० १।२।१७। इति धाञो लुङि इकारोऽन्तादेशः, सिच्च किद्वत्। ह्रस्वादङ्गात्। पा० ८।२।२७। इति सिज्लोपः। परिहितवानसि। प्राप्तवानसि। **स्वस्तये**। अ० १।३०।२। सु+अस सत्तायाम्-ति प्रत्ययः। क्षेमाय। **अभूः**। भू-लुङ्। त्वं वर्त्तमानोऽभूः। **गृष्टीनाम्**। ग्रहउपादाने-क्तिच्। पृषोदरादित्वात् साधुः। ग्राह्याणां गवाम्। **अभिशस्तिपाः**। अभि-शंसु स्तुतौ, हिंसायां च-क्तिन्।+पा रक्षणे-विच्। अभिशस्तिः अभितो विशसनं हिंसा, तन्निमित्ताद् भयात् पालकः-इति सायणः। हिंसाभयाद् रक्षकः। **शतम्**। बहुनाम-निघ० ३।१। बह्वीः। **जीव**। जीव प्राणे। प्राणान् धारय। **शरदः**। अ० १।१०।२। ऋतुविशेषान्। संवत्सरान्। **पुरूचीः**। ऋत्विग्दधृक्०। पा० ३।२।५९। इति पुरु+अञ्चू गतिपूजनयोः-क्विन्। अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति। पा० ६।४।२४। इति नलोपः। उगितश्च। पा० ४।१।६।

और विद्या धन और सुवर्ण आदि धन की वृद्धि करके कीर्तियुक्त जीवन व्यतीत करें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से अथर्ववेद १९ । २४ । ६ में है ॥

एह्यश्मा॑नमा ति॑ष्ठाश्मा॑ भवतु ते त॒नूः ।
कृ॒ण्वन्तु॒ विश्वे॑ दे॒वा आयु॑ष्टे श॒रदः॑ श॒तम् ॥४॥

आ । इ॒हि॒ । अश्मा॑नम् । आ । ति॒ष्ठ॒ । अश्मा॑ । भ॒व॒तु॒ । ते॒ । त॒नूः । कृ॒ण्वन्तु॑ । विश्वे॑ । दे॒वाः । आयुः॑ । ते॒ । श॒रदः॑ । श॒तम् ॥४॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारिन्] (एहि=आ+इहि) तू आ, (अश्मानम्) इस शिला पर (आ+तिष्ठ) चढ़, (ते) तेरा (तनूः) तन [शरीर] (अश्मा) शिला [शिला जैसा दृढ़] (भवतु) होवे । (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण वाले [पुरुष और पदार्थ] (ते) तेरी (आयुः) आयु को (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (कृण्वन्तु) [दीर्घ] करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी को शिक्षा दें कि वह यथानियम पथ्यसेवन, व्यायाम, ब्रह्मचर्य और पौरुष करके अपने शरीर को दृढ़ और स्वस्थ रक्खे, और विद्वानों के मेल, और उत्तम पदार्थों के सेवन से पूर्ण आयु भोगकर संसार में उपकार करे ॥ ४ ॥

अथर्व० १ । २ । २ । में आया है " (अश्मानं तन्वं कृधि) शरीर को पत्थर सा दृढ़ बना " ॥

अत्र वार्त्तिकम् । अञ्चतेश्चोपसंख्यानम् । इति ङीप् । बहुविधान् पदार्थान् व्याप्नुवतीः । **रायः** । रै-ङस् विभक्तिः । धनस्य । **पोषम्** । पुष्ल पोषणे-घञ् । पुष्टिम् । समृद्धिम् । **उप-सम्-व्ययस्व** । व्येञ् आच्छादने । परिधत्स्व ॥

४—**आ+इहि** । आगच्छ । **अश्मानम्** । अ० १ । २ । २ । प्रस्तरम् । **अश्मा** । पाषाणशिला । पाषाणवद् दृढा । **आ+तिष्ठ** । अधितिष्ठ । आरूढो भव । **तनूः** । तनु विस्तारे-ऊ । शरीरम् । **कृण्वन्तु** । कुर्वन्तु । **विश्वे** । सर्वे । **देवाः** । दिव्यगुणाः पुरुषाः पदार्था वा । **आयुः** । म० २ । जीवनम् । **ते** । तव । युष्मत्तत्ततुष्वन्तः पादम् । पा० ८ । ३ । १०३ । इति सकारस्य षत्वम् । **शरदः** । शरदृतून् । संवत्सरान् । **शतम्** । बह्वीः । बहुसंवत्सरान् ॥

यस्य॑ ते॒ वासः॑ प्रथमवा॒स्यं॑ १ हरा॑म॒स्तं त्वा॒ विश्वे॑ऽवन्तु दे॒वाः । तं त्वा॒ भ्रात॑रः सु॒वृधा॒ वर्ध॑मान॒मनु॑ जायन्तां ब॒हवः॑ सुजा॒तम् ॥ ५ ॥

यस्य॑ । ते॒ । वासः॑ । प्र॒थ॒म॒-वा॒स्य॑म् । हरा॑मः । तम् । त्वा॒ । विश्वे॑ । अ॒व॒न्तु॒ । दे॒वाः । तम् । त्वा॒ । भ्रात॑रः । सु॒-वृधा॑ । वर्ध॑मानम् । अनु॑ । जा॒य॒न्ता॒म् । ब॒हवः॑ । सु-जा॑तम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारिन्] (यस्य) जिस (ते) तेरे (प्रथमवास्यम्) प्रधानता से धारण योग्य (वासः) वस्त्र को (हरामः) हम लाते हैं [धारण कराते हैं] (तम्) उस (त्वा) तेरी (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण (अवन्तु) रक्षा करें । और (तम्) उस (सुवृधा) उत्तम सम्पत्ति से (वर्धमानम्) बढ़ते हुये, (सुजातम्) पूजनीय जन्म वाले (त्वा) तेरे (अनु) पीछे (बहवः) बहुत से (भ्रातरः) भाई (जायन्ताम्) प्रकट हों ॥ ५ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी इस प्रकार विद्वानों में बड़ा मान पावे, तब वह उत्तम गुणों की प्राप्ति से ऐसी वृद्धि और उन्नति करे कि उसी के समान उस के दूसरे भ्रातृगण संसार में यश प्राप्त करें ॥ ५ ॥

टिप्पणी—इस सूक्त में (वासः) पद का चोला अर्थात् मनुष्य शरीर का अर्थ करने से आध्यात्मिक विषय का विनियोग भी हो सकता है—

टिप्पणी २—मन्त्र २ देखिये ॥

५—**वासः** । वस्त्रम् । शरीरम् । **प्रथमवास्यम्** । प्रथ ख्यातौ-अमच् । ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति वस आच्छादने-कर्मणि ण्यत् । तित् स्वरितः । पा० ६ । १ । १८५ । इति स्वरितः । प्रथमं प्रधानत्वेन वास्यं परिधानीयम् । **हरामः** । प्रापयामः । **तम्** । तादृशम् । **त्वा** । त्वां ब्रह्मचारिणमात्मानं वा । **अवन्तु** । रक्षन्तु । **भ्रातरः** । नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृभ्रातृ० । उ० २ । ९५ । इति टु भ्राजृ दीप्तौ-तृन् । यद्वा । भृञ् भरणे-तृन् । भ्राजमानाः परस्परं दीप्यमानाः । परस्परपोषकाः । सहोदराः । भ्रातृवत् परस्परपोषणशीलाः पुरुषाः । **सुवृधा** । वृधु वृद्धौ-क्विप् । महावृद्ध्या । समृद्ध्या । **वर्धमानम्** । वृधु-शानच् । वृद्धिविशिष्टम् । **अनु** । अनुसृत्य । **जायन्ताम्** । जनी प्रादुर्भावे । प्रादुर्भवन्तु । उत्पद्यन्ताम् । **बहवः** । अनेकाः । **सु-जातम्** । जनी-क्त । प्रशस्तजन्मानम् ॥

सूक्तम् १४ ॥

१—६ ॥ अलक्ष्मीर्दुर्भिक्षता वा देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

अलक्ष्मीर्मनुष्यैः प्रयत्नेन नाशनीया-निर्धनता मनुष्यों को प्रयत्न से नाश करनी चाहिये ॥

निः सालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम् ।
सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदान्वाः ॥ १ ॥

निः-सालाम् । धृष्णुम् । धिषणम् । एक-वाद्याम् । जिघत्-स्वम् । सर्वाः । चण्डस्य । नप्त्यः । नाशयामः । सदान्वाः ॥१॥

भाषार्थ—(निः सालाम्) बिना साला वा घर वाली, (धृष्णुम्) भयानक रूपवाली, (एकवाद्याम्) [दीनता का] एक वचन बोलने वाली, (धिषणम्) बोध वा उत्तम वाणी को (जिघत्स्वम्) खालेने वाली, (चण्डस्य) क्रोध की (सर्वाः) इन सब (नप्त्यः=नप्तीः) सन्तानों, (सदान्वाः) सदा चिल्लाने वाली यद्वा, दानवों, दुष्कर्मियों के साथ रहने वाली [निर्धनता की पीड़ाओं] को (नाशयामः) हम मिटा देवें ॥ १ ॥

भावार्थ—निर्धनता के कारण मनुष्य घर से निकल जाता, कुरूप हो जाता, दीन वचन बोलता और मतिभ्रष्ट हो जाता है, और निर्धनता की पीड़ायें

१—**निः सालाम्** । षल गतौ-घञ् । सालः प्राकारोऽस्त्यस्याः सा साला गृहम् । अर्शआदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति अच् । टाप् । निर्गता सालायास्ताम् । निर्गृहाम् । **धृष्णुम्** । स्त्री० । त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः । पा० ३ । २ । १४० । इति धृषि क्रोधे हिंसे, शक्तिबन्धे-क्नु । धर्षणशीलां भयस्य जनयित्रीम् । **धिषणाम्** । धृषेर्धिष च सञ्ज्ञायाम् । उ० २ । ८२ इति ञिधृषा प्रागल्भ्ये-क्यु, धिषादेशश्च । यद्वा, धिष शब्दे-क्यु, धिषणा वाङ् नाम-निघ० १ । ११ । बुद्धिः, कोषे च । बोधं वाचं वा । (जिघत्स्वम्) इत्यस्य कर्म । **एकवाद्याम्** । ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति वद वाचि ण्यत् । एकम् एकप्रकारमेव वाद्यं दीनतारूपं वचनं यस्याः सा । ताम् अलक्ष्मीम् ।

क्रोध अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुष्टताओं से उत्पन्न होती हैं। मनुष्य को चाहिये कि दूरदर्शी होकर पुरुषार्थ से धन प्राप्त करके निर्धनता को न आने दें और सदा सुखी रहे ॥ १ ॥

ऋग्वेद म० १० । सू० १५५ । म० १ में ऐसा वर्णन है ।

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे ।
शिरिम्बिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि ॥ १ ॥

(अरायि) हे अदान शील [कंजूसिनि] ! (काणे) हे कानी ! (विकटे) हे लंगड़ी ! (सदान्वे=सदानोनुवे शब्दकारिके) सदा चिल्लाने वाली ! (गिरिम्) पहाड़ को (गच्छ) चली जा ! (शिरिम्बिठस्य) मेघ के (तेभिः) उन (सत्वभिः) जलों से (त्वा) तुझे (चातयामसि) हम मिटाये देते हैं ॥

इस ऋग्वेद मन्त्र की व्याख्या निरु० ६ । ३० । में है । उसके और निरुक्त टीकाकार देवराज यज्वा के आधार पर यहां अर्थ किया है ॥

जिघत्स्वम् । लुङ्सनोर्घस्ल्ट । पा० २ । ४ । ३७ । इति अद भक्षणे+सन्-घस्लादेशः । ततः । सनाशंसभिक्ष उः । पा० ३ । २ १६८ इति उः, स्त्रियाम् ऊङ् वा । अत्तुमिच्छुम् । **सर्वाः** । निखिलाः । **चण्डस्य** । नपुंसकलिंगम् । चडि कोपे-पचाद्यच् । यद्वा । अमन्ताड् डः । उ० १ । ११४ । इति चण हिंसे-डः । डस्य न इत्वम् । कोपस्य । क्रोधस्य । **नप्त्यः** । न पतन्ति पितरो येनेति नप्ता । नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० । उ० २ । ६५ । इति न+पत अधोगतौ-तृन् । ऋन्नेभ्यो ङीप् पा० ४ । १ । ५ । इति ङीप् । छन्दसि र लोपो जस्त्वं च । नप्त्रीः । अपत्यभूताः । **नाशयामः** । हन्मः । **सदान्वाः** । नौतेः शब्दकर्मणो यङ् लुगन्तात् । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति पचाद्यच् । न धातु लोप आर्धधातुके । पा० १ । १ । ४ । इति गुणप्रतिषेधे उवङ्स्थाने छान्दसो यण् आदेशः, टाप् च । सदान्वे सदानोनुवे शब्दकारिके-निरु० ६ । ३० । दुर्भिक्षाधिदेवतोच्यते, कालकर्णी वा अलक्ष्मीः-इति तत्र टीकायां देवराज यज्वा । सदानोनुवाः । सर्वदा नानूयमानाः शब्दायमानाः सर्वप्रकारा दरिद्रतादिविपत्तीः यद्वा । स+दानवाः । केशाद्वोऽन्यतरस्याम् । पा० ५ । २ । १०६ । अत्र वार्त्तिकम् । अन्येभ्योऽपि दृश्यते । इति व प्रत्ययो मत्वर्थे । अकारलोपः । दानवैश्छेदनशीलैः सह वर्तमानाः ॥

निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात्।
निर्वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥

निः। वः। गो-स्थात्। अजामसि। निः। अक्षात्। निः। उप-आनसात्। निः। वः। मगुन्द्याः। दुहितरः। गृहेभ्यः। चातयामहे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वः) तुमको (गोष्ठात्) [अपनी] गोठ अर्थात् वाचनालाय वा गोशाला से (निर्+अजामसि) हम निकाले देते हैं, (अक्षात्) व्यवहार से (निर्) निकाले, (उपानसात्) अन्नगृह वा धान्य की गाड़ी से (निर्) निकाले देते हैं। (मगुन्द्याः) हे ज्ञान को मिथ्या करनेवाली [कुवासना वा निर्धनता] की (दुहितरः) पुत्रियो! [पुत्री समान उत्पन्न पीड़ाओ] (वः) तुम को (गृहेभ्यः) [अपने] घरों से (निर्) निकालकर (चातयामहे) हम नाश करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य धन के उपार्जन और व्यय करने में ऐसा प्रबन्ध करे

२—**वः**। युष्मान्। **गोष्ठात्**। सुपि स्थः। पा० ३। २। ४। इति गो+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-क। यद्वा। घञर्थे कः। अम्बाम्बगोभूमि पा० ८। ३। ९७। इति षत्वम्। गावो वाचो धेन्वादिपशवो वा तिष्ठन्ति यत्र। गोष्ठयाः। वाचनालयात्। गोशालायाः। **निर्+अजामसि**। अज गतिक्षेपणयोः। इदन्तो मसिः। पा० ७। १। ४६। इति मस् इत्यस्य इकारागमः। निरजामः। निः सारयामः। **निर्** निरजामसि। **अक्षात्**। अक्ष व्याप्तौ-पचाद्यच् घञ् वा। व्यवहारात् **उपानसात्**।। अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः। पा० ५। ४। १०७। इति अनस् शब्दात् टच् समासान्तः। अन जीवने-असुन्। अनः, अन्नम्। शकटम्। जन्म। अनसः समीपम् उपानसं धान्यगृहम्। यद्वा। अनोऽश्मायःसरसां जातिसंज्ञयोः। पा० ५। ४। ९४। इति तत्पुरुषे टच्। उपगतं च तद् अनश्च उपानसं धान्यपूर्णं शकटम्। तस्मात्। धान्यगृहात्। धान्यपूर्णशकटात्। **मगुन्द्याः**। मनु बोधे-ड+गुद्रि मिथ्योक्तौ-अच्, ङीप् च, छन्दसि रलोपः। मं ज्ञानं गुन्द्रयति मिथ्या वदति सा मगुन्द्री तस्याः। ज्ञाननाशयित्र्याः कुवासनायाः

कि पठन पाठन, गौ आदि पशुओं, व्यापार, और अन्न आदि में हानि न हो किन्तु सब पदार्थों के यथावत् संग्रह से सर्वदा सुख की वृद्धि रहे ॥ २ ॥

टिप्पणी—गोट (गोष्ठ) शब्द राजस्थान में बात चीत के स्थान अर्थ में लाया जाता है ।

असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः ।
तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ३ ॥

असौ । यः । अधरात् । गृहः । तत्र । सन्तु । अराय्यः । तत्र ।
सेदिः । नि । उच्यतु । सर्वाः । च । यातु-धान्यः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(असौ) वह (यः) जो (गृहः) घर (अधरात्) नीचे की ओर है, (तत्र) वहां पर (अराय्यः) निर्धनता वाली [विपत्तियां] (सन्तु) रहें । (तत्र) वहां ही (सेदिः) महामारी आदि क्लेश (नि+उच्यतु) नित्य निवास करे, (च) और (सर्वाः) सब (यातुधान्यः) पीड़ा देने वाली क्रियायें भी ॥ ३ ॥

निर्धनतायाः । **दुहितरः** । नप्तृनेष्टृ......दुहितृ । उ० २ । ९५ । इति दुह प्रपूरणे-तृन्, निपातनाद् गुणाभावः । दोग्धि प्रपूरयति कार्याणीति दुहिता । पुत्र्यः । पुत्रीवद् उत्पन्नाः । **गृहेभ्यः** । गेहे कः । पा० ३ । १ । १४४ । इति ग्रह उपादाने-क । गेहात् । **निर्** । निःसार्य निःशेषेण वा । **चातयामहे** । चातयतिर्नाशने-निरु० ६ । ३० । नाशयामः ॥

३—**अधरात्** । अधस्-आति । अधोभागे । नीचस्थाने । **गृहः** । म० २ । गेहम् । **अराय्यः** । रा दानग्रहणयोः—घञ् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति युक् आगमः । राति ददातीति रायो धनम् । न रायः, अरायः, अधनम् । केशाद्वोऽन्यतरस्याम् । पा० ५ । २ । १०९ । इत्यत्र वार्त्तिकम् । छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ । इति मत्वर्थीय ईकारः । अरायः, अधनं यस्याः सा अरायी । अलक्ष्म्यः । विपत्तयः । **तत्र** । अधोदेशे । **सेदिः** । आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । इत्यत्र वार्त्तिकम् । किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि

भावार्थ—जैसे राजा चोर आदि दुष्टों को पकड़ कर कारागार में रखता है, ऐसे ही मनुष्यों को प्रयत्न पूर्वक निर्धनता, दुर्भिक्षता, और दुःखदायी रोगों को हटा कर आनन्दित रहना चाहिये ॥ ३ ॥

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥ ४ ॥

भूत-पतिः । निः । अजतु । इन्द्रः । च । इतः । सदान्वाः । गृह-स्य । बुध्ने । आसीनाः । ताः । इन्द्रः । वज्रेण । अधि । तिष्ठतु ॥४॥

भाषार्थ—(भूतपतिः) न्याय वा सत्य वा प्राणियों का रक्षक (च) और (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य वाला पुरुष (सदान्वाः) सदा चिल्लाने वाली, अथवा, दानवों दुष्कर्मियों के साथ रहने वाली [निर्धनता की पीड़ाओं] को (इतः) यहां से (निर्+अजतु) निकाल देवे। (इन्द्रः) वही महा प्रतापी पुरुष (गृहस्य) [हमारे] घर की (बुध्ने) जड़ में (आसीनाः) बैठी हुई (ताः) उन [पीड़ाओं] को (वज्रेण) वज्र [कुल्हाड़े आदि) से (अधि+तिष्ठतु) वश में करे ॥ ४ ॥

सदादिभ्यो दर्शनात् । इति षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—क्वि प्रत्ययः । तस्य लिड्वद्भावाद् द्विर्वचने एत्वाभ्यासलोपौ । निर्ऋतिः । विषादः । न्युच्यतु । उच समवाये दिवादिः । नित्यं समवैतु । सर्वाः । निखिलाः । यातुधान्यः । अ० १ । ७ । १ । यत ताडने–उण्+धाञ्–युच्, ङीष् । यातना-प्रदाः पीड़ादात्र्यः क्रियाः । (न्युच्यन्तु) इति शेषः ॥

४—भूतपतिः । भू सत्तायां प्राप्तौ च–कर्त्तरि क्त । भूतस्य न्यायस्य सत्यस्य वा, अथवा भूतानां प्राणिनां पालकः पुरुषः । निर् । निसार्य । अजतु । प्रेरयतु । बहिष्करोतु । इन्द्रः । अ० १ । २ । ३ । इदि परमैश्वर्ये–रन् इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मण इदञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा दरयिता च यज्वानाम् निरु० १० । ८ परमैश्वर्यवान् महात्मा । इतः । अस्मात् स्थानात् । सदा-

भावार्थ—क्लेशों के भीतरी कारणों को भली भांति विचार कर राजा और गृहपति सब पुरुषों को सचेत करके क्लेशों से बचावें और आनन्द में रक्खें ॥४॥

यदि॒ स्थ क्षे॑त्रि॒याणां॒ यदि॑ वा॒ पुरु॑षेषिताः ।
यदि॒ स्थ दस्यु॑भ्यो जा॒ता नश्य॑ते॒तः स॒दान्वाः ॥ ५ ॥

यदि॑ । स्थ । क्षे॒त्रि॒याणा॑म् । यदि॑ । वा॒ । पुरु॑ष-इ॒षि॒ताः । यदि॑ । स्थ । दस्यु॑-भ्यः । जा॒ताः । नश्य॑त । इ॒तः । स॒दान्वाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे पीड़ाओं !] (यदि) यदि (क्षेत्रियाणाम्) शरीर सम्बन्धी, वा वंश सम्बन्धी रोगों की (वा) अथवा (यदि) यदि (पुरुषेषिताः) अन्य पुरुषों की प्रेषित (स्थ) हो, (यदि) जो (दस्युभ्यः) चोर आदिकों से (जाताः) प्रकट हुयी (स्थ) हो, वह तुम (सदान्वाः) हे सदा चिल्लाने वाली, अथवा, दानवों के साथ रहने वाली [पीड़ाओ !] (इतः) यहां से (नश्यत) हट जाओ ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को अपने कुपथ्य सेवन, ब्रह्मचर्य आदि के खण्डन से अथवा माता पिता आदि के कुसंस्कार से, शारीरिक वा अध्यात्मिक, और शत्रु चोर आदि के अन्यथा व्यवहार से आधिभौतिक पीड़ायें प्राप्त होती हैं। मनुष्य पुरुषार्थ से सब प्रकार के क्लेशों का नाश करके आनन्द से रहें ॥५॥

न्वाः । म० १ । सदा+ नोनुवाः । आक्रोशकारिणीः, यद्वा, । स+ दानवाः, दानवैः सह वर्त्तमानाः पीड़ाः ॥

५-यदि । पक्षान्तरम् । चेत् । **स्थ** । यूयं भवथ । **क्षेत्रियाणाम्** । अ० २ । ८ । १ । स्वकीये देहे वंशे वा जातानां रोगाणाम् । **पुरुषेषिताः** । पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । इति पुर अग्रगतौ-कुषन् । पुरति अग्रे गच्छतीति पुरुषः । इष गतौ यद्वा, ईष दाने-कर्मणि निष्ठा, इडागमः । अन्यजनैः प्रेषिताः प्रेरिता दत्ता वा । **दस्युभ्यः** । यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् । उ० ३ । २० । इति दसु उपक्षये-युच् । बाहुलकाद् अनादेशाभावः । दस्यति नाशयति परपदार्थानिति दस्युः । चोरादिभ्यः शकाशात् । **जाताः** । प्रादुर्भूताः । **नश्यत** । णश अदर्शने, दिवादिः । तिरोभवत । निर्गच्छत । **सदान्वाः** । म० १ । हे सर्वदा शब्दयित्र्यः, यद्वा, दानवैः सह वर्त्तमानाः ॥

परि॒ धामा॑न्यासामा॒शुर्गाष्ठा॑मिवासरन् ।
अजै॑षं॒ सर्वा॑नाजीन् वो॒ नश्य॑तेतः स॒दान्वाः ॥ ६ ॥

परि॑ । धामा॑नि । आ॒सा॒म् । आ॒शुः । गाष्ठा॑म्-इव । अ॒स॒र॒न् । अजै॑षम् । सर्वा॑न् । आ॒जीन् । वः॒ । नश्य॑त । इ॒तः । स॒दान्वाः ॥६॥

भाषार्थ—[वे विद्वान्] (आसाम्) इन [पीड़ाओं] के (धामानि) धरों को (परि) सब प्रकार (असरन्) पहुंच गये हैं। (आशुः इव) जैसे शीघ्र गमी घोड़ा (गाष्ठाम्) अपने गमन स्थान [थान] पर। (वः) तुम्हारे (सर्वान्) सब (आजीन्) संग्रामों को (अजैषम्) मैं ने जीत लिया है, (सदान्वाः) हे सदा चिल्लाने वाली, अथवा, दानवों के साथ रहने वाली [पीड़ाओ !] (इतः) यहां से (नश्यत) चंपत हो जाओ ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पूर्वज विद्वान् लोग क्लेशों के कारण शीघ्र जान चुके हैं, जैसे कि घोड़ा मार्ग से लौटते समय अपने थान की ओर शीघ्र चलता है, अथवा, जैसे शूरबीर पुरुष संग्राम में शत्रुओं को हराकर शीघ्र विजयी होता है, वैसे ही मनुष्य आयी हुयी विपत्तियों का कारण सावधानी से जानकर शीघ्र प्रतीकार करे और सुख से आयु को भोगे ॥ ६ ॥

६—**परि** । परितः सर्वतः। **धामानि** । सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। इति धाञ्-मनिन्। धीयन्ते द्रव्यजातानि यत्र। गृहाणि। जन्मानि। कारणानि। **आसाम्** । पूर्वोक्तानां पीड़ानाम् । **आशुः** । कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण्। उ० १। १। इति अशू व्याप्तौ, यद्वा, अश भोजने-उण् । अश्वनाम निघ० १। १४। अश्वः कस्मादश्नुतेऽध्वानं महाशनो भवतीति वा-निरु० २। २७। शीघ्रगामी घोटकः। **गाष्ठाम्** । गाङ् गतौ-क्विप्+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-विच् । गमनाय गमनाद्वा तिष्ठति यत्र। गमनस्थानम्। **असरन्** । सृ गतौ भ्वादिः, लङ्। अगच्छन् ते विद्वांसः। **अजैषम्** । जि जये-लुङ्। अहं जितवानस्मि। **आजीन्** । अज्यतिभ्यां च। उ० ४। १३१। इति अज गतिक्षेपणयोः-इण्। वीभावाभावः। आजौ, संग्रामनामसु-निघ० २। १७। अजन्ति गच्छन्ति

(असरन्) के स्थान पर सायणभाष्य में [असरम्] और (गाष्ठाम्) के स्थान पर [ग्लाष्ठाम्] पद व्याख्यात है ॥

सूक्तम् १५ ॥

१—६ ॥ प्राणो देवता । गायत्री छन्दः ॥

मनुष्यो धर्मपालने निर्भयो भवेत्—मनुष्य धर्म के पालन में निर्भय रहे ॥

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः । एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥

यथा । द्यौः । च । पृथिवी । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः । एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (द्यौः) आकाश (च) और (पृथिवी) पृथिवी दोनों (न) न (रिष्यतः) दुःख देते हैं, और (न) न (बिभीतः) डरते हैं । (एव) ऐसे ही, (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ १ ॥

भावार्थ—यह आकाश और पृथिवी आदि लोक परमेश्वर के नियम पालन से अपने २ स्थान और मार्ग में स्थिर रह कर जगत् का उपकार करते हैं, ऐसे ही मनुष्य ईश्वर की आज्ञा मानने से पापों को छोड़ कर और सुकर्मों को करके सदा निर्भय और सुखी रहता है ॥ १ ॥

यत्र विजयश्रियं योद्धारः, क्षिपन्ति शस्त्राणि यत्र । संग्रामान् । वः । युष्माकम् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

१ **यथा** । येन प्रकारेण । **द्यौः** । अ० २ । १२ । ६ । द्योतन्ते लोका यत्र । आकाशम् । **च** । निश्चये । समुच्चये । **पृथिवी** । अ० १ । २ । १ । प्रथ विस्तारे-षिवन्, ङीष् । भूमिः । सत्तास्थानम् । **न** । निषेधे । **बिभीतः** । ञिभी भये । दरं त्रासं प्राप्नुतः । **रिष्यतः** । रिष हिंसायाम् , दिवादिः सकर्मकः । हिनस्तः । आज्ञाभङ्गं कुरुतः—इत्यर्थः । **एव** । एवम् । तथा । **मे** । मम । **प्राण** । प्र+अन् जीवने-अच् , घञ् वा । हे आत्मन् ! **मा बिभेः** । ञिभी भये, लङ् । त्वं शङ्कां मा कार्षीः ॥

यथाहंश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ २ ॥

यथा । अहः । च । रात्री । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (अहः) दिन (च) और (रात्री) रात दोनों (न) न (रिष्यतः) दुख देते हैं और (न) न (बिभीतः) डरते हैं, (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने काल प्रयोग में नहीं चूकते वे अपने सुप्रबन्ध से सदा निर्भय रहते हैं ॥ २ ॥

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ३ ॥

यथा । सूर्यः । च । चन्द्रः । च । न । बिभीतः । न रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण मा । बिभेः ॥

भषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (सूर्यः) सूर्य (च) और (चन्द्रः) चन्द्र, दोनों (न) न (रिष्यतः) दुख देते हैं और (न) न (बिभीतः) डरते हैं, (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे ईश्वर के नियम से सूर्य अपनी राशियों में घूमकर संसार में किरणों और प्रकाश द्वारा वृष्टि आदि से, और चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश लेकर अन्न आदि ओषधों को पुष्ट करके; उपकार करते और निर्भय विचरते हैं, ऐसे ही मनुष्य भी वेद विहित धर्म की रक्षा करके सदा प्रसन्न रहें ॥

२—**अहः** । नञि जहातेः । उ० १ । १५८ । इति नञ्+ओहाक् त्यागे-कनिन् । न जहाति न त्यजति सर्वथा परिवर्त्तमानत्वात् तद् अहः । दिनम् । **रात्री** । अ० २ । ८ । २ । रात्रिः कस्मात् प्ररमयति भूतानि नक्तञ्चारीण्युपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः, निरु० २ । १८ । क्षपा । निशा ॥

३-**सूर्यः** अ० १ । ३ । ५ । आदित्यः । सप्ताश्वः । **चन्द्रः** । अ० १ । ३ । ४ । चन्द्रमाः ॥

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ४ ॥

यथा । ब्रह्म । च । क्षत्रम् । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (ब्रह्म) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] जन (च) और (क्षत्रम्) क्षत्रिय जन, दोनों (न) (रिष्यतः) न दुःख देते और (न) (बिभीतः) डरते हैं । (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ ४ ॥

भावार्थ जैसे सत्यवक्ता ब्राह्मण और सत्य पराक्रमी क्षत्रिय न सताते और न भय करते हैं, वैसे ही प्रत्येक मनुष्य सत्यवक्ता और सत्यपराक्रमी होकर ईश्वराज्ञा पालन में निर्भय होकर आनन्द उठावे ॥ ४ ॥

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ५ ॥

यथा । सत्यम् । च । अनृतम् । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (सत्यम्) यथार्थ (च) और (अनृतम्) अयथार्थ (न) न (रिष्यतः) दुःख देते, और (न) न (बिभीतः) डरते हैं । (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ ५ ॥

भावार्थ—सत्य अर्थात् धर्म का विधान, और असत्य अर्थात् अधर्म का निषेध, यह दो प्रधान अंग न्याय के हैं । मनुष्य विधि और निषेध के यथावत्

४-**ब्रह्म** । अ० १ । ८ । ४ । ब्राह्मणजातिः । वेदवेत्तृजनः । **क्षत्रम्** । क्षणु बधे-क्विप्, क्षत् क्षतम् । ततस्त्रायते । क्षत्+त्रैङ् पालने-क । यद्वा । गुधृवी० उ० ४ । १६७ । इति क्षद भक्षणे; संवेषणे, संवृतौ, बधे च-त्र । क्षदति शत्रूनिति क्षत्रम् । क्षत्रियकुलम् ॥

५—**सत्यम्** । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति सत्-यत् । सद्भ्यो

रूप को समझ कर, कुमार्ग छोड़ कर सुमार्ग में निर्भय चलें और अचल आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

यजुर्वेद में वर्णन है—अ० १९ म० ७७ ।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाᳬ सत्ये प्रजापतिः ॥ १ ॥

(प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक परमेश्वर ने (रूपे) दो रूप, (सत्यानृते) सत्य और झूंठ (दृष्ट्वा) देखकर (व्याकरोत्) समझाये । (प्रजापतिः) उस प्रजापति ने (अनृते) झूंठ में (अश्रद्धाम्) अश्रद्धा वा अप्रीति और (सत्ये) सत्य में (श्रद्धाम्) श्रद्धा वा प्रीति को (अदधात्) धारण कराया ।

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

यथा । भूतम् । च । भव्यम् । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ६ ॥

भषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (भूतम्) अतीत काल (च) और (भव्यम्) भविष्यत् [होने हारा] काल (न) न (रिष्यतः) दुःख देते और (न) न (बिभीतः) डरते हैं (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ ६ ॥

भावार्थ—समर्थ, सत्य प्रतिज्ञा वाले मनुष्य पहले विजयी हुये हैं और आगे होंगे । इसी प्रकार सब मनुष्य भूत और भविष्यत् का विचार करके जो कार्य करते हैं वे सुखी रहते हैं ॥ ६ ॥

हितम् । तथ्यम् । यथार्थकथनम् । अनृतम् । न ऋतं नञ्समासः । मिथ्याभाषणम् ॥

६—भूतम् । भू-क्त । अतीतम् । गतकालः । भव्यम् । भव्यगेयप्रवच-नी-यो० । पा० ३ । ४ । ६८ । इति भू-यत् । भविष्यत् । अनागतम् ॥

सूक्तम् १६ ॥

१—५ ॥ आत्मा देवता । १ आसुरी पङ्क्तिः, २ आसुर्युष्णिक्, ३ आसुरी त्रिष्टुप्, ४—५ आसुरी गायत्री ॥

आत्मरक्षाया उपदेशः—आत्म रक्षा के लिये उपदेश ॥

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥

प्राणापानौ । मृत्योः । मा । पातम् । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (मृत्योः) मृत्यु से (मा) मुझे (पातम्) बचाओ, (स्वाहा) यह सुन्दर वाणी [आशीर्वाद] हो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य, ब्रह्मचर्य, व्यायाम, प्राणायाम, पथ्य भोजन आदि से प्राण अर्थात् भीतर जाने वाली श्वास, और अपान, अर्थात् बाहिर आने वाली श्वास की स्वस्थता स्थापित करें और बलवान् रह कर चिरंजीव होवें ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥

द्यावापृथिवी इति । उप-श्रुत्या । मा । पातम् । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी=०—व्यौ) हे आकाश और पृथिवी ! दोनों (उपश्रुत्या) पूर्ण श्रवण शक्ति के साथ (मा) मेरी (पातम्) रक्षा करो, (स्वाहा) यह सुवाणी [सुन्दर आशीर्वाद] हो ॥ २ ॥

१—**प्राणापानौ** । अन जीवने-अच् वा घञ् । प्राणश्च अपानश्च तौ । हे उच्छ्वासनिश्वासौ । हे अन्तर्मुखश्वासबहिर्मुखश्वासौ । **मृत्योः** । अ० १ । ३० । ३ । मृङ्-त्युक् । प्राणत्यागात् । मरणात् । **मा** । माम् । **पातम्** । युवां रक्षतम् । **स्वाहा** । सु+आङ्+ह्वेञ् आह्वाने-डा । वाङ्नाम-निघ० १ । ११ । स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा-निरु० ८ । २० । सुवाणी । आशीर्वादः । सुदानम् ॥

२—**द्यावापृथिवी** । अ० २ । १ । ४ । हे आकाशभूमी ! तदन्तराल-

भावार्थ—सब दिशाओं में मनुष्य को अपनी श्रवणशक्ति बढ़ानी चाहिये ॥ २ ॥

सूर्य॒ चक्षु॑षा मा पाहि॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

सूर्य॑ । चक्षु॑षा । मा । पा॒हि॒ । स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य, तू (चक्षुषा) दृष्टि के साथ (मा) मेरी (पाहि) रक्षा कर, (स्वाहा) यह सुवाणी हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—सूर्य प्रकाश का आधार है, और उसी से नेत्र में ज्योति आती है। मनुष्य को सूर्य के समान अपनी दर्शन शक्ति संसार में स्थिर रखनी चाहिये ॥ ३ ॥

अग्ने॑ वैश्वानर॒ विश्वै॑र्मा दे॒वैः पा॑हि स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

अग्ने॑ । वै॒श्वा॒न॒र॒ । विश्वै॑ः । मा॒ । दे॒वैः । पा॒हि॒ । स्वाहा॑ ॥४॥

भाषार्थ—(वैश्वानर) हे सब को चलाने वाले (अग्ने) अग्नि ! (विश्वैः) सब (देवैः) इन्द्रियों [वा विद्वानों] के साथ (मा) मेरी (पाहि) रक्षाकर, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—शरीर में अग्नि अर्थात् उष्णता का होना बल, तेज और प्रताप का लक्षण है और इन्द्रिय आदि का चलाने वाला है। सब मनुष्य अन्न की पाचन शक्ति से शरीर में अग्नि स्थिर रखकर सब इन्द्रियों को पुष्ट करें और उत्तम पुरुषों के सत्संग से स्वस्थ और सुखी रहें ॥ ४ ॥

रालवर्तिन्यो दिशो विवक्षिताः । **उपश्रुत्या** । उप+श्रु-क्तिन्, उपश्रूयते । समीपश्रवणेन । पूर्णश्रवणशक्तिप्रदानेन । अन्यद् गतम् ॥

३—सूर्य । अ० १ । ३ । ५ । हे सर्वप्रेरक ! हे आदित्य ! **चक्षुषा** । अ० १ । ३३ । ४ । चक्षिङ् कथने दर्शने च-उसि । नेत्रेण । रूपदर्शनशक्त्या ।

४-अग्ने । अ० १ । ६ । २ । अग्निः कस्मादग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति सन्नममानोऽक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः-निरु० ७ । १४ । हे शरीरस्थतेजोविशेष !। **वैश्वानर** । अ० १ । १० । ४ । वैश्वानरः कस्माद् विश्वान् नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वा-निरु० ७ । २१ । हे सर्वेषामिन्द्रियादीनां नायक !। **विश्वैः** । सर्वैः । **देवैः** । दिवु-अच् । इन्द्रियैः विद्वद्भिः ॥

विश्वंभर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

विश्वम्-भर । विश्वेन । मा । भरसा । पाहि । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(विश्वम्भर) हे सर्वपोषक परमेश्वर ! (विश्वेन) सब (भरसा) पोषण शक्ति से (मा) मेरी (पाहि) रक्षा कर, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब शरीर को स्वस्थ रखकर मनुष्य उस (विश्वम्भर) परमेश्वर के अनन्त पथ्य, पोषक द्रव्यों और शक्तियों का उपयोग करें और अपनी शारीरिक और आत्मिक शक्ति बढ़ा कर सदा बलवान् रहकर (विश्वम्भर) सर्व पोषक बनें और आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

सूक्तम् १७

१—७ ॥ ईश्वरो देवता ॥ १—६ आसुरी त्रिष्टुप्, ७ आसुर्युष्णिक् ॥

आयुर्वर्धनायोपदेशः-आयु बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

ओऽजोस्योजो मे दाः स्वाहा ॥ १॥

ओजः । असि । ओजः । मे । दाः । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर] तू (ओजः) शारीरिक सामर्थ्य (असि) है, (मे) मुझे (ओजः) शारीरिक सामर्थ्य (दाः=दद्याः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर अशीर्वाद हो ॥ १ ॥

भावार्थ—(ओजः) बल और प्रकाश का नाम है। वैद्यक में रसादि सात धातुओं से उत्पन्न, आठवें धातु शरीर के बल और पुष्टि के कारण, और

५-**विश्वम्भर**। संज्ञायां भृतॄवृजि०।पा० ३।२।४६। इति विश्व+डुभृञ धारणपोषयोः-खच्। अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्। पा० ६।३।६७। इति मुम्। हे सर्वधारक ! जगत्पोषक ! विष्णो ! परमात्मन् ! **विश्वेन**। समस्तेन। **भरसा**। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति डुभृञ्-असुन्। पोषणशक्त्या। अन्यद् व्याख्यातम् ॥

१—**ओजः**। अ० १। १२। १। ओज बले, तेजसि-असुन्। बलम्।

ज्ञानेन्द्रियों की नीरोगता को (ओजः) कहते हैं । जैसे (ओजः) हमारे शरीरों के लिये है वैसे ही परमात्मा सब ब्रह्माण्ड के लिये है ऐसा विचार कर मनुष्यों को शारीरिक शक्ति बढ़ानी चाहिये ॥ १ ॥

इस सूक्त का पाठ यजुर्वेद के पाठ से प्रायः मिलता है—अ० १९ । ९ ।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि ।
बलमसि बलं मयि धेहि । ओजोऽस्योजो मयि धेहि ।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि । सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥१॥

तू तेज है, मुझ में तेज धारण कर-इत्यादि ॥

सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥
सहः । असि । सहः । मे । दाः । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मा !] तू (सहः) पराक्रम स्वरूप (असि) है, (मे) मुझे (सहः) आत्मिक पराक्रम (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ २ ॥

भावार्थ।—अनन्त ब्रह्माण्डों का रचक और धारक परमेश्वर पराक्रम स्वरूप है । ऐसा सोचकर विद्यादि उपायों से मनुष्य अपनी आत्मिक शक्ति बढ़ावें ॥ २ ॥

बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥
बलम् । असि । बलम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ ३ ॥

भाषार्थ— [हे ईश्वर !] तू (बलम्) सामाजिक बल (असि) है, (मे) मुझे (बलम्) सामाजिक बल (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर में सब देवता, मनुष्य आदि समाजों का बल है, ऐसा जान कर मनुष्य अपने कुटुम्बी आदि से प्रीति बढ़ा कर सामाजिक बल बढ़ावे ॥ ३ ॥

प्रकाशः । वैद्यके रसादिसप्तधातुसारजधातुविशेषः शरीरस्य बलपुष्टिकारणम् । ज्ञानेन्द्रियाणां पाटवम् । **मे** । मह्यम् । **दाः** । त्वं दद्याः, देयाः ।

२-**सहः** । षह अभिभवे, क्षमायाम्-असुन् । मानसिकबलं । पराक्रमः ।

३—**बलम्** । बल जीवने, दाने, बधे-पचाद्यच् । बलते विपत्तान् हन्तीति । सामान्यशक्तिः । सैन्यम् । सामाजिकं सामर्थ्यम् ॥

आयु॑रस्यायु॑र्मे दाः स्वाहा॑ ॥४॥

आयुः॑ । अ॒सि॒ । आयुः॑ । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

भषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (आयुः) आयु [जीवन शक्ति] (असि) है, (मे) मुझे (आयुः) आयु (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥४॥

भषार्थ—ईश्वर ने हमें अन्न, बुद्धि, ज्ञान आदि जीवन सामग्री देकर बड़ा उपकार किया है, ऐसे ही हम भी परस्पर उपकार से अपना जीवन बढ़ावें ॥ ४ ॥

श्रोत्र॑मसि॒ श्रोत्रं॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥५॥

श्रोत्र॑म् । अ॒सि॒ । श्रोत्र॑म् । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (श्रोत्रम्) श्रवण शक्ति (असि) है (मे) मुझे (श्रवणम्) श्रवण शक्ति (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी अनन्त श्रवण शक्ति से हमारी टेर सुनता और संकटों को काटता है। ऐसे ही हम अपनी श्रवण शक्ति को नीरोग रख कर दूसरों के दुःखों का निवारण करें और वेदादि शास्त्रों का श्रवण करें ॥५॥

चक्षु॑रसि॒ चक्षु॑र्मे दाः स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

चक्षुः॑ । अ॒सि॒ । चक्षुः॑ । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥६॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (चक्षुः) दृष्टि [दर्शन शक्ति] (असि) है, (मे) मुझे (चक्षुः) दर्शन शक्ति (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥६॥

भावार्थ—ऋग्वेद पुरुष सूक्त १० । ६० । १ । में भी परमेश्वर का नाम (सहस्राक्षः) अनन्त दर्शन शक्ति वाला है, इस प्रकार परमात्मा को सर्वद्रष्टा समझ कर मनुष्य अपनी दर्शन शक्ति चंगी रक्खे, और यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर के बहुदर्शी, दूरदर्शी और न्यायकारी होवे ॥६॥

४—आयुः । अ० १ । ३० । ३ । इण् गतौ-उसि, स च णित् । जीवनम् । जीवनकारणम् ।

५—श्रोत्रम् । हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ । इति श्रु गतिश्रुत्योः-त्रन् । श्रवणेन्द्रियम् । कर्णम् ॥

६—चक्षुः । अ० १ । ३३ । ४ । चक्षिङ् दर्शने-उसि । दृष्ट्या । दर्शन-शक्त्या ॥

परि॒पाण॑मसि परि॒पाणं॑ मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

परि॒-पान॑म् । अ॒सि॒ । परि॒-पान॑म् । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥७॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (परिपाणम्) सब प्रकार पालन शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (परिपाणम्) सब प्रकार की पालन शक्ति (दाः) दे, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर को अथर्व० १६ । ६ । १ । में (सहस्रबाहुः) अनन्त भुजाओं की शक्ति वाला कहा है । मनुष्य उस की अनन्त रक्षण शक्ति देख कर आप भी मनुष्यों में (सहस्रबाहुः) महा रक्षक और (शतक्रतुः) शतकर्मा अर्थात् बहुकार्य कर्त्ता होवे ॥ ७ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-५ ॥ ईश्वरो देवता । साम्नी बृहती छन्दः—१८ अक्षराणि ॥

शत्रुभ्यो रक्षा कर्तव्येत्युपदिश्यते—शत्रुओं से रक्षा करनी चाहिये—इसका उपदेश ॥

भ्रा॒तृ॒व्य॒क्षय॑णमसि भ्रातृव्य॒चात॑नं मे दाः॒ स्वाहा॑ ॥१॥

भ्रा॒तृ॒व्य॒-क्षय॑णम् । अ॒सि॒ । भ्रा॒तृ॒व्य॒-चात॑नम् । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(भ्रातृव्यक्षयणम्) वैरियों की नाशन शक्ति (असि) तू है,

---

७—**परिपाणम्** । परि+पा रक्षणे-ल्युट् । कृत्यचः । पा० ८ । ४ । २६ । इति नस्य णत्वम् । परितः सर्वतः पालनं रक्षणसामर्थ्यम् ॥

१—**भ्रातृव्यक्षयणम्** । नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० । २ । ९६ । इति भ्राजृ दीप्तौ, वा भृञ् धारणपोषणयोः—तृन् । ततः । व्यन् सपत्ने । पा । ४ । १ । १४५ । इति व्यन् ।

(मे) मुझे (भ्रातृव्यचातनम्) वैरियों के मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यही सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ १ ॥

भावार्थ—(भ्रातृव्य, वह छली पुरुष है जो देखने में भ्राता के समान प्रीति, और भीतर से दुष्ट आचरण करे । परमेश्वर वा राजा ऐसे दुराचारियों का नाश करता है, ऐसे ही मनुष्य मृगतृष्णारूप, इन्द्रिय लोलुपता और अन्य आत्मिक दोषों का नाश कर के सुख से रहे ॥ १ ॥

सपत्नक्षयंणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥२॥

सपत्न-क्षयंणम् । असि । सपत्न-चातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥२॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (सपत्नक्षयणम्) प्रकट शत्रुओं की नाशशक्ति (असि) है, (मे) मुझे (सपत्नचातनम्) प्रकट शत्रुओं के मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे ईश्वर वा राजा प्रकट कुचालियों का नाश करता है, वैसे ही मनुष्य अपने प्रकट दोषों का नाश करके सुख भोगें ॥ २ ॥

अरायक्षयंणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥३॥

अराय-क्षयंणम् । असि । अराय-चातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥३॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (अरायक्षयणम्) निर्धनता की नाशशक्ति (असि) है, (मे) मुझे (अरायचातनम्) निर्धनता मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यही सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—ईश्वर सर्व शक्तिमान् और महा धनी है, ऐसा विचार कर मनुष्य अपनी दुष्टता और दुर्मति से अथवा अन्य विघ्नों से उत्पन्न निर्धनता को उद्योग कर के मिटावें ॥ ३ ॥

क्षि क्षये—ल्युट । भ्रातृव्यो गुप्तशत्रुः, तस्य क्षयणं नाशनम् । **भ्रातृव्यचातनम् ।** चातयतिर्नाशने—निरु० ६ । ३० । गुप्तशत्रुनाशनम् । **स्वाहा ।** अ० २ । १६ । १ । आशीर्वादोऽस्तु ॥

२—**सपत्नक्षयणम्** । सह+पत गतौ, ऐश्ये-न, सहस्य सः । एकार्थे पतन्ति यतन्ते ते सपत्नाः । तेषां प्रकटशत्रूणां क्षयणं नाशनम् । अन्यद् गतम् ॥

३—**अरायक्षयणम्** । रा+दाने-घञ्, युक् आगमः । नञ्तत्पुरुषः । अरायस्य निर्धनत्वस्य नाशनम् ॥

पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

पिशाच-क्षयणम् । असि । पिशाच-चातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—हे ईश्वर ! तू (पिशाचक्षयणम्) मांस खाने वालों की नाश शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (पिशाचचातनम्) मांस खाने वालों के मिटाने का बल (दाः) दे । (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की न्याय शक्ति का विचार करके मनुष्य कुविचार, कुशीलता और रोगादि दोषों को जो शरीर और आत्मा के हानिकारक हैं मिटावें तथा हिंसक सिंह सर्पादि जीवों का भी नाश करें ॥ ४ ॥

सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

सदान्वा-क्षयणम् । असि । सदान्वा-चातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (सदान्वाक्षयणम्) सदा चिल्लाने वाली वा दानवों के साथ रहने वाली (निर्धनता वा दुर्भिक्षता) की नाश शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (सदान्वाचातनम्) सदा चिल्लाने वाली वा दानवों के साथ रहने वाली [निर्धनता वा दुर्भिक्षता] के मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यही सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—निर्धनता और दुर्भिक्षता [अकाल] आदि विपत्तियों के मारे सब प्राणी महा दुःखी होकर आर्तध्वनि करते, और चोर आदि उन्हें सताते हैं । परमेश्वर की दयालुता और पूर्णता पर ध्यान कर के, मनुष्य प्रयत्न पूर्वक प्रभूत धन और अन्न का संचय करके आनन्द से रहें ॥ ५ ॥

४—**पिशाचक्षयणम्** । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति पिशित+अश भक्षणे-अण् । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । पा० ६ । ३ । १०६ । इति शित-भागस्य लोपः, अशभागस्य शाचादेशः । पिशितं मांसम् अश्नन्तीति पिशाचाः कुविचाराः, अथवा, शारीरिकरोगा हिंसकाः प्राणिनो वा, तेषां नाशनम् ॥

५—**सदान्वाक्षयणम्** । अ० २ । १४ । १ । सदानोनुवानां सर्वदा शब्दकारिकाणां वा दानवैः राक्षसैः सह वर्त्तमानानां दरिद्रतादिविपत्तीनां नाशनम् ॥

सूक्तम् १८ ॥

१—५ ॥ अग्निर्देवता । १—४ साम्नी त्रिष्टुप्, २२ अक्षराणि, ५ साम्नी जगती ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो३॒॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ १ ॥

अग्ने॑ । यत् । ते॒ । तपः॑ । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । त॒प॒ । यः । अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥१॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [अग्नि पदार्थ] (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप [ऐश्वर्य] है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तप) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करता है, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—दुराचारी, कामी, क्रोधी आदि पुरुष की मति भ्रष्ट हो जाती है, और कुप्रयोग से शारीरिक और बाह्य अग्नि दुःखदायी होती, और वही अग्नि सुप्रयोग से विचारशील सदाचारियों को सुखप्रद होती है। ऐसा ही आगे समझना चाहिये ॥ १ ॥

ऐसा कहा भी है—

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ॥

गुण गुण जानने वालों में गुण होते हैं, वही निर्गुणी को पाकर दोष हो जाते हैं ॥

१—अग्ने । अग्निनामतेजो विशेष ! ते । त्वदीयम् । तपः । तप दवैश्वर्ययोः—असुन् । प्रतापः । ऐश्वर्यम् । तेन । तपसा । तम् । दोषम् । प्रति । लक्षीकृत्य । तप । प्रतापी भव । यः अस्मा- द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । इति व्याख्यातम्—अ० २ । ११ । ३ ॥

अग्ने यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥२॥

अग्ने । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥२॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाश शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति हर) नाश कर दे (यः) जो (अस्मान्) हम से..........मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

अग्ने यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

अग्ने । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥३॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से.........मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

अग्ने यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

२—हरः । हृञ् प्रापणस्वीकारस्तेयनाशनेषु-असुन् । हरो हरतेर्ज्योतिर्हर उच्यते-निरु० ४ । १९ । हरति तमः । नाशनशक्तिः । हर । नाशय ॥

३—अर्चिः । अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः । उ० २ । १०८ । इति अर्च पूजाप्रकाशयोः-इसि । ज्वलतो नाम-निघ० १ । १७ । दीपनम् । ज्वाला । अर्च । ज्वलितो भव । दीप्यस्व ॥

अग्ने॑ । यत् । ते । शोचिः॑ । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । शोच॒ । यः । अस्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥४॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (शोचिः) शोधन-शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध करदे, (यः) जो (अस्मान्) हम से ....मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ तेज॒स्तेन॒ तम॑ते॒जसं॑ कृणु॒ यो॑३॒॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ ५ ॥

अग्ने॑ । यत् । ते॒ । तेजः॑ । तेन॑ । तम् । अ॒ते॒जसं॑म् । कृ॒णु॒ । यः । अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [अग्नि पदार्थ] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) करदे, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करता है, [अथवा] (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २० ॥

१-५ ॥ वायुर्देवता । १-४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

वायो॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॑३॒॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ १ ॥

४—**शोचिः** । अर्चिशुचि० । उ० २ । १०८ । इति ईशुचिर् शौचविशरणयोः-इसि । ज्वलतो नाम-निघ० १ । १७ । शुच्यत्यनेनेति । शोधनसामर्थ्यम् । **शोच** । शोचय, शोधय ॥

५—**तेजः** । अ० १ । ३५ । ३ । तिज निशाने, तेज निशानपालनयोः—असुन् । कान्तिः । **अतेजसम्** । तिज, तेज-असुन् । नञ्समासः । कान्ति-रहितम् । निस्तेजस्कम् । **कृणु** । कुरु ॥

वायो इति । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व !] (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तप) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करता है, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—कुप्रयोग से वायु तत्त्व दुःख देता और सुप्रयोग से आनन्द बढ़ाता है । सू० १६ म० १ देखें ॥ १ ॥

वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

वायो इति । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति हर) नाश कर दे (यः) जो (अस्मान्) हम से .... मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

वायो इति । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो (यः) जो (अस्मान्) हम से .... मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

१—**वायो** । कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । इति वा गतिगन्धनयोः—उण् आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति युक् । वायुर्वातेर्वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः—निरु० १० । १ । हे पवन ! अन्यद् गतम्, सू० १६ ॥

२, ३, ४, ५—उपरि व्याख्याताः ॥

वायो यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

वायो इति । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरा (शोचिः) शोधन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध कर दे, (यः) जो (अस्मान्) हम से ·········मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

वायो इति । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) कर दे, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २१ ॥

१-५ । सूर्यो देवता । १-४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

सूर्य । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [आदित्य मण्डल] ! (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तप) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिस से [वयम्] हम [द्विष्मः] अप्रिय करें ॥ १ ॥

भावार्थ—सूर्य सृष्टि के पदार्थों को वीर्यवान् और तेजस्वी करता है। किन्तु वही कुप्रयोग से दुःखदायी और सुप्रयोग से सुखदायी होता है ॥ १ ॥

सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

सूर्य । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति हर) नाश कर डाल, (यः) जो (अस्मान्) हम से......मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २

सूर्य यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

सूर्य । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः)

१-सूर्य । अ० १ । ३ । ५ । हे सरणशील ! हे प्रेरणशील ! आदित्य ! अभ्युपरिगतम् ॥

२, ३ ४, ५—उपरि व्याख्याताः ॥

दीपन शक्ति है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

सूर्य॒ यत्ते॒ शोचि॒स्तेन॒ तं प्रति॑ शोच॒ यो॒३॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ ४ ॥

सूर्य॑ । यत् । ते॒ । शोचिः॑ । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । शो॒च॒ । यः । अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल] (यत्) जो (ते) तेरी (शोचिः) शोधन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध करदे, (यः) जो (अस्मान्) हमसे...मन्त्र ॥ १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

सूर्य॒ यत्ते॒ तेज॒स्तेन॒ तम॑ते॒जसं॑ कृणु॒ यो॒३॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ ५ ॥

सूर्य॑ । यत् । ते॒ । तेजः॑ । तेन॑ । तम् । अ॒ते॒जस॑म् । कृ॒णु॒ । यः । अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) करदे, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥५॥

सूक्तम् २२

चन्द्रो देवता ॥ १—४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगती छन्दः॥

कुप्रयोगत्यागोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

चन्द्र॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो॒३॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥१॥

चन्द्र । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥१॥

भावार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस (दोष) पर (तप) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ १ ॥

भावार्थ—शीतल स्वभाव चन्द्रमा स्वभावतः अपनी किरणों से अनिष्टों को हटा कर अन्न आदि ओषधियों को पुष्ट कर के प्राणियों को आनन्द देता है। परन्तु उसी चन्द्रमा के कुप्रयोग से मनुष्य पागल [Lunatic] और घोड़े आदि पशु रोगी हो जाते हैं। इस कुप्रयोग का त्याग कर के सुप्रयोग से आनन्द प्राप्त करना चाहिये ॥ १ ॥

चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥२॥

चन्द्र । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥२॥

भावार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] का (प्रति हर) नाश कर डाल, (यः) जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

चन्द्र । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

१—चन्द्र । अ० १ । ३ । ४ । हे आह्लादक चन्द्रलोक ! ।

भाषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

चन्द्र । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरी (शोचिः) शोधन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध करदे (यः) जो (अस्मान्) हम से···मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

चन्द्र । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥५॥

भषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) करदे, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा (यम) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २३ ॥

१—५ ॥ आपो देवताः । १—४ साम्नी जगती, ५ स्वराट् साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागोपदेशः—कुप्रयोग त्याग के लिये उपदेश ॥

आपो यद् वस्तपस्तेन तं प्रति तपत यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

आपः । यत् । वः । तपः । तेन । तम् । प्रति । तपत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जल [जल पदार्थ !] (यत्) जो (वः) तुम्हारा (तपः) प्रताप है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तपत) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ १ ॥

भावार्थ—वृष्टि, नदी, कूप आदि का जल अनावृष्टि दोषों को मिटाकर अन्न आदि पदार्थों को उत्पन्न करके प्राणियों को बल और सुख देता है, और वही कुप्रबन्ध से दुख का कारण होता है, ऐसे ही राजा सामाजिक नियमों के विरोधी दुष्टों का नाश करके प्रजा को समृद्ध करता और सुख देता है ॥ १ ॥

आपो यद् वो हरस्तेन तं प्रति हरत यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

आपः । यत् । वः । हरः । तेन । तम् । प्रति । हरत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो (यत्) जो (वः) तुम्हारी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति हरत) नाश कर डालो, (यः) जो (अस्मान्) हम से ... म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

आपो यद् वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

आपः । यत् । वः । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्चत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो (यत्) जो (वः) तुम्हारी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्चत) प्रदीप्त हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से... म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

आपो यद् वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

आपः । यत् । वः । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोचत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो ! (यत्) जो (वः) तुम्हारी (शोचिः) शोधन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोचत) शुद्ध करदो, (यः) जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

आपो यद् वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

आपः । यत् । वः । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणुत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो ! (यत्) जो (वः) तुम्हारा (तेजः) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणुत) करदो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २४ ॥

१-८ ॥ ईश्वरो देवता । पूर्वार्धाः-१, २ भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप् २३; ३, ४ निचृत् साम्नी त्रिष्टुप् २१; ५ साम्नी बृहती १८; ६-७ भुरिक् साम्नी बृहती छन्दः, १८; उत्तरार्धाः सर्वत्र साम्नी बृहती १८ अक्षराणि ॥

म० १-४ । कुसंस्काराणां ५-८ कुवासनानां च नाशायोपदेशः-म० १-४ कुसंस्कारों के और ५-८ कुवासनाओं के नाश का उपदेश ॥

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥१॥

शेरभक । शेरभ । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शेरभक) अरे बधकपन में मन लगाने वाले ! (शेरभ) अरे रंग में भंग डालने वाले ! [दुष्ट !] और (किमीदिनः) अरे लुतरे लोगो ! (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें, और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें । तुम (यस्य) जिस के [साथी] (स्थ) हो, (तम्) उस [पुरुष] को (अत्त) खाओ, (यः) जिस [पुरुष] ने (वः) तुम को (प्राहैत्=प्राहैषीत्) भेजा है, (तम) उस को (अत्त) खाओ, (स्वा=स्वानि) अपने ही (मांसानि) मांस की बोटियां (अत्त) खाओ ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे नीति निपुण राजा अपने बुद्धिबल से ऐसा प्रबन्ध करता है कि शत्रु जो कुछ छलबल करे वह उसी को ही उलटा दुःखदायी हो, और उसके मनुष्य उसकी कुनीतियों को जान कर उस का ही नाश कर दें, और वह लोग

१—शेरभक । शसु बधे-ड । कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन् । उ० ५।३५। इति रभङ् उत्सुकीभावे=अविचारप्रवृत्तौ—वुन् । शसति हन्ति येनेति शः । शस्त्रं हननं बधो वा । शे बधे । रभते उत्सुकीभवतीति शेरभकः, तत्सम्बुद्धौ । अलुक् समासः । हे हिंसायामुत्सुक । शेरभ । वृधिवपिभ्यां रन् । उ० २ । २७ । इति शीङ् स्वप्ने-रन् । ओभञ्जो मोटने-ड । शेवं सुखनाम-निघ० ३ । ६ । शेरं शेवं सुखं भनक्तीति शेरभः सुखभञ्जकः, तत्सम्बुद्धौ । पुनः । पन स्तुतौ-अर्, अकारस्य उत्वम् । द्वितीयवारे । भेदे । निवृत्य । वः । युष्माकम् । यन्तु । इण् गतौ । गच्छन्तु । यातवः । अ० १ । ७ । १ । यत ताड़ने-उण् । ताड़नाः । पीड़ाः । हेतिः । अ० १ । १३ । ३ । हन बधे-क्तिन् । हननम् । वज्रः । किमीदिनः । अ० १ । ७ । १ । किम्+इदम्-इनि । पिशुनाः । यस्य । अस्मद्विरोधिनः । स्थ । सहायका भवथ । तम् । विरोधिनम् । अत्त । भक्षयत । वः । युष्मान् ।

आपस में विरोध करके परस्पर मार डालें। इसी प्रकार आत्मजिज्ञासु पुरुष अपने शरीर और आत्मा की निर्बलता और दोषों और उन से उत्पन्न दुष्ट फलों को समझ कर बुद्धिपूर्वक उन्हें एक एक करके नाश करदे, और जितेन्द्रिय हो कर आनन्द भोगे ॥ १ ॥

सायणभाष्य में (स्वा) पद के स्थान में (सा) पद है और उसका अर्थ [तस्य शत्रोः यद्वा सा हेतिः] ऐसा किया है, हमारी समझ में बहुवचनान्त (स्वा) पद ही ठीक है ॥

इस सूक्त के पहिले चार मन्त्रों में पुंलिङ्ग शब्दों का, और पिछले पांच मन्त्रों में स्त्रीलिङ्गों का संबोधन है ॥

शेवृ॑धक॒ शेवृ॑ध॒ पुन॑र्वो यन्तु या॒तवः॒ पुन॑र्हे॒तिः कि॑मीदिनः।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो वः॒ प्राहै॑त् तम॑त्त॒ स्वा मां॒सान्य॑त्त ॥२॥

शेवृ॑धक। शेवृ॑ध। पुनः॑। वः॒। य॒न्तु॒। या॒तवः॑। पुनः॑। हे॒तिः। कि॒मी॒दि॒नः॒। यस्य॑। स्थ। तम्। अ॒त्त॒। यः। वः॒। प्र-अहै॑त्। तम्। अ॒त्त॒। स्वा। मां॒सानि॑। अ॒त्त॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शेवृधक) अरे वधक पन में बढ़ने वाले ! (शेवृध) अरे सुख के नाश करने वाले [दुष्ट] ! और (किमीदिनः) अरे लुतरे लोगो ! (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) (चोट)...मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

प्र-अहैत्। हि गतौ-अन्तर्भावितण्यर्थः। लुङि सिचि वृद्धौ। बहुलं छन्दसि। पा ७। ३। ९७। इति अपृक्तप्रत्ययस्य ईडभावे। स्कोः संयोगाद्योरन्ते०। पा० ८। २। २९। इति सलोपः। प्राहैषीत्। प्रेषितवान्। **स्वा**। स्वानि। **मांसानि**। अ० १। ११। ४। मन ज्ञाने धृतौ च—सप्रत्ययः। पिशितानि ॥

२-**शेवृधक**। शसु वधे-ड। बहुलमन्यत्रापि। उ० २। ३७। इति वृधु वृद्धौ वृध दीप्तौ-कुन्। शे शस्त्रे हनने वधे वा वर्धते दीप्यते वा स शेवृधकः। तत्सम्बुद्धौ। **शेवृध**। सावसेर्न्। उ० २। ९६। इति शेवृ सेवने-अन्। धक नाशने-डप्रत्ययः। शेवं सुखनाम-निघं ३। ६। शेवृ शेवं सुखं धक्कयतीति शेवृधः। हे सुखनाशक। अन्यत् पूर्ववत् ॥

म्रोकानु॑म्रोक॒ पुन॑र्वो यन्तु यातव॒: पुन॑र्हे॒तिः किमीदिन: ।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो व॒: प्राहै॒॑त् तम॑त्त॒ स्वा मांसान्य॑त्त॥३॥

म्रोक॑ । अनु॑-म्रोक । पुन॑: । व॒: । यन्तु । यातव॑: । पुन॑: । हे॒तिः ।
कि॒मी॒दि॒न॒: । यस्य॑ । स्थ । तम् । अ॒त्त॒ । यः । व॒: । प्र॒-अहै॑त् ।
तम् । अ॒त्त॒ । स्वा । मांसानि॑ । अ॒त्त॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(म्रोक) अरे चोर ! (अनुम्रोक) अरे चोरों के साथी ! (किमीदिनः) अरे तुम लुतरे लोगो ! (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें...मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

सर्पानु॑सर्प॒ पुन॑र्वो यन्तु यातव॒: पुन॑र्हे॒तिः किमीदिन: ।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो व॒: प्राहै॒॑त् तम॑त्त॒ स्वा मांसान्य॑त्त॥४॥

सर्प॑ । अनु-सर्प॑ । पुन॑: । व॒: । यन्तु । यातव॑: । पुन॑: । हे॒तिः ।
कि॒मी॒दि॒न॒: । यस्य॑ । स्थ । तम् । अ॒त्त॒ । यः । व॒: । प्र॒-अहै॑त् ।
तम् । अ॒त्त॒ । स्वा । मांसानि । अ॒त्त॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सर्प) अरे सांप [क्रूर स्वभाव !] (अनुसर्प) अरे सांपों के साथी ! (किमीदिनः) अरे तुम लुतरे लोगो ! (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें ...म० १॥ ४॥

भावार्थ—मन्त्र एक के समान ॥ ४

३-म्रोक । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति मुच गतौ-कर्तरि घ प्रत्ययः । चजोः कुघिण्यतोः । पा० ७ । ३ ५२ । इतिः कुत्वम् । म्रोचति धनादिकम् अपहृत्य छन्नः सन् गच्छतीति म्रोकः-इति सायणः । हे चौर, म्लेच्छ । **अनुम्रोक** । म्रोकान् अनु गच्छतीति अनुम्रोकः । चौरसहायक ! ॥

४-सर्प—सृप्लृ गतौ पचाद्यच् । सर्पति इतस्ततो गच्छतीति सर्पः हे हिंस्रजन्तुविशेष ! तद्वत् क्रूरस्वभाव पुरुष ! **अनु सर्प** । सर्पान् अनुसृत्य सह व्याप्य गच्छतीति अनुसर्पः । हे सर्पानुसारिन् । हिंस्रसहायक ॥

जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥५॥

जूर्णि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(जूर्णि) अरी जूड़ी [जाड़े के ज्वर] ! (किमीदिनीः=०न्यः) अरी तुम लुतरियो ! [कुवासनाओ !] (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें ...... म० १ ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो नीतिज्ञ पुरुष अपने मन की कुवासनाओं और उन के कारण को जान कर उनको सर्वथा मिटाता है, वह वशिष्ठ महा उपकारी जितेन्द्रिय होकर संसार का उपकार करके आनन्दित होता है ॥ ५ ॥

उपब्दे पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥६॥

उपब्दे । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(उपब्दे) अरी चिंघारने वाली ! और (किमीदिनीः=०—न्यः)

५—**जूर्णि** । वीज्याज्वरिभ्यो निः । उ० ४ । ४८ । इति ज्वर रोगे-नि । ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च । पा० ६ । ४ । २० । इति वकारोपधयोरूठ् । शीतज्वरवद् दुःखप्रदकुवासने । **किमीदिनीः** । ऋन्नेभ्यो ङीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । किमीदिन्यः । पिशुन्यः ।

६ - **उपब्दे** । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति उपपूर्वात् पद गतौ,

अरी तुम लुतरियो [कुवासनाओ !] (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें ⋯ म० ५ ॥ ६ ॥

भावार्थ—कुवासनाओं और कुचिन्ताओं से मनुष्य कठोरवादी हो जाता है ॥ ६ ॥

अर्जुनि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥७॥

अर्जुनि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अर्जुनि) अरे कुटिनी [दूती !] (किमीदिनीः=न्यः) अरी तुम लुतरियो ! [कुवासनाओ] (वः) तुम्हारी (यातवः) पीडायें ⋯⋯ म० ५ ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कुवासनाओं को कुटिनी वा दूती इत्यादि माना है—शेष मन्त्र ५ के समान ॥ ७ ॥

भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥८॥

भरूजि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(भरूजि=भरुजि) अरी नीच शृगाली [गीदड़नी, लोमड़ी] !

वा वद वाचि–इन् । यद्वा, कृत्यल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति बहुलवचनात् । उपसर्गे घोः किः । पा० ३ । ३ । ९२ । इति दो अवखण्डने–कि । पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः । उपब्दिः, वाङ् नाम–निघ० १ । ११ । उपेत्य द्यति खण्डयतीति । हे क्रूरशब्दकारिणि ॥

७—**अर्जुनि** । ऋजेर्णि लुक् च । उ० ३ । ५८ । इति अर्ज लाभे, संस्कारे च–उनन् । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । ङीष् । हे कुट्टिनि ॥

८—**भरूजि** । भ + रुजो भङ्गे, वा रुज हिंसायाम्–क । भ–इति शब्देन रुज-

(किमीद्नी := ०-न्यः) अरी तुम लुतरी [कुवासनाओ !] (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें, और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट २ कर (यन्तु) चली जावें। तुम (यस्य) जिस की [साथिनि] (स्थ) हो, (तम्) उस [पुरुष] को (अत्त) खाओ, (यः) जिस [पुरुष] ने (वः) तुम को (प्राहैत्) भेजा है, (तम्) उसे (अत्त) खाओ (स्वा = स्वानि) अपने ही (मांसानि) मांस की बोटियां (अत्त) खाओ ॥ ८)

भावार्थ—(भरूजी वा भरुजी) गीदड़नी को कहते हैं। जैसे गीदड़नी छल कपट कर के पीड़ा देती है, ऐसे ही मनुष्य कुवासनाओं के कारण कपटी छली होकर सताने लगता है। कुवासनाओं के नाश करने का उपाय पुरुष को प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये-म० ५ देखो ॥ ८ ॥

टिप्पणी—(भरूजि) पद के स्थान में सायणभाष्य में [भरूचि] पद व्याख्यात है ॥

सूक्तम् २५ ॥

१-५ ॥ पृश्निपर्णी देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनाशायोपदेशः-शत्रुओं के नाश के लिये उपदेश ॥

शं नो॑ दे॒वी पृ॑श्निप॒र्ण्यशं॒ निर्ऋ॑त्या अकः ।
उ॒ग्रा हि क॑ण्व॒जम्भ॑नी॒ ताम॑भक्षि॒ सह॑स्वतीम् ॥ १ ॥

शम् । नः॒ । दे॒वी । पृश्नि॑-प॒र्णी । अशम् । निः-ऋ॑त्यै । अ॒कः॒ ।
उ॒ग्रा । हि । क॒ण्व॒-जम्भ॑नी । ताम् । अ॒भ॒क्षि॒ । सह॑स्वतीम् १॥

भाषार्थ—(देवी) दिव्य गुण वाली (पृश्निपर्णी) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा, सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधि रूप परमेश्वर

तीति भरुजः क्षुद्रशृगालः-इति शब्दकल्पद्रुमकोषे। जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्। पा० ४। १। ६३। इति ङीष्, उकारस्य छान्दसो दीर्घः। हे क्षुद्रशृगालि। तद्वत् कपटिनि ॥

१-**शम्** । सुखम् । **नः** । अस्मभ्यम् । **देवी** । दीप्यमाना । **पृश्निपर्णी** । पृश्निः-इति व्याख्यातम्, अ० २। १। १। स्पृश स्पर्शे—नि, सलोपः। पृश्निः = सूर्यः, पृथिवी। धापॄवस्यजयनिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति पॄ पालन-पूरणयोः-न। पिपर्त्ति पालयति पूरयति वा तत् पर्णं पत्रं वा। स्त्रियां ङीष्। सूर्यस्य पृथिव्या वा परमेश्वरस्य पालनशक्तिः। सूर्यवत् पृथिवी वद्वा पर्णानि पत्राणि यस्याः सा पृश्निपर्णी, ओषधिरूपा परमेश्वरशक्तिः। पृश्निपर्णी चित्रपर्णी ओषधिः—इति सायणः। पृश्नि स्पृष्टं पर्णमस्याः—जात-

शक्ति] ने (नः) हमारे [पुरुषार्थियों के] लिये (शम्) सुख, और (निर्ऋत्यै) दुःखदायिनी अलक्ष्मी, महामारी आदि पीड़ा के लिये (अशम्) दुःख (अकः= अकार्षीत्) किया है। (हि) क्योंकि वह शक्ति (उग्रा) प्रचंड और (कण्व-जम्भनी) पाप की नाश करने वाली है, [इसलिये] (ताम्) उस (सहस्वतीम) बलवती को (अभक्षि) मैं ने भजा वा पूजा है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सूर्य आदि बड़े बड़े लोकों को धारण किया है और जैसे पृथिवी पर अन्नादि ओषधियां अपने पत्ते, फलादि से उपकार करती हैं, वैसे ही परमेश्वर की सृष्टि में सूर्यादि लोक आकर्षण, धारण, वृष्टि आदि से परस्पर उपकारी होते हैं। परमेश्वर अपने आज्ञापालक पुरुषार्थियों को सुख, और आज्ञानाशक कर्महीनों को दुःख देता है। उस दयालु और प्रचंड परमात्मा की आज्ञा मान कर हम सदा आनन्द भोगें ॥

टिप्पणी—(पृश्नि) शब्द का अर्थ सूर्य है-निरु० २। २४, और पृथिवी, छोटा और विचित्र भी है, और (पर्ण) का अर्थ पालन, और पत्ते हैं। सायणाचार्य ने (पृश्निपर्णी) का अर्थ चित्रपर्णी ओषधि लिखा है। शब्दकल्पद्रुमकोष में वर्णन है कि (पृश्निपर्णी) छोटे पत्ते वाली लता विशेष है, उसे बंगला में "चाकुलिया" और नागरी में "चकरौत्" कहते हैं, इसके गुण कटुत्व, और अतीसार, कास, वातरोग, ज्वर, उन्माद, व्रण, और दाह नाशक हैं ॥

विशेषः, चाकुलिया इति वङ्गभाषा, चकरौत् इति हिन्दी भाषा, अस्या गुणाः। कटुत्वम्, अतीसारकासवातरोगज्वरोन्मादव्रणदाहनाशित्वञ्च—इति शब्दकल्पद्रुमे। **अशम्**। अशान्तिम्। दुःखम्। **निर्ऋत्यै**। अ० १। ३१। २। निः+ऋ हिंसने—क्तिन्। अलक्ष्म्यै, निर्धनतायै। **अकः**। डुकृञ् करणे लुङ्। मन्त्रे घस०। पा० २। ४। ८०। इति च्लेर्लुक्। गुणः। हल्ङ्याब्भ्यो०। पा० ६। १। ६८। इति तिलोपः। अकार्षीत्, कृतवती। **उग्रा**। अ० १। १०। १। उच समवाये-रक्। प्रचण्डा। **हि**। यस्मात् कारणात्। **कण्वजम्भनी**। अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्। उ० १। १५१। इति कण गतौ, आर्तस्वरे—क्वन्। कण्यते अणोद्यते तत् कण्वं पापम्। जभि नष्टीकरणे—ल्युट्, ङीप्। पापस्य नाशयित्री। **अभक्षि**। भज सेवायाम्, लुङि आत्मनेपदोत्तमैकवचनम्। अहं सेवितवानस्मि। **सहस्वतीम्**। सहस्-मतुप् ङीप्। तसौ मत्वर्थे। पा० १। ४। १६। इति भत्वेन आदन्त्वाद् रुत्वाभावः। अभिभवनशीलाम्। बलवतीम् ॥

सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत ।
तयाहं दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि शकुनेरिव ॥ २ ॥

सहमाना । इयम् । प्रथमा । पृश्नि-पर्णी । अजायत । तया ।
अहम् । दुः-नाम्नाम् । शिरः । वृश्चामि । शकुनेः-इव ॥२॥

भाषार्थ—(सहमाना) जीतने वाली (इयम्) यह (पृश्निपर्णी) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा, सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधि रूप परमेश्वर शक्ति] (प्रथमा) सब से पहिले (अजायत) प्रकट हुयी है । (तया) उस [शक्ति] से (अहम्) मैं (दुर्णाम्नाम्) बुरे नाम वाले दोषों के (शिरः) शिर को (वृश्चामि) तोड़ डालूँ, (इव) जैसे (शकुनेः) पक्षी के [शिर को तोड़ डालते हैं]॥२॥

भावार्थ—मनुष्य आदिकारण परमेश्वर के विश्वास पर अपना शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाकर अपने शत्रुओं और दोषों का नाश करके आनन्द भोगें ॥ २ ॥

टिप्पणी—(दुर्नाम) शब्द कल्पद्रुम कोष में (अर्श) अर्थात् बवासीर रोग का भी नाम है ।

२-सहमाना । सहिर् अभिभवे—शानच् । दोषान् अभिभवन्ती । **इयम्** । समीपवर्त्तिनी पृश्निपर्णी । **प्रथमा** । प्रथेरमच् । उ० ५ । ६८ । इति प्रथ ख्यातौ —अमच्, टाप् । प्रख्याता । मुख्या । सृष्टेः प्राग्भवा । **पृश्निपर्णी** । म० १ । **अजायत** । जनी प्रादुर्भावे-लङ् । ज्ञाजनोर्जा पा० । ७ । ३ । ७६ । इति, जा इत्यादेशः । प्रादुरभवत् । **दुर्णाम्नाम्** । दुर्दुष्टं निन्दितं नाम येषाम् । दुष्टदोषाणाम् । दुर्नाम, अर्शो रोगः-इति शब्दकल्पद्रुमे । **शिरः** । श्रयते स्वाङ्गे शिरः किच्च । उ० ४ । १९४ । इति श्रञ् सेवने-असुन्, स च कित्, धातोः शिरादेशश्च । मस्तकम् । **वृश्चामि** । व्रश्चू छेदे । छिनद्मि । **शकुनेरिव** । शकेरुनोन्तोन्त्युनयः । उ० ३ । ४९ । इति शक्लृ शक्तौ-उनि । यथा पक्षिणः शिरः खड्गादिकं विनापि छिद्यते ॥

अ॒रा॒यम॑सृ॒क्पावा॑नं॒ यश्च॑ स्फा॒तिं जिही॑र्षति ।
ग॒र्भा॒दं कण्वं॑ नाशय॒ पृश्नि॑पर्णि॒ सह॑स्व च ॥ ३ ॥

अ॒रा॒यम् । अ॒सृ॒क्-पावा॑नम् । यः । च॒ । स्फा॒तिम् । जिही॑र्षति ।
ग॒र्भ॒-अ॒दम् । कण्व॑म् । ना॒श॒य॒ । पृश्नि॑-पर्णि । सह॑स्व । च॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(पृश्निपर्णि) हे सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधि रूप परमेश्वर शक्ति] (अरायम्) निर्धनता को, (च) और (यः) जो [रोग] (स्फातिम्) बढ़वार को (जिहीर्षति) छीनना चाहे, [उस] (असृक्पावानम्) रक्त पीने वाले, और (गर्भादम्) गर्भ खाने वाले [गर्भाधान शक्ति नाश करने वाले] (कण्वम्) पाप [रोग] को (सहस्व) जीत ले (च) और (नाशय) मिटादे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिन आलस्यादि दोषों और ब्रह्मचर्यादि खण्डन रूप कुकर्मों से हम धन हीन, तन क्षीण, मन मलीन होकर वंशच्छेद करें। ऐसे दोषों को हम सर्वथा त्यागें, और उस (पृश्निपर्णी) सूर्यादि जगत् के रचक, पोषक, अखण्डव्रत परमात्मा का ध्यान करके विद्यावृद्धि धनवृद्धि और कुलवृद्धि करके आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

३-अरायम् । रा दानादानयोः-घञ् युक् आगमः। नञ्समासः। निर्धनताम् । **असृक्पावानम्** । असु क्षेपे, यद्वा असज् दीप्तिग्रहणगतिषु-ऋजिप्रत्ययः। अस्यते क्षिप्यते नाडीभिः। यद्वा असति शरीरं येन, यद्वा गृह्णाति गच्छति वा यत्तद् असृक, रक्तम्। आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च। पा० ३। २। ७४ इति पा पाने वनिप्। रुधिरस्य पानशीलं नाशकम्। **स्फातिम्** । स्फायी वृद्धौ-क्तिन् । वृद्धिम्। **जिहीर्षति** । हृञ् हरणे-सनि लट्। हर्तुं नाशयितुमिच्छति उपक्रमते। **गर्भादम्** । अदोऽनन्ने । पा० ३। २। ६८ । इति गर्भ+अद भक्षणे-विट्। गर्भस्य भक्षकम्। **कण्वम्** । व्याख्यातम् (कण्वजम्भनी) इति शब्दे-म० १ । कण्यते अर्पोद्यते इति कण्वं पापम्। अर्श आदिभ्योऽच् पा० ४। २। १२७ इति मत्वर्थे अच्। पापयुक्तं दुःखकरं रोगम्। **नाशय** । मारय। **पृश्निपर्णि** । म० १। **सहस्व** । अभिभव ॥

गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वान् जीवितयोपनान्।
तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥ ४ ॥

गिरिम्। एनान्। आ। वेशय। कण्वान्। जीवित-योपनान्।
तान्। त्वम्। देवि। पृश्नि-पर्णि। अग्निः-इव। अनु-दहन्।
इहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे दिव्य गुण वाली (पृश्निपर्णि) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधिरूप परमेश्वर शक्ति] (एनान्) इन (जीवितयोपनान्) प्राणों के मोहने वाले [व्याकुल करने वाले] (कण्वान्) पाप रोगों को (गिरिम्) पहाड़ [अगम्य स्थान] में (आ वेशय) गाड़ दे। और (त्वम्) तू, (अनुदहन्) क्रम से दाह करती हुई (अग्निःइव) आग के समान (तान्) उन पर (इहि) पहुंच ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिन (कण्वान्) आत्म दोषों से मनुष्य का जीवन द्विविधा में पड़े और विघ्नों में फंसकर अपकीर्ति मिले, उन दुःखदायी दोषों को परमेश्वर का सहाय लेकर सर्वथा नाश करे ॥ ४ ॥

टिप्पणी—पातञ्जल, योगदर्शन, पाद १ सूत्र ३० में यह विघ्न वर्णन किये हैं।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥

४—**गिरिम्**। कॄगॄशॄपॄकुटि०। उ० ४। १४३। इति गॄ निगरणे, अथवा गृणातिः स्तुतिकर्मा–निरु० ३। ५। इप्रत्ययः, किच्च, गिरति धारयति पृथिवीं गिर्यते स्तूयते गुरुत्वाद्वा। पर्वतम्। अगम्यस्थानम्। **एनान्**। समीपस्थान्, प्रसिद्धान्, **आ+वेशय**। द्विकर्मकः। प्रवेशय। स्थापय। **कण्वान्**। म० ३। दुःखकरान् दोषान्। **जीवितयोपनान्**। जीव प्राणे–भावे क्त। कृत्यल्युटो बहुलम्। पा० ३। ३। ११३। इति युप विमोहने–कर्तरि ल्युट्। जीवनस्य विमोहकान्। **अनुदहन्**। अनुक्रमेण भस्मीकुर्वन्। **इहि**। इण् गतौ–लोट्। गच्छ। प्राप्नुहि। आक्रमस्व। अन्यद् गतम्॥

१—(व्याधि) रोग, २—(स्त्यान) भारीपन, ३—(संशय) द्विविधा, ४—(प्रमाद) भूल, ५—(आलस्य) ढीलापन, ६—(अविरति) जंजाल में फंस जाना, ७—(भ्रान्तिदर्शन) भ्रम वा अज्ञान से कुछ का कुछ देखना, ८—(अलब्धभूमिकत्व) ठिकाने का न पाना, और ९—(अनवस्थितत्वानि) अदृढ़ता, (चित्तविक्षेपाः) चित्त की हलचलें हैं, और (ते अन्तरालाः) वे विघ्न हैं ॥

परा॑च एना॒न् प्र णु॑द॒ कण्वा॑न् जीवित॒योप॑नान् ।
तमां॑सि॒ यत्र॒ गच्छ॑न्ति॒ तत् क्र॒व्यादो॑ अजीगमम् ॥५॥

परा॑चः । एना॒न् । प्र । नु॒द॒ । कण्वा॑न् । जी॒वि॒त॒-योप॑नान् ।
तमां॑सि । यत्र॑ । गच्छ॑न्ति । तत् । क्र॒व्य॒-अदः॑ । अ॒जी॒ग॒म॒म् ॥५॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर!] (एनान्) इन (जीवितयोपनान्) प्राणों के मोहने वाले (कण्वान्) पाप रोगों को (पराचः) औंधे मुख (प्र णुद) ढकेल दे। (यत्र) जहां (तमांसि) अन्धकार (गच्छन्ति) व्याप्त रहते हैं, (तत्=तत्र) वहां (क्रव्यादः) मांस खाने वाले [रोगों] को (अजीगमम्) मैं ने पहुंचा दिया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे राजा महापापी दुराचारी पुरुष को बन्ध करके अन्धेरे कारागार में डाल देता है, इसी प्रकार पुरुषार्थी पुरुष व्यायाम करने और पथ्य पदार्थों के सेवन से आलस्य, ज्वर आदि शारीरिक रोगों को मिटाकर अविद्यादि मानसिक रोगों का नाश करें ॥ ५ ॥

५—**पराचः** । परा प्रातिलोम्ये, अनादरे, न्यग्भावे, तत्पूर्वाद् अञ्चु गतिपूजनयोः-क्विन्, शसि रूपम् । पराङ्मुखान्, विमुखान् । **एनान्** । समीपस्थान् । अस्माकं कुसंस्कारोत्पन्नान् । **प्र+नुद** । णुद प्रेरणे । प्रेरय । अपसारय । **तमांसि** । तमिर् खेदे, इच्छायाम्-असुन् । क्लेशहेतुकाः । अन्धकाराः । **यत्र** । यत् स्थानम् । **गच्छन्ति** । व्याप्नुवन्ति । **तत्** । निःसूर्यस्थानम् । **क्रव्यादः** । क्रुव भये-यत् । रलयोरेकत्वात् । क्रव्ये च । पा० ३ । २ । ६९ । क्रव्योपपदाद् अद भक्षणे-विट् । मांसभक्षकान् कुष्ठादिरोगान् । **अजीगमम्** । गमेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । अहं प्रेरितवानस्मि ॥

सूक्तम् २६ ॥

१—५ ॥ त्वष्टा सविता वा देवता । १-२ त्रिष्टुप्, ३-५ अनुष्टुप् ॥

सङ्गतिकरणोपदेशः—मेल करने का उपदेश ॥

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष । त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान् गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥ १ ॥

आ । इह । यन्तु । पशवः । ये । परा-ईयुः । वायुः । येषाम् । सह-चारम् । जुजोष । त्वष्टा । येषाम् । रूप-धेयानि । वेद । अस्मिन् । तान् । गो-स्थे । सविता । नि । यच्छतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पशवः) वे पशु [गौ आदि वा मनुष्यादि प्राणी] (इह) यहां (आ यन्तु) आ जावें, (ये) जो (परेयुः) भटक गये हैं । (येषाम्) जिन के (सहचारम्) साथ साथ चलना (वायुः) पवन ने (जुजोष) अंगीकार किया है । (त्वष्टा) सूक्ष्म क्रियाओं का रचने वाला [सूक्ष्मदर्शी पुरुष] (येषाम्) जिन के (रूपधेयानि) रूपों [शारिरिक रूपों और मांसिक स्वभावों] को (वेद) पहिचानता है, (सविता) वह सब का चलाने वाला [गोपाल वा सभाप्रधान पुरुष] (तान्) उन [पशुओं] को (अस्मिन्) इस (गोष्ठे) [गोट, अर्थात् गोशाला वा सभा] में (नियच्छतु) बांध कर रक्खे ॥ १ ॥

१—**इह** । अत्र गोष्ठे सभायां वा । **आ+यन्तु** । इण् गतौ । आगच्छन्तु । **पशवः** । अ० १ । १५ । २ । दृशिर् प्रेक्षणे—कु, पश्यादेशः । पशवः= व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११ । २६ । मनुष्यगवादिप्राणिनः । जीवाः । **परा-ईयुः** । इण् गतौ-लिट् । विमुखा जग्मुः । **वायुः** । अ २।२०।१। पवनः । **येषाम्** । पशूनाम् । **सहचारम्** । सह+चर गतौ-घञ् । सङ्गमनम् । **जुजोष** । जुषी प्रीतिसेवनयोः—लिट्, छन्दसि परस्मैपदम् । जुजुषे । सवते स्म । **त्वष्टा** । अ० । २ । ५ । ६ । त्वक्ष तनूकरणे-तृन् । व्यवहारतनूकर्ता ।

भावार्थ—इस सूक्त में (पशु) शब्द का अर्थ गौ आदि और सब प्राणी मात्र है। "पशु व्यक्त वाणी वाले और अव्यक्त वाणी वाले हैं—" निरु० ११। २६। अर्थात् मनुष्य आदि और गौ आदि। जैसे विचारशील गोपाल, गोरक्षक वायु लगने से इधर उधर भटकते हुये गौ आदि पशुओं को प्रेम के साथ बाड़े में लाकर बांधता है, वैसे ही सूक्ष्मदर्शी प्रधान पुरुष अपने आश्रितों और सम्बन्धियों को, जो वायु लगने अर्थात् कुसंस्कार पाने से भटक गये हों, उपकार और प्रीति की दृष्टि से ऐकत्र करके सभा में नियमबद्ध करे ॥ १ ॥

पशु शब्द प्राणी मात्र के अर्थ में प्रायः वेद में आया है, जैसे—

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः ॥

अ० २। २८। ३ ॥

तू पृथवी के पशुओं [प्राणियों] का राजा है जो उत्पन्न हुये हैं अथवा जो उत्पन्न होंगे।

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ॥

अ० २। ३४। १।

जो पशुपति चौपाये और जो दोपाये पशुओं का स्वामी है ॥

इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरा नयतु प्रजानन्। सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ ॥ २ ॥

सूक्ष्मदर्शी पुरुषः। **रूपधेयानि**। भागरूपनामभ्यो धेयः। वार्त्तिकम्। पा० ५। ४। २५। नानारूपाणि। विविधस्वभावान्। **वेद**। विद ज्ञाने-लट्। वेत्ति। जानाति। **अस्मिन्**। निकटस्थे। **गोष्ठे**। अ० २। १४। २। गोशालायाम् सभायाम्। **सविता**। अ० १। १८। २। पशुप्रेरकः। सभाप्रधानः। **नि+यच्छतु**। इषुगमियमां छः। पा० ७। ३। ७७। इति निपूर्वाद् यमेः शपि छत्वम्। नियमयतु नियमे स्थापयतु ॥

इमम् । गो-स्थम् । पशर्वः । सम् । स्रवन्तु । बृहस्पतिः । आ । नयतु । प्र-जानन् । सिनीवाली । नयतु । आ । अग्रम् । एषाम् । आ-जग्मुषः । अनु-मते । नि । यच्छ ॥२॥

भषार्थ—(पशवः) सब पशु [गौ आदि वा मनुष्यादि प्राणी] (इमम्) इस (गोष्ठम्) स्थिर वचन वाले पुरुष [गोपाल वा प्रधान] से (सम् स्रवन्तु) आ आकर मिलें, और वह (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का स्वामी [गोपाल वा सभापति] (प्रजानन्) पहचान २ कर [उन को] (आ नयतु) ले आवे। (सिनीवाली) अन्न देने वाली देवी [गृहपत्नी वा नीतिविद्या, आप] (एषाम्) इन का (अग्रम्) आगमन (आ नयतु) स्वीकार करे। (अनुमते) हे अनुकूल बुद्धि वाली [गृहपत्नी वा नीतिविद्या] (आजग्मुषः) इन आये हुओं को (नियच्छ) नियम में बांध कर रख ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सायंकाल में गौ आदि मिल कर अपने गोवाले के पास आते हैं, और (बृहस्पति) बड़े उपकारी गौ आदि का रक्षक उन को ढूंढ़ २ कर लाता है, और उस की गृहपत्नी आगे आकर उन को अन्न तृण आदि देकर प्रसन्न करती और अपने २ स्थान पर बांध देती है, इसी प्रकार उत्तम सभा-

---

२—**इमम्** । शुभगुणैर्निर्दिष्टं गोपालं प्रधानपुरुषं वा । **गोष्ठम्** । गौर्वाङ्नाम-निघ० १ । ११ । गवि वाचि तिष्ठतीति गोष्ठः । स्थिरवाचं दृढ-वचनं गोपालं प्रधानपुरुषं वा । **पशवः** । म० १ । **सम्+स्रवन्तु** । स्रु गतौ । समेत्य गच्छन्तु । **बृहस्पतिः** । अ० २ । १३ । २ । बृहतां महतां प्राणिनां पाता रक्षिता । गोपः सभापतिर्वा । **आनयतु** । आगमयतु । **प्रजानन्** । प्र+ज्ञा-शतृ । विद्वान् । **सिनीवाली** । इण्सिञ्जिदीङु-ष्यविभ्यो नक् । उ० ३ । २ । इति षिञ् बन्धने-नक्, स्त्रियां ङीप् । वल संवरणे, यद्वा, बल जीवने, दाने-अण्, ङीप् । सिनीवली, सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि बालं पर्व वृणोतेस्तस्मिन्नन्नवती । निरु० ११ । ३१ । सिनीं सिन-मन्नं वलति धारयतीति । अन्नधर्त्री । अन्नवती गृहपत्नी नीतिविद्या वा । **आ+नयतु** । छन्दसि परेऽपि । पा० १ । ४ । ८१ । इति उपसर्गस्य परत्वम् ।

पति अपने संगठित सभासदों को यथायोग्य आसन दे और नीति अर्थात् सुशीलता और विनय के साथ उन का आदर सत्कार कर के नियम में रक्खे ॥ २ ॥

(अनुमते) पद के स्थान में सायणभाष्य में (अनुगते] व्याख्यात है ॥

सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः ।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥३॥

सम् । सम् । स्रवन्तु । पशवः । सम् । अश्वाः । सम् । ऊँ इति । पूरुषाः । सम् । धान्यस्य । या । स्फातिः । सम् । स्राव्येण । हविषा । जुहोमि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(पशवः) गौ आदि (सम्) मिल कर, (अश्वाः) घोड़े (सम) मिल कर, (उ) और (पूरुषाः) सब पुरुष (सम् सम्) मिल मिल कर (स्रवन्तु) चलें । और (या) जो (धान्यस्य) धान्य [अन्न] की (स्फातिः) बढ़ती है, [वह भी] (सम्=सम् स्रवतु) मिल कर चले । (संस्राव्येण) कोमलता से युक्त (हविषा) भक्ति वा अन्न के साथ [उन सब को] (जुहोमि) मैं ग्रहण करूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब उपकारी गौ, अश्व आदि पशु और मनुष्य नियम के साथ

आगमयतु । **अग्रम्** । ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति अगि गतौ-रन् । अग्रतः । पुरस्तात् । **आजग्मुषः** । आङ्+गमेः क्वसुः । वसोः संप्रसारणम् । पा० । ६ । ४ । १३ । इति शसि संप्रसारणम् । आगतान् । पशून् । **अनुमते** । अनु+मन बोधे-क्तिन् । अनुमतिरनुमननात् -निरु० ११ । २६ । अनुकूलबुद्धियुक्ते । **नियच्छ** । नियमय ॥

३—**सम्** । सम्यक् । यथाविधि । समेत्य । **स्रवन्तु** । गच्छन्तु **पशवः** । गवादयः । **अश्वाः** । अ० १ । १६ । ४ । घोटाः । **पूरुषाः** । अ० १ । १६ । ४ । मनुष्याः । **धान्यस्य** । दधातेर्यन्नुट् च । उ० ५ । ४८ । इति डुधाञ् धारणपोषणयोः-यत् नुट् च । अन्नस्य । **स्फातिः** । अ० २ । २५ । ३ ।

मिल कर रहें, और प्रयत्न पूर्वक पुष्कल जीविका प्राप्त करें, और प्रधान पुरुष उन के शिक्षादान और भरण पोषण की यथोचित सुधि रक्खे ॥ ३॥

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥४॥

सम् । सिञ्चामि । गवाम् । क्षीरम् । । सम् । आज्येन । बलम् । रसम् । सम्-सिक्ताः । अस्माकम् । वीराः । ध्रुवाः । गावः । मयि । गो-पतौ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(गवाम्) गौओं का (क्षीरम्) दूध [अपने मनुष्यों पर] (सम्) यथानियम (सिञ्चामि) मैं सींचता हूं, और [उन मनुष्यों के] (बलम्) बल और (रसम्) शरीर पोषक धातु को (आज्येन) घृत से (सम्) यथानियम [सींचता हूं]। (अस्माकम्) हमारे (वीराः) वीर पुरुष [दूध, घी आदि से] (संसिक्ताः) अच्छे प्रकार सिंचे रहें, [इस लिये] (मयि) मुझ (गोपतौ) गोपति में (गावः) गौयें (ध्रुवाः) स्थायी [रहें] ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न से गौओं की रक्षा कर के उन के दूध घी आदि के सेवन से अपने और अपने पुरुषों के शारीरिक धातुओं को पुष्ट कर के और बल और बुद्धि बढ़ा कर शूर वीर बनावें। इसी प्रकार जो प्रधान पुरुष अपने उपकारी सभासदों को भरण पोषण आदि उचित व्यवहार से पुष्ट करते रहते हैं, वही नीति निपुण संसार की वृद्धि करते हैं ॥ ४ ॥

समृद्धिः । **संस्राव्येण हविषा जुहोमि** । अ० १ । १५ । १ । आर्द्रीभावयुक्तेन भक्त्या अन्नेन वा स्वीकरोमि ॥

४—**सम्** । यथाविधि । **सिञ्चामि** । षिच सेचने । आर्द्रीकरोमि । वर्धयामि । **गवाम्** । गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । धेनूनाम् । **क्षीरम्** । अ० १ । १५ । ४ । घस्लृ=अद् भक्षणे—ईरन् । दुग्धम् । **आज्येन** । अ० १ । ७ । २ । घृतेन । **बलम्** । अ० १ । १ । १ । सामर्थ्यम् । **रसम्** । अ० १ । ५ । २ । सारम् । वीर्य्यम् । देहस्थं भुक्तान्नादेः परिणामम् । **संसिक्ताः** । षिच-क्त ।

टिप्पणी—इस मन्त्र के अर्थ से [दूधों नहाओ पूतों फलो] इस आशीर्वाद का मिलान कीजिये ॥

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं १ रसम् ।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥ ५ ॥

आ । हरामि । गवाम् । क्षीरम् । आ । अहार्षम् । धान्यम् । रसम् । आ-हृताः । अस्माकम् । वीराः । आ । पत्नीः । इदम् । अस्तकम् ॥ ५ ॥

भषार्थ—(गवाम्) गौओं के (क्षीरम्) दूध को (आ हरामि) मैं प्राप्त करूं, [क्योंकि दूध से] (धान्यम्) पोषण वस्तु अन्न और (रसम्) शारीरिक धातु को (आ अहार्षम्) मैंने पाया है। (अस्माकम्) हमारे (वीराः) वीर पुरुष (आहृताः) लाये गये हैं, और (पत्नीः=पत्न्यः) पत्नियां भी (इदम्) इस (अस्तकम्=अस्तम्) घर में (आ=आहृताः) लायी गयी हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को सदा गौओं की रक्षा करनी चाहिये, जिस से सब स्त्री पुरुष दूध घी का सेवन करके हृष्ट पुष्ट होकर शूर वीर रहें और घरों में सब प्रकार की सम्पत्ति बढ़ती जावे ॥ ५ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

घृतदुग्धादिना संसिक्तशरीराः, दृढगात्राः सन्तु । **वीराः** । अ० १ । १६ । ६ । शूरपुरुषाः । **ध्रुवाः** । स्रुवः कः । उ० २ । ६१ । इति ध्रु स्थैर्ये-क । दृढाः । स्थिराः । **गावः** । धेनवः । **मयि** । उपासके । धार्मिके पुरुषे । **गोपतौ** । गोस्वामिनि ॥

५—**आहरामि** । आनयामि । **गवां क्षीरम्** । म० ४ । धेनूनां दुग्धम् । **आहार्षम्** । हृञ् हरणे-लुङ् । आनीतवानस्मि । **धान्यम्** । म० ३ । अन्नम् **रसम्** । म० ४ । शारीरिकधातुम् । **आहृताः** । आनीताः । **वीराः** । अ० १ । २६ । ६ । पराक्रमिणः पुरुषाः । **पत्नीः** । अ० २ । १२ । १ । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । पत्न्यः । **अस्तकम्** । हसिमृग्रिण० । उ० ३ । ८६ । इति अस भुवि, गतिदीप्त्यादानेषु-तन्, स्वार्थे कः । अस्तम्=गृहम्-निघ० ३ । ४ ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ।

सूक्तम् २७ ॥

१-७ ॥ १-६ ओषधिर्देवता, ७ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

बुद्ध्या विवादः कर्तव्य इत्युपदिश्यते-बुद्धि से विवाद करे, इसका उपदेश ॥

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ १ ॥

न । इत् । शत्रुः । प्राशम् । जयाति । सहमाना । अभि-भूः । असि । प्राशम् । प्रति-प्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शत्रुः) वैरी (प्राशम्) प्रश्न कर्ता [मुझ] को (न इत्) कभी न (जयाति) जीते, [हे बुद्धि] तू (सहमाना) जयशील और (अभिभूः) प्रबल (असि) है। (प्राशम्) [मुझ] प्रश्न कर्ता के (प्रतिप्राशः) प्रतिकूल वादियों को (जहि) मिटादे, (ओषधे) हे ताप की पीने वाली [ज्वरादिताप हरने वाली औषध के समान बुद्धि उन सब को] (अरसान्) नीरस [फीका] (कृणु) कर ॥

भावार्थ—इस सूक्त में ओषधि के उदाहरण से बुद्धि का ग्रहण है। ओषधि का अर्थ निरु० ९ । २७ में किया है "ओषध्यँ ओषत्, दाह वा ताप को पीलेती हैं अथवा ताप में इन को पीते है, अथवा ये दोष को पीलेती हैं"

१-न । निषेधे । इत् । अवधारणे । एव । **शत्रुः** । अ० २ । ५ । ३ । विपक्षः । प्रतिवादी । **प्राशम्** । क्विब् वचिप्रच्छिश्रि० । उ० २ । ५७ । इति प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्-क्विप, दीर्घः संप्रसारणाभावश्च । च्छ्वोः शूडनुनासिके च । पा० ६ । ४ । १९ । इति च्छस्य शः । प्रष्टारं वादिनं माम् । **जयाति** । जयतेर्लेटि आडागमः । जयतु । अभिभवतु । **सहमाना** । अ० २ । २५ । २ । जेत्री । **अभिभूः** । भुवः संज्ञान्तरयोः ।पा०३।२।१७९। इति अभि+भू-क्विप् । अभिभवित्री । **प्रति-प्राशः** । प्रति+प्रच्छ-कर्तरि क्विप् । न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् । पा० २।३।६९।

२-मन्त्र का आशय। जिस प्रकार शुद्ध परीक्षित ओषधि के सेवन करने से ज्वर आदि रोग नाश होते हैं, ऐसेही मनुष्य के बुद्धि पूर्वक, प्रमाण युक्त विवाद करने से बाहिरी और भीतरी प्रतिपक्षी हार जाते हैं ॥ १ ॥

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ २ ॥

सु-पर्णः । त्वा । अनु । अविन्दत् । सूकरः । त्वा । अखनत् । नसा । प्राशम् । प्रति-प्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सुपर्णः) सुन्दर पक्ष वाले [गरुड़, गिद्ध आदि पक्षी के समान दूरदर्शी पुरुष] ने (त्वा) तुझ को (अनु = अन्विष्य) ढूंढ कर (अविन्दत्) पाया है, (सूकरः) सूकर [सूअर पशु के समान तीव्रबुद्धि और बलवान् पुरुष] ने (त्वा) तुझ को (नसा) नासिका से (अखनत्) खोदा है। (प्राशम्) मुझ प्रश्न कर्त्ता के (प्रतिप्राशः) प्रति वादियों को (जहि) मिटा दे, (ओषधे) हे ताप को पी लेने वाली [ओषधि के समान बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥ २ ॥

इति तुन् ग्रहणात्। तद्वाचके क्विपि प्रत्ययेऽपि (प्राशम्) इत्यस्य कर्मत्वम्। प्रतिकूलप्रष्टॄन्। प्रतिवादकान्। **जहि**। हन हिंसागत्योः-लोट्। नाशय। पराजितान् कुरु। **अरसान्**। नीरसान्। निर्वीर्यान्। **कृणु**। कुरु। **ओषधे**। अ० १। २३। १। उष दाहे-घञ्। ततो धेट् पाने-कि। ओषधय ओषद् धयन्तीति वौषत्येना धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा-निरु० ६। २७। ओषं दाहं धयति पिबति नाशयतीति ओषधिः। यवादिधान्यम्। रोगनाशकद्रव्यम्। तापनाशिका बुद्धिः। तत्संबुद्धौ॥

२—**सुपर्णः**। धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति सु+पॄ पालनपूरणयोः-न, यद्वा। पत गतौ-न प्रत्ययः, तकारस्य रेफः। सुपतनः शोभनगमनः। शीघ्रगामी। गरुडः। पक्षिमात्रम्। **अनु**। अन्विष्य। **अविन्दत्**। विद्लृ लाभे लङ्। शे मुचादीनाम्। पा० ७। १। ५९। इति नुम्। अलभत। **सूकरः**।

भावार्थ—(सुपर्णः) गिद्ध , मोर आदि पक्षी बड़े तीव्रदृष्टि होते हैं और सूकर एक बलवान् पशु अपनी नासिका से अपने खाद्य तृण को पृथिवी में से खोद कर खा जाता है । इसी प्रकार दूरदर्शी, परिश्रमी और बलवान् पुरुष बुद्धि की महिमा को साक्षात् करके यथा योग्य उसका प्रयोग करते हैं और सदा जय पाते हैं ॥ २ ॥

इन्द्रो॑ ह चक्रे त्वा बा॒हावसु॑रेभ्य॒ स्तरी॑तवे ।
प्रा॒शं॒ प्रति॑प्राशो जह्यर॒सान् कृ॑ण्वोषधे ॥ ३ ॥

इन्द्रः॑ । ह॒ । च॒क्रे॒ । त्वा॒ । बा॒हौ । असु॑रेभ्यः । स्तरी॑तवे ।
प्रा॒शम् । प्रति॑-प्राशः । ज॒हि॒ । अ॒र॒सान् । कृ॒णु॒ । ओ॒ष॒धे॒ ॥३॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष ने (ह) ही (त्वा) तुझ को (बाहौ) अपनी भुजा पर (असुरेभ्यः) असुरों से (स्तरीतवे) रक्षा के लिये (चक्रे) किया है । (प्राशम्) [मेरे] प्रश्न के (प्रतिप्राशः) प्रतिवादियों को (जहि) मिटा दे, (ओषधे) हे ताप को पीने वाली [ओषधि के समान बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥ ३ ॥

ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ इति सु+कृ विक्षेपे, वा कृञ् हिंसायाम् । वा कॄङ् विज्ञाने-अप् । अथवा, टप्रत्ययः । उकारस्य दीर्घः । अथवा, सू इति शब्दं करोति, सू+कृ-ट । सुकिरति भूमिं सुकृणाति मनुष्यान् यद्वा सुकारयते विजानाति खाद्यपदार्थान् । वराहः । अखनत् । खनु विदारे-लङ् । विदारितवान् । उद्धृतवान् । नसा । णसङ् कौटिल्ये-क्विप् । नासिकया ॥

३-इन्द्रः—अ० १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवान् महाप्रतापी पुरुषः । ह । हन हिंसागत्योः-ड । प्रसिद्धम् । चक्रे । कृञ्-लिट् । कृतवान् । त्वा । त्वाम् । ओषधिम् । बाहौ । कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । इति वह प्रापणे, यद्वा, वाह यत्ने-उण् । यद्वा, अर्जिदृशिकमि० । उ० १ । २७ । इति बाधृ विहतौ-कु, धस्य हः । बकारवकारयोरेकत्वम् । भुजे । असुरेभ्यः । सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । इति षु ऐश्वर्यप्रसवयोः-क्रन् । यद्वा, सुर दीप्त्यैश्वर्ययोः-कप्रत्ययः । देवविरोधिभ्यः । अपण्डितेभ्यः । राक्षसेभ्यः सकाशात् । (असुरेभ्यस्तरीतवे)

भावार्थ—(इन्द्र) महाप्रतापी महाबली पुरुष ही अपने बुद्धि बल से (असुर) देवताओं के विरोधी अधर्मियों का नाश करते आये हैं, करते हैं और और करेंगे ॥ ३ ॥

सायणभाष्य में (स्तीरतवे) के स्थान मे [तरीतवे] है ।

पाटामिन्द्रो व्या॑श्नादसु॑रेभ्य स्तरीतवे ।
प्राशं॒ प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृ॑ण्वोषधे ॥ ४ ॥

पाटाम् । इन्द्रः॑ । वि । आश्नात् । असु॑रेभ्यः । स्तरीतवे ।
प्राशंम् । प्रति-प्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥४॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष ने (पाटाम्) चमकती हुयी [ओषधि रूप बुद्धि] को (असुरेभ्यः) असुरों से (स्तरीतवे) रक्षा के लिये (वि) विविध प्रकार से (आश्नात्) भोजन किया है । (प्राशम्) मुझ वादी के (प्रतिप्राशः) प्रतिवादियों को (जहि) मिटादे, (ओषधे) हे ताप को पीलेनी वाली [ओषधि के समान बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम ओषधि के सेवन से रोग का नाश होकर शरीर और चित्त को आनन्द मिलता है, वैसे ही ऐश्वर्यशाली पुरुष बुद्धि के यथावत् प्रयोग से शत्रुओं का नाश करके शान्ति लाभ करते हैं ॥ ४ ॥

वा शरि । पा० ८ । ३ । ३६ । खर्परे शरि वा लोपो वक्तव्यः । वार्तिकम् । इति विसर्ग-लोपः । **स्तरीतवे** । तुमर्थे सेसेनसेऽसे० । पा० ३ । ४ । ६ । इति स्तॄ प्रीतिरक्षा-प्राणनेषु [श० क० द्रुमकोषे] तवे प्रत्ययः । रक्षितुम् ॥

४—**पाटाम्** । पट गतिदीप्तिवेष्टनेषु-घञ्, टाप् । गतिम् । दीप्तिम् । विद्याम् । ओषधिम् । प्रसङ्गात् सायणभाष्योक्तम् [पाठा] इति पदं व्याख्यायते तद् यथा शब्दकल्पद्रुमकोषे । पठ्यते बहुगुणवत्तया कथ्यते इति । पठ-कर्मणि घञ्, अजादित्वात् टाप्, लताविशेषः, आकनादि इति भाषा, तत्पर्यायः प्राचीना, दीपनी..., अस्या गुणाः, तिक्तत्वम्, गुरुत्वम्, उष्णत्वम्, वातपित्तज्वर-

तीनों संहिताओं के (पाटाम्) पद के स्थान पर सायणभाष्य में (पाठाम्) है , और भाष्यकार ने उसे ओषधि विशेष माना है । शब्द कल्पद्रुम कोष में लिखा है कि [पाठा] लता विशेष है, आकनादि भाषा नाम है । उसके गुण तिक्तता, गुरुता, उष्णता, और वातपित्त, ज्वरपित्त, दाह, अतीसार, शूल नाशन आदि हैं ।

तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ ५ ॥

तया । अहम् । शत्रून् । साक्षे । इन्द्रः । सालावृकान्-इव ।
प्राशम् । प्रति-प्राशः । । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥५॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (तया) उस [ओषधि रूप बुद्धि] से (शत्रून्) बैरियों को (साक्षे) हरा दूं, (इन्द्रः) ऐश्वर्यशाली [गृह पति] (साला-वृकान् इव) जैसे घर के भेड़ियों, कुत्ते, बिलाव आदिकों को । (प्राशम्) मुझ वादी के (प्रतिप्राशः) प्रति वादियों को (जहि) मिटा दे, (ओषधे) हे ताप को पी लेने वाली [ओषधि के समान बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे ओषधि बल से रोग निवृत्त होता है, वैसे ही मनुष्य बुद्धि बल से, अपने दोषों और शत्रुओं का नाश करके आनन्द लाभ करें ॥ ५ ॥

रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत् ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ ६ ॥

पित्तदाहातीसारशूलनाशित्वम् , भग्नसन्धानकारित्वं च । वि । विविधम् । आश्नात् । अश भोजने—लङ् । अभक्षयत् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

५—तया । पाटया । तत्प्रभावेन । शत्रून् । वैरिणः । साक्षे । षह अभिभवे-लेटि उत्तमे । अभिभवामि । असत्प्रायान् करोमि । साल । कान् । सालायां गृहे वृक इव । शालावृकान् । कुक्कुरान् विडालान् । अन्यद् गतम् ॥

रुद्रं । जलाष-भेषज । नीलं-शिखण्ड । कर्म-कृत् ।
प्राशम् । प्रति-प्राशः । जुहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥६॥

भाषार्थ—(रुद्र) हे ज्ञान प्रापक ! हे दुःख विनाशक ! (जलाषभषेज) हे सुख दायक ओषधि वाले ! (नीलशिखण्ड) हे निधियों वा निवास स्थानों के प्राप्त कराने वाले ! (कर्मकृत्) हे कार्य्य में कुशल पुरुष ! (प्राशम्) मुझ वादी के (प्रतिप्राशः) प्रतिवादियों को (जहि) मिटादे, (ओषधे) हे ताप को पीने वाली [ओषधि रूप बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे उपकारी चतुर सद्वैद्य सुपरीक्षित ओषधियों से संसार में उपकार करते हैं, वैसे ही मनुष्यों को अपने बुद्धि प्रभाव से कार्यकुशल होकर सदा उपकारी रहना चाहिये ॥ ६ ॥

तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति ।
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि ॥ ७ ॥

६—रुद्र । अ० १ । १९ । ३ । रुत्+र । रु गतौ, बधे-क्विप्, तुक् आगमः। रवते गच्छति जानाति येनेति रुत्, ज्ञानम् । रा दाने-क। यद्वा। मत्वर्थे रप्रत्ययः ज्ञानदाता ज्ञानवान् वा रुद्रः । यद्वा । रवते हिनस्तीति रुत्, दुःखम् । रुत् रवते नाशयतीति रुत्+रु बधे-ड। दुःखनाशको रुद्रः । तत्संबुद्धौ । जलाषभेषज । जनी-ड+लष इच्छायाम्-घञ् । जैः जातैः लष्यते, इति जलाषम् । ततौ भिषज् चिकित्सायां सुखने-अच् । जलाषं भेषजं च सुख नाम—निघ० ३ । ६ । जलाषं सुखकरं भेषजं यस्य । हे सुखप्रदौषधयुक्त । नीलशिखण्ड । स्फायितञ्चि-वञ्चि० । उ० २ । १३ । इति णीञ् प्रापणे, रक् । रस्य लः । नीयते प्राप्यते इति नीलः, निधिभेदः । संख्याविशेषो वा । यद्वा । नि+इल गतौ-क । नीलः—नीडः निवासः । अण्डन् कृसृभृवृञः । उ० १ । १२६ । इति शिखि गतौ-अण्डन्, स च कित् । नीलानां निधीनां निवासानां वा शिखण्डः प्राप्तिर्यस्मात् नीलशिखण्डः । हे निधीनां निवासानां वा प्रापक ! कर्मकृत् । कर्म+कृञ्-क्विप्, तुक् च । कर्माणि कृत्यानि करोतीति सः । हे कृत्यकुशल ! । अन्यद् गतम् ॥

तस्यं । प्राशम् । त्वम् । जहि । यः । नः । इन्द्र । अभि-दासति । अधि । नः । ब्रूहि । शक्ति-भिः । प्राशि । माम् । उत्-तरम् । कृधि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले [पुरुष !] (त्वम्) तू (तस्य) उस पुरुष के (प्राशम्) प्रश्न को (जहि) मिटा दे, (यः) जो (नः) हम को (अभि-दासति) दबावे । (नः) हम से (शक्तिभिः) अपनी शक्तियों के साथ (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रूहि) कथन कर, और (प्राशि) विवाद में (माम्) मुझ को (उत्तरम्) अधिक उत्तम (कृधि) कर दे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे न्यायी राजा सत्यवादी को जिताता और मिथ्यावादी को हराता है। वैसे ही प्रत्येक मनुष्य अपने कुविचारों को दबाकर और सुविचारों को प्रबल करके आनन्द भोगे। ऐसे ही मनुष्य (इन्द्र) परम सामर्थ वाले होते हैं ॥ ७ ॥

(प्राशि) पद के स्थान पर सायणभाष्य में [प्राशम्] है ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—५ ॥ अग्निर्देवता । त्रिस्टुप् छन्दः ॥

आयुर्वर्धनायोपदेशः—आयु बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

तुभ्यमेव जरिमन् वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये । मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात् पात्वंहसः ॥ १ ॥

७—**तस्य** । प्रतिवादिनः । **प्राशम्** । मं० १ । सम्पदादिभ्यः क्विप् । वा० पा० ३ । ३ । ९४ । इति प्रच्छ जिज्ञासायाम्–भावे क्विप् । प्रश्नम् । **अभि-दासति** । दसु उपक्षये, एयन्तात् परस्य शपः । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । इति आर्धधातुकत्वात् । णेरनिटि । पा० ६ । ४ । ५१ । इति णिलोपः । उपक्षपयति । तिरस्करोति । **अधि** । अधिकृत्य । **नः** । अस्मान् । **ब्रूहि** । कथय । निर्णय । **शक्तिभिः** । स्वसामर्थ्यैः । **प्राशि** । पूर्ववद् भावे क्विप् । प्रश्ने । **माम्** । प्रष्टारम् । सत्यवादिनं । **उत्तरम्** । उत् अतिशयेन उद्गतः । उत्–तरप् । ऊर्ध्वम् । उत्कृष्टम् । **कृधि** । श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि । पा० ६ । ४ । १०२ । इति हेर्धिरादेशः । कुरु ॥

तुभ्यम् । एव । जरिमन् । वर्धताम् । अयम् । मा । इमम् । अन्ये । मृत्यवः । हिंसिषुः । शतम् । ये । माता-इव । पुत्रम् । प्र-मनाः । उप-स्थे । मित्रः । एनम् । मित्रियात् । पातु । अंहसः ॥१॥

भाषार्थ—(जरिमन्) हे स्तुति योग्य परमेश्वर ! (तुभ्यम्) तेरे [शासन मानने के] लिये (एव) ही (अयम्) यह पुरुष (वर्धताम्) बढ़े, (ये) जो (अन्ये) दूसरे (शतम्) सौ (मृत्यवः) मृत्यु हैं, [वे] (इमम्) इस पुरुष को (मा हिंसिषुः) न मारें । (प्रमनाः) प्रसन्नमन (माता इव) माता जैसे (पुत्रम्) कुलशोधक पुत्र को (उपस्थे) गोद में [पालती है वैसे ही] (मित्रः) मृत्यु से बचाने वाला, वा, बड़ा स्नेही परमेश्वर (एनम्) इस पुरुष को (मित्रियात्) मित्र संबन्धी (अंहसः) पाप से (पातु) बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने जीवन को सदैव ईश्वर की आज्ञा पालन अर्थात् शुभ कर्म करने में बितावे, और प्रयत्न करे कि उस का मृत्यु निन्दनीय कामों में कभी न हो और न उसके मित्रों में फूट पड़े और न वे दुष्कर्मी हों। और न कोई दुष्ट पुरुष अपने मित्रों को सता सके। जैसे प्रसन्नचित्त विदुषी माता की गोद में बालक निर्भय क्रीड़ा करता है, वैसे ही वह नीतिज्ञ पुरुष परमेश्वर की शरण पाकर अपने भाई बन्धुओं के बीच सुरक्षित रह कर आनन्द भोगे ॥ १ ॥

१—**तुभ्यम्** । त्वदर्थम् । त्वदाज्ञापालनाय । **एव** । अवश्यम् । **जरिमन्** । जरास्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु०-१० । ८ । जनिमृङ्भ्यामिमनिन् । उ० ४ । १४६ । इति जरतेः स्तुतिकर्मणः-कर्मणि इमनिन् । हे स्तुत्य । स्तूयमान परमेश्वर ! **वर्धताम्** । वृद्धिं समृद्धिं प्राप्नोतु । **अयम्** । निर्दिष्टः शरीरस्थो जीवः । **एनम्** । निर्दिष्टं जीवम् । **अन्ये** । स्तुत्यकर्मभ्यो भिन्नाः । **मृत्यवः** । अ० १ । ३० । ३ । मरणानि । **मा हिंसिषुः** । मा बधिषुः । मा हिंसन्तु । **शतम्** । असंख्याताः । **माता** । अ० १ । २ । १ । मान पूजायाम्-तृन् । माननीया जननी । **इव** । यथा । **पुत्रम्** । अ० १ । ११ । ५ । कुलशोधकं सुतम् । **प्रमनाः** । प्र+मन बोधे-असुन् । प्रसन्नचित्ता । **उपस्थे** । उप+ष्ठा—क । भुजान्तरे । क्रोड़े । **मित्रः** । अ० १ । ३ । २ । मित्रः प्रमीतेस्त्रायते सम्मिन्वानो द्रवतीति वा मेदयतेर्वा-निरु० १० । २१ । मरणात्त्राणकः । सर्वप्रेरकः परमेश्वरः । **एनम्** । जीवम् । **मित्रियात्** । समुद्राभ्राद् घः । पा० ४ । ४ । ११८ । इति बाहुलकात् । मित्र-घ । मित्रसम्बन्धिनः । **अंहसः** । अ० २ । ४ । ३ । पापात् । दोषात् । दुःखात् ॥

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ। तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥ २ ॥

मित्रः। एनम्। वरुणः। वा। रिशादाः। जरा-मृत्युम् [जरा-अमृत्युम्]। कृणुताम्। सम्-विदानौ। तत्। अग्निः। होता। वयुनानि। विद्वान्। विश्वा। देवानाम्। जनिमा। विवक्ति ॥२॥

भाषार्थ—(मित्रः) सर्व प्रेरक, काम में लगाने वाला दिन का समय (वा) और (रिशादाः) श्रम का भक्षण करने वाला (वरुणः) रात्रि का समय (संविदानौ) दोनों मिले हुए (एनम्) इस पुरुष को (जरामृत्युम्=जरा-अमृत्युं जरा-मृत्युं वा) स्तुति के साथ अमर, अथवा, स्तुति वा बुढ़ापे से मृत्यु वाला (कृणुताम्) करें। (तत्) इस लिये (होता) महादानी और (वयुनानि) सब व्यवस्थाओं को (विद्वान्) जानने वाला (एनम्) (अग्निः) अग्नि [तेजस्वी परमेश्वर] (देवानाम्) दिव्य पदार्थों वा महात्माओं को। (विश्वा=विश्वानि) सब (जनिमा=०—मानि) जन्म विधानों को (विवक्ति) बतलावे ॥ २ ॥

२—मित्रः। म० १। मध्यमस्थानदेवता-निरु० १० २१। अहरभिमानी देवः-इति सायणः। दिनकालः। वरुणः। मध्यस्थानदेवता-निरु० १०। ३। द्युस्थानदेवता-निरु० १२। २१। रात्र्यभिमानी [देवः]-इति सायणः। रात्रि-समयः। एनम्। जीवम्। वा। चार्थे। रिशादाः। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। पा० ३। १। १३५। इति रिश हिंसायाम्-क। अद भक्षणे-असुन्। रिशानां हिंसकानां श्रमाणां अत्ता नाशयिता। जरामृत्युम्। अ० २। १३। २। जरया स्तुत्या अमृत्युः अमरणं यस्य तम्। यद्वा। जरया स्तुत्या वृद्धत्वेन वा मृत्युर्मरणं यस्य तम्। यशस्विनम्। कृणुताम्। उभौ कुरुताम्। संविदानौ। समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः। पा० १। ३। २९। इति संपूर्वाद् वेत्ते-रकर्मकात्-आत्मने पदम्। लटः शानच्। संगच्छमानौ। ऐकमत्यं प्राप्तौ। तत्। तेन कारणेन। अग्निः। अ० १। ६। २। व्यापकः सर्वज्ञः परमेश्वरः।

भावार्थ—जो मनुष्य दिन और रात ईश्वर की आज्ञा पालन में लगे रहते हैं वे ही अन्त में यशस्वी होते हैं, और सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी परमेश्वर उनके हृदय में सब उत्तम २ व्यवस्थाओं और नियमों को प्रकट करता जाता है ॥ २ ॥

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः । मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः ॥ ३ ॥

त्वम् । ईशिषे । पशूनाम् । पार्थिवानाम् । ये । जाताः । उत । वा । ये । जनित्राः । मा । इमम् । प्राणः । हासीत् । मो इति । अपानः । मा । इमम् । मित्राः । वधिषुः । मो इति । अमित्राः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (त्वम्) तू (पार्थिवानाम्) पृथिवी पर के (पशूनाम्) पशुओं [जीवों] का (ईशिषे) स्वामी है, (ये) जो (जाताः) उत्पन्न हो चुके हैं (उत) और (वा) अथवा (ये) जो (जनित्राः) उत्पन्न होंगे । (इमम्)

होता । अ० १ । ११ । १ । हु-तृन् । दाता । आदाता । **वयुनानि** । अजियमिशीङ्भ्यश्च । उ० ३ । ६१ । इति अज गतौ-उनन्, वीभावः । अथवा । वी गतिकान्तिव्याप्त्यादिषु-उनन् । वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा-निरु० ५ । १४ । ज्ञातव्यानि कर्माणि । **विश्वा** । विश्वानि । सर्वाणि । **जनिमा** । जनिमृङ्भ्यामिमनिन् । उ० ४ । १४६ । इति जन जनी वा-इमनिन् । जनिमानि, जन्मानि । प्रादुर्भावस्थानानि । **विवक्ति** । वचेः-लेटि शपः श्लुः । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । ४ । ७८ । इत्यभ्यासस्य इकारः । ब्रवीतु । उपदिशतु ॥

३—**त्वम्** । हे अग्ने, परमेश्वर ! **ईशिषे** । ईश ऐश्वर्ये । ईशः से । पा० ७ । २ । ७७ । इडागमः । ईश्वरोऽधिपतिरसि । **पशूनाम्** । अ० २ । २६ । १ । द्विपाच्चतुष्पादपदाणां प्राणिनाम् । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ इति षष्ठी । **पार्थिवानाम्** । दित्यदितीति० । पा० ४ । १ । ८५ । अत्र वार्त्तिकम् । पृथिव्या ञाञौ । इति पृथिवी-अञ् । ञित्वाद् आद्युदात्तः । पृथिव्यां भवानाम् । **ये** । पशवः । **जाताः** । उत्पन्नाः । **उत** । अपि । **जनित्राः** । अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ । उ० ४ । १७३ । इति जनु जनी-इत्र । जनिष्यमाणाः । उत्पत्स्य-

इस पुरुष को (प्राणः) प्राण [बाहिर जाने वाला श्वास] (मा हासीत्) न त्यागे, (मो=मा+उ) और न (अपानः) अपान [भीतर आने वाला प्रश्वास]। (इमम्) इस पुरुष को (मित्राः) मित्र (मा वधिषुः) न मारें, (मो=मा+उ) और न (अमित्राः) अमित्र [विरोधी अर्थात् वैरी लोग] ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर महा उपकार करके संसार के चर और अचर का शासक और नियन्ता है, इसी प्रकार मनुष्य को उपकारी होकर प्रयत्न करना चाहिये कि उस का स्वयम्, आत्मा और अन्य मित्र अथवा शत्रु सब प्रीति से आनन्द बढ़ाते रहें ॥ ३ ॥

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने। यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥ ४ ॥

द्यौः। त्वा। पिता। पृथिवी। माता। जरा-मृत्युम् [जरा-अमृत्युम्]। कृणुताम्। संविदाने इति सम्-विदाने। यथा। जीवाः। अदितेः। उप-स्थे। प्राणापानाभ्याम्। गुपितः। शतम्। हिमाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पिता) पिता [के समान रक्षक] (द्यौः) सूर्य लोक और (माता) [के समान प्रीति करने वाली] (पृथिवी) पृथिवी लोक, (संविदाने) दोनों मिले हुये, (त्वा) तुझ को (जरामृत्युम्=जरा-अमृत्युं जरा-मृत्युं वा) स्तुति के

मानाः। **इमम्**। प्राणिनम्। **प्राणः**। अ० २। १५। १। ऊर्ध्वकायस्थो वायुः। **मा हासीत्**। ओहाक् त्यागे—लुङ्। न माङ्योगे। पा० ६।४।४। अडभावः। मा त्याक्षीत्। **मो**। मा + उ। मैव। **अपानः**। अप+अन प्राणने, जीवने-अच्। अपानिति अधो निःसरतीति। अधरकायस्थो वायुः। **मित्राः**। स्नेहिनः। बान्धवाः। **मा वधिषुः**। लुङि च। पा० २।४। ४३। इति हन्तेर्वधादेशः। मा हिंसिषुः। **अमित्राः**। अमेर्द्विषति चित्। उ० ४। १७४। इति अम रोगे, पीड़ने-इत्रच्। पीडकाः। शत्रवः ॥

४-द्यौः। अ० २। १२। ६। द्योतमानः सूर्यः। **त्वा**। त्वां प्राणिनम्। **पिता**। अ० १। २। १। रक्षकः। जनकः। तद्वदुपकारकः। **पृथिवी**। अ०

साथ अमर, अथवा, स्तुति वा बुढ़ापे से मृत्यु वाला (कृणुताम्) करें। (यथा) जिस से (अदितेः) अखण्ड परमेश्वर [अथवा अदीन प्रकृति, वा पृथिवी] की (उपस्थे) गोद में (प्राणापानाभ्याम्) प्राण और अपान से (गुपितः) रक्षा किया हुआ तू (शतम्) सौ (हिमाः) हेमन्त ऋतुओं तक (जीवाः) जीता रहे॥ ४॥

भावार्थ—पुरुषार्थी पुरुष प्रबन्ध रक्खे कि सूर्य का तेज और आकार्षण आदि सामर्थ्य और पृथिवी की अन्न आदि की उत्पादनादि शक्ति, और अन्य सब पदार्थ अनुकूल रहें, जैसे माता पिता सन्तानों पर प्रीति रखते हैं, जिस से वह पुरुष परमेश्वर के अनुग्रह से पृथिवी पर यशस्वी होकर पूर्ण आयु भोगे॥ ४॥

इ॒मम॑ग्न॒ आयु॑षे॒ वर्च॑से नय प्रि॒यं रेतो॑ वरुण मित्र राजन्। मा॒तेवा॑स्मा अदिते॒ शर्म॑ यच्छ॒ विश्वे॑ देवा ज॒रद॑ष्टि॒र्यथास॑त्॥ ५॥

१।२।१। प्रख्याता भूमिः। **माता**। अ० १। २।१। मानकर्त्री, जननी। **जरामृत्युम्**। व्याख्यातं म० २। यशस्विनम्। **कृणुताम्**। कुरुताम्। **संविदाने**। मं० २। ऐक्यमत्यं प्राप्ते। **यथा**। यस्मात् कारणात्। **जीवाः**। जीव प्राणधारणे-लेटि आडागमः। त्वं जीवेः। प्राणान् धरेः। **अदितेः**। कृत्यल्युटो बहुलम्। पा० ३।३।११३। इति दीङ् क्षये, दो अवखण्डने, दाप् लवने-क्तिन्। द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति। पा० ७।४।४०। इति इत्वम्। दीङ् पक्षे ह्रस्वत्वं, नञ् समसाः। अदितिः पृथिवी-निघ० १।१। वाक्-निघ० १।११। गौः-निघ० २।११। अदीना देवमाता-निरु० ४।२२। मध्यस्थान देवतासु "प्रथमगामिनी-" निरु० ११।२२। अक्षीणस्य अखण्डस्य वा परमेश्वरस्य, अथवा अदीनायाः देवमातुः, मनुष्यसूर्यादिदिव्यपदार्थानां जनन्याः प्रकृतेः पृथिव्या वा। **उपस्थे**। क्रोडे। उत्सङ्गे। **प्राणापानाभ्याम्**। म० ३। श्वासनिःश्वासाभ्याम्। **गुपितः**। गुपू रक्षणे-क्त। रक्षितः। **शतम्**। अपरिमिताः। **हिमाः**। हन्तेर्हि च। उ० १।१४७। इति हन हिंसागत्योः-मक्। अर्शआद्यच-टाप्। हिमं तुषारोऽस्ति यस्याम्। हेमन्तान् संवत्सरान्। कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे। पा० २।३।५। इति द्वितिया॥

इमम् । अग्ने । आयुषे । वर्चसे । नय । प्रियम् । रेतः । वरुण । मित्र । राजन् । माता-इव । अस्मै । अदिते । शर्म । यच्छ । विश्वे । देवाः । जरत्-अष्टिः । यथा । असत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि तत्व, (वरुण) हे जल तत्व ! (राजन्) हे बड़ी शक्ति वाले (मित्र) चेष्टा कराने वाले प्राण वायु ! (इमम्) इस पुरुष को (आयुषे) आयु [बढ़ाने] के लिये और (वर्चसे) तेज वा अन्न के लिये (प्रियम्) प्रसन्न करने वाला (रेतः) वीर्य वा सामर्थ्य (नय) प्राप्त करा। (अदिते) हे अदीन वा अखण्ड प्रकृति वा भूमि ! (माता इव) माता के समान (अस्मै) इस जीव को (शर्म) आनन्द (यच्छ) दान कर। (विश्वे) हे सब (देवाः) दिव्य पदार्थ वा महात्माओ ! (यथा) जिस से [यह पुरुष] (जरदष्टिः) स्तुति के साथ प्रवृति वा भोजन वाला (असत्) होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य अग्नि, जल, वायु, और पृथिवी तत्वों को प्रयत्न पूर्वक उचित खान पान ब्रह्मचर्यादि के नियम पालन से अनुकूल रक्खे, जिस से

५—**इमम्** । प्राणिनम् । **अग्ने** । हे अग्नितत्व । **आयुषे** । एतेर्णिच्च । उ० २ । ११८ । इति इण् गतौ-उसि । जीवनवर्धनाय । **वर्चसे** । अ० २ । १३ । २ । तेजसे । अन्नाय । **नय** । प्रापय । द्विकर्मकः । **प्रियम्** । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३।१।१३५। इति प्रीङ् प्रीतौ कः । अचि श्नुधातु भ्रुवां० पा०६।४।७७। इयङादेशः । हितकरम् । **रेतः** । स्रुरीभ्यां तुट् च । उ० ४ । २०२ । इति रीङ् क्षरणे-असुन्, तुट् च । शुक्रम् । वीर्यम् । प्रजननसामर्थ्यम् । **वरुण** । कृवृदारिभ्य उनन् । उ० ३ । ५३ । इति वृञ् वरणे-उनन् । उत्तमं जलमिति दयानन्द सरस्वती तद्वृत्तौ । अपानवायुः—यथा । ब्रह्माण्डस्थौ गमनागमनशीलौ मित्रावरुणौ प्राणापानौ-इति दयानन्दकृतयजुर्वेदभाष्ये, २ । ३ । तत्संबुद्धौ । **मित्र** । हे प्राणवायो यथा पूर्वोक्तम् । **राजन्** । कनिन् युवृषितक्षिराजि० । उ० १ । १५६ । इति राजृ दीप्तौ, ऐश्वर्ये-कनिन् । राजति=ईष्टे-निघ० २ । २१ । हे दीप्यमान, हे ऐश्वर्यवत् । **मातेव** । जननीव । **अस्मै** । प्राणिने । **अदिते** । म० ४ । हे प्रकृते । भूमे । **शर्म** । अ० १ । २० । ३ । शॄ हिंसायाम्-मनिन् । गृहम् । निघं० ३ । ४ । सुखम्-निघ० ३ । ६ । **यच्छ** । देहि **विश्वे** । सर्वे । **देवाः** ।

शरीर की पुष्टि और आत्मा की उन्नति करके उत्साही और यशस्वी होवें ॥ ५ ॥

टिप्पणी—बम्बई गवर्नमेन्ट पुस्तक की संहिता और पद पाठ में [मित्र-राजन्] एक पद है। परन्तु सायणभाष्य और अन्य दो पुस्तकों में (मित्र राजन्) दो पद हैं वही हम ने लिये हैं ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—७ ॥ बृहस्पतिरिन्द्रो वा देवता । १ अनुष्टुप्; ४ चतुर्थे चतुर्थो दैवी त्रिष्टुप्; अन्ये पादास्त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यः स्वोन्नतिं कुर्यादित्युपदिश्यते—मनुष्य अपनी उन्नति करता रहे, इस का उपदेश ॥

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले ।
आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आधाद् बृहस्पतिः ॥१॥

पार्थिवस्य । रसे । देवाः । भगस्य । तन्वः । बले । आयुष्यम् । अस्मै । अग्निः । सूर्यः । वर्चः । आ । धात् । बृहस्पतिः ॥१॥

भाषार्थ—(देवाः) हे व्यवहार कुशल, महात्माओ ! (अग्निः) सर्वव्यापक, (सूर्यः) लोकों में चलने वाला वा लोकों का चलाने वाला, (बृहस्पतिः) बड़े बड़े [ब्रह्माण्डों] का रक्षक परमेश्वर ! (पार्थिवस्य) पृथिवी पर वर्त्तमान

दिव्याः पदार्थाः पुरुषा वा । **जरदष्टिः** । जीर्यतेरतृन् । पा० ३ । २ । १०४ । इति बाहुकालात् जरतेः स्तुतिकर्मणः—अतृन् । अशू व्याप्तौ, अश भोजने-क्तिन् जरता स्तुत्या सह अष्टिः कार्यव्याप्तिर्भोजनं वा यस्य सः । **यथा** । येन प्रकारेण । **असत्** । अस्तेर्लेटि अडागमः । भवेत् ॥

१—**पार्थिवस्य** । अ० २ । २८ । ३ । भूमेः सम्बन्धिनः । **रसे** । रस स्वने आस्वादे-अच् । सारे शरीरपुष्टौ । **देवाः** । हे व्यवहारकुशला विद्वांसः । **भगस्य** । अ० १ । १४ । १ । भज सेवायाम्-घ । ऐश्वर्यस्य । **तन्वः** । अ० १ ।

(भगस्य) ऐश्वर्य के (तन्वः) विस्तार के (रसे) रस अर्थात् तत्त्व ज्ञान, और (बले) बल में (अस्मै) इस [जीव] को (आयुष्यम्) आयु बढ़ाने वाला (वर्चः) तेज [शरीर कान्ति और ब्रह्म वर्चस] (आ) सब ओर से (धात्=धत्तात्) देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से आध्यात्मिक पक्ष में परमेश्वर के ज्ञान से, और आधिभौतिक पक्ष में (अग्नि) जो विजुली आदि रूप से सब शरीरों में बड़ा उपयोगी पदार्थ है, और (सूर्य) जो अनेक बड़े बड़े लोकों को अपने आकर्षण आदि में रखता है, इन के विज्ञान से, अपनी शरीर कान्ति और आत्मिक शक्ति बढ़ावें, और पृथिवी आदि पदार्थों के सारतत्त्व से उपकार लेकर प्रतापी, यशस्वी, और चिरंजीवी बनें ॥ १ ॥

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै ।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥२॥

आयुः । अस्मै । धेहि । जात-वेदः । प्र-जाम् । त्वष्टः । अधि-निधेहि । अस्मै । रायः । पोषम् । सवितः । आ । सुव । अस्मै । शतम् । जीवाति । शरदः । तव । अयम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे प्राणियों को जानने वा धन देने वाले परमेश्वर ! [वा अग्नि] (अस्मै) इस [जीव] को (आयुः) आयु (धेहि) दे, (त्वष्टः)

---

१ । १ । विस्तारस्य । **बले** । आत्मशरीरसामर्थ्ये । **आयुष्यम्** । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । आयुष्-यत् । जीवनवर्धकम् । **अस्मै** । निर्दिष्टप्राणिने । **अग्निः** । व्यापकः । तेजोविशेषः । **सूर्यः** । अ० १ । ३ । ५ । राजसूयसूर्य० । पा० ३ । १ । ११४ । अत्र सिद्धान्तकौमुदीटीकायां भट्टोजिदीक्षितः । "सरत्याकाशे सूर्यः । यद्वा सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयतीति" । परमेश्वरः । सूर्यलोकः । **वर्चः** । तेजः शरीरकान्तिर्ब्रह्मवर्चसं च । **आ** । समन्तात् । यथाविधि । **धात्** । छान्दसं रूपम् । धत्तात् । धेयात् । स्थापयतु । **बृहस्पतिः** । अ० १ । ८ । २ । महतां पृथिव्यादिलोकानां रक्षकः प्रकाशवृष्टिदानेनाकर्षणेन च । परमात्मा । सूर्यः ॥

२ **आयुः** । जीवनम् । **अस्मै** । समीपस्थाय प्राणिने । **धेहि** । डुधाञ् धारणपोषणदानेषु । देहि । प्रयच्छ । **जातवेदः** । अ० १ । ७ । २ । वेदो धनम् ।

हे सूक्ष्म रचना करने वाले परमेश्वर ! [वा सूर्य] (अस्मै) इस को (प्रजाम्) प्रजा जन (अभि-निधेहि) अधिक २ संग्रह कर । (सवितः) हे परम ऐश्वर्य वाले परमेश्वर ! [वा सूर्य] (अस्मै) इस को (रायः) धन की (पोषम्) पुष्टता (आसुव) भेज दे, (तव) तेरा [सेवक] (अयं) यह [जीव] (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीवाति) जीता रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के गुणों को विचार कर मनुष्य को (जातवेदाः) अपने लोगों का जाननेवाला, (त्वष्टा) विश्वकर्मा, सब कामों में कुशल और (सविता) महाप्रतापी होकर अपनी सामाजिक और आर्थिक शक्ति बढ़ा कर और संसार में कीर्ति फैला कर पूर्ण आयु भोगना चाहिये ॥ २ ॥

२—अग्नि के प्रभाव से शरीर में चेष्टा होती है, और सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न, अन्न से बल होता है । जो मनुष्य योग्य प्रयोग से इन को अनुकूल रखता है वह प्रजावान्, धनवान् और आयुष्मान् होता है ॥ २ ॥

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ । जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥ ३ ॥

निघ० २ । १० । जातेभ्यः प्राणिभ्यो धनं ज्ञानं वा यस्मात् स जातवेदाः । हे प्राणिभ्यो धनप्रद, सर्वज्ञ, परमेश्वर ! **प्रजाम्** । सन्तानम् । पुत्रपौत्र-भृत्यादिकम् । **त्वष्टः** । अ० २ । ५ । ६ । त्वक्ष काश्य-तृन् । हे तनू-कारक । विश्वकर्मन् । सूर्य । **अधिनिधेहि** । अधिकं बाहुल्येन स्थापय । **रायस्पोषम्** । अ० १ । ९ । ४ । रायो धनस्य पोषं वर्धनम् । **सवितः** । अ० १ । १८ । २ षु षू वा प्रसवैश्वर्ययोः-तृच् । स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा । पा० ७ । २ । ४४ । विकल्पाद् इडागमः । परमेश्वरः । वृष्टिदानादिना शरीरिणं जनयिता सूर्यः । हे उत्पादक । ऐश्वर्यवन् । **आ** । अभिमुखम् । **सुव** । षू प्रेरणे प्रेरय । प्रापय । **शतम्** । बह्वीः । अपरिमिताः । **जीवाति** । जीव प्राणधारणे-लेट् । आडागमः । जीवतु । **शरदः** । अ० १ । १० । २ । शरदृतून् । संवत्सरान् **तव** । तवानुगृहीतः । **अयम्** । प्राणी ॥

आ-शीः । नः । ऊर्जम् । उत । सौप्रजाः-त्वम् । दक्षम् । धत्तम् । द्रविणम् । स-चेतसौ । जयम् । क्षेत्राणि । सहसा । अयम् । इन्द्र । कृण्वानः । अन्यान् । अधरान् । स-पत्नान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (आशीः) आशीर्वाद [हो], (सचेतसौ) हे समान चित्त वाले [माता पिता तुम दोनों] ! (ऊर्जम्) अन्न, (सौप्रजास्त्वम =०=जस्त्वम्) उत्तम प्रजायें, (दक्षम्) बल, (उत) और (द्रविणम्) धन (धत्तम्) दान करो ।

(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर (अयम्) यह [जीव] (सहसा) [आप के] बल से (जयम्) जय और (क्षेत्राणि) ऐश्वर्य के कारण खेतों को (कृण्वानः) करता हुआ, और (अन्यान्) जीवित [वा भिन्न भिन्न] (सपत्नान्) विपक्षियों को (अधरान्) नीचे [करता हुआ] [जीवाति=जीता रहे-मं० २ से]॥३॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (जीवाति) जीता रहे, इस पद की अनुवृत्ति मं० २ से है। माता पिता प्रयत्न करें कि उन के पुत्र पुत्री सब सन्तान, बड़े

३—**आशीः** । आङःशासु इच्छायाम्-क्विप्, उपधाया इत्वम् । आशीर्वादः । मङ्गलवचनम् । **नः** । अस्मभ्यम्+अस्तु । **ऊर्जम्** । ऊर्ज बलप्राणनयोः—क्विप् । ऊर्गित्यन्नामोर्जयतीति सतः पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा-निरु० ३ । ८ । ऊर्जयति प्रबलति बलवन्तं प्राणवन्तं वा करोतीति सा ऊर्क् । अन्नम् । **उत** । अपि च । **सौप्रजास्त्वम्** । नित्यमसिच् प्रजामेधयोः । पा० ५ । ४ । १२२ । इति सु+प्रजा-असिच् । छान्दसौ वृद्धिदीर्घौ । सुप्रजस्त्वम् । शोभनसन्तानत्वम् । **दक्षम्** । दक्ष वृद्धौ—अच् । पुष्टिम् । दक्षः=बलम् निघ० २ । ९ । **धत्तम्** । युवां धारयतम् । स्थापयतम् । **द्रविणम्** । द्रुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २२। ५० । इति द्रु गतौ-इनन् । धनम् । निघ० २ । १० । **सचेतसौ** । समानमनसौ। मातापितरौ । **क्षेत्राणि** । दाद्भिभ्यश्छन्दसि । उ० ४ । १७० इति क्षि क्षयै-श्वर्यगतिनिवासेषु-त्रन् । क्षेत्रं क्षियतेर्निवासकर्मणः-निरु० १० । १४ । ऐश्वर्याणि । भूमिप्रदेशान् । **सहसा** । बलेन तव दत्तेन । **अयम्** । निर्दिष्टः पुरुषः । **इन्द्र** । हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् । **कृण्वानः** । कुर्वाणः । उत्पादयन् ।

अन्नवान्, बलवान्, और धनवान् होकर, उत्तम गृहस्थी बनें और जितेन्द्रिय होकर अपने दोषों और शत्रुओं का नाश करें ॥ ३ ॥

इन्द्रेण दुत्तो वरुणेन शिष्टो मुरुद्भिरुग्रः प्रहितो नु आगन्।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधुन्मा तृषत् ॥४॥

इन्द्रेण। दुत्तः। वरुणेन। शिष्टः। मुरुत्-भिः। उग्रः। प्र-हितः। नुः। आ। अगुन्। एषः। वाम्। द्यावापृथिवी इति। उप-स्थे। मा। क्षुधत्। मा। तृषत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एषः) यह [जीव] (इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा करके (दत्तः) दिया हुआ, (वरुणेन) श्रेष्ठ गुण वाले पिता करके (शिष्टः) शिक्षा किया हुआ, और (मरुद्भिः) शूर वीर महात्माओं करके (प्रहितः) भेजा हुआ, (उग्रः) तेजस्वी होकर, (नः) हम लोगों में (आ अगन्=अगमत्) आया है। (द्यावापृथिवी=०—द्यौ) हे सूर्य और भूमि ! (वाम्) तुम दोनों की (उपस्थे) गोद में [यह जीव] (मा क्षुदत्) न भूखा रहे और (मा तृषत्) न पियासा मरे ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अपनी न्याय व्यवस्था से इस जीव को मनुष्य जन्म दिया है, माता पिता ने शिक्षा दी है, विद्वानों ने उत्तम विद्याओं का अभ्यास कराया है, इस प्रकार वह अध्ययन समाप्ति पर समावर्तन कर के संसार में प्रवेश करे, और सूर्य पृथिवी आदि सब पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

अन्यान्। माछासिसिभ्यो यः। उ० ४। १०६। इति अन जीवने-य। अनिति जीवतीति अन्यः। जीवितान्। भिन्नान्। **अधरान्**। न + धृङ्-अच्। अधो-गतान्। नीचान्। **सपत्नान्**। अ० १। ६। २। सहपतनशीलान्। शत्रून् ॥

४—**इन्द्रेण**। परमैश्वर्यवता परमात्मना। **दत्तः**। दो दद्घोः। पा० ७। ४। ४६। इति दा दाने-क्त, दद् भावः। लब्धजीवनः। **वरुणेन**। वृञ्। उनन्। श्रेष्ठजनकेन। **शिष्टः**। शासु शासने-क्त। शास इदङ् हलोः। पा० ६। ४। ३४। इत्युपधाया इकारः। शासिवसिघसीनां च। पा० ८। ३। ६०।

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम्।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत ऊर्जमापः ॥ ५ ॥

ऊर्जम् । अस्मै । ऊर्जस्वती इति । धत्तम् । पयः । अस्मै । पयस्वती इति । धत्तम् । ऊर्जम् । अस्मै । द्यावापृथिवी इति । अधाताम् । विश्वे । देवाः । मरुतः । ऊर्जम् । आपः ॥५॥

भाषार्थ—(ऊर्जस्वती=०—त्यौ) हे अन्न वाली [पिता और माता] दोनों! (अस्मै) इस [जीव को] (ऊर्जम्) अन्न (धत्तम्) दान करो, (पयस्वती=०—त्यौ) हे दूध वाली तुम दोनों! (अस्मै) इस को (पयः) दूध वा जल (धत्तम्) दान करो। (द्यावापृथिवी=०—व्यौ) सूर्य और पृथिवी ने (अस्मै)

इति सस्य षः। शासितः। अनुज्ञातः। **मरुद्भिः**। अ० १। २०। १। शत्रुमारणशीलैः शूरैः। **उग्रः**। तेजस्वी। **प्रहितः**। हि गतौ-क्त। प्रेषितः, प्रेरितः। **नः**। अस्मान्। **आ+अगन्**। गमेर्लुङि। मन्त्रे घस०। पा० २। ४। ८०। इति च्लेर्लुक्। मो नो धातोः। पा० ८।२।६४। इति नत्वम्। आगमत्। **एषः**। प्राणी। **वाम्**। युवयोः। **द्यावापृथिवी**। हे द्यावापृथिव्यौ। तत्रस्थपदार्थाः-इत्यर्थः। **उपस्थे**। क्रोडे। **मा क्षुदत्**। क्षुत्पीडां मां प्राप्नोतु। **मा तृषत्**। तृषार्तो मा भवतु। क्षुद् बुभुक्षायाम्। ञि तृषा पिपासायाम्। उभयोर्माङि लुङि पुषादित्वाद् अङ्॥

५—**ऊर्जम्**। म० ३। अन्नम्। **ऊर्जस्वती**। ऊर्ज बलप्राणनयोः—असुन्। ततो मतुप्। मस्य वः। तसौ मत्वर्थे। पा० १।४।४६। इति भत्वाद् रुत्वाभावः। विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः। हे अन्नवत्यौ। बलवत्यौ मातापितरौ। **धत्तम्**। दत्तम्। **पयः**। अ० १।४।१। दुग्धम्। जलम्। **अस्मै**। जीवाय। **पयस्वती**। पूर्ववत् सिद्धिः। दुग्धवत्यौ। जलवत्यौ। **द्यावापृथिवी**। अ० २।१।४। प्रगृह्यत्वाद् अचि प्रकृतिभावः। सूर्यभूमी। **अधाताम्**। डुधाञ्-लुङ्। दत्तवत्यौ। **विश्वे**। सर्वे। **देवाः**। दिव्यगुणयुक्ताः।

इस [जीव] को (ऊर्जम्) अन्न (अधाताम्) दिया है, (विश्वे) सब (देवाः) दिव्यगुण वाले (मरुतः) दोषनाशक, प्राण अपानादि वायु और (आपः) व्यापन शील जल ने (ऊर्जम्) अन्न [अधुः] [दिया है] ॥ ५ ॥

भावार्थ—माता पिता संतानों को ऐसी शिक्षा देकर उद्यमी करें कि वे खान पान आदि प्राप्त करके सदा सुखी रहें। सूर्य भूमि वायु जलादि प्राकृतिक पदार्थ खान पानादि देकर बड़ा उपकार कर रहे हैं। उस से सब को लाभ उठाना चाहिये ॥ ५ ॥

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः । सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ॥ ६ ॥

शिवाभिः । ते । हृदयम् । तर्पयामि । अनमीवः । मोदिषीष्ठाः । सु-वर्चाः । स-वासिनौ । पिबताम् । मन्थम् । एतम् । अश्विनोः । रूपम् । परि-धाय । मायाम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (शिवाभिः) मङ्गल करनेवाली [विद्याओं वा शक्तियों] से (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय को (तर्पयामि) मैं तृप्त करता हूं, तू (अनमीवः) नीरोग और (सुवर्चाः) उत्तम कान्ति वाला होकर (मोदिषीष्ठाः) हर्ष प्राप्त कर। (सवासिनौ) मिलकर निवास करनेवाले दोनों [स्त्री पुरुष] (अश्विनोः) माता

मरुतः । अ० १ । २० । १ । अथातो मध्यस्थाना देवगणास्तेषां मरुतः प्रथमगामिनो भवन्ति मरुतो मितराविणो वा मितरोचिनो वा महद् द्रवन्तीति वा—निरु० ११ । १३ । वायुः । ऋत्विजः । शूराः पुरुषाः । **आपः** । अ० १ । ४ । ३ । जलम् । आप्ताः प्रजाः-दयानन्दभाष्ये, य० ६ । २७ ॥

६—**शिवाभिः** । शिव-टाप् । अ० २ । ६ । ३ । मङ्गलवतीभिर्विद्याभिः शक्तिभिर्वा । (शिवाभिष्टे) युष्मत्तत्क्षुःष्वन्तः पादम् । पा० ८ । ३ । १०३ । इति षत्वम् । **ते** । तव । **हृदयम्** । वृहोः षुग्दुकौ च । उ० ४ । १०० । इति हृञ् । कयन दुक् च । हरति स्वीकरोति विषयानिति । मनः । **तर्पयामि** । सुखयामि । **अनमीवः** । इण्शीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । इति अम रोगे-वन्, ईडागमः ।

पिता के (रूपम्) स्वभाव और (मायाम्) बुद्धि को (परिधाय) सर्वथा धारण करके (एतम्) इस (मन्थम्) रस का (पिबताम्) पान करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर कहता है कि हे मनुष्य तेरे आनन्द के लिये मैं ने तुझे अनेक विद्यायें और शक्तियां दी हैं, तुम दोनों स्त्री पुरुषो! माता पिता रूप से संसार का उपकार करके इस [मेरे दिये] आनन्दरस को भोगो ॥६॥

इन्द्र॑ एतां स॑सृजे वि॒द्धो अग्र॑ ऊ॒र्जां स्व॒धाम॒जरां॒ सा त॑ ए॒षा। तया॒ त्वं जी॑व श॒रदः॑ सु॒वर्चा॒ मा त॒ आ सु॑स्रोद्भि॒षज॑स्ते अक्रन् ॥ ७ ॥

इन्द्रः॑। ए॒ताम्। स॒सृजे॒। वि॒द्धः। अग्रे॑। ऊ॒र्जाम्। स्व॒धाम्। अ॒जराम्। सा। ते॒। ए॒षा। तया॑। त्वम्। जीव॒। श॒रदः॑। सु॒-वर्चाः॑। मा। ते॒। आ। सु॒स्रो॒त्। भि॒षजः॑। ते॒। अ॒क्र॒न् ॥७॥

भाषार्थ—(विद्धः) सेवा किये हुये (इन्द्रः) परमेश्वर ने (एताम्) इस (अजराम्) अक्षय (ऊर्जाम्) अन्नयुक्त (स्वधाम्) अमृत को (अग्रे)

रोगरहितः। **मोदिषीष्ठाः**। मुद हर्षे। आशिषि लिङ्। मोदस्व। हृष्टो भव। **सुवर्चाः**। सु+वर्च-असुन्। सुजेतस्कः। **सवासिनौ**। व्रते। पा० ३। २। ८०। इति वस निवासे-णिनि। समानस्य सभावः। पुमान् स्त्रिया। पा० १। २। ६७। इत्येकशेषः। समानम् एकत्रनिवसन्तौ स्त्रीपुरुषौ। **पिबताम्**। पीतं कुरुताम्। **मन्थम्**। मन्थ गाहे-घञ् विलोडनम्। रसम्। **एतम्**। निर्दिष्टम्। वेदोक्तम्। **अश्विनौ**। अशुप्रुशिलटि०। उ० १। १५१। अशू व्याप्तौ-क्वन्। अश्वो व्याप्तिः—इनि प्रत्ययः। एकशेषः पूर्ववत्। अश्विनौ द्यावापृथिव्याविव्येके-ऽहोरात्रावित्येके सूर्याचन्द्रमसावित्येके राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः— निरु० १२। १। कार्येषु व्याप्तिमतोः, जननीजनकयोः। **रूपम्**। स्वभावम्। **परिधाय**। धृत्वा। **मायाम्**। माछाससिभ्यो यः। उ० ४। १०९। माङ् माने य, टाप्। बुद्धिम्। प्रज्ञाम्-निघ० ३। ९॥

७—**इन्द्रः**। परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः। **एताम्**। सर्वत्र विद्यमानाम्। **ससृजे**। सृज-लिट्। सृष्टवान्। उत्पादितवान्। **विद्धः**। विध विधाने-क्त-

पहिले से (ससृजे) उत्पन्न किया है। (सा एषः) सो यह (ते) तेरे लिये [है], (तया) उस [अमृत] से (त्वम्) तू (सुवर्चाः) उत्तम कान्ति वाला होकर (शरदः) बहुत शरद् ऋतुओं तक (जीव) जीता रह, (आ) और [सा स्वधा] [वह] (ते) तेरे लिये (मा सुस्रोत्) न घट जावे। (भिषजः) वैद्यों ने (ते) तेरे लिये [उस अमृत को] (अक्रन्) बनाया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—अनादि परमेश्वर ने सृष्टि के पहिले मनुष्य को अमृत रूप सार्वभौम ज्ञान दिया है उस की कभी हानि नहीं होती, मनुष्य जितना जितना उसे काम में लाता है उतना ही वह बढ़ता जाता है और सुखदायक होता है। उसके उचित प्रयोग से मनुष्य पूर्ण आयु भोगता है। बुद्धिमानों ने बुद्धि को महौषधि बताया है ॥ ७ ॥

(ऊर्जाम्) पद के स्थान पर सायणभाष्य में (ऊर्जम्) है ॥

तुदादिः, छन्दसि अनिट्। विधेम=परिचरेम-निघ० ३।५ वेधितः।परिचरितः। सेवितः। **अग्रे** । सर्वेभ्यः पूर्वम्। **ऊर्जाम्** । म० ३। ऊर्क्=अन्नं बलं वा। ततः, अर्शआद्यच्, टाप्। अन्नवतीम् । बलवतीम्। **स्वधाम्** । आः समिण्-निकषिभ्याम्। उ० ४। १७५। इति ष्वद् स्वादे-आ, दस्य धः। स्वादयति रसान् उत्पादयतीति स्वधा। यद्वा। आतो ऽनुपसर्गे कः। पा० ३।२।३। इति स्व+डुधाञ् धारणपोषणदानेषु-क, टाप्। अथवा क्विप्। स्वम् आत्मानं भोक्तृशरीरं दधाति पुष्णातीति वा स्वधा। यद्वा। स्व+धेट् पाने-क, टाप्। उदकम्। निघ० १। १२। अन्नम्-निघ० २।७। पितॄणाम् अन्नम्। अमृतम्। शरीरपोषकं पदार्थम्। **अजराम** । ऋच्छेररः उ० ४। १३१। इति अज गतिक्षेपणयोः—अर प्रत्ययः, टाप्। गतिशीलाम्। उत्साहवर्धयित्रीम्। यद्वा। जॄ-ष् वयोहानौ-अङ्, टाप्। अक्षीणाम्। **ते** । तुभ्यम्। **तया** । स्वधया। **जीव** । प्राणान् धारय। **शरदः** । अ० १। १०। २। शरदतून्। वर्षाणि। **आ** । आप्लृ व्याप्तौ-क्विप्, पलोपः। समुच्चये। यथा। देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च आ। **मा सुस्रोत्** । स्रु गतौ-लङि, छन्दसि शपः श्लुः। नष्टो मा भूत्। **भिषजः** । अ० २।६।३। चिकित्सकाः। **अक्रन्** । मन्त्रे घस०। पा० २। ४। ८०। इति करोतेः—च्लेर्लुक्। अकार्षुः ॥

सूक्तम् ॥ ३० ॥

१—५ ॥ अश्विनौ देवते ॥ १ पङ्क्तिः, २—५ अनुष्टुप् ॥

गृहस्थाश्रमप्रवेशार्थोपदेशः—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिये उपदेश ॥

यथे॒दं भूम्या॒ अधि॒ तृणं॒ वातो॑ मथा॒यति॑। ए॒वा म॑थ्नामि ते॒ मनो॒ यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ असः॑ ॥१॥

यथा॑। इ॒दम्। भूम्याः॑। अधि॑। तृण॑म्। वातः॑। म॒था॒यति॑। ए॒व। म॒थ्ना॒मि॒। ते॒। मनः॑। यथा॑। माम्। का॒मिनी॑। असः॑। यथा॑। मत्। न। अप॑-गाः। असः॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिस प्रकार (वातः) वायु (भूम्याः) भूमि के (अधि) ऊपर (इदम्) इस (तृणम्) तृण को (मथायति) चलाता है। (एव) वैसे ही (ते) तेरे (मनः) मन को (मथ्नामि) मैं चलाता हूं, (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगाः) वियोग करने वाली (न) न (असः) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्यासमाप्ति पर ब्रह्मचारी अपने अनुरूप गुणवती कन्या को ढूंढे, और कन्या भी अपने सदृश वर ढूंढे। इस प्रकार विवाह होने से वियोग न होकर आपस में प्रेम बढ़ता और आनन्द मिलता है ॥ १ ॥

१—**यथा**। येन प्रकारेण। **इदम्**। परिदृश्यमानम्। **भूम्याः**। अ० १। ११। २। पृथिव्याः। **अधि**। उपरि। **तृणम्**। तृहेः क्नो हलोपश्च। उ० ५। ८। इति तृह हिंसायाम्-क्न, हलोपः। तृह्यते हन्यते भक्ष्यते। गवादिभिः। गवादि-भक्ष्यम्। **वातः**। अ० १। ११। ६। वायुः। **मथायति**। छन्दसि शायजपि। पा० ३। १। ८४। इति बाहुलकात् मथ विलोडने-शायच्। विलोडयति। भ्रामयति। **एव**। एवम्। तथा। **मथ्नामि**। मन्थ विलोडने। विलोडयामि। **ते**। तव। **मनः**। मन-असुन्। चित्तम्। **यथा**। यस्मात् कारणात्। **माम्**। कामयमानं वरम्। **कामिनी**। कमेर्णिजन्ताद् औणादिक इनि प्रत्ययः। ङीप्। भविष्यति गम्यादयः। पा० ३। ३। ३। इति भविष्यदर्थत्वम्। अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः। पा० २। ३। ७० इति कर्मणि षष्ठी प्रतिषेधत्वात् (माम्) इति

(भूम्याः) पद के स्थान पर सायणभाष्य में (भूम्याम्) है ।

इस मन्त्र का अन्तिम भाग (यथामां—मन्नापगा असः) अ० १ । ३४ । ५, और ६ । ८ । १-२ । में भी है ।

सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ।
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता ॥ २ ॥

सम् । च । इत् । नयाथः । अश्विना । कामिना । सम् । च । वक्षथः । सम । वाम् । भगासः । अग्मत । सम् । चित्तानि । सम् । ऊं इति । व्रता ॥ २ ॥

भाषार्थ—(च) और (अश्विना=०—नौ) हे कार्य में व्याप्ति वाले माता और पिता, तुम दोनों, (इत्) ही (कामिना=०—नौ) कामना वाले दोनों [वर कन्या] को (सम्) मिल कर (नयाथः) ले चलो, (च) और (सम्) मिल कर (वक्षथः) आगे बढ़ाओ। (वाम्) तुम दोनों के (भगासः=भगाः) सब ऐश्वर्य (सम् अग्मत) [हम को] मिल गये हैं, (चित्तानि) [हमारे] चित्त (सम=सम्+अग्मत) मिल गये हैं, (उ) और भी (व्रता=व्रत्तानि) नियम और कर्म (सम्+अग्मत) मिल गये हैं ॥ २ ॥

द्वितिया । काङ्क्षिष्यन्ती । **असः** । भवेः । **मत्** । मत्तः सकाशात् । **न** । निषेधे । **अपगाः** । जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । इति गमेर्विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । इति आत्वम् । अपसृत्य गन्त्री । वियोगं प्राप्ता ॥

२—**सम** । मिलित्वा । संगत्य । **च** । समुच्चये । **इत्** । अवश्यम् । **नयाथः** । नयतेर्लेटि आडागमः । प्रापयतम् । **अश्विना** । अ० २ । २६ । ६ । हे कार्येषु व्यापनशीलौ मातापितरौ । **कामिना** । म० १ । कम-णिच्-इनि । कामयमानौ । कन्यावरौ । **वक्षथः** । वहेर्लेटि अडागमः, सिप् च । युवां वहतम । संयोजयतम् । **वाम** । युवयोः । **भगासः** । आज्जसेरसुक् । पा० ७ । १ । ५० । इति जसि असुक् । भगाः । भजनीयानि, ऐश्वर्याणि । **सम+अग्मत** । समोगम्यृच्छि० । पा० १ । ३ । २६ । आत्मनेपदम् । लुङि च्लेर्लुक्

भावार्थ—वर और कन्या माता पिता आदि बड़ों की भी सम्मति प्राप्त करें। उनके अनुग्रह से दोनों ने विद्या धन और सुवर्ण आदि धन, और परस्पर एक चित्त होने और नियम पालन की शक्ति को पाया है। यह मूल मन्त्र गृहस्थाश्रम में आनन्द वर्धक है॥

यत् सु॑प॒र्णा वि॑व॒क्षवो॑ अनमी॒वा वि॑व॒क्षवः॑ ।
तत्र॑ मे गच्छता॒द्धवं॑ श॒ल्य इ॑व॒ कुल्म॑लं॒ यथा॑ ॥ ३ ॥

यत् । सु॒-प॒र्णाः । वि॒व॒क्षवः॑ । अ॒न॒मी॒वाः । वि॒व॒क्षवः॑ । तत्र॑ । मे॒ । ग॒च्छ॒ता॒त् । हवं॑म् । श॒ल्यः-इ॑व । कुल्म॑लम् । यथा॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्=यत्र) जहां (सुपर्णाः) बड़ी पूर्त्ति वाले [अथवा गरुड़ गिद्ध, मोर आदि के समान दूर दर्शी पुरुष] (विवक्षवः) विविध प्रकार से राशि वा समूह करने वाले, और (अनमीवाः) रोगरहित स्वस्थ पुरुष (विवक्षवः) बोलने वाले हो, (तत्र) उस स्थान में [वह बर वा कन्या] (मे) मेरी [वर व कन्या की] (हवम) पुकार [विज्ञापन] को (गच्छतात्] पावे, (शल्यः इव) जैसे वाण की कील (यथा) जिस प्रकार (कुल्मलम्) अपने दंडे में [पहुंचती है] ॥ ३ ॥

सम्यग् अगमन् । **चित्तानि** । चिती ज्ञाने-क्त । मनांसि । **व्रतानि** पृषिरञ्जिभ्यां कित्। उ० ३। १११। इति वृञ्-अतच्। कित्वाद् गुणाभावः, यणादेशः। व्रतमिति कर्म नाम वृणोतीति सत इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव निवृतिकर्म वारयतीति सतोऽन्नमपि व्रतमुच्यते यदावृणोति शरीरम्-निरुक्ते—२। १३। कर्माणि। नियमान् ॥

३—**यत्** । यत्र स्थाने । **सुपर्णाः** । अ० १ । २४ । १ । सुपालनाः, सुपूरणाः। सुपतनशीला गरुडादयः पक्षिणो यथा। **विवक्षवः** । भृमृशीङ्०। उ० १। ७। इति वि+वक्ष रोषसंहत्योः—उ। विविधं राशीकरणशीलाः, विद्यासुवर्णादीनाम्। **अनमीवाः** । अ० २। २६। ६ रोगरहिताः। स्वस्थाः। **विवक्षवः** । ब्रुवः सनि वच्यादेशे। सनाशंसभिक्ष उः ।पा० ३। २। १६८। उप्रत्ययः । वक्तुमिच्छवः। **तत्र** । तस्मिन् स्थाने। **मे** । मम। **गच्छतात्** । प्राप्नुयात् वरः कन्या वा। **हवम्** । अ० १। १५। २। ह्वेञ्-अप्। आवाहनम्। विज्ञापनम्। **शल्यः** ।

भावार्थ—जहां विद्वान् पुरुषों में रहकर वर ने, और विदुषी स्त्रियों में रहकर कन्या ने विद्या और सुवर्णादि धन प्राप्त किये हों; और नीरोग रहने और धर्म उपदेश करने की शिक्षा पायी हो, वहां पर उन दोनों के विवाह की बात चीत पहुंचे, और ऐसी दृढ़ होजावे जैसे वाण की कील, वाण की डंडी में पक्की जम जाती है ॥ ३ ॥

यदन्त॑रं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्त॑रम् ।
कन्या॑नां विश्वरू॑पाणां मनो॑ गृभायौषधे ॥ ४ ॥

यत् । अन्त॑रम् । तत् । बाह्य॑म् । यत् । बाह्य॑म् । तत् । अन्त॑रम् ।
कन्या॑नाम् । विश्व-रू॑पाणाम् । मन॑ः । गृभाय । ओषधे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे वर ! (यत्) जो कुछ [प्रीति भाव आदि] (अन्तरम्) भीतर [तेरे हृदय में] है, (तत्) वह (बाह्यम्) बाहिर [कन्या को प्रकट] हो, और (यत्) जो कुछ [प्रीति भाव] (बाह्यम्) बाहिर [प्रकट किया जाय,] (तत्) वह (अन्तरम्) भीतर [कन्या के हृदय में स्थिर हो] (ओषधे) हे ताप नाशक [ओषधिरूप वर] (विश्वरूपाणाम्) सर्वसुन्दरी (कन्यानाम्) कन्याओं [कन्या] के (मनः) मन को (गृभाय) ग्रहण कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—वर हार्दिक प्रीति से कन्या के साथ व्यवहार करे, और पत्नी भी पति से हार्दिक प्रीति रक्खे । इस प्रकार परस्पर प्रसन्नता से गृह लक्ष्मी बढ़ेगी और नित्य प्रति आनन्द रहेगा । (कन्यानाम्) बहुवचन एक के लिये आदरार्थ है, और मन्त्र में जो वर को उपदेश है वही कन्या के लिये भी समझना चाहिये ॥ ४ ॥

सानसिवर्णसिपर्णसि...शल्याः । उ० ४।१०७। इति शल गतौ-य । वाणाग्रभागः । शस्त्रविशेषः । **कुल्मलम्** । कुषेर्लश्च । उ० ४ । १८८ । इति कुष निष्कर्षे, दीप्तौ कमलन् । षस्य लः । कुष्मलम् । छेदनम् । वाणदण्डछिद्रम् ॥

४—**यत्** । किञ्चित्, प्रीतिभावः । शुभविचारः । **अन्तरम्** । अन्त+रा-क । अन्तं राति ददाति । मध्यम् । अन्तर्धानम् । आत्मीयम् । **बाह्यम्** । दित्यदित्यादित्य० । पा० ४ । १ । ८५ । अत्र वार्त्तिकम् । वहिषष्टिलोपो यञ् च । इति वहिस्-यञ्, टिलोपश्च । वहिष्ठम् । प्रकटम् । **कन्यानाम्** । अघ्न्यादयश्च ।

**एयमंगन् पतिकामा जनिकामोहमागमम् ।
अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ ५॥**

आ । इयम । अगन् । पति-कामा । जनि-कामः । अहम् । आ । अगमम् । अश्वः । कनिक्रदत् । यथा । भगेन । अहम् । सह । आ । अगमम् ॥ ५॥

भाषार्थ—(इयम्) यह (पतिकामा) पति की कामना करती हुई कन्या (आ+अगन्=आगमत्) आयी है, और (जनिकामः) पत्नी की कामना वाला (अहम्) मैं (आ+अगमम्) आया हूं। (अहम्) मैं (भगेन) ऐश्वर्य के (सह) साथ (आ+अगमम्) आया हूं। (यथा) जैसे (कनिक्रदत्) हींसता हुआ (अश्वः) घोड़ा ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे बलवान् घोड़ा मार्ग गमन, अन्न, घास आदि भोजन के समय हिनहिनाकर प्रसन्नता प्रकट करता है, इसी प्रकार विद्या समाप्ति पर पूर्ण विद्वान् और समर्थ कन्या और वर गृहाश्रम में प्रवेश करके आनन्द भोगते हैं ॥ ५ ॥

उ० ४ । ११२ । इति कनी दीप्तिकान्तिगतिषु—यच्, टाप् च । आदरार्थे बहुवचनम् । दीप्यमानायाः । कमनीयायाः । कुमार्याः । **विश्वरूपाणाम्** । सर्वाङ्गसुन्दरीणाम् । **मनः** । चित्तम । **गृभाय** । छन्दसि शायजपि । पा० ३ । १ । ८४ । इति ग्रहे लोटि श्नः शायजादेशः । हस्य भः । गृहाण । **ओषधे** । अ० । १ । २३ । १ । हे तापनाशक । ओषधिरूपधर ॥

५—**इयम्** । कमनीया कन्या । **आ+अगन्** । गमेर्लुङि तिपि च्लेर्लुकि । मो नो धातोः । पा० ८ । २ । ६४ । इति नत्वम् । आगमत् । **पतिकामा** । भर्त्तारमिच्छन्ती । **जनिकामः** । जनिघसिभ्यामिण् । उ० ४ । १३० । इति जन जनने वा जनी प्रादुर्भावे-इण् । जनिवध्योश्च । पा० ७ । ३ । ३५ । इति वृद्धिनिषेधः । जनयति वीरपुत्रान् जायते सुखमनया सा जनिर्जाया । तां कामयमानः । **अहम्** । वरः । **आ+अगमम्** । आगतवानस्मि । **अश्वः** । अ० १ । १६ । ४ । तुरङ्गः । **कनिक्रदत्** । दाधर्त्तिदर्द्धर्त्ति० । पा० ७ । ४ । ६५ । इति क्रन्द आह्वाने यङि शत्रन्तो निपातितः । भृशं हेषां कुर्वन् । **भगेन** । भजनीयेन पत्नीरूपैश्वर्येण । **सह** । सङ्गतः ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१—५ ॥ इन्द्रो देवता । १, २, ४ अनुष्टुप्; ३, ५ त्रिष्टुप् ।

स्वल्पानपि दोषान्नाशयेत्—छोटे २ भी दोषों का नाश करे ॥

इन्द्र॑स्य॒ या म॒ही दृ॒षत् क्रिमे॒र्विश्व॑स्य॒ तर्ह॑णी ।
तया॑ पिनष्मि॒ सं क्रिमी॑न् दृ॒षदा॒ खल्वाँ॑ इव ॥ १ ॥

इन्द्र॑स्य । या । म॒ही । दृ॒षत् । क्रिमेः॑ । विश्व॑स्य । तर्ह॑णी ।
तया॑ । पि॒न॒ष्मि॒ । सम् । क्रिमी॑न् । दृ॒षदा॑ । खल्वा॑न्-इव ॥१॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर की (या) जो (मही) विशाल [सर्वव्यापिनी विद्यारूप] (दृषत्) शिला (विश्वस्य) प्रत्येक (क्रिमेः) क्रमि (कीड़े) की (तर्हणी) नाश करने वाली है, (तया) उस से (क्रिमीन्) सब क्रमियों को (सम्) यथा नियम (पिनष्मि) पीस डालूं, (इव) जैसे (दृषदा) शिला से (खल्वान्) चनों को [पीसते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी अटूट न्याय व्यवस्था से प्रत्येक दुराचारी को दंड देता है, इस प्रकार मनुष्य अपने छोटे २ दोषों को नाश करे। क्योंकि छोटे छोटों से ही बड़े बड़े दोष उत्पन्न होकर अन्त में बड़ी हानि पहुंचाते हैं। जैसे कि शिर वा उदर में छोटे २ कीड़े उत्पन्न होकर बड़ी व्याकुलता और रोग के कारण होते हैं ॥ १ ॥

इस सूक्त में क्रमियों के उदाहरण से क्षुद्र दोषों के नाश का उपदेश है ॥

इस सूक्त और आगामी सूक्त का मिलान अथर्व० का० ५ सूक्त २३ से कीजिये ॥

१—**इन्द्रस्य** । परमैश्वर्यवतः परमात्मनः । **मही** । मह पूजायाम्-अच् । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीष् । मह्यते मही । महती । विशाला । **दृषत्** । दृणातेः षुग्घ्रस्वश्च । उ० १ । १३१ । इति दृ विदारे-अदि प्रत्यये-धातोः षुक् ह्रस्वश्च । दीर्यते यया । शिला । **क्रिमेः** । क्रमितमिशतिस्तम्भामत इच्च । उ० ४ । १२२ । इति क्रमु पादविक्षेपे-इन्, कित्, अत इत् । क्रमेः । क्षुद्रजन्तोः कीटस्य । **विश्वस्य** । सर्वस्य । प्रत्येकस्य । **तर्हणी** । तृह हिंसे-करणे ल्युट् । ङीप् । हन्त्री । **पिनष्मि** । पिष्लृ संचूर्णे । संचूर्णयामि । **क्रिमीन्** । कीटान् । **दृषदा** । शिलया । **खल्वान्** । सर्वनिघृष्व० । उ० १ । १५३ । इति खल संचये-वन् । चणकान्-इति सायणः ॥

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम् । अलगण्डून्त्सर्वा-ञ्छलुनान् क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥ २ ॥

दृष्टम् । अदृष्टम् । अतृहम् । अथो इति । कुरूरुम् । अतृहम् । अलगण्डून् । सर्वान् । शलुनान् । क्रिमीन् । वचसा । जम्भयामसि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(दृष्टम्) दीखते हुये और (अदृष्टम्) न दीखते हुये [क्रमि-गण] को (अतृहम्) मैं ने नष्ट कर दिया है, (अथो) और भी (कुरूरुम्) भूमि पर रेंगने वाले, वा बुरे प्रकार से सताने वा भिन भिनाने वाले को (अतृहम्) मैं ने नष्ट कर दिया है। (सर्वान्) सब (अलगण्डून्) उपधानों [तकियों] में भरे हुये, (शलुनान्) बेग बेग चलने वाले (क्रिमीन्) कीड़ों को (वचसा) वचन से (जम्भयामसि=०—मः) हम मार डालें ॥ २ ॥

भावार्थ—१, जैसे मनुष्य बड़े और छोटे क्षुद्र जन्तुओं को, जो अशुद्धि, मलिनता आदि से उत्पन्न होकर बड़े २ रोगों के कारण होते हैं, मार डालते हैं, इसी प्रकार अपने छोटे २ दोषों का शीघ्र ही नाश करना चाहिये ॥ २ ॥

२—(वचसा जम्भयामसि) बचन से हम मार डालें। इसका यह अभि-प्राय है कि। १—वचन मात्र से अर्थात् शीघ्र ही, २—ओषधि, शौच आदि

२—**दृष्टम्** । दृष्टिगोचरम् । स्थूलशरीरयुक्तम् । **अदृष्टम्** । अगोचरम् । सूक्ष्मकायम् । अस्माकं शरीरान्तः स्थितं वा । **अतृहम्** । तृह हिंसायाम्-छन्दसि लङि च्लेरङ् । नाशितवानस्मि । **अथो** । अथ+उ । अपि च । **कुरूरुम्** । कु-रुरुम् । कु शब्दे, आर्त्तस्वरे-डु । कवन्ते शब्दयन्ति प्राणिनो यत्र सा कुः पृथिवी । कुवन्ते आर्त्तस्वरं कुर्वन्ति यस्मात् कु पापम्, कुत्सा । रुशातिभ्यां क्रन् । उ० ४ । १०३ । इति रुङ् गतौ वधे, वा रु ध्वनौ-क्रुन् । छान्दसो दीर्घः । कौ भूमौ रवते गच्छतीति कुरूरुः । यद्वा, कुत्सितं रवते हिनस्ति, वा रौति ध्वनयतीति कुरुरुः । भूमिगन्तारम् । कुहिंसकम् । कुत्सितध्वनियुक्तं कीटम् ।

के हित उपदेश से, ३—ओ३म् शब्द, गायत्री आदि मन्त्र के जप से, ४—रोचक कथा, लोरी वा गीत आदि के सुनाने से चित्त को शान्ति, और शान्ति से कुरोग और कुवासनाओं का नाश होता है ॥

टिप्पणी—(कुरूरुम्) के स्थान पर सायणभाष्य में [कुरीरम्] और (शलुनान्) के स्थान पर (शल्गान्)है ॥

अल्गण्डून् हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन् । शिष्टानशिष्टान् नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै ॥ ३ ॥

अल्गण्डून् । हन्मि । महता । वधेन । दूनाः । अदूनाः । अरसाः । अभूवन् । शिष्टान् । अशिष्टान् । नि । तिरामि । वाचा । यथा । क्रिमीणाम् । नकिः । उत्-शिषातै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अलगण्डून्) उपधानों [तकियों में] भरे हुये जन्तुओं को (महता) बड़ी (वधेन) चोट से (हन्मि) मैं मारता हूं । (दूनाः) तपे

अल्गराडून । अल्-गण्डून् । अल पर्याप्तौ-क्विप् । भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति गडि कपोलविषयक्रियायाम्-उ । गण्डयते शिरोभागः स्थाप्यतेऽत्रेति गण्डुः । उपधानम् । अलन्ति पर्याप्ता भवन्ति गण्डुषु, उपधानेषु ये तान् । **सर्वान्** । निःशेषान् । **शलुनान्** । कृवृदारिभ्य उनन् । उ० ३ । ५३ । इति शल वेगे-उनन् । शीघ्रगतीन् । **क्रिमीन्** । म० १ । कीटान् । **वचसा** । वच कथने-असुन् । वचनेन । कथनेन । बचनमात्रेण, अतिशीघ्रम् । ओषधिशौचादि-हितकथनेन-ओ३म् , गायत्र्यादिजपेन-रोचककथा-निद्रागीतादि वर्णनेन-इत्ये-वमर्थाः । **जम्भयामसि** । जभि नाशे, नाशने च । रधिजभोरचि । पा० ७ । १ । ६१ । इति नुम् । जम्भयामः । नाशयामः ॥

३—**अल्गण्डून्** । म० २ । उपधानेषु पूर्णान् । **हन्मि** । नष्टीकरोमि । **महता** । अ० १ । १० । ४ । प्रभूतेन । **वधेन** । हनश्च वधः । पा० ३ । ३ । ७६ । इति हन-अप् , बधादेशः । हननसाधनेन । प्रहारेण । **नाः** । वादिभ्यः।

हुये और (अदूनाः) बिना तपे हुये [पक्के और कच्चे कीड़े] (अरसाः) नीरस [निर्बल] (अभूवन्) हो गये हैं। (शिष्टान्) बचे हुये (अशिष्टान्) दुष्टों को (वाचा) वचन से (नि) नीचे डाल कर (तिरामि) मार डालूं, (यथा) जिस से (क्रिमीणाम्) कीड़ों में से (नकिः) कोई भी न (उच्छिषातै) बचा रहै ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १, और २ के समान है ॥ ३ ॥

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्य१मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥ ४ ॥

अनु-आन्त्र्यम्। शीर्षण्यम्। अथो इति। पार्ष्टेयम्। क्रिमीन्। अवस्कवम्। वि-अध्वरम्। क्रिमीन्। वचसा। जम्भयामसि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अन्वान्त्र्यम्) आंतों में के (शीर्षण्यम्) शिर पर वा शिर में के (अथो=अथ-उ) और भी (पार्ष्टेयम्) पसलियों में के (क्रिमीन्) इन सब कीड़ों को, (अवस्कवम्) नीचे २ रेंगने वाले [जैसे दद्रु कृमि] और

पा० ८। २। ४४। अत्र वार्त्तिकम्। दुग्वोर्दीर्घश्च। इति दु गतौ-क्त। अथवा। ओदितश्च। पा० ८। २। ४५। इति ओदूङ् खेदे उपतापे-क्त। तस्य नः। खेदिताः। परितप्ताः। **अदूनाः**। अखेदिताः। अतप्ताः। **अरसाः**। शुष्काः। निर्बलाः। **शिष्टान्**। शिष असर्वोपयोगे-क्त। अवशिष्टान्। शेषान्। **अशिष्टान्**। शासु शासने-क्त। शास इदङ् हलोः। पा० ६। ४। ३४। इति इकारः। शासिवसिघसीनाम् च। पा० ८। ३। ६०। इति सस्य षः। शिष्टविरोधिनः। दुष्टान। **नि+तिरामि**। निपूर्वस्तिरतिर्हिंसने। निहन्मि। **वाचा**। वचसा म० २। **क्रिमीणाम्**। कीटानां मध्ये। **नकिः**। न कश्चिदपि। **उच्छिषातै**। शिष्लृ विशेषणे लेटि आडागमः। छन्दसि आत्मनेपदम्। टेरेत्वे कृते। वैतोऽन्यत्र। पा० ३। ३। ९६। इति ऐत्वम्। उच्छिष्यात् ॥

४-अन्वान्त्र्यम्। असिञ्जगमिनमिहनिविश्यशां वृद्धिश्च। उ० ४। १६०। इति अम गतौ, यद्वा, अति बन्धने—ष्ट्रन्, धातोर्वृद्धिश्च। अम्यते बध्यते देहोऽ-

(व्यध्वरम्) छेद करने वाले वा पीड़ा देने वाले, वा यज्ञ के विरोधी (क्रिमीन्) इन सब कीड़ों को (वचसा) बात मात्र से (जम्भयामसि=०-मः) हम नाश करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ और २ के समान है ॥ ४ ॥

सायणभाष्य में (पार्ष्टेयम्) के स्थान पर [पार्ष्णेयम्] है ॥

ये क्रिम॑यः॒ पर्व॑तेषु॒ वने॒ष्वोष॑धीषु प॒शुष्व॒प्स्व१॒॑न्तः । ये अ॒स्माकं॑ त॒न्व॑मावि॒वि॒शुः सर्वं॒ तद्ध॑न्मि॒ जनि॑म॒ क्रिमी॑णाम् ॥ ५ ॥

ये । क्रिम॑यः । पर्व॑तेषु । वने॑षु । ओष॑धीषु । प॒शुषु॑ । अ॒प्-सु । अ॒न्तः । ये । अ॒स्माक॑म् । त॒न्व॑म् । आ॒-वि॒वि॒शुः । सर्व॑म् । तत् । ह॒न्मि॒ । जनि॑म । क्रिमी॑णाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (क्रिमयः) कीड़े (पर्वतेषु) पहाड़ों में, (वनेषु)

नेनेति आन्त्रं देहबन्धको नाड़ीभेदः । शरीरावयवाच्च । पा० ४ । ३ । ५५ । इति भवे यत् । अनुक्रमेण आन्त्रेषु भवम् । शीर्षण्यम् । शरीरावयवाच्च पा० ४ । ३ । ५५ । इति शिरस्-यत् । ये च तद्धिते । पा० ६ । १ । ६१ । इति शीर्षन् आदेशः । शिरसि भवम् । पार्ष्टेयम् । क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति पृषु सेके—क्तिच् । इति पृष्टिः—अ० २ । ७ । ५ । ततो ढञ् । आयनेयीनीयियः० । पा० ७ । १ । २ । इति ढस्य एयादेशः । पृष्टिषु पार्श्वावयवेषु भवम् । अवस्कवम् । अव+स्कुञ् आप्लावने "कृदना"—पचाद्यच् । अवाग्गमनस्वभावम् । अन्तरन्तः प्रविश्य वर्त्तमानम् । व्यध्वरम् । १—उपसर्गादध्वनः । पा० ५ । ४ । ८५ । इति वि+अध्वन्—अच् प्रत्ययः, प्रादिसमासः । रो मत्वर्थीयः । विरुद्धमार्गयुक्तम् । कुपथगामिनम् । २—स्थेशभासपिसकसो वरच् । पा० ३ । २ । १७५ । इति व्यध ताड़ने-वरच् । चितः पा० ६ । १ । १६३ । इति चिति प्रत्यये अन्त उदात्तः । व्याधम् । ताड़कम् । पीडकम् । अथवा । ३-ध्वरति =हन्ति-निघ० ३ । १७ । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति घ । वि विरोधे+अध्वरा, अहिंसा । अहिंसाविरोधिनम् । हिंसावर्धकम् । शरीरमांस—भक्षकम् । अयं शब्दः सर्वत्रान्तोदात्तः । अन्यद् व्याख्यातं म० २ ॥

५—क्रिमयः । म० १ । क्षुद्रजन्तवः । पर्वतेषु । भूभृदशिग्यक्षिपर्विं० ।

वनों में, (ओषधीषु) अन्न आदि ओषधियों में, (पशुषु) गौ आदि पशुओं में और (अप्सु) जल में (अन्तः) भीतर हैं। और (ये) जो (अस्माकम्) हमारे (तन्वम्) शरीर में (आविविशुः) प्रविष्ट हो गये हैं, (क्रिमीणाम्) कृमियों के (तत्) उस (सर्वम्) सब (जनिम) जन्म को (हन्मि) मैं नाश करूं ॥५॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सब स्थानों, सब वस्तुओं और अपने शरीरों को शुद्ध रक्खें कि छोटे बड़े कोई जन्तु क्लेश न देवें, ऐसे ही सब पुरुष आत्म शुद्धि करके अपने भीतरी बाहिरी, छोटे बड़े दोषों को मिटाकर आनन्द से रहें ॥ ५ ॥

सायणभाष्य में (ये) स्थान में [ते] और (तन्वम्) के स्थान में [तन्वः] है ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ।

सूक्तम् ३२ ॥

१—६ ॥ आदित्यो देवता । १ गायत्री, २—६ अनुष्टुप् छन्दः ॥

क्रिमितुल्यान् दोषान् नाशयेत्, इत्युपदेशः-कीड़ों के समान दोषों का नाश करे, इस का उपदेश ॥

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः ।
ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥ १ ॥

उ० ३ । ११० । इति पर्व पूरणे-अतच् । पर्वति पूरयति भूमिमिति । शैलेषु । **वनेषु** । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति वन सम्भक्तौ-घः वन्यते सेव्यते वृक्षैः । बहुवृक्षयुक्तस्थानेषु । अरण्येषु । **ओषधीषु** । **पशुषु** । **अप्सु** । **अन्तः** । व्याख्यातानि—अ० १ । ३० । ३ । **ओषधीषु** । धान्यादिषु । **पशुषु** । गवादिषु । सर्वजीवेषु । **अप्सु** । जलेषु । **अन्तः** । मध्ये । **तन्वम्** । अ० १ । १ । १ । शरीरम् । **आ-विविशुः** । विश प्रवेशे-लिट् । प्रविष्टाः । **सर्वम्** । प्रत्येकम् । **तत्** । पूर्वोक्तम् । **हन्मि** । नाशयामि । **जनिम** । अ० १ । ८ । ४ । उत्पत्तिकारणम् । **क्रिमीणाम्** । कृमीणाम् । कीटानाम् ॥

उत्-यन् । आदित्यः । क्रिमीन् । हन्तु । नि-म्रोचन् । हन्तु । रश्मि-भिः । ये । अन्तः । क्रिमयः । गवि ॥ १ ॥

भषार्थ—(उद्यन्) उदय होता हुआ (आदित्यः) प्रकाशमान सूर्य (क्रिमीन्) उन कीड़ों को (हन्तु) मारे, और (निम्रोचन्) अस्त हुआ [भी सूर्य] (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (हन्तु) मारे, (ये) जो (क्रिमयः) कीड़े (गवि) पृथिवी में (अन्तः) भीतर हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—१-प्रातःकाल और सायंकाल में सूर्य की कोमल किरणों और शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु के सेवन से शारीरिक रोग के कीड़ों का नाश होकर मन हृष्ट और शरीर पुष्ट होता है ॥ १ ॥

२—उदय और अस्त होते हुये सूर्य के समान मनुष्य बालपन से बुढ़ापे तक अपने दोषों का नाश करके सदा प्रसन्न रहें ।

टिप्पणी । इस सूक्त और ३३वें सूक्त का मिलान अथर्व० का० ५ सू० २३ से करें ॥

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ २ ॥

१-उद्यन् । उत्+इण् गतौ—शतृ । उदयं प्राप्नुवन् । **आदित्यः** । अ० १ । ६ । १ । आङ् + दीपी दीप्तौ—यक्प्रत्ययान्तो निपातितः । आदीप्यमानः सूर्यः । **क्रिमीन्** । अ० २ । ३१ । १ । क्षुद्रजन्तून् । **हन्तु** । नाशयतु । **निम्रोचन्** । नि+म्रुचु गतौ—शतृ । अस्तं गच्छन् । **रश्मिभिः** । अश्नोतेरश च । उ० ४ । ४६ । इति अशू व्याप्तौ—मि, धातो रशादेशश्च । किरणैः । **अन्तः** । मध्ये । **क्रिमयः** । क्रमणशीलाः क्षुद्रजन्तवः । **गवि** । गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । इति गम्लृ गतौ-डो । गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद् दूरङ्गता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति गातेर्वौकारो नामकरणः-निरु० २ । ५ । पृथिव्याम् इन्द्रिये वा ॥

विश्व-रूपम् । चतुः-अक्षम् । क्रिमिम् । सारङ्गम् । अर्जुनम् ।
शृणामि । अस्य । पृष्टीः । अपि । वृश्चामि । यत् । शिरः ॥२॥

भषार्थ—(विश्वरूपम्) नाना आकार वाले (चतुरक्षम्) [चार दिशाओं में] नेत्र वाले, (सारङ्गम्) रींगने वाले [वा चितकबरे] और (अर्जुनम्) संचय शील [वा श्वेत वर्ण] (क्रिमिम्) कीड़े को (शृणामि) मैं मारता हूं, (अस्य) इस की (पृष्टीः) पसलियों को (अपि) भी, और (यत्) जो (शिरः) शिर है [उस को भी] (वृश्चामि) तोड़े डालता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—पृथिवी और अन्तरिक्ष के नाना आकार और नाना वर्ण वाले मकड़ी मांखी आदि क्षुद्र जन्तुओं को शुद्धि आदि द्वारा पृथक् रखने से शरीर स्वस्थ रहता है, इसी प्रकार आत्मिक दोषों की निवृत्ति से आत्मिक शान्ति होती है ॥ २ ॥

टिप्पणी—(चतुरक्ष) चार आंख वाला-ऐसा प्रयोग वेद में अन्यत्र भी आया है, वहां भी चारों दिशाओं का ही ग्रहण है ।

कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्चतुरक्ष्याः ॥ १ ॥

अथर्ववेद ४ । २० । ७ । [और ऋ० १० । १४ । १०, ११ भी देखिये ।] तू (कश्यपस्य) सूर्य की और (चतुरक्ष्याः) चार आंख वाली (शुन्याः) व्याप्ति वाली दिशा की (चक्षुः) आंख है ॥

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ ३ ॥

विश्वरूपम् । नानाकारम् । चतुरक्षम् । बहुव्रीहौ । सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् । पा० ५ । ४ । ११३ । इति षच् । चतुर्नेत्रम् । चतुर्दिक्षु नेत्रयुक्तम् । सारङ्गम् । सृवृभॄभ्यो द्विश्च । उ० १ । १२२ । इति सृ गतौ-अङ्गच्, धातोर्वृद्धिश्च । सरणशीलम् । शबलवर्णम् । अर्जुनम् । अर्जेर्णिलुक् च । उ० ३ । ५८ । इति अर्ज सम्पादने-उनन् । संचयशीलम् । श्वेतवर्णम् । शृणामि । शॄ हिंसायाम् । हन्मि । पृष्टीः । अ० २ । ७ । ५ । पार्श्वस्थीनि । वृश्चामि । छिनद्मि । शिरः । अ० २ । २५ । २ । मस्तकम् ॥

अत्रि॒-वत् । वः॒ । क्रि॒मयः॑ । ह॒न्मि॒ । क॒ण्व॒-वत् । ज॒म॒द॒ग्नि॒-वत् । अ॒गस्त्य॑स्य । ब्रह्म॑णा । सम् । पि॒न॒ष्मि॒ । अ॒हम् । क्रि॒मीन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(क्रिमयः) हे कीड़ो ! (वः) तुम को (अत्रिवत्) दोष भक्षक, वा गतिशील, मुनि के समान (कण्ववत्) स्तुति योग्य मेधावी पुरुष के समान, (जमदग्निवत्) आहुति खाने वाले अथवा प्रज्वलित अग्नि के सदृश तेजस्वी पुरुष के समान, (हन्मि) मैं मारता हूं। (अगस्त्यस्य) कुटिल गति पाप के छेदने में समर्थ परमेश्वर के (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (अहम्) मैं (क्रिमीन्) कीड़ों को (सम् पिनष्मि) पीसे डालता हूं ॥ ३ ४

भावार्थ—मनुष्य को ऋषि, मुनि, धर्मात्माओं के अनुकरण से वेद ज्ञान प्राप्त करके पाप का नाश करना चाहिये ॥ ३ ॥

मन्त्र ३-५ अथर्ववेद का० ५ सू० २३ मन्त्र १०—१२ में भी हैं ॥

३—**अत्रिवत्** । अदेस्त्रिनिश्च । उ० ४ । ६७ । इति अद भक्षणे अत सातत्यगमने वा-त्रिप्। अत्ति दोषान् भक्षयति नाशयतीति अततीति वा अत्रिः । मुनिः । अथवा । रसान् अत्तीति सूर्यः । तत्सदृशः । **वः** । युष्मान् । **क्रिमयः** । हे क्षुद्रजन्तवः । **हन्मि** । नाशयामि । **कण्ववत्** अ० २ । २५ । ३ । अशूप्रुषिलटिकणि० । उ० १ । १५१ । इति कण शब्दे, निमीलने-क्वन् । कणति उपदेशशब्दं करोति, कण्यते स्तूयते वा । निमीलयति परान् वा स्वतेजसा । मेधाविवत्-निघ० ३ । १५ । **जमदग्निवत्** । जमु भक्षणे, दीप्तौ च-शतृ, + अग्नि-वतुप् । जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा-निरु० ७ । २४ । जमन् हुतभक्षणशीलः, अथवा, प्रज्वलितो अग्निरिव तेजो येषां ते जमदग्नयः । तत्सदृशः । **अगस्त्यस्य** । अग वक्रगतौ-अच् ततः । वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । इति अग + असु क्षेपणे-भावे तिप्रत्ययः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । इति यत् । पृषोदरादित्वाद् दीर्घाभावः । अगस्य कुटिलगतेः पापस्य असने उत्पाटने समर्थस्य परमेश्वरस्य । **ब्रह्मणा** । अ० १ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन । **सम्+पिनष्मि** । अ० २ । ३१ । १ । संचूर्णयामि । अन्यद् गतम् ॥

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ४ ॥

हतः । राजा । क्रिमीणाम् । उत । एषाम् । स्थपतिः । हतः ।
हतः । हत-माता । क्रिमिः । हत-भ्राता । हत-स्वसा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एषाम्) इन (क्रिमीणाम्) कीड़ों का (राजा) राजा (हतः) नष्ट होवे, (उत) और (स्थपतिः) द्वार पाल (हतः) नष्ट होवे। (हतमाता) जिस की माता नष्ट हो चुकी है, (हतभ्राता) जिसका भ्राता नष्ट हो चुका है और (हतस्वसा) जिस की वहिन नष्ट हो चुकी है, (क्रमिः) वह चढ़ाई करने वाला कीड़ा (हतः) मारडाला जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने दोषों और उन के कारणों को उचित प्रकार के समझकर नष्ट करे, जैसे वैद्य दोषों के प्रधान और गौण कारणों को समझ कर रोग निवृत्ति करता है ॥ ४ ॥

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ॥
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥५॥

४—**हतः** । नाशितः । **राजा** । अ० १ । १० । १ । अधिपतिः । **उत** । अपि च । **एषाम्** । उपस्थितानाम् । **स्थपतिः** । ष्ठा-कः । स्थः स्थानम् । अमेरतिः । उ० ४ । ५९ । इति पा रक्षणे-अति । अथवा, णयन्तस्य स्था धातोः पुकि-अति प्रत्यये ह्रस्वः । स्थं स्थानं पाति, अथवा पुरुषान् स्थापयतीति स्थपतिः कञ्चुकी, द्वारपालः । **हतमाता** । हता माता यस्य । नद्यृतश्च । पा० ५ । ४ । १५३ । इति बहुव्रीहौ नित्यं प्राप्तस्य कपः । ऋतश्छन्दसि पा० ५ । ४ । १५८ । इति प्रतिषेधः । नष्टमातृकः । **हतभ्राता** । पूर्ववत् कपःप्रतिषेधः । नष्टभ्रातृकः । **हतस्वसा** । पूर्ववत् सिद्धिः । हतस्वसृकः । नष्टभगिनीकः । अन्यद् गतम् ॥

हुतासः । अस्य । वेशसः । हुतासः । परि-वेशसः । अथो इति । ये । क्षुल्लकाः-इव । सर्वे । ते । क्रिमयः । हुताः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [क्रिमी] के (वेशसः) मुख्य सेवक (हतासः = हताः) नष्ट हों, और (परिवेशसः) साथी भी (हतासः) नष्ट हों। (अथो = अथ-उ) और भी (ये) जो (क्षुल्लकाः इव) बहुत सूक्ष्म आकार वाले से हैं, (ते) वे (सर्वे) (क्रिमयः) कीड़े (हताः) नष्ट हों ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी स्थूल और सूक्ष्म कुवासनाओं का और उन की सामग्री का सर्वनाश करदे, जैसे रोग जनक जन्तुओं को औषध आदि से नष्ट करते हैं ॥ ५ ॥

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि।
भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥ ६ ॥

प्र । ते । शृणामि । शृङ्गे इति । याभ्याम् । वि-तुदायसि । भिनद्मि । ते । कुषुम्भम् । यः । ते । विष-धानः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (शृङ्गे) दो सींङ्गों को (प्र + शृणामि) मैं तोड़े डालता हूं, (याभ्याम्) जिन दोनों से (वितुदायसि) तू सब ओर टक्कर मारता है। (ते) तेरे (कुषुम्भम्) जल पात्र को (भिनद्मि) तोड़ता हूं (यः) जो (ते) तेरे (विषधानः) विष की थैली है ॥ ६ ॥

५—**हतासः** । असुक् आगमः । हताः । **वेशसः** । मिथुनेऽसि । उ० ४ । २२३ । इति बाहुलकाद् अमिथुनेऽपि । विश-असि प्रत्ययः । प्रवेशकाः । मुख्यसेवकाः । **परिवेशसः** । परितः स्थिताः । अनुचराः । **अथो** । अपि च **क्षुल्लकाः** । क्षुद् + लकाः । क्षुदिर संपेषणे-क्विप् + लक आस्वादे, प्राप्तौ-अच् । तोर्लि । पा० ८ । ४ । ६० । इति परसवर्णः । क्षुदं क्षुद्रत्वं लाकयन्ति प्राप्नुवन्ति ते क्षुल्लकाः । सूक्ष्माकाराः क्षुद्रजन्तवः । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

६—**ते** । तव । **शृणामि** । भिनद्मि । **शृंगे** । शृणाते र्ह्रस्वश्च । उ० १ । १२६ । इति शॄ हिंसायाम्-गन् , धातो र्ह्रस्वत्वं कित्वं नुट् च प्रत्ययस्य । शृङ्गं भय-

भावार्थ—जैसे दुष्ट वृषभ अपने सींगों से अन्य जीवों को सताता है, इसी प्रकार जो क्षुद्र क्रिमियों के सामन आत्मदोष दिन रात कष्ट देते हैं, उन को और उनके कारणों को खोजकर नष्ट करना चाहिये ॥ ६ ॥

(कुषम्भम्) के स्थान पर सायण भाष्य में (वुकम्भम्) पद है।

सूक्तम् ३३ ॥

१-७ ॥ आत्मा देवता । १-६ अनुष्टुप् , ७ पङ्क्तिः ॥

शारीरिकविषये शरीररक्षा-शारीरिक विषय में शरीररक्षा ॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥१॥

अक्षीभ्याम् । ते । नासिकाभ्याम् । कर्णाभ्याम् । छुबुकात् । अधि । यक्ष्मम् । शीर्षण्यम् । मस्तिष्कात् । जिह्वायाः । वि । वृहामि । ते ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे प्राणी] (ते) तेरी (अक्षीभ्याम्) दोनों आंखों से, (नासिकाभ्याम्) दोनों नथुनों से (कर्णाभ्याम्) दोनों कानों से, (छुबुकात्=चुबकात् अधि) ठोड़ी में से, (ते) तेरे (मस्तिष्कात्) भेजे से, और (जिह्वायाः)

तेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा-निरु० २ । ७ । इ विषाणे । **वि-तुदार्यसि** । तुद व्यथने-शस्य शायजादेशः । विशेषेण तुदसि । व्यथयसे । **भिनद्मि** । भिदिर् विदारणे । विदारयामि । **कुषुम्भम्** । कुसेरुम्भोमेदेताः । उ० ४ । १०६ । इति कुष निष्कर्षे, वा, कुस श्लेषे-उम्भ प्रत्ययः । सकारषकारयोरेकत्वम् । कुसुम्भः=कमण्डलुः, जलपात्रम् । शरीरे जलनाड़ीविशेषम् । **विषधानः** । करणाधिकरणयोश्च । पा० ३ । ३ । ११७ । इति विष+डुधाञ् धारणपोषणयोः—अधिकरणे ल्युट् । विषं धीयतेऽत्र । विषस्थानम् ।

१—**अक्षीभ्याम्** । ई च द्विवचने । पा० ७ । १ । ७७ । इति अक्षि शब्दस्य ईकारादेशः । स चोदात्तः । चक्षुर्भ्याम् । ते । तव । **नासिकाभ्याम्** ।

जिह्वा से (शीर्षण्यम्) शिर में के (यक्ष्मम्) क्षयी [क्षयी] रोग को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—१,—इस मन्त्र में शिर के अवयवों का वर्णन है। जैसे सद्वैद्य उत्तम औषधों से रोगों की निवृत्ति करता है, ऐसे ही मनुष्य अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को विचार पूर्वक नाश करे ॥ १ ॥

२—सायणभाष्य में (छुबुकात्) के स्थान में (चुबकात्) है, और ऋग्वेद में भी (छुबुकात्) पाठ है।

३—इस सूक्त के ७ मन्त्रों के स्थान में ऋग्वेद म० १० सू० १६३ में ६ मन्त्र हैं। मन्त्र ३ का पहिला आधा (हृदयात् ते परि...) और म० ४ का दूसरा आधा (यक्ष्मं कुक्षिभ्यां...) ऋग्वेद में नहीं हैं, शेष मन्त्र कुछ भेद से हैं। ऋग्वेद में इस सूक्त के ऋषि विवृहा काश्यप हैं ॥

ग्रीवाभ्य॑स्त उ॒ष्णिहा॑भ्यः॒ कीक॑साभ्यो अनू॒क्या॑त् ।
यक्ष्मं॑ दोष॒ण्य१॒॑मंसा॑भ्यां बा॒हुभ्यां॒ वि वृ॑हामि॒ ते ॥२॥

ण्वुल् तृचौ। पा० ३। १। १३३। इति णास शब्दे-ण्वुल्। टापि अत इत्वम्। घ्राणछिद्राभ्याम्। **कर्णाभ्याम्**। कॄवृजॄसि०। उ० ३। १०। इति कॄ शविक्षेपे-नन्। कीर्यते विक्षिप्यते शब्दो वायुना यत्र। श्रवणाभ्याम्। **छुबुकात्**। चलेरूकः। उ० ४। ४०। इति ओछुप स्पर्शे-उक प्रत्ययो बाहुलकात्, पस्य च बः। ओष्ठाधोभागात्। चिबुकात्। **अधि**। पञ्चम्यर्थानुयायी। सर्वथा। **यक्ष्मम्**। अ० २। १०। ५। राजरोगम्। क्षयरोगम्। **शीर्षण्यम्**। शरीरावयवाच्च। पा० ४। ३। १४२। इति शिरस्-यत्। ये च तद्धिते। पा० ६। १। ६१। इति शिरसः शीर्षन् आदेशः। ये चाभावकर्मणोः। पा० ६। ४। १६८। इति प्रकृतिभावः। शिरसि भवम्। **मास्तिष्कात्**। मस्त+इष गतौ-क, पृषोदरादित्वात् साधुः। मस्तं मस्तकम् इष्यति स्वाधारत्वेन प्राप्नोतीति। मस्तकभवघृताकारस्नेहम्। मस्तकस्नेहम्। **जिह्वायाः**। अ० १। १०। ३। रसनायाः सकाशात्। **वि+वृहामि** – वृहू उद्यमने–उद्धरामि। पृथक्करोमि॥

ग्रीवाभ्यः । ते । उष्णिहाभ्यः । कीकसाभ्यः । अनूक्यात् । यक्ष्मम् । दोषण्यम् । अंसाभ्याम् । बाहु-भ्याम् । वि । वृहामि । ते ॥ २ ॥

भाषार्थ--(ते) तेरे (ग्रीवाभ्यः) गले की नाड़ियों से, (उष्णिहाभ्यः) गुद्दी की नाड़ियों से, (कीकसाभ्यः) हँसली की हड्डियों से, (अनूक्यात्) रीढ़ से और (ते) तेरे (अंसाभ्याम्) दोनों कन्धों से, और (ते) तेरे (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओं से, (दोषण्यम्) मुड्ढे वा बक्खे के (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ--इस मन्त्र में ग्रीवा के अवयवों का वर्णन है । भावार्थ म० १ के समान है ॥ २ ॥

२--**ग्रीवाभ्यः** । शेवायह्वजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवाः । उ० १ । १५४ । इति गॄ निगरणे-वन् धातोर्ग्रीभावः, टाप् । निगलति यया । कन्धरावयवेभ्यः । **उष्णिहाभ्याम्** । ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगंचुयुजिक्रुञ्चां च, । पा० ३ । २ । ५९ । इति उत्+ष्णिह प्रीतौ, स्नेहने-क्विन्, तलोपः षत्वं च, टाप् । उष्णिगेव उष्णिहा । उष्णिगुत्स्नाता भवति स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः । निरु० । ७ । १२। ऊर्ध्वं स्निग्धाभ्यः, रक्तादिना उत्स्नाताभ्यो वा नाडीभ्यः । **कीकसाभ्यः** । अत्यविचमि० । उ० ३ । ११७ । इति ककि गतौ-असच्, धातोः कीकादेशः । यद्वा । की कुत्सितेन रक्तादिना देहाभ्यन्तरे कसति उत्पद्यते । की+कस गतौ-अच्, टाप् । जत्रुवक्षोगतास्थिभ्यः । **अनूक्यात्** । कृत्यल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति अनु+उच समवाये अधिकरणे ण्यत् । न्यङ्क्वादीनां च । पा० ७। ३। ५३। इति कुत्वम् । तित् स्वरितम् । पा० ६। १। ८५। इति स्वरितः । अनुक्रमेण उच्यन्ति समवयन्ति अस्थीनि यत्र । पृष्ठास्थिसकाशात् । **यक्ष्मम्** । अ० २। १०। ५। राजरोगम् । क्षयरोगम । **दोषण्यम्** । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ ११० । इति दोस्-यत् । पद्दन्नः० । पा० ६ । १ । ६३ । इति दोषन् आदेशः दोष्णोः, भुजदण्डयोर्भवम् । **अंसाभ्याम्** । अमेः सन् । उ० ५ । २१ । इति । अम गतौ-सन् । स्कन्धाभ्याम् । **बाहुभ्याम्** । अ० २ । २७ । ३ । भुजाभ्याम् **वि+वृहामि** । म० १ । उन्मूलयामि ॥

हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम्।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥३॥

हृदयात् । ते । परि । क्लोम्नः । हलीक्ष्णात् । पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मम् । मतस्नाभ्याम् । प्लीह्नः । यक्नः । ते । वि । वृहामसि ॥३॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (हृदयात्) हृदय से, (क्लोम्नः) फेफड़े से, (हलीक्ष्णात्) पित्त से, (पार्श्वाभ्याम् परि) दोनों कांखों [कक्षाओं वा बगलों] से और (ते) तेरे (मतस्नाभ्याम्) दोनों मतस्नों [गुर्दों] से, (प्लीह्नः) प्लीहा, वा पिलई [तिल्ली] से, और (यक्नः) यकृत् [काल खण्ड वा जिगर] से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामसि=०—मः) हम उखाड़ देते हैं ॥३॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कन्धों के नीचे के अवयवों का वर्णन है। भावार्थ मन्त्र १ के समान है ॥ ३॥

३—**हृदयात्** । अ० २ । २६ । ६ । वक्षःस्थमांसपिण्डात् । हृदयलक्षणं, यथा । शोणितकफप्रसादजं हृदयं तदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः । तस्याधो-वामतः प्लीहा फुस्फुसश्च दक्षिणतो यकृत् क्लोम च । इति शब्दकल्पद्रुमे सुश्रुतात् । **क्लोम्नः** । क्लुङ् गतौ मनिन् । फुप्फुसात् । बाह्वोर्द्वयोर्मध्ये वक्षः, तन्मध्ये हृदय तत्पार्श्वे क्लोम पिपासास्थानम् । इति श० क० द्रुमे । **हलीक्ष्णात्** । अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः । इति हल विलेखे-ई । क्ष्णु तेजने-ड । हलीं विलेखं क्ष्णोति तेजतीति । मांसपिण्डविशेषात् पित्तात् । **पार्श्वाभ्याम्** । स्पृशेः श्वणशुनौ पृ च । उ० ५ । २७ । इति स्पृश-श्वण् पृ आदेशश्च । कक्षयोरधोभागाभ्याम् । **मतस्नाभ्याम्** । मत+ष्णिह स्नेहने-ड । मतं ज्ञानं स्नेहयतीति मतस्नम् । उभयपार्श्वसंबन्धाभ्यां वृक्काभ्यां तत्समीपस्थपित्ताधारपात्राभ्यां वा-इति सायणः । ग्रीवाधस्ताद् भागस्थितहृदयोभयपार्श्वस्थे अस्थिनी मतस्ने ताभ्याम् इति महीधरः, शुक्लयजु० २५ । ८ । **प्लीह्नः** । श्वनुक्षन्पूषन्प्लीहन्० । उ० १ । १५६ । इति ष्लिहङ् गतौ-कनिन् । कुक्षिवामपार्श्वस्थमांसखण्डात् । **यक्नः** । शकेर्ऋतिन् । उ० ४ । ५८ । इति यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु-ऋतिन् । जस्य कः । यजति संगच्छते यकृत् । पद्दनः० । पा० ६ । १ । ६३ इति यकन् आदेशः । कुक्षेर्दक्षिणभागस्थमांसखण्डात् । कालखण्डात् । अन्यद् गतम् ॥

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ ४ ॥

आन्त्रेभ्यः । ते । गुदाभ्यः । वनिष्ठोः । उदरात् । अधि ।
यक्ष्मम् । कुक्षि-भ्याम् । प्लाशेः । नाभ्याः । वि । वृहामि । ते ॥४॥

भाषार्थ—(ते) तेरी (आन्त्रेभ्यः) आंतों से, (गुदाभ्यः) गुदा की नाड़ियों से, (वनिष्ठोः) वनिष्ठु [भीतरी मलस्थान] से, (उदरात् अधि) उदर में से, और (ते) तेरी (कुक्षिभ्याम्) दोनों कोखों से, (प्लाशेः) कोख में की थैली से, और (नाभ्याः) नाभि से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उदर के अवयवों का वर्णन है । भावार्थ मन्त्र १ के समान है ॥ ४ ॥

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं१ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥५॥

४—**आन्त्रेभ्यः** । अ० १ । ३ । ६ । अमिजगमिनमि० । उ० ४ । १६० । इति अति बन्धने-ष्ट्रन् । उदरनाडीविशेषेभ्यः । पुरीतद्भ्यः । **गुदाभ्यः** । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति गुद खेलने-क । टाप् । गोदते खेलति चलति अपानवायुर्यया । मलत्यागनाडीभ्यः । **वनिष्ठोः** । वन संभक्तौ—औणादिक इष्ठुप् प्रत्ययः । स्थूलान्त्रात् । **उदरात्** । उदि दृणातेरलचौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च । उ० ५ । १९ । इति उद्+दृ विदारे-अच् । उपसर्गस्य दलोपः । नाभिस्तनयोर्मध्यभागात् । जठरात् । **कुक्षिभ्याम्** । प्लुषिकुषिशुषिभ्यः क्सिः । उ० ३ । १५५ । इति कुष निष्कर्षे-क्सि । दक्षिणोत्तरोदरभागाभ्याम् । **प्लाशेः** । वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति प्र+अशू व्याप्तौ-इञ्, रस्य लः । बहुच्छिद्रात् मलपात्रात्-इति सायणः [Mesentery-*Griffith.*] । शिश्नात्, यथा महीधरः-यजु० १९ । ८७ । कुक्षिस्थनाडीविशेषात् । **नाभ्याः** । अ० १ । १३ । ३ । उदरावर्तात् । नाभिमण्डलात् । अन्यद् गतम् ॥

ऊ॒रु-भ्याम्। ते॒। अ॒ष्ठीवत्-भ्याम्। पार्ष्णि॑-भ्याम्। प्र-प॑दा॒-भ्याम्। यक्ष्म॑म्। भ॒स॒द्य॑म्। श्रोणि॑-भ्याम्। भास॑दम्। भंस॑सः। वि। वृ॒हा॒मि॒। ते॒॥५॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (ऊरुभ्याम) दोनों जंघाओं से, (अष्ठीवद्भ्याम) दोनों घुटनों से, (पार्ष्णिभ्याम) दोनों एड़ियों से, (प्रपदाभ्याम) दोनों पैरों के पंजों से और (ते) तेरे (श्रोणिभ्याम) दोनों कूल्हों से [वा नितम्बों से] और (भंससः) गुह्य स्थान से (भसद्यम्) कटि [कमर] के और (भासदम) गुह्य के (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं जड़ से उखाड़ता हूं ॥५॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कटि से नीचे के अवयवों का वर्णन है। भावार्थ मन्त्र १ के समान है ॥५॥

अ॒स्थिभ्य॑स्ते म॒ज्जभ्यः॒ स्नाव॑भ्यो॒ ध॒मनि॑भ्यः।
यक्ष्मं॑ पा॒णिभ्या॑म॒ङ्गुलि॑भ्यो न॒खेभ्यो॒ वि वृ॑हामि ते ॥६॥

५-ऊरुभ्याम्। ऊर्णोतेर्नुलोपश्च। उ० १। ३०। इति ऊर्णु आच्छादने-कु, नुलोपश्च। जानूपरिभागाभ्याम्। जङ्घाभ्याम्। **अष्ठीवद्भ्याम्**। आसन्दी-वदष्ठीवच्चक्रीवत्०। पा० ८। २। १२। इति अस्थि-मतुप्, अष्ठीभावो निपात्यते। जानुभ्याम्। **पार्ष्णिभ्याम्**। घृणिपृश्निपार्ष्णि०। उ० ४। ५२। इति पृषु सेके—नि, निपातनात् साधुः। पृष्यते भूम्यादिकमनेनेति। गुल्फस्याधोभागाभ्याम्। पादग्रन्थ्यधराभ्याम्। **प्रपदाभ्याम्**। प्रारब्धं प्रगतं वा पदमिति प्रादि समासः। पादाग्रभागाभ्याम्। **भसद्यम्**। शृदृभसोऽदिः। उ० १। १३०। इति भस दीप्तौ—अदि, यत्। भसत्=जघनं योनिर्वा—श० क० द्रुमे। कटिप्रदेशे भवम्। **श्रोणिभ्याम्**। वहिश्रिश्रुयु०। उ० ४। ५१। इति श्रु गतौ, श्रुतौ—नि। यद्वा, श्रोण संघाते—इन्। **कटिभ्याम्**। नितम्बाभ्याम्। **भासदम्**। भसद्—अण्। भसदि, योनौ भवम्। **भंससः**। भस दीप्तौ—असुन्, नुट् च। भासमानात् पायोः, गुह्यस्थानात्। अन्यद् व्याख्यातम्॥

अस्थि-भ्यः । ते । मज्ज-भ्यः । स्नाव-भ्यः । धमनि-भ्यः । यक्ष्मम् । पाणि-भ्याम् । अङ्गुलि-भ्यः । नखेभ्यः । वि । वृहामि । ते ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (अस्थिभ्यः) हड्डियों से (मज्जभ्यः) मज्जा धातु [अस्थि के भीतर के रस] से (स्नावभ्यः) पुट्ठों से और (धमनिभ्यः) नाड़ियों से, और (ते) तेरे (पाणिभ्याम्) दोनों हाथों से, (अङ्गुलिभ्यः) अंगुलियों से, और (नखेभ्यः) नखों से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं जड़ से उखाड़ता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शरीर के भीतरी धातुओं, नाड़ियों और हाथ आदि बाहिरी अंगों को यथा योग्य आहार, विहार से पुष्ट और स्वस्थ रक्खें, जिस से आत्मिक शक्ति सदा बढ़ती रहे ॥

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि । यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं विवृहामसि॥७॥

६-**अस्थिभ्यः** । अ० १ । २३ । ४ । असु क्षेपणे—क्थिन् । शरीरस्थ-धातुविशेषेभ्यः । **मज्जभ्यः** । अ० १ । ११ । ४ । अस्थिमध्यस्थस्नेहेभ्यः । **स्नावभ्यः** । स्नामदिपद्यर्त्ति० । उ० ४ । १३ । इति ष्णा शोधने—वनिप् । वायु-वाहिनी नाडीभ्यः । सूक्ष्मशिराभ्यः । **धमनिभ्यः** । अर्त्तिसृधृधम्यम्य० । उ० २ । १०२ । इति धम प्रापणे-अनि सौत्रो धातुः । धमतिः, गतिकर्मा निघु० २ । १४ । यद्वा ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः-अनि । धमति प्रापयति रसादिकमिति धमनिः । स्थूलनाडीभ्यः । **पाणिभ्याम्** । अशिपणाय्योरुडायलुकौ च । उ० ४ । १३३ । इति पण व्यवहारे—इण् , आयलुक् च । हस्ताभ्याम् । **अङ्गुलिभ्यः** । अङ्ग चिह्नयुक्तकरणे—उलिच् । अङ्गुलयः कस्मादग्रगामिन्यो भवन्तीति वाग्र-गालिन्यो भवन्तीति वाग्रकारिन्यो भवन्तीति वाङ्कना भवन्तीति वाञ्चना भवन्तीति वापि वाभ्यञ्चनादेव स्युः—निरु० ३ । ८ । हस्तपदप्रसिद्धावयवेभ्यः । **नखेभ्यः** । नहेर्हलोपश्च । उ० ५ । २३ । इति णह बन्धने-ख, हस्य लोपः । नह्यति रुधिरादिकम् । अङ्गुलीकण्टकेभ्यः । अन्यद् गतम् ॥

अङ्गे-अङ्गे । लोम्नि-लोम्नि । यः । ते । पर्वणि-पर्वणि । यक्ष्मम् । त्वचस्यम् । ते । वयम् । कश्यपस्य । वि-बर्हेण । विष्वञ्चम् । वि । वृहामसि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [क्षयी रोग] (ते) तेरे (अङ्गे-अङ्गे) अंग अंग में, (लोम्नि-लोम्नि) रोम रोम में (पर्वणि-पर्वणि) गांठ गांठ में है। (वयम्) हम (ते) तेरे (त्वचस्यम्) त्वचा के और (विष्वञ्चम्) सब अवयवों में व्यापक (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (कश्यपस्य) ज्ञान दृष्टि वाले विद्वान् के (विबर्हेण) विविध उद्यम से (वि वृहामसि) जड़ से उखाड़ते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपसंहार वा समाप्ति है अर्थात् प्रसिद्ध अवयवों का वर्णन करके अन्य सब अवयवों का कथन है। जिस प्रकार सद्वैद्य निदान पूर्वक रोगी के जोड़ जोड़ में से रोग को नाश करता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष निदिध्यासन पूर्वक आत्मिक दोषों को मिटा कर प्रसन्नचित्त होता है ॥ ७ ॥

७—**अङ्गे-अङ्गे** । अ० १।१२।२। नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति सर्वत्र द्विर्वचनम् । सर्वावयवेषु । **लोम्नि-लोम्नि** । नामन् सीमन्व्योमन्-रोमन्लोमन् ० । उ० ४ । १५१ । इति लूञ् छेदे-मनिन् प्रत्ययान्तः साधुः । लूयते छिद्यते शरीरं येन । सर्वेषु रोमकूपेषु । **पर्वणि-पर्वणि** । अ० २ । ६ । १ । सर्वेषु शरीरसन्धिषु । **त्वचस्यम्** । त्वच संवरणे-असुन्, यत् । यचि भम् । पा० १ । ४ । १८ । इति रुत्वाभावः । त्वचि भवम् । **कश्यपस्य** । अ० १ । १४ । ४ । सोमरसपानशीलस्य । यद्वा । कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन् । उ० ५ । ३५ । इति दृशिर् प्रेक्षे-वुन् । पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्ति० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति छन्दसि अशिति प्रत्ययेऽपि, दृशेः पश्य् इत्यादेशः, आद्यन्ताक्षरविपर्य्ययेण सिद्धिः। कश्यपस्य पश्यकस्य द्रष्टुर्ज्ञानिनः पुरुषस्य । यथा । "कश्यपः कस्मात् पश्यको भवतीति निरुक्त्या पश्यतीति पश्यः सर्वज्ञतया सकलं जगद् विजानाति स पश्यः पश्य एव निभ्रमतयातिसूक्ष्ममपि वस्तु यथार्थं जानात्येवातःपश्यक इति । आद्यन्ताक्षरविपर्य्याद्धिसः सिंहः कृतेस्तर्कुरित्यादिवत् कश्यप इति हयवरट् इत्येतस्योपरि महाभाष्यप्रमाणेन पदं सिध्यति"–इतिश्रीदयानन्दकृतायां ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम्, पृष्ठे २६१ तमे । **विबर्हेण** । वृहि वृद्धौ, शब्दे, वृहू उद्यमे-ल्युट्, उपसर्गस्यदीर्घः । विविधोद्यमेन । **विष्वञ्चम्** । विष व्याप्तौ-कु+अञ्चु गतौ-क्विन् । नानाकृव्यापकम् । अन्यद् गतम् ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१—५ ॥ पशुपतिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

बन्धात् मोक्षायोपदेशः—बन्ध से मुक्ति के लिये उपदेश: ।

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।
निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम् ॥ १ ॥

यः । ईशे । पशु-पतिः । पशूनाम् । चतुः-पदाम् । उत । यः । द्वि-पदाम् । निः-क्रीतः । सः । यज्ञियम् । भागम् । एतु । रायः । पोषाः । यजमानम् । सचन्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (पशुपतिः) पशुओं [जीवों] का स्वामी परमेश्वर (चतुष्पदाम्) चौपाये, (उत) और (यः) जो (द्विपदाम्) दो पाये (पशूनाम्) जीवों का (ईशे=ईष्टे) राजा है । (सः) वह परमेश्वर (निष्क्रीतः) अनुकूल हो

१—**ईशे** । ईश ऐश्वर्ये । लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५३ । इति कर्मणि षष्ठी । ईष्टे । ईश्वरः स्वामी वर्तते । **पशुपतिः** । अर्जिदृशिकम्यमि० । उ० १ । २७ । इति दृशिर् प्रेक्षे-कु । पातेर्डतिः । उ० ४ । इति पा रक्षणे-डति । पशूनां दृष्टिवतां दृष्टानां वा स्थावरजङ्गमनानां जीवानां पाता रक्षिता परमेश्वरः । **पशूनाम्** । अ० १ । २५ । २ । जीवानाम् । **चतुष्पदाम्** । संख्यासुपूर्वस्य । पा० ५ । २ । १४० । इति बहुव्रीहेः पादशब्दान्तस्य लोपः । पादः पत् । पा० ६ । ४ । १३० । इति पाद् इत्यस्य पदादेशो भसंज्ञायाम् । गवादीनाम् । **उत** । अपि च । **द्विपदाम्** । पूर्ववत् सिद्धिः । मनुष्यादीनाम् । **निष्क्रीतः** । निः नितराम्+क्रीञ् मूल्यदानेन द्रव्यग्रहणे-क्त । प्रार्थनादिना अनुकूलीकृतः । **यज्ञियम्** । यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ । पा० ५ । १ । ७१ । पूजाकर्मार्हम् । **भागम्** । भज भागसेवयोः-घञ् । अंशम् । भजनम् । **एतु** । गच्छतु । प्राप्नोतु । **रायः** । रातेर्डैः । उ० २ । ६६ ।

कर (यज्ञियम्) हमारे पूजा योग्य (भागम्) भजन वा अंश को (एतु) प्राप्त करे। (रायः) धन की (पोषाः) वृद्धियां (यजमानम्) पूजनीय कर्म करने वाले को (सचन्ताम्) सींचती रहें ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब मनुष्यादि दोपाये, और गौ आदि चौपाये और और सब संसार का स्वामी है, वह मनुष्यों के धर्मानुकूल चलने से उन का (निष्क्रीतः) मोल लिया हुआ अर्थात् उन का इच्छु वर्ती होकर उन को सब प्रकार का आनन्द देता है ॥ १ ॥

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः । उपाकृतं शशमानं यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु पाथः ॥ २ ॥

प्र-मुञ्चन्तः । भुवनस्य । रेतः । गातुम् । धत्त । यजमानाय । देवाः । उप-आकृतम् । शशमानम् । यत् । अस्थात् । प्रियम् । देवानाम् । अपि । एतु । पाथः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वान् महात्माओ ! (भुवनस्य) संसार के (रेतः) बीज [वृद्धि सामर्थ्य] का (प्रमुञ्चन्तः) दान करते हुये तुम, [यजमानाय) पूजनीय कर्म करने वाले पुरुष को (गातुम्) मार्ग (धत्त) दान करो, (यत्) जो (शशमानम्) उछल कर प्राप्त होता हुआ (उपाकृतम्) समीप

इति रा दाने ग्रहणे च-डै । धनस्य । स्वर्णस्य । **पोषाः** । पुष पुष्टौ धृतौ च-घञ् । समृद्धयः । षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति (रायस्पोषाः) अत्र सत्वम् । **यजमानम्** । यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु-शानच् । यष्टारम् । याजकम । **सचन्ताम्** । षच सेचने-लोट् । सिञ्चन्तु ॥

२—**प्रमुञ्चन्तः** । प्रपूर्वकात् मुच दाने—शतृ । विसृजन्तः । प्रयच्छन्तः । **भुवनस्य** । अ० २ । १ । ३ । संसारस्य । **रेतः** । अ० २ । २८ । ५ । बीजम् । वृद्धिसामर्थ्यम् । **गातुम्** । कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च । उ० १ । ७३ । इति गाङ् गतौ-तु । गाते गच्छति येन । मार्गम् । **धत्त** । धुंय दत्त । **यजमा-**

लाया गया (पाथः) रक्षा साधन अन्नादि (देवानाम्) विद्वानों का (प्रियम्) प्रिय [हितकारक] (अस्थात्) स्थित हुआ है, [वह हमें] (अपि) अवश्य (एतु) प्राप्त होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् महात्मा लोग वेद द्वारा संसार की वृद्धि और स्थिति का कारण विचार कर सब को सत्य मार्ग का उपदेश करें जिस से मनुष्य ईश्वर कृत रक्षा साधन, ज्ञान, खान पान आदि पदार्थों को [जो सब को सब जगह सुलभ हैं] यथावत् प्राप्त कर, दुःखों से मुक्त हो कर आनन्द भोगें ॥ २ ॥

ये ब॒ध्यमा॑न॒मनु॒ दीध्या॑ना अ॒न्वैक्ष॑न्त॒ मन॑सा॒ चक्षु॑षा च।
अ॒ग्निष्टानग्रे॒ प्र मु॑मोक्तु दे॒वो वि॒श्वक॑र्मा प्र॒जया॑ संररा॒णः ॥ ३ ॥

ये। ब॒ध्यमा॑नम्। अनु॑। दीध्या॑नाः। अ॒नु॒-ऐक्ष॑न्त। मन॑सा। चक्षु॑षा। च। अ॒ग्निः। तान्। अग्रे॑। प्र। मु॒मो॒क्तु॒। दे॒वः। वि॒श्व-क॑र्मा। प्र॒-जया॑। स॒म्-र॒रा॒णः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [महाविद्वान्] (बध्यामनम् अनु) बन्धन में पड़ते हुये [जीव] पर (दीध्यानाः+सन्तः) प्रकाश करते हुये, (मनसा) मन से (च) और (चक्षुषा) नेत्र से (अन्वैक्षन्त दया से देख चुके हैं, (तान्) उन (अग्रे=अग्रे वर्त्तमानान्) अग्रगामियों को (अग्निः) सर्वव्यापक, (देवः) प्रकाश-

---

नाय । म० १ । उपकर्म्मे । **देवाः** । हे विद्वांसः । **उपाकृतम्** । उप+आङ्+कृ—क्त । समीप आनीतम् । **शशमानम्** । शश प्लुतगतौ—चानश् । उत्प्लुत्य गमनशीलम् । **यत्** । पाथः । **अस्थात्** । तिष्ठति स्म । **प्रियम्** । अ० २ । २८ । ५ । हितकरम् । **देवानाम्** । विदुषाम् । **एतु** । अस्मान् प्राप्नोतु । **पाथः** । अन्ने च । उ० ४ । २०५ । इति पा रक्षणे—असुन्, थुट् च । रक्षासाधनम् । अन्नम् ॥

३—**ये** । विद्वांसः । **बध्यमानम्** । सार्वधातुके यक् । पा० ३ । १ । ६७ । इति बन्ध बन्धने–कर्मणि यक्, ततः शानच् । बन्धने गच्छन्तम् । **अनु** । अनुलक्ष्य । **दीध्यानाः** । दी धीङ् दीप्तिदेवनयोः—शानच् । दीप्यमानाः । **अन्वैक्षन्त** । ईक्ष दर्शने-छान्दसो लङ् । अनुकूलम् अनुक्रमेण वा दृष्टवन्तः ।

स्वरूप, (विश्वकर्मा) सब का रचने वाला परमेश्वर, (प्रजया) प्रजा [सृष्टि] के साथ (संरराणः=संरममाणः) आनन्द करता हुआ (प्र) भले प्रकार (मुमोक्तु) [विघ्न से] मुक्त करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो महात्मा अपनी मानसिक और शारीरिक शक्ति से अज्ञान के कारण से दुःख में डूबे हुओं के उद्धार में समर्थ होते हैं, वह सर्वशक्तिमान् सर्वकर्ता परमेश्वर उन परोपकारी जनों का सदा सहायक और आनन्ददायक होता है ॥ ३ ॥

(बध्यमानम्) के स्थान पर (वध्यमानम्) और (अनु दीध्यानाः) दो पद के स्थान पर [अनुदीध्यानाः] एक पद सायण भाष्य में है ॥

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः । वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥

ये । ग्राम्याः । पशवः । विश्व-रूपाः । वि-रूपाः । सन्तः । बहु-धा । एक-रूपाः । वायुः । तान् । अग्रे । प्र । मुमोक्तु । देवः । प्रजा-पतिः । प्र-जया । सम् ररराणः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (ग्राम्याः) ग्राम में बसने वाले, (विश्वरूपाः) सब वर्ण वाले (पशवः) जीव (बहुधा) प्रायः (विरूपाः) पृथक् २ रूप वाले

मनसा । चिन्तेन । **चक्षुषा** । अ० १ । ३३ । ४ । दर्शनेन्द्रियेण । नेत्रेण । **अग्निः** । सर्वत्रगतिः परमेश्वरः । **तान्** । विदुषः पुरुषान् । युष्मत्तत्-च्छन्तः पादम् । पा० ८ । ३ । १०३ । इति (अग्निष्टान्) इत्यत्र षत्वम् । **अग्रे** । अग्रे वर्त्तमानान् । **प्र** । प्रकर्षेण । **मुमोक्तु** । छन्दसि शपः श्लुः । मोचयतु विघ्नात् । **देवः** । दीप्यमानः । **विश्वकर्मा** । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति विश्व+कृञ्-मनिन् । विश्वकर्मा सर्वस्य कर्त्ता [मध्य-स्थानः]-निरु० १० । २५ । विश्वेषु कर्म यस्य । सर्वकर्त्ता । परमात्मा । **प्रजया** । स्वसृष्ट्या । **संरराणः** । संरममाणः । सहरममाणः । सम्यग्रममाणः । यद्वा । रा दाने, ग्रहणे, रै शब्दे-लिटः कानच् । सम्यग्दाता ग्रहीता शब्दायमानो वा ॥

४—**ये** । पशवः । **ग्राम्याः** । ग्रसेरात् च । उ० १ । १४३ । इति ग्रस

(सन्तः) होकर (एकरूपाः) एक स्वभाव वाले हैं, (तान्) उन (अग्रे = अग्रे वर्त्तमानान् पशून्) अग्र वर्त्ती जीवों को (वायुः) सर्वव्यापी वा बलदायक (देवः) प्रकाश स्वरूप, (प्रजापतिः) प्रजाओं का रक्षक परमेश्वर (प्रजया) प्रजा [अपने जनों] से (संरराणः=संरममाणः) आनन्द करता हुआ (प्र) भले प्रकार (मुमोक्तु) मुक्त करे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो (ग्राम्याः) मिलकर भोजन करने वाले मनुष्य भिन्न देश, भिन्न अन्न जल वायु होने से भिन्न वर्ण होकर भी एक ईश्वर की आज्ञा पालन में (एकरूप) तत्पर रहते हैं, परमेश्वर प्रसन्न होकर उन पुरुषार्थी महात्माओं को दुःख से छुड़ा कर सदा आनन्द देता है ॥ ४॥

२- शुद्ध वायु सब प्राणियों को शारीरिक और आत्मिक सुख देता है ॥ ४ ॥

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् । दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥ ५ ॥

प्र-जानन्तः । प्रति । गृह्णन्तु । पूर्वे । प्राणम् । अङ्गेभ्यः । परि । आ-चरन्तम् । दिवम् । गच्छ । प्रति । तिष्ठ । शरीरैः । स्वः-गम् । याहि । पथि-भिः । देव-यानैः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्रजानन्तः) बड़े ज्ञान वाले (पूर्वे=पूर्वे वर्त्तमानाः+भवन्तः)

भक्ष-मन् , धातोराकारान्तादेशश्च । अमन्ति यत्र मिलित्वा । ग्रामाद् यखञौ ।) पा० ४ । २ । ९४ । ग्रामे शालासमुदाये भवा उत्पन्नाः । ग्रामीणाः । **पशवः** । प्राणिनः । **विश्वरूपाः** । खष्पशिल्पशष्पबाष्परूपपर्पतल्पाः । उ० ३ । २८ । इति रु शब्दे-प, दीर्घश्च । रूयते कीर्त्यते तद् रूपम् । शुक्लादिवर्णम् । आकृतिः । स्वभावः । सौन्दर्यम् । नानावर्णाः । **विरूपाः** । विरुद्धाकाराः । **सन्तः** । वर्तमाना अपि । **बहुधा** । विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले । पा० ५ । ४ । २० । इति बहु+धा । बहुप्रकारम् । प्रायेण । **एकरूपाः** । परमेश्वराज्ञापालनैकस्वभावाः । **वायुः** । अ० २ । २० । १ । सर्वव्यापी । परमेश्वरः पवनः । **प्रजापतिः** । यज्ञः-निघ० ३ । १८ । प्रजानां पाता वा पालयिता वा [मध्यस्थानो देवः] निरु० १० । ४२ । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

५-**प्रजानन्तः** । प्र+ज्ञा-शतृ । प्रकर्षेण जानन्तः । महाविद्वांसः ।

प्रथम स्थान में वर्त्तमान महात्मा पुरुष आप (अङ्गेभ्यः) सब के अङ्गों के हित के लिये (परि) सब ओर (आचरन्तम्) चलने वाले (प्राणम्) अपने प्राण [बल] को (प्रति) प्रत्यक्ष (गृह्णन्तु) ग्रहण करें।

[हे मनुष्य !] (दिवम्) ज्ञान प्रकाश वा व्यवहार को (गच्छ) प्राप्त कर, (शरीरैः) सब अङ्गों के साथ (प्रति तिष्ठ) तू प्रतिष्ठित रह, (देवयानैः) देवताओं के चलने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (स्वर्गम्) स्वर्ग [महा आनन्द] में (याहि) तू पहुंच ॥ ५ ॥

भावार्थ—ज्ञानी महात्मा पुरुष जो श्वास लें वह संसार के उपकार के लिये ही लें, अर्थात् प्रतिक्षण परोपकार में लगकर अपना सामर्थ्य और जीवन बढ़ावें। और प्रत्येक मनुष्य को योग्य है कि अपने आत्मा में ज्ञान का प्रकाश करके सब व्यवहारों में चतुर हो, और आंख, कान, हाथ, पग आदि अङ्गों से शुभ कर्म करके प्रतिष्ठा बढ़ावे, और जिन वेद मार्गों पर देवता चलकर स्वर्ग भोगते हैं उन्हीं वेदरूपी राजपथों पर चल कर जीवन्मुक्त होकर आनन्द भोगे ॥ ५ ॥

टिप्पणी—स्वर्ग का लक्षण टिप्पणी, अ० १ । ३० । २ में अथर्व० का० ६ । सू० १२० म० ३ के प्रमाण से दिया है, वहां देख लीजिये ॥

प्रति । प्रत्यक्षम् । **गृह्णन्तु** । स्वीकुर्वन्तु । **पूर्वे** । प्रतिष्ठास्थाने वर्त्तमानाः। प्रधानाः । **प्राणम्** । अ० २ । १५ । १ । जीवनसाधनं प्राणापानरूपं बलम् । **अङ्गेभ्यः** । अ० १ । १२ । ४ । अङ्गानां हिताय । **परि** । सर्वतः । **आचरन्तम्** । चर-शतृ । आगच्छन्तम् । **दिवम्** । अ० १ । ३० । ३ । प्रकाशम् । **शरीरैः** । अ० २ । १२ । ८ । शरीराङ्गैः सह । **स्वर्गम्** । स्वः-इति व्याख्यातम् अ० २ । ५ । २ । स्वः सुखं गीयते यत्र, स्वः+गै-क । यद्वा, सुष्ठु अर्ज्यते, सु + अर्ज अर्जने-घञ् । शङ्क्वादित्वात् कुत्वम् । देवतानां विदुषां निवासस्थानम् । स्वर्लक्षणं द्रष्टव्यम्-टिप्पण्याम् । अ० १ । ३० । २ । **पथिभिः** । पतस्थ च । उ० ४ । १२ । इति पत्लृ गतौ-इनि, थश्चान्तादेशः । मार्गैः । **देवयानैः** । देव+या गतौ-ल्युट् । देवानां यानं गमनं यैः । देवगमनयोग्यैः ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१-५ ॥ विश्वकर्मा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पापत्यागात् सुखलाभ इत्युपदिश्यते-पाप के त्याग से सुखलाभ है, इस का उपदेश ॥

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः । या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तां कृणवद् विश्वकर्मा ॥ १ ॥

ये । भक्षयन्तः । न । वसूनि । आनृधुः । यान् । अग्नयः । अनु-अतप्यन्त । धिष्ण्याः । या । तेषाम् । अव-याः । दुः-इष्टिः । सु- इष्टिम् । नः । ताम् । कृणवत् । विश्व-कर्मा ॥१॥

भाषार्थ—(ये) जिन मनुष्यों ने (भक्षयन्तः) पेट भरते हुए (वसूनि) धनों को (न) नहीं (आनृधुः) बढ़ाया, और (यान्) जिन पर (धिष्ण्याः) बोलने, वा कर्म वा बुद्धि में चतुर (अग्नयः) गतिशील ज्ञानी [वा अग्नि समान तेजस्वी] पुरुषों ने (अन्वतप्यन्त) अनुताप किया है [शोक माना है], (तेषाम्) उन [कंजूसों] की (या) जो (अवयाः) विनाश हेतु (दुरिष्टिः) खोटी सङ्गति है,

---

१—**भक्षयन्तः** । भक्ष-शतृ । भक्षकाः । उदरपोषकाः । **न** । निषेधे । **वसूनि** । धनानि । **आनृधुः** । ऋधु वृद्धौ-लिट् । अत आदेः । पा० ७।४।७० । इत्यभ्यासदीर्घत्वे । तस्मान् नुड् द्विहलः । पा० ७ । ४ । ७१ । इति नुडागमः । वर्धितवन्तः । **यान्** । स्वार्थिनः पुरुषान् । **अग्नयः** । अगि गतौ- नि । गतिशीलाः । ज्ञानिनः । अग्निवत्तेजस्विनः पुरुषाः । **अन्वतप्यन्त** । अनुतापं पश्चात्तापं कृतवन्तः । **धिष्ण्याः** । सानसिवर्णसिपर्णसि०।उ० ४।१०७। इति धिष शब्दे-ण्य प्रत्ययः । शब्दकुशलाः । विद्वांसः । यद्वा । धाञ् आधारे, ध्यै चिन्तने-क्विप् । धीः, कर्मनाम-निघ० २ । १ । प्रज्ञानाम-निघ० ३ । ९ । इष इच्छायाम्-ण्यप्रत्ययः पूर्ववत्, निपातनाद् रूपसिद्धः । धियः कर्माणि प्रज्ञा वा इच्छन्ति ते धिष्ण्याः । कर्मकुशलाः । धीराः । **अवयाः** । अवे यजः । पा० ३ । २ । ७२ । अव + यज-विन् । अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च । पा० ८।२।६७ । इति निपातितः ।

(विश्वकर्मा) सब कर्मों में चतुर [वा संसार का रचने वाला] परमेश्वर (ताम्) उस [कुसंगति] को (नः) हमारे लिये (स्विष्टम्) उत्तम फलदायक (कृणवत्) करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो स्वार्थी मनुष्य केवल अपना पेट भरना जानते हैं और जो धन एकत्र करके उपकार नहीं करते, उन की दशा उदारशील महात्माओं को शोचनीय होती है, सब कर्मकुशल [परमेश्वर] सुमति दे कि उन का मन स्वार्थपन छोड़ कर जगत् की भलाई में लगे। सब मनुष्य (विश्वकर्मा) विहित कर्मों में कुशल होकर, और कुसंगति का दुष्ट फल देखकर दुष्कर्मों से बचें और सदा आनन्द से रहें ॥ १ ॥

य॒ज्ञप॑ति॒मृष॑य॒ एन॑साहु॒र्निर्भ॑क्तं प्र॒जा अ॑नुत॒प्यमा॑नम्। म॒थ॒व्या॑न्त्स्तो॒काँ अप॒ यान् र॒राध॒ सं न॒ष्टेभिः॑ सृजतु वि॒श्वक॑र्मा ॥ २ ॥

य॒ज्ञ-प॑तिम्। ऋष॑यः। एन॑सा। आ॒हुः। निः-भ॑क्तम्। प्र॒-जाः। अ॒नु॒-त॒प्यमा॑नम्। म॒थ॒व्या॑न्। स्तो॒कान्। अप॑। यान्। र॒राध॑। सम्। नः॒। तेभिः॑। सृ॒ज॒तु॒। वि॒श्व-क॑र्मा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ऋषयः) सूक्ष्मदर्शी ऋषि (प्रजाः) मनुष्यादि प्रजाओं पर (अनुतप्यमानम्) अनुताप [अनुकम्पा] करने वाले (यज्ञपतिम्) उत्तम कर्मों के रक्षक पुरुष को (एनसा) पाप से (निर्भक्तम्) पृथक किया हुआ (आहुः) बताते हैं।

अवयजामहे=विनाशयामः-इति महीधरः, यजु० ३। ४५। विनाशहेतुः। **दुरिष्टिः**। दुर्+इष वाञ्छे, यज यागे वा-क्तिन्। दुष्टक्रिया। कुसंगतिः। **स्विष्टम्**। सु+इष्टम्। शोभनाम् इष्टसाधिकाम्। **नः**। अस्मदर्थम्। **कृणवत्**। अ० १। ६। ५। करोतु। **विश्वकर्मा**। अ० २। ३४। ३। सर्वकर्ता परमेश्वरः॥

२—**यज्ञपतिम्**। शुभकर्मरक्षकम्। **ऋषयः**। अ० २। ६। १। मन्त्रार्थद्रष्टारः। सूक्ष्मदर्शिनः। **एनसा**। अ० २। १०। ८। पापेन। अपराधेन। **आहुः**। ब्रूञ् कथने-लट् ब्रुवन्ति। **निर्भक्तम्**। भज सेवायाम्, विभागे-क्त।

उस ने (यान्) जिन (मथव्यान्) मथने योग्य (स्तोकान्) प्रसन्न करने वाले, सूक्ष्म विषयों को (अप) आनन्द से (रराध) सिद्ध किया है (विश्वकर्मा) संसार का रचने वाला परमेश्वर (तेभिः=तैः) उन [सूक्ष्म विषयों] के साथ (नः) हमें (सं सृजतु) संयुक्त करे ॥ २ ॥

भावार्थ—ऋषि लोग उस पुरुषार्थी पुरुष को निष्पाप और पुण्यात्मा मानते हैं जो सब जीवों पर दया और उपकार करता है वही धर्मात्मा आप्तपुरुष, सत्य सिद्धान्तों को साक्षात् करके आनन्द से संसार में प्रकाशित करता है। (विश्वकर्मा) परमेश्वर उन अटल वैदिक धर्मों को हम सब के हृदय में स्थापित करे, जिस से हम पुरुषार्थ पूर्वक सदा आनन्द भोगें ॥ २ ॥

टिप्पणी—(अनुतप्यमानम्) के स्थान पर [अनु तप्यमानम्] दो पद और (मथव्यान्) के स्थान पर [मथव्यान्] पद सायणभाष्य में हैं ॥

अदान्यान्त्सोमपान् मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः। यदेनश्चकृवान् बद्ध एष तं विश्वकर्मन् प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥ ३ ॥

अदान्यान् । सोम-पान् । मन्यमानः । यज्ञस्य । विद्वान् । सम्-अये । न । धीरः । यत् । एनः । चकृवान् । बद्धः । एषः । तम् । विश्वकर्मन् । प्र । मुञ्च । स्वस्तये ॥ ३ ॥

भषार्थ—(अदान्यान्) दान के अयोग्य पुरुषों को (सोमपान्) अमृत पान

पृथक् कृतम् । वियुक्तम् । प्रजाः । ईश्वरसृष्टीः । **अनुतप्यमानम्** । अनुतापं पश्चात्तापं कुर्वन्तम् । **मथव्यान्** । मथ विलोडने-तव्यत्, छान्दसं रूपम् । मथितव्यान् । अन्वेषणीयान् । **स्तोकान्** । ष्टुच प्रसादे दीप्तौ-घञ् । प्रसन्नकरान्, दीप्यमनान् सूक्ष्मविषयान् । बिन्दून् । **अप** । आनन्दे-यथा । अप-चितिः=पूजा, अपदानम्=प्रशस्यकर्म । **रराध** । राध संसिद्धौ—लिट् । साधितवान् . पूरितवान् । **नः** । अस्मान् । **तैः** । स्तोकैः । **संसृजतु** । संयोजयतु । **विश्वकर्मा** । सर्वरचयिता । अन्यद् गतम् ॥

३—अदान्यान् । छन्दसि च । पा० ५ । १ । ६७ । इति अदान-य प्रत्ययः ।

करने वाले (मन्यमानः) मानता हुआ पुरुष, (यज्ञस्य) शुभ कर्म का (विद्वान्) जानने वाला और (समये) समय पर (धीरः) धीर (न) नहीं होता। (एषः) इस पुरुष ने (बद्धः) [अज्ञान में] बन्ध होकर (यत्) जो (एनः) पाप (चकृवान्) किया है, (विश्वकर्मन्) हे संसार के रचने वाले परमेश्वर ! (तम्) उस पुरुष को (स्वस्तये) आनन्द भोगने के लिये (प्र मुञ्च) मुक्त कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अविवेक के कारण मूढ़ होकर अपनी और संसार की हानि कर डालता है। वह पुरुष अपने प्रमाद पर पश्चात्ताप करके और पाप कर्म छोड़कर ईश्वर आज्ञा का पालन करके आनन्द भोगे ॥ ३ ॥

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम्। बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्य१ स्मान् ॥ ४ ॥

दानानर्हान्। **सोमपान्**। गापोष्टक् च। पा० ३। २। ८। सोम+पा पाने-टक्। अमृतपानशीलान् पण्डितान्। **मन्यमानः**। मन बोधे दिवादिः—शानच्। जानन् सन्। **यज्ञस्य**। अ० १। ६। ४। प्रशस्यकर्मणः। **विद्वान्**। विदेः शतुर्वसुः। पा० ७। १। ३६। इति विद ज्ञाने-शतृ, वसुरादेशः। प्राज्ञः। पण्डितः। **समये**। सम्+इण् गतौ-पचाद्यच्। उचितकाले, अवसरे। **न**। निषेधे। **धीरः**। सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन्। उ० २। २४। इति धाञ् धारण-पोषणयोः-क्रन्। घुमास्थागापा०। पा० ६। ४। ६६। इति ईत्वम्। यद्वा। धीः प्रज्ञा कर्म वा, रो मत्वर्थीयः। यद्वा। कर्मण्यण्। पा० ३। २। १। इति धी+ईर प्रेरणे-अण्। धियम् ईरयतीति। यद्वा। धी+रा-क। धियं राति ददाति गृह्णातीति वा। मेधावी-निघ० ३। १५। धैर्यवान्। पण्डितः। **एनः**। म० २। अपराधम्। **चकृवान्**। कृञ्-लिटः क्वसुः। कृतवान्। **बद्धः**। बध्यते स्म। बन्ध-क्त। बन्धनयुक्तः। **विश्वकर्मन्**। हे सर्वकर्तः। **प्र+मुञ्च**। प्रमोचय। **स्वस्तये**। अ० १। ३०। २। क्षेमाय। कुशलाय॥

घोराः । ऋषयः । नमः । अस्तु । एभ्यः । चक्षुः । यत् । एषाम् । मनसः । च । सत्यम् । बृहस्पतये । महिष । द्यु-मत् नमः । विश्व-कर्मन् । नमः । ते । पाहि । अस्मान् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ऋषयः) सूक्ष्मदर्शी पुरुष (घोराः) [पाप कर्मों पर] क्रूर होते हैं, (एभ्यः) उन [ऋषियों] को (नमः) अन्न वा नमस्कार (अस्तु) होवे, (यत्) क्योंकि (एषाम्) उन [ऋषियों] के (मनसः) मन की (चक्षुः) आंख (च) निश्चय करके (सत्यम्) यथार्थ [देखने वाली] है। (महिष) हे पूजनीय परमेश्वर ! (बृहस्पतये) सब बड़े बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी [आप] को (द्युमत्) स्पष्ट (नमः) नमस्कार है, (विश्वकर्मन्) हे संसार के रचने वाले ! (नमस्ते) तेरे लिये नमस्कार है, (अस्मान्) हमारी (पाहि) रक्षा कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिन महात्मा आप्त ऋषियों के मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म, संसार को दुःख से मुक्त करने के लिये होते हैं, उन के उपदेशों को सब मनुष्य प्रीति पूर्वक ग्रहण करें, और जो परमेश्वर समस्त सृष्टि का कर्त्ता धर्त्ता है,

---

४—**घोराः** । अ० १ । १८ । ३ । हन—अच्, घुरादेशः । यद्वा । घुर ध्वनौ, भीमभवने-अच् । भयानकाः । भीमाः । **ऋषयः** । म० २ । मुनयः । आप्तपुरुषाः । **नमः** । अ० १ । १० । २ । णमु शब्दनत्योः-असुन् अन्नम्—निघ० ३ । ७ । सत्कारः । **अस्तु** । भवतु । **एभ्यः** । ऋषिभ्यः । **चक्षुः** । अ० १ । ३३ । ४ दृष्टिः । नेत्रम् । **एषाम्** । ऋषीणाम् । **मनसः** । अ० १ । १ । २ । अन्तः करणस्य । **सत्यम्** । अ० २ । १४ । ४ । तथ्यम् । यथार्थम् । **बृहस्पतये** । अ० १ । ८ । २ । बृहतां महतां लोकानां पत्ये स्वामिने । **महिष** । अविमह्योष्टिषच् । उ० १ । ४४ । इति मह पूजायाम्-टिषच् । महिषाः=महान्तः—निरु० ७ । २६ । महान्ते पूज्यते सर्वैः, यद्वा, महति पूजयति शुभगुणानिति । हे महन्-निघ० ३ । ३ । पूजनीय । **द्युमत्** । सम्पदादित्वात् क्विप् । वा० पा० ३ । ३ । ६४ । इति द्यु अभिगमने, यद्वा, द्युत दीप्तौ—क्विप् । मतुपि तलोपः पृषोदरादित्वात्, पा० ६ । ३ । १०६ । यद्वा, दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिकान्तिगतिषु-क्विप् ।

उस के उपकारों को हृदय में धारण करके उस की उपासना करें और सदा पुरुषार्थ करके श्रेष्ठों की रक्षा करते रहें ॥ ४ ॥

(महिष) के स्थान पर सायण भाष्य में [महि सत्] दो पद हैं ॥

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि । इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

यज्ञस्य । चक्षुः । प्र-भृतिः । मुखम् । च । वाचा । श्रोत्रेण । मनसा । जुहोमि । इमम् । यज्ञम् । वि-ततम् । विश्व-कर्मणा आ । देवाः । यन्तु । सु-मनस्यमानाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[जो पुरुष] (यज्ञस्य) पूजनीय कर्म का (चक्षुः) नेत्र [नेत्र समान प्रदर्शक], (प्रभृतिः) पुष्टि, (च) और (मुखम्) मुख [समान मुख्य] है, [उस को] (वाचा) वाणी से, (श्रोत्रेण) कान से और (मनसा) मन से (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं । (सुमनस्यमानाः) शुभ चिन्तकों के जैसे आचरण वाले (देवाः) व्यवहारकुशल महात्मा (विश्वकर्मणा) संसार के रचने वाले परमेश्वर करके (विततम्) फैलाये हुये (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय धर्म को (आ यन्तु) प्राप्त करें ॥ ५ ॥

द्योतनं दिव् । दिव उत् । पा० ६ । १ । १३१ । इति मतुपि उत्त्वम् । दीप्तिमत् । कान्तियुक्तम् । स्पष्टम् । **नमः** । सत्कारः । **विश्वकर्मन्** । म० १ । हे सर्वजनक परमात्मन् । **पाहि** । त्वं रक्ष । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

५—**यज्ञस्य** । म० ३ । पूजनीयकर्मणः । **चक्षुः** । म० ४ । नेत्रवत् प्रदर्शको यः पुरुषोऽस्ति । **प्रभृतिः** । डुभृञ् भरणपोषणयोः-क्तिन् । भरणम् । पोषणम् **मुखम्** । डित् खनेर्मुट् चोदात्तः । उ० ५ । २० । इति खन विदारणे-अच् । स च डित्, धातोर्मुडागमश्च । तस्योदात्तः । खनति अन्नादिकमनेनेति । आस्यम् । मुखमिव मुख्यः । **वाचा** । अ० १ । १ । १ । वाण्या । पठनपाठनकर्मणा । **श्रोत्रेण** । अ० २ । १७ । ५ । श्रुत्या । कर्णेन । श्रवणश्रावणकर्मणा ।

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सत्य सङ्कल्पी, सत्यसन्ध, ऋषि महात्माओं के वैदिक उपदेश को वाणी से पठन पाठन, श्रोत्र से श्रवण श्रावण, और मन से निदिध्यासन अर्थात् बारम्बार विचार, करके ग्रहण करें। और सब अनुग्रहशील महात्मा परमेश्वर के दिये हुये विज्ञान और धर्म का प्रचार करते रहें ॥ ५ ॥

सूक्तम् ३६ ॥

१—८ अग्निर्देवता । १, ३, ४ त्रिष्टुप्, २, ५, ६, ७ अनुष्टुप्, ८ गायत्री ॥

विवाहसंस्कारोपदेशः—विवाह संस्कार का उपदेश ॥

आ नो॑ अग्ने सुम॒तिं सं॑भ॒लो ग॑मेदि॒मां कु॑मा॒रीं स॒ह नो॒ भगे॑न । जु॒ष्टा व॒रेषु॒ सम॑नेषु व॒ल्गुरो॒षं पत्या॒ सौभ॑गमस्त्व॒स्यै ॥ १ ॥

आ । नः॒ । अ॒ग्ने॒ । सु॒ऽम॒तिम् । स॒म्ऽभ॒लः । ग॒मे॒त् । इ॒माम् । कु॒मा॒रीम् । स॒ह । नः॒ । भगे॑न । जु॒ष्टा । व॒रेषु॑ । सम॑नेषु । व॒ल्गुः । ओ॒षम् । पत्या॑ । सौभ॑गम् । अ॒स्तु॒ । अ॒स्यै ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) अग्निवत् तेजस्वी राजन् (सम्भलः) यथाविधि सम्भाषण वा निरूपण करने वाला वर (इमाम्) इस (सुमतिम्) सुन्दर बुद्धि वाली (कुमारीम्) कुमारी को (नः) हमारे लिये (भगेन सह+वर्त्तमानः

मनसा । मननेन । अन्तःकरणेन । निदिध्यासनेन । **जुहोमि** । अ० १। १५।१। आददे । स्वीकरोमि तम् । **विततम्** । तनु विस्तारे-क्त । विस्तृतम् । **विश्वकर्मणा** । परमात्मना । **देवाः** । व्यवहारकुशलाः । महात्मानः । **यन्तु** । प्राप्नुवन्तु । **सुमनस्यमानाः** । अ० १। ३५। १। शोभनं ध्यायन्तः । शुभचिन्तकाः ॥

१—**नः** । अस्मान् । **अग्ने** । हे अग्निवत्तेजस्विन् राजन् । **सुमतिम्** । सु+मन बोधे-क्तिन् । शोभनबुद्धियुक्ताम् । **सम्भलः** । सम्+भल परि-

सन्) ऐश्वर्य के साथ वर्त्तमान होकर (नः) हम में (आ=आगत्य) आकर (गमेत्) ले जावे। [इयम् कुमारी] [यह कन्या] (वरेषु) वर पक्ष वालों में (जुष्टा) प्रिय और (समनेषु) साधु विचार वालों में (वल्गुः) मनोहर है। (अस्यै) इस [कन्या] के लिये (ओषम्) शीघ्र (पत्या) पति के साथ (सौभगम्) सुहागपन (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—यहां (अग्नि) शब्द राजा के लिये है। माता पिता आदि राजव्यवस्था के अनुसार योग्य आयु में गुणवती कन्या का विवाह गुणवान् वर से करें। जिस से वह कन्या पतिकुल में सब को प्रसन्न रक्खे और आप आनन्द से रहे। इसी आशय का राजप्रकरण में मनु महाराज ने अ० ७। १५२ में वर्णन किया है " [कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्।] कन्याओं के नियम पूर्वक दान [विवाह] का और कुमारों की रक्षा का [राजा चिन्तन करे] "।

(ओषम्) के स्थान पर सायण भाष्य में [ऊषम्] है ॥

भाषणहिंसादानेषु निरूपणे च-पचाद्यच्। सम्यग् भलते परिभाषते निरूपयति वा स सम्भलः। यथाविधि परिभाषकः यथाशास्त्रं निरूपकः। **आ+गमेत्**। द्विकर्मकः। आगत्य गमयेत् नयेत्। **इमाम्**। प्रसिद्धाम्। गुणवतीम्। **कुमारीम्**। कुमार क्रीडने-अच्। वयसि प्रथमे। पा० ४। १। २०। इति ङीप्। कन्याम्। **सह**। सहितः। **नः**। अस्मदर्थम् **भगेन**। भजनीयेन गुणेन ऐश्वर्येण। **जुष्टा**। प्रीता सेविता। **वरेषु**। वृञ् वरणे-अप्। यद्वा वर ईप्से-घञ् श्रेष्ठेषु वरयितृषु, वरपक्षीयेषु। **समनेषु**। सम्+अन जीवने-घञ्। यद्वा। सम्+आङ्+णीञ् प्रापणे-अच्। सम्यग् अनिति आनीयते वा। समानं तुल्यं साधु वा। समानस्य सभावः। मन बोधे-पचाद्यच्। साधुमननयुक्तेषु। **वल्गुः**। बलेर्गुक् च। उ० १। १९। इति बल प्राणने-उप्रत्ययः, गुक् आगमः। रुचिरा। मनोहरा। **ओषम्**। उष दाहे, बधे-घञ्। क्षिप्रम्। निघ० २। १५। **पत्या**। स्वामिना सह। **सौभगम्**। सुभग-अण्। सुभगत्वम्। **अस्यै**। कुमार्यै। अन्यद् गतम् ॥

सोमंजुष्टं ब्रह्मंजुष्टमर्य॒म्णा संभृ॑तं॒ भगम् ।
धा॒तुर्दे॒वस्य॑ स॒त्येन॑ कृणोमि पति॒वेद॑नम् ॥ २ ॥

सोम॑-जुष्टम् । ब्रह्म॑-जुष्टम् । अ॒र्य॒म्णा । सम्-भृ॑तम् । भग॑म् । धा॒तुः । दे॒वस्य॑ । स॒त्येन॑ । कृ॒णोमि । प॒ति॒-वेद॑नम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(धातुः) सब के धारण करने वाले (देवस्य) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर के (सत्येन) सत्य नियम से (सोमजुष्टम्) ऐश्वर्यवान् पुरुषों के प्रिय, (ब्रह्मजुष्टम्) ब्रह्म ज्ञानी पुरुषों से सेवित और (अर्यम्णा) श्रेष्ठों के मान करने वाले राजा से (संभृतम्) पुष्ट किये हुए (भगम्) सेवनीय वा ऐश्वर्य-युक्त (पतिवेदनम्) पत्नी [वा पति] की प्राप्ति [विवाह] (कृणोमि) मैं करता [वा करती] हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—यह गृहस्थाश्रम ईश्वरकृत नियम है । इस की रक्षा के लिये सब बड़े बड़े महात्मा प्रयत्न करते और राजा नियम बनाते हैं । उस के निर्वाह के लिये माता पिता आदि वर और कन्या को यथावत् उपदेश करें और उन का विवाह करें ॥ २ ॥

२—**सोमजुष्टम्** । अर्त्तिस्तुसुहु० । उ० १।१४० । इति षु प्रसवैश्वर्ययोः—मन् । जुषी प्रीतिसेवनयोः—क्त । ऐश्वर्यवद्भिः प्रीतम् । **ब्रह्मजुष्टम्** । बृंहेर्नोऽच्च । उ० ४ । १४६ । इति बृहि वृद्धौ—मनिन्, नस्य अकारः । ब्रह्मभिः अधीतवेदैर्ब्राह्मणैर्ब्रह्मज्ञानिभिः सेवितम् । **अर्यम्णा** । अ० १ । ११ । १ । अर्यमादित्योऽरीन् नियच्छतीति—नि०११।२३ । श्रेष्ठानां मानकर्त्रा, न्यायकारिणा राज्ञा । **सम्भृतम्** । सम्यक् पोषितं वर्धितम् । **भगम्** । पुंसि संज्ञायाम् घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति भज सेवायाम्—घ । चजोः कु घिण्ण्यतोः । पा० ७। २ । ५२ । इति जस्य गः । भजनीयम् । सेवनीयम् । ऐश्वर्ययुक्तम् । **धातुः** । सर्वस्यधारकस्य पोषकस्य । **देवस्य** । प्रकाशमयस्य परमेश्वरस्य । **सत्येन** । सते हितम्, सत्—यत् । यथार्थधर्मेण । **कृणोमि** । करोमि । **पतिवेदनम्** । विद्लृ लाभे, विद ज्ञाने—ल्युट् । वेदनम्=विवाहः । ज्ञानम । पुमान् स्त्रिया । पा०१ । २ । ६७ । इति पत्नी च पतिश्च पती तयोर्वेदनं लाभं ज्ञानं विवाहं वा ॥

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति । सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु ॥ ३ ॥

इयम् । अग्ने । नारी । पतिम् । विदेष्ट । सोमः । हि । राजा । सु-भगाम् । कृणोति । सुवाना । पुत्रान् । महिषी । भवाति । गत्वा । पतिम् । सु-भगा । वि । राजतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे ज्ञान स्वरूप परमेश्वर! (इयम्) यह (नारी) नर [अपने पति] का हित करने वाली कन्या (पतिम्) पति को (विदेष्ट) प्राप्त करे, (हि) क्योंकि (सोमः) ऐश्वर्यवान् वा चन्द्र समान आनन्द प्रद (राजा) राजा [ऐश्वर्यवान् वर] [इस को] (सुभगाम्) सौभाग्यवती (कृणोति) करता है। [यह कन्या] (पुत्रान्) कुलशोधक वा बहुरक्षक वीर पुत्रों को (सुवाना) उत्पन्न करती हुई (महिषी) पूजनीय महारानी (भवाति) होवे, और (पतिम्) पति को (गत्वा) पाकर (सुभगा) सौभाग्यवती होकर (वि) अनेक प्रकार से (राजतु) राज्य करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के अनुग्रह से यह दोनों पति और पत्नी, बड़े ऐश्वर्य वा ठाट वाले राजा और रानी के समान गृह कार्यों को चलावें और वीर पुत्र पौत्र आदिकों को उत्तम शिक्षा देते हुए सदा आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

३—**इयम्** । निर्दिष्टा गुणवती । **अग्ने** । हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर । **नारी** । अ० १ । ११ । १ नरस्य हिता । कन्या । वधूः । **पतिम्** । अ० १।१।१। रक्षकम् । यद्वा । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति पत ऐश्ये-इन् । ऐश्वर्यवन्तम् । **विदेष्ट** । विद्लृ लाभे-आशीर्लिङि छान्दसं रूपम् । वेदिषीष्ट । विन्दताम् । लभताम् । **सोमः** । अ० १ । ६। २। ऐश्वर्यवान् । चन्द्रवदानन्दप्रदः । **हि** । यस्मात् । **राजा** । अ० १ । १० । १ । ऐश्वर्यवान् । प्रतापी । **सुभगाम्** । सुष्ठु भगं यस्याः । शोभनैश्वर्यवतीम् । पतिप्रियाम् । **कृणोति** । करोति । **सुवाना** । षूङ् प्राणिगर्भविमोचने-शानच् । जनयन्ती । **पुत्रान्** । अ० १ ।

मनु महाराज ने कहा है—अ० ३ । ६० ।

संतुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ १ ॥

भार्या से भर्त्ता और भर्त्ता से भार्या, जिस कुल में संतुष्ट हो, वहां पर अवश्य ही नित्य कल्याण रहता है ॥

यथा॑खरो मघवं॒श्चारु॑रे॒ष प्रि॒यो मृ॒गाणां॑ सु॒षदा॑ ब॒भूव॑ ।
ए॒वा भग॑स्य जु॒ष्टेयम॑स्तु॒ नारी॒ संप्रि॑या॒ पत्या॒विरा॑धयन्ती ॥ ४ ॥

यथा॑ । आ॒-ख॒रः । म॒घ॒-व॒न् । चारुः॑ । ए॒षः । प्रि॒यः । मृ॒गाणा॑म् । सु॒-सदाः॑ । ब॒भूव॑ । ए॒व । भग॑स्य । जु॒ष्टा । इ॒यम् । अ॒स्तु॒ । नारी॑ । सम्-प्रि॑या । पत्या॑ । अवि॑-राधयन्ती ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे पूजनीय, वा महाधनी परमेश्वर, (यथा) जैसे (एषः) यह (चारुः) सुन्दर (आखरः) खोह वा मांद (मृगाणाम्) जंगली पशुओं का (प्रियः) प्रिय और (सुषदाः) रमणीक घर (बभूव) हुआ है [होता है], (एव =एवम्) ऐसे ही (इयम्) यह (नारी) नारी (भगस्य) ऐश्वर्यवान् [पति] की (जुष्टा) दुलारी और (संप्रिया) प्रियतमा होकर (पत्या) पति से (अविराधयन्ती) वियोग न करती हुती (अस्तु) रहे ॥ ४ ॥

---

११ । ५ । कुलशोधकान् वसुरक्षकान् वा वीरान् । **महिषी** । अ० २ । ३५ । ४ । मह पूजायाम्-टिषच् । टित्वान् ङीप् । पूजनीया । कृताभिषेका राजपत्नी । **भवाति** । भू-लेट् । भूयात् । **गत्वा** । प्राप्य । लब्ध्वा । **सुभगा** । सौभाग्ययुता । **वि** । विशेषेण । **राजतु** । ईश्वरी तेजस्विनी भवतु ॥

४—**यथा** । येन प्रकारेण । **आखरः** । आङ् पूर्वात् खनु अवदारणे-डर प्रत्ययः, डित्वाट् टिलोपः । आखन्यते, आखरः । गर्तः । बिलम् । **मघवन्** । अ० २ । ५ । ७ । हे पूजनीय । हे धनवन् परमेश्वर । **चारुः** । अ० २ । ५ १ । शोभनः । मनोज्ञः । **प्रियः** । प्री-क । हृद्यः । सुखकरः । **मृगाणाम्** । मृग

भावार्थ—जिस प्रकार आरण्यक नर नारी पशु आनन्द पूर्वक अपने बिलों में विश्राम करते हैं, इसी प्रकार मनुष्यजातीय पति पत्नी परस्पर मिल-जुल कर उपकार करते हुये सदा सुख से रहें ॥ ४ ॥

मनु भगवान ने कहा है—अ० ५। १४८।

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ १ ॥

स्त्री बालकपन में पिता के, युवावस्था में पति के, और पति के मरने पर पुत्रों के वश में रहे, स्त्री स्वतन्तता का उपभोग न करे ॥

सायणभाष्य में (मघवन्) के स्थान में [मघवान्] और (अविराधयन्ती) के स्थान में [अभिराधयन्ती=अभि वर्धयन्ती, समृद्धा भवन्ती] है ॥

भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम् ।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ५ ॥

भगस्य । नावम् । आ । रोह । पूर्णाम् । अनुप-दस्वतीम् ।
तया । उप-प्रतारय । यः । वरः । प्रति-काम्यः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे कन्या !] (भगस्य) ऐश्वर्य की (पूर्णाम्) भरी भरायी और (अनुपदस्वतीम्) अटूट (नावम्) नाव पर (आ रोह) चढ़ । और (तया) उस [नाव] से [अपने वर को] (उप-प्रतारय) आदर पूर्वक पार

अन्वेषणे-इगुपधत्वात् कः । पशूनाम् । सुषदाः । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-असुन् । सुखेन स्थातुं योग्यः । सुखस्थानः । एव । एवम् । तथा । भगस्य । ऐश्वर्यवतः पत्युः । जुष्टा । प्रीता । अस्तु । भवतु । सम्प्रिया । सम्प्रियमाणा । पत्या । भर्त्रा । अविराध्यन्ती । अ+विपूर्वात् राध वियोगे-शतृ, ङीप् । वियोगम् अकुर्वाणा । अन्यद् गतम् ॥

५—भगस्य । भजनीयस्य । ऐश्वर्यस्य । नावम् । ग्लानुदिभ्यां डौः । उ० २। ६४ । इति णुद प्रेरणे-डौ । नुद्यते जले सा नौः । समुद्रादिसन्तरणार्थयानविशेषम् । पोतम् । समुद्रयानम् । गृहस्थाश्रमरूपम् । आरोह । अधितिष्ठ आरूढा भव । पूर्णाम् । पॄ पूर वा पूर्त्तौ-क्त, तस्य नः । पूरिताम् । कृतपूरणाम् ।

लगा, (यः) जो (वरः) वर (प्रति-काम्यः) प्रतिज्ञा करके चाहने [प्रीति करने] योग्य है ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में गृहपत्नी की भारी उत्तरदातृता [ज़िम्मेदारी] का वर्णन है। जैसे नाविक खान पान आदि आवश्यक सामग्री से लदी लदायी और बड़ी दृढ़ नौका से जल यात्रियों को समुद्र से पार लगाता है, वैसे ही गृहपत्नी अपने घर को धन धान्य आदि ऐश्वर्य से भर पूर और दृढ़ रक्खे और पति को नियम बांधकर पूरे प्रेम से प्रसन्न रखकर गृहस्थाश्रम से पार लगावे ॥ ५ ॥

आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु ।
सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ६ ॥

आ । क्रन्दय । धन-पते । वरम् । आ-मनसम् । कृणु ।
सर्वम् । प्र-दक्षिणम् । कृणु । यः । वरः । प्रति-काम्यः ॥६॥

भाषार्थ—(धनपते) हे धनों की रक्षा करने वाली [कन्या !] (वरम्) वर को (आ) आदर पूर्वक (क्रन्दय) बुला, और (आमनसम्) अपने मन के अनुकूल (कृणु) कर। [उस वर को] (सर्वम्) सर्वथा (प्रदक्षिणम्) अपनी दाहिनी ओर (कृणु) कर, (यः) जो (वरः) वर (प्रतिकाम्यः) नियम कर के चाहने योग्य है ॥ ६ ॥

अनुपदस्वतीम् । अनु+उप+दसु उपक्षये-क्विप्। मतुप्, मस्य वः । अखण्डिताम् । अक्षीणाम् । **तया** । नावा । **उपप्रतारय** । उप पूजया शक्त्या वा पारय । **यः** । पूर्वोक्तः । **वरः** । ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति वृञ् वरणे-अप् । वरणीयः । श्रेष्ठः पतिः । जामाता **प्रतिकाम्यः** । कमु स्पृहि-णिच्, कर्मणि यत् प्रति निश्चयेन प्रतिज्ञया कमनीयः कामनायोग्यः ॥

६—**आ क्रन्दय** । क्रदि आह्वाने । आदरेण आह्वय । **धनपते** । हे धनरक्षिके पत्नि । **वरम्** । वरणीयं पतिम् । **आमनसम्** । मन बोधे-असुन् । अभिमुखमनस्कम् । अनुकूलचित्तम् । **कृणु** । कुरु । **सर्वम्** । सर्वथा । **प्रदक्षिणम्** । द्रुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । इति दक्ष-ङ् शीघ्रकरणे, वृद्धौ-इनन् । प्रगता दक्षिणा प्रतिष्ठा यस्य तम् । प्रतिष्ठायुक्तम् । प्रवृद्धम् । समर्थम् । प्रतिष्ठापूर्वकं स्वदक्षिणहस्तस्थितम् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

भावार्थ—पत्नी धनों की रक्षा करती है, वह पति को आदर पूर्वक बुलावे और उस की प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता जाने, और सदा उसे अपनी दाहिनी ओर रक्खे, अर्थात् जैसे दाहिना हाथ बायें हाथ की अपेक्षा अधिक सहायक होता है, इसी प्रकार पत्नी अपने पति को सब से अधिक अपना हितकारी जानकर सदा प्रीति से सत्कार मान करती रहे। इसी विधि से पति भी पत्नी को अपना हितकारी जाने, और उस के साथ प्रीति और प्रतिष्ठा के साथ बर्ताव रक्खे ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१—विवाह संस्कार में बर का आसन बधू के दाहिने हाथ को किया जाता है ॥

२—मन्त्र ५ और ६ का आशय मनु महाराज इस प्रकार कहते हैं—अ० ५। १५०॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १ ॥

स्त्री घर के कामों में प्रसन्नचित्त और चतुर होवे, घर की सामग्री, बासन, वस्त्र आदि को संभाल कर रक्खे, और व्यय करने में हाथ संकोचे रक्खे ॥

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥

इदम्। हिरण्यम्। गुल्गुलु। अयम्। औक्षः। अथो इति। भगः। एते। पति-भ्यः। त्वाम्। अदुः। प्रति-कामाय। वेत्तवे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (हिरण्यम्) सुवर्ण और (गुल्गुलु) गुल्गुले [गुड़ का पका भोजन] (अथो) और (अयम्) यह (औक्षः) महात्माओं के योग्य [वा ऋषभ

७—इदम्। वराय दातव्यम्। हिरण्यम्। अ० १। ६। २। हृञ् हरणे, यद्वा, हर्य गतिकान्त्योः-कन्यन्, हिरादेशश्च। हिरण्यं कस्माद्ध्रियत आयम्यमानमिति वा ह्रियते जनाज्जनमिति वा हितरमणं भवतीति वा हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः—निरु० २। १०। सुवर्णम्। गुल्गुलु। कादिभ्यः कित्। उ० १। ११५।

औषध सम्बन्धी] (भगः) ऐश्वर्य है [और हे कन्या !] (एते) इन कन्या के पक्ष वालों ने (पतिभ्यः) पति पक्ष वालों के हितार्थ (त्वाम्) तुझे (प्रतिकामाय) प्रतिज्ञा पूर्वक कामना योग्य [पति] के लिये (वेत्तवे) लाभ पहुंचाने को (अदुः) दिया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—कन्या के माता पिता आदि कन्या और वर को विवाह के उपरान्त दाय अर्थात् यौतुक [दैजा, जहेज़] में सुन्दर अलंकार, वस्त्र भोजन पदार्थ वाहन, गौ, धन आदि देवें, और कन्या को पति सेवा की यथा योग्य शिक्षा करें जिस से पति पत्नी मिलकर सदा आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

(गुल्गुलु) पद के स्थान पर सायणभाष्य में [गुग्गुलु] पद है ॥

आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः ।
त्वमस्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

आ । ते । नयतु । सविता । नयतु । पतिः । यः । प्रति-काम्यः । त्वम् । अस्यै । धेहि । ओषधे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे कन्ये] (सविता) सर्व प्रेरक, सर्व जनक परमेश्वर (ते) तेरे लिये [उस पति को] (आ नयतु) मर्यादा पूर्वक चलावे, और (नयतु)

इति गुङ् अव्यक्तशब्दे-ड प्रत्ययः, इति गुडः । अकारलोपः । यद्वा गुड वेष्टे, रक्षे-क्विप्, ततो गुड-कु । डलयोरैक्याड् डस्य लत्वम् । गुड एव गुलः । गुडेन इक्षुपाकेन गुडितं वेष्टितं रक्षितं वा गुल्गुलु भोज्यम् । "गुलगुला"-इतिभाषा । **अथो** । अपि च । **औक्षः** । श्वनुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति उक्ष सेचने-कनिन् । यद्वा, उक्ष-क । उक्षाः, महन्नाम-निघ० ३ । ३ । उक्षा उक्षतेर्वृद्धिकर्मण उक्षन्त्युदकेन वा-निरु० १२ । ६ । उक्षा ऋषभौषधिः-श० क० द्रु० । ततः, अण् प्रत्ययः । महतां योग्यः । ऋषभौषधिसंबन्धी । प्रलेपनद्रव्यम्-इति सायणः । **भगः** । भज-घञ् सेवनीयम् । ऐश्वर्यम् । **एते** । कन्यापक्षीयाः । **पतिभ्यः** । वरपक्षीयेभ्यः । तेषां हिताय । **त्वाम्** । कन्याम् । **अदुः** । दाञो लुङ् । दत्तवन्तः । **प्रतिकामाय** । प्रतिज्ञापूर्वकं कामनायोग्याय वराय । **वेत्तवे** । तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ६ । इति विद्लृ लाभे-तवे प्रत्ययः । वेत्तुम् । लब्धुम् ॥

८—**आ** । समन्तात् । अनुकूलम् । **ते** । तुभ्यम् । **नयतु** । णीञ् नयने । प्रेरयतु । नायकं करोतु । **सविता** । अ० १ । १८ । २ । सर्वप्रेरकः । सर्वो पादकः

नायक बनावे, (यः पतिः) जो पति (प्रतिकाम्यः) प्रतिज्ञा पूर्वक चाहने योग्य है। (ओषधे) हे ताप नाशक परमेश्वर ! (त्वम्) तू (अस्यै) इस [कन्या] के लिये [उस पति को] (धेहि) पुष्ट रख ॥ ८ ॥

भावार्थ—यह आशीर्वाद का मन्त्र है। पति और पत्नी उस सर्वनियन्ता परमेश्वर का सदा ध्यान करते हुये परस्पर हार्दिक प्रीति रखकर वेदोक्त मर्यादा पर चलें, जिस से वे दोनों प्रधान पुरुष और प्रधान स्त्री होकर संसार में कीर्त्तिमान् होवें, और अन्न आदि ओषधि के समान सुखदायक होकर सदा हृष्ट पुष्ट बने रहें ॥ ८ ॥

यजुर्वेद का बचन है-अ० ४० म० २।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत्ꣳ समाः ॥

मनुष्य (इह) यहां (कर्माणि) वेदोक्त कर्मों को (कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (शतम्) सौ (समाः) वर्ष तक (जिजीविषेत्) जीवन की इच्छा करे ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति द्वितीयं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्री **सयाजीरावगायकवाड़ा**-धिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक् सामाथर्ववेद-भाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित **क्षेमकरणदास त्रिवेदिना** कृते अथर्ववेदभाष्ये द्वितीयं काण्डं समाप्तम्।

इदं काण्डं प्रयागनगरे वैशाखमासे अक्षयायाम् [शुक्लतृतीयायाम्] १९७० तमे विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि-

श्री राजराजेश्वर जार्ज पञ्चम-

महोदयस्य सुसाम्राज्ये

सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—भाद्रकृष्ण जन्माष्टमी संवत् १९७० ता० २५ अगस्त १९१३ ॥

परमेश्वरः । **पतिः** । म० ३ । ऐश्वर्यवान् । भर्त्ता । **प्रतिकाम्यः** । म० ५ । प्रतिज्ञया कमनीयः । **अस्यै** । वधूहितार्थम् । **धेहि** । डुधाञ् धारणपोषणयोः-लोट् । धारय । पोषय । वर्धय । **ओषधे** । अ० १ । २३ । १ । हे तापभक्षक परमेश्वर ॥ —:o:—

श्रीयुत पं० **शिवशङ्कर जी** काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्त्ता, वेदाध्यापक काङ्गड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि संपादक आर्यमित्र ८ फ़र्वरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य। श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।...आप बहुत दिनों तक सर्कारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ोदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य।

श्रीयुत पण्डित **भीमसेन शर्मा**—उपनिषद् गीतादिभाष्यकर्त्ता, वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा फ़र्वरी १९१३॥

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरण दास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में..... अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है और अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है, तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है॥

श्रीयुत पण्डित **महावीरप्रसाद द्विवेदी**—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़र्वरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्यम्—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और परिश्रम का यह फल है। आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मंत्र, पदपाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलङ्कृत किया है...आप की राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद भाष्य के ढंग का है॥

श्रीयुत पण्डित **गणेशप्रसाद शर्मा**—सम्पादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्त्ति का आरम्भ हो गया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थ युक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये भाष्यार्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है...वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझकर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उस से कार्य्य लिया जा सकता है॥

बाबू कालिका प्रसाद जी सिल्कमर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी, पत्र संख्या ५८६ ता० २७-३-१३।

आप का भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर साहाय्य करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें।.. आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ अपनी समाधि लगा कर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अंक छपें मेरे पास भेज देना॥

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), Baroda State, letter No. 624 dated 6th February, 1913.

......It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम् at Rs. 1-4-0 per copy. It has been sanctioned for the use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address label "For Encouragement Fund."

हवनमन्त्राः—सम्मतियां।

पण्डित **शिवशङ्कर शर्मा** काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार—पंजाब आर्य प्रतिनिधिसभोपदेशक, इत्यादि, सम्पादक आर्यमित्र, आगरा ८ फ़रवरी १९१३। ....आर्य पुरुष हवनकाल में जिन मन्त्रों को पढ़ते हैं उन का सरल भाषा में अर्थ उक्त त्रिवेदी जी ने किया है। प्रत्येक पद का पृथक् पृथक् अर्थ इस में किया गया है। अर्थ के ज्ञान बिना केवल मन्त्र पढ़ने से लाभ नहीं होता। अतः प्रत्येक आर्य को ऐसा ग्रन्थ अवश्य ख़रीदना चाहिये॥

सद्धर्म प्रचारक—गुरुकुल कांगड़ी, १७ फाल्गुण सं० १९६८·· आज कल लोग हवनमन्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते। उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवा कर पढ़नी चाहिये।

अभ्युदय, प्रयाग—ता० २८ अप्रैल १९१२......इस में ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण और हवन मन्त्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा में अनुवादित किये हैं।...पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है।

वे॰ प्रकाश, मेरठ—मई १९१२।...इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषा में अब तक नहीं था, इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है।

महाशय **खुशीराम जी** गवर्नमेंट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८। —आप ने हवन मन्त्रों का भाषानुवाद करके बड़ा उपकार किया है। आप मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लेवें, जब प्रकाशित हो रुद्राध्याय भाषा अङ्गरेज़ी अनुवाद सहित वी० पी० द्वारा भेज देवें।

रुद्राध्यायः—मूल मात्र, बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य)॥

मिलने का पता—**पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी**

२१ अगस्त १९१३। } ,, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)।

All rights reserved.

ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करो देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

तृतीयं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद–भावार्थादि सहितं
संस्कृते व्याकरण–निरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्रीरवीर चिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बडोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन
श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना
निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to everyone who sees, to
Súdra and to Aryanman.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः पण्डित काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

सर्वाधिकारः स्वाधीन एव रक्षितः ।

प्रथमावृत्तौ १००० पुस्तकानि } संवत् १९७१ वि० सन् १९१४ ई० { मूल्यम् १॥-)

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ३ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	अग्निर्नः शत्रून्	अग्नि आदि	युद्ध विद्या	त्रिष्टुप् आदि
२	अग्निर्नो दूतः	अग्नि आदि	सेनापति कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
३	अचिक्रदत् स्वपा	इन्द्र	राजा,प्रजा का धर्म	त्रिष्टुप् आदि
४	आ त्वा गन् राष्ट्रं	इन्द्र	राज तिलक	त्रिष्टुप् ।
५	आयमगन् पर्णं	पर्ण मणि	तेज, बल, धन	त्रिष्टुप् आदि
६	पुमान् पुंसः परि	अश्वत्थ	उत्साह बढ़ाना	अनुष्टुप् ।
७	हरिणस्य रघुष्यदो	हरिण आदि	रोग नाश	अनुष्टुप ।
८	आ यातु मित्र	प्रजापति	प्रीति उत्पन्न करना	त्रिष्टुप् आदि
९	कर्शफस्य विशफस्य	प्रजापति	विघ्न शान्ति	अनुष्टुप् ।
१०	प्रथमा ह व्युवास सा	रात्रि	पुष्टि बढ़ाना	अनुष्टुप् आदि
११	मुञ्चामि त्वा हविषा	राजयक्ष्मघ्न	रोग नाश	त्रिष्टुप् आदि
१२	इहैव ध्रुवां नि मिनोमि	शाला	शाला निर्माण	त्रिष्टुप् आदि
१३	यदृदः संप्रयति	आपः	जल के गुण	अनुष्टुप् आदि
१४	सं वो गोष्ठेन	गावः	गोरक्षा	अनुष्टुप् आदि
१५	इन्द्रमहं वणिजं	इन्द्र	व्यापार लाभ	त्रिष्टुप् आदि
१६	प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं	भग उषा आदि	प्रभाती गीत	त्रिष्टुप् आदि
१७	सीरा युञ्जन्ति	कृषीबल	खेती विद्या	त्रिष्टुप् आदि
१८	इमां खनाम्योषधिं	सपत्नी बाधन	अविद्या नाश	अनुष्टुप् आदि
१९	संशित म इदं ब्रह्म	पुरोहित	युद्ध विद्या	अनुष्टुप् आदि
२०	अयं ते योनिर्	अग्नि आदि	ब्रह्म विद्या	अनुष्टुप् आदि
२१	ये अग्नयो अप्स्व	अग्नि आदि	परमेश्वर गुण	त्रिष्टुप् आदि
२२	हस्तिवर्चसं प्रथतां	विश्वे देवाः	कीर्ति पाना	त्रिष्टुप् आदि
२३	येन वेहद् बभूविथ	माता	बीर सन्तान	अनुष्टुप् आदि
२४	पयस्वतीरोषधयः	प्रजापति	धान्य बढ़ाना	अनुष्टुप् आदि
२५	उत्तुदस्त्वोत् तुदतु	काम	अविद्या नाश	अनुष्टुप् ।
२६	ये ३ स्यां स्थ प्राच्यां	मन्त्रोक्त	मारू गीत	जगती वा त्रिष्टुप्
२७	प्राची दिगग्निरधिपति	मन्त्रोक्त	सेना का व्यूह	त्रिष्टुप् आदि
२८	एकैकयैषा सृष्ट्या।	यमिनी	उत्तम नियम	जगती आदि
२९	यद् राजानो विभज	अवि	परमेश्वर भक्ति	अनुष्टुप् आदि
३०	सहृदयं सांमनस्यं	प्रजापति	परस्पर मेल	अनुष्टुप् आदि
३१	वि देवा जरसावृतन्	प्रजापति	आयु बढ़ाना	अनुष्टुप् आदि

२—अथर्ववेद, काण्ड ३ के मन्त्र अन्य वेदोंमें सम्पूर्ण या कुछ भेद से।

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड ३) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मंडल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद, उत्तरार्चिक, प्रपाठक, मन्त्र
१	अमीषां चित्तानि	२। ५	१०। १०३। १२	१७। ४४	उ० ६।३।५
२	असौ या सेना मरुतः	२। ६		१७। ४७	
३	सा नः पयस्वती	१०। १	४। ५७। ७		
४	पूर्णा दर्वे परापत	१०। ७		३। ४९	
५-८	मुञ्चामि त्वा हविषा	११। १-४	१०। १६१। १-४		
९	इध्मेनाग्न इच्छमानो	१५। ३	३। १८। ३		
१०	इमामग्ने शरणिं	१५। ४	१। ३१। १६		
११-१७	प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं	१६। १-७	७। ४१। १-७	३४। ३४-४०	
१८	सीरा युञ्जन्ति	१७। १	१०। १०१। ४	१२। ६७	
१९	युनक्त सीरा वि	१७। २	१०। १०१। ३	१२। ६८	
२०	लाङ्गलं पवीरवत	१७। ३		१२। ७१	
२१	इन्द्रः सीतां नि	१७। ४	४। ५७। ४		
२२	शुनं सुफाला वि	१७। ५	४। ५७। ८	१२। ६९	
२३-२५	शुनं वाहा शुनं नरः	१७। ६-८	४। ५७। ४-६		
२६	घृतेन सीता मधुना	१७। ९		१२। ७०	
२७-३२	इमां खनाम्योषधिं	१८। १-६	१०। १४५। १-६		
३३	उद्धर्षन्तां मघवन्	१९। ६	१०। १०३। १०	१७। ४२	
३४	प्रेता जयता नर	१९। ७	१०। १०३। १३	१७। ४६	
३५	अवसृष्टा परा पत	१९। ८	६। ७५। १६	१७। ४५	
३६	अयं ते योनिर	२०। १	३। २९। १०	३।१४॥१२।५२	
३७-३८	अग्ने अच्छा वदेह नः	२०। २-३	१०। १४१। १-२	९। २८,२९	
३९	सोमं राजानमवसे	२०। ४	१०। १४१। ३	९। २६	
४०	त्वं नो अग्ने अग्निभिर्	२०। ५	१०। १४१। ६		
४१	इन्द्रवायू उभाविह	२०। ६	१०। १४१। ४	३३। ८६	
४२	अर्यमणं बृहस्पति	२०। ७	१०। १४१। ५	९। २७	
४३	वाजस्य नु प्रसवे	२०। ८		१९।२५,२४	
४४	क इदं कस्मा अदात्	२९। ७		७। ४८	
४५	त्वष्टा दुहित्रे वहतुं	३१। ५	१०। १७। १०		

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

तृतीयं काण्डम्

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

१—६ ॥ १ अग्निः, २ मरुतः, ३—६ इन्द्रश्च देवताः। १, २, ४ त्रिष्टुप्; ३, ६ अनुष्टुप्; ५ स्वराड् गायत्री ॥

युद्धविद्योपदेशः—युद्ध विद्या का उपदेश ॥

अ॒ग्निर्नः॒ शत्रू॒न् प्रत्ये॑तु वि॒द्वान् प्र॑ति॒दह॑न्न॒भिश॑स्ति॒मरा॑तिम्। स सेनां॑ मोहयतु॒ परे॑षां॒ निर्ह॑स्तांश्च कृणव॒ज्जा॒तवे॑दाः ॥ १ ॥

अ॒ग्निः। नः॒। शत्रू॑न्। प्रति॑। ए॒तु॒। वि॒द्वान्। प्र॒ति॒-दह॑न्। अ॒भि-श॑स्तिम्। अरा॑तिम् ॥ सः। सेना॑म्। मो॒हय॑तु। परे॑षाम्। निः-ह॑स्तान्। च॒। कृ॒णव॑त्। जा॒त-वे॑दाः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि [के समान तेजस्वी] (विद्वान्) विद्वान् राजा (अभिशस्तिम्) मिथ्या अपवाद और (अरातिम्) शत्रुता को (प्रति-

---

१—शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—अग्निः। अ० १। ६। २। अङ्गति गच्छति जानाति व्याप्नोतीति वा। विद्वान्। अग्निवत्तेजस्वी। अग्निशब्दो

दहन्) सर्वथा भस्म करता हुआ, (नः) हमारे (शत्रून्) शत्रुओं पर (प्रति, एतु) चढ़ाई करे। (सः) वह (जातवेदाः) प्रजाओं का जानने वाला वा बहुत धनवाला राजा (परेषाम्) शत्रुओं की (सेनाम्) सेना को (मोहयतु) व्याकुल कर देवे, (च) और [उन वैरियों को] (निर्हस्तान्) निहत्था (कृणवत्) कर डाले ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रजा में अपकीर्ति और अशान्ति फैलावें, विद्वान् अर्थात् नीतिनिपुण राजा ऐसे दुष्टों और उनके साथियों को यथावत् दण्ड देवे, जिससे वे लोग निर्बल होकर उपद्रव न मचा सकें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से सूक्त २ में मन्त्र १ है।

यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम्। अमीमृणन् वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥ २ ॥

यूयम् । **उग्राः** । **मरुतः** । **ईदृशे** । **स्थ** । **अभि** । **प्र** । **इत** । **मृणत** । **सहध्वम्** ॥ **अमीमृणन्** । **वसवः** । **नाथिताः** । **इमे** ।

भगवता यास्केन बहुधा व्याख्यातः—निरु० ७।१४। **नः** । अस्माकम्। **शत्रून्** । अ० २। ५। ३। शातयितॄन्। द्वेष्यान्। **प्रत्येतु** । प्रतिमुखं गच्छतु। **विद्वान्** । अ० २। १। २। विद ज्ञाने-शतृ, वसुरादेशः। जयोपायं जानन्। **प्रतिदहन्** । प्रातिकूल्येन भस्मीकुर्वन्। **अभिशस्तिम्** । शसु हिंसायाम्-क्तिन्। मिथ्यापवादम्। **अरातिम्** । शत्रुताम्। **सः** । राजा। **सेनाम्** । कृवृजॄसिद्रु०। उ० ।३।१०। इति षिञ् बन्धने-न। सेना सेश्वरा समानगतिर्वा निरु० २।११। सिनोति बध्नाति व्यूहं युद्धार्थम्। सैन्यम्। **मोहयतु** । व्याकुलां करोतु। **परेषाम्** । शत्रूणाम्। **निर्हस्तान्** । हस्तव्यापारशून्यान्। आयुधग्रहणासमर्थान्। **कृणवत्** । कृवि हिंसाकरणयोः—लिङर्थे लेट्। अडागमः। कुर्यात्। **जातवेदाः** । अ० १। ७। २। जातप्रज्ञानः। जातधनः॥

अग्निः । हि । एषाम् । दूतः । प्रति-एतु । विद्वान् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे शत्रुघातक शूरो ! (यूयम्) तुम (ईदृशे) ऐसे [कर्म, संग्राम] में (उग्राः) तीव्रस्वभाव (स्थ) हो। (अभि, प्र, इत) आगे बढ़ो, (मृणत) मारो, और (सहध्वम्) जीत लो। (इमे) इन (नाथिताः) प्रार्थना किये हुये (वसवः) श्रेष्ठ पुरुषों [मरुत् गणों] ने [दुष्टों को] (अमीमृणन्) मरवा डाला है। (एषाम्) इन शत्रुओं का (दूतः) दाहकारी (अग्निः) अग्नि [समान] (विद्वान्) विद्वान् राजा (हि) अवश्य करके (प्रत्येतु) चढ़ाई करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जो शूरवीर संग्रामविजयी हों, और जो वैरियों के नाश करने में सहायक रहे हों, उन वीरों को अग्रगामी करें और उन का उत्साह बढ़ाते रहें, और राजा विजयी सेनापतियों की पुष्टि करता हुआ शत्रुओं पर चढ़ाई करे ॥ २ ॥

टिप्पणी—(मरुतः) देवताओं के लिये अ० १ । २० । १ देखिये ॥

अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि ।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ॥ ३ ॥

२—**उग्राः** । उत्कटाः । **मरुतः** । अ० १ । २० । १ । मारयन्ति शत्रून् दोषान् वा । शत्रुनाशकाः शूराः । **ईदृशे** । इदम्+दृशिर् प्रेक्षे-कञ् । एतत्सदृशे कर्मणि संग्राम-लक्षणे । **स्थ** । भवथ । **अभि** । आभिमुख्येन । **प्र इत** । इण् गतौ । प्रकर्षेण गच्छत । **मृणत** । मृण हिंसायाम् । मारयत । **सहध्वम्** । अभिभवत । **अमीमृणन्** । मृणतेर्पर्यन्ताच्छान्दसे लुङि चङि । उर्ऋत् । नित्यं छन्दसि । पा० ७ । ४ । ७,८ । इति ऋदादेशः । नाशितवन्तः । **वसवः** । अ० १ । ६ । १ । प्रशस्ता देवाः । **नाथिताः** । नाथ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु-क्त । प्रार्थिताः सन्तः । **इमे** । प्रशंसिताः **अग्निः** । ज्ञानवान् तेजस्वी वा राजा **हि** । अवश्यम् । **एषाम्** । उपस्थितानां शत्रूणाम् । **दूतः** । अ० १ । ७ । ६ । टुदु उपतापे-क्त, दीर्घश्च । दुनोत्युपतापयतीति । संतापकः । **प्रत्येतु** । प्रतिगच्छतु । **विद्वान्** । नीतिकुशलः ॥

अमित्र-सेनाम् । मघ-वन् । अस्मान् । शत्रु-यतीम् । अभि ॥
युवम् । तान् । इन्द्र । वृत्र-हन् । अग्निः । च । दहतम् । प्रति ॥३॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे धनवान्, (वृत्रहन्) अन्धकार वा शत्रुओं के नाश करने वाले, (इन्द्र) सूर्य [समान तेजस्वी] (च) और (अग्निः) हे अग्नि [समान शत्रुदाहक] ! (युवम्) तुम दोनों (अस्मान्) हम पर (शत्रूयतीम्) शत्रुओं के समान आचरण करती हुई (अमित्रसेनाम्) वैरियों की सेना को (अभि=अभिभूय) हराकर (तान्) चोरों वा म्लेच्छों को (प्रति,दहतम्) जला डालो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अन्धकार का नाश करके और अग्नि अशुद्धतादि दुर्गुणों को जलाकर हटाते और अनेक प्रकार से उपयोगी होते हैं, ऐसे ही धनी और प्रतापी राजा कुमार्गियों को मिटाकर उपकारी होवें ॥ ३ ॥

प्रसू॑त इन्द्र प्रवता हरि॑भ्यां प्र ते॒ वज्रः॑ प्रमृणन्नेतु शत्रू॑न् । जहि प्रतीचो॑ अनूचः पराचो॒ विष्व॑क् सत्यं कृ॑णुहि चित्तमे॑षाम् ॥ ४ ॥

प्र-सू॑तः । इन्द्र । प्र-वता । हरि॑-भ्याम् । प्र । ते॒ । वज्रः॑ । प्र-मृणन् । एतु । शत्रू॑न् ॥ जहि । प्रतीचः॑ । अनूचः॑ । परा॑चः ।

३—अमित्रसेनाम्। अमित्रशब्दो व्याख्यातः—अ०२।२८।३। अम पीडने इत्रच्। पीडकसेनाम्। मघवन्। हे धनवन्। अस्मान्। प्रजागणान्। शत्रूयतीम्। उपमानादाचारे। पा०३।१।१०। इति शत्रु—क्यच्। अकृत्सार्वधातुकयोः। पा० ७।४।२५। इति दीर्घः। तदन्तात् शतरि। उगितश्च। पा० ४।१।६। इति ङीप्। शतुरनुमो०। पा०६।१।१७३। इति ङीप उदात्तत्वम्। शत्रूनिव आचरन्तीम्। अभि। अभिभूय। युवम्। युवाम्। तान्। तर्द हिंसे—ड। तर्दति हिनस्तीति तः। चोरान्। म्लेच्छान्। इन्द्र। सूर्यवत्प्रतापिन्। वृत्रहन्। अ० १।२१।१। हे अन्धकारनाशक। शत्रुघातक। अग्निः। हे अग्निवद् दाहक। च। समुच्चये। दहतम्। भस्मीकुरुतम्। प्रति। प्रातिकूल्येन ॥

विष्वंक् । सुत्यम् । कृणुहि । चित्तम् । एषाम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन्! (प्रवता) उत्तम गति वा मार्ग से (हरिभ्याम्) स्वीकरण और प्रापण [ग्रहण और दान] के साथ (ते) तेरा (प्रसूतः) चलाया हुआ (वज्रः) वज्र अर्थात् दण्ड (शत्रून्) शत्रुओं को (प्रमृणन्) पीड़ा देता हुआ (प्र, एतु) आगे चले। (प्रतीचः) सन्मुख आते हुए, (अनूचः) पीछे से आते हुये और (पराचः) तिरस्कार करके चलते हुये [शत्रुओं] को (जहि) नाश करदे, और (एषाम्) इन [शत्रुओं] के (चित्तम्) चित्त को (विष्वक्) सब प्रकार (सत्यम्) सत्पुरुषों का हितकारी (कृणु) बना दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—नीतिज्ञ राजा प्रजा और शत्रुओं से कर लेकर उन के हित कार्य में लगावे, जिस से सब बाहिरी और भीतरी शत्रु लोग नष्ट होकर दबे रहें और श्रेष्ठों का पालन किया करें ॥ ४ ॥

४—**प्रसूतः** । षू प्रेरणे-क्त । प्रेरितः । प्रवर्त्तितः । **इन्द्र** । हे प्रतापिन् राजन्! **प्रवता** । उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे । पा० ५ । १ । ११८ । इति उपसर्गात् साधने धात्वर्थे वर्त्तमानात् स्वार्थे वतिः प्रत्ययः । प्रवत उद्वतो निवत इत्यवतिर्गतिकर्मा—निरु० १० । २० । प्रकृष्टगत्या मार्गेण, प्रावनेन वा । **हरिभ्याम्** । हृपिषिरुहि० । उ० ४ । ११९ । इति हृञ् हरणे-इन् । हरणं स्वीकारः प्रापणं स्तेयं नाशनं च । हरिः स्वीकारो ग्रहणं, प्रापणं दानं च ताभ्यां ग्रहणदानाभ्याम् । **ते** । तव । **वज्रः** । दण्डरूपः । **प्रमृणन्** । प्रकर्षेण हिंसन्, **प्र, एतु** । प्रगच्छतु । **शत्रून्** । अरातीन् । **जहि** । हन बधगत्योः । विनाशय । **प्रतीचः** । ऋत्विग्दधृक्० । पा० ३ । २ । ५९ । इति प्रति+अञ्चतेः क्विन् अनिदिताम्० । पा० ६ । ४ । २४ । इति न लोपः । शसि । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । इत्यलोपे । चौ । पा० ६ । ३ । १३८ । इति दीर्घः । प्रतिमुखमागच्छतः शत्रून् । **अनूचः** । अनु+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । पूर्ववत् सिद्धिः । अनु पश्चाद् आगच्छतः । **पराचः** । परा+अञ्चु-क्विन् । पूर्ववत् सिद्धिः । परा तिरस्कृत्य पराङ्मुखं वा गच्छतः । **विष्वक्** । विषु+अञ्चु—क्विन् । सर्वतः । **सत्यम्** । सद्भ्यो हितम् । **कृणुहि** । उतश्च प्रत्ययाच्छन्दसि वा वचनम् । वा० पा० ६ । ४ । १०६ । इति हेरलुक् । कृणु, कुरु । **चित्तम्** । अन्तःकरणम् **एषाम्** । शत्रूणाम् ॥

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय ॥५॥

इन्द्र । सेनाम् । मोहय । अमित्राणाम् ॥ अग्नेः । वातस्य । ध्राज्या । तान् । विषूचः । वि । नाशय ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (सेनाम्) सेना को (मोहय) व्याकुल करदे । (अग्नेः) अग्नि के और (वातस्य) पवन के (ध्राज्या) झोके से (विषूचः) सब ओर फिरने वाले (तान्) चोरों को (वि,नाशय) नाश कर डाल ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा अपनी सेना के बल से शत्रु सेना को जीते और जैसे दावानल वन को भस्म करता और प्रचंड वायु वृक्षादि को गिरा देता है, वैसे ही विघ्नकारी वैरियों को मिटाता रहे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा अ० ३ । २ । ३ । में आया है ।

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा ।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

इन्द्रः । सेनाम् । मोहयतु । मरुतः । घ्नन्तु । ओजसा ॥ चक्षूंषि । अग्निः । आ । दत्ताम् । पुनः । एतु । परा-जिता ॥६॥

५—**इन्द्र** । हे परमैश्वर्य राजन् । **सेनाम्** । चमूम् । पृतनाम् । **मोहय** । मूढां कुरु । **अमित्राणाम्** । म० ३ । पीड़कानां शत्रूणाम् । **अग्नेः** । पावकस्य । **वातस्य** । पवनस्य । **ध्राज्या** । वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति ध्रज गतौ-इञ् । वेगगत्या । **तान्** । म० ३ । चोरान् । **विषूचः** । विषु+अञ्चु-क्विन् । जसि (प्रतीचः) इति शब्दवत् सिद्धिः—म० ४ । सर्वतः गतान् । **वि,नाशय** । विध्वंसय ॥

भाषार्थ— (इन्द्रः) प्रतापी सूर्य (सेनाम्) [शत्रु] सेनाको (मोहयतु) व्याकुल करदे। (मरुतः) दोष नाशक पवन के झोके (ओजसा) बल से (घ्नन्तु) नाश करदें। (अग्निः) अग्नि (चक्षूंषि) नेत्रों को (आ, दत्ताम्) निकाल लेवे। [जिससे] (पराजिता) हारी हुई सेना (पुनः) पीछे (एतु) चली जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—युद्धकुशल सेनापति राजा अपना सेना का व्यूह ऐसा करे जिससे उसकी सेना सूर्य, वायु और अग्नि वा बिजुली और जल के प्रयोग वाले अस्त्र, शस्त्र, विमान, रथ, नौकादि के बल से शत्रु सेना को नेत्रादि से अंग भंग करके सर्वथा हराकर भगा दे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २ ॥

१—६ ॥ १—२ अग्निः, ३—४ इन्द्रः, ५ अप्वा । ६ मरुतो देवताः । १, ५, ६ त्रिष्टुप्, २—४ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिकृत्यमुपदिश्यते । सेनापति के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अ॒ग्निर्नो॑ दू॒तः प्र॒त्ये॒तु वि॒द्वान् प्र॑ति॒दह॑न्न॒भिश॑स्ति॒मरा॑तिम् । स चि॒त्तानि॑ मोहयतु॒ परे॑षां॒ निर्ह॑स्तांश्च कृणव॒ज्जा॒तवे॑दाः ॥ १ ॥

अ॒ग्निः । नः॒ । दू॒तः । प्र॒ति॒-ए॒तु॒ । वि॒द्वान् । प्र॒ति॒-दह॑न् । अ॒भि-श॑स्तिम् । अरा॑तिम् ॥ सः । चि॒त्तानि॑ । मो॒ह॒य॒तु॒ । परे॑षाम् । निः-ह॑स्तान् । च॒ । कृ॒ण॒व॒त् । जा॒त-वे॑दाः ॥ १ ॥

६—इन्द्रः । प्रतापी सूर्यः । मरुतः । दोषनाशका वायुवेगाः । घ्नन्तु । हन-लोट् । नाशयन्तु । ओजसा । शस्त्रास्त्रादीनां बलेन । चक्षूंषि । अक्षीणि । नेत्राणि । अग्निः । अग्निप्रयोगः । आ, दत्ताम् । अपहरतु । पुनः । पश्चात् । निवर्त्य । एतु गच्छतु । पराजिता । पराभूता सती । अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च ॥

भाषार्थ-(अग्निः) अग्नि [के समान तेजस्वी] (दूतः) अग्रगामी वा तापकारी (विद्वान्) विद्वान् राजा (नः) हमारे लिये (अभिशस्तिम्) मिथ्या अपवाद और (अरातिम्) शत्रुता को (प्रतिदहन्) सर्वथा भस्म करता हुआ (प्रत्येतु) चढ़ाई करे। (सः) वह (जातवेदाः) प्रजाओं का जानने वाला [सेनापति] (परेषाम्) शत्रुओं के (चित्तानि) चित्तों को (मोहयतु) व्याकुल कर देवे (च) और [उनको] (निर्हस्तान्) निहत्था (कृणवत्) कर डाले॥१॥

भावार्थ-राजा सेनादि से ऐसा प्रबन्ध रक्खे कि प्रजा गण आपस में मिथ्या कलङ्क न लगावें और न वैर करें और दुराचारियों को दंड देता रहे कि वे शक्तिहीन होकर सदा दबे रहें, जिससे श्रेष्ठों को सुख मिले और राज्य बढ़ता रहै॥१॥

यह मन्त्र इसी काण्ड में सूक्त १ मन्त्र १ कुछ भेद से है।

अयमग्निरमूमुहद् यानि चित्तानि वो हृदि।
वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः॥२॥

अयम्। अग्निः। अमूमुहत्। यानि। चित्तानि। वः। हृदि॥
वि। वः। धमतु। ओकसः। प्र। वः। धमतु। सर्वतः॥२॥

भाषार्थ—(अयम्) इस (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी राजा] ने (चित्तानि) उन ज्ञानों को (अमूमुहत्) उलट पलट कर दिया है (यानि) जो (वः) तुम्हारे (हृदि) हृदय में [थे]। वह (वः) तुम को (ओकसः) घर से (वि, धमतु) निकाल देवे, वह (वः) तुम को (सर्वतः) सब स्थान से (प्र, धमतु) बाहिर कर देवे॥२॥

१-**दूतः**। अ० १।७।६। दु गतौ-यद्वा, टुदु उपतापे-क्त। अग्रेसरः। उपतापकः। **चित्तानि**। अन्तःकरणानि। अन्यद् व्याख्यातम्-सू० १ म० १॥

२—**अयम्**। समीपवर्ती। प्रसिद्धः। **अग्निः**। ज्ञानवान्। अग्निवत्तेजस्वी। **अमूमुहत्**। मुहेर्ण्यन्ताद् लुङि चङि रूपम्। व्याकुलीकृतवान्। **चित्तानि**। ज्ञानानि। **वः**। युष्माकम्। **हृदि**। हृञ् हरणे-क्विप्, तुक्, तस्य दः। हृदये।

भावार्थ—जिस सेनापति राजा ने दुष्टों को वश में करके रक्खा था, वह राजा विरोधियों को प्रतिज्ञा भंग करने पर देश निकाला आदि दण्ड देवे ॥ २ ॥

इन्द्र॑ चि॒त्तानि॑ मो॒हय॑न्न॒र्वाङाकू॑त्या चर ।
अ॒ग्नेर्वात॑स्य॒ ध्राज्या॒ तान् विषू॑चो॒ वि ना॑शय॥३॥

इन्द्र॑ । चि॒त्तानि॑ । मो॒हय॑न् । अ॒र्वाङ् । आ-कू॑त्या । च॒र ॥
अ॒ग्नेः । वात॑स्य । ध्राज्या॑ । तान् । विषू॑चः । वि । ना॒श॒य ॥३॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे महाप्रतापी राजन् ! [शत्रुओं के] (चित्तानि) चित्त को (मोहयन्) व्याकुल करता हुआ (अर्वाङ्) हमारे सन्मुख (आकूत्या) उत्तम संकल्प से (चर) आ । (अग्नेः) अग्नि के और (वातस्य) पवन के (ध्राज्या) झोंके से (तान्) उन (विषूचः) विरुद्ध गति वालों को (वि, नाशय) नाश कर डाल ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि और वायु मिलकर प्रचंड होजाते हैं, इसी प्रकार राजा प्रचण्ड होकर दुष्टों को दंड देवे और सत्कर्मी पुरुषों का शिष्टाचार करे ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा अ० ३ । १ । ५ । में आ चुका है ।

वि । विशेषेण । **वः** । युष्मान् । **धमतु** । धमति, गतिकर्मा-निघ० २ । १४ । वधकर्मा—निघ० २ । १६ । सौत्रो धातुः । अन्तर्भावितण्यर्थः । धमयतु । गमयतु । निः सारयतु । **ओकसः** । उच समवाये- असुन्, गुणः, न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् । गृहात् । **सर्वतः** । सर्वप्रकारेण । अन्यत् सुगमम् ॥

३—**इन्द्र** । हे परमैश्वर्यवन् राजन् । **चित्तानि** । मनांसि । **मोहयन्** । व्याकुलीकुर्वन् । **अर्वाङ्** । अवरे काले देशे वा अञ्चति । अवर+अञ्चु—क्विन्, अर्वादेशः । अस्मदभिमुखः । **आकूत्या** । आङ्+कूङ् शब्दे-क्तिन् । संकल्पेन । अन्यद् व्याख्यातं सू० १ म० ५ ॥

व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत ।
अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥ ४ ॥

वि । आ-कूतयः । एषाम् । इत । अथो इति । चित्तानि । मुह्यत ॥ अथो इति । यत् । अद्य । एषाम् । हृदि । तत् । एषाम् । परि । निः । जहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—हे (एषाम्) इन [शत्रुओं] के (आकूतयः) विचारो ! (वि) उलट पलट होकर (इत) चले जाओ, (अथो) और हे (चित्तानि) इनके चित्तो ! (मुह्यत) व्याकुल होजाओ ।

(अथो) और [हे राजन्] (यत्) जो कुछ [मनोरथ] (अद्य) अब (एषाम्) इनके (हृदि) हृदय में है, (एषाम्) इनके (तत्) उस [मनोरथ] को (परि) सर्वथा (निर्जहि) नाश करदे ॥ ४ ॥

भावार्थ—नीतिकुशल राजा दुराचारियों में परस्पर मतभेद करावे और उनका मनोरथ सिद्ध न होने दे ॥ ४ ॥

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् ॥ ५ ॥

अमीषाम् । चित्तानि । प्रति-मोहयन्ती । गृहाण । अङ्गानि । अप्वे । परा । इहि ॥ अभि । प्र । इहि । निः । दह । हृत्-

४—आकूतयः । म० ३ । हे सङ्कल्पाः । मनोरथाः । एषाम् । शत्रूणाम् । वि,इत । विरोधेन गच्छत । अथो । अपि च । चित्तानि । मनांसि । मुह्यत । व्याकुलानि भवत । यत् । प्रयोजनम् । अद्य । इदानीम् । हृदि । मनसि । तत् । प्रयोजनम् । परि । परितः । सर्वतः । निः । नितराम् । जहि । नाशय ॥

सु । शोकैः । ग्राह्या । अमित्रान् । तमसा । विध्य । शत्रून् ॥५॥

भाषार्थ—(अप्वे) हे शत्रुओं को मार डालने वा हटा देनेवाली सेना (अमीषाम्) उन [शत्रुओं] के (चित्तानि) चित्तों, और (अङ्गानि) शरीर के अवयवों और सेना विभागों को (प्रतिमोहयन्ती) व्याकुल करती हुई (गृहाण) पकड़ ले, और (परा, इहि) पराक्रम से चल । (अभि) चारों ओर से (प्र, इहि) धावा कर, (हृत्सु) उनके हृदयों में (शोकैः) शोकों से (निर्दह) जलन करदे, और (ग्राह्या) ग्रहण शक्ति [बन्धनादि] से और (तमसा) अन्धकार से (अमित्रान्) पीड़ा देने वाले (शत्रून्) शत्रुओं को (विध्य) छेद डाल ॥ ५ ॥

भावार्थ—सेनापति इस प्रकार व्यूह रचना करे कि उसकी उत्साहित सेना धावा करके अश्ववार अश्ववारों को, रथी रथियों को, पदाति पदातियों को व्याकुल करदें, अर्थात् आग्नेय अस्त्रों से धूंआ धड़क, और वारुणेय अस्त्रों से बन्धन में करके जीत लें ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का ऋग्वेद १० । १०३ । १२, यजुर्वेद १७ । ४४; साम वेद उ० ६ । ३ । ५, तथा निरुक्त ६ । ३३ में इस प्रकार समान पाठ है ।

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि । अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥

(अप्वे) हे शत्रुओं को मार डालने वा हटा देनेवाली सेना ! (अमीषाम्) उनके (चित्तम्) चित्त को (प्रतिलोभयन्ती) व्याकुल करती हुई (अङ्गानि) अङ्गों को (गृहाण) पकड ले और (परा, इहि) पराक्रम से चल । (अभि)

५—अमीषाम् । अदस्-इत्यस्य रूपम् । परिदृश्यमानानां शत्रूणाम् । चित्तानि । मनांसि । प्रतिमोहयन्ती । मुह वैचित्ये-हेतौ शतृ । सर्वथा व्याकुलीकुर्वती । गृहाण । वशीकुरु । अङ्गानि । शरीरावयवान् । सेना विभागान् । अप्वे । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति अपपूर्वात् आ

चारों ओर से (प्र,इहि) आगे बढ़ (हृत्सु) उनके हृदयों में (शोकैः) शोकों से (निर्दह) जलन करदे। (अन्धेन) गाढ़े [दृष्टि रोकने वाले] (तमसा) अन्धकार से (अमित्राः) पीड़ा देनेवाले लोग (सचन्ताम्) संयुक्त हो जावें ॥

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना। तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥

असौ। या। सेना। मरुतः। परेषाम्। अस्मान्। आ-एति। अभि। ओजसा। स्पर्धमाना ॥ ताम्। विध्यत। तमसा। अपव्रतेन। यथा। एषाम्। अन्यः। अन्यम्। न। जानात् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे शूर पुरुषो ! (परेषाम्) वैरियों की (असौ) वह (या) जो (सेना) सेना (अस्मान्) हम पर (अभि) चारों ओर से (ओजसा) बल के साथ (स्पर्धमाना) ललकारती हुयी (आ-एति) चढ़ी

गतिहिंसनयोः, अथवा, वेञ् तन्तुसन्ताने, अन्तर्गतिणयर्थात् उ प्रत्ययः। अथवा। शेवायह्वजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवाः। उ० १। १५४। इति आप्लृ व्याप्तौ-वन्। टाप्। छान्दसं रूपम्। अप्वा यदेनया विद्धोऽपवीयते। व्याधिर्वा भयं वा। निरु० ६। १२। अपवाति हिनस्ति, यद्वा, अपवयति अपगमयति वा आप्नोति शत्रून् सा अप्वा तत्संबुद्धौ। **परा**। पराक्रमेण। **इहि**। गच्छ। **अभि**। अभितः सर्वतः। **प्र**। प्रकर्षेण **निः**। नितराम्। **दह**। दहनं कुरु। **हृत्सु**। हृदयेषु, **शोकैः**। शुच शोके—घञ्। खेदैः। **ग्राह्या**। अ० २। ६। १। ग्रह आदाने इञ्। ग्रहण-शक्त्या। बन्धनादिना। **अमित्रान्**। अ० १। १६। २। पीडकान् **तमसा**। अन्धकारेण। आग्नेयास्त्रोत्थितेन धूमेनेत्यर्थः। **विध्य**। व्यध ताड़ने, छेदने। ताडय। छिन्धि। **शत्रून्** अ० २। ५। ३ शातयितॄन्, हिंसकान् ॥

६—**असौ**। परिदृश्यमाना। **या सेना**। सू० १ म० १। सैन्यम्। **मरुतः**। अ० १। २०। १। हे शत्रुमारणशीलाः। शूराः। **आ-एति**।

आती है। (ताम्) उसको (अपव्रतेन) क्रियाहीन कर देने वाले (तमसा) अन्धकार से (विध्यत) छेद डालो, (यथा) जिससे (एषाम्) इनमें से (अन्यः) कोई (अन्यम्) किसी को (न) न (जानात्) जाने ॥ ६ ॥

भावार्थ—सेनापति अपनी पलटनों को घातस्थानों में इस प्रकार खड़ा करे कि आती हुयी शत्रुसेना को रोक कर सब नष्ट करदेवें ॥ ६ ॥

(मरुतः) शब्द के लिये अ० १। २०। १। देखो।

यह मन्त्र यजुर्वेद १७। ४७। में इस प्रकार है।

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति न ओजसा स्पर्धमाना। तां गूहत तमसापव्रतेन यथामी अन्यो अन्यं न जानन् ॥

(मरुतः) हे शूरो ! (परेषाम्) वैरियों की (असौ या सेना) वह जो सेना (नः) हमको (अभि) चारों ओर से (ओजसा स्पर्धमाना) बल के साथ ललकारती हुयी (आ, एति) चली आती है। (ताम्) उसको (अपव्रतेन तमसा) क्रियाहीन कर देने वाले अंधकार से (गूहत) ढक दो, (यथा) जिससे (अमी) वे लोग (अन्यः, अन्यम्) एक दूसरे को (न जानन्) न जानें ॥

आगच्छति। **अभि**। सर्वतः। **ओजसा**। बलेन। **स्पर्धमाना**। स्पर्ध संघर्षे—लटः शानच्। संघर्षं युद्धोद्यमं कुर्वाणा। **ताम्**। सेनाम्। **विध्यत**। ताडयत। छिन्त। **तमसा**। अन्धकारेण। **अपव्रतेन**। व्रतंकर्म-निघ० २।१। अपगतकर्मणा। सर्वव्यापारविघातकेन। **यथा**। येन प्रकारेण। **एषाम्**। उपस्थितानां शत्रूणाम्। **अन्यः**। कश्चित्। **अन्यम्**। कमपि। **न**। निषेधे। **जानात्**। ज्ञा अवबोधने-लेट्। इतश्च लोपः परस्मैपदेषु। पा० ३। ४। ९७। इकारलोपः। जानीयात् ॥

सूक्तम् ३ ॥

१-६ ॥ इन्द्रो देवता । १-४ त्रिष्टुप्, ५,६ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

अचिक्रदत् स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची। युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥ १ ॥

अचिक्रदत्। स्व-पाः [सु-अपाः] इह । भुवत् । अग्ने । वि । अचस्व । रोदसी इति । उरूची इति ॥ युञ्जन्तु । त्वा । मरुतः विश्व-वेदसः । आ । अमुम् । नय । नमसा । रात-हव्यम् ॥१॥

भावार्थ—(अचिक्रदत्) उस [परमेश्वर] ने पुकारकर कहा है, "(इह) यहां पर (स्वपाः) अपने जनों का पालने वाला, अथवा, उत्तम कर्मों वाला प्राणी (भुवत्) होवे ।"

(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वि राजन् !] (उरूची) बहुत पदार्थों को प्राप्त करानेवाले (रोदसी) सूर्य और पृथ्वी में (वि) विविध प्रकार से (अचस्व) गति कर। (विश्ववेदसः) सब प्रकार के ज्ञान या ध्यानवाले (मरुतः) शुर और विद्वान् पुरुष (त्वा) तुझसे (युञ्जन्तु) मिलें । [हे राजन्] (रातहव्यम्) भेंट वा भक्ति का दान करनेवाले (अमुम्) उस [प्रजा गण] को (नमसा) अन्न वा सत्कार के साथ (आ,नय) अपने समीप ला ॥ १॥

१—अचिक्रदत् । क्रदि आह्वाने रोदने च—एयन्तात् लुङि चङि रूपम्, नुमभावः । आहूतवान्, शब्दमकरोत् । स्वपाः। स्व+पा रक्षणे-विच् । अथवा । आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा । उ० ४ । २०८ । इति सु+आप्लृ व्याप्तौ-असुन् । स्वकीयप्रजापालकः । शोभनकर्मा । इह । अत्र । अस्मिन् जन्मनि लोके वा । भुवत् । भू-लेट् । भवेत् । वि । विविधम् । अचस्व । अचु गतौ ।

भावार्थ-परमेश्वर ने यजुर्वेद ४० । २ । में कहा है ।

(कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः)

मनुष्य (इह) यहां पर (कर्माणि कुर्वन् एव) कर्मों को करता हुआ ही (शतं समाः) सौ वर्षों तक (जिजीविषेत्) जीना चाहे ।

इस प्रकार राजा परमेश्वर की आज्ञा पालन और स्वप्रजापालन में कुशल होकर सूर्य विद्या और पृथिवी आदि विद्या में निपुण बन कर विज्ञानी होवे, शूरवीर विद्वान् लोग उससे मिलें और राजा उन भक्त प्रजागणों का सत्कार करे ॥ १ ॥

दूरे चित् सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम् । यद् गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥ २ ॥

दूरे । चित् । सन्तम् । अरुषासः । इन्द्रम् । आ । च्यावयन्तु ।

गच्छ । प्राप्नुहि । **रोदसी** । अ० १ । ३२ । ३ । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति रुधिर् आवरणे-असुन् । गौरादित्वात् ङीष् । धकारस्य दकारः । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णः । आभ्यां हि रुद्धानि सर्वभूतानि । रोदस्यौ । द्यावापृथिव्यौ—निघ० ३ । ३० । भूमिस्वर्गौ । **उरूची** । उरु बहुनाम-निघ० ३ । १ । ऋत्विग्दधृक् । पा० ३ । २ । ५९ । इति उरु+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् अनलोपो दीर्घश्च । अञ्चतेश्चोपसंख्यानम् । वा० पा०४।१।६। इति ङीप् । ङीप उदात्तत्वम । पूर्ववत् पूर्वसवर्णः । उरवो बहवः पदार्था अञ्चन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति याभ्यां ते उरूच्यौ । बहुपदार्थप्रापिके । **युञ्जन्तु** । प्राप्नुवन्तु । **त्वा** । त्वाम् । **मरुतः** । अ० १ । २० । १ । शूराः । विद्वांसः । **विश्ववेदसः** । विश्व+विद ज्ञाने, वा विद्लृ लाभे-असुन् । सर्वविषयज्ञातारः । सर्वधनयुक्ताः । **अमुम्** । परिदृश्यमानं प्रजागणम् । **आ नय** । समीपे प्रापय । **नमसा** । अन्नेन—निघ० ३ । ७ । सत्कारेण । **रातहव्यम्** । हुदाना-दनादानप्रीणनेषु-यत् । हूयते हव्यम् । रातं दत्तं हव्यं देवार्चनं देवपूजनं येन तम्॥

सख्याय । विप्रम् ॥ यत् । गायत्रीम् । बृहतीम् । अर्कम् । अस्मै । सौत्रामण्या । दधृषन्त । देवाः ॥ २ ॥

भाषार्थ । (अरुषासः=०-षाः) गतिशील [उद्यमी] पुरुष (दूरे) दुर्गम वा दूर देश में (चित्) भी (सन्तम्) विद्यमान (विप्रम्) बुद्धिमान् (इन्द्रम्) बड़े प्रतापी राजा को (सख्याय) अपना सखा बनाने के लिये (आ,च्यावयन्तु) ले आवें । (यत्) क्योंकि (देवाः) व्यवहार कुशल महात्माओं ने (गायत्रीम्) गान क्रिया, (बृहतीम्) स्तुति क्रिया और (अर्कम्) अन्न वा सत्कार क्रिया को (अस्मै) इस [इन्द्र] के लिये (सौत्रामण्या) सुत्रामा [उत्तम रक्षक] के योग्य भक्ति के साथ (दधृषन्त) एकत्र किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—उद्योगी प्रजागण प्रजापालक नीतिकुशल राजा को दूर देश से भी अपनी सहायता के लिये बुलावें, और अनेक प्रकार से उसका उत्साह और अपना आनन्द बढ़ाने के लिये उसका योग्य अभिनन्द करें, और गायत्री, बृहती आदि छन्दों से भी उसका यश गावें ॥ २ ॥

२—**दूरे** । दुरीणो लोपश्च । उ० २ । २० । इति दुर्+इण् गतौ—रक्, इणो लोपो दीर्घश्च । दुःखेनेयते प्राप्यते । दुर्गमे विप्रकृष्टे वा स्थाने । **चित्** । अपि । **सन्तम्** । अस-शत्रृ । विद्यमानम् । **अरुषासः** । अर्त्तिहनिभ्यामुषन् । उ० ४ । ७३ । ऊषन्नेव उषन् । इति ऋ गतिप्रापणयोः-उषन् । जसि असुक् । अरुषः=अश्वः-निघ० १ । १४ । अरुषं आरोचनात्-निरु० १२ । ७ । गतिशीलाः । ज्ञानिनः । उद्योगिनः पुरुषाः । **इन्द्रम्** । ऐश्वर्यवन्तं सम्राजम् । **आ,च्यावयन्तु** । च्यु ह्रासे, सहने । वेदे च गतौ । आगमयन्तु । **सख्याय** । सख्युर्यः । पा० ५ । १ । १२६ । इति सखि-य । सखिकर्मणे । साहाय्याचरणाय । **विप्रम्** । ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र० । उ० । २ । २८ । इति डुवप बीजसन्ताने-रन्, इत्वं गुणाभावश्च निपात्येते । वपति धर्ममिति । यद्वा । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति वि+प्रा पूरणे—क । विशेषेण पूरयति सद्विषयानिति विप्रः । विप्राणां व्यापनकर्मणामादित्यरश्मीनाम्—निरु० १४ । १३ । मेधाविनम्-निघ० ३ । १५ । **यत्** । यस्मात् कारणात् । **गायत्रीम्** । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति गायत्+त्रैङ् पालने-क । ततो ङीप् । गायत्री गायतेः स्तुति कर्मणः-निरु० ७ । १२ । गानक्रियाम् स्तुतिम् । **बृहतीम्** । वर्त्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृ-

अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः। इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥ ३ ॥

अत्-भ्यः। त्वा। राजा। वरुणः। ह्वयतु। सोमः। त्वा। ह्वयतु। पर्वतेभ्यः। इन्द्रः॥ त्वा। ह्वयतु। विट्-भ्यः। आभ्यः। श्येनः। भूत्वा। विशः। आ। पत। इमाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजराजेश्वर !] (वरुणः) अति श्रेष्ठ (राजा) शासन कर्ता पुरुष (त्वा) तुझको (अद्भ्यः) प्राणों के लिये (ह्वयतु) बुलावे, (सोमः) औषधों का रस निकालने वाला [वैद्यराज] (त्वा) तुझको (पर्वतेभ्यः) [शरीर की] पुष्टियों के लिये (ह्वयतु) बुलावे। (इन्द्रः) बड़ा प्रतापी सेनापति

बच्च उ० २। ८४। इति बृह वृद्धौ—अति, गौरादित्वात् ङीप्। बृहती परिबर्हणात्—निरु० ७। १२। वृद्धिम्। कीर्त्तिम्। **अर्कम्**। कृदाधारार्चिकलिभ्यःक। उ० ३। ४०। इति अर्च पूजायाम्—क। यद्वा। अर्क तापे स्तुतौ च—अच्। अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्त्यर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्त्यर्कमन्नं भवत्यर्चति भूतान्यर्को वृक्षो भवति संवृतः कटुकिम्ना—निरु० ५। ४। सत्कारम्। अन्नम्। **अस्मै**। इन्द्राय। **सौत्रामण्या**। सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। इति सु+त्रैङ् पालने-मनिन्। साऽस्य देवता। पा० ४। २। २४। इति सुत्रामन् अण्। बाहुलकात् न टिलोपः, स्त्रियां ङीप्। महारक्षकयोग्यां भक्तिं पूजां वा। **दधृषन्त**। धृष संहतौ। संगृहीतवन्तः। अधारयन्। **देवाः**। व्यवहारकुशलाः। विद्वांसः॥

३—अद्भ्यः। आप्नोतेर्ह्रस्वश्च। उ० २। ५८। इति आप्लृ व्याप्तौ—क्विप्। आपः=अन्तरिक्षम्—निघ० १। ३। उदकानि—निघ० १। १२। भूस्थानदेवताः, आप आप्नोतेः-निरु० ६। २६। प्राणा जलानि वा-यजु० ४। ७। आप्ताः प्रजाः—ऋ० वे० ६। २७, दयानन्दभाष्ये। प्राणेभ्यः। प्रजाभ्यः। **त्वा**। सम्राजम्। **राजा**। अ० १। १०। १। राजृ दीप्तौ, ऐश्वर्ये च-कनिन्। ऐश्वर्यवान्।

वा निधिपति (त्वा) तुझको (आभ्यः विड्भ्यः) इन प्रजाओं के लिये (ह्वयतु) बुलावे, [हे महाराजाधिराज !] (श्येनः) शीघ्र गति वाला [वा बाज़ पक्षी के समान शीघ्रगति वाला] (भूत्वा) होकर (इमाः) इन (विशः) प्रजाओं में (आ,पत) उड़कर आ ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा वरुण, सोम, इन्द्रादि पदवीवाले बड़े २ अधिकारी अपने अधिकार की उन्नति के लिये राजाज्ञा का पालन करें और प्रधान राजा अपनी प्रजा के हित का उद्योग सदा करता रहे ॥ ३ ॥

श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्। अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं संजाता अभिसंविशध्वम् ॥ ४ ॥

श्येनः । हव्यम् । नयतु । आ । परस्मात् । अन्य-क्षेत्रे । अप-रुद्धम् । चरन्तम् ॥ अश्विना । पन्थाम् । कृणुताम् ।

वरुणः । अ० १ । ३ । ३ । वृञ् वरणे-उनन् । वरणीयः पुरुषः । दुष्टनिवारकः । **ह्वयतु** । आकारयतु । **सोमः** । अ० १ । ६ । २ । षुञ् अभिषवे-मन् । सुनोति यः । ओषधिरसानां निःसारकः । वैद्यराजः । **पर्वतेभ्यः** ।भृमृदृशियजिपर्वि०। उ० ३ । ११० । इति पर्व पूर्तौ-अतच् । पूर्त्तिभ्यः । पुष्टिभ्यः । **इन्द्रः** । ऐश्वर्यवान् । सेनापतिः । निधिपतिः । **विड्भ्यः** । अ० १ । २१ । १ । विश प्रवेशने—क्विप् । विशः, मनुष्याः—निघ० २ । ३ । प्रजाः । **आभ्यः** । परिदृश्यमानाभ्यः । **श्येनः** । श्यास्त्याहृञविभ्य इनच् । उ० २ । ४६ । इति श्यैङ् गतौ—इनच् । श्येनासः=अश्वाः—निघ० ४ । १४ । श्येनः शंसनीयं गच्छति—निरु० ४ । २४ । श्येन आदित्य आत्मा च भवति श्यायतेर्गतिकर्मणः—निरु० १४।१३ । शीघ्रगतिः। श्येनपक्षिवच्छीघ्रगामी । **भूत्वा** । **विशः** । प्रजाः । **आ पत** । शीघ्रमागच्छ । **इमाः** । उपस्थिताः ॥

सु-गम् । ते । इमम् । सु-जाताः । अभि-संविंशध्वम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(श्येनः) शीघ्रगति वाले आप (अन्यक्षेत्रे) परदेश में (अपरुद्धम्) रोक दिये गये (चरन्तम्) उत्तम आचरण करते हुये (हव्यम्) बुलाने योग्य पुरुष को (परस्मात्) दूर देश से (आ, नयतु) समीप लावें। (अश्विना=०—नौ) सूर्य और चन्द्रमा (ते) तेरे (पन्थाम्=पन्थानम्) मार्ग को (सुगम्) सुगम (कृणुताम्) करें। (सजाताः) हे सजातीय लोगो! (इमम्) इस [वीर पुरुष] से (अभि-सं-विशध्वम्) चारो ओर से मिलो ॥ ४ ॥

भावार्थ—यदि कोई सत्पुरुष प्रजागण परदेश में रोक दिया गया हो, राजा उसे प्रयत्न पूर्वक बुला लेवे। और सूर्य चन्द्रमा के समान नियम से प्रजा पालन करे जिससे सब प्रजागण उससे मिले रहें ॥ ४ ॥

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत ।

इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥ ५ ॥

ह्वयन्तु । त्वा । प्रति-जनाः । प्रति । मित्राः । अवृषत ॥

४—श्येनः । म० ३ । शीघ्रगतिः पुरुषः । हव्यम् । ह्वेञ-यत् । आह्वातव्यम् । नयतु । प्रापयतु । आ । समीपे । परस्मात् । दूरदेशात् । अन्यक्षेत्रे । परभूमौ । अपरुद्धम् । निरुद्धम् । चरन्तम् । चर गमने, अदने, आचारे च—शतृ । शुभाचारवन्तम् । अश्विना । अ० २ । २९ । ६ । सूर्याचन्द्रमसौ—निरु० १२ । १ । पन्थाम् । छान्दसो नलोपः । पन्थानम् । कृणुताम् । कुरुताम् । सुगम् । सुदुरोरधिकरणे । वा० पा० ३ । २ । ४८ । इति सु+गमलृ ड । सुखेन गन्तव्यम् । ते । तव । इमम् । प्रशंसितं राजानम् । सजाताः । हे समानजन्मानाः । सजातीयाः । बान्धवः । अभिसंविशध्वम् । विशेश्छन्दस्यात्मनेपदम् । अभितः संगच्छध्वम् ॥

इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः । ते । विशि । क्षेमम् । अदी-धरन् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्रतिजनाः) प्रतिकूल जन (त्वा) तुझे (ह्वयन्तु) बुलावें । (मित्राः) स्नेही पुरुषों ने (प्रति) प्रत्यक्ष (अवृषत) सेवा की है । (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि [के समान गुणवाले] (ते) उन (विश्वे देवाः) सब तेजस्वी पुरुषों ने (विशि) प्रजा में (क्षेमम्) कुशल (अदीधरन्) स्थापित की है॥५॥

भावार्थ—जिस राजा को प्रजा गण चुनते हैं: वैरी लोग उस राजा के अधीन रहते हैं । और विद्वान् शूर वीर पुरुष प्रजा में उन्नति करते हैं ॥ ५ ॥

यस्ते हवं विवदत् सजातो यश्च निष्ट्यः ।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥ ६ ॥

यः । ते । हवम् । वि-वदत् । स-जातः । यः । च । निष्ट्यः ॥ अपाञ्चम् । इन्द्र । तम् । कृत्वा । अथ । इमम् । इह । अव । गमय ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अथ) और (इन्द्र) हे महाप्रतापी राजन् ! (यः) जो

५—**ह्वयन्तु** । आह्वयन्तु । **त्वा** । त्वां धर्मात्मानम् । **प्रतिजनाः** । प्रतिकूलजनाः । शत्रवः । **प्रति** । प्रत्यक्षम् । **मित्राः** । अ० १ । ३ । २ । स्नेहिनः । **अवृषत** । वृङ् संभक्तौ—छान्दसे लुङि रूपम् । सेवितवन्तः । **इन्द्राग्नी** । वायुपावकौ । तद्वद्गुणवन्तः पुरुषाः । **विश्वे** । सर्वे । **देवाः** । तेजस्विनो व्यवहारिणो वा जनाः । **ते** । उदात्तोऽयंशब्दः । प्रसिद्धाः । **विशि** । प्रजायाम् । **क्षेमम्** अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षि० । उ० १ । १४० । इति क्षि क्षयैश्वर्ययोः—मन् । क्षयति दुःखं नाशयतीति, ऐश्वर्यवान् भवतीति वानेन । कुशलम् । ऐश्वर्यम् । **अदीधरन्** । धृ धारणे-एयन्तात् लुङि चङि रूपम् । धृतवन्तः ॥

६—**यः** । यः पुरुषः । **ते** । तव । **हवम्** । ह्वेञ् आह्वाने-अप् । आवाहनम् ।

(सजातः) सजातीय, (च) और (यः) जो (निष्ट्यः) विजातीय पुरुष (ते) तेरे (हवम्) विज्ञापन में (विवदत्) विवाद करे, (तम्) उसको (अपाञ्चम्) बहिष्कृत [देश बाहिर] (कृत्वा) करके (इमम्) इस [विज्ञापन] को (इह) यहां पर (अव, गमय) जता दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा अपने और पराये का विचार छोड़ पक्षपात रहित हो-कर शान्तिनाशक विवादी पुरुष को देश बाहिर करदे, और यह विज्ञापन राज्य भर में प्रसिद्ध कर दे जिससे फिर कोई धर्म विरुद्ध चेष्टा न करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ४ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राज्याभिषेकोत्सवः—राज तिलक का उत्सव ।

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पति-रेकराट् त्वं वि राज । सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वय-न्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १ ॥

आ । त्वा । गन् । राष्ट्रम् । सह । वर्चसा । उत् । इहि । प्राङ् । विशाम् । पतिः । एक-राट् । त्वम् । वि । राज ॥

विज्ञापनम् । **विवदत्** । वि पूर्वाद् वदेर्लेटि अडागमः । विरुद्धं वदेत् । विवादयेत् । **सजातः** । समानजातीयः । बान्धवः । **निष्ट्यः** । अव्ययात् त्यप् । पा० ४ । २ । १०४ । इत्यत्र निसो गते । इति वार्त्तिकेन-निस + त्यप् । ह्रस्वात्तादौ तद्धिते । पा० ८ । ३ । १०१ । इति षत्वम् । निर्गतो वर्णाश्रमादिभ्यः । म्लेच्छः । चाण्डालः । **अपाञ्चम्** । अप+अञ्चु गति पूजनयोः-क्विन् । अपगतम् । बहिर्गतम् । बहिष्कृतम् । **इन्द्र** । परमैश्वर्यवन् राजन् । **तम्** । विवादिनम् । **कृत्वा** । विधाय । **अथ** । तदनन्तरम् । **इमम्** । हवम् । **इह** । अस्मिन् राज्ये । **अव गमय** । बोधय । ज्ञापय ॥

सर्वाः । त्वा । राजन् । प्र-दिशः । ह्वयन्तु । उप-सद्यः । नमस्यः । भव । इह ॥ १ ॥

भाषार्थ—(राजन्) हे राजन् ! (राष्ट्रम्) यह राज्य (त्वा) तुझ को (आ, गन्=अगमत्) प्राप्त हुआ है। (वर्चसा सह) तेज के साथ (उत्+इहि=उदिहि) उदय हो। (प्राङ्) अच्छे प्रकार पूजा हुआ, (विशाम्) प्रजाओं का (पतिः) रक्षक, (एकराट्) एक महाराजाधिराज (त्वम्) तू (वि, राज) विराजमान हो। (सर्वाः) सब (प्रदिशः) पूर्वादि दिशायें (त्वा) तुझ को (ह्वयन्तु) पुकारें। (उपसद्यः) सब का सेवनीय और (नमस्यः) नमस्कार योग्य (इह) यहां पर [अपने राज्य में] (भव) तू हो ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा सिंहासन पर विराज कर महाप्रतापी और प्रजापालक हो, सब दिशाओं में उसकी दुहाई फिरे, और सब प्रजागण उसकी न्यायव्यवस्था पर चलकर उसका सदा आदर और अभिनन्दन करते रहें ॥ १ ॥

१—**त्वा** । त्वां शूरवीरम् । **आ,गन्** । गमेर्लुङि । मन्त्रे घस० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेर्लुक् । मो नो धातोः । पा० ८ । २ । ६४ । इति नत्वम् । आगमत् । प्राप्तम् । **राष्ट्रम्** । अ० १ । २९ । १ । राज्यम् । **सह** । सहितम् । **वर्चसा** । तेजसा । **उदिहि** । उदितः प्रख्यातो भव । **प्राङ्** । ऋत्विग्दधृक्० । पा० ३ । २ । ५९ । इति प्र+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । सम्यक् पूजितः । **विशाम्** । प्रजानाम् । **पतिः** । पालकः । **एकराट्** । सत्सूद्विष० । पा० ३ । २ । ६१ । इति एक+राजृ—क्विप् । मुख्यो राजा । **वि राज** । विशेषेण दीप्यस्व, ईश्वरो भव । **सर्वाः** । निखिलाः । **राजन्** । हे नृपते । **प्रदिशः** । अ० १ । ११ । २ । प्रकृष्टा दिशः । प्राच्याद्याः । तत्रस्था जनाः । **ह्वयन्तु** । स्वामित्वेन अनुजानन्तु । **उपसद्यः** । उप+षद्लृ गतौ—यत् । सर्वैरुपसदनीयः । सेवनीयः । **नमस्यः** । नमस्य नामधातुः+कर्मणि यत् । नमस्कारयोग्यः । **इह** । अस्मिन् राज्ये । **भव** । वर्तस्व ॥

त्वां विशो॑ वृणतां राज्या॑य त्वामि॒माः प्र॒दिश॒: पञ्च॑ दे॒वीः । वर्ष्म॑न् रा॒ष्ट्रस्य॑ क॒कुदि॑ श्रयस्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॑जा॒ वसू॑नि ॥ २ ॥

त्वाम् । विशः॑ । वृ॒ण॒ताम् । रा॒ज्याय॑ । त्वाम् । इ॒माः । प्र॒ऽदिशः॑ । पञ्च॑ । दे॒वीः ॥ वर्ष्म॑न् । रा॒ष्ट्रस्य॑ । क॒कुदि॑ । श्र॒यस्व॒ । ततः॑ । नः॒ । उ॒ग्रः वि । भ॒ज॒ । वसू॑नि ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (त्वाम्) तुझ को (राज्याय) राज्य के लिये (विशः) प्रजायें, और (त्वाम्) तुझ को ही (इमाः) यह सब (पञ्च) विस्तीर्ण वा पांच (देवीः=०—व्यः) दिव्य गुणवाली (प्रदिशः) महा दिशायें (वृणताम्) स्वीकार करें । (राष्ट्रस्य) राज्य के (वर्ष्मन्=०—णि) ऐश्वर्ययुक्त वा ऊंचे (ककुदि) शिखर पर (श्रयस्व) आश्रय ले । (ततः) फिर

२—**त्वाम्** । राजानम् । **विशः** । प्रजाः । **वृणताम्** । वृङ् सम्भक्तौ-लोट् । संभजताम् । सेवन्ताम् । **राज्याय** । पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् । पा० ५ । १ । १२८ । इति राजन्—यक् । राजकर्मणे । राष्ट्राय । **इमाः** । परिदृश्यमानाः । **प्रदिशः** । प्रधानदिशाः । **पञ्च** । अ० १ । ३० । ४ । पचि विस्तारे-कनिन् । विस्तीर्णाः । प्राच्याद्या मध्यदिशा सह पञ्चसंख्याकाः । **देवीः** । देव्यः । प्रकाशमानाः । दिव्याः । **वर्ष्मन्** । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति वृष प्रजननैश्वर्ययोः-मनिन् । सप्तम्या लुक् । वर्ष्मन् शब्द उन्नतवचनः स्थिरवचनो वा, इति सायणः, ऋग्वेदभाष्ये म० १० । २८ । २ । ऐश्वर्ययुक्ते । उन्नते । स्थिरे । **राष्ट्रस्य** । राज्यस्य । **ककुदि** । क + कु शब्दे-क्विप, तुक् च, तस्य दः, अन्तर्भावितण्यर्थः । कं सुखं कावयति गृहस्थस्य औन्नत्यं प्रापयतीति ककुद् । वृषस्कन्धपृष्ठस्थमांसपिण्डे । नृपचिह्ने । पर्वतशिखरे । **श्रयस्व** । श्रिञ् सेवने । आश्रितो भव । आस्स्व । **ततः** । तदनन्तरम् । **नः** । अस्मभ्यम् । **वि, भज** ।

(उग्रः) तेजस्वी तू (नः) हमारे लिये (वसूनि) धनों का (वि, भज) विभाग कर ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा को सब प्रजा गण चुनें। और सब मनुष्यादि प्रजा और चारों पूर्वादि दिशाओं और पांचवी ऊपर-नीचे की दिशा के पदार्थ [जैसे आकाश मार्ग और भूगर्भादि के पदार्थ] सब राजा के अधीन रहें, और वह बड़ा ऐश्वर्यवान् होकर राजभक्त सुपात्रों को विद्या और सुवर्णादि धनों का दान करता रहे ॥ २ ॥

अच्छ॑ त्वा यन्तु ह॒विनः॑ सजा॒ता अ॒ग्निर्दू॒तो अ॑जि॒रः सं च॑राते। जा॒याः पु॒त्राः सु॒मन॑सो भवन्तु ब॒हुं ब॒लिं प्रति॑ पश्यासा उ॒ग्रः ॥ ३ ॥

अच्छ॑। त्वा॒। य॒न्तु॒। ह॒विनः॑। स॒ऽजा॒ताः। अ॒ग्निः। दू॒तः। अ॒जि॒रः। सम्। च॒रा॒तै॒॥ जा॒याः। पु॒त्राः। सु॒ऽमन॑सः। भ॒व॒न्तु॒। ब॒हुम्। ब॒लिम्। प्रति॑। प॒श्या॒सै॒। उ॒ग्रः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(हविनः) पुकार करने वाले (सजाताः) सजातीय लोग (त्वा) तुझको (अच्छ) सन्मुख आकर (यन्तु) मिलें। (अग्निः) आग के

सांहितिको दीर्घः। यथाभागं देहि। **वसूनि** । धनानि ॥

३—**अच्छ** । अभिमुखम्। **यन्तु** । गच्छन्तु, प्राप्नुवन्तु। **हविनः** । हव इनि। आह्वानशीलाः। **सजाताः** । समानजन्मानः। बान्धवाः। **अग्निः**। पावकवद् राजा। **दूतः** । अ० ३। २। १। तापकारी। गतिशीलः। **अजिरः** । अजिर शिशिर शिथिल०। उ० १।५३। इति अज गतिक्षेपणयोः-किरच्। गमनशीलः। प्रजाप्रेरकः। **सम्** । सम्यक्। विधिवत्। **चरातै** । चरतेर्लेटि आडागमः। वैतोऽन्यत्र। पा० ३। ४। ९६। इत्यैकारः। आचरतु भवान्। **जायाः** । जनेर्यक्। उ० ४।१११। इति जन जनने-यक्, आत्वम्, टाप्। जनयति वीरान्। भार्याः।

समान (दूतः) तापकारी और (अजिरः) वेगवान् [आप] (सम्) यथायोग्य (चराते) आचरण करें । (जायाः) हमारी धर्मपत्नियां और (पुत्राः) कुलशोधक वा बहुरक्षक सन्तान (सुमनसः) प्रसन्नमन (भवन्तु) रहें । (उग्रः) तेजस्वी तू (बहुं बलिम्) बहुत भेंट को (प्रति) संमुख (पश्यासै) देखे ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब भाई बन्धु और प्रजागण राजा से मिले रहें, और प्रसन्न होके (बलि) राजग्राह्य भाग कर आदि देवें, और वह राजा भी उनकी रक्षा में सर्वथा तत्पर रहे ॥ ३ ॥

अश्विना त्वाग्रे मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्वयन्तु । अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥ ४ ॥

अश्विना । त्वा । अग्रे । मित्रावरुणा । उभा । विश्वे । देवाः । मरुतः । त्वा । ह्वयन्तु ॥ अध । मनः । वसु-देयाय । कृणुष्व । ततः । नः । उग्रः । वि । भज । वसूनि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अग्रे) अगले वा मुख्य पद पर [विराजमान] (त्वा) तुझ

पुत्राः । अ० १ । ११ । ५ । पूञ् शोधे–क्त । पुत्रः पुरु त्रायते निपरणाद् [पालनात्] वा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा—निरु० २ । ११ । कुलशोधकाः । बहुरक्षका वा दुःखनाशका वा सन्तानाः । वीराः पुत्रीपुत्राः । **सुमनसः** । शोभनमनस्काः । प्रसन्नचित्ताः । **भवन्तु** । सन्तु । **बहुम्** । लङ्घि बंह्योर्नलोपश्च उ० १ । २९ । बहि वृद्धौ-कु, नलोपः । विपुलम् । **बलिम्** । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति बल संवरणे, दाने-इन् । बल्यते दीयते स बलिः । राजग्राह्यं भागम् । करम् । उपहारम् । पूजासामग्रीम् । **प्रति** । अभिमुखम् । **पश्यासै** । दृशेर्लेटि आडैत्वे, यथा (चराते) शब्दे । आत्मने पदम् । पश्य । **उग्रः** उत्कटः । तेजस्वी ॥

४—**अश्विना** । अ० २ । २९ । ६ । सूर्याचन्द्रमसावित्येके—निरु०

को (अश्विना=०-नौ) सूर्य और चन्द्र, और (उभा=उभौ) दोनों (मित्रा-वरुणा=०-णौ) प्राण और अपान वा दिन और रात और (विश्वे देवाः) सब व्यवहार कुशल (मरुतः) शूर पुरुष (त्वा) तुझ को (ह्वयन्तु) पुकारें [मार्गदर्शक हों]। (अध) और, तू (मनः) अपने मन को (वसुदेयाय) धन का दान करने के लिये (कृणुष्व) स्थिर कर। (ततः) फिर (उग्रः) तेजस्वी तू (नः) हमारे लिये (वसूनि) धनों का (वि, भज) विभाग कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य और चन्द्र परस्पर आकर्षण से, दिन और रात, प्राण और अपान अपने २ क्रम से, और शूर विद्वान् पुरुष नियम पर चलने से संसार का उपकार करते हैं, इसी प्रकार ऐश्वर्यवान् राजा विचार पूर्वक सुपात्रों को दान देकर प्रजा की उन्नति करे ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद (ततो न उग्रो……) मन्त्र २ में आ चुका है।

ऋ० म० ५ सू० १५ म० १५। का भी मिलान करें ॥

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ॥

(सूर्याचन्द्रमसौ इव) सूर्य और चन्द्रमा के समान (स्वस्ति) कल्याणयुक्त (पन्थाम्) मार्ग पर (अनुचरेम) हम चलते रहें ॥

आ प्र द्र॑व पर॒मस्याः॑ परा॒वतः॑ शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म्। तद॒यं राजा॒ वरु॑ण॒स्तथा॑ह॒ स त्वा॒यम॑ह्व॒त् स उपे॒दमेहि॑ ॥ ५ ॥

१२। १। सूर्यचन्द्रौ। अग्रे। मुख्यपदे वर्त्तमानम्। **मित्रावरुणा**। अ० १। २०। २। प्राणापानौ। अहोरात्रौ। **उभा**। उभौ। **विश्वेदेवाः**। सर्वे व्यवहारिणः। **मरुतः**। अ० १। २०। १। शूराः पुरुषाः। **ह्वयन्तु**। आह्वयन्तु। **अधा**। =अथ। पुनः। **मनः**। चित्तम्। **वसुदेयाय**। अचो यत्। पा० ३। १। ९७। इति वसु+दाञ् दाने-भावे यत्। ईद्यति। पा० ६। ४। ६५। ईकारादेशः। वसुनो धनस्य प्रदानाय। अन्यत् सुगमम्। **ततो न** इत्यादि व्याख्यातं म० २ ॥

आ । प्र । द्रव । पुरमस्याः । पुरा-वतः । शिवे इति । ते । द्यावा-पृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् । तत् ॥ अयम् । राजा । वरुणः । तथा । आह । सः । त्वा । अयम् । अह्वत् । सः । उप । इदम् । आ । इहि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(परमस्याः) अत्यन्त (परावतः) दूर देश से (आ, प्र, द्रव) आकर पधार । (ते) तेरे लिये (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी=०—द्यौ) सूर्य और पृथिवी (शिवे) मङ्गलकारी (स्ताम्) होवें । (तथा) वैसा ही (अयम्) यह (राजा) राजा (वरुणः) सब में श्रेष्ठ परमेश्वर (तत्) यह (आह) कहता है । (सः) सो (अयम्) इस [वरुण परमेश्वर] ने (त्वा) तुझको (अह्वत्) बुलाया है । (सः=सः त्वम्) सो तू (इदम्) इस [राज्य] को (उप) आदर पूर्वक (आ) आकर (इहि) प्राप्त कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—प्रजा गण श्रेष्ठ राजा को दूर देश से भी बुला लेवें, और वह अपने बुद्धिबल से ऐसा प्रबन्ध करे कि राज्य भर में दैवी और पार्थिव शान्ति रहे, अर्थात् अनावृष्टि और दुर्भिक्षादि में भी उपद्रव न मचे, और आकाश, पृथिवी और समुद्रादि के मार्ग अनुकूल रहें । यही आज्ञा परमेश्वर ने वेदों में दी है, उसको राजा यथावत् माने ॥ ५ ॥

५—**आ** । आगत्य । **प्र द्रव** । द्रु गतौ । प्रकर्षेण प्राप्नुहि । **परमस्याः** । स्याडागमः । अत्यन्तात् । **परावतः** । उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे, पा० ५ । १ । ११८ । इति उपसर्गसाधने धात्वर्थे स्वार्थे वतिः प्रत्ययः । परावतः प्रेरितवतः परागताद्वा-निरु० ११ । ४८ । दूरदेशात् । **शिवे** । मङ्गलकारिण्यौ । **ते** । तुभ्यम् । **द्यावापृथिवी** । सूर्यभूमी । तत्रत्याः पदार्था इत्यर्थः । **स्ताम्** । भवताम् । **तत्** । प्रसिद्धं वचनम् । **अयम्** । सर्वव्यापकः । **राजा** । ईश्वरः । समर्थः । **वरुणः** । वरणीयः । परमेश्वरः । **तथा** । तेनैव प्रकारेण । **आह** । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लट् । ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः । पा० ३ । ४ । ८४ । इति आहादेशः परस्मैपदे । ब्रवीति । कथयति । **अह्वत्** । ह्वेञ्—लुङ् । आहूतवान् । **उप** । पूजायाम् । **इहि** । इण् गतौ । प्राप्नुहि । अन्यत् सुगमम् ॥

इन्द्रेन्द्र मनुष्या३ः परेहि सं ह्यज्ञास्था वरुणैः संविदानः । स त्वायमह्वत् स्वे सधस्थे स देवान् यक्षत् स उ कल्पयाद् विशः ॥ ६ ॥

इन्द्र-इन्द्र । मनुष्याः । परा । इहि । सम् । हि । अज्ञास्थाः । वरुणैः । सम्-विदानः ॥ सः । त्वा । अयम् । अह्वत् । स्वे । सध-स्थे । सः । देवान् । यक्षत् । सः । ऊं इति । कल्पयात् । विशः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रेन्द्र) हे राजराजेश्वर ! (मनुष्याः=मनुष्यान्) मनुष्यों को (परेहि) समीप से प्राप्त कर, (हि) क्योंकि (वरुणैः) श्रेष्ठ पुरुषों से (संविदानः) मिलाप करता हुआ तू (सम्) यथाविधि (अज्ञास्थाः) जाना गया है । (सः अयम्) सो इस [प्रत्येक मनुष्य] ने (त्वा) तुझको (स्वे सधस्थे) अपने समाज में (अह्वत्) बुलाया है । (सः=सः भवान्) सो आप (देवान्) व्यवहार कुशल पुरुषों का (यक्षत्) सत्कार करें, (सः उ=सः उ भवान्) वही आप (विशः) प्रजाओं को (कल्पयात्) समर्थ करें ॥ ६ ॥

६—**इन्द्रेन्द्र** । हे इन्द्राणामिन्द्र । राजराजेश्वर । **मनुष्याः** । मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च । पा० ४ । १ । १६१ । इति मनु-यत्-षुक् च । मनुर्मननम् । शसो नत्वाभावश्छान्दसः । मनुष्यजातीन् मनुष्यान् । मननशीलान् प्रजागणान् **परा** । समीपे । **इहि** । गच्छ । प्राप्नुहि । **हि** । यस्मात् कारणात् । **सम्,अज्ञास्थाः** । ज्ञा अवबोधने-लुङि । सम्प्रतिभ्यामनाध्याने । पा० १ । ३ । ४६ । इत्यात्मनेपदम् । सम्यक्, यथाविधि ज्ञातोऽसि । **वरुणैः** । वरणीयैः । श्रेष्ठैः । वरयितृभिः । **संविदानः** । अ० २ । २८ । २ । सम्+विद ज्ञाने-शानच् । संगच्छमानः । **सः** । स प्रेत्यकजनः । **अह्वत्** । आह्वयति स्म । **स्वे** । स्वकीये । **सधस्थे** । सह+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-क । सध मादस्थयोश्छन्दसि । पा० ६ । ३ । ९६ । इति सहस्य सधादेशः । समाजे । **सः** । स भवान् राजा । **देवान्** । व्यवहारिणः पुरुषोत्

भावार्थ—प्रजापालक राजा विद्वान् चतुर मनुष्यों से मिलाता रहे और सुपात्रों को योग्यतानुसार पदाधिकारी करे ॥ ६ ॥

पथ्या॑ रे॒वतीर्ब॑हु॒धा विरू॑पाः सर्वाः॑ सं॒गत्य॒ वरी॑यस्ते अक्रन्। तास्त्वा॒ सर्वाः॑ संविदा॒ना ह्व॑यन्तु दश॒मीमु॒ग्रः सु॒मना॑ वशे॒ह ॥ ७ ॥

प॒थ्याः॑ । रे॒वतीः॑ । ब॒हु॒-धा । वि-रू॑पाः । सर्वाः॑ । स॒म्-गत्य॑ । वरी॑यः । ते॒ । अ॒क्र॒न् ॥ ताः । त्वा॒ । सर्वाः॑ । स॒म्-वि॒दा॒नाः । ह्व॒य॒न्तु॒ । द॒श॒मीम् । उ॒ग्रः सु॒-मनाः॑ । व॒श॒ । इ॒ह ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(पथ्याः) मार्ग पर चलने वाली, (रेवतीः=०—त्यः) धन वाली, (बहुधा) प्रायः (विरूपाः) विविध आकार वा स्वभाव वाली (सर्वाः) सब [प्रजाओं] ने (संगत्य) मिलकर (ते) तेरे लिये (वरीयः) अधिक विस्तीर्ण वा श्रेष्ठ [पद] (अक्रन्) किया है। (ताः सर्वाः) वे सब [प्रजायें] (संविदानाः) एकमत होकर (त्वा) तुझको (ह्वयन्तु)

मान्। **यक्षत्**। यजतेर्लेटि अडागमः। सिब् बहुलं लेटि। पा० ३।१।३४। इति सिप्। यजतु। सत्करोतु। उ। अवधारणे। **कल्पयात्**। कृपू। सामर्थ्ये णिचि लेटि आडागमः। कल्पयतु। समर्थयतु। **विशः**। प्रजाः॥

७—**पथ्याः**। धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते। पा०४।४।९२। इति पथिन्–यत्। पथोऽनपेताः। सुमार्गगामिन्यः। **रेवतीः**। रयेर्मतौ बहुलम्। वा० पा० ६।१।३७। इति रयि–मतुप्, संप्रसारणं गुणश्च। छन्दसीरः। पा० ८।२।१५। इति मतुपो वत्वम्। ङीप्। विभक्तौ पूर्वसवर्णदीर्घः। रेवत्यः। धनवत्यः **बहुधा**। प्रायः। **विरूपाः**। विविधाकाराः : नानास्वभावाः। **सर्वाः**। अखिलाःप्रजाः। **संगत्य**। संभूय। **वरीयः**। प्रियस्थिर०। पा० ६।४।१५७। इति उरु+ईयसुनि वरादेशः। यद्वा, वर+ईयसुन्। उरुतरं वरतरं पदं सिंहासनं वा। **ते**। तुभ्यम्। **अक्रन्**। करोतेर्लुङि च्लेर्लुक्। कृतवत्यः। **संविदानाः**।

पुकारें। (उग्रः) तेजस्वी और (सुमनाः) प्रसन्न चित्त तू (इह) इस [राज्य] में (दशमीम्) दसमी [नव्वे वर्ष से ऊपर] अवस्था को (वश) वश में कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—सब प्रजा गण मिलकर और सुमार्ग में चलकर राजा को सिंहासन पर बिठलावें और अपना रक्षक बनावें। और वह राजा भी इस प्रकार से न्याय और आनन्द करता हुआ नीरोग पूर्ण आयु भोगे ॥ ७ ॥

सूक्तम् ५ ।

१—८ ॥ पर्णमणिर्देवता । १, ४ त्रिष्टुप् । २, ३, ५—८ अनुष्टुप् ॥

तेजोबलायुर्धनादिपुष्ट्य उपदेशः—तेज, बल, आयु, धनादि बढ़ाने का उपदेश ॥

आयमगन् पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन् त्सपत्नान् । ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥ १ ॥

आ । अयम् । अगन् । पर्ण-मणिः । बली । बलेन । प्र-मृणन् । स-पत्नान् ॥ ओजः । देवानाम् । पयः । ओषधीनाम् । वर्चसा । मा । जिन्वतु । अप्र-यावन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम् यह (बली) बली (पर्णमणिः) पालन करने वालों में प्रशंसनीय [परमेश्वर] (बलेन) अपने बल से (सपत्नान्) हमारे बैरियों

मं० ६ । संगच्छमानाः । ऐकमत्यं प्राप्ताः सत्यः । ह्वयन्तु । आह्वयन्तु रक्षार्थम् । दशमीम् । नवतिसंवत्सरोर्ध्वभाविनीं चरमावस्थाम् । उग्रः । पराक्रमी । सुमनाः । प्रसन्नचितः । दयालुः । वश । आयत्तीकुरु । इह । अस्मिन् राज्ये ॥

१—अयम् । सर्वत्र वर्तमानः । आ, अगन् । गमेर्लुङ् । आगतवान् ।

को (प्रमृणन्) विध्वंस करता हुआ (आ अगन्) प्राप्त हुआ है (देवानाम्) इन्द्रियों का (ओजः) बल और (ओषधीनाम्) अन्नादि औषधों का (पयः) रस, (अप्रयावन्=०-वा) भूल न करने वाला वह (मा) मुझको (वर्चसा) तेज से (जिन्वतु) सन्तुष्ट करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अन्तर्यामी परम कारण परमेश्वर अपने सामर्थ्य से हमारे विघ्नों को हटाकर हमें ओजस्वी इन्द्रियां और पुष्टिकारक अन्नादि पदार्थ देकर उपकार करता है। वैसे ही हम ओजस्वी, पराक्रमी होकर परस्पर उपकार करते रहें ॥ १ ॥

मयि क्ष॒त्रं प॑र्णमणे॒ मयि धारयताद्‌ र॒यिम् ।
अ॒हं रा॒ष्ट्रस्या॑भीव॒र्गे नि॒जो भू॑यासमुत्त॒मः ॥ २ ॥

मयि । क्ष॒त्रम् । प॒र्ण॒-म॒णे॒ । मयि । धा॒र॒य॒ता॒त् । र॒यिम् ॥
अ॒हम् । रा॒ष्ट्रस्य॑ । अ॒भि॒-व॒र्गे । नि॒-जः । भू॒या॒स॒म् । उ॒त्-त॒मः ॥२॥

भाषार्थ—(पर्णमणे) हे पालन करने वालों में प्रशंसनीय ! तू (मयि)

प्राप्तवान्। पर्णमणिः। धापृवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति पृ पालने पूर्त्तौ च न। सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति मण शब्दे-इन्। मण्यते स्तूयते स मणिः। पालकेषु स्तुत्यः। बली। शक्तिमान्। बलेन। शक्त्या। प्रमृ-णन्। विनाशयन्। सपत्नान्। शत्रून्। ओजः। सामर्थ्यम्। देवा-नाम्। इन्द्रियाणाम्। पयः। दुग्धम्। अन्नम्। रसः। सारः। ओषधी-नाम्। अ० १। २३। १। ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः। मनु० १। ४६। व्रीहियवादीनाम्। रोगनाशकद्रव्याणाम्। वर्चसा। तेजसा। मा। माम्। जिन्वतु। जिवि प्रीणने। इदितो नुम्। प्रीणयतु। तर्पयतु। अप्रयावन्। यातेर्वनिप्। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। इति सोर्लुक्। नलोपाभावश्छान्दसः। अप्रयावा। अप्रगन्ता। अनपगन्ता अप्रमादशीलः सन् ॥

२—मयि। ईश्वरोपासके। क्षत्रम्। अ० २। १५। ४। क्षतेर्हिंसनात्

मुझ में (क्षत्रम्) बल, और (मयि) मुझ में ही (रयिम्) सम्पत्ति (धारतायत्) स्थापित कर। (अहम्) मैं (राष्ट्रस्य) राज्य के (अभीवर्गे) मण्डल में (निजः) आप ही (उत्तमः) उत्तम (भूयासम्) बना रहूं ॥ २ ॥

भावार्थ — मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का ध्यान करता हुआ अपने बुद्धिबल और बाहुबल से शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति और सुवर्णादि धन प्राप्त करके संसार भर में कीर्त्ति बढ़ावे और आनन्द भोगे ॥ २ ॥

यं नि॒द॒धुर्वन॒स्पतौ॒ गुह्यं॑ दे॒वाः प्रि॒यं म॒णिम् ।
तम॒स्मभ्यं॑ स॒हायु॑षा दे॒वा द॑दतु॒ भर्त॑वे ॥ ३ ॥

यम् । नि॒-द॒धुः । वन॒स्पतौ॑ । गुह्य॑म् । दे॒वाः । प्रि॒यम् । म॒णिम् ॥ तम् । अ॒स्मभ्य॑म् । स॒ह । आयु॑षा । दे॒वाः । द॒द॒तु॒ । भर्त॑वे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (गुह्यम्) गुप्त, (प्रियम्) प्रिय वा हितकारी (मणिम्) प्रशंसीय [परमेश्वर] को (देवाः) व्यवहार जानने वाले देवताओं ने (वनस्पतौ) वननीय अर्थात् सेवनीय गुणों के रक्षक [पुरुष] में (निदधुः) अवश्य दान किया है, (तम्) उस [परमेश्वर] को (अस्मभ्यम्)

जायते। बलम्। **पर्णमणे**। म० १। हे पालकेषु प्रशंसनीय। **धारयतात्** धारयतेर्हेस्तातङ् आदेशः। धारय। स्थापय। **रयिम्**। अ० १। १५। २। रा दानादानयोः-इ, युक्। धनम्-निघ० २। १०। सम्पत्तिम्। **राष्ट्रस्य**। अ० १। २६। १। राज्यस्य। **अभीवर्गे**। अभि+वृजी वर्जने-घञ्। उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्। पा० ६। ३। १२२। इति दीर्घः। अभिगतो वर्गो मनुष्यादिसमूहो यस्मिन्। राज्यमण्डले। **निजः**। नि+जनी प्रादुर्भावे-ड। निश्चयेन जायते। स्वकीयः। **भूयासम्**। भू-आशीर्लिङ्। अहं भवानि। **उत्तमः**। उत्कृष्टतमः॥

३—**यम्**। प्रसिद्धम्। **निदधुः**। नि धाञ् धारणपोषणदानेषुलिट्। निहितवन्तः। स्थापितवन्तः। निश्चयेन दत्तवन्तः। **वनस्पतौ**।

हमें (देवाः) तेजस्वी महात्मा पुरुष (आयुषा सह) बड़ी आयु के साथ (भर्तवे) हमारे पोषण करने के लिये (ददतु) दान करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—सूक्ष्मदर्शी देवताओं ने निश्चय किया है कि वह अन्तर्यामी, सर्वहितकारी परमेश्वर प्रत्येक शुभचिन्तक पुरुष में वर्तमान रहकर साहस बढ़ाता है, उसी परमात्मा का उपदेश विद्वान् महात्मा संसार में करें ॥ ३ ॥

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः। तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ४ ॥

सोमस्य। पर्णः। सहः। उग्रम्। आ। अगन्। इन्द्रेण। दत्तः। वरुणेन। शिष्टः॥ तम्। प्रियासम्। बहु। रोचमानः। दीर्घायु-त्वाय। शत-शारदाय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्य वाले और (वरुणेन) स्वीकरणीय श्रेष्ठ, गुरु आदि करके (दत्तः) हमें दिया हुआ और (शिष्टः) सिखाया

म० १। १२। ३। वन सेवने—अच्। पारस्करादित्वात् सुट्। वन्यते सेव्यते वनः। वनानां वननीयानां गुणानां पत्यौ रक्षके पुरुषे। **गुह्यम्**। तदर्हति। पा० ५। १। ६३। इति गुहा+यत्। गुहां गोपनमर्हतीति। यद्वा। शंसिगुहि-दुहिभ्यो वा। वार्त्तिकम्, पा० ३। १। १०६। इति गुहू संवरणे—कर्मणि क्यप्। गुहायां हृदये गुप्तम्। **प्रियम्**। प्रीतिकरम्। हितकारम्। **मणिम्**। म० १। प्रशंसनीयं परमेश्वरम्। **तम्**। मणिम्। तस्य परमेश्वरस्य बोधमित्यर्थः। **अस्मभ्यम्**। अस्मदर्थम्। अस्माकं लाभाय। **सह**। सहितम्। **आयुषा**। चिरजीवनेन। **देवाः**। तेजस्विनः पुरुषाः। **ददतु**। डुदाञ् दाने—लोट्। प्रयच्छन्तु। **भर्तवे**। तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्सेकसेन्० । पा० ३। ४। ९। इति डुभृञ् धारणपोषणयोः—तवेन्। पालनाय। भरणाय॥

४—**सोमस्य**। ऐश्वर्यस्य। अमृतस्य। मोक्षस्य। **पर्णः**। म० १।

हुआ (सोमस्य) अमृत का (पर्णः) पूर्ण करने वाला परमेश्वर, (उग्रम्) पराक्रम वाला (सहः) बल [बलरूप], (आ) सब ओर से (अगन्) मिला है। (बहु) अनेक प्रकार से (रोचमानः) रुचि करता हुआ मैं (तम्) उस [अमृतपूरक परमेश्वर] को (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतु युक्त (दीर्घायुत्वाय) बड़े जीवन के लिये (प्रियासम्) प्रसन्न करूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विद्वानों की शिक्षा पाकर शुद्ध हुक्त स्वभाव परमेश्वर के ज्ञान से आत्मा में बल पाता है, तब वह धर्मात्मा बड़े उत्साह से परमात्मा की आज्ञा पालता हुआ बड़े अर्थात् यशस्वी जीवन के साथ आनन्द भोगता है ॥ ४ ॥

(इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः) यह पाद अ० २ । २६ । ४ । में और (दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) यह पाद अ० १ । ३५ । १ । में आचुके हैं ॥

आ मा॑रुक्षत् प॒र्णम॒णिर्म॒ह्या अ॑रि॒ष्टता॑तये ।
यथा॒हमु॑त्त॒रोऽसा॑न्यर्य॒म्ण उ॒त सं॒विदः॑ ॥ ५ ॥

आ । मा । अ॒रु॒क्ष॒त् । प॒र्ण॒-म॒णिः । म॒ह्यै । अ॒रि॒ष्ट-ता॑तये ॥ यथा॑ । अ॒हम् । उ॒त्त॒रः । असा॑नि । अ॒र्य॒म्णः । उ॒त । स॒म्-विदः॑ ॥ ५ ॥

पालकः । पूरकः । सहः । बलरूपः परमेश्वरः । उग्रम् । उत्कटम् । आ । समन्तात् । सम्यक्प्रकारेण । अगन् । अगमत् । प्राप्तः । इन्द्रेण । परमैश्वर्यवता तेजस्विना पुरुषेण । दत्तः । प्रापितः । वरुणेन । श्रेष्ठेन । शिष्टेन । अ० २ । २६ । ४ । शिक्षितः । अनुज्ञातः । तम् । सोमस्य पर्णम् । प्रियासम् । प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च—आशीर्लिङ् । तर्पयामि । प्रसन्नीक्रियासम् । बहु । अनेकविधम् । रोचमानः । रुच प्रीतिप्रकाशयोः—शानच् । रोचिष्णुः । प्रसन्नः । दीप्यमानः । दीर्घायुत्वाय । अ० १ । ३५ । १ । चिरजीवनाय । शतशारदाय । अ० १ । ३५ । १ । शतशरदृतुयुक्ताय ॥

भाषार्थ—(पर्णमणिः) पालन करने वालों में श्रेष्ठ परमेश्वर (मह्यै अरिष्टतातये) बड़ी कुशलता के लिये (मा) मेरे (आ, अरुहत्) ऊपर बैठा है। (यथा) जिससे (अहम्) मैं (अर्यम्णः) श्रेष्ठों के मान करने वाले, (उत) और (संविदः) ज्ञानी पुरुष से (उत्तरः) अधिक श्रेष्ठ (असानि) हो जाऊं ॥ ५ ॥

भावार्थ—सर्वोपरि परमेश्वर अन्तर्यामी होकर हमें दुष्कर्मों से बचने की प्रेरणा करता है जिससे हम श्रेष्ठों में अति श्रेष्ठ और ज्ञानियों में अति ज्ञानी होवें ॥

ये धीवा॑नो रथका॒राः क॒र्मा॒रा ये म॑नी॒षिणः॑ ।
उ॒प॒स्तीन् प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न् कृ॒ण्व॒भितो॒ जना॑न् ॥६॥

ये । धीवा॑नः । र॒थ॒-का॒राः । क॒र्मा॒राः । ये । म॒नी॒षिणः॑ ॥ उ॒प॒-स्तीन् । प॒र्ण॒ । मह्य॑म् । त्वम् । सर्वा॑न् । कृ॒णु॒ । अ॒भितः॑ । जना॑न् ॥ ६ ॥

५—मा । माम् । आ, अरुहत् । रुह जन्मप्रादुर्भावयोः—लुङ् । आरूढवान् । उपरि विराजमानोऽभूत् । पर्णमणिः । म० १ पालकेषु श्रेष्ठः । मह्यै । महत्यै । अरिष्टतातये । रिष हिंसायाम्—क्त । रिष्टं हिंसनम् । उपद्रवः । उत्पातः । नञ्समासः । शिवशमरिष्टस्य करे । पा० ४ । ४ । १४३ । इति अरिष्ट-करोत्यर्थे तातिल् । प्रत्ययः । लिति । पा० ६ । १ । १९३ । इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तः । रिष्टवर्जनाय । अनुपद्रवाय । क्षेमकरणाय । यथा । येन प्रकारेण । अहम् । परमेश्वरोपासकः । उत्तरः । उत्कृष्टः । असानि । अस्तेर्लोट् । भवानि । अर्यम्णः । श्वनुक्षन पूषन्प्लीहन् उ० १ । १५९ । इति अर्य+माङ् माने शब्दे च—कनिन् । अर्यान् श्रेष्ठान् मातीति । श्रेष्ठानां सत्कारकात् । उत । अपि च । संविदः । सम्+विद ज्ञाने—क्विप् । ज्ञानिनः पुरुषात् ॥

भाषार्थ—(ये) जो (धीवानः) तीक्ष्ण बुद्धिवाले (रथकाराः) रथों के बनाने वाले, और (ये) जो (मनीषिणः) बड़े पण्डित (कर्माराः) कर्मों में गति रखनेवाले शिल्पी जन हैं। (पर्ण) हे पालन करनेवाले परमेश्वर ! (त्वम्) तू (मह्यम्) मेरे लिये (सर्वान्) इन सब (जनान्) जनों को (अभितः) चारों ओर से (उपस्तीन्) समीपवर्ती (कृणु) कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों और विशेष कर राजा लोगों को चाहिये कि भूमिरथ, आकाशरथ, जलरथ आदि के बनाने वाले और अन्य शिल्पकर्मी विश्वकर्मा चतुर विद्वानों का सत्कार करते रहें जिससे अनेक व्यापारों से संसार में उन्नति होवे ॥ ६ ॥

ये राजा॑नो राज॒कृत॑: सू॒ता ग्रा॑म॒ण्य॑श्च॒ ये ।
उ॒प॒स्तीन् प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न् कृण्व॒भितो॒ जना॑न् ॥७॥

ये । राजा॑नः । रा॒ज॒ऽकृत॑: । सू॒ताः । ग्रा॒म॒ण्य॑: । च॒ । ये ॥

६—**ये** । प्रसिद्धाः । **धीवानः** । ध्याप्योः सम्प्रसारणं च । उ० ४ । ११५ । इति ध्यै चिन्तने-क्वनिप् । ध्यानशीलाः । पण्डिताः । **रथकाराः** । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति रथ+कृञ्—अण् । विमानादिनिर्मातारः । **कर्माराः** । कर्म+ऋ गतौ—अण् पूर्ववत् । कर्माणि ऋच्छन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्तीति । विश्वकर्माणः । कर्मकाराः । अस्त्रशस्त्रकारिणः । **मनीषिणः** । कॄतॄभ्यामीषन् । उ० ४ । २६ । इति मनु अवबोधने-ईषन् । टाप् । मनीषा प्रज्ञाऽस्यास्ति व्रीह्यादित्वाद् इनि । यद्वा । ईष गतौ—अ,टाप् । शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् । वार्त्तिकम् । पा० ६ । १ । ९४ । इति पररूपम् । मनस् ईषा मनस ईषा मनीषा मनोगतिबुद्धिः । पूर्ववद्—इनि । मेधाविनः पुरुषाः-निघ० ३ । १५ । पण्डिताः । **उपस्तीन्** । उप+अस सत्तायाम्, यद्वा, आस उपवेशने-क्तिच् । आदिलोपश्छान्दसः । समीपे विद्यमानान् । उपासीनान् । **पर्ण** । म० १ । हे पालक, पूरक । **मह्यम्** । मदर्थम् । **सर्वान्** । अखिलान् । **कृणु** । कुरु । **अभितः** । सर्वतः । **जनान्** । लोकान् ॥

उप-स्तीन् । पर्ण । मह्यम् । त्वम् । सर्वान् । कृणु । अभितः । जनान् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (राजानः) ऐश्वर्यवाले (राजकृतः) राजाओं के बनाने वाले, (च) और (ये) जो (सूताः) सर्वप्रेरक, (ग्रामण्यः) ग्रामों के नेता लोग हैं। (पर्ण) हे पालन करने वाले परमेश्वर ! (त्वम्) तू (मह्यम्) मेरे लिये (सर्वान्) उन सब (जनान्) जनों को (अभितः) चारों ओर से (उपस्तीन्) समीपवर्त्ती (कृणु) कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—चक्रवर्ती राजा सबके राजाधिराज परमेश्वर का ध्यान करता हुआ अपने हितकारी माण्डलिक राजाओं और अन्य प्रधान पुरुषों को यथोचित व्यवहार से अपना इष्ट मित्र बनाये रक्खे ॥ ७ ॥

पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया ।
संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

पर्णः । असि । तनू-पानः । स-योनिः । वीरः । वीरेण । मया ॥ सम्-वत्सरस्य । तेजसा । तेन । बध्नामि । त्वा । मणे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(मणे) हे प्रशंसनीय परमेश्वर ! तू (पर्णः) हमारा पूर्ण करने वाला, (तनूपानः) शरीर रक्षक और (वीरेण मया) मुझ वीर के

७—ये । हितकारिणः । **राजानः** । राजृ दीप्तौ, ऐश्वर्ये च—कनिन् । दीप्यमानाः । ऐश्वर्यवन्तः । **राजकृतः** । राजन्+कृञ् करणे—क्विप्, तुक् च । राज्ञां कर्तारः, अभिषेचकाः । **सूताः** । षू प्रेरणे, ऐश्वर्ये, प्रसवे च—क्त । प्रेरकाः । ऐश्वर्यवन्तः । सूर्याः, सूर्यवत् तेजस्विनः । **ग्रामण्यः** । ग्राम+णीञ् प्रापणे—क्विप् । ग्रामं संघस्थं तत्रस्थान् जनान् नयतीति ग्रामणीः । प्रधानाः । अविशिष्टम् । अन्यद् व्याख्यातं म० ६ ॥

८—**पर्णः** । पूरकः । पालकः । **असि** । भवसि । **तनूपानः** । शरीररक्षकः । **सयोनिः** । वहिश्रिश्रुयु० । उ० ४ । ५१ । इति यु मिश्रणामिश्र-

साथ (सयोनिः) मिलने योग्य घर में रहनेवाला (वीरः) वीर (असि) है। (संवत्सरस्य) सब में यथा नियम वास करनेवाले [तेरे] (तेन तेजसा) उस तेज से (त्वा) तुझको (बध्नामि) मैं बांधता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य उस उत्तम कामनाओं के पूरक, और शरीररक्षक महा-पराक्रमी परमेश्वर को अपने साथ सब स्थानोंमें निवास करता हुआ जानकर, और उसके तेजोमय स्वरूप को हृदय में धारण करके पराक्रमी और तेजस्वी होकर आनन्द भोगे ॥ ८ ॥

ईश्वर का जीव के साथ नित्य सम्बन्ध है जैसे—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाक-शीति ॥ ऋग्वेद १। १६४। २०॥ अथर्व० ६। ६। २० ॥

(द्वा) दो (सुपर्णा) सुन्दर पालन शक्ति वाले, (सयुजा) समान योग्य रखने वाले, (सखाया) मित्रों के समान वर्त्तमान [ईश्वर और जीव] (समानम्) एक (वृक्षम्) सेवनीय [संसार वा वृक्ष] से (परि) सब प्रकार (सस्वजाते) संबन्ध रखते हैं। (तयोः) उन दोनों में (अन्यः) एक [जीव, ईश्वराधीन होने से] (स्वादु) चखने योग्य (पिप्पलम्) फल [पुण्य पाप का] (अत्ति) खाता है (अन्यः) दूसरा [परमात्मा] (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभि) भले प्रकार [जीवों को] (चाकशीति) देखता है ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः।

सयोः—नि। युतं सम्पृक्तं सर्वपदार्थैः। योनिः, गृहनाम-निघ० ३। ४। समान-गृहयुक्तः। **वीरः**। स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ० २। १३। इति अज गतिक्षेप-णयोः—रक्। अजेर्वीभावः। यद्वा। वीर विक्रान्तौ-पचाद्यच्। यद्वा। वि+ईर गतौ-क। वीरो वीरयत्यमित्रान् वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो वीरयतेर्वा—निरु० १। ७। शूरः। **वीरेण**। पराक्रमिणा। मया। उपासकेन। **संवत्सरस्य**। अ०१।३५।४।संपूर्वाच्चित्। उ०३।७२। इति सम्+वस निवासे-सरन्। स च चित्। सम्यग्वसन्ति लोका यत्र, निवसति लोकेषु यः। सर्वनिवासस्थानस्य परमे-श्वरस्य। **तेजसा**। प्रकाशेन। **तेन**। प्रसिद्धेन। **बध्नामि**। धारयामि। त्वदीयतेजोऽवाप्तये स्वहृदये स्थापयामीत्यर्थः॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ६

१—८ ॥ अश्वत्थो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

उत्साहवर्धनायोपदेशः—उत्साह बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

पुमा॑न् पुं॒सः परि॑जातोऽश्व॒त्थः ख॑दि॒राद॑धि ।
स ह॑न्तु॒ शत्रू॑न् माम॒कान् यान॒हं द्वे॒ष्मि॒ ये च॒ माम् ॥१॥

पुमा॑न् । पुं॒सः । परि॑-जा॒तः । अ॒श्व॒त्थः । ख॒दि॒रात् । अधि॑ ।
सः । ह॒न्तु॒ । शत्रू॑न् । मा॒म॒कान् । यान् । अ॒हम् । द्वे॒ष्मि॑ । ये ।
च॒ । माम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सः) (पुमान्) रक्षाशील (अश्वत्थः) अश्वत्थामा अर्थात् अश्वों, बलवानों में ठहरने वाला पुरुष, अथवा वीरों के ठहरने का स्थान पीपल का वृक्ष, (पुंसः) रक्षाशील (खदिरात् अधि) स्थिर स्वभाव वाले परमेश्वर से, अथवा खैर वृक्ष से (परिजातः) प्रकट होकर (मामकान् शत्रून्) मेरे उन शत्रुओं

१—पुमान् । पातेर्डुमसुन् । उ० ४ । १७८ । इति पा रक्षणे—डुमसुन्, डित्वाद् टिलोपः । पातीति पुमान् [पुमस्] । रक्षकः पुरुषः । पुंसः । रक्षकात् । परिजातः । प्रादुर्भूतो भवति । अश्वत्थः । अशूप्रुषिलटि० । उ० १ । १५१ । इति अशू व्याप्तिसंहत्योः—क्वन् । अश्नुते कार्याणि स अश्वः, बलवान् पुरुषः । सुपि स्थः । पा० ३ । २ । ४ । इति अश्व + ष्ठा गतिनिवृत्तौ—क । पृषोदरादित्वाद् रूपम् । अश्वेषु बलवत्सु तिष्ठतीति सः । अतिवीरपुरुषः । अश्वत्थामा । अथवा । अश्वा वीरास्तिष्ठन्ति यत्र स अश्वत्थः पिप्पलवृक्षः । खदिरात् । अजिरशिशिरशिथिल० । उ० १ । ५३ । इति खद स्थैर्यहिंसयोः—किरच् । स्थिरस्वभावात् परमेश्वरात् । वृक्षविशेषाद्वा । अधि । पञ्चम्यर्थानुवादी । सः ।

वा रोगों को (हन्तु) नाश करे (यान्) जिन्हें (अहम्) मैं (द्वेष्मि) वैरी जानता हूं, (च) और (ये) जो (माम्) मुझे [वैरी जानते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जो पुरुष सर्वरक्षक दृढ़ स्वभावादि गुण वाले परमेश्वर का विचार करके अपने को सुधारते हैं, वे शूरों में महाशूर होकर कुकर्मी शत्रुओं से बचाकर संसार में कीर्त्ति पाते हैं ॥ १ ॥

२—अश्वत्थ, पीपल का वृक्ष दूसरे वृक्षों के खोखले, घरों की भीतों, और अन्य स्थानों में उगता है, और बहुत गुणकारी है। खैर के वृक्ष पर उगने से अधिक गुणदायक होजाता है। लोग बड़ा आदर करके पवित्र पीपल की चित्त-प्रसादक छाया और वायु में सन्ध्या, हवन, व्यायाम आदि करते, और इस के दूध, पत्ते फल, छाल, लकड़ी से बहुत ओषधें बनाते हैं। शब्दकल्पद्रुम कोष में इस को मधुर, कसैला, शीतल, कफ पित्त विनाशी, रक्तदाहशान्तिकारक आदि, और खदिर अर्थात् खैर को शीतल, तीखा, कसैला, दांतों का हितकारी, कृमि, प्रमेह, ज्वर, फोड़े, कुष्ठ, शोथ, आम, पित्त, रुधिर पांडु और कफ का विनाशक आदि लिखा है ॥

पाद्मोत्तरखण्ड अध्याय १२६, १६०—१६१ में अश्वत्थ की कथा सविस्तार लिखी है।

तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून् वैबाधदोधतः ।
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥

तान् । अश्वत्थ । निः । शृणीहि । शत्रून् । वैबाध-दोधतः ॥
इन्द्रेण । वृत्र-घ्ना । मेदी । मित्रेण । वरुणेन । च ॥ २ ॥

स अश्वत्थः। हन्तु। नाशयतु। शत्रून्। शातयितॄन्। अरीन्। रोगान्। मामकान्। म० १। २६। ५। मदीयान्। यान्। अपकारिणः। द्वेष्मि। द्विष वैरे। प्रतिकूलान् जानामि। ये। अपकारिणः। माम्। उपासकं द्विष-न्तीति विपरिणामेन सम्बन्धः ॥

भाषार्थ—(अश्वत्थ) हे बलवानों में ठहरने वाले शूर ! [वा पीपल वृक्ष] (वृत्रघ्ना) अन्धकार मिटाने वाले (इन्द्रेण) सूर्य से, (मित्रेण) प्रेरणाकरने वाले वायु से (च) और (वरुणेन) स्वीकार करने योग्य जल से (मेदी + सन्) स्नेही होकर (तान्) उन (वैबाधदोधतः) विविध बाधा डालने वाले क्रोधशील (शत्रून्) शत्रुओं वा रोगों को (निः) सर्वथा (शृणीहि) मार डाल ॥२॥

भावार्थ—राजा सूर्यादि के समान गुणयुक्त होकर भीतरी और बाहिरी बैरियों का और सद्वैद्य पीपल के प्रयोग से रोगों का नाश करके प्रजा में शान्ति रक्खे ॥ २ ॥

यथा॑श्वत्थ नि॒रभ॑नो॒ऽन्तर्म॑ह॒त्य॑र्ण॒वे ।
ए॒वा तान्त्सर्वा॒न्निर्भ॑ङ्ग्धि॒ याम॒हं द्वे॒ष्मि॒ ये च॒ माम् ॥३॥

यथा॑ । अ॒श्व॒त्थ॒ । निः॒-अभ॑नः । अ॒न्तः । म॒ह॒ति । अ॒र्ण॒वे ॥
ए॒व । तान् । सर्वा॑न् । निः । भ॒ङ्ग्धि॒ । यान् । अ॒हम् । द्वे॒ष्मि॑ ।
ये । च॒ । माम् ॥ ३ ॥

२—तान् । प्रसिद्धान् । अश्वत्थ । म० १ । हे अश्वेषु बलवत्सु स्थितिशील शूरराजन् । निः । निःशेषम् । शृणीहि । शॄ हिंसायाम् । घातय शत्रून् । अपकारिणः । वैबाधदोधतः । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति विबाध+अण् । विविधं बाधः प्रतिरोधो यस्य स वैबाधः । दोधतिः क्रुध्यतिकर्मा—निघ० २ । १२ । नैरुक्तो धातुः-शतृप्रत्ययः । वैबाधान् विबाधकान् दोधतः क्रोधशीलान् । इन्द्रेण । ऐश्वर्यवता सूर्येण । वृत्रघ्ना । ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु—क्विप् । पा० ३ । २ । ८७ । इति वृत्र+हन वधे-क्विप् । अन्धकारं हतवतः । मेदी । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति ञिमिदा स्नेहे—णिनि । वअन्ताद्वा मत्वर्थीय इनि । स्नेही । मित्रेण । अ० १ । ३ । २ । डुमिञ् प्रक्षेपणे क् । यद्वा । ञिमिदा स्नेहे-त्र । सर्वप्रेरकः । स्नेहवान् । वायुः । मध्यस्थानदेवता-निरु० १० । २१—२२ । वरुणेन । अ० १ । ३ । ३ । मध्यस्थानदेवता-निरु० १० । ३ । वृष्टिजलेन ॥

भाषार्थ—(अश्वत्थ) हे वीरों में ठहरने वाले राजन् ! [वा पीपल वृक्ष!] (यथा) जैसे (महति) बड़े (अर्णवे अन्तः) समुद्र के बीच में (निरभनः) निश्चय करके तू भद्र करने वाला हुआ है । (एव) वैसे ही (तान् सर्वान्) उन सब को (निर्) निरन्तर (भङ्ग्धि) नष्ट करदे, (यान्) जिन्हें (अहम्) मैं (द्वेष्मि) वैरी जानता हूं, (च) और (ये) जो (माम्) मुझे [वैरी जानते हैं] ॥३॥

भावार्थ—मनुष्यों को शूर वीर और सहृदय होकर दुःख सागर में डूबे हुए प्रजागणों के उबारने में प्रयत्न करना चाहिये ॥ ३ ॥

यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः ।
तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि ॥ ४ ॥

यः । सहमानः । चरसि । ससहानः-इव । ऋषभः ॥ तेन । अश्वत्थ । त्वया । वयम् । स-पत्नान् । सहिषीमहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अश्वत्थ) हे शूरों में ठहरनेवाले राजन् ! [वा पीपल वृक्ष] ! (यः) जो तू (सहमानः) [वैरियों को] दबाता हुआ, (ससहानः) महाबली (ऋषभः इव)श्रेष्ठ पुरुष वा बलीवर्द वा ऋषभ औषध के समान (चरसि) विचरता

३—**यथा** । येन प्रकारेण । **अश्वत्थ** । म०१ । हे बलवत्सु स्थितिशील !। पिप्पलवृक्ष! **निरभनः** । भदि कल्याणकरणे—लङि हलङ्यादिना सिपो लोपे दश्च । पा० ८ । २ । ७५ । इति धातुदकारस्य वैकल्पिकं रुत्वम् । निरन्तरं भद्रं कृतवानसि । **महति** । विशाले । **अर्णवे** । अ० १ । १० । ४ । समुद्रे । **निर्** । निश्चयेन । निरन्तरम् । **भङ्ग्धि** । भञ्जो आमर्दने—लोट् । भञ्जय । विदारय । अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च । म० १ ॥

४—**यः** । यस्त्वम् । **सहमानः** । सह अभिभवे-शानच् । शत्रून् अभिभवन् । **चरसि** । गच्छसि । वर्तसे । **ससहानः** । सहेर्यङ्लुगन्तात् लटः शानच् । संहितायां दीर्घः । अत्यर्थमभिभवन् । **इव** । यथा । **ऋषभः** ।

है । (तेन त्वया) उस तेरे साथ (वयम्) हम (सपत्नान्) वैरियों को (सहिषीमहि) हरा देवें ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्रजा गण शूरवीर नीतिनिपुण राजा और सद्वैद्य के सहाय से शत्रुओं को वश में करते रहें । ऋषभ औषध विशेष है । इस को शब्द कल्पद्रुम कोष में मीठा, शीतल, रक्त-पित्त-विरेक—नाशक, वीर्य-श्लेष्म कारी, और दाह-क्षय- ज्वरहारी आदि लिखा है ॥ ४ ॥

सिनात्वे॑नान् । निर्ऋ॑तिर्मृ॒त्योः पाशै॑रमो॒क्यैः ।
अश्व॑त्थ॒ शत्रू॑न् मा॒मका॒न् याना॒हं द्वेष्मि॒ ये च॒ माम्॥५॥

सिनातु॑ । ए॒ना॒न् । निः-ऋ॑तिः । मृ॒त्योः । पाशैः॑ । अ॒मो॒क्यैः॥ अश्व॑त्थ । शत्रू॑न् । मा॒म॒का॒न् । यान् । अ॒हम् । द्वेष्मि॑ । ये । च॒ माम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अश्वत्थ) हे शूरों में ठहरने वाले राजन् ! [वा पीपल वृक्ष !] (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी (मृत्योः) मृत्यु के (अमोक्यैः) न खुल सकने वाले (पाशैः) पाशों से (एनान्) इन (मामकान् शत्रून्) मेरे शत्रुओं को (सिनातु) बांध लेवे, (यान्) जिन्हें (अहम्) मैं (द्वेष्मि) वैरी जानता हूं, (च) और (ये) जो (माम्) मुझे [वैरी जानते हैं] ॥५॥

भावार्थ—राजा सत्पुरुषों के विरोधी दुराचारियों को दृढ़ बन्धनों में डालकर निर्धन और नष्ट करदे ॥५॥

ऋषिवृषिभ्यां कित् । उ० ३ । १२३ । इति ऋष गतौ । दर्शने च—अभक् । ऋषिर्दर्शनात्—निरु० २ । ११ । श्रेष्ठपुरुषो बलीवर्दो वा । औषधविशेषो वा । **तेन** । उक्तलक्षणेन । **त्वया** । अश्वत्थेन । **वयम्** । **सपत्नान्** । शत्रून् । **सहिषीमहि** । सहेराशीर्लिङि रूपम् । सहामहै । अभिभूयास्म ॥

५—**सिनातु** । षिञ् बन्धने । बध्नातु । **एनान्** । समीपवर्त्तिनः । **निर्ऋतिः** । अ० १ । ३१ । २ । निः+ऋ हिंसने—क्तिन् । अलक्ष्मीः । **मृत्योः** । मरणस्य । **पाशैः** । बन्धनैः । **अमोक्यैः** । ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ इति मुच्लृ मोक्षे=त्यागे—ण्यत् । चजोः कु घिण्ण्यतोः । पा० ७ । २ । ५२ । इति कुत्वम् । अमोचनीयैः । अत्याज्यैः । **अश्वत्थ, शत्रून्** । इत्यादि व्याख्यातं म० १ ॥

यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन् कृणुषेऽधरान् ।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग् भिन्धि सहस्व च ॥६॥

यथा । अश्वत्थ । वानस्पत्यान् । आ-रोहन् । कृणुषे । अधं-रान् ॥ एव । मे । शत्रोः । मूर्धानम् । विष्वक् । भिन्धि । सहस्व । च ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिस प्रकार से (अश्वत्थ) हे शूरों में ठहरने वाले अश्वत्थामा राजन् ! [वा पीपल वृक्ष] ! (वानस्पत्यान्) सेवकों वा सेवनीय गणों के रक्षक [आप] से सम्बन्ध वाले पुरुषों [वा वृक्ष समूहों] पर (आरोहन्) ऊंचा होकर (अधरान्) नेचे (कृणुषे) तू करता है, (एव) वैसे ही (मे शत्रोः) मेरे शत्रु के (मूर्धानम्) मस्तक को (विष्वक्) सब विधि से (भिन्धि) तोड़ दे (च) और (सहस्व) जीत ले ॥ ६ ॥

भावार्थ—समस्त और प्रत्येक प्रजागण समर्थ शूर वीर पुरुष वा सद्वैद्य को नायक बनाकर शत्रुओं और रोगों से अपने को बचावें ॥ ६ ॥

तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।
न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ ७ ॥

६—वानस्पत्यान् । वनति सेवते । अथवा । वन्यते सेव्यते स वनः । तेषां पतिः, वनस्पतिः । [वनस्पते] वनस्य सम्भजनीयस्य शास्त्रस्य पालक—इति दयानन्दभाष्ये, यजु० २७ । २१ । ततः । दित्यदित्यादित्य० । पा० ४ । १ । ८५ । इति ण्यप्रत्ययः । सेवकानां सेव्यगुणानां वा पालकस्य संबन्धिनःपुरुषान् । स्वभक्तानित्यर्थः । यद्वा,समूहार्थे ण्यः । वृक्षान् । आरोहन् । रुह जन्मप्रादुर्भावयोः—शतृ । आरूढः, अधिष्ठाता सन् । कृणुषे । करोषि । अधरान् । नीचान् । स्वशरणे रक्षितान् । मूर्धानम् । श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्० । उ० १ । १५६ । इति मुर्व बन्धने—कनिन् । मस्तकम् । विष्वक् । विषु+अञ्चु—क्विन् । सर्वतः । भिन्धि । विदारय । सहस्व । अभिभव ॥

ते । अधराञ्चः । प्र । प्लवन्ताम् । छिन्ना । नौः-इव । बन्धनात् ॥ न । वैबाध-प्रनुत्तानाम् । पुनः । अस्ति । नि-वर्तनम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ते) वे (अधराञ्चः) अधोगति वाले लोग वा रोग (बन्धनात्) बन्धन से (छिन्ना) छूटी हुयी (नौः इव) नाव के समान (प्र प्लवन्ताम्) बहते चले जावें जिस से (वैबाधप्रणुत्तानाम्) विविध बाधा डालने वालों में पड़े हुये लोगों का (पुनः) फिर (निवर्तनम्) लौटना (न) नहीं (अस्ति) है॥७॥

भावार्थ—महादुष्ट रोग वा दुराचारियों के हटाने के लिये कठिन उपाय करना चाहिये, क्योंकि कोमलता से उन का सुधार नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

प्रैणान् नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा ।
प्रैणान् वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे ॥ ८ ॥

प्र । एनान् । नुदे । मनसा । प्र । चित्तेन । उत । ब्रह्मणा ॥
प्र । एनान् । वृक्षस्य । शाखया । अश्वत्थस्य । नुदामहे ॥८॥

भाषार्थ—(एनान्) इन [शत्रुओं] को (मनसा) मनन शक्ति से, (चि-

७-ते । शत्रवः । अधराञ्चः । अधर+अञ्चतेः । क्विन् । अधोगतिं प्राप्ताः । प्रप्लवन्ताम् । प्लुङ् गतौ । प्रवाहेण सह गच्छन्तु । न कदाचित् पारं प्राप्नुवन्तु । छिन्ना । भिन्ना । वियुक्ता । नौः । ग्लानुदिभ्यां डौः । उ० २ । ६४ । इति णुद प्रेरणे—डौ । जलतरणसाधनम् । तरणिः । बन्धनात् । बन्ध-ल्युट् । रज्ज्वाः सकाशात् । न । निषेधे । वैबाधप्रणुत्तानाम् । वैबाधो यथा मन्त्रे २ । प्र+णुद प्रेरणे—क्त, तस्य नः । वैबाधेषु विविधबाधकेषु प्रणुत्तानां प्रेरितानां क्षिप्तानां । पुनः । पश्चात् । अस्ति । भवति । निवर्त्तनम् । नि+वृत—ल्युट् निवृत्य आगमनम् ॥

८—एनान् । पूर्वोक्तान् शत्रून् । नुदे । णुद प्रेरणे । स्वरितेत्त्वाद् आत्मनेपदम् । प्रेरयामि । निः सारयामिः । मनसा । मननयुक्तया । चित्तेन ।

सेन) ज्ञान शक्ति से (उत) और (ब्रह्मणा) वेदशक्ति से (प्र प्र) सर्वथा (नुदे) मैं हटाता हूं। (एनान्) इन को (वृक्षस्य) स्वीकार करने योग्य (अश्वत्थस्य) बलवानों में ठहरने वाले शूर [वा पीपल] की (शाखया) व्याप्ति [वा शाखा] से (प्र नुदामहे) हम निकाल देते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—प्रत्येक व्यक्ति और सब लोग मिलकर शूरवीर वा पीपल के प्रभाव से आगा पीछा विचारकर शत्रुओं को नष्ट कर देते हैं ॥

सूक्तम् ७ ॥

१-७ ॥ १-३ हरिणो देवता, ४-७ मन्त्रोक्ता देवताः। अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशनायोपदेशः—रोग नाश करने के लिये उपदेश ॥

हरिणस्य रघुष्योऽधि शीर्षणि भेषजम्।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत् ॥ १ ॥

हरिणस्य। रघु-स्यदः। अधि। शीर्षणि। भेषजम् ॥ सः। क्षेत्रियम्। विसानया। विषूचीनम्। अनीनशत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(रघुष्यदः) शीघ्रगामी (हरिणस्य) अन्धकार हरने वाले सूर्य रूप परमेश्वर के (शीर्षणि अधि) आश्रय में ही (भेषजम्) भय जीतने वाला औषध है। (सः) उस [ईश्वर] ने (विषाणया) विविध दानों से (क्षेत्रियम्)

चिती ज्ञाने-कः। ज्ञानशक्त्या। ब्रह्मणा। वेदविज्ञानेन। वृक्षस्य। इगुपधज्ञाप्रीकिरः। पा० ३।१।१३५। इति वृञ् वरणे-क। वरणीयस्य। विटपस्य वा। शाखया। शाख व्याप्तौ-अच्, टाप्। व्याप्त्या। पूर्णतया। वृक्षावयवेन। अश्वत्थस्य। म० १। बलवत्सु स्थितिशीलस्य शूरस्य। पिप्पलस्य। नुदामहे। प्रेरयामः ॥

१—हरिणस्य। श्यास्त्याहृञविभ्य इनच्। उ० २। ४६। इति हृञ् हरणे-इनच्। दुःखहरणशीलस्य परमेश्वरस्य। सूर्यस्य। पशुविशेषस्य मृगस्य। रघु-

शरीर वा वंश के रोग को (विषूचीनम्) सब ओर से (अनीनशत्) नष्ट कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने आदि सृष्टि में वेद द्वारा हमारे स्वाभाविक और शारीरिक रोगों की औषधि दी है उसी के आज्ञापालन में हमारा कल्याण है ॥

(हरिण) "शब्दकल्पद्रुम" कोष में विष्णु, शिव, सूर्य, हंस और पशु विशेष मृग का नाम है और पहिले चारों नाम प्रायः परमेश्वर के हैं ॥

दूसरा अर्थ ॥

(रघुष्यदः) शीघ्रगामी (हरिणस्य) हरिण के (शीर्षणि अधि) मस्तक के भीतर (भेषजम्) औषध है । (सः) उस [हरिण] ने (विषाणया) [अपने] सींग से (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के रोग को (विषूचीनम्) सब ओर (अनीनशत्) नष्ट कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मृग के सींग आदि से मनुष्य बड़े २ रोग नष्ट करें । मृग की नाभि में प्रसिद्ध औषधि कस्तूरी होती है । उस का सींग पसली आदि की पीड़ा में लगाया जाता है, प्रायः घरों में रक्खा रहता है और उस में नौसादर भी होता है । [विषाणम्] सींग कुष्ठ का औषध है ॥ १ ॥

ष्यदः । लङ्घिबंह्योर्नलोपश्च । उ० १ । २९ । इति लघि अभुग्गत्योः—कु, नलोपः । बालमूललघ्वसुरालम० वा० पा० ८ । २ । १८ । इति लस्य रत्वम् । स्यन्देः क्विप् । अनिदिताम्० । पा० ६ । ४ । २४ । इति नलोपः । शीघ्रगामिनः । **अधि** । सप्तम्यर्थानुवादी । **शीर्षणि** । श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च । उ० ४ । १९४ । इति श्रिञ् सेवने-असुन् । इति शिरः । शीर्षंश्छन्दसि । पा० ६ । १ । ६० । इति शिरः शब्दस्य शीर्षन्, इत्यादेशः । आश्रये । मस्तके । **भेषजम्** । अ० १ । ४ । ४ । भयजेतृसामर्थ्यम् । **सः** । पूर्वोक्तो हरिणः । **क्षेत्रियम्** । अ० २ । ८ । १ । क्षेत्र-घच् । क्षेत्रे देहे वंशे वा जातं रोगं दोषं वा । **विषाणया** । वि+षणु दाने, सेवने च-घञ् टाप् । विषाणां विशेषेण मदस्य दातारम् इति सायणः ऋ० ५ । ४४ ११ । विषाणेन । विविधदानेन । शृङ्गेण । **विषूचीनम्** । विषु+अञ्चतेः-क्विन् । अनिदितां हल उप० । पा० ६ । ४ । २४ । इति नलोपः । विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम् । पा० ५ । ४ । ८ । इति स्वार्थे खः । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । इत्यकारलोपे । चौ । पा० ६ । ३ । १३८ । इति दीर्घः । विष्वक्, सर्वतः । **अनीनशत्** । णश अदर्शने-णिच्, लुङ् । नाशितवान् ॥

अनु॑ त्वा हरि॒णो वृषा॑ प॒द्भिश्च॒तुर्भि॑रक्रमीत् ।
वि॒षा॒णे॒ वि ष्य॑ गुष्पि॒तं यद॑स्य क्षेत्रि॒यं हृ॒दि ॥ २ ॥

अनु॑ । त्वा॒ । ह॒रि॒णः । वृषा॑ । प॒त्-भिः । च॒तुः-भिः । अ॒क्र॒-मी॒त् ॥ वि-षा॒णे । वि । स्य॒ । गु॒ष्पि॒तम् । यत् । अ॒स्य॒ । क्षे॒त्रि॒यम् । हृ॒दि ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य] (वृषा) परम ऐश्वर्यवाला (हरिणः) विष्णु भगवान् (चतुर्भिः) मांगने योग्य [अथवा चार, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष] (पद्भिः) पदार्थों के साथ (त्वा अनु) तेरे साथ २ (अक्रमीत्) पद जमाकर आगे बढ़ा है । (विषाणे) [परमेश्वर के] विविध दान में [उस रोग को] (विष्य) नाश करदे (यत्) जो (क्षेत्रियम्) शरीर व वंश का रोग (अस्य) इसके (हृदि) हृदय में (गुष्पितम्=गुफितम्) गुंथा हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अनेक उत्तम २ पदार्थ देकर सदा सहायक रहता है । उसकी अनन्त दया से ओषधि द्वारा नीरोग रहकर अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ २ ॥

दूसरा अर्थ ।

[हे मनुष्य !] (वृषा) बलवान् (हरिणः) हरिण (चतुर्भिः पद्भिः) चारों पैरों से (त्वा अनु) तेरे अनुकूल (अक्रमीत्) प्राप्त हुआ है ।

२—**अनु** । सह । अनुकूलं व्याप्य । **त्वा** । त्वां मनुष्यम् । **हरिणः** । म० १ । विष्णुः । परमेश्वरः । मृगः । **वृषा** । कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ । इति वृषु सेचनप्रजननैश्वर्येषु कनिन् । ऐश्वर्यवान् । इन्द्रः । **पद्भिः** । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति पद स्थैर्ये गतौ च-अच् । पद्दन्नोमास्० । पा० ६ । १ । ६३ इति । पद् आदेशः । स्थातव्यैः । प्राप्तव्यैः । पदार्थैः । पादैः **चतुर्भिः** । चतेरुरन् । उ० ५ । ५८ । इति चते याचने-उरन् । याचनीयैः । चतुःसंख्यकैः धर्मार्थकाममोक्षैर्वा । **अक्रमीत्** । क्रमु पादविक्षेपे, गतौ-लुङ् । पादविक्षेपेण प्राप्तवान् । **विषाणे** । म० १ । वि+षणु दाने-घञ् । विविधदानेन ।

(विषाणे) हे सींग ! [उस रोग को] (विष्य) नाश करदे (यत्) जो (क्षेत्रियम) शरीर वा वंश का रोग (अस्य हृदि) इसके हृदय में (गुष्पितम्) गुंथा हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य हरिण के सींग आदि औषध से रोग निवृत्ति करें ॥ २ ॥

अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिवच्छदिः ।
तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥

अदः । यत् । अव-रोचते । चतुष्पक्षम्-इव । छदिः ॥ तेन । ते । सर्वम् । क्षेत्रियम् । अङ्गेभ्यः । नाशयामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अदः) वह (यत्) जो [वा पूजनीय ब्रह्म] (चतुष्पक्षम्) याचनीय व्यवहारों से युक्त, अथवा चार पक्ष वाले (छदिः इव) घर के समान (अवरोचते) चमकता है । (तेन) उसके द्वारा (ते अङ्गेभ्यः) तेरे अङ्गों से

अथवा (विषाणा) इत्यस्य संबोधनम् । हे शृङ्ग । **वि, स्य** । षो अन्तकर्मणि-लोट् । विनाशय । **गुष्पितम्** । गुफ, गुम्फ ग्रन्थे-क्त । छान्दसं रूपम् । गुफितं गुम्फितं वा ग्रन्थितम् । **यत्** । यत्किंचित् । **अस्य** । समीपवर्त्तिनः पुरुषस्य । **क्षेत्रियम्** । रोगजातम् । **हृदि** । हृदये ॥

३—**अदः** । न+दसु उत्क्षेपे-क्विप् । एतत् । पुरोवर्त्ति । **यत्** । त्यजितनियजि० । उ० १ । १३२ । इति यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु-अदि, स च डित् । सर्वत्रसंगतं सर्वपूजनीयं ब्रह्म । अथवा, सर्वनामैतत् । **अवरोचते** । निश्चयेन व्याप्य वा दीप्यते । **चतुष्पक्षम्** । चते याचने-उरन् । म० २। गृधिपण्योर्दकौ च । उ०३। ६६ । इति पण्ड् व्यवहारे स्तुतौ च-स,कश्चान्तादेशः । यद्वा । पक्ष परिग्रहे-घञ् । याचनीयव्यवहारयुक्तम् । चतुष्कोणं वा । **छदिः** । अर्चिशुचिहुसृपिछदिछर्दिभ्य इसिः । उ० २। १०८ । इति छद संवृतौ+णिच्—इसि । इस्मन्त्रन्क्विषु । पा० ६ । ४ । ९७। इति ह्रस्वः । पटलम् । गृहम् । आच्छादनम् । **तेन** । ब्रह्मणा । **ते** । तव । **सर्वम्** ।

(सर्वम्) सब (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के रोग को (नाशयामसि = ०-मः) हम नाश करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष उस सर्वत्र विराजमान परब्रह्म की रचनाओं में उत्तम कर्मों से युक्त घर के समान आनन्द पाकर अपने सब विघ्नों का सब जगह नाश करके आगे बढ़े चले जाते हैं ॥ ३ ॥

२—हरिण के सींग आदि औषध से रोग नष्ट करना चाहिये ॥ ३ ॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके ।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ ४ ॥

अमू इति । ये इति । दिवि । सुभगे इति सु-भगे । वि-चृतौ । नाम । तारके इति ॥ वि । क्षेत्रियस्य । मुञ्चताम् । अधमम् । पाशम् । उत्-तमम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अमू) वे (ये) जो (सुभगे) बड़े ऐश्वर्य वाले (विचृतौ) [अन्धकार से] छुड़ाने वाले (नाम) प्रसिद्ध (तारके) दो तारे [सूर्य और चन्द्रमा] (दिवि) आकाश में हैं, वे दोनों (क्षेत्रियस्य) शरीर वा वंश के दोष वा रोग के (अधमम्) नीचे और (उत्तमम्) ऊंचे (पाशम्) पाश को (वि+मुञ्चताम्) छुड़ा देवें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य और चन्द्रमा परस्पर आकर्षण से प्रकाश, वृष्टि और पुष्टि आदि देकर संसार का उपकार करते हैं, इसी प्रकार मनुष्य सुमार्ग में चलकर सब विघ्नों को हटाकर स्वस्थ और यशस्वी हों ॥ ४ ॥

यह मन्त्र अ० २ । ८ । १ । में कुछ भेद से आ चुका है ।

अखिलम् । क्षेत्रियम् । नाशकरं रोगम् । अङ्गेभ्यः । शरीरावयवेभ्यः । नाशयामसि । वयं नाशयामः ॥

४—अमू । परिदृश्यमाने । ये । ज्ञाते । दिवि । द्युलोके । आकाशे । सुभगे । शोभनैश्वर्ययुक्ते । शिष्टं व्याख्यातम्-अ० २ । ८ । १ ।

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥५॥

आपः । इत् । वै । ऊं इति । भेषजीः । आपः । अमीव-चातनीः । आपः । विश्वस्य । भेषजीः । ताः । त्वा । मुञ्चन्तु । क्षेत्रियात् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(आपः) सर्वव्यापक परमेश्वर वा जल (इत् वै उ) अवश्य ही (भेषजीः=०—ज्यः) भय निवारक है, (आपः) परमेश्वर, वा जल (अमीवचातनीः=०—न्यः) पीड़ानाशक है। (आपः) परमेश्वर वा जल (विश्वस्य) सब का (भेषजीः) भय निवारक है, (ताः) वह (त्वा) तुझ को (क्षेत्रियात्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग से (मुञ्चन्तु) छुड़ावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मनुष्य को बुद्धि, नेत्र, हस्तादि, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि, और अन्नादि पदार्थ देकर बड़ा उपकार किया है, सो हम भी उसको धन्यवाद देते हुये सब के साथ उपकार करें, और खेती आदि में जल के सुप्रयोग से पुरानी और नवी दरिद्रता, और स्नान आदि में प्रयोगों से सब रोग नाश करें ॥ ५ ॥

(आपः) शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त है, इसी से उस के विशेषण भी स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त हैं। (आपः) शब्द परमेश्वरवाची भी है, प्रमाण में अगला मन्त्र है। उस में एक वचनान्त शब्दों के साथ प्रयोग से उसका अर्थ एक परमेश्वर का है ॥

५—आपः । अ० १ । ४ । ३ । सर्वव्यापकः परमेश्वरः । जलानि । इत्, वै, उ । इति सर्वेऽवधारणे । अत्यन्तनिश्चयेन । भेषजीः । भेषं भयं जयतीति भेषजम् । भेष+जि—ड । केवलमामकभागधेय० । पा० ४ । १ । ३० इति । भेषज, ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । भेषज्यः । भयनिवारिकाः । अमीवचातनीः । अ० १ । २८ । १ । रोगाणां नाशयित्र्यः ।

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः॑। तदे॒व शु॒क्रं तद्ब्रह्म॒ ता आपः॒ स प्र॒जाप॑तिः ॥

(तत्) विस्तार करने वाला प्रसिद्ध ब्रह्म (एव) ही (अग्निः) ज्ञानस्वरूप, (तत्) ब्रह्म ही (आदित्यः) प्रकाश स्वरूप, (तत्) ब्रह्म ही (वायुः) गतिशील बलवान्, और (तत् उ) ब्रह्म ही (चन्द्रमाः) आनन्द कारक है। (तत् एव) ब्रह्म ही (शुक्रम्) शुक्र वा शुद्धस्वभाव, (तत्) सब में विस्तृत ब्रह्म (ब्रह्म) महान्, (ताः) वही (आपः) सर्वव्यापक, और (सः) वही (प्रजापतिः) प्रजापालक है ॥

तनोति विस्तारयतीत तद् ब्रह्म। तनु विस्तारे-अदि, स च डित् उ० १। १३२।

यदा॑सु॒तेः क्रि॒यमा॑णायाः क्षेत्रि॒यं त्वा॑ व्या॒नशे॑ ।
वेदा॒हं तस्य॑ भेष॒जं क्षे॑त्रि॒यं ना॑शया॒मि त्वत् ॥ ६ ॥

यत् । आ॒-सु॒तेः । क्रि॒यमा॑णायाः । क्षे॒त्रि॒यम् । त्वा॒ । वि॒-आ॒न॒शे ॥ वेद॑ । अ॒हम् तस्य॑ । भे॒ष॒जम् । क्षे॒त्रि॒यम् । ना॒श॒या॒मि । त्वत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश का रोग (क्रियमाणायाः) बिगड़ते हुये (आसुतेः) काढ़े से (त्वा) तुझ में (व्यानशे) व्याप गया है। (अहम्) मैं (तस्य) उसका (भेषजम्) औषध (वेद) जानता हूं। (क्षेत्रि-

---

पीड़ानाशिकाः । **विश्वस्य** । सर्वस्य । **त्वा** । त्वां मनुष्यम् । **मुञ्चन्तु** । मोचयन्तु । वियोजयन्तु, इत्यर्थः । **क्षेत्रियात्** । महारोगात् ।

६—**यत्** । यत्किञ्चित् । **आसुतेः** । आङ्+षुञ् सन्धानपीड़नमन्थनेषु-क्तिन् । ओषधिपाकात् । काथात् । **क्रियमाणायाः** । कृञ् वधे कर्मणि शानच्, मुक् आगमः । बध्यमानायाः । नश्यमानायाः । **क्षेत्रियम्** । म० १ । महारोगः । **त्वा** । त्वां मनुष्यम् । **व्यानशे** । वि+अशू व्याप्तौ—लिट् । अश्नोतेश्च । पा०

यम्) शरीर वा वंश के रोग को (त्वत्) तुम से (नाशयामि) नाश करता हूं ॥६॥

भावार्थ—विकृत औषध और विकृत अन्न के काढ़े वा पाक रस आदि से शरीर में भारी रोग व्याप जाते हैं, मनुष्य हितकारक पदार्थों का सेवन प्रयत्न करके किया करें ॥ ६ ॥

अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत ।
अपास्मत् सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ७ ॥

अप-वासे । नक्षत्राणाम् । अप-वासे । उषसाम् । उत ॥ अप । अस्मत् । सर्वम् । दुः-भूतम् । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥७॥

भाषार्थ—(नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (अपवासे) छिपने पर (उत) और (उषसाम्) प्रभात बेलाओं के (अपवासे) चले जाने पर (अस्मत्) हम से (सर्वम्) सब (दुर्भूतम्) अनिष्ट (अप=अप उच्छतु) चला जावे, और (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश का रोग (अप उच्छतु) हट जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—यह मन्त्र उपसंहार है, अर्थात् जैसे प्रतापी सूर्य के चमकने पर तारे छिप जाते और उषाओं का रङ्ग फीका पड़ जाता है, वैसे ही उद्योगी पुरुष आलस्यादि अनिष्टों और रोगों को दबाकर आनन्द भोगता है ॥ ७ ॥

---

७ । ४ । ७२ । इति दीर्घीभूतात् अभ्यास्यात् नुट् । व्याप्नोत् । **वेद** । जानामि **अहम्** । उपासकः । **तस्य** । क्षेत्रियस्य । **भेषजम्** । भयनिवारक-मौषधम् । **नाशयामि** । निवारयामि **त्वत्** । त्वत्तः सकाशात् ॥

७—**अपवासे** । अप+वस वासे, आच्छादने—भावे घञ् । अन्तर्धाने । अपगमने । **नक्षत्राणाम्** । अमिनक्षियजि० । उ० ३ । १०५ । इति णक्ष गतौ—अत्रन् । नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः—निरु० ३ । २० । तारकाणाम् । **उषसाम्** । उषः किच्च । उ० ४ । २३४ । इति उष बधे दाहे च—असि । प्रभात प्रकाशानाम् । **उत** । अपि । **अप** । अप उच्छतु । **अस्मत्** । अस्मत्तः । **सर्वम्** । निखिलम् । **दुर्भूतम्** । दुर्+भू—क्त । दुर् दुःखेन भूतं युक्तम् । अनिष्टम् । दुःखम् । **क्षेत्रियम्** । महारोगजातम् । **अप उच्छतु** । उछी विवासे । अपगच्छतु । निवर्तताम् ॥

सूक्तम् ८ ॥

१—६ ॥ प्रजापतिर्मन्त्रोक्ता देवता वा । १-४, ६ त्रिष्टुप्, ५ अनुष्टुप् ॥

प्रीतिजननायोपदेशः—प्रीति उत्पन्न करने का उपदेश ॥

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः । अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ॥ १ ॥

आ । यातु । मित्रः । ऋतु-भिः । कल्पमानः । सम्-वेशयन् । पृथिवीम् । उस्रियाभिः ॥ अथ । अस्मभ्यम् । वरुणः । वायुः । अग्निः । बृहत् । राष्ट्रम् । सम्-वेश्यम् । दधातु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऋतुभिः) ऋतुओं से (कल्पमानः) समर्थ होता हुआ, और (उस्रियाभिः) किरणों से (पृथिवीम्) पृथिवी को (संवेशयन्) सुखी करता हुआ (मित्रः) मरण से बचाने वाला वा लोकों का चलाने वाला सूर्य (आयातु) आवे । (अथ) और (वरुणः) वृष्टि आदि का जल (वायुः)

---

१ आयातु । आगच्छतु । दीप्यतामित्यर्थः । मित्रः । अ० १ । ३ । २ । मित्रः प्रमीतेस्त्रायते संमिन्वानो द्रवतीति वा मेदयतेर्वा-निरु० १० । २१ । सुपि स्थः । पा० ३ । २ । ४ । इति प्रमीति+त्रैङ् रक्षणे-क, प्रमीतिशब्दस्य च मिन्नावः । यद्वा, डुमिञ् प्रक्षेपणे-क्र । यद्वा, ञि मिदा स्नेहने क्र । प्रमीतेः मरणात् त्राता रक्षको वृष्टिदानेन । लोकान् सम्मिन्वानः प्रक्षिपन् प्रेरयन् आकर्षणेन । शस्यानि स्नेहयति जलेन । यद्वा, मित्रवद् उपकारकः । सूर्यः । ऋतुभिः वसन्ताद्यैः । कल्पमानः । कृपू सामर्थ्ये—लटः शानच् । कृपो रो लः पा० ८ । २ । १८ । इति लत्वम् । उपकाराय समर्थः सन् । संवेशयन् । संपूर्वाद् विश सुखीकरणे, विश् शतृ । सुखीकुर्वन् । पृथिवी- । विस्तीर्णां भूमिम् ।

पवन और (अग्निः) अग्नि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (बृहत्) विशाल (संवेश्यम्) शान्तिदायक (राष्ट्रम्) राज्य को (दधातु) स्थिर करे॥ १ ॥

भावार्थ—राजा प्रयत्न करे कि उसके प्रजागण सब ऋतुओं में पृथिवी पर भानुताप [सूर्य की किरणों को कांच के दर्पणों से खींचने का यन्त्र] आदि यन्त्रों द्वारा सूर्य से, जल चक्र, जल नाली आदि द्वारा जल से, पवन चक्रादि द्वारा पवन से, और आग्नेय अस्त्र शस्त्र द्वारा अग्नि से, विमान, अग्निरथ, नौका आदि में अनेक विधि से उपकार लेकर राज्य की उन्नति करें ॥ १ ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः। हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ॥ २ ॥

धाता । रातिः । सविता । इदम् । जुषन्ताम् । इन्द्रः । त्वष्टा । प्रति । हर्यन्तु । मे । वचः ॥ हुवे । देवीम् । अदितिम् । शूर-पुत्राम् । स-जातानाम् । मध्यमे-स्थाः । यथा । असानि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(धाता) पोषणकर्ता, (रातिः) दानकर्ता, (सविता) सर्व

उस्त्रियाभिः । स्फायि त ञ्चि० । उ० २ । १३ । इति वस निवासे रक्, टाप् । इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् । वा० पा० ७ । १ । ३९ । इति विभक्तौ डियाच्, भिस् इति च छान्दसः प्रयोगः । वसन्त्यत्र रसाः । उस्रैः किरणैः। अथ । अपि च । अस्मभ्यम् । अस्मदर्थम् । वरुणः । वरणीयं जलम् । वायुः । पवनः । अग्निः । पावकः । बृहत् । महत् । राष्ट्रम् । अ० १ । २९ । १ राज्यम् । संवेश्यम् । संपूर्वाद् विश सुखीकरणे—अर्हार्थे यत् । सुखीकरण योग्यम् । शान्तिदायकम् । दधातु । धरतु । विदधातु । करोतु । स्थापयतु । प्रत्येकापेक्षयैकवचनम् ॥

२—धाता । धारकः । पोषकः । रातिः । रा दाने—कर्तरि क्तिच् ।

प्रेरक, (इन्द्रः) बड़ा ऐश्वर्यवान्, और (त्वष्टा) देवशिल्पी वा विश्वकर्मा [यह सब पुरुष] (मे) मेरे (इदम्) परम ऐश्वर्य के कारण (वचः) वचन को (जुषन्ताम्) विचारें और (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (हर्यन्तु) स्वीकार करें। (देवीम्) दिव्य गुणवाली, (शूरपुत्राम्) शूर पुत्रों वाली (अदितिम्) अदीन वा अखण्ड व्रतवाली देव माता [चतुर स्त्री वा विद्या] को (हुवे) मैं आवाहन करता हूं, (यथा) जिससे मैं (सजातानाम्) अपने समान जन्मवाले भाई बन्धुओं में (मध्यमेष्ठाः) प्रधान मध्यस्थ [mediator] होकर (असानि) रहूं ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा बड़े २ गुणवान् पुरुषों, बड़ी २ गुणवती स्त्रियों और विद्या की प्रतिष्ठा बढ़ावे, जिस से वह उनके सहाय से अपनी उन्नति करे ॥ २ ॥

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्त-रत्वे। अयमग्निर्दीदायद् दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रति-ब्रुवद्भिः ॥ ३ ॥

दानशीलः। **सविता**। सर्वप्रेरकः। **इदम्**। इन्देः कमिन्नलोपश्च। उ० ४। १५७। इति इदि परमैश्वर्ये—कमिन्, न लोपः। परमैश्वर्यकारणम्। **जुषन्ताम्**। जुष तर्के, जुषी प्रीतिसेवनयोः। तर्कयन्तु। विचारयन्तु सेवन्ताम्। **इन्द्रः**। परमैश्वर्यवान्। **त्वष्टा**। अ० २। ५। ६। देवशिल्पी विश्वकर्मा। **प्रति**। प्रत्यक्षम्। **हर्यन्तु**। हर्य गतिकान्त्योः। कामयन्ताम् सादरं शृण्वन्तु। स्वीकुर्वन्तु। **मे**। मदीयम्। **वचः**। वच कथने, संदेशे च-असुन्। वचनम्। **हुवे**। ह्वेञ् आह्वाने। आह्वयामि। **देवीम्**। दानादि-गुणयुक्ताम्। दिव्यगुणवतीम्। **अदितिम्**। अ० २। २८। ५। अखण्ड-व्रताम्। अदीनां देवमातरम्। सुलक्षणां स्त्रियं विद्यां वा। **शूरपुत्राम्**। शूरा विक्रान्ताः शौर्योपेताः पुत्रा यस्याः सा तथोक्ता। ताम्। वीरपुत्रवतीम्। **सजाता-नाम्**। समानजन्मनाम्। बन्धूनाम्। **मध्यमेष्ठाः**। अ० २। ६। ४। मध्यम+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-विच्। सप्तम्या अलुक्। मध्यमवेषु प्रधानेषु स्थितः। **यथा**। यस्मात् कारणात्। **असानि**। असेर्लोट्। अहं भवानि ॥

हुवे । सोमम् । सुवितारम् । नमः-भिः । विश्वान् । आदित्यान् । अहम् । उत्तर-त्वे ॥ अयम् । अग्निः । दीदयत् । दीर्घम् । एव । सु-जातैः । इद्धः । अप्रतिब्रुवत्-भिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (सोमम्) ऐश्वर्यवाले और (सवितारम्) सर्व-प्रेरक पुरुष को और (विश्वान्) सब (आदित्यान्) अदीन देवमाता के पुत्रों वा तेजस्वी शूर जनों को (उत्तरत्वे) श्रेष्ठता के निमित्त (नमोभिः) अनेक सत्कारों से (हुवे) आवाहन करता हूं । (अप्रतिब्रुवद्भिः) प्रतिकूल न बोलने वाले (सजातैः) समान जन्म वाले भाई बन्धुओं करके (इद्धः) प्रकाशित किया हुआ (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि [सदृश तेजस्वी पुरुष] (दीर्घम्) बहुत काल तक (एव) अवश्य (दीदयत्) ज्योतिवाला रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो राजा शूर वीर सत्यवादी पुरुषों और भाई बन्धुओं का सत्कार करता रहता है, वह उनकी सहायता से चिरकाल तक तेजस्वी होकर संसार में कीर्त्ति पाता है ॥ ३ ॥

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।

३—हुवे । आह्वयामि । सोमम् । ऐश्वर्यवन्तं पुरुषम् सवितारम् । सर्वस्य प्रेरकं नायकम् । नमोभिः । सत्कारैः । विश्वान् । सर्वान् । आदित्यान् । अ० १ । ६ । १ । अदिति-ण्य । यद्वा । आङ् दीपी दीप्तौ-यक् निपातनात् साधुः । अदितिपुत्रान् । देदीप्यमानान् शूरान् । अहम् । प्रधान-पुरुषः । उत्तरत्वे । निमित्ते सप्तमी । श्रेष्ठतार्थम् । अयम् । निर्दिष्टः । अह-मित्यर्थः । अग्निः । अग्निवत् तेजस्वी । दीदयत् । दीदेतिश्छान्दसो दीप्ति-कर्मा-लेटि । अडागमः दीर्घश्छान्दसः । दीप्यताम् । दीर्घमेव । चिरकाल-मेव । सजातैः । समानजन्मभिः । बन्धुभिः । इद्धः । ञि इन्धी दीप्तौ-क्त । समिद्धः । अभिवर्धितः । अप्रतिब्रुवद्भिः । प्र ञ् ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-शतृ । अप्र-तिकूलवादिभिः । सत्यवादिभिः ॥

अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ ४ ॥

इह । इत् । असाथ । न । परः । गमाथ । इर्यः । गोपाः । पुष्ट-पतिः । वः । आ । अजत् ॥ अस्मै । कामाय । उप । कामिनीः । विश्वे । वः । देवाः । उप-संयन्तु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजाओ ! स्त्री पुरुषो !] (इह इत्) यहां पर ही (असाथ) रहो, (परः) दूर (न) मत (गमाथ) जाओ, (इर्यः) अन्नवान् वा विद्यावान् (गोपाः) भूमि, वा विद्या वा गौ का रक्षक, (पुष्टपतिः) पोषण का स्वामी पुरुष (वः) तुम को (आ, अजत्) यहां लावे । (अस्मै) इस [पुरुष] के अर्थ (कामाय) कामना [की पूर्त्ति] के लिये (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम २ गुण (कामिनीः) उत्तम कामना वाली (वः) तुम प्रजाओं को (उप) अच्छे प्रकार से (उपसंयन्तु) आकर प्राप्त हों ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा राज्य की वृद्धि के लिये प्रजा अर्थात् स्त्री पुरुषों को नगरों

४—इह । अस्मिन् राज्ये । इत् । एव । असाथ । अस्तेर्लेटि आडागमः । भवत । वर्तध्वम् । न । निषेधे । परः । पूर्वाधरावराणामसि० । पा० ५ । ३ । ३९ । इति छन्दसि पर-असि । दूरे । गमाथ । गमेर्लेटि आडागमः । गच्छत । इर्यः । अग्रे द्राग्र० । उ० २ । २८ । इति इण् गतौ रक्, टाप्, गुणाभावो निपात्यते । इरा, अन्ननाम-निघ० २ । ७ । सरस्वती । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । इति इरा-यत् । अन्नवान् । विद्यावान् । गोपाः । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ४ । २ । ७४ । इति गो+पा रक्षणे-विच् । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । गां भूमिं वाचं धेनुं वा पातीति । भूपालः । विद्यारक्षकः । धेनुरक्षकः । पुष्टपतिः । पुष्टस्य पोषणस्य स्वामी । वः । युष्मान् । आ, अजत् । अज गतिक्षेपणयोः । आगमयतु । आनयतु । अस्मै । अस्य हिताय । कामाय । शुभकामनासिद्धये । इष्टप्राप्तये । उप । अधिके । पूजायाम् । कामिनीः । काम इनि, ङीप् । शुभकामवतीः प्रजाः । विश्वे । सर्वे ।

में बसावे और अन्नादि से पोषण करके शुभ गुणों के उपार्जन में सदा प्रवृत्त रक्खे ॥ ४ ॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥ ५ ॥

सम् । वः । मनांसि । सम् । व्रता । सम् । आऽकूतीः । नमामसि ॥ अमी इति । ये । वि-व्रताः । स्थन । तान् । वः । सम् । नमयामसि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारे (मनांसि) मनों को (सम्) ठीक रीति से, (व्रता=व्रतानि) कर्मों को (सम्) ठीक रीति से, (आकूतीः) संकल्पों को (सम्) ठीक रीति से, (नमामसि=०-मः) हम झुकते हैं। (अमी ये) यह जो तुम (विव्रताः) विरुद्ध कर्मी (स्थन) हो, (तान् वः) उन तुम को (सम्) ठीक रीतिसे (नमयामसि=०—मः) हम झुकाते हैं ॥५॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष सब के उत्तम विचारों, उत्तम कर्मों और उत्तम मनोरथों को माने और धर्म पथ में विरुद्ध मतवालों को भी सहमत करलेवे ॥५॥

देवाः । दिव्यगुणाः । उपसयन्तु । इण् गतौ—लोट् । समीपे सम्यक् प्राप्नुवन्तु ॥

५—सम् । षो नाशने-कमु । स्यति अनर्थान् सम्यक् । यथाविधि । वः । युष्माकम् । मनांसि । मननानि । चेतांसि । व्रता । अ० २ । ३० । २ । कर्माणि-निघ० २ । १ । आकूतीः । अ० ३ । २ । २ । सङ्कल्पान् । मनोरथान् । नमामसि । इदन्तो मसि । पा०७।१।४६ । इति मसःस्थाने मसि । वयं नमामः । नम्रीभवामः । अमी । समीपस्थाः । ये । पुरुषाः । विव्रताः । विरुद्धकर्माणः । स्थन । अ०१ । ३१ । २ । यूयं स्थ । वर्तध्वे । तान् । पूर्वोक्तान् । वः । युष्मान् । नमयामसि । णम नम्रीभावे । णिच, लट् । नामयामः । प्रह्वीकुर्मः । नम्रीकुर्मः ॥

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत। मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ ६ ॥

अहम् । गृभ्णामि । मनसा । मनांसि । मम । चित्तम् । अनु । चित्तेभिः । आ । इत ॥ मम । वशेषु । हृदयानि । वः । कृणोमि । मम । यातम् । अनु-वर्त्मानः । आ । इत ॥६॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (मनसा) अपने मन से (मनांसि) तुम्हारे मनों को (गृभ्णामि=गृह्णामि) थामता हूं, (मम) मेरे (चित्तम् अनु) चित्त के पीछे २ (चित्तेभिः=चित्तैः) अपने चित्तों से (आ इत) आओ। (मम वशेषु) अपने वश में (वः हृदयानि) तुम्हारे हृदयों को (कृणोमि) मैं करता हूं, (मम यातम्) मेरी चाल पर (अनुवर्त्मानः) मार्ग चलने हुये (आ इत) यहां आओ ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष अपने शुभ विचार और साहस से सब सभासदों और प्रजागणों को धर्म पथ पर चलाकर परस्पर मेल के साथ साहसी और उत्साही बनावे ॥ ६ ॥

६—अहम् । प्रधानपुरुषः । गृभ्णामि । भस्य हः । गृह्णामि । स्थिरीकरोमि । मनसा । मानसिकबलेन । मनांसि । मानसिकबलानि । चित्तम् । ज्ञानम् । अनु । अनुसृत्य । चित्तेभिः । चित्तैः । ज्ञानैः । आ इत । आगच्छत । मम । स्वकीयेषु । वशेषु । वश कान्तौ-अप् । आयत्तत्वेषु । प्रभुत्वेषु । हृदयानि । अन्तः करणानि । वः । युष्माकम् । कृणोमि । करोमि । यातम् । या गतौ-क्त । गमनम् । अनुवर्त्मानः । अनु+वर्त्मन् । अनुसृतमार्गाः सन्तः ॥

सूक्तम् ८ ॥

१-६ । प्रजापतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

विघ्नशमनायोपदेशः—विघ्न की शान्ति के लिये उपदेश ॥

कुर्शफस्य विशुफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता ।
यथाभिचक्र देवास्तथापं कृणुता पुनः ॥ १ ॥

कुर्शफस्य । वि-शुफस्य [विशुफस्य] । द्यौः । पिता । पृथिवी । माता ॥ यथा । अभि-चक्र । देवाः । तथा । अप । कृणुत । पुनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(कर्शफस्य) निर्बल का और (विशफस्य) प्रबल का (द्यौः) प्रकाशमान परमेश्वर (पिता) पिता और (पृथिवी) विस्तीर्ण परमेश्वर (माता) निर्मात्री, माता है । (देवाः) हे विजयी पुरुषो ! (यथा) जैसे [शत्रुओं को] (अभिचक्र) तुम ने हराया था, (तथा) वैसेही (पुनः) फिर [उन्हें] (अप कृणुत) हटा दो ॥ १ ॥

भावार्थ—जगत् के माता पिता परमेश्वर ने वृष्टि द्वारा सूर्य और पृथिवी के संयोग से सब निर्बल और प्रबल जीवों को उत्पन्न किया है, इसलिये

१—कर्शफस्य । कृशृशलिकलिगर्दिभ्योऽभच् । उ० ३ । १२२ । इति कृश तनूकरणे, अल्पीभावे-अभच्, भस्य फः । कृशस्य । निर्बलस्य । विशफस्य । ऋषिवृषिभ्यां कित् । उ० ३ । १२३ । इति विश अन्तर्गमने-अभच् स च कित्, भस्य फः । विशः=मनुष्याः निघ० २ । ३ । विशालस्य । प्रबलस्य । द्यौः । गमेर्डोः उ०२।६७। इति द्युत दीप्तौ-डो । द्योतमानः परमेश्वरः। पिता । पालकः । जनकः । पृथिवी । विस्तीर्णा । भूमिः । परमेश्वरः । माता । अ० १ । २ । १ । मानकृ । पूजायाम्-माङ् माने वा तृच् । निपातितश्च । मातरः=निर्मातारः-निरु०१२ । ७ । मान्या । निर्मात्री । जननी । यथा । येन प्रकारेण । अभिचक्र । करोतेर्लिटि मध्यमबहुवचने रूपम् । यूयम् अभिभूतवन्तः । जितवन्तः । देवाः ।

सब सबल और निर्बल मिलकर अविद्या, निर्धनता आदि शत्रुओं को मिटाकर आनन्द से रहें ॥ १ ॥

अश्रेष्माणो अधारयन् तथा तन्मनुना कृतम् ।
कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव ॥ २ ॥

अश्रेष्माणः । अधारयन् । तथा । तत् । मनुना । कृतम् ॥ कृणोमि । वध्रि । वि-स्कन्धम् । मुष्क-आबर्हः । गवाम्-इव ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अश्रेष्माणः) दाह [डाह] न करने वाले पुरुषों ने [जगत् को] (अधारयन्) धारण किया है, (तथा) उसी प्रकार से ही (तत्) वह [जगत् का धारण] (मनुना) सर्वज्ञ परमेश्वर करके (कृतम्) किया गया है। (विष्कन्धम्) विघ्न को (वध्रि) निर्बल (कृणोमि) मैं करता हूं, (गवाम् इव) जैसे बैलों के (मुष्काबर्हः) अण्डकोष तोड़ने वाला [बैलों को निर्बल कर देता है] ॥ २ ॥

भावार्थ—पक्षपातरहित परमेश्वर संसार का धारण पोषण करता है, उसी

दिवु विजिगीषायाम्-अच् । हे विजिगीषवः । विजयिनः । **तथा** । तेन प्रकारेण । **अप कृणुत** । कृवि हिंसाकरणयोः । अपकुरुत । निवारयत शत्रून् । **पुनः** । अवधारणे । द्वितीयवारे ॥

२—**अश्रेष्माणः** । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति श्रिषु दाहे-मनिन् । दाहशून्याः । अमत्सराः । **अधारयन्** । धृतवन्तः । **तथा** । तद्वदेव । **तत्** । धारणरूपं कर्म । **मनुना** । शृस्वृस्निहि० । उ० १ । १० । इति मन बोधे-उ । सर्वज्ञेन परमेश्वरेण । **कृतम्** । अनुष्ठितम् । **कृणोमि** । करोमि । **वध्रि** । अद्रि शद्रिभूशुभिभ्यः क्रिन् । उ०४।६५। इति बन्ध बन्धने क्रिन् । बन्ध्यम् । विफलम् । निर्वीर्यम् । **विष्कन्धम्** । अ० १ । १६ । ३ । वि+ स्कन्दिर् गतिशोषणयोः—अच् । विशेषेण शोषकम् । विघ्नजातम् । **मुष्का** ।

प्रकार धर्मात्मा पुरुष किसी से वैर न करके उपकार करते आये हैं, वैसे ही प्रत्येक मनुष्य विघ्नों को हटाकर उन्नति करे. जैसे दुर्दमनीय बैल को असह्य बल से हीन करके कृषि आदि में चलाते हैं ॥ ॥

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः ।
श्रवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ २ ॥

पिशङ्गे । सूत्रे । खृगलम् । तत् । आ । बध्नन्ति । वेधसः ॥
श्रवस्युम् । शुष्मम् । काबवम् । वध्रिम् । कृण्वन्तु । बन्धुरः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वेधसः) बुद्धिमान् पुरुष (पिशङ्गे) व्यवस्था वा अवयवों से युक्त वा दृढ़ (सूत्रे) सूत में (तत्) विस्तीर्ण (खृगलम्) खनती वा छिद्र में गलाने वाले, विघ्न को (आ) सब ओर से (बध्नन्ति) बांधते हैं । (बन्धुरः=०—राः) बन्धुजन (अवस्युम्) प्रसिद्ध, (शुष्मम्) सुखाने

बर्हः । सृवृभृशुषिमुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ । इति मुष लुण्ठने, वधे च, कक् । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति मुष्क+आङ्—बर्ह वधे दीप्तौ च-अण् । मुष्कम् अण्डकोषम् आबृहति उन्मूलयतीति । अण्डकोषछेदकः । **गवाम्** । पुंगवानाम् । **इव** । यथा ॥

२—**पिशङ्गे** । पिडादिभ्यः कित् । उ० १ । १२१ । इति पिश व्यवस्थायाम्, अवयवे च-अङ्गच् व्यवस्थायुक्ते । अवयवयुक्ते । दृढे । **सूत्रे** । सिवि-मुच्योष्टेरू च । उ० ४ । १६३ । इति षिवु तन्तुसन्ताने-ष्ट्रन् । यद्वा । सूत्र ग्रन्थने वेष्टने च-अच् । तन्तौ । व्यवस्थायाम् । नियमे । **खृगलम्** । नयतेर्डिच्च । उ २ । १०० । इति खनु विदारे-ऋप्रत्ययः, टिलोपः । गल भक्षे स्रावे च-अच् । खृ खननं छिद्रं, तत्र गलयतीति खृगलः । छिद्रे गलनशीलं विघ्नम् । **तत्** । त्यजितनियजिभ्यो डित् । १ । १३२ । इति तनु विस्तारे-अदि, स च डित् । विस्तृतम् । **आ** । समन्तात् । **बध्नन्ति** । नियमे कुर्वन्ति । **वेधसः** । अ० १ । ११ । १ । प्राज्ञाः । मेधाविनः । **अवस्युम्** । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । इति अवस्-क्यच्-उ　अवः अवणम् इच्छन्तम् । महान्तम् । प्रसिद्धम् **शुष्मम्** ।

वाले (काबवम्) स्तुतिनाशक शत्रु को (वध्रिम्) निर्वीर्य (कृण्वन्तु) कर देवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग वेद द्वारा छोटे छोटों के मेल से बड़ी २ विपत्तियों को हटा देते हैं, इससे सब बान्धव मिलकर बाहिरी और भीतरी दोषों को मिटाकर सुख भोगें ॥ ३ ॥

येना॑ श्रवस्यव॒श्चर॑थ दे॒वा इ॑वासुरमा॒यया॑ ।
शुनां॑ क॒पिरि॑व॒ दूष॑णो॒ बन्धु॑रा काब॒वस्य॑ च ॥ ४ ॥

येन॑ । श्र॒व॒स्य॒वः॒ । चर॑थ । दे॒वाः-इ॑व । अ॒सु॒र-मा॒यया॑ ॥
शुना॑म् । क॒पिः-इ॑व । दूष॑णः । बन्धु॑रा । का॒ब॒वस्य॑ । च॒ ॥४॥

भाषार्थ—(येन) जिस [बल] के साथ (श्रवस्यवः) हे प्रसिद्ध महापुरुषो ! (देवाः इव) विजयी लोगों के समान (असुरमायया) प्रकाशमान ईश्वर की बुद्धि से (चरथ) तुम आचरण करते हो, [उसी बल के साथ] (शुनाम्) कुत्तों के (दूषणः) तुच्छ जानने वाले (कपिः इव) बन्दर के समान, (बन्धुरा)

अवि सिवि सिशुषिभ्यः कित् । उ० १ । १४४ । इति शुष शोषणे-मन् । शोषकम् । **काबवम्** । कबृ स्तुतौ-वर्णे च वञ्+वा गतिहिंसनयोः—क । स्तुतेर्वर्णस्य वा नाशकम् । शत्रुम् । **वध्रिम्** । म० २ । निर्वीर्यम् । असमर्थम् । **कृण्वन्तु** । कुर्वन्तु । **बन्धुरः** । मद्गुरादयश्च । उ० १ । ४१ । इति बन्ध बन्धने—उरच् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति जसः स्थाने सु । बन्धुराः । नियमबद्धाः । बान्धवः ॥

४—**येन** । शास्त्रबलेन । **श्रवस्यवः** । म० ३ । प्रसिद्धाः । महान्तः कीर्तिमन्तः । **चरथ** । आचरणं कुरुथ । **देवाः इव** । विजयिनो यथा । **असुरमायया** । असुर इति व्याख्यातम्-अ० १ । १० । १ असेरुरन् उ० १।४२। इति असु क्षेपणे, यद्वा, अस गतिदीप्त्यादानेषु-उरन् । माछाशसिभ्यो यः । उ० ४ । १०६ । इति माङ् माने-य, टाप् । माया प्रज्ञानाम-निघ० ३ । ६ । असुरस्य प्रकाशमानस्य परमेश्वरस्य मायया प्रज्ञया सह । **शुनाम्** । श्वनुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति श्वि गतौ वृद्धौ च-कनिन् । कुक्कराणाम् । **कपिः** । कुण्ठिकम्प्योर्नलोपश्च । उ० ४ ।१४४ । इति कपि चलने—इप्रत्ययः ।

बन्धन शक्ति [नीति विद्या] (च) निश्चय करके (कावरस्य) स्तुतिनाशक शत्रु की [तुच्छ करने वाली होती है] ॥ ४ ॥

भावार्थ—शास्त्र बल से प्रसिद्ध पुरुष अन्य महात्माओं का अनुकरण करके तीव्र बुद्धि के साथ उदाहरण बनते हैं. इसी प्रकार सब पुरुष नीति बल से शत्रुओं पर प्रबल रहें, जैसे बन्दर वृक्ष पर चढ़कर कुत्तों से निर्भय रहता है ॥ ४ ॥

दुष्टयै हि त्वा भत्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम् ।
उदाशवो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥

दुष्टयै । हि । त्वा । भत्स्यामि । दूषयिष्यामि । काबवम् ॥ उत् । आशवः । रथाः इव । शपथेभिः । सरिष्यथ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(दुष्टयै) दुष्टता [हटाने] के लिये (हि) ही (काबवम्) स्तुति नाशक (त्वा) तुझ को (भत्स्यामि) मैं बांधूंगा और (दूषयिष्यामि) दोषी ठहराऊंगा । (आशवः) शीघ्रगामी (रथाः इव) रथों के समान (शप-

---

वानरः । इव । यथा । **दूषणः** । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति दुष वैकृत्ये, णिच्—ल्यु । दूषयतीति यः । दूषकः । दोषोत्पादकः । **बन्धुरा** । म० ३ । बन्ध-उरच्, टाप् । बध्यतेऽनया । बन्धनशीला । नीतिविद्या । **काबवस्य** । म० ३ । स्तुतिनाशकस्य शत्रोः । दूषयित्री भवतीति शेषः । **च** । अवधारणे ॥

५—**दुष्टयै** दुष वैकृत्ये-क्तिन् । दोषनिवारणाय । **हि** । निश्चयेन । **त्वा** । शत्रुम् । **भत्स्यामि** । बन्धेर्लृटि । एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् । पा० ७ । २ । १० । इति इट् प्रतिषेधः । नलोपश्छान्दसः । यद्वा । भस भर्त्सनदीप्त्योः । लृट् । छान्दस इडभावः । सः स्यार्धधातुके । पा० ७ । ४ । ४९ । इति सस्य तः ।

थेभिः=०—थैः) हमारे शाप अर्थात् दण्ड वचनों से (उत् सरिष्यथ) तुम सब बन्धन में चले जाओगे ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा नाम में धब्बा लगाने वले दुष्ट को करागार में रख कर उसके दोष प्रसिद्ध करदे, और उसके सहायकों को भी उचित दण्ड देवे ॥ ५ ॥

एकंशतं विष्कंन्धानि विष्ठिंता पृथिवीमनुं ।
तेषां त्वामग्र उज्जंहरुर्मणिं विष्कन्धदूषंणम् ॥ ६ ॥

एकं-शतम् । वि-स्कंन्धानि । वि-स्थिंता । पृथिवीम् । अनुं ॥ तेषाम् । त्वाम् । अग्रे । उत् । जहुरुः । मणिम् । विस्क-न्ध-दूषंणम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(एकशतम्) एक सौ एक (विष्कन्धानि) विघ्न (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (विष्ठिता=०—तानि) फैले हुए हैं, [हे शूर !] (तेषाम् अग्रे) उनके सन्मुख (विष्कन्धदूषणम्) विघ्न नाशक (मणिम्) प्रशंसनीय मणिरूप (त्वाम्) तुझ को उन्हों ने [देवताओं ने] (उत् जहरुः) ऊंचा उठाया है ॥ ६ ॥

बन्धे करिष्यामि । भर्त्सयिष्यामि । तिरस्करिष्यामि । **कावदम्** । म० ३ स्तुतिनाशकम् । **आशवः** । अशू व्याप्तौ-उण् । शीघ्रगामिनः । **रथाः** । हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् । उ० २ । २ । इति रमु क्रीडे-क्थन्, अनुनासिकलोपः । स्यन्दनाः । **इव** । यथा । **शपथेभिः** । म० २ । ७ । १ । शपथैः । शापैः । क्रोधवचनैः । **उत् सरिष्यथ** । सृ लट् । उत् बन्धने चरिष्यथ गमिष्यथ ।

६- **एकशतम्** । एकं च शतं चैकशतम् । एकोत्तरशतसंख्यानि, अपरिमितानि । **विष्कन्धानि** । म० २ । विघ्नाः । **विष्ठिता** । शेर्लोपः । विविधं स्थितानि । **पृथिवीम् अनु** । अनुर्लक्षणे । पा० १ । ४ । ८४ । इत्यनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । पा० २ । ३ । ८ । इति द्वितीया । भूमिं प्रति । **तेषाम्** । विघ्नानाम् । **अग्रे** । पूर्वम् । **उज्जहरुः** । हञ् हरणे-लिट् उज्जहः । उद्धृतवन्तः । उन्नीवन्तः । **मणिम्** । मण शब्दे-इन् ।

भावार्थ—प्रतिष्ठित लोग राजा को (चक्रशतम्) अनेक विघ्नों से रक्षा के लिये अग्रगामी बनाते हैं, इस लिये राजा अपने धर्म का यथार्थ पालन करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् १० ॥

१-१३ । रात्रिरेकाष्टका वा देवता । १-३, ८-११, १३ अनुष्टुप्; ४-६, १२ त्रिष्टुप्; ७ षट्पदानुष्टुप् ॥

पुष्टिवर्धनाय प्रकृतिवर्णनम्—पुष्टि बढ़ाने के लिये प्रकृति का वर्णन ॥

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद् यमे ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ १ ॥

प्रथमा । ह । वि । उवास । सा । धेनुः । अभवत् । यमे ॥
सा । नः । पयस्वती । दुहाम् । उत्तराम्-उत्तराम् । समाम् ॥१॥

भाषार्थ—(सा) वह [ईश्वरी वा लक्ष्मी] (प्रथमा) प्रसिद्ध वा पहिली शक्ति [प्रकृति] (ह) निश्चय करके (वि, उवास) प्रकाशित हुई । वह (यमे) नियम में (धेनुः) तृप्त करने वाली [वा गौ के समान] (अभवत्)

शब्दनीयं स्तुत्यम् । प्रशस्यम् मणिरूपं वा । विष्कन्धदूषणम् । विघ्न नाशकम् ॥

१-प्रथमा । प्रथेरमच् उ० ५ । ६८ । इति प्रथ ख्यातौ-अमच् । प्रख्याता । प्रधाना । आद्या । ह । खलु । व्युवास । वस अच्छादाने, विपूर्वको वस तेजसि, दीप्तौ-लिट् । दिदीपे । सा । षो नाशने-ड । स्यति दुःखानीति सः, ईश्वरः । विष्णुः । स्त्रियां टाप् । सा । ईश्वरी । लक्ष्मीः । प्रकृतिरित्यर्थः । यद्वा, सर्वनामैव । प्रसिद्धा इत्यर्थः । धेनुः । धेट इच्च । उ० ३ । ३४ । इति धेट् पाने नु । यद्वा, धि, धारणे, तर्पणे च-न । धेनर्धयतेर्वा धिनोतेर्वा । निरु० ११ । ४२ ।

हुई है। (सा) वह (पयस्वती) दुधेल [प्रकृति] (नः) हमको (उत्तराम्-उत्तरम्) उत्तम उत्तम (समाम्) सम [समान वा निष्पक्ष] शक्ति से (दुहाम्) भरती रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—इस सूक्त में (रात्रि) म० २ और (एकाष्टका) म० ५, दोनों शब्द प्रकृति के वाचक हैं। प्रकृति ईश्वर शक्ति वा जगत् की सामग्री, सृष्टि से पहिले विद्यमान थी, उसने ईश्वर नियम से [मन्त्र २ व ८ देखो] विविध पदार्थ सूर्य, अन्नादि उत्पन्न किये हैं। विद्वान् लोग प्रकृति के विज्ञान और प्रयोग से अधिक २ ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥ १ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध (सा नः पयस्वती...) ऋ०४।५७।७। में है ॥

यां दे॒वाः प्र॑ति॒नन्द॑न्ति॒ रात्रिं॑ धे॒नुमु॑पाय॒तीम् ।
सं॒व॒त्स॒रस्य॒ या पत्नी॒ सा नो॑ अस्तु सुम॒ङ्ग॒ली ॥ २ ॥

याम् । दे॒वाः । प्र॒ति-नन्द॑न्ति । रात्रि॑म् । धे॒नुम् । उ॒प-आ॒यतीम् ॥ स॒म्-व॒त्स॒रस्य॑ । या । पत्नी॑ । सा । नः॒ । अ॒स्तु॒ । सु॒-म॒ङ्ग॒ली ॥ २ ॥

भावार्थ—(देवाः) महात्मा पुरुष, वा सूर्य, वायु, चन्द्रादि दिव्य पदार्थ (उपायतीम्) पास आती हुई (धेनुम्) तृप्त करने वाली (याम्) जिस

दोग्ध्री। तर्पयित्री। अभवत् । आसीत्। **यमे** । नियमे । **सा** । पूर्वोक्ता। **नः** । अस्मान्। **पयस्वती** । दुग्धवती । सारवती । **दुहाम्** । दुह प्रपूरणे-लोट्। स्वरितेत्त्वाद् आत्मनेपदम्। अकथितं च । पा० १।४।५१। इति द्विकर्मकता। यथा, गां दोग्धि पयः । दुग्धाम् । प्रपूरयतु । **उत्तरामुत्तराम्** । उद्+तॄ अप्। टाप्। नित्यवीप्सयोः। पा० ८।१।४। इति द्विर्वचनम्। अतिशयेनोत्कृष्टाम्। **समाम्** । षम वैक्लव्ये-अच् अकथितं कर्मकत्वम् । पूर्णाम्। समक्रियाम्। समानाम्। साध्वीं शक्तिम् ॥

२—**याम्** । **देवाः** । विद्वांसः। सूर्यवायुचन्द्रादिदिव्यपदार्थाः ।

(रात्रिम्) दानशीला और ग्रहणशीला शक्ति, वा राति रूप [प्रकृति] को (प्रतिनन्दन्ति) अभिनन्दन करते [धन्य मानते] हैं और (या) जो (संवत्सरस्य) यथावत् निवास देनेवाले [परमेश्वर] की (पत्नी) पालन शक्ति है, (सा=सा सा) वह ईश्वरी (नः) हमारे लिये (सुमङ्गली) बड़े २ मङ्गल करनेवाली (अस्तु) होवे ॥२

भावार्थ—प्रकृति ईश्वर नियम से पदार्थों को उत्पन्न करके जीवों को सुख देकर उनका दुःख हर्त्ता है, और अनन्त होने से वह रात्रि वा अन्धकार रूप है। विज्ञानी पुरुष खोज लगा २ कर उससे उपकार लेकर विविध उन्नति करते हैं ॥ २ ॥

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा राज्युपास्महे ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥३॥

सम्-वत्सरस्य । प्रति-माम् । याम् । त्वा । रात्रि । उप-

प्रतिनन्दन्ति । टुनदि आनन्दे । प्रतिनद अभिनन्दने, धन्यवादे । अभि-नन्दयन्ति । स्तुवन्ति । **रात्रिम्** । राशदिभ्यां त्रिप् । उ० ४ । ६७ इति रा दाने ग्रहणे च—त्रिप् । यद्वा । रमतेः—त्रिप्, मकारस्याकारश्च । रात्रिः कस्मात् प्ररमयति भूतानि नक्तञ्चारीण्युपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः—निरु० २ । १८ । रात्रिः-भूस्थानदेवता-निरु० ६ । २८ । सुखदात्रीम् । दुःखहर्त्रीम् । अनन्तत्वात् निशारूपाम् अन्वेषणीयां वा प्रकृतिमित्यर्थः । **धेनुम्** । प्रीणयित्रीम् । **उपायतीम्** । उप+आङ्+इण् गतौ-शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । समीपम् आगच्छन्तीम् **संवत्सरस्य** । अ० ३ । ५ । ८ । सः स्यार्धधातुके । पा० ७।४।४३ इति सस्य तकारः । सम्यक् निवासकस्य । परमेश्वरस्य । **या** । रात्रिः **पत्नी** । पत्युर्नो यज्ञसंयोगे । पा० ४ । १ । ३३ । इति इकारस्य नकारो ङीप् च । इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी—निरु० ११ । ३७ । इन्द्रस्य विभूतिः-इति दुर्गाचार्यस्य टीका । देवपत्न्यो देवानां पत्न्यः—निरु० १२ । ४४ । पालयित्र्यः पालनीया वा-इति तस्य टीका । पातीति पतिः पत्नी वा । पालयित्री शक्तिः । **सा** । सा सा । म० १ । पूर्वोक्तेश्वरी । **नः** । अस्मभ्यम् । **अस्तु** । भवतु । **सुमङ्गली** । मङ्गेरलच् । उ० ५ । ७० । इति मगि सर्पणे-अलच् । ङीप । शोभनं मङ्गलं यस्याः । अत्यन्तकल्याणकरी । सुभद्रा ।

आस्महे । सा । नः । आयुष्मतीम् । प्र-जाम् । रायः । पोषेण । सम् । सृज ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रात्रि) हे सुखदात्री वा दुःखहर्त्री वा रात्रिरूप [प्रकृति] (संवत्सरस्य) यथावत् निवास देने वाले परमेश्वर की (प्रतिमाम्) प्रतिमा [प्रतिरूप वा, प्रतिनिधि] (याम्) सर्वत्र व्यापिनी (त्वा) तुझको (उपास्महे) हम भजते हैं। (सा) वह लक्ष्मी तू (नः) हमारे लिये (आयुष्मतीम्) चिरंजीविनी (प्रजाम्) प्रजा को (रायः) धन की (पोषेण) बढ़ती के साथ (संसृज) संयुक्त कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—अनन्त परमेश्वरी प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल रूप के ज्ञान से उपकार लेकर हम अपनी सन्तान के सहित धनी, स्वस्थ और चिरंजीवी बने रहें ॥ ३ ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा । महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥ ४ ॥

इयम् । एव । सा । या । प्रथमा । वि-औच्छत् । आसु । इतरासु । चरति । प्र-विष्टा ॥ महान्तः । अस्याम् । महि-

३-संवत्सरस्य । म० २ । सम्यक् निवासकस्य परमेश्वरस्य । प्रतिमाम् । आतश्चोपसर्गे । पा० ६ । ३ । १०६ । इति प्रति+माङ् माने-अङ्, टाप् । प्रतिनिधित्वेन निर्मीयत इति प्रतिमा । प्रतिरूपाम् । प्रतिमूर्त्तिम् । या । या गतौ—ड । यातीति यः- वायुः । स्त्रियां टाप् । सर्वत्रगन्त्रीम् । सर्वव्यापिनीम् त्वा । त्वाम् । रात्रि । म० २ । विकल्पकत्वात् ङीप् । हे सुखदायिनि । हे रात्रिरूपे । अन्वेषणीये । उपास्महे । उप+आस उपवेशने । वयं सेवामहे । सा । म० १ । ईश्वरी त्वम् । नः । अस्मदर्थं । आयुष्मतीम् । चिरकालजीवनवतीम् । प्रजाम् । पुत्रपौत्रादिरूपाम् । रायः । अ० १ । ६ । ४ । धनस्य । पोषेण । पुष्ट्या । वृद्ध्या । सं सृज । संयोजय ॥

म॒हान्तः । अ॒न्तः । व॒धूः । जि॒गा॒य॒ । न॒व॒ऽगत् । जनि॑त्री ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इयम् एव) यही (सा) वह ईश्वरी, [रात्रि, प्रकृति] है (या) जो (प्रथमा) प्रथम (वि-औच्छत्) प्रकाशमान हुई है, और (आसु) इन सब और (इतरासु) दूसरी [सृष्टियों] में (प्रविष्टा) प्रविष्ट होकर (चरति) विचरती है । (अस्याम् अन्तः) इसके भीतर (महान्तः) बड़ी २ (महिमानः) महिमायें हैं । उस (नवगत्) नवीन २ गति वाली (वधूः) प्राप्ति योग्य (जनित्री) जननी ने [अनर्थों को] (जिगाय) जीत लिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमाणु रूप प्रकृति जगत् के सब पदार्थों में प्रविष्ट है । विद्वान् लोग जैसे २ खोजते हैं उसकी नवीन २ शक्तियों का प्रादुर्भाव करके सुख पाते हैं ॥ ४ ॥

वा॒न॒स्प॒त्या ग्रावा॑णो॒ घोष॑मक्रत ह॒विष्कृ॒ण्वन्तः॑ परि-वत्स॒रीण॑म् । एका॑ष्टके सुप्र॒जसः॑ सु॒वीरा॑ व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम् ॥ ५ ॥

४—इयम् । परिदृश्यमाना । एव । हि । सा । म० १ । ईश्वरी । या । रात्रिः प्रकृतिः । प्रथमा । म० १ । आद्या । व्यौच्छत् । वि+उछी विवासे लङ् । अदीप्यत । आसु । परिदृश्यमानासु । इतरासु । इण् गतौ—क्विप् ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति इ+तॄ तरणे अभि भवे च-अप्, टाप् । इः कामः । ईन् कामान् तरतीति इतरा । कामानां शुभकामानां तारयित्रीषु सृष्टिषु । अन्यासु । चरति । गच्छति । । प्रविष्टा । अनुप्रविष्टा । महान्तः । विशालाः । महिमानः । पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा । पा० ५ । १ । १२२ । इति महत्—इमनिच् । टिलोपः । ऐश्वर्याणि । प्रभावाः । अन्तः । मध्ये । वधूः । वहेर्धश्च । उ० १ । ८३ । इति वह प्रापणे-ऊप्रत्ययः । वहनयोग्या । प्राप्या । जिगाय । जि जये—लिट् । जितवती विज्ञान् । नवगत् । णु स्तुतौ-अप् । नवः स्तुत्यः नूतनः । नवपूर्वाद् गमेः क्विप् । गमः क्वौ । पा० ६ । ४ । ४० । इत्यनुनासिकलोपः । ह्रस्वस्य पिति कृति० । पा०६।१।७१। इति तुक् । प्रशस्यगतियुक्ता । नवीनगतिवती । जनित्री । अ०२ । १ । ३ । जनितृ-ङीप् । जनयित्री जगज्जननी ॥

वानस्पत्याः । ग्रावाणः । घोषम् । अक्रत । हविः । कृण्वन्तः । परि-वत्सरीणम् ॥ एक-अष्टके । सु-प्रजसः । सु-वीराः । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वानस्पत्याः) वनस्पति अर्थात् सेवकों वा सेवनीय गुणों के रक्षक परमेश्वर से संबन्धवाले (ग्रावाणः) सूक्ष्मदर्शी, स्तोता पुरुषों ने, (परिवत्सरीणम्) परिवत्सर, सब प्रकार निवास देनेवाले परमेश्वर से सिद्ध किये हुये (हविः) ग्राह्य वस्तु को (कृण्वन्तः) उत्पन्न करते हुये (घोषम्) ध्वनि (अक्रत) की है । " (एकाष्टके) हे अकेली व्याप्ति वाली वा अकेली भोजन स्थान शक्ति [प्रकृति] ! (वयम्) हम लोग (सुप्रजसः) उत्तम सन्तान वाले, (सुवीराः) उत्तम वीरों वाले और (रयीणाम्) सब प्रकार के धनों के (पतयः) पति (स्याम) होवें " ॥ ५ ॥

५—**वानस्पत्याः** । अ० ३ । ६ । ६ । वनानां पतेः सेवकानां सेव्यगुणानां वा पालकस्य परमेश्वरस्य संबन्धिनः पुरुषाः । **ग्रावाणः** । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति हन गतिहिंसनयोः, वा, ग्रह ग्रहणे, वा, गृ विज्ञापे, शब्दे, निगरणे क्वनिप् । पृषोदरादित्वात् साधुः । गृणातिः स्तुतिकर्मा । निरु० ३ । ५ । ग्रावाणो हन्तेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा-निरु० ६ । ८ । तथा च । गारयते सूक्ष्मार्थं सुधीः । शास्त्रविज्ञापकाः स्तोतारः । पण्डिताः । **घोषम्** । ध्वनिम् । **अक्रत** । कृञो लुङि । अकृषत । कृतवन्तः । **हविः** । अ० १ । ४ । ३ ग्राह्यवस्तु । **कृण्वन्तः** । उत्पादयन्तः । आविष्कुर्वाणाः । **परिवत्सरीणम्** । वसेश्च । उ० ३ । ७१ । इति परि+वस निवासे-सरन् । इति परिवत्सरः परितो निवासकः । परमेश्वरः । संपरिपूर्वात् ख च । पा० ५ । १ । ९२ । इति निर्वृत्तार्थे ख । संवत्सरेण निर्वृत्तं साधितं रचितम् । **एकाष्टके** । इष्यशिभ्यां तकन् । उ० ३ । १४८ । इति अशू व्याप्तौ, यद्वा, अश भोजने-तकन् । टाप् । अष्टका पितृदेवत्ये । वा० पा० ७ । ३ । ४५ । इति इत्वाभावः । अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत् सा, यद्वा, अश्नन्ति सर्वे प्राणिनो यस्यां सा अष्टका । एका चासावष्टका एकाष्टका । हे एकमात्रव्यापनशीले । एकमात्रभोजनस्थाने

भावार्थ—ऋषि मुनि प्रकृतिद्वारा परमेश्वर रचित पदार्थों के गुणों के ज्ञान और प्रयोग से सब प्रकार का सुख भोगते हैं। इसी प्रकार सब मनुष्य उद्योग करके आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

इडायास्पदं घृतवत् सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय । ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥ ६ ॥

इडायाः । पदम् । घृत-वत् । सरीसृपम् । जात-वेदः । प्रति । हव्या । गृभाय ॥ ये । ग्राम्याः । पशवः । विश्व-रूपाः । तेषाम् । सप्तानाम् । मयि । रन्तिः । अस्तु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के ज्ञान वाले पुरुष ! (इडायाः) प्राप्ति योग्य [प्रकृति] के (घृतवत्) सारयुक्त और (सरीसृपम्) अत्यन्त रेंगते हुये (पदम् प्रति) पद से (हव्या=हव्यानि) देने लेने योग्य वस्तुओं को (गृभाय) ग्रहण कर। (ये) जो (ग्राम्याः) ग्राम निवासी, (विश्वरूपाः) नाना रूप वाले (पशवः) व्यक्त और अव्यक्त वाणी वाले जीव हैं, (तेषाम्) उन

प्रकृते। **सुप्रजसः** । नित्यमसिच् प्रजामेधयोः। पा० ५। ४ । १२२ । इति असिच् समासान्तः। शोभनपुत्रपौत्रादियुक्ताः। **सुवीराः** । अ० ३। ५। ८। महाशूरयुक्ताः। **वयम्** । मनुष्याः। **स्याम** । भवेम। **पतयः** । स्वामिनः। **रयीणाम्** । धनानाम्॥

६-**इडायाः** । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। पा० ३। १। १३५ । इति इल स्वप्नगतिक्षेपणेषु-क, लस्य डः। यद्वा। ईड स्तुतौ-घञ्, ईकारस्य ह्रस्वत्वम्। टाप्। इडा, पृथिवी-निघ० १। १। वाक्। ३। ११। अन्नम्-२। ७। गौः-२। ११। प्राप्तव्यायाः स्तुत्यायाः प्रकृतेः। **पदम्** । पद स्थैर्ये गतौ च-पचाद्यच्। स्थानम्। गतिः। पादचिह्नम्। **घृतवत्** । सारोपेतम्। **सरीसृपम्** ।

सब (समानाम्) आपस में मिले हुये प्राणियों की (रन्तिः) प्रीति वा क्रीड़ा (मयि) मुझ में (अस्तु) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—सृष्टि विद्या में निपुण पुरुष संसार के पदार्थों से विज्ञान द्वारा उपकार लेकर सब प्राणियों को सुखी रखकर आप सुखी रहते हैं ॥ ६ ॥

आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम ।
पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत ।
सर्वान् यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर ॥ ७ ॥

आ । मा । पुष्टे । च । पोषे । च । रात्रि । देवानाम् । सु-मतौ । स्याम ॥ पूर्णा । दर्वे । परा । पत । सु-पूर्णा । पुनः । आ । पत ॥ सर्वान् । यज्ञान् । सम् । भुञ्जती । इषम् । ऊर्जम् । नः । आ । भर ॥ ७ ॥

सृपेर्यङ्लुगन्तात्-पचाद्यच् । अत्यर्थं सर्पन् गच्छन् । **जातवेदः** । अ० १।७।२। हे जातप्रज्ञान ! । **प्रति** । प्रथ ख्यातौ-इति । व्याप्य । **हव्या** । हु दानादाना-दनेषु-यत् । शेर्लोपः । हव्यानि । दातव्यानि ग्राह्याणि वा वस्तूनि । ग्राह्याणि । **गृभाय** । छन्दसि शायजपि० पा० ३ । १ । ८४ । इति ग्रहेर्लोटि श्नः शायच् । तत्रैव वार्त्तिकं सिद्धान्तकौमुद्याम् । हृग्रहोर्भश्छन्दसि । इति हस्य भः । गृहाण । **ये** । **ग्राम्याः** । अ० २ । ३४ । ४ । ग्रामीणाः । **पशवः** । व्याख्यातम्-अ० २ । २६ । १ । व्यक्तवचनाश्चाव्यक्तवचनाश्च मनुष्यगवादिप्राणिनः । **विश्व-रूपाः** । नानाकाराः । **तेषाम्** । **सप्तानाम्** । अ०१ । १ । १ । षप समवाये-क्त । समवेतानां परस्परसंबद्धानां संयुक्तानाम् । **मयि** । गृहस्वामिनि । **रन्तिः** । रमेः क्तिन्, अनुनासिकलोपाभावः । रतिः । रमणम् । प्रीतिः । **अस्तु** । भवतु ॥

भाषार्थ—(रात्रि) हे सुख देने वाली वा दुःख हरने वाली, वा रात्री रूप [प्रकृति] (पुष्टे) धनकी समृद्धि (च) और (पोषे) अन्नादि की वृद्धि में (च) निश्चय करके (मा) मुझको (आ=आ भर) भर दे, [जिससे] (देवानाम्) देवताओं की (सुमतौ) सुमति में (स्याम) हम रहें। (दर्वे) हे दुःख दलने वाली ! [वा चमसारूप !] (पूर्णा) भरी भराई (परापत) ऊपर आ, और (पुनः) बार २ (सुपूर्णा) भले प्रकार भरी भराई (आ पत) पास आ ! (सर्वान्) सब (यज्ञान्) पूजनीय गुणों का (सम्भुञ्जती) ठीक ठीक पालन करती हुई तू (इषम्) अन्न और (ऊर्जम्) बल (नः) हमें (आ भर) लाकर भर दे ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सृष्टि के पदार्थों के गुण साक्षात् करके जितना २ आगे बढ़ता है, उतना २ ही वह धनी और बली होकर देवताओं का प्रिय होता और आनन्द भोगता है ॥ ७ ॥

(पूर्णा दर्वे...पुनरा पत) इतना भाग यजुर्वेद अ० ३। ४९ में है, वहां (दर्वे) के स्थान पर (दर्वि) पद है ॥

७—**आ** । आ भर—इति मन्त्रस्थान्तपदेन सम्बन्धः । **मा** । माम् । **पुष्टे** । पुष पोषणे-भावे क्त । धनसमृद्धौ । **च** । समुच्चये । अवधारणे । **पोषे** । अन्नादिवृद्धौ । **रात्रि** । म० २। हे सुखदात्रि । दुःखहर्त्रि । रात्रिरूपे, प्रकाशके प्रकृते **देवानाम्** । विदुषाम् । **सुमतौ** । कल्याण्यां बुद्धौ । **स्याम** । भवेम । **पूर्णा** । पॄ पूर वा पूर्त्तौ-क्त । वा दान्तशान्तपूर्णदस्त० । पा० ७ । २ । २७ । इति इडभावो निपात्यते । पूरिता । **दर्वे** । वृदृभ्यां विन् । उ० ४ । ५३ । इति दृङ् आदरे, यद्वा, दॄ विदारणे—विन् । आद्रियते विदारयतीति वा । हे दुःखदलनशीले । हे चमसरूपे वा । **परा** । प्राधान्ये । त्यागे । विक्रमे । गतौ । भङ्गे । **पत** । पत्लृ गतौ । आगच्छ । **सुपूर्णा** । परिपूर्णा । **पुनः** । वारम्वारम् । **सर्वान्** । सकलान् । **यज्ञान्** । अ० १ । ६ । ४ । यष्टव्यान् पूज्यान् देवान् दिव्यगुणान् । **सम्भुञ्जती** । भुज पालने-शतृ, ङीप् । सम्यक् पालयन्ती । **इषम्** । इषु इच्छायाम्, गतौ वा—क्विप् । अन्नम्—निघ० २ । ७ । **ऊर्जम्** । भा० २। २९। ३। ऊर्ज बलप्राणनयोः—क्विप् । बलम् । पराक्रमम् । **नः** । अस्मभ्यम् । **आ भर** । आनीय भर ॥

आयमंगन्त्संवत्सुरः पतिरेकाष्टके तर्व ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ८॥

आ । अयम् । अगन् । सम् - वत्सरः । पतिः । एक-अष्टके । तवं ॥ सा । नः । आयुष्मतीम् । प्र-जाम् । रायः । पोषेण । सम् । सृज ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(एकाष्टके) अकेली व्यापक रहने वाली, वा अकेली भोजन स्थान शक्ति ! [प्रकृति] (अयम्) यह (संवत्सरः) यथावत् निवास देने वाला, (तव) तेरा (पतिः) पति वा रक्षक [परमेश्वर] (आ अगन्) प्राप्त हुआ है । (सा) लक्ष्मी तू (नः) हमारे लिये (आयुष्मतीम्) बड़ी आयु वाली (प्रजाम्) प्रजा को (रायः) धन की (पोषेण) बढ़ती के साथ (सं सृज) संयुक्त कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् साक्षात् कर लेते हैं कि परमेश्वर ही प्रकृति, जगत् सामग्री, का स्वामी अर्थात् उसके अंशों का संयोजक और वियोजक है, और कि प्रकृति के यथावत् प्रयोग से मनुष्य अपनी सन्तान सहित चिरंजीवी और धनी होते हैं ॥ ८ ॥

ऋतून् यंज ऋतुपतींनार्तवानुत हायुनान् ।
समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे ॥ ९ ॥

ऋतून् । यजे । ऋतु-पतीन् । आर्तवान् । उत । हायनान् ॥ समाः । सम्-वत्सरान् । मासान् । भूतस्य । पतये । यजे ॥ ९ ॥

८—अयम् । परिदृश्यमानः । आ, अगन् । गमेर्लुङ् । आगमत् । आगतः । संवत्सरः । म० २ । सम्यक् निवासकः । पतिः । रक्षकः । एकाष्टके । म० ५ । हे एकमात्रव्यापिके । एकमात्रभोजनस्थाने । तव । त्वदीयः । सा नः··· । इति गतं म० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ऋतून्) ऋतुओं, (ऋतुपतीन्) ऋतुओं के स्वामियों [सूर्य वायु आदिकों], (आर्तवान्) ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले (हायनान्) पाने योग्य चावल आदि पदार्थों से (संवत्सरान्) यथा विधि निवास देने वाले, (मासान्) कर्मों के नापने वाले महीनों (उत्) और (समाः) सब अनुकूल क्रियाओं को (भूतस्य) सत्ता में आये हुये जगत् के (पतये) पति के (यजे यजे) मैं बार बार अर्पण करता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ—तत्वज्ञानी पुरुष ग्रीष्म, वर्षा, शीतादि ऋतुओं, और उनके कारण सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथिवी आदि, और संसार के अन्य पदार्थों और क्रियाओं का आदि कारण जगत् पिता परमेश्वर को मानते और उसका धन्यवाद करते हैं ॥ ९ ॥

ऋ॒तुभ्य॑ष्ट्वार्त॒वेभ्यो॑ मा॒द्भ्यः सं॑वत्स॒रेभ्यः॑ ।
धा॒त्रे वि॑धा॒त्रे स॒मृधे॑ भू॒तस्य॒ पत॑ये यजे ॥ १० ॥

ऋ॒तु-भ्यः॑ । त्वा॒ । । आ॒र्त॒वेभ्यः॑ । मा॒त्-भ्यः । स॒म्-व॒त्स॒रेभ्यः॑ ॥

९—ऋतून् । अर्त्तेश्च तुः । उ० १ । ७२ । इति ऋ गतौ-तु, स च कित् । वसन्तादिकालान् । यजे । यज देवपूजादानसङ्गतिकरणेषु । अहं समर्पयामि । ऋतुपतीन् । ऋतूनाम् अधिष्ठातॄन्, सूर्यचन्द्रवायुपृथिव्यादीन् देवान् । आर्तवा- । ऋतोरण् । पा० ५ । १ । १०५ । इति ऋतु-अण्, तदस्य प्राप्तमित्यर्थे । ऋतूद्भवान् । ऋतुजातान् । उत । अपि च । हायनान् । हश्च व्रीहिकालयोः । पा० ३ । १ । १४८ । इति ओहाक् त्यागे, ओहाङ् गतौ च-ण्युट् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति युक् । दातव्यान् प्राप्तव्यान् व्रीह्यादीन् भोज्यपदार्थान् । समाः । अ० २ । ६ । १ । अनुकूलाः क्रियाः । संवत्सरान् । म० २ । सम्यग् वासयितॄन् द्वादशमासात्मकान् कालान् । मासान् । मस परिमाणे— घञ् । शुक्लकृष्णपक्षद्वयात्मकान् कालान् । भूतस्य । भू सत्तायाम्-क । सत्तां प्राप्तस्य चराचरात्मकस्य जगतः । पतये । तादर्थ्ये चतुर्थी । पालकस्य । स्वामिने ॥

धात्रे । वि-धात्रे । सम्-ऋधे । भूतस्य । पतये । यजे ॥१०॥

भाषार्थ—[हे एकाष्टके प्रकृति !] (त्वा) तुझ को (ऋतुभ्यः) ऋतुओं के लिये, (आर्तवेभ्यः) ऋतुओं में उत्पन्न पदार्थों के लिये, (माद्भ्यः) महीनों के लिये और (संवत्सरेभ्यः) यथावत् निवास देने वाले वर्षों के [सुधार के] लिये, (धात्रे) धारण करने वाले, (विधात्रे) रचने वाले, (समृधे) यथा नियम बढ़ानेवाले (भूतस्य) जगत् के (पतये) पति के (यजे) मैं समर्पण करता हूं ॥ १० ॥

भावार्थ—परमेश्वर नियम से जगत् की उत्पन्न करनेवाली प्रकृति की चेष्टाओं को सब ऋतुओं में देखते हुये विद्वान् लोग अपने समय को उपकार में लगाते हैं ॥ १० ॥

इडया जुह्वतो वयं देवान् घृतवता यजे ।
गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः ॥ ११ ॥

इडया । जुह्वतः । वयम् । देवान् । घृत-वता । यजे ॥
गृहान् । अलुभ्यतः । वयम् । सम् । विशेम । उप । गो-मतः ॥११॥

भाषार्थ—(इडया) स्तुति योग्य प्रकृति [की विद्या] से (घृतवता= घृतवता कर्मणा) सार युक्त [कर्म] के द्वारा (जुह्वतः) होम [आत्म दान] करने वाले (देवान्) देवताओं को (वयम्) हम (यजे=यजामहे) पूजते हैं

१०—ऋतुभ्यः । म० ६ । वसन्तादीनां प्रीत्यर्थम् । त्वा । त्वाम् । एकाष्टकाम् । प्रकृतिम् । आर्तवेभ्यः । म० ६ । ऋतूद्भवेभ्यः । माद्भ्यः । पद्दन्नोमास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति मासशब्दस्य मास् इत्यादेशः । सस्य तः । मासेभ्यः । संवत्सरेभ्यः । म० २ । वर्षेभ्यः । धात्रे । धारयित्रे । विधात्रे । सर्वस्य निर्मात्रे । समृधे । सम्+ऋधु वृद्धौ-क्विप् । समर्धयित्रे । अन्यद् गतम् —६ ॥

११—इडया । म०६ । स्तुत्यया प्राप्तव्यया वा प्रकृत्या । जुह्वतः । हु दानादनेषु-शतृ । शसि रूपम् । होमम् आत्मसमर्पणं कुर्वतः । वयम् । पुरुषार्थ

[जिससे] (अलुभ्यतः) तृष्णा रहित [सर्वथा भरे पूरे) और (गोमतः) बहुत सी उत्तम २ गौओं वाले (गृहान्) घरों में (उप=उपेत्य) आकर (वयम्) हम (संविशेम) सुख से रहें ॥ ११ ॥

भावार्थ—संसार के ज्ञान से उत्तम कामों में आत्मदान करने वाले महात्माओं के हम आदर पूर्वक अनुगामी बनें और सब कामनाओं और घृत दुग्धादि पोषक पदार्थों को प्राप्त करके आनन्द भोगें ॥ ११ ॥

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् । तेन देवा व्यसहन्त शत्रून् हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥१२॥

एक-अष्टका । तपसा । तप्यमाना । जजान । गर्भम् । महि-म हिमानम् । इन्द्रम् ॥ तेन । देवाः । वि । असहन्त । शत्रून् । हन्ता । दस्यूनाम् । अभवत् । शची-पतिः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(एकाष्टका) अकेली व्यापक रहने वाली वा अकेली भोजन स्थान शक्ति [प्रकृति] ने (तपसा) बड़े ऐश्वर्य वाले ब्रह्म द्वारा (तप्यमाना)

देवान् । विजिगीषून् व्यवहारकुशलान् वा पुरुषान् । **घृतवता** । दीप्तिमता सारयुक्तेन वा, कर्मणा-इति शेषः । **यजे** । तिङां तिङो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । इत्येकवचनं बहुवचने । यजामहे । पूजयामः । **गृहान्** । गृह ग्रहणे-क । गेहानि । **अलुभ्यतः** । लुभ गार्ध्ये=आकाङ्क्षायाम् विमोहने च-शतृ, दिवादित्वात् श्यन् । शसि रूपम् । तृष्णारहितान् सर्वमनोरथयुक्तान् । **संविशेम** । सुखेन निवसेम । **उप** । उपेत्य । आगत्य । **गोमतः** । भूम्नि प्रशंसायां च मतुप् । बहुभिः प्रशस्ताभिर्गोभिर्युक्तान् ॥

१२-एकाष्टका । म० ८ । **तपसा** । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति तप दाहैश्वर्ययोः—असुन् । तप्यते धनी, ईश्वरो भवतीत्यर्थः । ऐश्वर्यवता ब्रह्मणा । **तप्यमाना** । तप ऐश्वर्ये-शानच् । दिवादिः, आत्मनेपदी । ईशाना

ऐश्वर्य वाली होकर (गर्भम्) स्तुति योग्य, (महिमानम्) पूजनीय (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य वाले जीव को (जजान) प्रकट किया। (तेन) उस [इन्द्र, जीव] के द्वारा (देवाः) प्रकाशमान इन्द्रियों ने (शत्रून्) शत्रुओं [दोषों] को (वि) विविध प्रकार से (असहन्त) हराया है, और (शचीपतिः) वाणियों वा कर्मों वा बुद्धियों का पति [इन्द्र, जीव] (दस्यूनाम्) दस्युओं (हन्ता) मारने वाला (अभवत्) हुआ है ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर नियम से प्रकृति के संयोग वियोग से शरीर पाकर इन्द्रियों द्वारा परीक्षा करके दोषों का त्याग और गुणों का ग्रहण करके आनन्द भोगते और भुगाते हैं ॥ १२ ॥

(तपस्) शब्द ब्रह्म वा परमेश्वर वाची है, जैसे (ओं तपः। ओं सत्यम्) प्राणायाम मन्त्र में है। ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १९० मन्त्र १ में भी ऐसा वर्णन है।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ॥

(ऋतम्) यथार्थ वेदशास्त्र (च) और (सत्यम्) सत्ता वाला जगत् (च) भी (अभीद्धात्) सर्वथा प्रकाशमान (तपसः अधि) तप अर्थात् ऐश्वर्य वाले ब्रह्म सेही (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥

समर्था सती। **जजान**। जनयामास। प्राकाशयत्। **गर्भम्**। अर्त्तिगृभ्यां भन्। उ० ३। १५२। इति गॄ शब्दे-भन्। गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति-निरु० १०। २३। गर्भं गर्भभूतं यद्वा गरणीयं स्तुत्यं वन्दनीयम्—इति सायणः। **महिमानम्**। इ भूधृसृस्तृशृभ्य इमनिच्। उ० ४। १४८। इति मह पूजायाम्—इमनिच्। पूजनीयम्। **इन्द्रम्**। ऐश्वर्यवन्तं जीवम्। **तेन**। इन्द्रेण सह। **देवाः**। द्योतनात्मकाश्चक्षुरादीन्द्रियाणि—इति महीधरो यजु० ४०। ४। चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वा—तत्रैव दयानन्दभाष्ये। **वि**। विविधम्। विशेषेण। **असहन्त**। अभ्यभवन्। **शत्रून्**। शातयितॄन्। घातकान्। **हन्ता**। नाशकः। **दस्यूनाम्**। अ० २। १४। ५। उपक्षपयितॄणाम्। चौराणाम्। **अभवत्**। आसीत्। **शचीपतिः**। सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति शच व्यक्तायां वाचि—इन्। कृदिकारादक्तिनः। वा० पा० ४। १। ४५। इति ङीष्। शची=वाक्-निघ० १। ११। कर्म—२। १। प्रज्ञा—३। ९। शचीनां वाचां कर्मणां प्रज्ञानां वा पालकः यथार्थवक्ता यथार्थकर्मा यथार्थप्रज्ञो वा॥

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः ।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥ १३ ॥

इन्द्र-पुत्रे । सोम-पुत्रे । दुहिता । असि । प्रजा-पतेः ॥ कामान् । अस्माकम् । पूरय । प्रति । गृह्णाहि । नः । हविः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रपुत्रे) हे सूर्य जैसे पुत्रवाली ! (सोमपुत्रे) हे चन्द्रमा जैसे पुत्रवाली ! [प्रकृति] तू (प्रजापतेः) प्रजारक्षक परमेश्वर के (दुहिता) कार्यों को पूर्ण करने वाली (असि) है, (अस्माकम्) हमारे (कामान्) मनोरथों को (पूरय) पूर्ण कर, (नः) हमारी (हविः) भक्ति को (प्रति गृह्णाहि) स्वीकार कर ॥ १३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने प्रकृति से सूर्य चन्द्रादि लोक और बड़े २ प्रतापी और उपकारी मनुष्य उत्पन्न किये हैं; उस प्रकृति की शक्तियों के ज्ञान और प्रयोग से संसार की भलाई चाहने वाले पुरुष अपनी कामनायें पूरी करते हैं ॥ १३ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

१३—**इन्द्रपुत्रे** । इन्द्रवत्पुत्रो यस्यास्तादृशि । हे सूर्यवत्पुत्रयुक्ते । **सोमपुत्रे** । हे चन्द्रवत्पुत्रयुक्ते प्रकृते ! **दुहिता** । नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० । उ० २ । ९५ । इति दुह प्रपूरणे-तृच् । दुहिता दुर्हिता दूरे हिता दोग्धेर्वा—निरु० ३ । ४ । पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः-निरु०४ । २१ । अत्र पृथिव्येव दुहितृ-शब्देनोक्ता, सा हि द्युलोकात् ' दूरे निहिता ' अथवा सा हि द्युलाकं " दोग्धीति " दुहिता-इति देवराजयज्वा तट्टीकायाम् । दोग्धि कार्याणि प्रपूरयतीति सा । कार्याणां प्रपूरयित्री । **असि** । भवसि । **प्रजापतेः** । प्रजानां मनुष्यादीनां रक्षकस्य परमेश्वरस्य । **कामान्** । मनोरथान् । **अस्माकम्** । **पूरय** । समर्थय । **प्रति** । **गृह्णाहि** । प्रतिगृहाण । स्वीकुरु । **नः** । अस्माकम् । **हविः** । आत्मदानम् । भक्तिम् ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ।

सूक्तम् ११ ॥

१-८ ॥ राजयक्ष्मघ्नं देवता । १-४ त्रिष्टुप् । ५, ६ अनुष्टुप्, ७ पथ्या पङ्क्तिः । ८ षट्पदानुष्टुप् ॥

रोगनाशनायोपदेशः—रोग नाश करने के लिये उपदेश ॥

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् । ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ १ ॥

मुञ्चामि । त्वा । हविषा । जीवनाय । कम् । अज्ञात-यक्ष्मात् । उत । राज-यक्ष्मात् ॥ ग्राहिः । जग्राह । यदि । एतत् । एनम् । तस्याः । इन्द्राग्नी इति । प्र । मुमुक्तम् । एनम् ॥१॥

भाषार्थ—[हे प्राणी !] (त्वा) तुझ को (हविषा) भक्ति के साथ (कम्) सुख से (जीवनाय) जीवन के लिये (अज्ञातयक्ष्मात्) अप्रकट रोग से (उत) और (राजयक्ष्मात्) राज रोग से (मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूं । (यदि) जो (ग्राहिः) जकड़ने वाली पीड़ा [गठिया रोग] ने (एतत्) इस समय में (एनम्) इस प्राणी को (जग्राह) पकड़ लिया है, (तस्याः) उस [पीड़ा] से

१—मुञ्चामि । विश्लेषयामि । त्वा । प्राणिनम् । हविषा । आत्मदानेन । भक्त्या । उपायेन । जीवनाय । प्राणधारणाय । चिरकालायशोधारणाय-इत्यर्थः । कम् । अव्ययम् । सुखेन । अज्ञातयक्ष्मात् । अर्तिस्तुसुहु० । उ० १ । १४० । इति यक्ष पूजायाम्-मन् । अलक्षितमहारोगात् । राजयक्ष्मात् । राजदन्तादिषु परम् । पा० २ । २ । ३१ । इति उपसर्जनस्य परत्वम् । यक्ष्माणां राजा राजयक्ष्मः, तस्मात् । क्षयरोगात् । ग्राहिः । अ० २ ।

(इन्द्राग्नी) हे सूर्य और अग्नि ! (एनम्) इस [प्राणी] को (प्र मुमुक्तम्) तुम छुड़ाओ ॥ १ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य गुप्त और प्रकट रोगों से विचार पूर्वक रोगी को अच्छा करता है, ऐसे ही प्रत्येक मनुष्य (इन्द्राग्नी) सूर्य और अग्नि अर्थात् सूर्य से लेकर अग्नि पर्यन्त अर्थात् दिव्य और पार्थिव सब पदार्थों से उपकार लेकर, अथवा सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी विद्वानों से मिलकर, अपने दोषों को मिटाकर यशस्वी होवे ॥ १ ॥

इस मन्त्र का मिलान अथर्व० का० २ सू० ६ म० १ से करो ॥

मन्त्र १-४ ऋग्वेद १० । १६१ । १-४ कुछ भेद से, और फिर अथर्व० २०। ९६ । ६-९ में हैं । ऋग्वेद में इस सूक्तका ऋषि [यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः] और देवता [राजयक्ष्मघ्नम्] हैं ॥

यदि॑ क्षि॒तायु॒र्यदि॑ वा॒ परे॑तो॒ यदि॑ मृ॒त्योर॑न्ति॒कं नीत॒ ए॒व । तमा ह॑रामि॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्था॒दस्पा॑र्षमेनं श॒तशा॑रदाय ॥ २ ॥

यदि॑ । क्षि॒त-आ॒युः । यदि॑ । वा॒ । परा॑-इ॒तः । यदि॑ । मृ॒त्योः । अ॒न्ति॒कम् । नि-इ॒तः । ए॒व ॥ तम् । आ । ह॒रा॒मि॒ । निः-ऋ॑तेः । उ॒प-स्था॑त् । अस्पा॑र्षम् । ए॒न॒म् । श॒त-शा॑रदाय ॥२॥

भाषार्थ—(यदि) चाहे [यह] (क्षितायुः) टूटी आयु वाला, (यदि

९ । १ । ग्रहणशीला पीड़ा । जग्राह । गृहीतवती । यदि । चेत् । तस्याः । ग्राह्याः सकाशात् । इन्द्राग्नी । सूर्याग्नी । दिव्यपार्थिवपदार्थाः, यद्वा । तद्वत् तेजस्वी विद्वान् पुरुषः । प्र मुमुक्तम् । मुचेर्विकरणस्य श्लुः । प्रमोचयतम् । एनम् । शरीरस्थं प्राणिनम् ॥

२—यदि । चेत् । क्षितायुः । क्षीणजीवनः । यदि वा । अथवा ।

वा) अथवा (परेतः) अंग भङ्ग है, (यदि) चाहे (मृत्योः) मृत्यु के (अन्ति-कम्) समीप (एव) ही (नीतः=नि-इतः) आ चुका है। (तम्) उसको (निर्ऋतेः) महामारी की (उपस्थात्) गोद से (आ हरामि) लिये आता हूं, (एनम्) इसको (शतशारदाय+जीवनाय) सौ शरद् ऋतुओं वाले [जीवन] के लिये (अस्पार्षम्) मैंने प्रबल किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे चतुर वैद्य यत्न करके भारी २ रोगियों को अच्छा करता है, ऐसे ही मनुष्य शारीरिक, आत्मिक और सामाजाजिक कठिन संकट पड़ने पर अपने आत्मा को प्रबल रक्खे ॥ २ ॥

अथर्व० १ । ३५ । १ । में (दीर्घत्वाय शतशारदाय) पाठ है, यहाँ (जीवनाय) पद मन्त्र १ से लाया गया है ॥

अन्य दो संहिताओं, सायणभाष्य और ऋग्वेद में (अस्पार्षम्) पाठ है, परन्तु बम्बई गवर्नमेंट संहिता में शोधा हुआ और अथर्व० का० २० सू० ९६ म० ७ में [अस्पार्शम्) पाठ है। हमने (अस्पार्षम्) लिया है।

स॒ह॒स्रा॒क्षेण॑ श॒तवी॑र्येण श॒तायु॑षा ह॒विषाहा॑र्षमेनम् । इन्द्रो॒ यथै॑नं श॒रदो॒ नया॒त्यति॒ विश्व॑स्य दु॒रि॒तस्य॑ पा॒रम् ॥ ३ ॥

स॒ह॒स्र॒-अ॒क्षेण॑ । श॒त-वी॑र्येण । श॒त-आ॑युषा । ह॒विषा ।

परेतः । परा भङ्गे+इण् गतौ-क्त । भङ्गं प्राप्तः । **मृत्योः** । मरणस्य । **अन्तिकम्** । अन्त—मत्वर्थीयो ठन्, तस्य इकः । निकटम् । **नीतः** । नि+इतः । नीचैर्गतः । **एव** । अवश्यम् । **तम्** । रोगिणम् । **आ हरामि** । आ नयामि । **निर्ऋतेः** । अ० २ । १० । १ । निर्ऋतिः=कृच्छ्रापत्तिः—निरु० २ । ७ । महारोगस्य । अलक्ष्म्याः । **उपस्थात्** । उपस्थानात् । अङ्कात् । **अस्पार्षम्** । स्पृ प्रीति बलनयोः, छान्दसो लुङ् । प्रबलं कृतवानस्मि । **एनम्** । समीपस्थम् । आत्मानम् । **शतशारदाय** । अ० १ । ३५ । १ । शतशरदृतुयुक्ताय, जीवनाय, इति शेषः—म० १ ॥

आ । अहार्षम् । एनम् ॥ इन्द्रः । यथा । एनम् । शरदः । नयाति । अति । विश्वस्य । दुः-इतस्य । पारम् ॥ ३॥

भाषार्थ—(सहस्राक्षेण) सहस्रों नेत्रवाले, (शतवीर्येण) सैकड़ों सामर्थ्य वाले, (शतायुषा) सैकड़ों जीवन शक्ति वाले (हविषा) आत्मदान वा भक्ति से (एनम्) इस [आत्मा] को (आ अहार्षम्) मैंने उभारा है। (यथा) जिससे (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् मनुष्य (एनम्) इस [देही] को (विश्वस्य) प्रत्येक (दुरितस्य) कष्ट के (पारम्) पार (अति=अतीत्य) निकाल कर (शरदः) [सौ] शरद् ऋतुओं तक (नयाति) पहुंचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य एकाग्रचित्त होकर अनेक प्रकार से अपनी दर्शन शक्ति, कर्मशक्ति और जीविकाशक्ति बढ़ाकर अपने को सुधारता है, तब वह इन्द्र पुरुष सब उलझनों को सुलझा कर यशस्वी होकर चिरंजीवी होता है ॥३॥

३—**सहस्राक्षेण** । सहस्रम् बहुनाम-निघ० ३ । १ । सहो बलम्—निघ० २ । ९ । रो मत्वर्थीयः । सहस्रं सहस्वत्-निरु० ३ । १० । बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् । पा० ५ । ४ । ११३ । इति षच् । सहस्रं बहूनि अक्षीणि चक्षूंषि दर्शनशक्तयो यस्य तेन तथोक्तेन । **शतवीर्येण** । शतम् । शो तीक्ष्णीकरणे-डतच् । बहुनाम । निघ० ३ । १ । शतं दशदशतः-निरु० ३ । १० । बहुसामर्थ्योपेतेन । **शतायुषा** । बहुजीवनसाधनयुक्तेन । **हविषा** । आत्मदानेन । भक्त्या । **आ अहार्षम्** । हृञ् हरणे—लुङ् समन्तात् अनैषम् । उन्नीतवानस्मि । **एनम्** । आत्मानम् । देहिनम् । **इन्द्रः** । प्रतापी जीवः । **यथा** । येन प्रकारेण । **शरदः** । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । शतं शरदः संवत्सरान् । **नयाति** । णीञ् प्रापणे लेटि आडागमः । नयेत् । प्रापयेत् । **अति** । अतीत्य । **विश्वस्य** । सर्वस्य । प्रत्येकस्य । **दुरितस्य** । अ० २ । ६ । ५ । पापस्य । कष्टस्य । **पारम्** । पारकर्मसमाप्तौ-अच् । तीरम् । अन्तम् ॥

श॒तं जी॑व श॒रदो॒ वर्ध॑मानः श॒तं हे॑म॒न्ताञ्छ॒तमु॑ व॒स॒न्तान् । श॒तं त॒ इन्द्रो॑ अ॒ग्निः स॑वि॒ता बृह॒स्पतिः॑ श॒ता॒यु॑षा ह॒विषा॒हा॑र्षमेनम् ॥ ४ ॥

श॒तम् । जी॒व॒ । श॒रदः॑ । वर्ध॑मानः । श॒तम् । हे॒म॒न्तान् । श॒तम् । ऊं॒ इति॑ । व॒स॒न्तान् ॥ श॒तम् । ते॒ । इन्द्रः॑ । अ॒ग्निः । स॒वि॒ता । बृह॒स्पतिः॑ । श॒त-आ॒यु॑षा । ह॒विषा॑ । आ । अ॒हा॒र्ष॒म् । ए॒न॒म् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वर्धमानः+त्वम्) बढ़ती करता हुआ तू (शतम् शरदः) सौ शरद् ऋतुओं तक, (शतम् हेमन्तान्) सौ शीत ऋतुओं तक, (उ) और (शतम् वसन्तान्) सौ वसन्त ऋतुओं तक (जीव) जीता रह । (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, (अग्निः) तेजस्वी विद्वान्, (सविता) सब का चलाने वाला, (बृहस्पतिः +अहं जीवः) बड़े बड़ों के रक्षक मैंने (शतम्) अनेक प्रकारसे (ते) तेरे लिये (शतायुषा) सैकड़ों जीवन शक्ति वाले (हविषा) आत्मदान वा भक्ति से (एनम्) इस [आत्मा] को (आ अहार्षम्) उभारा है ॥ ४ ॥

४—**शतम्** । बहुनाम । **जीव** । प्राणान् धारय । **शरदः** । शरदृतून् वर्षाकालान् इत्यर्थः । **वर्धमानः** । वृद्धिं कुर्वाणः । **हेमन्तान्** । हन्तेर्मुट् हि च । उ० ३।१२६। इति हन वधगत्योः—झच्, हन्तेर्हि, मुडागमः । हन्ति उष्णत्वम् । शीतकालान् । **उ** । समुच्चये । **वसन्तान्** । तॄभूवहिवसिभासि० । उ० ३। १२८। इति वस वासे, निवासे, आच्छादने च—झच् । पुष्पसमयान् । ग्रीष्मकालान् । **शतम्** । यथा तथा । बहुप्रकारेण । **ते** । तुभ्यम् । **इन्द्रः** । ऐश्वर्यवान् । **अग्निः** । अगि गतौ-नि । ज्ञानवान् । **सविता** । सर्वस्य प्रेरकः । **बृहस्पतिः** । अ० १ । ८ । २ । तथा २ । १३ । २ । बृहत्+पतिः, सुट्, तलोपः । बृहतां विदुषां कर्मणां वा पालकः । इन्द्रादीनि चत्वारि (अहम्) इति पदस्य विशेषणानि । अन्यद् व्याख्यातम्-म० ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य उचित रीति से वर्षा, शीत और उष्ण ऋतुओं को सह कर बहु प्रकार मन्त्रोक्त विधि पर विद्यादि बल से शक्तिमान् होकर जीविका उपार्जन करता हुआ आत्मा की उन्नति करे ॥ ४ ॥

ऋग्वेद में (इन्द्रः अग्निः)=[इन्द्राग्नी ,और (आ अहार्षम् एनम्)=[इमम् पुनः दुः] ॥

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितंराञ्छतम् ॥ ५ ॥

प्र । विशतम् । प्राणापानौ । अनड्वाहौ-इव । व्रजम् ॥ वि । अन्ये । यन्तु । मृत्यवः । यान् । आहुः । इतरान् । शतम् ॥५॥

भाषार्थ—(प्राणापानौ) हे श्वास और प्रश्वास तुम दोनों, [इस शरीर में] (प्र विशतम्) प्रवेश करते रहो, (अनड्वाहौ-इव) रथ ले चलने वाले दो बैल जैसे (व्रजम्) गोशाला में (अन्ये) दूसरे (मृत्यवः) मृत्यु के कारण (वियन्तु) उलटे चले जावें (यान्) जिन (इतरान्) कामना नाशक [मृत्युओं] को (शतम्) सौ प्रकार का (आहुः) बतलाते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्राणायाम, व्यायामदि से अपने प्राण और अपान को

५—प्र विशतम् । अन्तः प्राप्नुतम् । प्राणापानौ । शरीरधारकौ श्वास-प्रश्वासौ । अनड्वाहौ । अनः शकटं वहतीति अनड्वान् । अनसि वहेः क्विप्, अनसो डकारः । अनसः शकटस्य रथस्य वोढारौ बलीवर्दौ । इव । यथा । व्रजम् । गोचरसंचर० । पा० ३ । ३ । ११९ । इति व्रज गतौ-घञोऽपवादत्वेन घप्रत्ययान्तो निपातितः । गोष्ठम् । वि यन्तु । विमुखा गच्छन्तु । अन्ये । धार्मिकमरणाद् भिन्नाः । मृत्यवः । मरणकारणानि । यान् । मृत्यून् । आहुः । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-लट् । ब्रुवन्ति । कथयन्ति विद्वांसः । इतरान् अ० ३।१०।४। इ+तॄ अभिभवे-अप् । सुकामनाशकान् । शतम् । बहून् ॥

अनुकूल रखकर शारीरिक अवस्था सुधारे रहें और दुराचारों से बचकर अपना जीवन शुभ कामों में लगावें ॥ ६ ॥

इहैव स्तं प्राणापानौ मापं गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतुं पुनः ॥ ६ ॥

इह । एव । स्तम् । प्राणापानौ । मा । अपं । गातम् । इतः । युवम् । शरीरम् । अस्य । अङ्गानि । जरसे । वहतम् । पुनः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(प्राणापानौ) हे श्वास प्रश्वास ! (युवम्) तुम दोनों (इह एव) इस में ही (स्तम्) रहो, (इतः) इससे (मा अप गातम्) दूर मत जाओ । (अस्य) इस [प्राणी] के (शरीरम्) शरीर और (अङ्गानि) अंगों को (जरसे) स्तुति के लिये (पुनः) अवश्य (वहतम्) तुम दोनों ले चलो ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्राण और अपान वायु का संचार ठीक न होने से रुधिर जमकर रोग उत्पन्न होता है, इससे मनुष्य सब शरीर में वायु संचार ठीक रखकर दृढ़ शरीर वाले हों और स्तुति प्राप्त करें ॥ ६ ॥

जरायैं त्वा परिं ददामि जरायै नि धुंवामि त्वा ।
जरा त्वां भद्रा नेष्ट व्यं १ न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहु-रितंराञ्छतम् ॥ ७ ॥

जरायैं । त्वा । परिं । ददामि । जरायैं । नि । धुवामि

६—इह एव । अस्मिन्नेव शरीरे । स्तम् । भवतम् । प्राणापानौ । श्वासप्रश्वासौ । मा अप गातम् । इण् गतौ-माङि लुङि । माप गच्छतम् । इतः । अस्माच्छरीरात् । युवम् । युवाम् । शरीरम् । अ० २ । १२ । ८ । कायम् । अस्य । पुरुषस्य । अङ्गानि । देहावयवान् । जरसे । अ० १ । ३० । २ । जृ स्तुतौ, यद्वा, गॄ शब्दे—स्तुतौ-असुन् । गस्य जः । स्तुत्यर्थम् । वहतम् । युवां प्रापयतम् । पुनः अवधारणे ॥

त्वा ॥ जरा । त्वा । भद्रा । नेष्टु । वि । अन्ये । यन्तु । मृत्यवः । यान् । आहुः । इतरान् । शतम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे प्राणी !] (त्वा) तुझे (जरायै) स्तुति पाने के लिये (परि) सब प्रकार (ददामि) दान करता हूं । (जरायै) स्तुति के लिये (त्वा) तेरे (नि धुवामि) निहोरे करता हूं [अथवा, तुझे झकझोरता हूं] (जरा) स्तुति (त्वा) तुझे (भद्रा=भद्राणि) अनेक सुख (नेष्ट) पहुंचावे । (अन्ये) दूसरे (मृत्यवः) मृत्यु के कारण (वि यन्तु) उलटे चले जावें, (यान्) जिन (इतरान्) कामना नाशक [मृत्युओं] को (शतम्] सौ प्रकार का (आहुः) बतलाते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य कभी नम्र, कभी कठोर होकर स्तुति के लिये अपना आत्मा लगावे, और निर्धनता, रोगादि मृत्यु के कारणों को हटाकर सुखी रहे ॥ ७ ॥

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया ।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

अभि । त्वा । जरिमा । अहित । गाम् । उक्षणम्-इव । रज्ज्वा ॥ यः । त्वा । मृत्युः । अभि-अधत्त । जायमानम् ।

७-जरायै । षिद्भिदादिभ्योऽङ् पा० ३ । ३ । १०४ । इति जॄ स्तुतौ-अङ्, टाप् । जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः-निरु० १० । ८ । स्तुतिप्राप्तये । परि ददामि । अ० १ । ३० । २ । समर्पयामि । नि । आदरे । निश्चये । अधोभागे । धुवामि । धूञ् कम्पने, तुदादिः सकर्मकः । कम्पयामि । प्रेरयामि । त्वा । प्राणिनम् । भद्रा । भद्राणि । मङ्गलानि । नेष्ट । छेद् । नयतु । प्रापयतु । अन्यद् गतम्-म० ५ ॥

सु-पाशया ॥ तम् । ते । सत्यस्य । हस्ताभ्याम् । उत् । अमु-ञ्चत् । बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

[हे प्राणी !] (जरिमा) निर्बलता ने (त्वा) तुझको (अभि अहित) बांधा है, (उक्षणम्) बलवान् (गाम् इव) बैल को जैसे (रज्ज्वा) रस्सी से। (यः मृत्युः) जिस मृत्यु ने (जायमानम्) उत्पन्न वा प्रसिद्ध होते हुये (त्वा) तुझ को (सुपाशया) दृढ़ फंदे से (अभि-अधत्त) बन्धन में किया है, (तम्) उस [मृत्यु] को (सत्यस्य) सत्य के (ते) तेरे (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों के हित के लिये (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों के रक्षक [देवगुरु] परमेश्वर वा आचार्य ने [तुझ से] (उत् अमुञ्चत्) छुड़ा दिया है ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य जन्म से लेकर भूख, पियास, रोग आदि विपत्तियों से ईश्वरदत्त ज्ञान और विद्वानों की रक्षा तथा शिक्षा द्वारा छूट कर दोनों हाथों अर्थात् सब प्रकार से धर्म आचरण के लिये आगे बढ़ता है ॥ ८ ॥

८—**अभि अहित** । अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने । अश्वाभिधानी=अश्वबन्धनरज्जुः । ततो लुङ् । स्थाघ्वोरिच्च । पा० १ । २ । १७ । इति इत्वकित्वे । बद्धं कृतवान् । **त्वा** । त्वां प्राणिनम् । **जरिमा** । इभृधृसृस्तृशृभ्य इमनिच् । उ० ४ । १४८ । इति जृष् वयोहानौ—इमनिच् । जरा । निर्बलता । **गाम्** । वृषभम् । **उक्षणम्** । श्वनुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति उक्ष सेचने वृद्धौ च-कनिन् । उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः-निरु० १२ । ६ । वा षपूर्वस्य निगमे । पा० ६ । ४ । ९ । इति दीर्घाभावः । उक्षाणम् । बलवन्तम् । **इव** । यथा **रज्ज्वा** । सृजेरसुम् च । उ० १ । १५ । इति सृज त्यागे-उ रूपसिद्धिर्निपातः । सृज्यते रच्यते इति । बन्धनसाधनवस्तुना । **यः** । **त्वा** । **मृत्युः** । **अभि-अधत्त** । धाञो लङ् । अबध्नात् । **जायमानम्** । उत्पद्यमानम् । प्रसिद्धिं कुर्वन्तम् । **सुपाशया** । सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेया० । पा० ७ । १ । ३९ । इति तृतीयाविभक्तौ या । सुपाशेन । दृढबन्धनेन । **तम्** । मृत्युम् **ते** । तव । **सत्यस्य** । यथार्थनियमस्य । **हस्ताभ्याम्** । कराभ्याम् तयोर्हितार्थम् । **उत् अमुञ्चत्** । उदमोचयत् । **बृहस्पतिः** । म० ४ । बृहतां पतिः । देवगुरुः परमेश्वरः । आचार्यः ॥

सूक्तम् १२ ॥

१—८ । शाला देवता ॥ १, २, ४—६, ८ त्रिष्टुप् । ३ पथ्या पङ्क्तिः । ७, ८ अनुष्टुप् ॥

नवशाला निर्माणं प्रवेशश्च—नवीन शाला का निर्माण और प्रवेश ॥

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमें तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा । तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥ १ ॥

इह । एव । ध्रुवाम् । नि । मिनोमि । शालाम् । क्षेमें । तिष्ठाति । घृतम् । उक्षमाणा ॥ ताम् । त्वा । शाले । सर्व-वीराः । सु-वीराः । अरिष्ट-वीराः । उप । सम् । चरेम ॥ १ ॥

भाषार्थ — (इह एव) यहां पर ही (ध्रुवाम्) ठहराऊ (शालाम्) शालाको (नि मिनोमि) जमाकर बनाता हूं । वह (घृतम्) घी (उक्षमाणा) सींचती हुई (क्षेमे) लब्ध वस्तु की रक्षा में (तिष्ठाति) ठहरी रहे । (शाले) हे शाला (ताम् त्वा) उस तुझ में (उप=उपेत्य) आकर (सर्ववीराः) सब

१—इह । अस्मिन् विचारिते स्थाने । एव । अवधारणे । ध्रुवाम् । ध्रु स्थैर्ये गतौ च-क । स्थिराम् । निश्चिताम् । नि मिनोमि । डुमिञ् प्रक्षेपणे । नितरां प्रक्षिपामि स्थापयामि । शालाम । तमिविशि विडि० । उ० १ । ११८ । इति शो निशाने अल्पीकरणे-कालन् । अथवा, शाल कथने-अच् । टाप् । गृहम । क्षेमे । लब्धवस्तुनो रक्षणे । कुशले । तिष्ठाति । लेटि आडागमः । तिष्ठेत् । घृतम् । आज्यम् । दीप्तिम् । उक्षमाणा । सिञ्चन्ती । प्रवर्धयन्ती । ताम् । तादृशीम् । त्वा । शाले । सर्ववीराः । अनेकशूरोपेताः । सुवीराः । शुभगुणवीरैर्युक्ताः । अरिष्टवीराः । रिष हिंसायाम्-क ।

वीर पुरुषों वाले (सुवीराः) अच्छे २ पराक्रमी पुरुषों वाले और (अरिष्टवीराः) नीरोग पुरुषों वाले (संचरेम) हम चलते फिरते रहें ॥ १ ॥

भावार्थ—हम अपने घर दृढ़ और उचित विभाग वाले बनावें, जिस से वायु घाम आदि के यथावत् सेवन से सब गृहस्थ स्त्री पुरुष सदा हृष्ट पुष्ट और स्वस्थ रहें ॥ १ ॥

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती। ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥ २ ॥

इह । एव । ध्रुवा । प्रति । तिष्ठ । शाले । अश्व-वती । गो-मती । सूनृता-वती ॥ ऊर्जस्वती । घृत-वती । पयस्वती । उत् । श्रयस्व । महते । सौभगाय ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शाले) हे शाला ! तू (इह एव) यहां पर ही (अश्वावती) बहुत घोड़ों वाली, (गोमती) बहुत गौओं वाली और (सूनृतावती) बहुत प्रिय सत्य वाणियों वाली होकर (ध्रुवा) ठहराऊ (प्रतितिष्ठ) जमी रह। (ऊर्जस्वती) बहुत अन्न वाली, (घृतवती) बहुत घी वाली और (पय-

---

अहिंसितवीराः। स्वस्थशूरयुक्ताः । उप । उपेत्य । संचरेम । व्यवहरेम ॥

२—ध्रुवा । दृढा । प्रति तिष्ठ । स्थिता भव । वर्तस्व । शाले । हे गृह । अश्वावती । मादुपधायाश्च० । पा० ८ । २ । ११ । इति मतुपो वत्वम् । मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रिय० । पा० ६ । ३ । १३१ । इति मतौ दीर्घः । भूमनिन्दाप्रशंसासु० । इति सर्वत्र भूम्नि मतुप् । बहुभिरश्वैरुपेता । गोमती । बहुभिर्गोभिर्युक्ता । सू-नृतावती । सु+नृत नर्तने- सम्पदे कः । यद्वा । सु+नृ+तन विस्तारे-ड । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३७ । इति दीर्घो वा टाप् । सुष्ठु नृत्यतेऽनेन, यद्वा, सुष्ठु सोमनमरेषु तायते विस्तीर्यते । सूनृ-

स्वती] बहुत दूध वाली होकर (महते) बड़ी (सौभगाय) सुन्दर भाग्यवानी के लिये (उत् श्रयस्व) ऊंची हो ॥ २ ॥

भावार्थ--- मनुष्य शाला में योग्य योग्य स्थान बनाकर उनको आवश्यक पदार्थों से भरपूर रक्खें ॥

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या । आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ३॥

धरुणी । असि । शाले । बृहत्-छन्दाः । पूति-धान्या ॥ आ । त्वा । वत्सः । गमेत् । आ । कुमारः । आ । धेनवः । सायम् । आ-स्पन्दमानाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शाले) हे शाला ! तू (बृहच्छन्दाः) विशाल [illegible]तवाली, वा बहुत से छन्द वा वेद मन्त्रों वाली, (पूतिधान्या) शुद्ध धान्य वाली (धरुणी) भण्डार (असि) है । (त्वा) तुझ में (वत्सः) बछड़ा (आ) और

ता, अन्ननाम-निघ० २ । ७ । सूनृतम्, सत्यप्रियवाक्यम् इति कोषे । सत्यप्रियवाग्भिर्बालादीनां वाणीभिर्युक्ता । ऊर्जस्वती । ऊर्ज बलप्राणनयोः-असुन् । अ[illegible]तावती । [illegible]तवती । बहुघृतयुक्ता । [illegible]यस्वती । बहुदुग्धा । उत् [illegible]यस्व । उद्गता, उत्कृष्टा भव । महते । प्रभूताय । सौभगाय । अ० १ । १८ । २ । सुभग-अञ् । सुभगत्वाय । ऐश्वर्यवत्त्वाय ॥

३—धरुणी । कृवृदारिभ्य उनन् । उ० ३ । ५३ । इति धृञ्-उनन् । ङीप् । भोगजातस्य धारयित्री । शाले । बृहच्छन्दाः । चन्देरादेश्च छः । उ० ४ । २१९ । इति बृहत्+चदि आह्लादे-असुन् । चस्य छः । यद्वा । छदि आच्छादने-असुन् । प्रभूताच्छादना । महद्भिश्छन्दोभिर्वेदमन्त्रैरुपेता । पूतिधान्या । क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति पूञ् शोधे-क्तिच् । पूतीनि पवित्राणि धान्यानि यस्यां सा तथोक्ता । शुद्धधान्ययुक्ता । वत्सः ।

(कुमारः) बालक (आगमेत्) आवे । (सायम्) सायंकाल में (आस्पन्द-मानाः) कूदती हुई (धेनवः) दुधैल गौयें (आ = आगच्छन्तु) आवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—स्पष्ट है । और २ स्थानों के साथ घरों में वैदिकभवन भी होवे ॥ ३ ॥

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् । उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ ४ ॥

इमाम् । शालाम् । सविता । वायुः । इन्द्रः । बृहस्पतिः । नि । मिनोतु । प्र-जानन् ॥ उक्षन्तु । उद्ना । मरुतः । घृतेन । भगः । नः । राजा । नि । कृषिम् । तनोतु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इमाम् शालम्) इस शाला को (सविता) सब का चलाने वाला पुरुष [वा सूर्य], (वायुः) वेगवान् पुरुष [वा पवन] (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुष [वा मेघ] और (प्रजानन्) ज्ञानवान् (बृहस्पतिः) बड़े बड़े कामों का रक्षक पुरुष [प्रत्येक] (नि मिनोतु) जमाकर बनावे । (मरुतः) शूर देवता

कृतॄवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । इति वद कथने-सप्रत्ययः । वदतीति वत्सः । आगमेत् । आगच्छेत् । आ । समुच्चये । कुमारः । कमेः किदुच्चोप-धायाः । उ० ३ । १३८ । इति कम इच्छायाम् -आरन् । यद्वा । कुमार क्रीडायाम्-अच् । कमनीयः क्रीडको वा । बालकः । आ । आगच्छेयुः । धेनवः । दोग्ध्र्यो गावः । सायम् । सयंकाले । आस्पन्दमानाः । स्पदि ईषत्कम्पे शानच् । कूर्दमानाः । क्रीड़ां कुर्वाणाः ॥

४—इमाम् । रच्यमानाम् । शालाम् । गृहम् सविता । सर्वस्य प्रेरकः पुरुषः सूर्यो वा । वायुः । वेगवान् पुरुषः पवनो वा । इन्द्रः । ऐश्वर्यवान् पुरुषो मेघो वा । बृहस्पतिः । अ० १ । ८ । २ । बृहतां कर्मणां

[विद्वान् लोग] (उद्गना) जल से और (घृतेन) घी से (उक्षन्तु) सींचें, और (भगः) भाग्यवान् (राजा) राजा [प्रधान पुरुष] (नः) हमारे लिये (कृषिम्) खेती को (नि) सदैव (तनोतु) बढ़ावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—शाला निर्माण में प्रधान पुरुष और सब कार्यकर्ता कर्म-कुशल हों, और घाम, वायु और मेघ, और जल, घी आदि सामग्री के लिये यथावत् अवकाश रहे। और निर्वाह के लिये खेती की विद्या का विस्तार करें ॥ ४ ॥

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे। तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

मानस्य । पत्नि । शरणा । स्योना । देवी । देवेभिः । नि-मिता । असि । अग्रे ॥ तृणम् । वसाना । सु-मनाः । असः । त्वम् । अथ । अस्मभ्यम् । सह-वीरम् । रयिम् । दाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(मानस्य) हे मान अर्थात् प्रतिष्ठा की (पत्नि) रक्षा करनेवाली, (शरणा) शरण देने वाली, (स्योना) सुखदायिनी, (देवी) उज्याले वाली

रक्षकः पुरुषः । निमिनोतु । डुमिञ् प्रक्षेपणे । स्थापयतु । दृढ़ां करोतु । प्रजानन् । शालानिर्माणप्रकारं प्रकर्षेण जानन् । उक्षन्तु । सिञ्चन्तु । उद्गना । पद्दन्नोमास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति उदकशब्दस्य उदन् । भसंज्ञायाम् अकारलोपः । उदकेन । मरुतः । अ० १ । २० । १ । शत्रूणां मारणशीलाः । शूराः । घृतेन । घृ सेके दीप्तौ-क्त । आज्येन । भगः । अ० १ । २६ । २ । भजनीयः । भाग्यवान् । नः । अस्मभ्यम् । राजा । प्रतापी । प्रधानः । कृषिम् । इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति कृष विलेखने-इन् । स च कित् । भूमिकर्षणविद्याम् । नि । नितराम् । तनोतु । विस्तारयतु ॥

५मा—मस्य । मान पूजायाम्-घञ् । विद समुन्नतेः । सत्कारस्य । पत्नि ।

तू (देवेभिः=०-वैः) देवताओं [विश्वकर्मा पुरुषों] करके (निमिता) मापी हुई (अग्रे) हमारे सन्मुख (असि) वर्त्तमान है। (तृणम्) घास को (वसाना) पहिने हुये (त्वम्) तू (सुमनाः) प्रसन्न मन वाली (भवः) हो, (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमें (सहवीरम्) वीर पुरुषों के सहित (रयिम्) धन (दाः) दे ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य गृहनिर्माण विद्या में कुशल पुरुषों से सम्मति लेकर बाहिर और भीतर से मनोरम्य घर बनावें, जिससे संसार में सन्मान हो और सब गृहस्थ स्वस्थ, वीर और उद्योगी होकर धनवान् होवें ॥ ५ ॥

(अथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः) यह पाद अ० २। ६। ५। में आया है ॥

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून्। मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥ ६ ॥

ऋतेन। स्थूणाम्। अधि। रोह। वंश। उग्रः। वि-राजन्। अप। वृङ्क्ष्व। शत्रून् ॥ मा। ते। रिषन्। उप-सत्तारः। गृहाणाम्। शाले। शतम्। जीवेम। शरदः। सर्व-वीराः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(वंश) हे बांस तू (ऋतेन) अपने सत्य से (स्थूणाम्)

अ० ३। १०। २। हे पालयित्रि। शरणा। अर्श आदिभ्योऽच्। पा० ५। २। १२७। इति शरण-अच् मत्वर्थे। टाप्। शरणवती। आश्रयवती। स्योना। स्योनं सुखं व्याख्यातम्। अ० २। १०। ७। पूर्ववत् अच् टाप् च। सुखवती। देवी। द्योतमाना। देवेभिः। देवैः। विश्वकर्मभिः। निर्माणविद्याकुशलैः। निमिता। डुमिञ् क्षेपे-क्त। दृढीकृता। असि। वर्तसे। अग्रे। अस्माकमभिमुखम्। तृणम्। अ० २। ३०। १। तृह हिंसायाम्-क्न, हलोपः। गवादिभक्ष्यम्। वसाना। वस आच्छादने-शानच्। आच्छादयन्ती। सुमनाः। शोभनमनस्का। भवः। अस्तेर्लेटि अडागमः। भव। अथ...दाः। इतिगतम् अ० २। ६। ५। दाः। देहि॥

थूनी [टेक वा खूंटी] पर (अधि रोह) चढ़ जा, और (उग्रः) दृढ़ वा प्रचंड होकर (विराजन्) विशेष रूप से प्रकाशित होता हुआ तू (शत्रून्) शत्रुओं को (अप वृङ्क्ष्व) दूर हटा दे। (शाले) हे शाला ! (ते) तेरे (गृहाणाम्) घरों के (उपसत्तारः) रहनेवाले पुरुष (मा रिषन्) दुःखी न होवें। (सर्ववीराः) सब वीरों को रखते हुये हम लोग (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीवेम) जीते रहें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने घर ऊंचे, दृढ़ और प्रकाशयुक्त बनावें जिस से चोर डाकू सिंहादि हिंसक और रोग न सता सकें और सब लोग स्वस्थ होकर वीर रहें ॥ ६ ॥

एमां कु॒मार॑स्तरु॒ण आ व॒त्सो जग॑ता स॒ह ।
एमां परि॒स्रुतः॑ कु॒म्भ आ द॒ध्नः क॒लशै॑रगुः ॥ ७ ॥

आ । इ॒माम् । कु॒मा॒रः । त॒रु॒णः । आ । व॒त्सः । जग॑ता । स॒ह ॥ आ । इ॒माम् । परि॑-स्रु॒तः । कु॒म्भः । आ । द॒ध्नः । क॒लशैः॑ । अ॒गुः ॥ ७ ॥

६—ऋतेन। सत्यधर्मेण। दृढभावेन। स्थूणाम्। रास्नासास्नास्थूणावीणाः। उ० ३। १५। इति ष्ठा—न प्रत्ययः, आकारस्य ऊकारः। गृहस्तम्भम्। अधि रोह। अधितिष्ठ। वंश। वन सेवनशब्दयोः—श प्रत्ययः। वंश। वश कान्तौ-अच् घञ् वा, नुम् च। हे वेणुस्तम्भ। उग्रः। प्रचण्डः। सुदृढः। विराजन्। विशेषेण दीप्यमानः सन्। अप वृङ्क्ष्व। वृजी वर्जने, रुधादिः। अपवर्जय। शत्रून्। हिंसिकान् सिंहादीन् रोगान् वा। ते। तव। मा रिषन्। रिष हिंसायाम्। हिंसिता मा भूवन्। उपसत्तारः। षद्लृ गतिविषादयोः—तृच्। उपसदनशीलाः। निवासिनः। गृहाणाम्। सदनानाम्। शाले। हे भवन। शतम्। शरदः। जीवेम। प्राणान् धरेम। सर्ववीराः। सर्ववीरपुरुषसमेताः॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [शाला] में (कुमारः) बालक, (आ) और (तरुणः) युवा, (आ) और (जगता सह) चलने वाले गौआदि के साथ (वत्सः) बछड़ा, (आ) और (इमाम्) इस [शाला] में (परिस्रुतः) पिघलते हुए रस का (कुम्भः) घड़ा (दध्नः) दही के (कलशैः) कलसों के साथ (आ अगुः) आये हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग सब प्रकार की आवश्यक सामग्री अपने घरों में रक्खें ॥ ७ ॥

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामृतेन संभृताम्। इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥

पूर्णम्। नारि। प्र। भर। कुम्भम्। एतम्। घृतस्य। धाराम्। अमृतेन। सम्-भृताम् ॥ इमाम्। पातॄन्। अमृतेन। सम्। अङ्ग्धि। इष्टापूर्तम्। अभि। रक्षाति। एनाम् ॥८॥

७—आ। समुच्चये। इमाम्। परिदृश्यमानां शालाम्। कुमारः। म० ३। बालकः। तरुणः। श्रो रश्च लो वा। उ० ३।५४। इति तॄ तरणे अभिभवे च-उनन्। युवा। वत्सः। म०२। गोशिशुः। जगता। म०१।२१।४। गमनशीलेन। गवादिना सह। परिस्रुतः। स्रु गतौ-क्विप्, तुक् आगमः। परिस्रवणशीलस्य रसस्य। कुम्भः। कुं भूमिं उम्भति पूरयति जलेन। कु+उम्भ पूरणे-अच्। शकन्ध्वादिरूपम्। घटः। दध्नः। आङ्घाधाम्कम्सुअनिगमिनमिभ्यः किकिनौ। वा० पा० ३। २। १७१। इति धाञ् धारणे-कि, लिड्वच्च। दुग्धविकृतभेदस्य। कलशैः। कलं शब्दं शवति प्राप्नोति। कल+शु गतौ ड—। यद्वा। कला+शीङ् शयने-ड। कलशः कस्मात् कला अस्मिञ्छेरते मात्राः कलिश्च कलाश्च किरतेर्विकीर्णमात्राः-निरु० ११।१२। कलसैः घटैः। आ अगुः। इण् गतौ-लुङ्। आगमन्। आगता ॥

भाषार्थ—(नारि) हे नर का हित करने वाली गृहपत्नी ! (एतम्) इस (पूर्णम्) पूरे (कुम्भम्) घड़े में से (अमृतेन) अमृत [हितकारी पदार्थ] से (संभृताम्) भरी हुयी (घृतस्य) घी की (धाराम्) धारा को (प्र, भर=हर) अच्छे प्रकार ला। (इमाम्) इस [शाला] को और (पातॄन्) पान कर्ताओं वा रक्षकों को (अमृतेन) अमृत से (सम्) अच्छे प्रकार (अङ्ग्धि) पूर्ण कर। (इष्टापूर्तम्) यज्ञ और वेदों का अध्ययन, अन्नदानादि पुण्य कर्म (एनाम्) इस [शाला] की (अभि) सब ओर से (रक्षाति) रक्षा करे ॥८॥

भावार्थ—गृहपत्नी घर को घृत, दुग्ध आदि अमृत पदार्थों से परिपूर्ण रखकर सब कुटुम्बियों को स्वस्थ और पुष्ट रक्खे। और सब स्त्री पुरुष धार्मिक, पुरुषार्थी और धनी होकर चोर उचक्के सिंहादि दुष्टों से रक्षा करते हुए बस्ती को बसाये रक्खें ॥ ८ ॥

मनु भगवान् ने अध्याय ५ श्लोक १५० में कहा है ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १ ॥

स्त्री सदा प्रसन्नचित्त और घर के कामोंमें चतुर हो और (सुसंस्कृतोपस्करया) घर की सामग्री, बासन भांड़े भली भांति ठीक रखती हुई, व्यय करने में हाथ सकोड़े रहे ॥

८—**पूर्णम्** । पूरितम्। **नारि** । अ० १ । ११ । १ । हे नरस्य धर्म्ये हितकारिणि ! **प्रभर** । हस्य भः । आहर । द्विकर्मकत्वात् (कुम्भम्, धाराम्) इत्येतयोः कर्मता । **कुम्भम्** । अ० ७ । अपादाने द्वितीया । घटात्—इत्यर्थः । **एतम्** । **घृतस्य** । आज्यस्य । **धाराम्** । धृ-णिच्-अङ्, टाप् । सन्ततया पतनम् । **अमृतेन** । मरणाद्रक्षकेण स्वास्थ्यवर्धकेन पदार्थसमूहेन । **संभृताम्** । संपादिताम् । **इमाम्** । **पातॄन्** । पा पाने, पा रक्षणे वा—तृच् । पानकर्तॄन् । रक्षकान् । **सम्** । सम्यक् । **अङ्ग्धि** । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—लोट् म्रक्ष, संयोजय । **इष्टापूर्तम्** । अ० २ । १२ । ४ । यज्ञवेदाध्ययनान्नदानादि पुण्यकर्म । **अभि** । सर्वतः । **रक्षाति** । लेट् । रक्षेत् ॥

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ ९ ॥

इमाः । आपः । [आ । अपः] प्र । भरामि । अयक्ष्माः । यक्ष्म-नाशनीः ॥ गृहान् । उप । प्र । सीदामि । अमृतेन । सह । अग्निना ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(इमाः) इस (अयक्ष्माः) रोगरहित (यक्ष्मनाशनीः) रोग-नाशक (अपः) जल को (प्र) अच्छे प्रकार (आ भरामि) मैं लाता हूं । (अमृतेन) मृत्यु से बचाने वाले अन्न, घृत, दुग्धादि सामग्री और (अग्निना सह) अग्नि के सहित (गृहान्) घरों में (उप=उपेत्य) आकर (प्र) अच्छे प्रकार (सीदामि) मैं बैठता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ—गृहपति रोगों से बचने और स्वास्थ्य बढ़ाने के लिये अपने घर में शुद्ध, जल, अग्नि, आदि पदार्थों का सदा उचित प्रयोग करें ॥ ९ ॥

सूक्तम् १२ ॥

१-७॥ आपो देवताः । १-४, ५ अनुष्टुप्, ५, ६ त्रिष्टुप् ।

अपां गुणा उपदिश्यन्ते—जल के गुणों का उपदेश ॥

यदुदः संप्रयतीरहावनदता हते ।
तस्मादा नद्यो३ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः॥१॥

यत् । अदः । सम्-प्रयतीः । अहौ । अनदत । हते ॥ तस्मात् ।

९—इमाः । दृश्यमानाः । आ । समन्तात् । अपः । जलानि । प्र । भरामि । हरामि । अयक्ष्माः । यक्ष्मरहिताः । यक्ष्मनाशनीः । यक्ष्म-नाशिकाः। स्वास्थ्यवर्धयित्रीः । गृहान् । भवनानि । उप । उपेत्य । सीदामि। उपविशामि । अमृतेन । नास्ति मृतं येन तेन । पौष्टिकेन । अन्नघृतदुग्धादि-पदार्थसमूहेन । अग्निना । पावकेन । सह । सहितः ॥

आ। नद्यः। नाम। स्थ। ता। वः। नामानि। सिन्धवः॥२॥

भाषार्थ—(सिन्धवः) हे बहने वाली नदियो ! (संप्रयतीः=संप्रयत्यः+यूयम्) मिलकर आगे बढ़ती हुई तुमने (अहौ हते) मेघ के ताड़े जाने पर (अदः) वह (यत्) जो (अनदत) नाद किया है। (तस्मात्) इसलिये (आ) ही (नद्यः) नाद करने वाली, नदी (नाम) नाम (स्थ) तुम हो, (ता=तानि) वह [वैसे ही] (वः) तुम्हारे (नमानि) नाम हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जब मेघ आपस में टकराकर गरजकर बरसते हैं, तब वह जल पृथिवी पर एकत्र होकर नाद करता हुआ बहता है, इससे उसका नदी नाम है। इसी प्रकार वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति समझकर अर्थ करना चाहिये ॥ १ ॥

अजमेर पुस्तक में (संप्रयतिः) है हमने अन्य पुस्तकों से (संप्रयतीः) लिया है ॥

यत् प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत ।

तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन ॥ २ ॥

यत्। प्र-इषिताः। वरुणेन। आत्। शीभम्। सम्-अवल्गत।

तत्। आप्नोत्। इन्द्रः। वः। यतीः। तस्मात्। आपः।

अनु। स्थन ॥ २ ॥

१—यत्। यत् किंचित्। अदः। तत्। संप्रयतीः। इण् गतौ शतृ, ङीप्। वा छन्दसि। पा० ६। १। १०६। इति पूर्वसवर्णदीर्घः। संभूय, प्रयान्त्यः। अहौ। अ० २। ५। ५। मेघे। अनदत। णद, नदद्। वा अव्यक्ते शब्दे-लङ्। सांहितिको दीर्घः। यूयं ध्वनिं कृतवत्यः। हते। ताड़िते। तस्मात्। तस्मात् कारणात्। आ। अवधारणे। नद्यः। नदट् पचाद्यच्, टिड्ढाणञ्॰। पा० ४। १। १५। इति ङीप्। नद्यः कस्मान्नदना भवन्ति शब्दवत्यः—निरु० २। २४। नदनशीलाः। सरितः। नाम। अ० १। २४। ३। नामधेयम्। स्थ। भवथ। ता। तानि। वः। युष्माकम्। सिन्धवः। अ० १। १५। १। स्यन्दनशीलाः। नद्यः॥

भाषार्थ—(यत्) जब (आत्) फिर (वरुणेन) सूर्य करके (प्रेषिताः) भेजे हुये तुम (शीभम्) शीघ्र (समवल्गत) मिलकर चले, (तत्) तब (इन्द्रः) जीव ने [वा सूर्य ने] (यतीः) चलते हुये (वः) तुमको (आप्नोत्) प्राप्त किया, (तस्मात्) उससे (अनु) पीछे (आपः) प्राप्ति योग्य जल [नाम] (स्थन) तुम हो ॥ २ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (आप्नोत्) और (आपः) शब्द एक ही धातु आप्लृ पाना से सिद्ध है। जब सूर्य की शक्ति से जल भूमि पर आकर फैलता है, तब जीव उसे पाता है, [और सूर्य भी फिर ले लेता है] इससे जल का नाम (आपः) पाने योग्य वस्तु है (आपः) शब्द नित्य स्त्री लिङ्ग बहुवचनान्त है ॥ २ ॥

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम् ।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम् ॥३॥

अप-कामम् । स्यन्दमानाः । अवीवरत । वः । हि । कम् ॥ इन्द्रः । वः । शक्ति-भिः । देवीः । तस्मात् । वाः । नाम । वः । हितम् ॥ ३ ॥

२—**यत्** । यदा । **प्रेषिताः** । इष गतौ-क्त । प्रेरिताः । **वरुणेन** । वरणीयेन सूर्येण । **आत्** । अनन्तरम् । **शीभम्** । शीभ कत्थने—घञ् । क्षिप्रम्-निघ० २ । १५ । **समवल्गत** । वल्ग गतौ-लङ्, भौवादिकः । यूयं सम्भूय गतवत्यः । **तत्** । तदा । **आप्नोत्** । आप्लृ व्याप्तौ-लङ् । प्राप्तवान् । **इन्द्रः** । जीवः । सूर्यः । **वः** । युष्मान् । **यतीः** । इण् गतौ-शतृ । गमनं कुर्वतीः । **तस्मात्** । **आपः** । आप्नोतेर्ह्रस्वश्च । उ० २ । ५८ । इति आप्लृ व्याप्तौ-क्विप् । अप्तृन्तृच्० पा० ६ । ४ । ११ । इति सर्वनामस्थाने दीर्घः । आप आप्नोतेः—निरु० ६ । २६ । प्राप्तव्यानि जलानि । **अनु** । पश्चात् । **स्थन** । यूयं स्थ ॥

भावार्थ—(वः) वेगवान् वा वरणीय (इन्द्रः) जीव [वा सूर्य्य] ने (हि) ही (अपकामम्) व्यर्थ (स्यन्दमानाः) बहते हुये (वः) तुमको (शक्तिभिः) अपनी शक्तियों द्वारा (कम्) सुख से (अवीवरत) वरण [स्वीकार] अथवा, वारण [रोकना] किया, (तस्मात्) इससे (देवीः=देव्यः) हे दिव्य गुण वाली वा खेलवाली जल धाराओ ! (वः) तुम्हारा (नाम) नाम (वार्) वरण योग्य वा वारण योग्य जल (हितम्) रक्खा गया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य भूमि पर अन्नादि के लिये और सूर्य्य आकाश में वृष्टि के लिये जल को चाहता है वा रोकता है, इसलिये जल का नाम (वार्) है। (अवीवरत) क्रिया और (वार्) शब्द दोनों वृ चाहना वा रोकना धातु से बनते हैं ॥ ३ ॥

एको॑ वो दे॒वोऽप्य॑तिष्ठ॒त् स्यन्द॑माना यथाव॒शम् ।
उदा॑निषुर्म॒हीरिति॒ तस्मा॑दुद॒कमु॑च्यते ॥ ४ ॥

एकः॑ । व॒ः । दे॒वः । अपि॑ । अ॒ति॒ष्ठ॒त् । स्यन्द॑मानाः । य॒था॒-व॒शम् । उत् । आ॒नि॒षुः॒ । म॒हीः । इति॑ । तस्मा॑त् । उ॒द॒कम् । उ॒च्य॒ते॒ ॥ ४ ॥

भावार्थ—(एकः) अकेला (देवः) जयशील परमात्मा (यथावशम्)

३—**अपकामम्** । विनैव कामेन, व्यर्थम् । **स्यन्दमानाः** । स्यन्दनं कुर्वाणाः । **अवीवरत** । वृञ् वरणे, यद्वा, वृ वारणे, स्वार्थिको णिच् । वृत वान् । वारितवान् । **वः** । युष्मान् । **हि** । निश्चयेन । **कम्** । सुखेन । **इन्द्रः** । जीवः । सूर्य्यः । **वः** । गतौ, वा, वृञ् वरणे-ड । वायुः, वरुणः । वेगवान् । वरणीयः । **शक्तिभिः** । स्वसामर्थ्यैः । **देवीः** । दिवु दीप्तौ, क्रीडायां च-अच्, ङीप् । ३ देव्यः । दिव्यगुणाः । देवनशीलाः । **वार्** । वृञ् वरणे, वा वृ वारणे-णिच् क्विप् । व्रियते वार्यते वा यत्तद् । जलम् । **वः** । युष्माकम् । **हितम्** । धाञ् धारणे-क्त । धृतम् ॥

४—**एकः** । अद्वितीयः । **वः** । युष्मान् । **देवः** । दिवु विजिगीषायाम्-

इच्छानुसार (स्यन्दमानाः) बहते हुये (वः) तुम्हारा (अपि अतिष्ठत्) अधिष्ठाता हुआ। (महीः=महत्यः) शक्ति वाले [आप जल] ने (इति) इस प्रकार (उत्+आनिषुः) ऊपर को श्वास ली, (तस्मात्) इस लिये (उदकम्) ऊपर को श्वास लेने वाला उदक वा जल (उच्यते) कहा जाता है॥ ४ ॥

भावार्थ—ईश्वर सामर्थ्य से सूर्य द्वारा जल आकाश में चढ़ता है इस लिये (उदक) जल का नाम है। (उत् आनिषुः) और (उदकम्) उत्+अन, श्वास लेना-धातु से बनते हैं॥ ४ ॥

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत् ताः। तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्॥ ५ ॥

आपः। भद्राः। घृतम्। इत्। आपः। आसन्। अग्नीषोमौ। बिभ्रति। आपः। इत्। ताः॥ तीव्रः। रसः। मधु-पृचाम्। अरम्-गमः। आ। मा। प्राणेन। सह। वर्चसा। गमेत्॥५॥

भाषार्थ—(आपः) जल (भद्राः) मंगलमय, और (आपः) जल

अच्।जेता। अपि अतिष्ठत्। अपि=अधि। अधिष्ठितवान्। शासितवान्। स्यन्दमानाः। स्यन्दनशीलाः। यथावशम्। यथेच्छम्। उत् आनिषुः। अन प्राणने-लुङ्। उच्छ्वासितवत्यः। महीः। महत्यः। इति। एवम्। तस्मात्। उदकम्। कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः। उ० ३। ४०। इति उत्+अन प्राणने-क। नलोपः। यद्वा। उदकं च। उ० २। ३६। इति उन्दी क्लेदने—क्वुन्। उदकं कस्मादुनत्तीति सतः-निरु० २। २४। उच्छ्वासकम्। उन्दनशीलम्। जलम्। उच्यते। कथ्यते॥

५—आपः। प्रापणीयं जलम्। भद्राः। भदि कल्याणकारणे-रक्।

(इत्) ही (घृतम्) घृत (आसन्) था । (ताः) वह (इत्) ही (आपः) जल (अग्नीषोमौ) अग्नि और चन्द्रमा को (बिभ्रति) पुष्ट करता है । (मधुपृचाम्) मधुरता से भरी [जल धाराओं] का (अरंगमः) परिपूर्ण मिलने वाला, (तीव्रः) तीव्र [तीक्ष्ण, शीघ्र प्रवेश होने वाला] (रसः) रस (मा) मुझ को (प्राणेन) प्राण और (वर्चसा सह) कान्ति वा बल के साथ (आ गमेत्) आगे ले चले ॥ ५ ॥

भावार्थ—जल से (घृत) सारमय पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जल अग्नि अर्थात् जाठराग्नि, बिजुली, बड़वानल आदि और चन्द्र लोक से मिलकर हमें पुष्टि देता है, और कृषि आदि में प्रयुक्त होकर अन्नादि उत्पन्न करके प्राणियों का बल और तेज बढ़ाता है ॥ ५ ॥

आदित् प॑श्याम्युत वा॑ शृणोम्या मा॒ घोषो॑ गच्छति॒ वाङ् मा॑साम् । मन्ये॑ भेजा॒नो अ॒मृत॑स्य तर्हि॒ हिर॑ण्यवर्णा॒ अतृ॑पं य॒दा वः॑ ॥ ६ ॥

आत् । इत् । प॒श्या॒मि॒ । उ॒त । वा॒ । शृ॒णो॒मि॒ । आ । मा॒ । घोष॑ः । ग॒च्छ॒ति॒ । वाक् । मा॒ । आ॒सा॒म् ॥ मन्ये॑ । भे॒जा॒नः । अ॒मृत॑स्य । तर्हि॑ । हिर॑ण्य-वर्णाः । अतृ॑पम् । य॒दा । वः॒ ॥ ६ ॥

मङ्गलप्रदाः । **घृतम्** । घृतवत् सारवस्तु । **इत्** । एव । **आसन्** । अभवन् । **अग्नीषोमौ** । ईदग्नेः सोमवरुणयोः। पा० ६।३।२७। इति ईत्वम् । अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः। पा० ८।३।८२। इति षत्वम् । अग्निं च सोमं चन्द्रं च । **बिभ्रति** । धारयन्ति । **तीव्रः** । ऋजेन्द्राग्र० । उ० २ । २८ । इति बाहुलकात् । तिज तीक्ष्णीकरणे—रन्, अस्य वो दीर्घत्वं च । तीक्ष्णम् । **रसः** । सारः । **मधुपृचाम्** । पृची संपर्के-क्विप् । मधुना रसेन संपृक्तानाम् । **अरंगमः** । अलंगमः । पर्याप्तगमनः । अक्षीणः । **प्राणेन** । जीवनेन । **मा** । माम् । **वर्चसा** । तेजसा । बलेन । **आ गमेत्** । आगमयेत्, प्रापयेत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(आत्) तब (इत्) ही (पश्यामि) मैं देखता हूं, (उत) और (वा) अथवा (शृणोमि) मैं सुनता हूं, (आसाम्) इनकी [जल के रस की] (घोषः) ध्वनि (मा) मुझे (आ गच्छति) आती है और (वाक्) वाक् शक्ति (मा) मुझे [आती है] । (हिरण्यवर्णाः) हे कमनीय पदार्थ वा सुवर्ण का विस्तार करने वाले [जल] ! (तर्हि) तभी (अमृतस्य) अमृत का (भेजानः) भोग करता हुआ मैं (मन्ये) अपने को मानूं, (यदा) जब (वः) तुम्हारी (अतृपम्) तृप्ति मैंने पायी हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—जल के यथावत् प्रयोग से प्राणी में दर्शन शक्ति और श्रवण शक्ति, और (घोष) ध्वन्यात्मिक शब्द और (वाक्) वर्णात्मिक शब्द बोलने की शक्ति होती है, और तभी वह इष्ट सुवर्णादि धन की प्राप्ति से भूख आदि से मृत्यु दुःख का त्याग करके अमृत अर्थात् आनन्द भोगता है ॥

इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः ।
इहेत्थमेत शक्वरीर्यत्रेदं वेशयामि वः ॥ ७ ॥

इदम् । वः । आपः । हृदयम् । अयम् । वत्सः । ऋत-वरीः ॥
इह । इत्थम् । आ । इत । शक्वरीः । यत्र । इदम् । वेशयामि । वः ॥ ७ ॥

६—आत् इत् । अनन्तरमेव । पश्यामि । ईक्षे । उत वा । अपि वा । शृणोमि । आकर्णयामि । मा । माम् । घोषः । घुष स्तुतिविशब्दयोः-घञ् । ध्वन्यात्मिकशब्दः । ध्वनिः । आ गच्छति । प्राप्नोति । वाक् । वर्णात्मिकशब्दः । वाणी । आसाम् । अपाम् । जलस्य । मन्ये । जाने । तर्कयामि । भेजानः । भज सेवायां लिटः कानच् । तॄफलभजत्रपश्च । पा० ६ । ४ । १२२ । इति लिटि अकारस्य एत्वम् अभ्यासलोपश्च । भजमानाः सेवमानाः । अमृतस्य । मरणनाशकस्य । सुखस्य । तर्हि । तदा । हिरण्यवर्णाः । अ० १ । ३३ । १ । वर्ण वर्णक्रियाविस्तारगुणवचनेषु-घञ् । हिरण्यस्य कमनीयपदार्थस्य सुवर्णस्य वा वर्णं विस्तारो याभिस्तास्तथाभूताः । तत्सम्बुद्धौ । अतृपम् । तृप तृप्तौ लङ् । तृप्तिं प्राप्तवानस्मि । यदा । वः । युष्माकम् ॥

भाषार्थ—(आपः) हे प्राप्ति के योग्य जल धाराओं ! (इदम्) यह (वः) तुम्हारा (हृदयम्) स्वीकार योग्य हृदय वा कर्म है । (ऋतावरीः) हे सत्यशील [जल धाराओ !] (अयम्) यह (वत्सः) निवास देने वाला, आश्रय है । (शक्वरीः) हे शक्ति वालियो ! (इत्थम्) इस प्रकार से (इह) यहां पर (आ इत) आओ, (यत्र) जहां (वः) तुम्हारे (इदम्) जल को (वेशयामि) प्रवेश करूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—कृषि, यन्त्र, औषधादि में जल के यथायोग्य प्रयोग से प्राणियों को सुख मिलता है ॥ ७ ॥

सूक्तम् १४ ॥

१-६ ॥ गावो देवताः । १-५ अनुष्टुप्, ६ त्रिष्टुप् ॥

गोरक्षोपदेशः—गोरक्षा का उपदेश ॥

सं वो॑ गो॒ष्ठेन॑ सु॒षदा॒ सं र॒य्या सं सुभू॑त्या ।
अह॑र्जातस्य॒ यन्नाम॒ तेना॑ वः॒ सं सृ॑जामसि ॥ १ ॥

७—इदम् । उपरोक्तम् । वः । युष्माकम् । आपः । हे प्राप्तव्या जलधाराः । हृदयम् । वृह्रोः षुग्दुकौ च । उ० । ४ । १०० । इति हृञ् हरणे-कयन् दुक् च, हरणं प्रापणं स्वीकारः स्तेयं नाशनं च । हरणीयं प्राप्तव्यं हृदयं कर्म वा । वत्सः । वृतॄवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । इति वस निवासे-स । निवासकः । आश्रयः । ऋतवरीः । छन्दसीवनिपौ च । वा० पा० ५ । २ । १०९ । इति मत्वर्थीयो वनिप् । वनोर च । पा० ४ । १ । ७ । इति ङीब्रेफौ । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३७ । इति सांहितको दीर्घः । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घः । हे ऋतवर्यः । सत्योपेताः । इत्थम् । अनेन प्रकारेण । आ इत । आगच्छत । शक्वरीः । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा०३। २ । ७५ । इति शक्लृ शक्तौ-वनिप् । पूर्ववद् ङीब्रेफपूर्वसवर्णदीर्घाः । शक्वर्यः । शक्ताः । समर्थाः । यत्र । इदम् । इन्देः कमिन्नलोपः । उ० ४ । १५७ । इति इदि परमैश्वर्ये-कमिन् । उदकम्-निघ० १ । १२ । वेशयामि । प्रवेशयामि । अन्तः स्थापयामि ॥

सम् । वः । गो-स्थेन । सु-सदा । सम् । रय्या । सम् । सु-भूत्या ।
अहः-जातस्य । यत् । नाम । तेन । वः । सम् । सृजामसि ॥१॥

भाषार्थ=[हे गौओ !] (वः) तुम को (सुषदा) सुख से बैठने योग्य (गोष्ठेन) गोशाला से (सम्) मिलाकर, (रय्या) धन से (सम्) मिलाकर और (सुभूत्या) बहुत सम्पत्ति से (सम्) मिलाकर और (अहर्जातस्य) प्रतिदिन उत्पन्न होने वाले [प्राणी] का (यत् नाम) जो नाम है, (तेन) उस [नाम] से (वः) तुमको (सम्, सृजामसि=०—मः) हम मिलाकर रखते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य गौओं को स्वच्छ नीरोग गोशाला में रखकर पालें, और उनको अपने धन और संपत्ति का कारण जानकर अन्य प्राणियों के समान उनके नाम बहुला, कामधेनु, नन्दिनी आदि रक्खें ॥ १ ॥

सं वः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः ।
समिन्द्रो यो धनंजयो मयि पुष्यत यद् वसु ॥ २ ॥

सम् । वः । सृजतु । अर्यमा । सम् । पूषा । सम् । बृहस्पतिः ।
सम् । इन्द्रः । यः । धनम्-जयः । मयि । पुष्यत । यत् । वसु ॥२॥

१—सम् । सृजामसि इति व्यवहितक्रियापदेन सर्वत्र संबन्धः । वः । युष्मान् । गोष्ठेन । गोशालया । सुषदा । षद्लृ गतौ-क्विप् । सुखेन सीदन्ति यत्रेति सुषत् । सुखसदनयोग्येन । रय्या । धनेन । सुभूत्या । भू सत्तायां प्राप्तौ च-क्तिन् । बहुसम्पत्त्या । अहर्जातस्य । नञि जहातेः । उ० १ ।१५८। इति नञ्+ओहाक् त्यागे, कनिन्, आतो लोपः । न जहाति न त्यजति परिवर्त्तमानत्वात्, इत्यहः, दिनम् । जनी जन्मनि-क्त । अहन्यहनि जातस्य उत्पन्नस्य प्राणिनः । संसृजामसि । संसृजामः संयोजयामः । अन्यत् सुगमम् ॥

भाषार्थ—(वः) तुमको (अर्यमा) अरि अर्थात् हिंसकों का नियामक [गोपाल] (सम्) मिलाकर; (पूषा) पोषण करने वाला [गृहपति] (सम्) मिलाकर और (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का रक्षक [विद्वान् वैद्यादि पुरुष] (सम्) मिलाकर, और (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा, (यः धनंजयः) जो धनों का जीतने वाला है, (सम् सृजतु) मिलाकर रक्खे । (मयि) मुझमें (यत्) पूजनीय (वसु) धनको (पुष्यत) तुम पुष्ट करो ॥ २ ॥

भावार्थ—सब प्रजागण और प्रजापालक राजा राज नियम से गौओं को वृद्धि करें जिससे कृषि, व्यापारादि द्वारा संसार में धन बढ़े ॥ २ ॥

सं॒ज॒ग्मा॒ना अबि॑भ्युषीर॒स्मिन् गो॒ष्ठे क॑री॒षिणीः ।
बिभ्र॑तीः सो॒म्यं मध्व॑नमी॒वा उ॒पेत॑न ॥ ३ ॥

स॒म्ऽज॒ग्मा॒नाः । अबि॑भ्युषीः । अ॒स्मिन् । गो॒ऽस्थे । क॒री॒षिणीः॑ ।
बिभ्र॑तीः । सो॒म्यम् । मधु॑ । अ॒न॒मी॒वाः । उ॒प॒ऽएत॑न ॥ ३ ॥

२—वः । युष्मान् । सं सृजतु । संयोज्य पालयतु । अर्यमा । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति ऋ हिंसायाम्–विच् । पुगन्तलघूपधस्य च । पा० ७ । ३ । ८६ । इति गुणः । ऋणाति हिनस्तीति अर् अरिः । श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्क्लेदन्स्नेहन्मज्जन्मूर्धन्नर्यमन्० । उ० १ । १५९ । इति अर्+यम नियमे–कनिन् । अर्यमादित्योऽरीन्नियच्छतीति–निरु० ११ । २३ । अराम् अरीणां हिंसकानां नियामकः । गोपालः । पूषा । अ० १ । ९ । १ । पुष पुष्टौ–कनिन् । पोषकः । गृहपतिः । बृहस्पतिः । अ० १ । ८ । २ । बृहतां वेदादिशास्त्राणां पालकः । वैद्यादिविद्वान् पुरुषः । इन्द्रः । परमैश्वर्यवान् राजा । धनंजयः । संज्ञायां भृतॄवृजिधा० । पा० ३ । २ । ४६ । इति धन+जि जये खच् । अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् । पा० ६ । ३ । ६७ । इति मुम् । धनानां जेता । पुष्यत । पोषयत । वर्धयत । यत् । त्यजितनियजिभ्यो डित् । उ० १।१३२। इति यज पूजायाम्–अदि, स च डित् । यजनीयं पूजनीयम् । वसु । धनम् ॥

भाषार्थ—(अस्मिन् गोष्ठे) इस गोशाला में (संजग्मानाः) मिलकर चलती हुई, (अबिभ्युषीः=०ष्यः) निर्भय रहती हुई, (करीषिणी=०—ण्यः) गोबर करने वाली, (सोम्यम्) अमृतमय (मधु) रस (बिभ्रतीः=०–त्यः) धारण करती हुई, (अनमीवाः) नीरोग तुम (उपेतन=उप, आ, इत) चली आओ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य गौओं को हिंसक जीवों से बचाकर नीरोग रक्खें जिस से वे रोगनाशक, अमृतमय दूध, घृत आदि पदार्थ देती रहें। गौ के मूत्र, गोबर, दूध आदि के गुण और प्रयोग बहुत हैं ॥ ३ ॥

शब्द कल्पद्रुम कोष में गौ के गुण वर्णन करते हुए कहा है।

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं सर्पिर्दधि च रोचना।
षडङ्गमेतन्मङ्गल्यं पवित्रं सर्वदा गवाम् ॥

गोमूत्र, गोबर, दूध, घी, दही और गोरोचना, गौओं के यह छह प्रकार के सर्वदा मङ्गलकारी शुद्ध पदार्थ हैं ॥

मनु भगवान् का वचन है—मनुस्मृति, अ० ११ श्लोक २१२ ॥

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥

गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुशा का पानी एक दिन [खावे] फिर एक दिन रात उपवास करे। यह कृच्छ्र सान्तपन कहाता है ॥

३—**संजग्मानाः** । समो गम्यृच्छिभ्याम्। पा० १। ३। २९। इति संपूर्वाद् गमेरात्मनेपदत्वात् लिटः कानच्। संजग्मानाः। **अबिभ्युषीः** । ञिभी भये—लिटः क्वसुः, ङीप्। वसोः संप्रसारणम्। पा० ६। ४। १३१। इति संप्रसारणम्। जसः पूर्वसवर्णदीर्घः। अबिभ्यत्यः। **करीषिणीः** । कृतृभ्यामीषन्। उ० ४। २६। इति कॄ विक्षेपे, विज्ञाने—ईषन्। अत इनिठनौ। पा० ५। २। ११५। इति इनि। करीषिण्यः करीषेण गोमयेन युक्ताः। **बिभ्रतीः** । भृञ् भरणे-शतृ। बिभ्रत्यः। धारयन्त्यः। वा॰ छन्दसि। भये च पा० ४। ४। १३८। इति

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः ॥ ४ ॥

इह । एव । गावः । आ । इतन । इहो इति । शका-इव । पुष्यत ॥ इह । एव । उत । प्र । जायध्वम् । मयि । सम्-ज्ञानम् । अस्तु । वः ॥ ४ ॥

भाषार्थ——(गावः) हे गौओ ! (इह एव) यहां ही (एतत) आओ (इहो=इह-उ) यहां ही (शका इव) समर्था [गृहपत्नी] के समान (पुष्यत) पोषण करो । (उत) और (इह एव) यहां पर ही (प्रजायध्वम्) बच्चों से बढ़ो । (मयि) मुझ में (वः) तुम्हारा (संज्ञानम्) प्रेम (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे समर्थ गृहपत्नी घर वालों का पोषण करके प्रसन्न रखती है, ऐसे हीं गौयें अपने दूध, घी आदि से अपने रक्षकों को पुष्ट और स्वस्थ करती हैं । इस से सब मनुष्य प्रीति पूर्वक उन का पालन करें और उन का वंश बढ़ावें ॥ ४ ॥

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत ।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि ॥ ५ ॥

सोम-य प्रत्ययः । अमृतमयम् । मधु । मधुरं दुग्धघृतादि । अनमीवाः । ऋ० २ । ३० । ३ । रोगरहिताः । उपेतन । इण् गतौ-लोट । तस्य तनादेशः । उपागच्छत ॥

४—आ इतन । एत । आगच्छत । इहो । इह—उ । अत्रैव । शका । शक्लृ सामर्थ्ये—पचाद्यच्, टाप् । शक्नोतीति शका-इति सिद्धान्तकौमुद्याम् [प्रत्ययस्थात् कात्० । पा० ७ । ३ । ४४] इति व्याख्यायाम् । समर्था राजपत्नी गृहपत्नी वा । पुष्यत । पोषयत । उत । अपि च । प्र जायध्वम् । प्रजया प्रवर्धध्वम् । मयि । गोरक्षके । संज्ञानम् । सम्यग् ज्ञानम् । प्रीतिभावः । वः । युष्माकम् ॥

शि॒वः। वः॒। गो॒-स्थः । भ॒वतु । शा॒रिशाका॑-इव । पु॒ष्यत॒॥ इ॒ह। ए॒व । उ॒त । प्र। जा॒य॒ध्व॒म् । मया॑ । व॒ः। सम्। सृ॒जा॒म॒सि॒॥५॥

भाषार्थ—(वः) तुम्हारी (गोष्ठः) गोशाला (शिवः) मङ्गलदायक (भवतु) होवे । (शारिशाका इव) शालि [साठी चांवल] की साखा [उपज] के समान (पुष्यत) पोषण करो । (उत) और (इह एव) यहां ही (प्रजायध्वम्) बच्चों से बढ़ो । (मया = अस्माभिः) अपने साथ (वः) तुम को (संसृजामसि = ०—मः) हम मिलाकर रखते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे (शारि, शालि) साठी चावल की साखा (शाका) थोड़े प्रयत्न से साठ दिन में ही पक जाती है, वैसे ही मनुष्य यत्न पूर्वक थोड़े परिश्रम से पालन करके गौओं से दूध, घी, और खेती के लिये बैल आदि पाकर बहुत लाभ उठाते हैं ॥ ५ ॥

मया॑ गावो॒ गोप॑तिना सचध्वम॒यं वो॑ गो॒ष्ठ इ॒ह पो॑षयि॒ष्णुः । रा॒यस्पोषे॑ण बहु॒ला भव॑न्तीर्जी॒वा जीव॑न्ती॒रुप॑ वः सदेम ॥ ६ ॥

मया॑ । गा॒वः॒ । गो-प॑तिना । स॒च॒ध्व॒म् । अ॒यम् । व॒ः । गो॒स्थः इ॒ह । पो॒ष॒यि॒ष्णुः ॥ रा॒यः । पोषे॑ण । ब॒हु॒लाः । भव॑न्तीः । जी॒वाः । जीव॑न्तीः । उप॑ । व॒ः । स॒दे॒म ॥ ६ ॥

५—शिवः । सुख करः । वः । युष्माकम् । गोष्ठः । गोशालाः । शारिशाका । जनिघसिभ्यामिण् । उ० ४ । १३० । इति शल गतौ—इञ् । लस्य रत्वम् । शल्यते प्राप्यतेऽसौ शालिः । षष्टिकादिधान्यम् । शक सामर्थ्ये घञ्, टाप् । शक्नोति कर्षको यया सा शाका, साखा, इति भाषा । अन्नोत्पत्तिः । पुष्यत । पोषयत । मया । एकवचनं बहुवचने । अस्माभिः । अन्यद् व्याख्यातं म० ४, ३॥

भाषार्थ—(गावः) हे गौओ ! (मया गोपतिना) मुझ गोपति से (सचध्वम्) मिली रहो । (इह) यहां (अयम्) यह (पोषयिष्णुः) पोषण करने वाली (वः) तुम्हारी (गोष्ठः) गोशाला है । (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि से (बहुलाः) बहुत पदार्थ देनेवाली अथवा वृद्धि करनेवाली (भवन्तीः) होती हुई और (जीवन्तीः) जीती हुई (वः) तुमको (जीवाः) जीते हुये हम लोग (उप) आदर से (सदेम) प्राप्त करते रहें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य गौओं की सेवा से दुग्ध, घृत, कृषि आदि की उन्नति करके बहुत काल तक जीते और सुख भोगते रहें ॥ ६ ॥

सूक्तम् १५ ॥

१—८ ॥ इन्द्रोदेवता । १-६, त्रिष्टुप्, ७ अनुष्टुप्, ८पूर्वार्धोऽनुष्टुप्, द्वितीयार्धस्त्रिष्टुप् ॥

व्यापारलाभोपदेशः—व्यापार के लाभ का उपदेश ॥

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु । नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम् ॥ १ ॥

इन्द्रम् । अहम् । वणिजम् । चोदयामि । सः । नः । आ ।

६—गावः । हे धेनवः । गोपतिना । गोरक्षकेण । सचध्वम् । षच समवाये । समवेता भवत । संगच्छध्वम् । पोषयिष्णुः । णेश्छन्दसि । पा० ३ । २ । १३७ । इति पोषयतेः-इष्णुच् । पोषकः। बहुलाः । बहु+ला दाने क, टाप् । यद्वा । इषेरुलुच् । उ० १ । ६६ । इति बहि वृद्धौ-उलच् । न लोपः । यद्वा, बह प्रापणे-उलच् । टाप् । बहुपदार्थदात्रीः । वृद्धिशीलाः । भवन्तीः । भू सत्तायाम्-शतृ,ङीप् । वर्त्तमानाः। जीवाः। चिरजीविनो वयम् । जीवन्तीः। बहुकालजीवनोपेताः । उप । आदरेण । वः । युष्मान् । सदेम । सदेर्गतिलिङि । गच्छेम । प्राप्नुयाम । अन्यद् गतम् ॥

ज॒म् । पु॒रः-ए॒ता । नः॒ । अ॒स्तु ॥ नु॒दन् । अरा॑तिम् । प॒रि॒-
प॒न्थिन॑म् । मृ॒गम् । सः । ईशा॑नः । ध॒न॒-दाः । अ॒स्तु॒ । मह्य॑म् ॥१॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्य वाले (वणिजम्) वणिक् को (चोदयामि) आगे बढ़ाता हूं, (सः) वह (नः) हम में (एतु) आवे, और (नः) हमारा (पुरएता) अगुआ (अस्तु) होवे। (अरातिम्) वैरी, (परिपन्थिनम्) डाकू और (मृगम्) बनैले पशु को (नुदन्) हटाता हुआ (सः) वह (ईशानः) समर्थ पुरुष (मह्यम्) मुझे (धनदाः) धन देने वाला (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य व्यापारकुशल पुरुष को अपना मुखिया बनाकर वाणिज्य और मार्ग की ऊंच नीच समझकर वाणिज्यमें धन लगानेसे लाभ उठाते हैं ॥१॥

ये पन्था॑नो ब॒हवो॑ देव॒याना॑ अ॒न्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वी सं॒चर॑न्ति । ते मा॑ जुषन्तां॒ पय॑सा घृ॒तेन॒ यथा॑ क्री॒त्वा धन॑मा॒हरा॑णि ॥ २ ॥

१—इन्द्रम् । ऐश्वर्यवन्तं पुरुषम् । वणिजम् । पणेरिज्यादेश्च वः । उ० २ । ७० । इति पण व्यवहारे—इजि, पस्य वः । व्यापारिणम् । चोदयामि । प्रेरयामि । प्रवर्तयामि । नः । अस्मान् । ऐतु । आगच्छतु । पुरएता । पुरस्+इण् गतौ—तृच् । पुरोगन्ता । अग्रगामी । नः । अस्माकम् । नुदन् । णुद प्रेरणे-शतृ । प्रेरयन् । अपगमयन् । अरातिम् । अ० १ । १८ । १ । शत्रुम् । परिपन्थिनम् । अ० १ । २७ । १ । पर्यवस्थातारं मार्गनिरोधक चोरम् । मृगम् । मृग अन्वेषणे—क । मृगयते अन्वेषयति तृणादिकम् पशुम् । वन्यपशुम् । ईशानः । ईश ऐश्वर्ये-शानच् । ईश्वरः । नियन्ता । धनदाः । आतो मनिन्क्वनि० । पा० ३ । २ । ७४ । इति धन+ददातेः—विच् वाणिज्यलाभरूपधनप्रदाता । मह्यम् । वणिजे ॥

ये । पन्थानः । बहवः । देव-यानाः । अन्तरा । द्यावापृथिवी इति । सम्-चरन्ति ॥ ते । मा । जुषन्ताम् । पयसा । घृतेन । यथा । क्रीत्वा । धनम् । आहराणि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (देवयानाः) विद्वान् व्यापारियों के यानों रथादिकों के योग्य (बहुवः) बहुत से (पन्थानः) मार्ग (द्यावापृथिवी = ०—द्यौ) सूर्य और पृथिवी के (अन्तरा) बीच (संचरन्ति) चलते रहते हैं, (ते) वे [मार्ग] (पयसा) दूध से और (घृतेन) घी से (मा) मुझको (जुषन्ताम्) तृप्त करें, (यथा) जिससे (क्रीत्वा) मोल लेकर [व्यापार करके] (धनम्) धन (आहराणि) मैं लाऊं ॥ २ ॥

भावार्थ—व्यापारी लोग विमान, रथ, नौकादि द्वारा आकाश भूमि समुद्र, पर्वत, आदि से देश देशान्तरों में जाकर अनेक प्रकार व्यापार करके मूलधन बढ़ावें और धनाढ्य होकर घर आवें ॥ २ ॥

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय । यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥

२—**पन्थानः** । मार्गाः । **बहवः** । बहुदेशसंबन्धिनः । **देवयानाः** । दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारादिषु—अच् । या गतौ—ल्युट् । देवानां विदुषां व्यवहारिणां यानानि गमनसाधनानि विमानरथादीनि चरन्ति येषु ते तथाभूताः । **अन्तरा** । अन्तरान्तरेण युक्ते । पा० २ । ३ । ४ । इति द्वितीया । मध्ये । **द्यावापृथिवी** । अ० २ । १ । ४ । सूर्यभूमी । तयोर्मध्य इत्यर्थः । **संचरन्ति** । वर्त्तन्ते । **ते** । पन्थानः । **मा** । मां वणिजम् । **जुषन्ताम्** । जुषी प्रीतिसेवनयोः । प्रीणन्तु । तर्पयन्तु । **पयसा** । दुग्धेन । **घृतेन** । आज्येन । **यथा** । येन प्रकारेण । **क्रीत्वा** । डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये । विनिमयेन गृहीत्वा । **धनम्** । लाभसहितं मूलधनम् । **आहराणि** । स्वगृहं प्रापयाणि ॥

इ॒ध्मेन॑ । अ॒ग्ने॒ । इ॒च्छमा॑नः । घृ॒तेन॑ । जु॒हो॒मि॒ । ह॒व्यम् । तर॑से । बला॑य ॥ याव॑त् । ईशे॑ । ब्रह्म॑णा । वन्द॑मानः । इ॒माम् । धिय॑म् । श॒त॒-सेया॑य । दे॒वीम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि सदृश तेजस्वी विद्वान् ! (इच्छमानः) [लाभ की] इच्छा करता हुआ मैं (इध्मेन) इन्धन और (घृतेन) घृत से (तरसे) तराने वाले वा जिताने वाले (बलाय) बल के लिये (हव्यम्) हवन सामग्री का (जुहोमि) होम करता हूं, (यावत्) जहां तक (ब्रह्मणा) ब्रह्म द्वारा [दी हुई] (इमाम्) इस (देवीम्) व्यवहार कुशल (धियम) निश्चल बुद्धि की (वन्दमानः) वन्दना करता हुआ मैं (शतसेयाय) सैकड़ों उद्यम के लिये (ईशे) समर्थ हूं ॥

भावार्थ—जैसे समिधा और घृतादि से अग्नि का तेज बढ़ कर अन्धकार हटाता है, वैसे ही मनुष्य सर्वोत्तम वेदविद्या को प्रीति पूर्वक ग्रहण करके

३—**इध्मेन** । इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । इति इन्धी दीप्तौ-मक् । इन्धनेन । **अग्ने** । हे अग्निवत् तेजस्विन् । विद्वन् । **इच्छमानः** । इषु इच्छायाम्-शानच् । वाणिज्यलाभं कामयमानः । **जुहोमि** । हु दानादनयोः—लट् । ददामि । **हव्यम्** । हु दानादनयोः-यत् । देवयोग्यान्नम् । हवनीयद्रव्यम् । **तरसे** । तॄ तरणे, प्लवने, अभिभवे च-असुन् । तारकाय । जयसाधनाय । वेगाय । **बलाय** । पराक्रमाय । **यावत्** । यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् । पा० ५ । २ । ३९ । इति यत्-वतुप् । आ सर्वनाम्नः । पा० ६ । ३ । ९१ । इति आत्वम् । यत्परिमाणम् । **ईशे** । ईश्वरः शक्तो भवामि । **ब्रह्मणा** । वेदद्वारा दत्ताम् । **वन्दमानः** । स्तुवन् । **इमाम्** । उपस्थिताम् । **धियम्** । अ० २ । ५ । ४ । धृञ्, यद्वा, डुधाञ् धारणे—क्विप् । घुमास्थागापाजहातिसां हलि । पा० ६ । ४ । ६६ । इति ईत्विम्, ईत्वं च क्विब्लोपेऽपि । यद्वा । ध्यै चिन्तने-क्विप् संप्रसारणं च । वेदोक्तं कर्म । धारणावतीं बुद्धिम् । **शतसेयाय** । अचो यत् । पा० ३ । १ । ९७ । इति षो अन्तकर्मणि-यत् । आदेच उपदेशेऽशिति । पा० ६ । १ । ४५ । इति आत्वम् ।

सामर्थ्य भर वाणिज्य में उद्योग करके प्रभूत धन पावें और दरिद्रतादि को मिटावें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है, म० ३ सू० १८ म०३ ॥

इमाम॑ग्ने श॒रणिं॑ मीमृषो नो॒ यमध्वा॑नमगा॑म दू॒रम् । शु॒नं नो॑ अस्तु प्रप॒णो वि॒क्रय॑श्च॑ प्रतिप॒णः फ॒लिनं॑ मा कृणोतु । इ॒दं ह॒व्यं संवि॑दा॒नौ जु॑षेथां शु॒नं नो॑ अस्तु चरि॒तमु॒त्थितं॑ च ॥ ४ ॥

इ॒माम् । अ॒ग्ने॒ । श॒रणि॑म् । मी॒मृ॒षः॒ । नः॒ । यम् । अध्वा॑नम् । अगा॑म । दू॒रम् ॥ शु॒नम् । नः॒ । अ॒स्तु॒ । प्र॒-प॒णः । वि॒-क्र॒यः । च॒ । प्र॒ति॒-प॒णः । फ॒लिन॑म् । मा॒ । कृ॒णो॒तु॒ ॥ इ॒दम् । ह॒व्यम् । स॒म्-वि॒दा॒नौ । जु॒षे॒था॒म् । शु॒नम् । नः॒ । अ॒स्तु॒ । च॒रि॒तम् । उ॒त्थि॑तम् । च॒ ॥ ४ ॥

भावार्थ—(अग्ने) हे अग्नि सदृश तेजस्वी विद्वान् ! (नः) हमारी (इमाम्) इस (शरणिम्) पीड़ा को [उस मार्ग में] (मीमृषः) तूने सहा है (यम् दूरम् अध्वानम्) जिस दूर मार्ग को (अगाम) हम चले गये हैं ।

ईयति । पा० ६ । ४ । ६५ । इति ईत्वम् आर्धधातुकत्वे गुणः । शतादिसंख्यापरिमितव्यवसायाय बहूद्यमाय । देवीम् । व्यवहारकुशलाम् ॥

४—अग्ने । म० ३ । शरणिम् । अर्त्तिसृधृ० । उ० २ । १०२ । इति शॄ हिंसायाम्–अनि । हिंसाम् । प्रमादरूपां पीड़ाम् । मीमृषः । मृष तितिक्षायाम् लुङ्, अडभावः । स्वार्थिको णिच् । त्वं क्षमितवानसि । नः । अस्माकम् । अध्वानम् । अदेर्ध च । उ० ४ । ११६ । इति अद भक्षणे । यद्वा, अदि बन्धने क्वनिप्, दस्य धः । मार्गम् । अगाम । इण् गतौ—लुङ् । वयं गतवन्तः । दूरम् । अ० ३ । ३ । २ । विप्रकृष्टदेशम् । शुनम् । अव्ययम् । गेहे कः ।

(नः) हमारा (प्रपणः) क्रय [मोल लेना] (च) और (विक्रयः) बिकरी (शुनम्) सुखदायक (अस्तु) हो. (प्रतिपणः) वस्तुओं का लौट फेर (मा) मुझ को (फलिनम्) बहुत लाभ वाला (कृणोतु) करे ।

(संविदानौ) एक मत होते हुये तुम दोनों [हम और तुम] (इदम् हव्यम्) इस भेट को (जुषेथाम्) सेवें । (नः) हमारा (चरितम्) व्यापार (च) और (उत्थितम्) उठान [लाभ] (शुनम्) सुखदायक (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विनय पूर्वक अपनी चूक मानकर विद्वानों की सम्मति से अपना सुधार करते हैं, वे व्यापार में अधिक लाभ उठाकर आनन्द पाते हैं ॥

इस मन्त्र की प्रथम पंक्ति कुछ भेद से ऋ० म० १ सू० ३१ म० १६ में है ॥

येन॒ धने॑न प्रप॒णं चरा॑मि॒ धने॑न देवा॒ धन॑मि॒च्छमा॑नः । तन्मे॒ भूयो॑ भवतु॒ मा कनी॒योऽग्ने॑ सात॒घ्नो दे॒वान् ह॒विषा॒ नि षे॑ध ॥ ५ ॥

येन॑ । धने॑न । प्र॒-प॒णम् । चरा॑मि । धने॑न । दे॒वाः । धन॑म् । इ॒च्छमा॑नः ॥ तत् । मे॒ । भूयः॑ । भ॒व॒तु॒ । मा । कनी॑यः । अग्ने॑ । सा॒त॒-घ्नः । दे॒वान् । ह॒विषा॑ । नि । से॒ध॒ ॥ ५ ॥

पा० ३ । १ । १४४ । इति शुन गतौ-क । सुखनाम-निघ० ३ । ६ । सुखप्रदः । **प्रपणः** । पण व्यवहारे-अच् । क्रयः । व्यापारः । **विक्रयः** । एरच् । पा० ३ । ३ । ५६ । इति वि+क्रीञ् द्रव्यविनिमये-अच् । विक्रयणम् । विपणनम् । **प्रतिपणः** । पण-अच् । सलाभमूल्यस्वीकारेण परेभ्यः प्रदानम् । **फलिनम्** । बहुलाभयुक्तम् । **मा** । माम् । **कृणोतु** । करोतु । **हव्यम्** । हविः । **संविदानौ** । अ० २ । २८ । २ । संगच्छमानौ । ऐकमत्यं प्राप्तौ । अहं च त्वं च । **जुषेथाम्** । युवां सेवेथाम् । **चरितम्** । चर-क्त । अनुष्ठानम् । विक्रयादिकर्म । **उत्थितम्** । उद्+ष्ठा-क्त । सलाभं धनम् ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे व्यवहार कुशल व्यापारियो ! (धनेन) मूल धन से (धनम्) धन (इच्छमानः) चाहनेवाला मैं (येन धनेन) जिस धन से (प्रपणम्) व्यापार (चरामि) चलाता हूं, (तत्) वह धन (मे) मेरे लिये (भूयः) अधिक २ (भवतु) होवे, (कनीयः) थोड़ा (मा) न [होवे]। (अग्ने) हे अग्नि सदृश तेजस्वी विद्वान् ! (सातघ्नः) लाभ नाश करनेवाले (देवान्) मूर्खों को (हविषा) हमारी भक्ति द्वारा (निषेध) रोक दे ॥ ५ ॥

भावार्थ—नवशिक्षित व्यापारी बड़े बड़े व्यापारियों से लाभ हानि की रीति समझकर अपने मूल धन को बढ़ाते रहें और कुव्यवहारियों के फंदे में न पड़ें ॥ ५ ॥

येन॒ धने॑न प्रप॒णं चरा॑मि॒ धने॑न देवा॒ धन॑मि॒च्छमा॑नः।
तस्मि॑न् म॒ इन्द्रो॒ रुचि॒मा द॑धातु प्र॒जाप॑तिः सवि॒ता सोमो॑ अ॒ग्निः ॥ ६ ॥

येन॑ । धने॑न । प्र॒-प॒णम् । चरा॑मि॒ । धने॑न । दे॒वाः । धन॑म् । इ॒च्छमा॑नः ॥ तस्मि॑न् । मे॒ । इन्द्रः॑ । रुचि॑म् । आ ।

५—प्रपणम् । म० ४ । व्यापारम् । चरामि । करोमि । धनेन । मूलधनेन । धनम् । सलाभं धनम् । इच्छमानः । कामयमानः । तत् । धनम् । मे । मह्यम् । भूयः । द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ । पा० ५ । ३ । ५७ । इति बहु—ईयसुन् बहोर्लोपो भू च बहोः पा० ६ । ४ । १५८ । इति ईलोपो भू च बहोः । बहुतरम् । मा । न । कनीयः । युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् । पा० ६ । ४ । ६४ । इति अल्प-ईयसुन्, कनादेशः । अल्पतरम् । अग्ने । म० ३ । सातघ्नः । षणु दाने-क्त भावे । सातं लाभः । हन वधे गतौ च-क्विप् । शसि रूपम् । लाभहन्तॄन् । लाभनाशकान् । देवान् । दिवु क्रीडास्तुतिमोदमदादिषु, अत्र मदे-अच् । मत्तान् मूर्खान् । हविषा । भक्त्या । नि षेध । षिधु गत्याम् । उपसर्गात् सुनोति पा० ८ । ३ । ६५ । इति षत्वम् निवारय ॥

दुधातु । प्रजा-पतिः । सविता । सोमः । अग्निः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे व्यवहारकुशल व्यापारियो ! (धनेन) मूल धन से (धनम्) धन (इच्छमानः) चाहता हुआ मैं (येन धनेन) जिस धन से (प्रपणम्) व्यापार (चरामि) चलाता हूं, (तस्मिन्) उस [धन] में (मे) मुझे (प्रजापतिः) प्रजापालक, (सविता) ऐश्वर्यवान् (सोमः) चन्द्र [समान शान्त स्वभाव], (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी], (इन्द्रः)बड़ा समर्थ प्रधान पुरुष (रुचिम्) रुचि (आदधातु) देवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम स्वभाव वाले अनुभवी पुरुषों की सम्मति से व्यापार में मन लगाकर लाभ के साथ मूलधन को बढ़ावें ॥ ६ ॥

उप त्वा नमसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः ।
स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि ॥ ७ ॥

उप । त्वा । नमसा । वयम् । होतः । वैश्वानर । स्तुमः ।
सः । नः । प्र-जासु । आत्म-सु । गोषु । प्राणेषु । जागृहि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(होतः) हे दानशील ! (वैश्वानर) हे सब नरों के हितकारक,

६—तस्मिन् । पूर्वोक्ते धने । मे । मह्यम् । इन्द्रः । प्रधानपुरुषः । रुचिम् । रुच दीप्तावभिप्रीतौ च—कि । अभिप्रीतिम् । आ । दधातु । स्थापयतु । ददातु । प्रजापतिः । पुत्रभृत्यादीनां पालकः । सविता । परमैश्वर्यवान् । सोमः । चन्द्रसमानशान्तस्वभावः । अग्निः । म० ३ । अन्यद् यथा म० ५ ॥

७—उप । पूजायाम् । त्वा । त्वाम् । इन्द्रम् । नमसा । नमस्कारेण । वयम् । व्यापारिणः । होतः । हु दाने—तृच् । हे दातः । वैश्वानर । अ० १ । १० । ४ । हे सर्वनरहित ! हे सर्वनायक । स्तुमः । प्रशंसामः । सः ।

वा सब के नायक पुरुष ! (वयम्) हम लोग (नमसा) नमस्कार के साथ (त्वा) तुझको (उप) आदर से (स्तुमः) सराहते हैं। (सः=सः त्वम्) सो तू (नः) हमारी (प्रजासु) प्रजाओं पर, (आत्मसु) आत्माओं वा शरीरों पर (गोषु) गौओं पर और (प्राणेषु) प्राणों वा जीवनों पर (जागृहि) जागता रह ॥ ७ ॥

भावार्थ—व्यापारी लोग सर्वहितकारी, कर्मकुशल पुरुष को प्रधान बना कर अपने धनादि की रक्षा करें ॥ ७ ॥

विश्वाहा ते सदमिद् भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः। रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ ८ ॥

विश्वाहा । ते । सदम् । इत् । भरेम । अश्वाय-इव । तिष्ठते । जात-वेदः ॥ रायः । पोषेण । सम् । इषा । मदन्तः । मा । ते । अग्ने । प्रति-वेशाः । रिषाम ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे उत्तम धन वाले पुरुष ! (विश्वाहा=०—हानि) सब दिनों (ते) तेरे [उद्देश्य के] लिये (इत्) ही (सदम्) समाज को (भरेम) भरते रहें, (इव) जैसे (तिष्ठते) थान पर ठहरे हुए (अश्वाय) घोड़े को [घास अन्नादि भरते हैं]। (अग्ने) हे अग्नि समान तेजस्वी विद्वान् ! (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि से और (इषा) अन्न से (सम्) अच्छे

सत्वम्। (नः) अस्माकम्। (प्रजासु) पुत्रपौत्रभृत्यादिषु। (आत्मसु) अ० १।१८।३। जीवेषु। शरीरेषु। (गोषु) धेनुषु। (प्राणेषु) जीवनेषु। (जागृहि) बुध्यस्व। सावधानो वर्तस्व।

८—(विश्वाहा) सर्वाण्यहानि। (ते) तुभ्यम्। (सदम्) षद्लृ गतौ—अच्। समाजम्। वणिक्मण्डलीम्। (इत्) एव। (भरेम) भृञ्-विधिलिङ्। पोषयेम। (अश्वाय-इव) घोटकाय यथा। (तिष्ठते) ष्ठा-शतृ। स्वस्थाने

प्रकार (मदन्तः) आनन्द करते हुये (ते) तेरे (प्रतिवेशाः) सन्मुख रहने वाले हम लोग (मा रिषाम) न दुःखी होवें ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे मार्ग से आये घोड़े को अन्न घासादि से पुष्ट करते हैं, इसी प्रकार सब व्यापारी बड़ी बड़ी वणिक् मंडली बना कर प्रधान पुरुष की शक्ति बढ़ावें, जिससे सब लोग बहुतसा धन और अन्नादि पाकर आनन्द भोगें ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १६ ॥

१-७ । वसिष्ठर्षिः । १ लिङ्गोक्तदेवताः, २-६ भगः, ७ उषाः । १ जगतीछन्दः । २, ३, ५—७ त्रिष्टुप्, ४ पङ्क्तिः ॥

बुद्धिवर्धनाय प्रभातगीतिः—बुद्धि बढ़ाने के लिये प्रभाती गीत ॥

प्रातर॒ग्निं प्रा॒तरिन्द्रं॑ हवामहे प्रा॒तर्मि॒त्रावरु॑णा प्रा॒तर॒श्विना॑ । प्रा॒तर्भगं॑ पू॒षणं॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिं॑ प्रा॒तः सोम॑मु॒त रु॒द्रं ह॑वामहे ॥ १ ॥

प्रा॒तः । अ॒ग्निम् । प्रा॒तः । इन्द्र॑म् । ह॒वा॒म॒हे॒ । प्रा॒तः । मि॒त्रा॒वरु॑णा । प्रा॒तः । अ॒श्विना॑ ॥ प्रा॒तः । भग॑म् । पू॒षण॑म् । ब्रह्म॑णः ।

वर्त्तमानाय । (जातवेदः) अ० १ । ७ । २ । जातानि प्रशस्तानि वेदांसि धनानि यस्य स जातवेदाः । तत्संबुद्धौ । (रायः) धनस्य । (पोषेण) वर्धनेन (सम्) सम्यक् । (मदन्तः) मदी हर्षग्लेपनयोः-शतृ हृष्टा भवन्तः । (अग्ने) म० ३ । (प्रतिवेशाः) प्रति+विश-घञ् । आसन्नवर्त्तिनः । (मा रिषाम) रिष हिंसायाम्-कर्मणि कर्तृप्रयोगः । हिंसिता विनष्टा मा भूम ॥

पतिम् । प्रातः । सोमम् । उत । रुद्रम् । हुवामहे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रातः) प्रातःकाल (अग्निम्) [पार्थिव] अग्नि को, (प्रातः) प्रातःकाल (इन्द्रम्) बिजुली वा सूर्य को, (प्रातः) प्रातःकाल (मित्रावरुणा =०-णौ) प्राण और अपान को, (प्रातः) प्रातःकाल (अश्विना) कामों में व्याप्ति रखने वाले माता पिता को (हवामहे) हम बुलाते हैं। (प्रातः) प्रातः काल (भगम्) ऐश्वर्यवान्, (पूषणम्) पोषण करने वाले (ब्रह्मणः) वेद, ब्रह्माण्ड, अन्न वा धन के (पतिम्) पति, परमेश्वर को, (प्रातः) प्रातःकाल (सोमम्) ऐश्वर्य कराने वाले वा मथन किये हुये पदार्थ वा आत्मा [अपने बल] वा अमृत [मोक्ष, वा अन्न, दुग्ध, घृतादि] को (उत) और (रुद्रम्) दुःखनाशक वा ज्ञान दाता आचार्य को (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रातःकाल [सूर्य निकलने से छः घड़ी पहिले] परमेश्वर का ध्यान करता हुआ, मन्त्र में वर्णित पार्थिव और सौर अग्नि के प्रयोग आदि अन्य आवश्यक कर्मों का विचार करके आत्मा को बढ़ाता हुआ अपने कर्तव्य में लगे ॥ १ ॥

यह पूरा सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद मण्ड ७ सूक्त ४१ म० १-७ और यजुर्वेद अध्याय ३४ मन्त्र ३४-४० में है।

१—(प्रातः) प्राततेररन्। उ० ५। ५६। इति प्र + अत सातत्यगमने-अरन्। सूर्योदयात्पूर्वत्रिमुहूर्त्तकाले। प्रभातकाले। (अग्निम्) पार्थिवाग्निम्। (इन्द्रम्) विद्युतं सूर्यं वा। (हवामहे) आह्वयामः। (मित्रावरुणा) अ० १। २०। ३। प्राणापानौ। (अश्विना अ०२। २६। ६। अश्वो व्याप्तिः-इनि। कार्येषु व्याप्तिमन्तौ मातापितरौ। (भगम्) अ० १। १४। १। भगो धनम्, ततो अर्श-आद्यच्। ऐश्वर्यवन्तम्। (पूषणम्) अ० १। ६। १। सर्वपोषकम्। (ब्रह्मणः) अ० १। ८। ४। वेदस्य। ब्रह्माण्डस्य। अन्नस्य-निघ० २। ७। धनस्य-निघ० २। १०। (पतिम्) रक्षकम्। स्वामिनम्। (सोमम्) अ० १। ६। २। षु प्रसवैश्वर्ययोः, यद्वा, षुञ् अभिषवे-मन्। सोमः सूर्यः प्रसवनात्......सोम आत्माप्येतस्मादेवेन्द्रियाणां जनितेत्यर्थः—निरु० १४। १५। ऐश्वर्यवन्तम्। अभिषुतं मथितम्। आत्मानम्। अमृतम्। (उत) अपि च। (रुद्रम्) अ० २। २७। ६। रुत्+र। दुःखनाशकं ज्ञानदातारं वाचार्यम्॥

प्रा॒त॒र्जितं॒ भग॑मु॒ग्रं ह॑वामहे व॒यं पु॒त्रमदि॑ते॒र्यो वि॑ध॒र्ता। आ॒ध्रश्चि॒द् यं मन्य॑मानस्तु॒रश्चि॒द् राजा॑ चि॒द् यं भगं॑ भ॒क्षीत्याह॑ ॥ २ ॥

प्रा॒तः-जि॒त॑म्। भग॑म्। उ॒ग्रम्। ह॒वा॒म॒हे॒। व॒यम्। पु॒त्रम्। अदि॑तेः। यः। वि॒-ध॒र्ता ॥ आ॒ध्रः। चि॒त्। यम्। मन्य॑मानः। तु॒रः। चि॒त्। राजा॑। चि॒त्। यम्। भग॑म्। भ॒क्षि॒। इति॑। आह॑ ॥२॥

भाषार्थ—(वयम्) हम (प्रातर्जितम्) प्रातः काल में [अन्धकारादि को] जीतनेवाले (भगम्) सूर्य [समान] (उग्रम्) तेजस्वी (पुत्रम्) पवित्र, अथवा बहुविधिसे रक्षा करनेवाले, अथवा नरक से बचानेवाले [परमेश्वर] को (हवामहे) बुलाते हैं, (यः) जो [परमेश्वर] (अदितेः) प्रकृति वा भूमि का (विधर्ता) धारण करनेवाला और (यम्) जिस [परमेश्वर] को (मन्यमानः) पूजता हुआ (आध्रः) सब प्रकार धारण योग्य कंगाल, (चित्) भी, और (तुरः) शीघ्रकारी बलवान् (चित्) भी, और (राजा) ऐश्वर्यवान् राजा

२—(प्रातर्जितम्) सत्सूद्विष०। पा० ३।२।६१। इति प्रातर्+जि जये-क्विप्, तुक्। प्रातःकाले जयशीलम् अन्धकारादिकस्य। (भगम्) सूर्यं यथा। (उग्रम्) तेजस्विनम् (हवामहे) म० १। (पुत्रम्) अ०१।११।५। पूङ् शोधे क्त। यद्वा। पुरु यद्वा, पुत्+त्रैङ रक्षणे-ड। पवित्रं बहुत्रातारं पुतो नरकात् त्रातारं वा परमेश्वरम्। (अदितेः) अ०२।२८।४। प्रकृतेः पृथिव्या वा। (विधर्ता) विविधं धारकः पोषकः। (आध्रः) आङ्+धृङ्—क। आधारयितव्यो दरिद्रः। (चित्) अपि च। (यम्) परमेश्वरम्। (मन्यमानः) मन्यते, अर्चतिकर्मा-निघ० ३। १४। अर्चन्। पूजयन्। स्तुवन्। (तुरः) तुर वेगे, इगुपधलक्षणः कः। त्वरमाणः बलवान्। (राजा) अ०१।१०।२। ऐश्वर्यवान् पुरुषः। (यम्) या गतौ, यज देवपूजने, वा, यम परिवेषणे-ड। यशः। कीर्तिम्। (भगम्) धनम्, निघ० २। १०। (भक्षि) भज सेवायाम्, आत्मनेपदस्य आशीर्लिङि उत्तमैकवचने छान्दसं रूपम्। अहं भक्षीय।

(चित्) भी (इति) इस प्रकार (आह) कहता है, "(यम्) यश और (भगम्) धन को (भक्षि=अहं भक्षीय) मैं सेवूं" ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य प्रातः काल अन्धकार, आलस्यादि मिटाकर जीवों में नयी शक्ति देता है, ऐसेही सब छोटे बड़े जीव और पृथिवी आदि लोक भी परमात्मा की शक्ति से अपनी २ शक्ति बढ़ाते हैं, उसी का धन्यवाद हम सब पिता पुत्रादि मिलकर गावें ॥ २ ॥

(हवामहे) के स्थान पर ऋग्वेद और यजुर्वेद में [हुवेम] पद है ॥

भग॒ प्रणे॑त॒र्भग॒ सत्य॑राधो॒ भगे॒मां धिय॒मुद॑वा॒ दद॑न्नः ।
भग॒ प्र णो॑ जनय॒ गोभि॒रश्वै॒र्भग॒ प्र नृभि॑र्नृ॒वन्तः॑ स्याम ॥३॥

भग॑ । प्र-ने॒तः॒ । भग॑ । सत्य॑-राधः । भग॑ । इ॒माम् । धिय॑म् । उत् । अ॒व । दद॑त् । नः॒ ॥ भग॑ । प्र॒ । नः॒ । ज॒न॒य॒ । गोभिः॑ । अश्वैः॑ । भग॑ । प्र । नृ-भिः॑ । नृ॒-वन्तः॑ । स्या॒म॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(भग) हे भगवान् ! (प्रणेतः) हे बड़े नेता ! (भग) हे सेवनीय ! (सत्यराधः) हे सत्य धनी ! (भग) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (इमाम्) इस [वेदोक्त] (धियम्) बुद्धि को (ददत्) देता हुआ तू (नः) हमारी (उत्) उत्तमता से (अव) रक्षा कर । (भग) हे ज्योतिःस्वरूप ! (नः) हम को (गोभिः) गौओं से और (अश्वैः) घोड़ों से (प्र जनय) अच्छे प्रकार

सेवेय । (इति) अनेन प्रकारेण । (आह) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लट् । ब्रवीति । प्रार्थयते, आध्रादीनां प्रत्येकम् ॥

३—(भग) भज भागे सेवायां च—घञ् । हे विभाजक । सेवनीय । ऐश्वर्यवन् । ज्ञानस्वरूप । प्रकाशस्वरूप । शिव । आदिकारण । (प्रणेतः) णीञ् प्रापणे तृच् । हे प्रकृष्टनायक । (सत्यराधः) राध संसिद्धौ—असुन् । राध इति धननाम राध्नुवन्त्येनेन—निरु० ४ । ४ । सत्यानि अनश्वराणि राधांसि धनानि यस्य स सत्यराधाः । तत्सम्बुद्धौ । (इमाम् । धियम्) प्रज्ञाम् । (उत् अव) उत्तमतया रक्ष, सफलां कुरु । (ददत्) डुदाञ्—शतृ । प्रयच्छन् । (नः)

बढ़ा । (भग) हे शिव (नृभिः) नेता पुरुषों के साथ हम (नृवन्तः) नेता पुरुषों वाले होकर (प्र स्याम) समर्थ होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ईश्वर की प्रार्थना और आज्ञा पालन करते और नेता वा वीर पुरुषों को अपनाते हैं, वे संसार में उन्नति करके यशस्वी और ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥ ३ ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् । उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥

उत । इदानीम् । भग-वन्तः । स्याम । उत । प्र-पित्वे । उत । मध्ये । अह्नाम् ॥ उत । उत्-इतौ । मघ-वन् । सूर्यस्य । वयम् । देवानाम् । सु-मतौ । स्याम ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(उत) और (इदानीम्) इस समय (उत उत) और भी (अह्नाम्) दिनों के (मध्ये) मध्य (प्रपित्वे) पाये हुये [ऐश्वर्य] में हम (भगवन्तः) बड़े ऐश्वर्य वाले (स्याम) होवें । (उत) और (मघवन्) हे

अस्मान् । (प्र जनय) प्रादुर्भावय । प्रवर्धय । (गोभिः) धेनुभिः (अश्वैः) अ० १ । १६ । ४ । तुरङ्गैः । (नृभिः) नयतेर्डिच्च । उ० २ । १०० । इति णीञ् प्रापणे—ऋ प्रत्ययः,डित्वात् टिलोपः । नेतृभिः । वीरैः । (नृवन्तः) प्रशस्तशूरोपेताः ।(प्र स्याम) प्रभवेम ॥

४—(उत) समुच्चये । (इदानीम्) इदम्-दानीम् । इदम इश् । पा० ५ । ३ । ३ । दानीं च । पा० ५ । ३ । १८ । इति वर्तमाने दानीम् । अस्मिन् काले । (भगवन्तः) सकलैश्वर्ययुक्ताः । (स्याम) भवेम । (उत, उत) नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्वचनम् । अपि च । (प्रपित्वे) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । उ० ४ । १०५ । प्र+आप्लृ व्याप्तौ-इत्वन्, आकार लोपः । प्रपित्वेऽभीक इत्यासन्नस्य

महाधनी ईश्वर ! (सूर्यस्य) सूर्य के (उदितौ) उदय में (देवानाम्) विद्वानों की (सुमतौ) सुमति में (वयम्) हम (स्याम) रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३ के अनुसार पाये हुये ऐश्वर्य को हम अब और आगे भी बढ़ावें, और जैसे सूर्य के उदय में प्रकाश बढ़ता जाता है वैसे ही देवताओं के अनुकरण से हम अपनी धार्मिक बुद्धि का अभ्युदय करें ॥ ४ ॥

(उदितौ) के स्थान पर ऋग् और यजुर्वेद में [उदिता] है ।

भग॑ ए॒व भग॑वाँ अस्तु दे॒वस्तेना॑ व॒यं भग॑वन्तः स्याम ।
तं त्वा॑ भग॒ सर्व॒ इज्जोह॑वीमि॒ स नो॑ भग पुरए॒ता भ॑वे॒ह ॥ ५ ॥

भग॑ः । ए॒व । भग॑-वान् । अ॒स्तु॒ । दे॒वः । तेन॑ । व॒यम् । भग॑-वन्तः । स्या॒म॒ ॥ तम् । त्वा॒ । भ॒ग॒ । सर्वः॑ । इत् । जो॒ह॒वी॒मि॒ । सः । नः॒ । भ॒ग॒ । पु॒रः-ए॒ता । भ॒व॒ । इ॒ह ॥ ५ ॥

भावार्थ—"(भगः) सेवनीय (देवः) विद्वान् विजयी पुरुष (एव) ही (भगवान्) भगवान् [भाग्यवान्, बड़े ऐश्वर्य वाला] (अस्तु) होवे"–(तेन) इसी [कारण] से (वयम्) हम (भगवन्तः) भाग्यवान् (स्याम) होवें। (तम् त्वा) उस तुझ को, (भग) हे ईश्वर ! (सर्वः=सर्वः अहम्) मैं सब

प्रपित्वे प्राप्ते—निरु० ३ । २० । प्राप्ते सौभाग्ये । (अह्नाम् मध्ये) दिनानां । मध्ये । भविष्यत्काले । (उदितौ) उद्+इण् गतौ—क्तिन् । उदये । उद्गमने । (मघवन्) अ०२ । ५ । ७ । महि वृद्धौ, दाने च-घञर्थे क,मतुप् । मघमिति धन नामधेयं मंहतेर्दानकर्मणः—निरु० १ । ७ । हे प्रशस्तधनवन् । (सूर्यस्य) आदित्यस्य। (देवानाम्) आप्तविदुषाम् । (सुमतौ) कल्याण्यां बुद्धौ ॥

५—(भगः) सेवनीयः श्रेष्ठः पुरुषः । (भगवान्) ऐश्वर्यवान् । (देवः) विद्वान् । विजयी । (तेन) तेन कारणेन । (तम्) तादृशम् । (सर्वः) सर्वः

(इत्) ही (जोहवीमि) बार बार पुकारता हूं । (सः=सः त्वम्) सो तू, (भग) हे शिव ! (इह) यहां पर (नः) हमारा (पुरएता) अगुआ (भव) हो ॥५॥

भावार्थ—"सुकर्मी पुरुषार्थी पुरुषही भाग्यवान् होवें," यह ईश्वर आज्ञा है, इस से सब लोग धार्मिक पुरुषार्थी होकर भाग्यवान् बनें । ईश्वर ही अपने ध्यानी आज्ञा पालकों का मार्गदर्शक होता है ॥ ५ ॥

(देवः, जोहवीमि) के स्थान पर ऋग् और यजुर्वेद में [देवा, जोहवीति] पद हैं॥

सम॑ध्वराये॒षसो॑ नमन्त दधि॒क्रावे॑व॒ शुच॑ये प॒दाय॑ । अ॒र्वा॒ची॒नं व॑सु॒विदं॒ भगं॑ मे॒ रथ॑मि॒वाश्वा॑ वा॒जिन॒ आ व॑हन्तु ॥ ६ ॥

सम् । अ॒ध्व॒राय॑ । उ॒षसः॑ । न॒म॒न्त॒ । द॒धि॒क्राव॑-इव । शुच॑ये । प॒दाय॑ ॥ अ॒र्वा॒ची॒नम् । व॒सु॒-विद॑म् । भग॑म् । मे॒ । रथ॑म्-इव । अश्वाः॑ । वा॒जिनः॑ । आ । व॒ह॒न्तु॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(उषसः) उषायें [प्रभात वेलायें] (अध्वराय मार्ग देने के लिये, अथवा हिंसारहित यज्ञ के लिये (सम् नमन्त=०-न्ते) झुकती हैं, (दधिक्रावा इव) जैसे चढ़ाकर चलने वाला, वा हींसने वाला घोड़ा (शुचये)

त्मना सहितोऽहम् । (जोहवीमि) अ० २ । १२ । ३ । पुनः पुनराह्वयामि । (सः) स त्वम् । (पुरएता) अ० ३ । १५ । १ । अग्रगामी । अन्यद् गतं ॥

६—(अध्वराय) अ०१।४।१ । अध्वन्+रा-क । यद्वा, न+ध्वृ हिंसने-अच् । अध्वर इति यज्ञ नाम ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः-निरु०१ । ८ । मार्गदानाय । अहिंसामयाय व्यवहाराय यज्ञाय । (उषसः) प्रभाताः । (समनमन्त) छान्दसो लट् । संनमन्ते । प्रह्वीभवन्ति । (दधिक्रावा) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । इति डुधाञ् धारणपोषणयोः—कि, स च लिड्वत् । इति दधिः । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा०३।२।७५। इति दधि+क्रमु, पादविक्षेपे वा क्रदि आह्वाने, क्रन्द सातत्यशब्दे-वनिप् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा०६।४।४१।

शुद्ध [अच्छूक] (पद्दाय) पद रखने के लिये । (वाजिनः) अन्नवान् वा बलवान वा ज्ञानवान् (अर्वाचीनम्) नवीन २ और (वसुविदम्) धन प्राप्त कराने वाले (भगम्) ऐश्वर्य को (मे) मेरे लिये (आ वहन्तु) लावें (अश्वाः इव) जैसे घोड़े (रथम्) रथ को [लाते हैं] ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे उषा देवी अन्धकार हटाकर मार्ग खोलती चलती है अथवा, जैसे बली और वेगवान् घोड़ा अपने अश्ववार वा रथको मार्ग चलकर ठिकाने पर शीघ्र पहुंचाता है । इसी प्रकार पुरुषार्थी पुरुष बड़े बड़े महात्माओं के सत्सङ्ग और अनुकरण से अपना ऐश्वर्य बढ़ाते रहें ॥ ६ ॥

(मे) के स्थान पर ऋग् और यजुर्वेद में (नः) पद है ॥

अश्वा॑वतीर्गो॒म॑तीर्न उ॒षासो॑ वी॒रव॑तीः सद॑मुच्छन्तु भ॒द्राः । घृ॒तं दुहा॑ना वि॒श्वतः॒ प्रपी॑ता यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥ ७ ॥

अश्व॑-वतीः । गो-मतीः । नः॒ । उ॒षसः॑ । वी॒र-व॑तीः । सद॑म् । उ॒च्छ॒न्तु॒ । भ॒द्राः ॥ घृ॒तम् । दुहा॑नाः । वि॒श्वतः॑ । प्र-पी॑ताः । यू॒यम् । पा॒त॒ । स्व॒स्ति-भिः॑ । सदा॑ । नः॒ ॥७॥

इत्यादिवम् । दधिक्रावा=अश्वः—निघ० १ । १४ । दधत् क्रामतीति वा दधत् क्रन्दतीति वा दधदाकारी भवतीति वा—निरु० २ । २७ । दधिः, धारयिता सन् क्रामतीति वा क्रन्दतीति वा दधिक्रावा । दधिक्राः । अश्वः । (शुचये) शुद्धाय । प्रमादशून्याय । (पद्दाय) गमनाय । (अर्वाचीनम्) अर्वाच्—ख । इदानीन्तनम् । नूतनम् । (वसुविदम्) इगुपध०। पा०३।१।१३५। इति वसु+विद लाभे-क । धनानां लम्भकं प्रापकम् । (भगम्) ऐश्वर्यम् । (मे) मह्यम् । (रथमिव) हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् । उ० २ । २ । इति रमु क्रीडने-क्थन् । यानं यथा । (अश्वाः) घोटाः । (वाजिनः) वज गतौ-घञ् । वाजः=अन्नम्, निघ० २ । ७ । बलम्, निघ०२ । ९ । अत इनिठनौ । पा ०५ । २ । ११५ । इति इनि । अन्नवन्तः । बलवन्तः । ज्ञानवन्तः । (आ वहन्तु) आगमयन्तु ॥

भाषार्थ—(अश्ववतीः=०-त्यः) उत्तम २ घोड़ों वाली, (गोमतीः) उत्तम २ गौओं वाली, (वीरवतीः) बहुत वीर पुरुषों वाली और (भद्राः) मङ्गल करने वाली (उषासः=उषसः) उषायें (नः सदम्) हमारे समाज पर (उच्छन्तु) चमकती रहें। (घृतम्) घृत [सार पदार्थ] को (दुहानाः) दुहते हुए और (विश्वतः) सब प्रकार से (प्रपीताः) भरे हुये (यूयम्) तुम [वीर पुरुषो !] (स्वस्तिभिः) अनेक सुखों से (सदा) सदा (नः) हमारी (पात) रक्षा करो ॥ ७ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष प्रयत्न करके अपने घरों को घोड़ों, गौओं और वीर पुरुषों से भरे रक्खें, और सब मिलकर तत्त्व ग्रहण करके सदा परस्पर रक्षा करें ॥ ७ ॥

(यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः) यह पाद प्रायः ऋग्वेद मण्डल ७ के सब सूक्तों के अन्त में है ॥

सूक्तम् १७ ॥

१—८ ॥ कृषीवला देवताः। १ गायत्री; २, ५, ६ त्रिष्टुप्, ३ पङ्क्तिः, ४, ६, ८ अनुष्टुप्; ७ पुर उष्णिक्छन्दः ॥

कृषि विद्योपदेशः—खेती की विद्या का उपदेश ॥

७—(अश्ववतीः) प्रशस्ताश्ववत्यः। (गोमतीः) प्रशस्तगोमत्यः। (नः) अस्माकम्। (उषासः) उषसः। प्रभाताः। (वीरवतीः) बहुवीरवत्यः। (सदम्) षद्लृ गती-अच्। कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे। पा०२। ३। ५। इति द्वितीया। समाजं प्रति। (उच्छन्तु) उच्छी समाप्तौ, अकर्मकः। अत्र दीप्तौ। समाप्ता व्युष्टाः प्रदीप्ता भवन्तु। (भद्राः) मङ्गलकारिण्यः। (घृतम्) सारपदार्थम्। (दुहानाः। दुह प्रपूरणे-शानच्। प्रपूरयन्तः। (विश्वतः) सर्वतः। (प्रपीताः) प्यायः पी। पा० ६। १। २८। इति ओप्यायी वृद्धौ-क्त, पी आदेशः। प्रवृद्धाः। (यूयम) वीरपुरुषाः। (पात) रक्षत। (स्वस्तिभिः) अनेकसुखैः। (सदा) सर्वस्मिन् काले। (नः) अस्मान् ॥

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वि त॑न्वते॒ पृथ॑क् ।
धीरा॑ दे॒वेषु॑ सु॒म्न॒यौ ॥ १ ॥

सीरा॑ । यु॒ञ्ज॒न्ति॒ । क॒वय॑: । यु॒गा । वि । त॒न्व॒ते॒ । पृथ॑क् ॥
धीरा॑: । दे॒वेषु॑ । सु॒म्न॒ऽयौ ॥

भाषार्थ—(धीराः) धीर (कवयः) बुद्धिमान् [किसान] लोग (देवेषु) व्यवहारी पुरुषों पर (सुम्नयौ) सुख पाने [की आशा] में (सीरा=सीराणि) हलों को (युञ्जन्ति) जोड़ते हैं, और (युगा=युगानि) जुओं को (पृथक्) अलग अलग करके [दोनों ओर] (वि तन्वते) फैलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे किसान लोग खेती करके अन्य पुरुषों को सुख पहुंचाते और आप सुखी रहते हैं, इसी प्रकार सब मनुष्यों को परस्पर उपकारी होकर सुख भोगना चाहिये ॥ १ ॥

यु॒नक्त॒ सीरा॒ वि यु॒गा त॑नोत कृ॒ते योनौ॑ वपते॒ह

१—(सीरा) शुसिचिमीनां दीर्घश्च । उ० २ । २५ । इति षिञ् बन्धने-क्रन् । दीर्घश्च । सीराणि लाङ्गलानि । (युञ्जन्ति) योजयन्ति कर्षणार्थम् । (कवयः) मेधाविनः—निघ० ३ । १५ । कुशलाः कृषीवलाः । (युगा) उञ्छादीनां च । पा० ६ । १ । १६० । इति युज संयमे, युतौ-घञ् । अगुणत्वं निपातनात् । युगानि । रथहलादेरङ्गभेदान् । (वि तन्वते) प्रसारयन्ति । (पृथक्) प्रथेः कित् सम्प्रसारणं च । उ० १ । १३७ । इति प्रथ ख्यातौ-अजि । भिन्नभिन्ने स्कन्धदेशे । (धीराः) अ० २ । ३५ । ३ । ध्यानवन्तः । (देवेषु) विद्वत्सु । व्यवहारिषु पुरुषेषु । (सुम्नयौ) रास्ना सास्ना० । उ० ३ । १५ । इति सु+म्ना अभ्यासे, वा, मा माने-नप्रत्ययः । निपातनात् सिद्धिः । सुम्नं सुखम्-निघ० ३ । ६ । मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । इति सुम्न+या गतौ प्रापणे च भावे कु । सुखस्य गतौ प्राप्तौ प्रापणे वा ॥

योग्य और (प्रफर्व्यम्) शीघ्र गति वाले (रथवाहनम्) रथयान [गाड़ी] को (उत्) उत्तमता से (वपतु) उत्पन्न करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—उत्तम साधनों से खेती में अधिक धान्य उत्पन्न होता है, उस से राज्य की और अश्व, बैल आदि की वृद्धि से राजा और प्रजा सुख भोगते हैं ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ शब्द भेद से यजुर्वेद १२ । ७१ में है ॥

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ४ ॥

इन्द्रः । सीताम् । नि । गृह्णातु । ताम् । पूषा । अभि । रक्षतु ।
सा । नः । पयस्वती । दुहाम् । उत्तराम्-उत्तराम् । समाम् ॥४॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) भूमि जोतने वाला (सीताम्) हल की रेखा [जुती धरती] को (नि) नीचे (गृह्णातु) दबावे, (पूषा) पोषण करनेवाला [किसान] (ताम्) उस [जुती धरती] की (रक्षतु) रखवाली करे । (सा)

रित्सरि० । उ० १ । ७ । इति त्सर छद्मगतौ, कौटिल्ये-उ, त्सरुः, मुष्टिः । तेन सह सत्सरु । सोमं च सत्सरु च सोमत्सरु । रज्ज्वादिकेन मुष्टिना च सहितम् । (उत्) उत्तमतया । (इत) एव । (वपतु) डुवप बीजसन्ताने, उत्पादयतु । (गाम्) भूमिम् । (अविम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति अव रक्षादिषु-इन् । रक्षिकाम् । (प्रस्थावत्) प्रस्थानस्य, विजिगीषोः प्रयाणस्य योग्यम् (रथवाहनम् । वह णिच्-ल्युट् । रथयानम् (पीवरीम्) प्याप्योः सम्प्रसारणं च । उ०४ । ११५ । इति प्यैङ् वृद्धौ—क्वनिप् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । इति ङीब्रेफौ । वृद्धिशीलाम् (प्रफर्व्यम्) फर्व गतौ—अच् । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति यत् । शीघ्रगमनयोग्यम् । फर्वतिर्गतिकर्मा-इति महीधरः, य० १२ । ७१ । प्रफर्व्यम्, प्रफर्वितुं गमयितुं योग्यम् इति—तत्रैव दयानन्दभाष्ये ॥

४—(इन्द्रः) ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति इरा+दृ विदारणे रन् । इन्द्र इरां दृणातीति वा०-निरु०१० । ८ । इरायाः भूमेर्विदारकः कर्षकः । (सीताम्)

वह (पयस्वती) पानी से भरी [जुती धरती] (नः) हमको (उत्तराम्—उत्तराम्) उत्तम उत्तम (समाम्) अनुकूल क्रिया से (दुहाम्) भरती रहे ॥ ४ ॥

भावार्थ—किसान बीज बोने के पीछे जुती धरती को पटेले से चौरस करके रक्षा करे और यथा समय पानी देता रहे जिससे खेतों में ठीक ठीक उपज होवे ॥ ४ ॥

यह मंत्र कुछ भेद से ऋ० ४। ५७। ७ में है। और इसका उत्तरार्ध अ० ३। १०। १। में आचुका है है ॥ ४ ॥

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान्। शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥ ५ ॥

शुनम्। सु-फालाः। वि। तुदन्तु। भूमिम्। शुनम्। कीनाशाः। अनु। यन्तु। वाहान् ॥ शुनासीरा। हविषा। तोशमाना। सु-पिप्पलाः। ओषधीः। कर्तम्। अस्मै ॥५॥

भाषार्थ—(सुफालाः) सुन्दर फाले (शुनम्) सुख से (भूमिम्) भूमि को (वि तुदन्तु) जोतें। (कीनाशाः) क्लेश सहने वाले किसान (वाहान् अनु) बैलादि वाहनों के पीछे पीछे (शुनम्) सुखसे (यन्तु) चलें। (हविषा) जल से (तोशमाना=तोषमाणौ) सन्तुष्ट करने वाले (शुनासीरा=०रौ) हे पवन

तुतनिभ्यां दीर्घश्च। उ० ३। ६०। इति षिञ् बन्धे—क। षीत्रे हलेन कृता रेखा। कर्षितभूमिरित्यर्थः। (नि) नीचैः। (गृह्णातु) सम्पादयतु। (पूषा) पोषकः कृषीवलः। (अभि) सर्वतः। (रक्षतु) पालयतु। (पयस्वती) उदकवती सती। (नः) अस्मान्। (दुहाम्) द्विकर्मकः। दुग्धाम्। प्रपूरयतु। (उत्तराम्—उत्तराम्) अतिशयेनोत्कृष्टाम्। (समाम्) अ० ३। १०। १। समक्रियाम्। अनुकूलक्रियाम् ॥

५—(शुनम्) सुखेन। (सुफालाः) फल भेदने-घञ्। फल्यते विदार्यते भूमिरनेन। शोभनाः फाला आकृष्यलोहभेदाः। (वि तुदन्तु) तुद व्यथने। वि-

और सूर्य तुम दानो ! (अस्मै) इस पुरुष के लिये (सुपिप्पलाः) सुन्दर फल वालो (ओषधीः) जौ, चावल आदि ओषधियां (कर्तम्) करो ॥ ५ ॥

भावार्थ—चतुर किसान लोग उत्तम कृषिशस्त्रों, उत्तम बैल आदिकों, और पानी आदि की सुधि रखने से उत्तम अन्नादि पदार्थ उत्पन्न करते हैं, इसीप्रकार विद्वान् लोग विद्याबल से अनेक शिल्पों का अविष्कार करके संसार को सुख पहुंचाते और आप सुख भोगते हैं ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० ४ । ५७ । ८ और य० १२ । ६६ में है ॥

यजुर्वेद अ० २२ । म० २२ में वर्णन है ।

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् ॥

कामना के अनुसार ही हमारे लिये मेह बरसे, हमारे लिये उत्तम फलवाली जौ आदि ओषधें पकें ॥

दारयन्तु । विकृषन्तु । (भूमिम्) पृथिवीम् । (कीनाशाः) क्लिशेरीच्चोपधायाः कन् लोपश्च लो नाम् च । उ० ५ । ५६ । इति क्लिशू विबाधने, वधे वा—कन्, उपधाया ईत्वं ललोपो नामागमश्च । क्लेशसहनशीलाः । कर्षकाः । (अनु) अनुसृत्य । (यन्तु) गच्छन्तु । (वाहान्) वहनशीलान् बलीवर्दादीन । (शुनासीरा) इगुपधज्ञा० । पा० ३ । १ । १३५ । इति शुन गतौ—क । कृशॄपॄकटि पटि० । उ० ४ । ३० । इति सृ गतौ—ईरन्, टि लोपः । शुनश्च सीरश्च । देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । इति पूर्वपददीर्घः । शुनासीरौ शुनो वायुः शु एत्यन्तरिक्षे सीर आदित्यः सरणात् । निरु० ६ । ४० । हे वाय्वादित्यौ । (हविषा) अ० १ । ४ । ३ । उदकेन, निघ० १ । १२ । (तोशमाना) पस्य शः । तोषमाणौ । सन्तोषकौ । (सुपिप्पलाः) फलस्तूपश्च । उ० १ । १०४ । इति पॄ पालनपूरणयोः—कलप्रत्ययः । पृषोदरादित्वात् साधुः । पिप्पलम्, उदकम्—निघ० १ । १२ । पिप्पलं पालकं फलम्—इति सायणः—ऋग्वेदभाष्ये म० १ । १६४ । २२ । शोभनफलोपेताः । (ओषधीः) अ० १ । २३ । १ । व्रीहियवाद्याः । (कर्तम्) युवां कुरुतम् । (अस्मै) उद्योगिने पुरुषाय ॥

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् ।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥

शुनम् । वाहाः । शुनम् । नरः । शुनम् । कृषतु । लाङ्गलम् ।
शुनम् । वरत्राः । बध्यन्ताम् । शुनम् । अष्ट्राम् । उत् । इङ्गय ॥ ६

भाषार्थ—(वाहाः) बैल आदि पशु (शुनम्) सुख से रहें । (नरः) हांकने वाले किसान (शुनम्) सुख से रहें । (लाङ्गलम्) हल (शुनम्) सुख से (कृषतु) जोते । (वरत्राः) हल की रस्सियां (शुनम्) सुखसे (बध्यन्ताम्) बांधी जावें । (अष्ट्राम्) पैना [आर वा कांटे] को (शुनम्) सुख से (उत् इङ्गय) ऊपर चला ॥ ६ ॥

भावार्थ—किसान लोग सब सामग्री उत्तम रीति से बनाकर रखने से अपने सब काम सुख से चलावें ॥ ६ ॥

मन्त्र ६-८ कुछ भेद से ऋ० ४ । ५७ । ४—६ में है ।

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् ।
यद् दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

शुनासीरा । इह । स्म । मे । जुषेथाम् ॥ यत् । दिवि ।
चक्रथुः । पयः । तेन । इमाम् । उप । सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

६—(शुनम्) सुखेन । (वाहाः) वृषभादयः । (नरः) अ० ३ । १९ । ३ । नयतीति ना । नेतारः कर्षकाः । (कृषतु) विलिखतु । (लाङ्गलम्) हलम् । (वरत्राः) वृञश्चित् । उ० ३ । १०७ । इति वृञ् संवरणे-अत्रन् । टाप् । बन्धन-रज्जवः । (बध्यन्ताम्) बद्धा भवन्तु । (अष्ट्राम्) अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः । उ० ४ । १६४ । इति अशूङ् व्याप्तौ-क्त्र, टाप् । प्रतोदम् । ताड़नीम् । (उत् इङ्गय) उपरि गमय । प्रेरय ॥

भाषार्थ—(शुनासीरा=०-रौ) हे वायु और सूर्य तुम दोनों ! (इह स्म) यहां पर ही (मे) मेरी [विनय] (जुषेथाम्) स्वीकार करो, (यत् पयः) जो जल (दिवि) आकाश में (चक्रथुः) तुम दोनों ने बनाया है, (तेन) उस से (इमाम्) इस [भूमि) को (उप सिञ्चतम्) सींचते रहो ॥ ७ ॥

भावार्थ—पवन और सूर्य के द्वारा पृथिवी का जल आकाश में जाकर फिर पृथिवी पर बरसता है, वह खेती के लिये बहुत उपयोगी होता है ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से निरु० ६ । ४१ । में भी है ।

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव ।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥

सीते । वन्दामहे । त्वा । अर्वाची । सु-भगे । भव ॥ यथा । नः । सु-मनाः । असः । यथा । नः । सु-फला । भुवः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सीते) हे जुती धरती ! [लक्ष्मी । खेती] (त्वा) तेरी (वन्दामहे) हम वन्दना करते हैं, (सुभगे) हे सौभाग्यवती [बड़े ऐश्वर्य वाली] (अर्वाची) हमारे सन्मुख (भव) रह, (यथा) जिससे तू (नः) हमारे लिये

७—(शुनासीरा) म० ५ । हे पवनादित्यौ । (इह स्म) अत्रैव । (जुषेथाम्) युवां सेवेथाम् । स्वीकुरुतम् । (दिवि) आकाशे । (चक्रथुः) डुकृञ् करणे लिट् । युवां कृतवन्तौ । (पयः) उदकम् । निघ० १ । १२ । (इमाम्) दृश्यमानां भूमिम् । (उप सिञ्चतम्) व्याप्य आर्द्रीकुरुतम् ॥

८—(सीते) म० ४ । लाङ्गलपद्धतिरूपा कृषिक्रिया लक्ष्मीः । तत्सम्बुद्धौ । (वन्दामहे) वदि अभिवादनस्तुत्योः । अभिवादयामः । स्तुमः । (त्वा) त्वाम् । (अर्वाची) अवर+अञ्चु गतिपूजनयोः- क्विन्, ङीप् । अर्वादेशः । निकटस्था । अभिमुखी । (सुभगे) हे सौभाग्ययुक्ते । ऐश्वर्यवति । (नः) अस्मभ्यम् । (सु-मनाः) प्रसन्नमनस्का । (असः) लेट् । त्वं स्याः । (सुफला) शोभनफलोपेता । (भुवः) लेट् । त्वं भवेः ॥

(सुमनाः) प्रसन्न मन वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से (नः) हमारे लिये (सुफला) सुन्दर फल वाली (भुवः) होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य खेती को मन लगाकर करके चौकसी रक्खें जिस से अन्नवान् और धनवान् होकर सदा आनन्द भोगें ॥ ८ ॥

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः । सा नः सीते पयसाभ्यावंवृत्स्वोर्जस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥ ९ ॥

घृतेन । सीता । मधुना । सम्-अक्ता । विश्वैः । देवैः । अनु-मता । मरुत्-भिः ॥ सा । नः । सीते । पयसा । अभि-आवंवृत्स्व । ऊर्जस्वती । घृत-वत् । पिन्वमाना ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(घृतेन) घी से और (मधुना) मधु [शहद] से (समक्ता) यथाविधि सानी हुई (सीता) जुती धरती (विश्वैः) सब (देवैः) व्यवहार कुशल (मरुद्भिः) विद्वान् देवताओं करके (अनुमता) अङ्गीकृत है। (सीते) हे जुती धरती ! (सा) सो (ऊर्जस्वती) बलवती और (घृतवत्) घृतयुक्त [अन्न आदि] से (पिन्वमाना) सींचती हुई तू (पयसा) दूध के साथ (नः) हमारे (अभ्यावबृत्स्व) सब ओर से सन्मुख वर्तमान हो ॥ ९ ॥

९—(घृतेन) आज्येन । (सीता) म० ४ । कृष्टा भूमिः । (मधुना) क्षौद्रेण । (समक्ता) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु-क्त । सम्यक् मिश्रिता । (विश्वैः) सर्वैः । (देवैः) दिवु व्यवहारे-अच् । व्यवहारकुशलैः । (अनुमता) अङ्गीकृता । (मरुद्भिः) अ० १ । २० । १ । देवैः । ऋत्विग्भिः, निघ० ३ । १८ । (सा) सा त्वम् । (नः) अस्मान् (पयसा) दुग्धेन । (अभ्यावबृत्स्व) बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७६ । इति श्लोः । शपः श्लुः । अभित आगत्य वर्तस्व । (ऊर्जस्वती) बलवती । (घृतवत्) यथा तथा घृतयुक्तेन अन्नेन । (पिन्वमाना) पिवि सेचने—शानच् । आत्मनेपदं छान्दसम् । सिञ्चन्ती । वर्धयन्ती ॥

जिससे (पतिम्) सर्वरक्षक वा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को (संविन्दते) यथावत् पाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मविद्या परिश्रम पूर्वक प्राप्त करें। ईश्वर ज्ञान से ही विज्ञान बढ़कर मिथ्याज्ञान का नाश होकर परम ऐश्वर्य वा मोक्ष मिलता है ॥१॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद म० १० सू० १४५। १-६ है। अजमेर वैदिक यन्त्रालय की ऋग्वेदसंहिता, मोहमयी [मुम्बै] की शाकलकसंहिता, और ऋग्वेदीय सायणभाष्य में [उपनिषत्सपत्नीबाधनम्] इस सूक्तका देवता लिखा है, इससे इस सूक्त में ब्रह्मविद्या ही का उपदेश है ॥

उत्तानपर्णे सुभंगे देवंजूते सहंस्वति ।
सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि ॥ २ ॥

उत्तान-पर्णे । सु-भंगे । देवं-जूते । सहंस्वति ॥ स-पत्नीम् । मे । परा । नुद । पतिम् । मे । केवलम् । कृधि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(उत्तानपर्णे) हे विस्तृत पालन वाली। (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्य वाली ! (देवजूते) हे विद्वानों करके प्राप्त की हुई ! (सहस्वति) हे बलवती [ब्रह्मविद्या] ! (मे) मेरी (सपत्नीम्) विरोधिनी [अविद्या] को (परा नुद) दूर हटा दे और (पतिम्) सर्वरक्षक वा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर

(संविन्दते) सम्यक् लभते। (पतिम्) पातेर्डतिः। उ० ४। ५७। इति पा रक्षणे डति। यद्वा। सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति पत ऐश्ये-इन्। सर्व रक्षकम्। ऐश्वर्यवन्तं परमेश्वरम् ॥

२—(उत्तानपर्णे) उत्+तनु विस्तारे-घञ्। धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति पॄ पालनपूरणयोः-न। हे उत्तानतया विस्तृतपालनयुक्ते। (सुभगे) हे सौभाग्यहेतुभूते। (देवजूते) जु गतौ-क्त। विद्वद्भिः प्राप्ते। (सहस्वति) हे बलवति ब्रह्मविद्ये। (सपत्नीम्) म० १। विरोधिनीम्। अविद्याम्। (मे) मम। (परा नुद) पराङ्मुखीं गमय। (पतिम्) म० १। (केवलम्) वृषादिभ्यश्चित्। उ० १। १०६। इति केवृ सेवने-कलच्। निर्णीतम्। सेवनीयम्।

भावार्थ—चतुर किसान युक्ति से बीज में वा धरती में घी और मधु आदि मिलाकर धान्य आदि को पुष्ट और मधुर बनावें, जैसे क्रिया विशेष से, माली लोग आम, दाख, केसर, फूल आदि को उत्तम बनाते और मनुष्य उत्तम सन्तान उत्पन्न करते हैं ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद अ० १२ म० ७० में है ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-६ ॥ ऋषिः-इन्द्राणी । देवता-उपनिषत्सपत्नीबाधनम् । १-५ अनुष्टुप् ६ पङ्क्तिः ॥

उपनिषत्सपत्नीबाधनोपदेशः—ब्रह्मविद्या की सपत्नी अविद्या के नाश का उपदेश ॥

इ॒मां ख॑ना॒म्योष॑धिं वी॒रुधां॒ बल॑वत्तमाम् ।
यया॑ स॒पत्नीं॒ बाध॑ते॒ यया॑ सं॒विन्द॑ते॒ पति॑म् ॥ १ ॥

इ॒माम् । ख॒ना॒मि॒ । ओष॑धिम् । वी॒रुधा॑म् । बल॑वत्-तमाम् ॥ यया॑ । स॒-पत्नी॑म् । बाध॑ते । यया॑ । स॒म्-वि॒न्द॑ते । पति॑म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वीरुधाम्) उगती हुई लताओं [सृष्टि के पदार्थों] में (इमाम्) इस (बलवत्तमाम्) बड़ी बल वाली (ओषधिम्) रोग नाशक ओषधि [ब्रह्म-विद्या] को (खनामि) मैं खोदता हूं, (यया) जिस [ओषधि] से [प्राणी] (सपत्नीम्) विरोधिनी [अविद्या] को (बाधते) हटाता है, और (यया)

१—(इमाम्) प्रत्यक्षाम् । (खनामि) खनु विदारे । खननेन अन्वेषणेन संपादयामि । (ओषधिम्) अ० १ । २३ । १ । रोगनाशिकां ब्रह्मविद्याम् । (वीरुधाम्) अ० १ । ३२ । १ । विरोहणशीलानां लतारूपाणां प्रजानां मध्ये । (बलवत्तमाम्) बलवत्-तमप्, टाप् । अतिशयेन बलवतीम् । (यया) ओषध्या । (सपत्नीम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति समान+पत्लृ अधोगतौ-इन् । नित्यं सपत्न्यादिषु । पा० ४ । १ । ३५ । इति ङीप् नकारान्तादेशश्च । समानपातनशीलाम् । ब्रह्मविद्याविरोधिनीम् । अविद्याम् । (बाधते) विहन्ति ।

को (मे) मेरा (केवलम्) सेवनीय (कृधि) कर ॥ २ ॥

भावार्थ—अनन्यवृत्ति पुरुष ब्रह्मविद्या से अविद्या को हटाकर आनन्द स्वरूप जगदीश्वर को जानकर आनन्द भोगता है ॥ २ ॥

नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन् रमसे पतौ ।
परामिव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥

नहि । ते । नाम । जग्राह । नो इति । अस्मिन् । रमसे । पतौ ॥ पराम् । एव । परा-वतम् । स-पत्नीम् । गमयामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे सपत्नी अविद्या] (ते) तेरा (नाम) नाम । (नहि) कभी नहीं (जग्राह) मैं ने लिया है, (अस्मिन्) इस (पतौ) जगत् पति परमेश्वर में (नो) कभी नहीं (रमसे) तू रमण करती है । (पराम्) बैरिनि, (सपत्नीम्) विरोध डालने वाली [अविद्या] को (परावतम् एव) बहुत दूर ही (गमयामसि) हम पहुंचाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग अविद्या का मान नहीं करके अविद्या रहित सर्वविद्या-युक्त परमात्मा का ध्यान करते, और अविद्या को हटाकर सत्यज्ञान पाते हैं ॥३॥

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।
अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥

(कृधि) कुरु ॥

३—(नहि) नव । (ते) तव । (नाम) नामन्सीमन्व्योमन्० । उ० ४ । १५१ । इति म्ना अभ्यासे-मनिन् । नामधेयम् (जग्राह) अहं गृहीतवान् । (नो) नैव । (अस्मिन्) प्रसिद्धे । (रमसे) त्वं क्रीडसि । (पतौ) म० १ । छान्दसी घिसंज्ञा । पत्यौ । परमेश्वरे । (पराम्) ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति पृ पालनपूरणयोः—अपादाने अप् । टाप् । शत्रुम् । वैरिणीम् । (एव) अवश्यम् । (परावतम्) अ० ३ । ४ । ५ । दूरदेशगतम् । (सपत्नीम्) म० १ । विरोधिनीम् । (गमयामसि) गमयामः । प्रापयामः ॥

उत्-तंरा । अहम् । उत्-तरे । उत्-तंरा । इत् । उत्-तंराभ्यः॥
अधः । स-पत्नी । या । मम । अधरा । सा । अधराभ्यः ॥४॥

भाषार्थ—(उत्तरे) हे अति उत्तम [ब्रह्मविद्या] (अहम्) मैं [प्रजा] (उत्तरा) अधिक उत्तम [भूयासम्=होजाऊं], (उत्तराभ्यः) अन्य उत्तम [पशुआदि प्रजाओं] से (इत्) तो (उत्तरा) अधिक उत्तम [प्रजा अस्मि= प्रजा हूं]। (मम) मेरी (या) जो (अधरा) नीच (सपत्नी) विरोधिनी [अविद्या है], (सा) वह (अधराभ्यः) नीच [विपत्तियों] से (अधः) नीची है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब पशु आदि प्राणियों से उत्तम है, इससे वह सब उत्तम विद्याओं में परम उत्तम, ब्रह्मविद्या प्राप्त करके सर्वोत्कृष्ट होवे, और सब विपत्तियों वा क्लेशों के मूल अविद्या को निकालता रहे ॥ ४ ॥

भगवान् पतञ्जलि का वचन है-योग दर्शन पाद २ सू० ३, ४ ॥

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ १ ॥
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्॥२॥

१—(अविद्या) मिथ्याज्ञान, २-(अस्मिता) अहंकार, ३-(राग) राग, वा तृष्णा, ४-(द्वेष) द्वेष वा घृणा, और ५—(अभिनिवेश) शरीर से प्रीति वा मरण से भय, यह पांच क्लेश हैं ॥१॥

अविद्या पिछले चार [अस्मिता आदि] का खेत है, चाहे वे १-सोते हुये २-सूक्ष्म, ३-दबे हुये, वा ४-फैले हुये हों ॥

४—(उत्तरा) उत्कृष्टतरा। (अहम्) मनुष्यरूपा प्रजा। (उत्तरे) हे उत्कृष्टतरे ब्रह्मविद्ये । (उत्तराभ्यः) अन्यपश्वादिप्रजाभ्य उत्कृष्टतराभ्यः। (अधः) अधस्तात्। (सपत्नी) म० १। विरोधिनी। अविद्या। (अधरा) अन्यनिकृष्टाभ्यो विपत्तिभ्यः ॥

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः ।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥

अहम् । अस्मि । सहमाना । अथो इति । त्वम् । असि । स-सहिः ॥ उभे इति । सहस्वती इति । भूत्वा । स-पत्नीम् । मे । सहावहै ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे विद्या] (अहम्) मैं (सहमाना) जयशील [प्रजा] (अस्मि) हूं, (अथो) और (त्वम्) तू भी (सासहिः=ससहिः) जयशील (असि) है। (उभे) दोनों हम [तू और मैं] (सहस्वती=०-त्यौ) जयशील (भूत्वा) होकर (मे) मेरी (सपत्नीम्) विरोधिनी [अविद्या] को (सहावहै) जीत लें ॥ ५ ॥

भावार्थ—योगी जन ब्रह्मविद्या में एकवृत्ति होकर अविद्या को जीतकर आनन्द भोगते हैं ॥ ५ ॥

अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम् । मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ॥६॥

अभि । ते । अधाम् । सहमानाम् । उप । ते । अधाम् । सहीयसीम् । माम् । अनु । प्र । ते । मनः । वत्सम् । गौः-इव । धावतु । पथा । वाः-इव । धावतु ॥ ६ ॥

५—(सहमाना) षह अभिभवे—शानच् । अभिभवित्री प्रजा । (अथो) अपि च । (सासहिः) किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात् । वा० पा० ३ । २ । १७१ । इति षह अभिभवे-कि, लिड्वद्भावः । छान्दसो दीर्घः । अभिभवित्री । (उभे) त्वं च अहं च, आवाम् । (सहस्वती) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । अभिभवनवत्यौ । जयशीले । (सपत्नीम्) म० १ । विरोधिनीम्, अविद्याम् । (सहावहै) षह अभिभवे-लोट् । आवाम् अभिभवाव ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (ते) तेरे लिये (सहमानाम्) प्रबल [अविद्या] को (अभि = अभिभूय) हराकर (अधाम्) मैंने रक्खा है, और (ते) तेरे लिये (सहीयसीम्) अधिक प्रबल [ब्रह्मविद्या] को (उप) आदर से (अधाम्) मैंने रक्खा है। सो (ते मनः) तेरा मन (माम् अनु) मेरे पीछे पीछे [योगी के स्वरूप में] (प्रधावतु) दौड़ता रहे और (धावतु) दौड़ता रहे, (गौः इव) जैसे गौ (वत्सम्) अपने बछड़े के पीछे,और (वाः इव) जैसे जल (पथा) अपने मार्ग से [दौड़ता है] ॥ ६ ॥

भावार्थ—योगी वृत्तियों के निरोध से अविद्या को जीतकर स्वरूप अर्थात् अपनी और परमात्मा की शक्ति को जानकर परोपकार में आगे बढ़ता है, जैसे स्वभाव से गौ अपने छोटे बच्चे के पीछे दौड़ती फिरती है और पानी नीचे मार्ग से समुद्र को चला जाता है ॥

भगवान् पतञ्जलि ने कहा है-योगदर्शन, पाद १ सू० २, ३ ॥

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १ ॥

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ २ ॥

योग चित्त की वृत्तियों का रोकना है ॥ १ ॥

तब देखनेवाले के अपने रूप में चित्त का ठहराव होता है ॥ २ ॥

सूक्तम् १८ ॥

१—८ ॥ पुरोहितो देवता । १, २, ४ अनुष्टुप्, ३ पूर्वार्धस्त्रिष्टुप्, द्वितीयोऽनुष्टुप्, ५ त्रिष्टुप् ६, उद्धर्षन्तां मघवन्

६—(अभि) अभिभूय । जित्वा । (ते) तव हिताय । (अधाम्) डुधाञ् धारणपोषणयोः—लुङ् । अहम् अधार्षम् । (सहमानाम्) म० ५ । प्रबलाम् अविद्याम् । (उप) पूजायाम् । (सहीयसीम् । सोढृ-ईयसुन् । सोढृतराम् । बलवत्तरां ब्रह्मविद्याम् । (माम्) योगिनम् । (अनु) अनुसृत्य । (ते) तव । (मनः) चित्तम् । (वत्सम्) । गोशिशुम् । (गौः इव) धेनुर्यथा । (प्रधावतु) प्रकर्षेण शीघ्रं गच्छतु । (पथा) मार्गेण । (वार्) अ० ३ । १३ । ३ । जलम् ॥

इति त्रिष्टुप्, पृथग् घोषा इत्यनुष्टुप्, ७ पूर्वार्धोऽनुष्टुप्, द्वितीयस्त्रिष्टुप्, ८ पङ्क्तिः॥

युद्धविद्याया उपदेशः—युद्धविद्या का उपदेश ॥

संशि॑तं म इ॒दं ब्रह्म॒ संशि॑तं वी॒र्यं१॒ बल॑म् ।
संशि॑तं क्ष॒त्रम॒जर॑मस्तु जि॒ष्णुर्येषा॒मस्मि॑ पु॒रोहि॑तः ॥१॥

सम्-शि॑तम् । मे॒ । इ॒दम् । ब्रह्म॑ । सम्-शि॑तम् । वी॒र्य॑म् । बल॑म् ॥ सम्-शि॑तम् । क्ष॒त्रम् । अ॒जर॑म् । अ॒स्तु॒ । जि॒ष्णुः । येषा॑म् । अ॒स्मि॑ । पु॒रः-हि॑तः ॥ १ ॥

भषार्थ—(मे) मेरे लिये [इन वीरोंका] (इदम्) यह (ब्रह्म) वेदज्ञान वा अन्न वा धन (संशितम्) यथाविधि सिद्ध किया गया है, और (वीर्यम्) वीरता और (बलम्) सेना दल (संशितम्) यथाविधि सिद्ध किया गया है, (संशितम्) यथाविधि सिद्ध किया हुआ (क्षत्रम्) राज्य (अजरम्) अटल (अस्तु) होवे, (येषाम्) जिनका मैं (जिष्णुः) विजयी (पुरोहितः) पुरोहित अर्थात् प्रधान (अस्मि) हूं ॥ १॥

१—(संशितम्) सम्+शो तनूकरणे-क्त । सम्यक् सम्पादितं साधितम् । (मे) ममार्थम् । (इदम्) प्रसिद्धम् । (ब्रह्म) प्रवृद्धं वेदज्ञानम् । अन्नम्, निघ० २ । ७ । धनम्, निघ० २ । १० । (वीर्यम्) वीर—भावे यत् । वीरता । (बलम्) सैन्यम् । (क्षत्रम्) । अ० २ । १५ । ४ । क्षत्रियकुलम् । राज्यम् । (अजरम्) जरारहितम् । (जिष्णुः) ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः । पा०३ । २ ।१३९ । इति जि जये-ग्स्नु । विजयी । (येषाम्) येषां भृत्यानाम् । (पुरोहितः) पुरस्+डुधाञ् धारणपोषणयोः—क्त । पूर्वाधरावराणामसिः० । पा०५ । ३ । ३९ । इति पूर्व-असि, पुर् आदेशः । दधातेर्हिः । पा०७।४।४२ । इति हि । पुरोहितः पुर एनं दधति होत्राय वृतः कृपायमाणोऽन्वध्यायत् । निरु० २ । १२ । पूर्वम् अग्रे कर्मसु धीयते, आरोप्यते यः । प्रधानः । अग्रसरः ॥

भावार्थ—सेनापति राजा विद्या, अन्न, और धन आदि की यथावत् वृद्धि करके अपने वीरों और सेना का उत्साह बढ़ाता रहे, जिससे राज्य चिर-स्थायी हो ॥ १ ॥

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

सम् । अहम् । एषाम् । राष्ट्रम् । स्यामि । सम् । ओजः । वीर्यम् । बलम् ॥ वृश्चामि । शत्रूणाम् । बाहून् । अनेन । हविषा । अहम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (एषाम्) इन [अपने वीरों] के (राष्ट्रम्) राज्य, (ओजः) शारीरिक बल, (वीर्यम्) वीरता और (बलम्) सेना दल को (सम्) भले प्रकार (संस्यामि) जोड़ता हूं । (अहम्) मैं (शत्रूणाम्) शत्रुओं की (बाहून्) भुजाओं को (अनेन) इस (हविषा) अन्न वा आवाहन से (वृश्चामि) काटता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा सत्कारपूर्वक अपने वीरों को, सामाजिक शारीरिक और (हविषा) आर्थिक दशा के सुधार से, सन्तुष्ट रखकर शत्रुओं का नाश करे ॥ २ ॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥

२—(सम्) सम्यक् प्रकारेण । (अहम्) पुरोहितः । राजा । (एषाम्) स्ववीराणाम् । (राष्ट्रम्) अ० ३ । ४ । १ । राज्यम् । (संस्यामि) षो अन्तकर्मणि । सम्+षो संयोजने । संयोजयामि । वर्धयामि । दृढीकरोमि । (ओजः) अ० १ । १२ । १ । शारीरिकबलम् । (वीर्यम्) वीरताम् । (बलम्) सैन्यम् । (वृश्चामि) ओव्रश्चू छेदने । छिनद्मि । (बाहून्) भुजान् । पराक्रमान् । (हविषा) अ० १ । ४ । ३ । अन्नेन आवाहनेन ॥

नीचैः । पद्यन्ताम् । अधरे । भवन्तु । ये । नः । सूरिम् । मघ-वानम् । पृतन्यान् ॥ क्षिणामि । ब्रह्मणा । अमित्रान् । उत् । नयामि । स्वान् । अहम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—वे [शत्रु] (नीचैः) नीचे (पद्यन्ताम्) गिरें और (अधरे) नीचे (भवन्तु) रहें, (ये) जो (नः) हमारे (मघवानम्) धनी (सूरिम्) सूरमा राजा पर (पृतन्यान्) सेना चढ़ावें।

(अहम्) मैं (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से (अमित्रान्) शत्रुओं को (क्षिणामि) मारे डालता हूं, और (स्वान्) अपने लोगों को (उन्नयामि) ऊंचा करता हूं ॥३॥

भावार्थ—सैनिक लोग ललकार कर वैरियों पर धावा करके मार गिरावें और राजा उन अपने वीरों को ऊंची २ पदवी देवे ॥ ३ ॥

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत ।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः ॥४॥

तीक्ष्णीयांसः । परशोः । अग्नेः । तीक्ष्ण-तराः । उत ॥ इन्द्रस्य । वज्रात् । तीक्ष्णीयांसः । येषाम् । अस्मि । पुरः-हितः ॥ ४ ॥

३—(नीचैः) अवाङ्मुखाः । (पद्यन्ताम्) पतन्तु । (अधरे) निकृष्टाः । पादाक्रान्ताः । (नः) अस्माकम् । (सूरिम्) सूङः क्रिः । उ० ४ । ६४ । इति षूङ् प्रसवे, वा षू प्रेरणे—क्रि । सूते अर्थान् । सुवति शत्रून् । शूरम् । राजानम् । पण्डितम् । (मघवानम्) मघम्=धनम् । निघ० २ । १० । मत्वर्थीयो वनिप् । प्रभूतधनवन्तम् । (पृतन्यान् । सुप आत्मनः क्यच् । पा०३ । १ । ८ इति पृतना—क्यच् । कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः । पा० ७ । ४ । ३९ । इति क्यचि पृतनाशब्दस्य अन्त्यलोपः । लेटि आडागमः । पृतन्यन्तु पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छन्तु । (क्षिणामि) क्षि हिंसायाम् । नाशयामि । (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन । शास्त्रबोधेन । (अमित्रान्) अ० १ । १९ । २ । पीड़कान् । (उत् नयामि) उन्नतान् करोमि । (स्वान्) स्वकीयान् वीरान् । (अहम्) सेनापतिः ॥

भाषार्थ—वे वीर (परशोः) परसे [कुल्हाड़ी] से (तीक्ष्णीयांसः) अधिक तीक्ष्ण, (अग्नेः) अग्नि से (तीक्ष्णतराः) अधिक तीक्ष्ण (उत) और (इन्द्रस्य) मेघ के (वज्रात्) वज्र [बिजुली] से (तीक्ष्णीयांसः) अधिक तीक्ष्ण हैं, (येषाम्) जिनका मैं (पुरोहितः) पुरोहित वा मुखिया (अस्मि) हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—सेनापति अपनी सेना का आत्मबल बढ़ावे। आत्मबल से अस्त्र शस्त्र आदि की अपेक्षा अधिक कार्य सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि। एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

एषाम्। अहम्। आयुधा। सम्। स्यामि। एषाम्। राष्ट्रम्। सु-वीरम्। वर्धयामि ॥ एषाम्। क्षत्रम्। अजरम्। अस्तु। जिष्णु। एषाम्। चित्तम्। विश्वे। अवन्तु। देवाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (एषाम्) इन [वीरों] के (आयुधा=०—नि)

४—(तीक्ष्णीयांसः) तीक्ष्ण-ईयसुन्। आत्मबले तीक्ष्णतराः। (परशोः) आङ्परयोः खनिशॄभ्यां डिच्च। उ० १। ३३। इति शॄ हंसायाम्-कु, स च डित्। परान् शत्रून् शृणाति येन। अस्त्रविशेषात्। कुठारात्। (अग्नेः) पावकात्। (तीक्ष्णतराः) तीक्ष्ण—तरप्। निशिततराः। (उत) अपि च। (इन्द्रस्य) वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः—निरु० ७। ५। मेघस्य। (वज्रात्) विद्युतः। अन्यद् गतम्—म० १ ॥

५—(एषाम्) स्ववीराणाम्। (अहम्) पुरोहितः, सेनापतिः। (आयुधा) आङ्+युध संप्रहारे-करणे घञर्थे क। प्रहरणसाधनानि। बाणखड्गकुन्तादीनि। (सं स्यामि।

हथियारों को (सं स्यामि) जोड़ता हूं [दृढ़ करता हूं], (एषाम्) इन के (सुवीरम्) साहसी वीरों वाले (राष्ट्रम्) राज्य को (वर्धयामि) बढ़ाता हूं, (एषाम्) इन का (क्षत्रम्) क्षत्रियपन (अजरम्) अजर [अटल] और (जिष्णु) विजयी (अस्तु) होवे। (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य [विजयी, कमनीय, वा प्रशंसनीय धार्मिक] गुण (एषाम्) इनके (चित्तम्) चित्त को (अवन्तु) तृप्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति अपने योधाओं के वास्त्र [तोप, तुपक, धनुषादि,] तरवारि, शक्ति, भाले आदि अस्त्र शस्त्र धनुर्वेद की रीति से दृढ़ बनवावे, और प्रसिद्ध वीरों का पद बढ़ाकर उत्साह बढ़ावे ॥ ५ ॥

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः। पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्। देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥

उत्। हर्षन्ताम्। मघ-वन्। वाजिनानि। उत्। वीराणाम्। जयताम्। एतु। घोषः ॥ पृथक्। घोषाः। उलुलयः। केतु-मन्तः। उत्। ईरताम् ॥ देवाः। इन्द्र-ज्येष्ठाः। मरुतः। यन्तु। सेनया ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे बड़े धनी राजन्! (वाजिनानि) सेना दल

राष्ट्रम्) म० २। (सुवीरम्) शोभनवीरयुक्तम्। (वर्धयामि) समर्धयामि। (क्षत्रम्) क्षतात् त्रायकं क्षत्रियत्वम् (अजरम्) जरारहितं सुदृढम्। (जिष्णु) म० १। (चित्तम्) अन्तःकरणम् (विश्वे) सर्वे। (अवन्तु) तर्पयन्तु। (देवाः) दिवु विजिगीषाकान्तिस्तुत्यादिषु-अच्। दिव्यानि विजयशीलानि, काम्यानि, स्तुत्यानि, धार्मिककर्माणि॥

६—(उत् हर्षन्ताम्) उत्कर्षेण हर्षयुक्तानि भवन्तु। (मघवन्) म० ३। हे

(उत् हर्षन्ताम्) मनको ऊंचा उठावें और (जयताम्) जीतते हुये (वीराणाम्) वीरों का (घोषः) जयजयकार वा सिंहनाद (उत् एतु) ऊंचा उठे।

(उलुलयः) जलाने वालों के जलानेवाले, (केतुमन्तः) ऊंचे झंडा वाले (घोषाः) जयजयकार शब्द (पृथक्)नाना रूप में (उत् ईरताम्) ऊपर चढ़ें।

(इन्द्रज्येष्ठाः) इन्द्र, प्रतापी पुरुष को ज्येष्ठ वा स्वामी रखनेवाले(मरुतः) शूर (देवाः) जय चाहने वाले देवता लोग (सेनया) सेना के साथ (यन्तु) चलें ॥ ५ ॥

भावार्थ—समस्त सेनादल बड़ी उमंगसे व्यूह बनाकर नानारूपमें मारू बाजे गाजे के साथ "जय जय" करते हुए आगे बढ़ें, और सब दल पति लोग प्रधान सेनापति की आज्ञानुसार अपनी २टुकरी लेकर धावा करें॥

यह मन्त्र कुछ भेदसे ऋग्वेद १० । १०३ । १० और यजुर्वेद १७ । ४२ । में है

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः । तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥७॥

प्र । इत । जयत । नरः । उग्राः । वः । सन्तु । बाहवः ॥

बहुधनवन्। (वाजिनानि) महेरिनण् च । उ० २ । ५६ । इति वज गतौ-इनण्। बलानि हस्त्यश्वरथादीनि । वाजः=बलम् । निघ० २ । ६ । (वीराणाम्) शूराणाम् । (जयताम्) जि—शतृ । जयं प्राप्नुवताम् । (उत् एतु) उद्गच्छतु । (घोषः) जयजयकारः । सिंहनादः । (पृथक्) नानारूपे (उलुलयः) उल्+उलयः । उल दाहे—क्विप् । इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति उल दाहे—इन्, स च कित् । इति उलुलिः । उलां दाहकानाम् उलयो दाहकाः शत्रुनाशकाः । (केतुमन्तः) पताकायुक्ताः । (उत् ईरताम्) ईर गतौ, अदादिः,उद्गच्छन्तु । (देवाः) विजिगीषवः । (इन्द्रज्येष्ठाः) इन्द्रः, ऐश्वर्यवान् पुरुषो ज्येष्ठः श्रेष्ठो वृद्धो वा स्वामी येषां ते तथाविधाः । (मरुतः) अ० १ । २० । १ । मारयन्ति दुष्टान् । शूरा देवाः । (यन्तु) गच्छन्तु । (सेनया) स्वस्वसेनया सार्धम् ॥

तीक्ष्ण-इ॑षवः । अबल-धन्वनः । हुत । उग्र-आयुधाः अब-लान् । उग्र-बाहवः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(नरः) हे नरो (प्र इत) धावा करो, (जयत) जीतो । (वः) तुम्हारी (बाहवः) भुजायें (उग्राः) प्रचण्ड [कट्टर] (सन्तु) होवें । (तीक्ष्णेषवः) हे तीखे बाण वाले ! (उग्रायुधाः) हे कट्टर हथियारों वाले (उग्रबाहवः) हे कट्टर भुजाओं वाले वीरो ! (अबलधन्वनः) निर्बल धनुष वाले (अबलान्) निर्बल [शत्रुओं] को (हत) मारो ॥ ७ ॥

भावार्थ—(प्रेता जयता) पदों में दीर्घता उत्साह के लिये है । सेनापतिकी आज्ञा से सब सैन्यक लोग उमंग के साथ मारू बजाते गाते धावा करके तुच्छ वैरियों को मारें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेदसे ऋग्वेद १० । १०३ । १३ । और यजुर्वेद १७।४६ में है॥

अव॑सृष्टा॒ परा॑पत॒ शर॑व्ये॒ ब्रह्म॑संशिते । जया॒मित्रा॒न् प्र प॑द्यस्व ज॒ह्ये॑षां॒ वर॑वरं॒ मामीषां॑ मोचि॒ कश्च॒न॥८॥

अव॑-सृष्टा । परा॑ । प॒त॒ । शर॑व्ये॒ । ब्रह्म॑-संशिते ॥ जय॑ । अ॒मि-त्रा॒न् । प्र । प॒द्य॒स्व॒ । ज॒हि । ए॒षा॒म् । वर॑म्-वरम् । मा । अ॒मीषा॑म् । मो॒चि॒ । कः । च॒न ॥ ८ ॥

७—(प्र इत) प्रक्रम्य रणक्षेत्रं गच्छत । (जयत) अभिभवत । उभयत्र बलवर्धनाय संहितको दीर्घः । (नरः) अ० ३ । १७ । ६ । हे नेतारः (उग्राः) प्रचण्डाः । (वः) युष्माकम् । (बाहवः) भुजाः । (तीक्ष्णेषवः) निशितबाणाद्यायुधयुक्ताः । (अबलधन्वनः) । निर्बलधनुराद्यायुधोपेतान् । (हत) नाशयत । (उग्रायुधाः)निशिततरवारिशक्त्याद्यायुधयुक्ताः । (अबलान्) निर्बलान् । (उग्रबाहवः) दृढभुजाः ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मसंशिते) हे ब्रह्माओं, वेदवेत्ताओं से प्रशंसित वा यथावत् तीक्ष्ण की हुई (शरव्ये) बाण विद्यामें चतुर सेना ! (अवसृष्टा) छोड़ी हुई तू (परा) पराक्रम के साथ (पत) झपट । (अमित्रान्) बैरियों को (जय) जीत, (प्र पद्यस्व) आगे बढ़, (एषाम्) इन में से (वरंवरम्) एक एक बड़े वीर को (जहि) मार डाल, (अमीषाम्) इनमें से (कश्चन) कोई भी (मा मोचि) न छुटे ॥ ८ ॥

भावार्थ—धर्मज्ञ और युद्ध विद्या में कुशल आचार्यों से शिक्षा पाकर सेना के स्त्री पुरुष सेनापति की आज्ञा पातेही उमंग से धावा करके शत्रुओं को मार गिरावें ॥ ८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेदसे ऋग्वेद ६ । ७५ । १६ । और यजुर्वेद १७ । ४५ । में है ॥

सूक्तम् २० ।

१-१० ॥ १, २, ५, अग्निर्देवता, अन्यत्र मन्त्रोक्ता देवताः । १-५, ७, ९, १० अनुष्टुप्, ६ पङ्क्तिः, ८ जगती ॥

ब्रह्मज्ञानोपदेशः—ब्रह्मविद्या का उपदेश ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आ रोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥

अयम् । ते । योनिः । ऋत्वियः । यतः । जातः । अरोचथाः ॥

८—(अवसृष्टा) सृज-क्त । प्रेरिता । (परा) पराक्रमेण । (पत) शीघ्रं गच्छ । (शरव्ये) अ० १ । १९ । १ । शरु—यत् । हे शरौ बाणविद्यायां कुशले सेने । (ब्रह्मसंशिते) ब्रह्मभिर्वेदवेतृभिः प्रशंसिते वा सम्यक् शिते तीक्ष्णीकृते सुशिक्षिते । (एषाम्) शत्रूणां मध्ये । (वरंवरम्) अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते-निरु० १०। ४२ । प्रत्येकं श्रेष्ठं वीरम् । (अमीषाम्) दूरे दृश्यमानानां वैरिणां मध्ये । (कश्चन) कोऽपि । (मा मोचि) मुच्लृ मोक्षे-कर्मणि माङि लुङि रूपम् । मुक्तो मा भूत । अन्यत् सुगमम् ॥

तम् । जानन् । अग्ने । आ । रोह । अथ । नः । वर्धय । रयिम् ॥१॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (अयम्) यह [सर्वव्यापी परमेश्वर] (ते) तेरा (ऋत्वियः) सब ऋतुओं [कालों] में मिलने वाला (योनिः) कारण है, (यतः) जिससे (जातः) प्रकट होकर (अरोचथाः) तू प्रकाशमान हुआ है, (तम्) उस [योनि] को (जानन्) पहिचान कर (आ रोह) ऊंचा चढ़, (अथ) और (नः) हमारे लिये (रयिम्) धन (वर्धय) बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने अपनी सर्वशक्तिमत्ता और सर्वव्यापकता से हमें बड़ा समर्थ और उपकारी मनुष्य देह दिया है। ऐसा जानकर हम अपना ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद ३। २९। १०। और यजुर्वेद ३। १४॥ १२। ५२। और १५॥ ५६। में है ॥

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव ।
प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥ २ ॥

अग्ने । अच्छ । वद । इह । नः । प्रत्यङ् । नः । सु-मनाः । भव ॥ प्र । नः । यच्छ । विशाम् । पते । धन-दाः । असि । नः । त्वम् ॥ २ ॥

१—(अयम्) सर्वत्र दृश्यमानः । (ते) तव । (योनिः) अ० १। ११। ३। कारणम् । (ऋत्वियः) अर्तेश्च तुः । उ० ऋ गतौ–तु, चकारात् कित् । छन्दसि घस् । पा० ५। १। १०६। इति ऋतु शब्दात् तस्य प्राप्तमित्यर्थे घस् । इयादेशः । सर्वेषु ऋतुषु कालेषु प्राप्तः । (यतः) यस्माद् योनेः । (जातः) उत्पन्नः । प्रकटः सन् । (अरोचथाः) रुच दीप्तावभिप्रीतौ च लङ् । त्वम् अदीप्यथाः । दीप्तोऽभवः । (तम्) योनिम् । (जानन्) अवगच्छन् । (अग्ने) अगि गतौ–नि । हे विद्वन् । (आ रोह) उन्नतिं प्राप्नुहि । (अथ) अनन्तरम् । (नः) अस्मभ्यम् । (वर्धय) समर्धय । (रयिम्) धनम् । ऐश्वर्यम् ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (अच्छ) अच्छे प्रकार से (इह) यहां पर (नः) हम से (वद) बोल, और (प्रत्यङ्) प्रत्यक्ष होकर (नः) हमारे लिये (सुमनाः) प्रसन्न मन (भव) हो। (विशाम् पते) हे प्रजाओं के रक्षक ! (नः) हमें (प्र यच्छ) दान दे, (त्वम्) तू (नः) हमारा (धनदाः) धन दाता (असि) है ॥ २ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य विद्वानों से विद्या ग्रहण करके संसार में ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥ २ ॥

मन्त्र २-७ ऋग्वेद म० १० सू० १४१ म० १, २, ३, ६, ४, ५ कुछ भेद से हैं। यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद अ० ६। म० २८ में है ॥

प्र णो॑ यच्छत्वर्य॒मा प्र भग॒: प्र बृह॒स्पति॑: ।
प्र दे॒वी: प्रोत सू॒नृता॑ र॒यिं दे॒वी द॑धातु मे ॥ ३ ॥

प्र । नः॒ । य॒च्छ॒तु॒ । अ॒र्य॒मा । प्र । भग॑: । प्र । बृह॒स्पति॑: ।
प्र । दे॒वी: । प्र । उ॒त । सू॒नृता॑ । र॒यिम् । दे॒वी । द॒धा॒तु॒ । मे॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अर्यमा) बैरियों का नियन्ता बीर पुरुष, (प्र) अच्छे प्रकार (भगः) ऐश्वर्यवान्, धनी पुरुष (प्र) अच्छे प्रकार, और (बृहस्पतिः) बड़ी बड़ी विद्याओं का स्वामी, प्रधान आचार्य (प्र) अच्छे प्रकार (नः) हमें (देवीः)

२—(अग्ने) हे विद्वन्। (अच्छ) सम्यक्। (वद) ब्रूहि। उपदिश। (इह) अत्र समाजे। (प्रत्यङ्) प्रत्यञ्चन् अभिमुखं गच्छन्। (नः) अस्मान्। अस्मभ्यम्। (सुमनाः) प्रीतिमनाः। (प्र यच्छ) दानं कुरु। (विशांपते) हे प्रजानां पालक। (धनदाः) धन+दा-विच्। ऐश्वर्यस्य दाता। अन्यत् सुगमम् ॥

३—(नः) अस्मभ्यम्। (प्र यच्छतु) ददातु। (अर्यमा) अ० १। ११। १। अ० ३। १४। २। शत्रुनियन्ता। (प्र) प्रकर्षेण। (भगः) ऐश्वर्यवान् पुरुषः। (बृहस्पतिः) अ० १। ८। २। बृहतां बोधानां पालकः। आचार्यः। (देवीः)

दिव्य शक्तियां (प्र यच्छतु) प्रदान करे। (उत) और (सूनृता) प्रिय सत्य वाणी (देवी) देवी [दिव्य गुण वाली] (मे) मुझे (रयिम्) ऐश्वर्य (प्र) अच्छे प्रकार (दधातु) देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य, विशेष गुणी आचार्यों से विशेष शिक्षायें पाकर, सत्यवादी सत्यकर्मी होकर ऐश्वर्यवान् होवें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद ६ । २६ । में है ॥

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे ।

आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

सोमम् । राजानम् । अवसे । अग्निम् । गीःऽभिः । हवामहे । आदित्यम् । विष्णुम् । सूर्यम् । ब्रह्माणम् । च । बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ— (अवसे) रक्षा के लिये (गीर्भिः) स्तुतियों से (सोमम्) ऐश्वर्य के कारण, (राजानम्) सबके शासक (अग्निम्) विद्वान् (आदित्यम्) बड़े दीप्यमान, (विष्णुम्) सबमें व्यापक, (सूर्यम्) सब के चलाने वाले, (ब्रह्माणम्) सब में बड़े वेद प्रकाशक ब्रह्मा (च) और (बृहस्पतिम्) बड़े बड़ों के

व्यावहारिकाः शक्तीः । (सूनृता) अ० ३ । १२ । २ । सत्यप्रियात्मिका वाक् । सरस्वती । (रयिम्) ऐश्वर्यम् । (देवी) शोभनगुणवती । (दधातु) ददातु । (मे) मह्यम् ॥

४—(सोमम्) अ० १ । ६ । २ । ऐश्वर्यहेतुम् । (राजानम्) अ० १ । १० । १ । सर्वशासकम् । (अवसे) रक्षणाय । (अग्निम्) विद्वांसम् । (गीर्भिः) वाणीभिः । स्तुतिभिः । (हवामहे) आह्वयामः । (आदित्यम्) अ० १ । ६ । १ । आदीप्यमानम् । (विष्णुम्) विषेः किच्च । उ० ३ । ३६ इति विष्लृ व्याप्तौ—नु । विष्णुः, यज्ञः । निघ० ३ । १७ । पदनाम, निघ० ४ । २ । यद्विषितोभवति तद्विष्णुर्भवति विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा—निरु० १२ । १८ । व्यापकम् । (सूर्यम्) अ० १ । ३ । ५ । सर्वप्रेरकम् । (ब्रह्माणम्) अ० २ । ६ । २ । सर्वबृद्धम् । वेद प्रका-

रक्षक बृहस्पति [परमेश्वर वा मनुष्य] को (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य जगदीश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के ज्ञान और बड़े लोगों के आश्रय से अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद ९। २६ में है ॥

त्वं नो॑ अग्ने अ॒ग्निभि॒र्ब्रह्म॑ य॒ज्ञं च॑ वर्धय ।

त्वं नो॑ देव दा॒तवे॑ र॒यिं दाना॑य चोदय ॥ ५ ॥

त्वम् । नः । अग्ने । अ॒ग्नि-भिः॑ । ब्रह्म॑ । य॒ज्ञम् । च॒ । व॒र्ध॒य॒ ।

त्वम् । नः । दे॒व॒ । दा॒तवे॑ । र॒यिम् । दाना॑य । चो॒द॒य॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् [परमेश्वर वा पुरुष] (अग्निभिः) विद्वानों के द्वारा (त्वम्) तू (नः) हमारे (ब्रह्म) वेद ज्ञान वा ब्रह्मचर्य (च) और (यज्ञम्) यज्ञ [१—विद्वानों के पूजन, २—पदार्थों के संगतिकरण, और ३—विद्यादि के दान] को (वर्धय) बढ़ा, (देव) हे दानशील ! (त्वम्) तू (नः) हम में से (दातवे) दानशील पुरुष को (दानाय) दान के लिये (रयिम्) धन (चोदय) भेज ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वरके ज्ञानसे अपना ज्ञान और कर्मकौशल्य बढ़ावें और उपकारी कामों में आप सहायक बनें और दूसरों को सहायक बनावें ॥५॥

शकम् । (बृहस्पतिम् । अ० १ । ८ । २ । बृहतां महतां पालकम् ॥

५—(नः) अस्माकम् । अस्माकं मध्ये । (अग्ने) हे विद्वन् परमेश्वर राजन् वा (अग्निभिः) म० १ । विद्वद्भिः सह । (ब्रह्म) वेदज्ञानम् । ब्रह्मचर्यम् । (यज्ञम्) देवपूजनम् । पदार्थसंगतिकरणम् । विद्यादिदानम् (वर्धय) उन्नय । (देव) देवो दानाद्वा दीपनाद्वा-निरु० ७ । १५ । हे दानशील (दातवे) सितनिगमिमसि० । उ० १ । ६९ । इति डुदाञ्-दाने-तुन् । दात्रे पुरुषाय । (रयिम्) धनम् । (दानाय) त्यागाय । (चोदय) प्रेरय ॥

इ॒न्द्र॒वा॒यू उ॒भावि॒ह सु॒हवे॒ह ह॑वामहे ।
यथा॑ नः॒ सर्व॒ इज्जनः॒ संग॑त्यां सु॒मना॒ अस॒द् दान॑का-
मश्च नो॒ भुव॑त् ॥ ६ ॥

इ॒न्द्र॒वा॒यू इति॑ । उ॒भौ । इ॒ह । सु॒-हवा॑ । इ॒ह । ह॒वा॒म॒हे॒ ॥ यथा॑ । नः॒ । सर्वः॑ । इत् । जनः॑ । सम्-ग॑त्याम् । सु॒-मनाः॑ । अस॑त् । दान॑-कामः । च॒ । नः॒ । भुव॑त् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(उभौ) दोनों (सुहवा=०—वौ) सुख से बुलाने योग्य (इन्द्रवायू) सूर्य और पवन [के समान स्त्री पुरुष] को (इह इह) यहाँ पर ही (हवामहे) हम बुलाते हैं, (यथा)जिससे (सर्वः इत्) सभी (जनः) जन (नः) हमारी (संगत्याम्) संगति में (सुमनाः) प्रसन्न चित्त वाले (असत्) होवें, (च) और (नः) हमारी (दानकामः) दान के लिये कामना (भुवत्) होवे ॥६॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष प्रयत्न करके घर में और सभा में परस्पर परोपकारी, प्रसन्न चित्त, धार्मिक और धर्मकार्यों में दानशील हों, जैसे सूर्य अपने प्रकाश और वृष्टि आदि से, और पवन अपने चेष्टादान और शीघ्रगमन आदि से असंख्यलाभ पहुंचाते हैं ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद ३३ । ८६ में है ॥

अ॒र्य॒मणं॒ बृह॒स्पति॒मिन्द्रं॒ दाना॑य चोदय ।
वातं॒ विष्णुं॒ सर॑स्वतीं सवि॒तारं॑ च वा॒जिन॑म् ॥ ७ ॥

६—(इन्द्रवायू) ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् । पा०१ । १ । ११। इति उभौ परे प्रकृतिभावः । सूर्यपवनसदृशौ स्त्रीपुरुषौ । (उभौ) द्वौ । (इह इह) अस्मिन्नेव गृहे समाजे वा । (सुहवा) ईषद् दुःसुषु० । पा० ३ । ३ । १२६ । सु+ह्वयतेः—खल् । सुहवौ सुखेन ह्वातुं शक्यौ । (हवामहे) आह्वयामः । (यथा) यस्मात् । (नः) अस्माकम् (इत्) एव । (जनः) लोकः । (संगत्याम्) समितौ । सभायाम् । (सुमनाः) प्रसन्नचित्तः । (असत्, भुवत) लेटि रूपम् । भवेत् । (दानकामः,) दानाय कामः, अभिलाषः ॥

अर्य॒मण॑म् । बृह॒स्पति॑म् । इन्द्र॑म् । दाना॑य । चो॒द॒य॒ ॥ वात॑म् । विष्णु॑म् । सर॑स्वतीम् । स॒वि॒तार॑म् । च॒ । वा॒जिन॑म् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] (अर्यमणम्) वैरियों के रोकनेवाले राजा, (बृहस्पतिम्) बड़े बड़ों के रक्षक गुरु और (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष और (वातम्) पवन, (विष्णुम्) यज्ञ, (च) और (वाजिनम्) वेग वाले, वा अन्नवाले, वा बलवाले (सवितारम्) लोकों के चलाने वाले सूर्य से (सरस्वतीम्) विज्ञानों के भंडार सरस्वती, वेद विद्या को (दानाय) दान के लिये (चोदय) प्रवृत्त कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— ईश्वर भक्त (अर्यमा) राजा वा सेनापति, (बृहस्पति) प्रधान आचार्य और (इन्द्र) दण्डनेता वा कोषाध्यक्ष आदि अधिकारी अपने २ पदों पर दृढ़ रह कर, पवन, सूर्य, अग्नि, जल, पृथिवी आदि अद्भुत पदार्थों द्वारा वेद विज्ञान फैलावें ॥७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद अ० ९ म० २७ में है ॥

मनु महाराज ने लिखा है—मनु० अ० १२ श्लो० १०० ॥

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १ ॥

वेद शास्त्र का जानने वाला पुरुष, सेनापतिके पद, राजा के पद, और दण्ड दाताके पद और सब लोगोंपर आधिपत्य [चक्रवर्त्ति राज्य]के योग्य होताहै॥१॥

७—(अर्यमणम्) म० ३ । अरिनियन्तारम् । (बृहस्पतिम्) म० । बृहतां पालकम् । (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवन्तं पुरुषम् । (दानाय) त्यागाय । (चोदय) नय । प्रवर्त्तय । अस्य धातोः-णीञ् इत्येतेन सह अर्थनिबन्धनायां द्विकर्मकत्वम् । अकथितं च । पा० १ । ४ । ५१ । इति अर्यमणमादीनां सप्तपदानाम् अपादाने कर्मत्वम् । (वातम्) पवनम् । (विष्णुम्) म० ४ । यज्ञम् । (सरस्वतीम्) सरोभिर्विज्ञानैर्युक्तां वेदविद्याम् । (सवितारम्) अ० १ । १८ । २ । लोकानां प्रेरकम् (वाजिनम्) अ० १ । ४ । ४ । वाज-इनि । वेगवन्तम् । अन्नवन्तम् । बलवन्तम् ॥

वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒वे सं ब॑भूवि॒मेमा च॒ विश्वा॒ भुव॑नान्य॒न्तः । उ॒तादि॑त्सन्तं दापयतु प्रजा॒नन् र॒यिं च॑ नः॒ सर्व॑वीरं॒ नि य॑च्छ ॥ ८ ॥

वाज॑स्य । नु । प्र॒-स॒वे । सम् । ब॒भू॒वि॒म । इ॒मा । च॒ । विश्वा॑ । भुव॑नानि । अ॒न्तः ॥ उ॒त । अदि॑त्सन्तम् । दा॒प॒य॒तु॒ । प्र॒-जा॒नन् । र॒यिम् । च॒ । नः॒ । सर्व॑-वीरम् । नि । य॒च्छ॒ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(वाजस्य) बल के (प्रसवे) उत्पत्ति में (नु) ही (संबभूविम) हम समर्थ हुए हैं, (च) और (इमा=इमानि) यह (विश्वा=विश्वानि) सब (भुवनानि) लोक (अन्तः) [उसी के] भीतर हैं । (प्रजानन्) ज्ञानवान् ईश्वर (अदित्सन्तम्) देने की इच्छा न करने वाले से (उत) भी (दापयतु) दिलावे । (च) और [हे ईश्वर] (नः) हमें (सर्ववीरम्) सर्ववीरों से युक्त (रयिम्) धन (नि) नित्य (यच्छ) दे ॥ ८ ॥

भावार्थ—सब चराचर जगत् अन्न के आश्रित ठहरा है । सर्वज्ञ परमेश्वर अदानी पुरुषों को भी सुपात्रों के लिये दान शक्ति देवे, और हमें और हमारे वीरों को धनी बनावे ॥ ८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद १६ । २५ व २४ में है ॥

८—(वाजस्य) बलस्य । (नु) एव । (प्रसवे) ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति प्र+षू प्रेरणे, यद्वा, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने-अप् । उत्पत्तौ । (संबभूविम) भू सत्तायाम्-लिट् । वयं समर्था बभूविम । (इमा) इमानि । परिदृश्यमानानि । (विश्वा) सर्वाणि । (भुवनानि) अ०२ । १ । ४ । भू—क्युन् । लोकाः (अन्तः) वाजप्रसवस्य मध्ये वर्त्तन्ते । (उत) अपि । (अदित्सन्तम्) नञ्+दा, सन्-शतृ । सनि मीमाघुरभ० । पा० ७ । ४ । ५४ । इति इसादेशः । सः स्यार्धधातुके । पा० ७ । ४ । ४६ । इति सस्य तकारः । दातुमनिच्छन्तम् । (दापयतु) दानाय प्रवर्तयतु । (प्रजानन्) अवगच्छन् परमेश्वरः । (रयिम्) धनम् । (नः) अस्मभ्यम् । (सर्ववीरम) सर्ववीरोपेतम् (नि) नियमेन । नित्यम् । (यच्छतु) पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्० पा० ७ । ३ । ७८ । इति दाण् दाने यच्छादेशः । ददातु ॥

दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वीर्यथाबलम्।
प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च ॥ ९ ॥

दुह्राम्। मे। पञ्च। प्र-दिशः। दुह्राम्। उर्वीः। यथा-बलम्। प्र।आपेयम्।सर्वाः।आ-कूतीः। मनसा। हृदयेन।च ॥९॥

भाषार्थ—(पञ्च) फैली हुयी [वा पांच] (प्रदिशः) उत्तम दान क्रियायें [वा प्रधान दिशायें] (मे) मेरे लिये (उर्वीः) फैली हुई शक्तियों को (यथा बलम्) यथाशक्ति (दुह्राम्) भरती रहें, (दुह्राम्) भरती रहें। (मनसा) मन [मनन शक्ति] से (च) और (हृदयेन) हृदय [ग्रहण शक्ति] से (सर्वाः) सब (आकूतीः) संकल्पों को (प्र, आपेयम्) मैं पाता रहूं ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या आदि के दान से अपना सामर्थ्य बढ़ावें और सब दिशाओं से उत्तम गुण प्राप्त करें, तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन [ध्यान देकर विचार] से अपने मनोरथ सिद्ध करें ॥ ९ ॥

९—(दुह्राम् दुह्राम्) दुह प्रपूरणे—लोट्। आत्मनेपदम्। बहुलं छन्दसि। पा० ७। १। ८। इति झप्रत्ययस्य अतो रुडागमः। लोपस्त आत्मनेपदेषु। पा० ७। १। ४१। इति तलोपः। नित्यवीप्सयोः। पा० ८। १। ४। इति द्विर्वचनम्। अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते-निरु० १०। ४२। नित्यं दुहताम्। प्रपूरयन्तु। (पञ्च) अ० १। ३०। ४। पचि विस्तारे—कनिन्। विस्तृताः। संख्यावाची वा। (प्रदिशः) अ० १। ३०। ४। दिश दाने क्विप्। प्रकृष्टा दानक्रियाः। अथवा। प्राच्याद्याश्चतस्रः शिरोबिन्दुश्चेतेति पञ्च प्रदिशः। (उर्वीः) वोतो गुणवचनात्। पा० ४। १। ४४। इति उरु-ङीप्। विस्तीर्णाः शक्तीः। (यथा-बलम्) यथाशक्ति। (प्र, आपेयम्) आप्लृ व्याप्तौ-आशिषि लिङि। अहं प्राप्नवानि। (सर्वाः) समस्ताः। (आकूतीः)। अ० ३। २। ३। संकल्पान्। (मनसा) मननेन। (हृदयेन) अ० २। २६। ६। हृञ् स्वीकारे-कयन्, दुक् च। ग्रहणेन। निदिध्यासनेनेत्यर्थः ॥

गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि।
आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥१०॥

गो-सनिम्। वाचम्। उत्-एयम्। वर्चसा। मा। अभि-उदिहि।
आ। रुन्धाम्। सर्वतः। वायुः। त्वष्टा। पोषम्। दधातु। मे ॥१०॥

भाषार्थ—(गोसनिम्) गोलोक [गौओं वा स्वर्ग] की देने वाली (वाचम्) वाणी को (उदेयम्) मैं बोलूं। [हे ईश्वर!] (वर्चसा) तेज के साथ (मा=माम्) मेरे ऊपर (अभ्युदिहि) सब ओर से उदय हो। (वायुः) प्राण वायु [मुझको] (सर्वतः) सब प्रकार से (आ रुन्धाम्) घेरे रहे। (त्वष्टा) विश्वकर्मा परमेश्वर वा सूर्य (मे) मेरे लिये (पोषम्) पोषण (दधातु) देता रहे ॥१०॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वरके ध्यानसे सत्यवादी और सत्यकर्मी होकर अपने प्राणों को वश में रक्खे और पुरुषार्थी होकर सूर्य से वृष्टि द्वारा अपना पोषण प्राप्त करे ॥ १० ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २१ ॥

१-१० ॥ १-७ अग्नयो देवताः, ८-१० मन्त्रोक्तादेवताः ॥ १-४,

१०—(गोसनिम्) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्। पा० ३। २। २७। इति षणु दाने-इन्। गां धेनुं स्वर्गं वा सनोति ददातीति गोसनिः। गोलोकस्य धेनुसमूहस्य स्वर्गलोकस्य वा दात्रीम्। (वाचम्) वाणीम्। (उदेयम्) लिङ्याशिष्यङ्। पा० ३। १। ८६। इति वद व्यक्तायां वाचि-अङ्। उद्यासम्। (वर्चसा) तेजसा। अन्नेन-निघ० २। ७। (मा) माम्। (अभ्युदिहि) अभितः उद्गच्छ प्राप्नुहि। (आ रुन्धाम्) रुधिर् आवरणे-लोट्। आवृणोतु। आच्छादयतु। (सर्वतः) सर्वाभ्यो दिग्भ्यः। (वायुः) सूत्रात्मा। प्राणः। (त्वष्टा) अ० २। ५। ६। सूक्ष्मकर्ता। विश्वकर्मा परमेश्वरः। सूर्यः। (पोषम्) पुष्टिम्। (दधातु) धारयतु। ददातु। (मे) मह्यम् ॥

७, ८ त्रिष्टुप्; ५ जगती; ६, ९, १० अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरस्य गुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

ये अग्नयो अप्स्व१न्तर्ये वृत्रे ये पुरु॑षे ये अश्म॑सु । ये आ॑विवेशोष॑धीर्यो वनस्पतीं॑स्तेभ्यो॑ अग्निभ्यो॑ हुतम॑स्त्वेतत् ॥१॥

ये । अग्नयः । अप्-सु । अन्तः । ये । वृत्रे । ये । पुरु॑षे । ये । अश्म॑-सु ॥ यः । आ-विवेश॑ । ओष॑धीः । यः । वनस्पतीन् । तेभ्यः॑ । अग्नि-भ्यः॑ । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (अग्नयः) अग्नियां [ईश्वर के तेज] (अप्सु अन्तः) जल के भीतर, (ये) जो (वृत्रे) मेघ में, (ये) जो (पुरुषे) पुरुष [मनुष्य शरीर] में और (ये) जो (अश्मसु) शिलाओं में हैं। (यः) जिस [अग्नि] ने (ओषधीः) ओषधियों [अन्न, सोम लता आदि] में, और (यः) जिसने (वनस्पतीन्) वनस्पतियों [वृक्ष आदि] में (आ विवेश) प्रवेश किया है, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्म समर्पण] (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—इस सूक्त में गुणों के वर्णन से गुणी परमेश्वर का ग्रहण है, अर्थात् जिस परमेश्वर की शक्ति से समुद्र में बड़वानल, मेघ में बिजुली, मनुष्य में अन्न पाचक अग्नि और पत्थर में चकमक, ओषधियों में फलपाक अग्नि आदि अद्भुत उपकारी शक्तियां वर्त्तमान हैं, उनके प्रेरक परमेश्वर को हमारा प्रणाम है ॥ १ ॥

१—(अग्नयः) ईश्वरतेजांसि । (अप्सु) उदकेषु । (अन्तः) मध्ये । (वृत्रे) अ० २ । ५ । ३ । वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा-निरु० २ । १७ । मेघे-निघ० १ । १० । (पुरुषे) अ० १ । १६ । ४ । मानुषशरीरे । (अश्मसु) अ० १ । २ । २ । पाषाणशिलासु । (आविवेश) प्रविष्टवान् । (ओषधीः) व्रीहियवादिरूपाः । (वनस्पतीन्) अ० १ । १२ । ३ । सेवकरक्षकान् । वृक्षान् । (हुतम्) हु दानेक । हविः । आत्मसमर्पणम् ॥

यः सोमे॑ अ॒न्तर्यो गोष्व॒न्तर्य आवि॑ष्टो॒ वयः॑सु॒ यो मृ॒गेषु॑। य आवि॒वेश॑ द्वि॒पदो॒ यश्चतु॑ष्पद॒स्तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑ हुतम॑स्त्वे॒तत् ॥ २ ॥

यः । सोमे॑ । अ॒न्तः । यः । गोषु॑ । अ॒न्तः । यः । आ-वि॑ष्टः । वयः॑-सु । यः । मृ॒गेषु॑ ॥ यः । आ-वि॒वेश॑ । द्वि॒-पदः॑ । यः । चतुः॑-पदः । तेभ्यः॑ । अ॒ग्नि-भ्यः॑ । हु॒तम् । अ॒स्तु । ए॒तत् ॥२॥

भाषार्थ—(यः) जो [अग्नि] (सोमे) सोम [चन्द्र, अमृत वा दूध, घी, आदि] के (अन्तः) भीतर, (यः) जो (गोषु अन्तः) गौ आदि पालतू पशुओं में, (यः) जो (वयःसु) पक्षियों में और (यः) जो (मृगेषु) बनैले जीवों में (आविष्टः) प्रविष्ट है, और (यः) जिसने (द्विपदः) दोपायों, और (यः) जिसने (चतुष्पदः) चौपायों में (आविवेश) प्रवेश किया है, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्म-समर्पण] (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—जो अग्नि चन्द्रमा में सूर्य से है और जो सोमलता वा दूध आदि में रस पकाकर पौष्टिक बनाता है, और जो प्राणियों में वेग, बलवत्ता, जंगलीपन, और अन्य विशेषता का कारण है, उस अग्नि के संयोजक, वियोजक परमात्मा को हमारा नमस्कार है ॥ २ ॥

य इन्द्रे॑ण स॒रथं॒ याति॑ दे॒वो वै॑श्वान॒र उ॒त वि॑श्वदा॒व्यः। यं जोह॑वीमि॒ पृत॑नासु सास॒हिं तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑ हु॒तम॑स्त्वे॒तत् ॥ ३ ॥

२—(यः) अग्निः । (सोमे) चन्द्रे । अमृते । सोमलतादुग्धघृतादौ । (अन्तः) मध्ये । (गोषु) ग्राम्यपशुषु । (आविष्टः) प्रविष्टः । (वयः सु) पक्षिषु । (मृगेषु) अ० २ । ३६ । ४ । आरण्यपशुषु । (आविवेश) म०१ (द्विपदः) अ० २ । ३४ । १ । पादद्वययुक्तान् मनुष्यादीन् । (चतुष्पदः) अ० २ । ३४ । १ । पादचतुष्टयोपेतान् प्राणिनः । अन्यद् गतम् ॥

यः । इन्द्रेण । स-रथम् । याति । देवः । वैश्वानरः । उत । विश्व-दाव्यः । यम् । जोहवीमि । पृतनासु । सासहिम् । तेभ्यः । अग्नि-भ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (देवः) प्रकाशमान वा जय चाहने वाला, [अग्नि] (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् शूर के साथ (सरथम्) एक रथ पर चढ़कर (याति) चलता है. और [जो हमारे] (वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी, (उत) और [जो शत्रु का] (विश्वदाव्यः) सब कुछ जलाने वाला है. और (यम्) जिस (सासहिम्) विजयी [अग्नि] को (पृतनासु) संग्रामों में (जोहवीमि) वार-वार आवाहन करता हूं. (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के तेज को हृदय में धारण करके साहसी शूर आग्नेय अस्त्र शस्त्रधारी सेना के द्वारा शत्रुओं को शीघ्र जीत लेता है, उस जगदीश्वर को हमारा नमस्कार है ॥ ३ ॥

यो देवो विश्वाद् यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः । यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ४ ॥

३—(यः) अग्निः । (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवता शूरेण । (सरथम्) समानरथम् । एकरथमारुह्य । (याति) गच्छति । (देवः) दीप्यमानः । विजिगीषुः । (वैश्वानरः) अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहितः । (विश्वदाव्यः) दुन्योरनुपसर्गे । पा० ३ । १ । १४२ । इति दु उपतापे-णः । दावः=उपतापः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । इति यत् । शत्रूणां सर्वोपतापने साधुः । सर्वदाहकुशलः । (जोहवीमि) अ० २ । १२ । ३ । पुनः पुनराह्वयामि । (पृतनासु) पृपतिभ्यां तनन् । उ०३।१५०। इति पृङ् व्यायामे-तनन्,स च कित् । टाप् । संग्रामेषु-निघ० २ । १७ । (सासहिम्) अ० ३ । १८ । ५ । सासहिम् । अभिभवितारम् । अन्यद् गतम् ॥

यः । देवः । विश्व-अत् । यम् । ऊं इति । कामम् । आहुः । यम् । दातारम् । प्रति-गृह्णन्तम् । आहुः ॥ यः । धीरः । शक्रः । परि-भूः । अदाभ्यः । तेभ्यः । अग्नि-भ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (देवः) प्रकाशमान अग्नि [बैरियों में] (विश्वात्) सब का खाने वाला है, (यम्) जिसको (उ) ही (कामम्) कमनीय वा कामना पूरी करने वाला (आहुः) लोग कहते हैं, (यम्) जिसको (दातारम्) देने वाला और (प्रतिगृह्णन्तम्) लेने वाला (आहुः) बताते हैं। (यः) जो (धीरः) पुष्टि करने वाला, (शक्रः) शक्तिमान् (परिभूः) सर्वव्यापक और (अदाभ्यः) न दबने योग्य है, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥४॥

भावार्थ—जिस परमात्मा को विद्वान् लोग आनन्द दाता और प्रार्थना का मानने वाला जानते हैं, और जिसके ध्यान से पुरुषार्थी लोग शत्रुओं को जीतते हैं, उसको हमारा प्रणाम है ॥ ४ ॥

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः। वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥५॥

४—(देवः) प्रकाशमानोऽग्निः । (विश्वात्) अदोऽनन्ने । अ० ३ । २ । ६८ । इति विश्व+अद भक्षणे-विट् । शत्रूणां सर्वभक्षकः । (कामम्) कमु इच्छायाम्-घञ् । कमनीयम् । कामयितारम् । (आहुः) ब्रूञ्-लट् । ब्रुवन्ति । (दातारम्) इष्टफलस्य प्रदातारम् । (प्रतिगृह्णन्तम्) ग्रह-शतृ । प्रार्थनायाः स्वीकर्तारम् । (धीरः) अ० २ । ३५ । ३ । धाञ्-क्रन्, ईत्वम् । दधाति पोषयतीति । धारकः । पोषकः । (शक्रः) अ० २ । ५ । ४ । शक्तिमान् । (परिभूः) परि+भू सत्तायाम्, प्राप्तौ-क्विप् । सर्वव्यापकः । (अदाभ्यः) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति दम्भु दम्भे-ण्यत् । दभ्नोति वधकर्मा-निघ० २ । १६ । अहिंस्यः । अजेयः ॥

यम् । त्वा । होतारम् । मनसा । अभि । सम्-विदुः । त्रयः-दश । भौवनाः । पञ्च । मानवाः ॥ वर्चः-धसे । यशसे । सूनृता-वते । तेभ्यः । अग्नि-भ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(त्रयोदश) तेरह [दो कान, दो नथने, दो आंखें और एक मुख यह सात शिर के, और दो हात, दो पग, एक उपस्थेन्द्रिय, और एक गुदास्थान, यह छः शिर के नीचे के] (भौवनाः) भुवनों से संबन्ध वाले प्राणी, और (पञ्च) पांच [पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पांच तत्त्व] से संबन्ध वाले (मानवाः) मनुष्य (मनसा) मनन शक्ति से (वर्चोधसे) तेज धारण करानेवाले और (सूनृतावते) प्रिय सत्य वाणी वाले (यशसे) यश के लिये (यम्) जिस (त्वा) तुझ [अग्नि] को (होतारम्) दानी (अभि) सब प्रकार (संविदुः) ठीक ठीक जानते हैं, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥ ५ ॥

५—(यम् । त्वा) अग्निम् । (होतारम्) दातारम् । मनसा । मननेन । चित्तेन । (अभि) अभितः सर्वतः । (संविदुः) विद ज्ञाने-लट् । सम्यग् विदन्ति जानन्ति । (त्रयोदश) त्रयश्च दश च । सप्त शीर्षण्याः षड् अधोभागस्थाः पाणिपादोपस्थगुदावयवाः । (भौवनाः) भू सत्तायाम्-क्युन् , इति भुवनम् । अ० २ । १ । ३ । भुवन—अण् । भुवनानि भवनानि गृहाणि इन्द्रियाणि येषां ते भौवनाः प्राणिनः । (पञ्च, मानवाः) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति मनु-अण् । मनुर्मननं येषां ते मानवाः । पञ्चभूतसम्बन्धिनो मनुष्याः । अथवा, पञ्च-मानवा एव पञ्चजनाः । पञ्चजनाः, मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । पञ्चजनाः... गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवो निषादः कस्मान्निषदनमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः—निरु० ३ । ८ । (वर्चोधसे) दधातेरसुन् । तेजसां दात्रे । (यशसे) अशेर्देवने युट् च । उ० ४ । १९१ । इति अशू व्याप्तौ—असुन् , युडागमश्च, देवनं स्तुतिः । यशःप्राप्तये । (सूनृतावते) अ० ३ । १२ । २ । प्रियसत्यात्मिका वाक् सूनृता, तद्वते । एवंभूताय यशसे । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—सब शरीरधारी उस परमपिता की महिमा विचार पूर्वक गाकर तेजस्वी, सत्यवादी और यशस्वी होते हैं, उसको यह हमारा नमस्कार है ॥ ५ ॥

(पञ्च मानवाः) शब्द [पञ्च जनाः] शब्द का पर्यायवाची है जिस का अर्थ "मनुष्य" है-निघ० २ । ३ । उसकी व्याख्या, निरु० ३ । ८ में इस प्रकार की है "पञ्चजनाः...गन्धर्व, पितृ,देव,असुर, और राक्षस, ऐसा कोई २ मानते हैं,चारों वर्ण और निषाद पांचवां, यह औपमन्यव ऋषि का मत है, निषाद किस लिये, इस में पाप स्थित है ॥

उ॒क्षान्ना॑य व॒शान्ना॑य॒ सोम॑पृष्ठाय वे॒धसे॑ । वै॒श्वा॒न॒र-ज्ये॑ष्ठेभ्य॒स्तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑ हु॒तम॑स्त्वे॒तत् ॥ ६ ॥

उ॒क्ष-अ॑न्नाय । व॒शा-अ॑न्नाय । सोम॑-पृष्ठाय । वे॒धसे॑ ॥ वै॒श्वा॒न॒र-ज्ये॑ष्ठेभ्यः । तेभ्यः॑ । अ॒ग्नि-भ्यः॑ । हु॒तम् । अ॒स्तु॒ । ए॒तत् ॥ ६ ॥

भावार्थ—(उक्षान्नाय) प्रबलों के अन्न दाता, (वशान्नाय) वशीभूत, निर्बल प्रजाओं के अन्न दाता, (सोमपृष्ठाय) अमृत सींचने वाले और (वेधसे) उत्पन्न करने वाले, (तेभ्यः) उन [चार प्रकार के] (वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः) सब नरों के हितकारी [परमेश्वर] को प्रधान रखने वाले (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे॥६॥

६—(उक्षान्नाय) श्वनुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति उक्ष सेचने, वृद्धौ च-कनिन् । उक्षा महन्नाम-निघ० ३ । ३ । उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः । निरु० १२ । ६ । कृवृजॄसिद्रुपन्यनि० । उ० ३ । १० । इति अन प्राणने-न । इति अन्नम् । उक्षभ्यो महद्भ्यः प्रबलेभ्योऽन्नं यस्मात् तस्मै । प्रबलानां भोजनदात्रे । (वशान्नाय) वशिरण्योरुपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । ३ । ५८ । इति वश स्पृहायाम्—अप्,टाप् । वशाभ्यो वशीभूताभ्यः प्रजाभ्योऽन्नं यस्मात् तस्मै । निर्बलप्रजानां भोजनदात्रे । (सोमपृष्ठाय) तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः । उ० २ । १२ । इति पृषु सेचने-थक् । अमृतसेचकाय । (वेधसे) अ० ११ । १ । विधात्रे । विधानकर्त्रे (वैश्वानर-ज्येष्ठेभ्यः) वैश्वानर इति व्याख्यातम्—अ० १ । १० । ४ । विश्वनरहितः परमेश्वरो ज्येष्ठो वृद्धः प्रधानो येषां तेभ्यः । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—जिस (वैश्वानर) सब मनुष्य आदि के हितकारी परमेश्वर की शक्ति से सब प्राणी पुष्ट होते हैं, उसको हमारा नमस्कार है ॥ ६ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋग्वेद ८ । ४३ । ११ में है ।

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति । ये दिक्ष्व१न्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ७ ॥

दिवम् । पृथिवीम् । अनु । अन्तरिक्षम् । ये । वि-द्युतम् । अनु- संचरन्ति ॥ ये । दिक्षु । अन्तः । ये । वाते । अन्तः । तेभ्यः । अग्नि-भ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [तेज] (दिवम्) सूर्य लोक में, (पृथिवीम्) पृथिवी में और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में (अनु) लगातार और (विद्युतम्) बिजुली में (अनुसंचरन्ति) लगातार चलते रहते हैं, (ये) जो (दिक्षु अन्तः) दिशाओं के भीतर और (ये) जो (वाते अन्तः) पवन के भीतर हैं, (तेभ्यः) उन (अग्निभिः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के तेज सब लोकों, सब पदार्थों और सब दिशाओं में हैं, उस जगदीश्वर को हमारा नमस्कार है ॥ ७ ॥

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम् । विश्वान् देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥ ८ ॥

हिरण्य-पाणिम् । सवितारम् । इन्द्रम् । बृहस्पतिम् । वरु-

७—(दिवम्) सूर्य लोकम् । (पृथिवीम्) भूमिम् । (अनु) अनुप्रविश्य । (ये) अग्नयः । (विद्युतम्) अ० १ । १३ । १ । विद्योतमानां तडितम् । (अनुसंचरन्ति) अनुप्रविश्य सम्यग् गच्छन्ति व्याप्नुवन्ति । अन्यद् गतम् ॥

णम् । मि॒त्रम् । अ॒ग्निम् ॥ विश्वा॑न् । दे॒वान् । अङ्गि॑रसः । हु॒वा॒म॒हे॒ । इ॒मम् । क्र॒व्य॒-अद॑म् श॒म॒य॒न्तु॒ । अ॒ग्निम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(हिरण्यपाणिम्) सूर्य आदि तेजों से स्तुति किये हुए (सवितारम्) सब के प्रेरक (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्य वाले (बृहस्पतिम्) बड़े लोकों के रक्षक (वरुणम्) सब में श्रेष्ठ, (मित्रम्) हितकारी (अग्निम्) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर से (विश्वान्) सब (देवान्) विजय कराने वाले (अङ्गिरसः) ज्ञानों वा पुरुषार्थों को (हवामहे) हम मांगते हैं, (इमम्) इस (क्रव्यादम्) मांस खाने वाले (अग्निम्) अग्नि [समान दुःख] को (शमयन्तु) वे शान्त करदें ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर के अनुपम गुणों का अनुभव करके पुरुषार्थी बनें और अग्नि समान तापकारी और शरीर शोषक दुःखों का नाश करें ॥८॥

शान्तो॑ अ॒ग्निः क्र॒व्याच्छा॒न्तः पु॑रुष॒रेष॑णः ।
अथो॒ यो वि॑श्व॒दा॒व्य१॒॑स्तं क्र॒व्याद॑मशीशमम् ॥९॥

शान्तः । अ॒ग्निः । क्र॒व्य॒-अत् । शान्तः । पु॒रु॒ष॒-रेष॑णः ॥ अथो॒ इति॑ । यः । वि॒श्व॒-दा॒व्यः॑ । तम् । क्र॒व्य॒-अद॑म् । अ॒शी॒श॒म॒म् ॥ ९ ॥

८—(हिरण्यपाणिम्) हिरण्यम्—इति व्याख्यातम् । अ० १ । ६ । २ । अशि-पणाय्योरुडायलुकौ च । उ० ४ । १३३ । इति पण व्यवहारे, पन स्तुतौ च—इण् । इति पाणिः । हिरण्यपाणिम्—हिरण्यानि सूर्यादीनि तेजांसि पाणौ स्तवने यस्य तम्—इति दयानन्दभाष्ये य० २२ । १० । (सवितारम्) सर्वप्रेरकम् (इन्द्रम) परमैश्वर्यवन्तम् । (बृहस्पतिम्) बृहतां लोकानां रक्षकम् । (वरुणम्) वरणीयम् । (मित्रम्) स्नेहिनम् । (अग्निम्) ज्ञानस्वरूपं परमेश्वरम् । (देवान्) विजिगीषून् । (अङ्गिरसः) अ० २ । १२ । ४ । अगि गतौ-भावे इसि, रुट् च । ज्ञानानि । पुरुषार्थान् । (हवामहे) आह्वयामः । याचामहे । द्विकर्मकत्वात् अग्निम्—इत्यस्य, अङ्गिरसः — इत्यस्य च कर्मत्वम् । (क्रव्यादम्) क्रव्ये च । पा० ३ । २ । ६९ । इति अदेर्विट् । मांसभक्षकम् । (शमयन्तु) शान्तं कुर्वन्तु । (अग्निम्) अग्निवत्तापकं दुःखम् ॥

भाषार्थ—(क्रव्यात्) मांस खाने वाला (अग्निः) अग्नि [समान तापकारी दुःख] (शान्तः) शान्त हो, (पुरुषरेषणः) पुरुषों का सताने वाला [कष्ट] (शान्तः) शान्त हो, । (अथो) और भी (यः) जो (विश्वदाव्यः) सब [सुखों] का जलाने वाला है (तम्) उस (क्रव्यादम्) मांस खाने वाले [अग्निरूप दुःख] को (अशीशमम्) मैंने शान्त करदिया है ॥ ६ ॥

भवार्थ—दूरदर्शी पुरुष विघ्नों को हटाकर आप सुखी रहते और सब को सुखी रखते हैं ॥ ६ ॥

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥१०॥

ये । पर्वताः । सोम-पृष्ठाः । आपः । उत्तान-शीवरीः ॥ वातः। पर्जन्यः। आत् । अग्निः। ते । क्रव्य-अदम् । अशी-शमन्॥१०॥

भाषार्थ—(ये) जो (पर्वताः) पहाड़ (सोमपृष्ठाः) सोम [अमृत-अर्थात् ओषधि वा जल] को पीठ पर रखने वाले हैं,[उन्होंने और] (उत्तानशीवरीः—०—वर्यः) ऊपर को मुख करके सोने वाले [सूर्य की ओर चढ़ने वाले] (आपः) जल, (वातः) पवन, (पर्जन्यः) मेघ, (आत्) और (अग्निः)

६—(शान्तः) सुखकरः । (अग्निः) अग्निवत्तापकरं दुःखम् । (क्रव्यात्) म० ८ । मांसभक्षकः । (पुरुषरेषणः) रिष बधे—ल्युट् । पुरुषहिंसकः । (विश्वदाव्यः) म० ३ । सर्वसुखनाशनसमर्थः । (अशीशमम्) शमु उपशमे—ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । अहं शान्तं कृतवान् । अन्यद् गतम् ॥

१०—(पर्वताः) पर्व पूर्तौ—अतच् । शैलाः । (सोमपृष्ठाः) सोमः, अमृतम् ओषधिर्जलं वा पृष्ठे उपरिभागे येषां ते तथाभूताः । (आपः) जलानि । (उत्तानशीवरीः) उत्+तनु विस्तारे—घञ् । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति शीङः क्वनिप् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । इति ङीप्रेफौ । वा

अग्नि, (ते) उन सब ने (क्रव्यादम्) मांस भक्षक [अग्नि रूप दुःख] को (अशीशमन्) शान्त कर दिया है ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि सोमलता आदि औषध उत्पन्न करने वाले पर्वत, जल, वायु, मेघ, अग्नि आदि सब पदार्थ शुद्ध रहकर सुखदायक होवें ॥ १० ॥

सूक्तम् २२ ॥

१-६ ॥ विश्वे देवा देवताः । १, ३ त्रिष्टुप्, २, ४-६ अनुष्टुप्॥

कीर्त्तिप्राप्त्युपदेशः—कीर्ति पाने के लिये उपदेश ॥

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः सम्बभूव । तत् सर्वे समदुर्मह्यमेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥ १ ॥

हस्ति-वर्चसम् । प्रथताम् । बृहत् । यशः । अदित्याः । यत् । तन्वः । सम्-बभूव ॥ तत् । सर्वे । सम् । अदुः । मह्यम् । एतत् । विश्वे । देवाः । अदितिः । स-जोषाः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(हस्तिवर्चसम्) हाथी के बल से युक्त (बृहत्) बड़ा (यशः) यश (प्रथताम्) फैले, (यत्) जो (अदित्याः) अदीन वेद वाणी वा प्रकृति के

छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्व सवर्णदीर्घः । ऊर्ध्वमुखशयाः । सूर्यभिमुखवर्त्तमानाः । (वातः) वायुः । (पर्जन्यः । सेचको मेघः । (आत्) अपि च । (अग्निः) पावकः । (क्रव्यादम्) मांसभक्षकं रोगम् । (अशीशमन्) शमु णिच्, लुङि । शान्तं कृतवन्तः ॥

१—(हस्तिवर्चसम्) हस्ताज्जातौ । पा० ५ । २ । १३३ । इति हस्त-इनि । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति वर्चस्—अच् मत्वर्थे । गजस्य बलयुक्तम् । (प्रथताम्) प्रथ प्रख्याने—लोट् । प्रख्यातं भवतु । (बृहत्) महत् । (यशः) कीर्त्तिः । (अदित्याः । अ० २ । २८ । ४ । अदितिः, वाक्—निघ० १।११।

(तन्वः) विस्तार से (संबभूव) उत्पन्न हुआ है, (तत्) सो (एतत्) यह [यश] (मह्यम्) मुझको (सजोषाः) समान प्रीति वाली (अदितिः) अखण्ड वेद वाणी वा प्रकृति और (विश्वे) सब (देवाः) प्रकाशमान गुणों ने (सर्वे) सर्वव्यापक विष्णु भगवान् में (सम्) ठीक प्रकार से (अदुः) दिया है ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद विद्या और प्रकृति के यथावत् ज्ञान से, जिस सब का केन्द्र परमेश्वर है, हाथी आदि का सामर्थ्य पाकर यशस्वी होता है। म० ६ देखो ॥

भगवान् पतञ्जलि का वचन है, योगदर्शन, पाद ३ सूत्र २३ ।

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ १ ॥

बलों में [संयम करने से] हाथी के से बल होजाते हैं ॥

मि॒त्रश्च॒ वरु॑णश्चेन्द्रो॑ रु॒द्रश्च॑ चेततु ।
दे॒वासो॑ वि॒श्वधा॑यस॒स्ते मा॑ञ्जन्तु॒ वर्च॑सा ॥ २ ॥

मि॒त्रः । च॒ । वरु॑णः । च॒ । इन्द्रः॑ । रु॒द्रः । च॒ । चे॒त॒तु॒ ॥
दे॒वासः॑ । वि॒श्व-धा॑यसः । ते । मा॒ । अ॒ञ्ज॒न्तु॒ । वर्च॑सा ॥२॥

भाषार्थ—(मित्रः) सब का मित्र, (च) और (वरुणः) अति श्रेष्ठ, (च) और (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् (च) और (रुद्रः) ज्ञान दाता वा दुःखनाशक

अदीनाया वेदवाण्याः प्रकृतेर्वा । (यत्) यशः । (तन्वः) म० १ । १ । १ । १ । शरीरात् । विस्तृतेः । (संबभूव) उत्पन्नमभवत् । (सर्वे) सर्वनिघृष्व० । उ० १ । १५३ । इति सृ गतौ–वन्, यद्वा । सर्व गतौ–अच् । सरति सर्वति वा गच्छति व्याप्नोतीति सर्वः, शिवः, विष्णुः । तस्मिन् व्यापके परमेश्वरे । (सम्) सम्यक् । (अदुः) दाओ लुङ् । दत्तवन्तः । (मह्यम्) मदर्थम् । (विश्वे) सर्वे । (देवाः) दिव्यगुणाः । (अदितिः) अदीना, अखण्डिता वा वेदवाणी प्रकृतिर्वा । (सजोषाः) समान+जुषी प्रीतिसेवनयोः—असुन् । समानप्रीतिः ॥

२—(मित्रः) सर्वप्रेरकः । सर्वहितकारी । (वरुणः) वरणीयः । श्रेष्ठः । (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् । (रुद्रः) म० २ । २७ । ६ । रुत्–र । ज्ञानदाता । दुःख-

परमेश्वर (चेततु) चेताता रहे, और (ते) वे [प्रसिद्ध] (विश्वधायसः) सब जगत् के पोषण करने वाले (देवासः=देवाः) दिव्य पदार्थ [पृथिवी,जल, वायु, तेज, आकाश आदि] (मा) मुझको (वर्चसा) तेज वा बल से (अञ्जन्तु) कान्ति वाला करें ॥ २ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष परमेश्वर की महिमा को जानें और विज्ञान पूर्वक सब पदार्थों से उपकार लेकर तेजस्वी और यशस्वी होवें ॥ २ ॥

येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्येष्वप्स्व-१न्तः । येन देवा देवतामग्र आयन् तेन मामद्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु ॥ ३ ॥

येन । हस्ती । वर्चसा । सम्-बभूव । येन । राजा । मनुष्येषु । अप्-सु । अन्तः ॥ येन । देवाः । देवताम् । अग्रे । आयन् । तेन । माम् । अद्य । वर्चसा । अग्ने । वर्चस्विनम् । कृणु ॥३॥

भाषार्थ—(येन) जिस (वर्चसा) तेज से (हस्ती) हाथी, और (येन) जिस [तेज] से (राजा) ऐश्वर्यवान् राजा (मनुष्येषु) मनुष्यों और (अप्सु अन्तः) जल और अन्तरिक्ष के भीतर (संबभूव) पराक्रमी हुआ है। और

नाशकः परमेश्वरः । (चेततु) चिती ज्ञाने । चेतयतु । (देवासः) असुगागमः । पृथिव्यादिदेवाः । (विश्वधायसः) वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि । उ० ४ । २२१ । इति विश्व+दधातेरसुन् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति युक् । सर्वस्य जगतो धातारः पोषयितारः । (ते) प्रसिद्धाः । (अञ्जन्तु) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । प्रकाशयन्तु । संयोजयन्तु । (वर्चसा) तेजसा । बलेन॥

३—(हस्ती) म० १ । गजः । (वर्चसा) तेजसा । (संबभूव) समर्थो बभूव । (राजा) राजति ईष्टे स राजा । ऐश्वर्यवान् पुरुषः । (मनुष्येषु) अ० ३ । ४ । ६ । मनु-यत्, षुगागमः । मननशीलेषु । स्थलप्राणिषु,इत्यर्थः । (अप्सु) उदकेषु -निघ० १ । १२ । अन्तरिक्षे-निघ० १ । ३ । (अन्तः) मध्ये । (देवाः)

(येन) जिस [तेज] से (देवाः) देवताओं [महात्मा पुरुषों] ने (अग्रे) पहिले काल में (देवताम्) देवतापन (आयन्) पाया है, (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप जगदीश्वर ! (तेन वर्चसा) उस तेज से (माम्) मुझ को (अद्य) आज (वर्चस्विनम्) तेजस्वी (कृणु) कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष हाथी आदि पशुओं, और पूर्वज शूर वीर ऋषि महात्माओं के बुद्धिबल का अनुभव करके (अद्य) आज अर्थात् शीघ्र उपाय से जल, थल, और आकाश में, (अग्नि) परमेश्वर की भक्ति के साथ, अपनी गति बढ़ावें और अग्नि के समान तेजस्वी होकर संसार में कीर्त्तिमान् होवें ॥ ३ ॥

योगीश्वर पतञ्जलि का वचन है-योगदर्शन, समाधिपाद १ सूत्र २१ ॥

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥

[समाधि लाभ] उग्र अच्छे वेग वालों के समीप होता है ॥

यत् ते वर्चो जातवेदो बृहद् भवत्याहुतेः ।
यावत् सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः ।
तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ४ ॥

यत् । ते । वर्चः । जात-वेदः । बृहत् । भवति । आ-हुतेः ॥ यावत् । सूर्यस्य । वर्चः । आसुरस्य । च । हस्तिनः ॥ तावत् । मे । अश्विना । वर्चः । आ । धत्ताम् । पुष्कर-स्रजा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस कारण से (जातवेदः) उत्पन्न संसार के

विजिगीषवो महात्मानः । (देवताम्) देवत्वम् । माहात्म्यम् । (अग्रे) पूर्वकाले । (आयन्) इण् गतौ—लङ् । प्राप्नुवन् । (माम्) उपासकम् । (अद्य) अ० १ । १ । १ । अस्मिन् दिने । तत्कालम् । (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् । (वर्चस्विनम्) तेजस्विनम् । (कृणु) कुरु ॥

४—(यत्)यस्मात् कारणात् । (ते) तुभ्यम् । (वर्चः) तेजः । बलम् । (जात-

ज्ञान वाले परमेश्वर ! (ते) तेरे लिये (आहुतेः) आहुति [आत्मदान] से [हमारा] (वर्चः) तेज (बृहत्) बड़ा (भवति) होता है, (यावत्) जितना (वर्चः) तेज वा बल (आसुरस्य) प्राणियों वा मेघों के हितकारक (सूर्यस्य) सूर्य का (च) और (हस्तिनः) हाथी का है, (तावत्) उतना (वर्चः) तेज वा बल (मे) मेरे लिये (पुष्करस्रजा—०—जौ) पोषण देने वाले (अश्विना=०—नौ) माता पिता वा सूर्य्य चन्द्रमा (आधत्ताम्) सब प्रकार देवें ॥ ४॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष माता पिता की सुशिक्षा और सूर्यचन्द्रमा के समान नियम से परमेश्वर की आज्ञा पालनमें मन लगाकर अपना बल बढ़ावें और सूर्य आदि दूरस्थ और हाथी आदि पृथिवीस्थ पदार्थों का बल, विज्ञान द्वारा जानकर उन्नति करें ॥ ४ ॥

याव॒च्चत॑स्रः प्र॒दिश॒श्चक्षु॒र्याव॑त् सम॒श्नुते॑ ।
ताव॑त् स॒मैत्वि॑न्द्रि॒यं मयि॒ तद्ध॑स्तिवर्च॒सम् ॥५॥

याव॑त् । चत॑स्रः । प्र॒-दिशः॑ । चक्षुः॑ । याव॑त् । स॒म्-अ॒श्नुते॑ ।
ताव॑त् । स॒म्-ऐतु॑ । इ॒न्द्रि॒यम् । मयि॑ । तत् । ह॒स्ति॒-व॒र्च॒सम् ॥५॥

वेदः) अ० १ । ७ । २ । हे जातस्य उत्पन्नस्य संसारस्य ज्ञातः परमेश्वर ! (बृहत्) महत् । (आहुतेः) दानात् । आत्मसमर्पणात् । (यावत) अ० ३ । १५ । ३ । यत्परिमाणम् । (सूर्यस्य) आदित्यस्य । (आसुरस्य) असुर इति व्याख्यातम् अ० १ । १० । १ । असुः प्राणः—रो मत्वर्थीयः । असुरः प्राणी, ततो अण् प्रत्ययः। प्राणिभ्यो हितस्य । यद्वा, असुरो मेघः-निघ०१।१० । तेभ्यो हितस्य । (हस्तिनः) गजस्य । (तावत्) तत्परिमाणम् । (मे) मह्यम । (अश्विना) अ० २ । २६ । ६ । मातापितरौ । सूर्याचन्द्रमसौ । (आ धत्ताम्) समन्तात् स्थापयताम् । प्रयच्छताम् (पुष्करस्रजौ) पुषः कित् । उ०४ । ४ । इति पुष पोषणे-करन् । पुष्णातीति पुष्करम् । ऋत्विग्दधृक्- सृग० पा० ३ । २ । ५६ । इति सृज त्यागे=दाने—क्विन् । पोषणदातारौ ॥

भाषार्थ—(यावत्) जितनी दूर (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) महादिशायें हैं, और (यावत्) जितनी दूर (चक्षुः) आंख [दर्शन शक्ति] (समश्नुते) फैलती है. (तावत्) वहां तक (मयि) मुझ में (तत्) वह (हस्तिवर्चसम्) हाथी के बल वाला (इन्द्रियम्) परम ऐश्वर्य (समैतु) आकर मिले ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब पार्थिव और दिव्य पदार्थों के यथावत् ज्ञान से सामर्थ्य बढ़ाकर उन्नति करें॥ ५ ॥

हुस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि ।
तस्य भगेन वर्चसाभि षिञ्चामि मामहम् ॥ ६ ॥

हुस्ती । मृगाणाम् । सु-सदाम् । अतिस्था-वान् । बभूव । हि ॥
तस्य । भगेन । वर्चसा । अभि । सिञ्चामि । माम् । अहम् ॥६॥

भाषार्थ—(हि) क्योंकि (सुषदाम्) सुख से चढ़ने योग्य (मृगाणाम्) पशुओं में (हस्ती) हाथी (अतिष्ठावान्) प्रतिष्ठावाला (बभूव) हुआ है, (तस्य) उसके (भगेन) सेवनीय (वर्चसा) कान्ति से (अहम्) मैं (माम्)अपने को (अभिषिञ्चामि) भले प्रकार सींचूं [शुद्ध करूं] ॥ ६ ॥

५—(चतस्रः) चतुः संख्याकाः । (प्रदिशः) महादिशः । (चक्षुः) अ० १ । ३३ । ४ । नेत्रम् । दर्शनसामर्थ्यम् । (समश्नुते) सम्यग् व्याप्नोति (समैतु)सम्+आ एतु । सम्यग् आगच्छतु । (इन्द्रियम्) अ०१ । ३५ । ३ । इन्द्र-घच् । इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य लिङ्गम् । परमैश्वर्यम् । (मयि) ईश्वभक्ते । (तत्] प्रसिद्धम् । (हस्तिवर्चसम्) म० १ । गजस्य बलयुक्तम् ॥

६—(हस्ती) गजः । (मृगाणाम्) पशूनां मध्ये । (सुषदाम्) अ० ३ । १४ । १ । सुखेन सदनयोग्यानाम् । (अतिष्ठावान्) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । १ । १०६ । इति अति+ष्ठा—अङ्, टाप्, मतुप् । प्रतिष्ठावान् । (हि) यस्मात् कारणात् । (तस्य) गजस्य । (भगेन) भजनीयेन । सेवनीयेन । (वर्चसा) तेजसा । (अभि) सर्वतः । (सिञ्चामि) शोधयामि । (माम्) आत्मानम् । (अहम्) उपासकः ॥

भावार्थ—जैसे हाथी में अन्य पशुओं से अधिक बुद्धिबल होता है, वैसे ही प्रधान पुरुष अन्य पुरुषों से अधिक बुद्धिबल वाला होवे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २३ ॥

१—६ ॥ माता देवता । १—४ अनुष्टुप्, ५ पङ्क्तिः, ६ पूर्वार्धस्त्रिष्टुप्, उत्तरार्धोऽनुष्टुप् ।

वीरसन्तानोत्पादनोपदेशः—वीर सन्तान उत्पन्न करने के उपदेश ॥

येन॑ वे॒हद्ब॒भूवि॑थ ना॒शया॑मसि॒ तत् त्वत् ।
इ॒दं तद॒न्यत्र॒ त्वदप॑ दू॒रे नि द॑ध्मसि ॥ १ ॥

येन॑ । वे॒हत् । ब॒भूवि॑थ । ना॒शया॑मसि । तत् । त्वत् ॥ इ॒दम् । तत् । अ॒न्यत्र॑ । त्वत् । अप॑ । दू॒रे । नि । द॒ध्म॒सि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री] (येन) जिस कारण से तू (वेहत्) बन्ध्या [बांझ] (बभूविथ) हुई है, (तत्) उस कारण को (त्वत्) तुझ से (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं । (इदम्=इदानीम्) अभी (तत्) उसको (त्वत्) तुझ से (अन्यत्र) और कहीं (दूरे) दूर (अप=अपहृत्य) हटाकर (नि दध्मसि=०-ध्मः) हम रखते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य पुत्रेष्टि यज्ञ करके ओषधि द्वारा बांझपन मिटाकर वीर सन्तान उत्पन्न करते हैं, देखो श्रीमद् दयानन्दकृत संस्कार विधि—गर्भाधान प्रकरण ॥ १ ॥

१—(येन) येन पापजन्यरोगादिना (वेहत्) संश्चतत्पदवेहत् । उ० २ । ८५ । इति वि+हन वधे-अति । इकारस्य एकारो नलोपश्च निपात्येते । विशेषेण हन्ति गर्भं या,गर्भघातिनी । बन्ध्या । (नाशयामसि) नाशयामः । चिकित्सया अपहन्मः । (त्वत्) त्वत्तः सकाशात् । (इदम्) इदानीम् । (दूरे) दूरदेशे । (अप नि दध्मसि) अपहृत्य निक्षिपामः ॥

आ ते॒ योनिं॒ गर्भ॑ एतु॒ पुमा॒न् बाण॑ इवेषु॒धिम् ।
आ वी॒रोऽत्र॑ जायतां पु॒त्रस्ते॒ दश॑मास्यः ॥ २ ॥

आ । ते॒ । योनि॑म् । गर्भः॑ । ए॒तु॒ । पुमा॑न् । बाणः॑-इव । इ॒षु-धिम् ॥
आ । वी॒रः । अत्र॑ । जा॒य॒ता॒म् । पु॒त्रः । ते॒ । दश॑-मास्यः ॥२॥

भाषार्थ—[हे सुभगे] (पुमान्) रक्षा करने वाला, पराक्रमी (गर्भः) गर्भ (ते) तेरे (योनिम्) गर्भाशय में (आ एतु) आवे, (बाणः इव) जैसे बाण (इषुधिम्) तूनीर [तीरों के थैले] में । (अत्र) इस घर में (दशमास्यः) दस महीने तक पुष्ट हुआ, (ते) तेरा (वीरः) वीर, (पुत्रः) कुलशोधक बालक (आ जायताम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न हो॥ २ ॥

भावार्थ—वधू और वर यथाविधि ब्रह्मचारी रहकर युक्त आहार विहार करके सन्तान उत्पन्न करें, जिससे गर्भ अवश्य स्थिर रहे और पूर्ण रीति से पुष्ट होकर वीर सन्तान उत्पन्न हो ॥ २ ॥

यहां पर अथर्ववेद का० १ सू० ११ मन्त्र ६ का मिलान करो ।

ऋग्वेद में ऐसा वर्णन है—म० ५ सू० ७८ म० ६ ॥

दश॒ मासा॑ञ्छशया॒नः कु॑मा॒रो अधि॑ मा॒तरि॑ ।
नि॒रैतु॑ जी॒वो अक्ष॑तो जी॒वो जीव॑न्त्या॒ अधि॑॥१॥

२—(योनिम्) अ० १ । ११ । ३ । गर्भाशयम् । (गर्भः) अ० १ । ११ । २ । भ्रूणः । उदरस्थबालकः । (आ, एतु) आगच्छतु । (पुमान्) अ० १ । ८ । १ । पा रक्षणे-डुमसुन् । रक्षणसमर्थः सन्तानः । (बाणः) बण शब्दे गतौ वा—घञ् । शरः । नाराचः । (इषुधिम्) कर्मण्यधिकरणे च । पा० ३ । ३ । ९३ । इति इषु + धा—कि । निषङ्गम् । (वीरः) शूरः । (अत्र) अस्मिन् कुले । (जायताम्) उत्पद्यताम् । (पुत्रः) अ० १ । ११ । ५ । कुल शोधकः पुत्रात् । पुत्रो नरकात् त्राता सन्तानः । यथा, तनयः, सूनुः, इति अपत्यनामसु पठितम्-निरु०२ । २ । (दश-मास्यः) अ० १ । ११ । ६ । दशमासान् भृतः ॥

(मातरि अधि) माता के गर्भ में जो (कुमारः) बालक (दश मासान्) दस महीनों तक (शशयानः) सोता रहा है, वह (जीवः) जीता हुआ (अक्षतः) घाव से रहित (जीवः) जीव (जीवन्त्याः अधि) जीवती हुई माता से (निरैतु) बाहिर आवे ॥

श्री सायणाचार्य ने यह मन्त्र इस प्रकार श्लोक में लिखा है ।

दश मासानुषित्वासौ जननीजठरे सुखम् ।
निर्गच्छतु सुखं जीवो जननी चापि जीवतु ॥ १ ॥

(जननीजठरे) माता के पेट में (सुखम्) सुख से (दश मासान्) दस महीनों तक (उषित्वा) सोकर (असौ जीवः) यह जीव (निर्गच्छतु) बाहिर आवे, (च) और (जननी अपि) माता भी (जीवतु) जीवती रहे ॥

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयांश्च यान् ॥३॥

पुमांसम् । पुत्रम् । जनय । तम् । पुमान् । अनु । जायताम् ॥
भवासि । पुत्राणाम् । माता । जातानाम् । जनयाः । च । यान् ॥३॥

भाषार्थ—[हे वधू] (पुमांसम्) रक्षा करने वाला (पुत्रम्) बहुरक्षक, वीर सन्तान (जनय) उत्पन्न कर, (तम् अनु) उसके पीछे (पुमान्) रक्षा करने वाला वीर बालक (जायताम्) उत्पन्न होवे । (जातानाम्) उत्पन्न हुये (पुत्राणाम्) नरक से बचाने वाले सन्तानों की (माता) माननीय माता (भ-

३—(पुमांसम्) म०२ । रक्षणसमर्थम् । (पुत्रम्) म० २ । पुरुत्रातारम् । नरकात् त्रातारम् । सन्तानम् । (जनय) उत्पादय । (तम् अनु) तमनुसृत्य । तत्पश्चात् । (भवासि) लेटि आडागमः । त्वं भूयाः । (माता) अ० १ । २ । १ माननीया । जननी (जातानाम्) उत्पन्नानाम् । (जनयाः) जनेर्ण्यन्तात् लेटि

वासि) हो, (च) और [उनको भी] (यान्) जिनको (जनयाः) तू उत्पन्न करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—माता पिता ब्रह्मचर्य और इष्ट भोजन, छादन, व्यायाम आदि से से प्रयत्न करें कि उन के सब पुत्र पुत्री सदैव पराक्रमी उत्पन्न होवें, और माता पिता और संसार की सेवा करके (पुमान्) रक्षक बने रहें ॥ ३ ॥

यानि भुद्राणि बीजान्यृषभा जुनयन्ति च ।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥ ४ ॥

यानि । भुद्राणि । बीजानि । ऋषभाः । जुनयन्ति । च ॥ तैः । त्वम् । पुत्रम् । विन्दस्व । सा । प्र-सूः । धेनुका । भव ॥ ४ ॥

भावार्थ—(च) और (यानि) जैसे (भद्राणि) मङ्गल दायक (बीजानि) बालकों को (ऋषभाः) सूक्ष्म दर्शी ऋषि लोग, अथवा, ऋषभ ओषधि के रस (जनयन्ति) उत्पन्न करते हैं, (तैः) वैसे ही [सन्तानों] के साथ (त्वम्) तू (पुत्रम्) कुलशोधक वा बहुरक्षक बालक को (विन्दस्व) प्राप्त कर, (सा=सा त्वम्) सो तू (प्रसूः) जनने वाली (धेनुका) दूध पिलाने वाली माता [अथवा दुधैल गौ के समान] (भव) हो ॥ ४ ॥

आडागमः । त्वं जनयेः । (यान्) पुत्रान्, तेषामपि—इति शेषः । अन्यद् गतम् ॥

४—(यानि) यादृशानि । (भद्राणि) मङ्गलप्रदानि । अमोघवीर्याणि । (बीजानि) अ० ३ । १७ । २ । अपत्यानि-निघ० २ । २ (ऋषभाः) अ० ३ । ६ । ४ । सूक्ष्मदर्शिनः । ऋषयः । ऋषभौषधविशेषस्य रसाः । तस्य गुणाः । मधुरत्वम् । शीतत्वम् । रक्तपित्तविरेकनाशित्वम् । शुक्रश्लेष्मकारित्वम् । दाहक्षयज्वरहरत्वं च । इति शब्दकल्पद्रुमे । (जनयन्ति) उत्पादयन्ति । (तैः) तथाविधैः। (विन्दस्व) विद्लृ लाभे । लभस्व । (सा) सा त्वम् । (प्रसूः) सत्सूद्विष० । पा० ३ । २ । ६१ । इति प्र+षूङ् प्राणिप्रसवे-क्विप् । सन्तानोत्पादिका । (धेनुका) अ० ३ । १० । १ । धेनुरेव धेनुका । स्वार्थिकः कः । दुग्धदात्री । तर्पयित्री । धेनुवत् पोषयित्री ॥

भावार्थ—मनुष्य बड़े लोगों से ब्रह्मचर्य विद्या और ओषधि विद्या प्राप्त करके बली धर्मात्मा सन्तान उत्पन्न करें। और बलवती माता अपने बच्चों को अपना दूध पिला कर बलवान् करे, जैसे गौ दूध पिला कर बच्चे को पुष्ट बनाती है ॥ ४ ॥

शब्द कल्पद्रुम कोष में ऋषभ औषध को मधुर, शीतल, रक्तपित्तविरेकनाशी, वीर्य श्लेष्म कारी, और दाहज्वरहारी लिखा है ॥

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते। विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव ॥५॥

कृणोमि। ते। प्राजा-पत्यम्। आ। योनिम्। गर्भः। एतु। ते ॥ विन्दस्व। त्वम्। पुत्रम्। नारि। यः। तुभ्यम्। शम्। असत्। शम्। ऊं इति। तस्मै। त्वम्। भव ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे लिये (प्राजापत्यम्) सन्तान रक्षक कर्म [गर्भाधान, पुंसवनादि संस्कार] (कृणोमि) मैं करता हूं, (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (योनिम्) गर्भाशय में (आ एतु) आवे। (नारि) हे नर की हितकारिणी! (त्वम्) तू (पुत्रम्) कुलशोधक सन्तान (विन्दस्व) प्राप्त कर, (यः) जो (तुभ्यम्) तुझको (शम्) सुखदायक (असत्) होवे, (उ) और (त्वम्) तू (तस्मै) उसको (शम्) सुख दायक (भव) हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य वैद्यक शास्त्र के अनुसार उचित काल में उचित रीति से अमोघ गर्भाधानादि संस्कार करके सन्तान उत्पन्न करें, जिससे उस सन्तान का जन्म, आप उसको और माता पिता आदि सब को सुख दायक हो ॥ ५ ॥

५—(कृणोमि) करोमि। (ते) तुभ्यम्। (प्राजापत्यम्) दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः। पा० ४।१।८५। इति प्रजापति-ण्य। प्रजापतेर्गृहस्थस्य कर्म धर्मं वा। गर्भाधानपुंसवनादिसंस्कारम्। (नारि) अ० १।११।१। हे नरस्य धर्म्ये। (शम्) सुखहेतुः। (उ) अपि च। अन्यद् गतम्—म० २, ४ ॥

यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥६॥

यासाम् । द्यौः । पिता । पृथिवी । माता । समुद्रः । मूलम् । विरुधाम् । बभूव ॥ ताः । त्वा । पुत्र-विद्याय । दैवीः । प्र । अवन्तु । ओषधयः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यासाम् वीरुधाम्) जिन उगने वाली अन्नादि ओषधियों का (द्यौः) सूर्य (पिता) पालने वाला, (पृथिवी) पृथिवी (माता) उत्पन्न करने वाला, और (समुद्रः) समुद्र [जल] (मूलम्) जड़ (बभूव) हुआ है, (ताः) वे (दैवीः) दिव्य गुणवाली (ओषधयः) ओषधें (पुत्रविद्याय) सन्तान पाने के लिये (त्वा) तेरी (प्र) अच्छे प्रकार (अवन्तु) रक्षा करें ॥६॥

भावार्थ—अन्न आदि अनेक ओषधियां सूर्य द्वारा वृष्टि और प्रकाश पाकर पृथिवी और जल के संयोग से उत्पन्न होती हैं, उनमें से उत्तम २ बल वर्धक औषधों के उचित खान पान से माता पिता उत्तम सन्तान उत्पन्न करें॥६॥

सूक्तम् २४ ॥

१-७॥ प्रजापतिर्देवता । १, ३-७ अनुष्टुप् २ पङ्क्तिः ॥

धान्यसमृद्धिकर्मोपदेशः—धान्य बढ़ाने के कर्म का उपदेश ॥

६—(द्यौः) अ० २ । १२ । ६ । द्योतमानः सूर्यः । (पिता) अ० १ । २ । १ । वृष्टिदानेन रक्षको जनयिता । (पृथिवी) अ० १ । २ । १ । विस्तृता भूमिः । (माता) अ० ३ । ६ । १ । निर्मात्री । जननी । (समुद्रः) अ० १ । १३ । ३ । समुन्दनशीलः सागरः । (मूलम्) अ० २ । ७ । ३ । मुख्यकारणम् । (वीरुधाम्) अ० १ । ३२ । १ । विरोहणस्वभावानाम् । ओषधीनाम् । (पुत्रविद्याय) संज्ञायां समजनिषदनिपत० । पा ३ । ३ । ९९ । इति विद्लृ लाभे, छन्दसि भावे क्यप् । सन्तानलाभाय । (दैवीः) अ० १ । १६ । २ । दैव्यः । दिव्याः । अन्यद् गतम् ॥

पर्यस्वतीरोषधयः पर्यस्वन्मामकं वर्चः ।
अथो पर्यस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥

पर्यस्वतीः । ओषधयः । पर्यस्वत् । मामकम् । वर्चः॥ अथो॰ इति । पर्यस्वतीनाम् । आ । भरे । अहम् । सहस्रः-शः॥१ ॥

भाषार्थ—(ओषधयः) ओषधियां, चावल जौ आदि वस्तुयें (पयस्वतीः =०—त्यः) सारवाली होवें, और (मामकम्) मेरा (वचः) वचन (पयस्वत्) सार वाला होवे । (अथो) और भी (अहम्) मैं (पयस्वततीनाम्) सार-वाली [ओषधियों] का (सहस्रशः) सहस्रों प्रकार से (आ) यथा विधि (भरे) धारण करूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या पूर्वक अन्न आदि पदार्थों को उत्तम बनावें और दृढ़ सत्य वचन बोलें । ऐसा करनेसे शारीरिक और आत्मिक उन्नति होती है॥८॥

मनु महाराज का वचन है, अध्याय १ श्लोक ४६ ॥

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।
ओषध्यः फलपकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ १ ॥

सब भूमि को फोड़कर उपजने वाले, और बीज वा शाखा से उगने वाले वृक्ष हैं, फल पाक के साथ नष्ट होने वाली और बहुत फूल फल वाली ओष-धियां [चावल, जौ आदि] हैं ॥ १ ॥

वेदाहं पर्यस्वन्तं चकार धान्यं बहु । संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे योयो अयज्वनो गृहे ॥२॥

१—(पयस्वतीः) पयस्वत्यः । सारवत्यः (ओषधयः) अ० १ । २३ । १ । व्रीहियवाद्याः (पयस्वत्) सारयुक्तम् । (मामकम्) मदीयम् । [वचः] वचनम् । (अथो) अपि च । (पयस्वतीनाम्) कर्मणि षष्ठी । सारवतीनामोषधीनाम् । (आ) समन्तात् (भरे) भरामि । [सहस्रशः] बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम् । पा० ५ । ४ । ४२ । इति सहस्र-शस् । बहुप्रकारेण ॥

वेद॑ । अ॒हम् । पय॑स्वन्तम् । च॒कार॑ । धा॒न्य॑म् । ब॒हु ॥ स॒म्ऽभृत्वा॑ । नाम॑ । यः । दे॒वः । तम् । व॒यम् । ह॒वा॒म॒हे॒ । यः॒ऽयः । अय॑ज्वनः । गृ॒हे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (पयस्वन्तम्) सार वाले परमेश्वर को (वेद) जानता हूँ । (बहु) बहुत सा (धान्यम्) धान्य (चकार) उसने उत्पन्न किया है । (यः) जो (देवः) दान शील ईश्वर (संभृत्वा) यथावत् पोषक (नाम) नाम (अयज्वनः) यज्ञ न करने वाले के (गृहे) घर में (योयः = यस्-यः) गति वाला है, (तम्) उस [परमात्मा] का (वयम्) हम (हवामहे) आवाहन करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रत्येक प्राणी उस उत्तम पदार्थों के भण्डार परमात्मा को जानता है जो अनेक अन्न उपजा कर [धर्मात्माओं का तो क्या कहना है] पापियों तक के घर भोजन पहुँचाता है । हम उसकी उपासना नित्य किया करें । ॥ २ ॥

शेख़ सादी शीराज़ी ने अपनी पुस्तक पुष्पवाटिका [गुलिस्ताँ] में इस मन्त्र का आशय इस प्रकार दिखलाया है ।

२—(वेद) वेद्मि । जानामि । (अहम्) मनुष्यः । (पयस्वन्तम्) सारवन्तं परमात्मानम् । (चकार) स उत्पादयामास । (धान्यम्) अ० २ । २६ । ५ । धारणसाधनम् । अन्नम् (बहु) अधिकम् (संभृत्वा) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति सम्+भृञ् भरणे—क्वनिप् । ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् । संभरणशीलः । सम्यक् पोषकः । (नाम) एतत्संज्ञः । (देवः) दानशीलः । (हवामहे) आह्वयामः । (योयः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति या गतौऽसुन् । इति यस् ।, या—ड । यस्, गमनं याति प्राप्नोतीति योयः । गतियुक्तः । (अयज्वनः) सुयजोर्ङ्वनिप् । पा० ३ । २ । १०३ । इति यज—ङ्वनिप् । अकृतयागस्य । देवपूजासंगतिकरणदानरहितस्य । (गृहे) गेहे ॥

" ऐ करीमे कि अज़ ख़ज़ाने ग़ैब । गब्रो तर्सा वज़ीफ़ा ख़ुर दारी ॥ १ ॥
दोस्ताँ रा कुजा कुनी महरूम् । तो कि बा दुश्मनाँ नज़र दारी ॥ २ ॥"

हे ऐसे उदार कि तू गुप्त कोष से विरोधी और नास्तिक को पेटिया खिलाता है । मित्रों को तू कब निराश करे, जब कि तू द्वेषियों पर आँख रखता है ॥

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः ।
वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥ ३ ॥

इमाः । याः । पञ्च । प्र-दिशः । मानवीः । पञ्च । कृष्टयः ॥
वृष्टे । शापम् । नदीः-इव । इह । स्फातिम् । सम्-आवहान् ॥३॥

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् ।
एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥

उत् । उत्सम् । शत-धारम् । सहस्र-धारम् । अक्षितम् ॥ एव ।
अस्माक । इदम् । धान्यम् । सहस्र-धारम् । अक्षितम् ॥४॥

भाषार्थ—(इमाः) यह (याः (जो (मानवीः = ०—व्यः) मानुषी (पञ्च) पांच भूत [पृथिवी आदि] से संबन्ध वाली (कृष्टयः) प्रजायें (पञ्च प्रदिशः) पाँच फैली हुई दिशाओं में हैं, वे प्रजायें (शापम्) अनिष्ट वा मलिनता हटा कर (इह) यहाँ पर (स्फातिम्) बढ़ती को (समावहान्) यथावत् लावें,

३, ४—(इमाः) परिदृश्यमानाः । (याः) कृष्टयः । (पञ्च) पञ्चसंख्याकाः । (प्रदिशः) कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । चतस्रः प्राच्याद्याः, पञ्चमो ध्रुवा दिग्, ऊर्ध्वा दिग्वा । (मानवीः) अ० ३ । २१ । ५ । मानव—ङीप् । मानव्यः मानुष्यः । (पञ्च) पञ्चभूतसंबन्धिन्यः (कृष्टयः) क्तिच्क्तौ चसंज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति कृष विलेखने—क्तिच् ।

और (नदीः इव, नद्यः इव) जैसे नदियाँ (वृष्टे) बरसने पर [अनिष्ट वा मलिनता हटा कर] (शतधारम्) सैकड़ों धाराओं वाले और (सहस्रधारम्) सहस्रों विधि से धारण करने वाले, (अक्षितम्) अक्षय (उत्सम्) सींचने के साधन [झरना, कूप आदि] को (उत्=उदावहन्ति) निकालती हैं, (एव= एवम्) ऐसे ही (अस्माक=अस्माकम्) हमारा (इदम्) यह (धान्यम्) धान्य (सहस्रधारम्) सहस्रों प्रकार से धारण करने वाला और (अक्षितम्) अक्षय [होवे] ॥ ३, ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य खेती व्यापार आदि द्वारा पूर्वादि चार दिशाओं और ऊपर नीचे की दिशा [वायु मंडल वा पाताल] से बहुत धन प्राप्त करें और अनेक प्रयोगों से उसकी यथावत् वृद्धि करें, जैसे बरसा का जल नदियों में एकत्र होकर और झरनों, कूपों, नालियों से खेती आदि में पहुँच कर दरिद्रता आदि मिटा कर संसार को लाभ पहुँचाता है ॥ ३ । ४ ॥

मन्त्र ३ व ४ युग्मक है छन्द ।

श॒तह॑स्त स॒माह॑र॒ सह॑स्रहस्त॒ सं कि॑र ।
कृ॒तस्य॑ का॒र्य॑स्य चे॒ह स्फा॒तिं स॒माव॑ह ॥५॥

प्रजाः । मनुष्याः—निघ० २ । ३ (वृष्टे) भावे—क्त । वर्षणे सति । (शापम्) अकथितं च । पा० १ । ४ । ५१ । इति अपादाने द्वितीया । शापात् । शापम् अनिष्टं मलं वा वर्जयित्वा । (नदीः इव) नद्यो यथा (इह) अत्र । (स्फातिम्) स्फायी वृद्धौ—क्तिन् । लोपो व्योर्वलि । पा० ६ । १ । ६६ । इति यलोपः । धनधान्यवृद्धिम् । (समावहान्) । सम्+ आङ्+वहेर्लेटि आडागमः । सम्यग् आनयन्तु । वहेर्द्विकर्मकत्वात्, शापं स्फातिम्, इत्येतयोः कर्मत्वम् । (उत्) तृतीयमन्त्रसंबन्धात्, उत्+आङ्+वहन्तु । (उत्सम्) अ० १ । १५ । ३ । सेचनसाधनम् । निर्झरम् । कूपम् । (शतधारम्) बहुधारायुक्तम् । (सहस्रधारम्) बहु प्रकारेण धारकम् (अक्षितम्) अक्षीणम् । अनश्वरम् । (एव) एवम् (अस्माक) मलोपश्छान्दसः । अस्माकम् । (इदम्) परिदृश्यमानम् । अन्यद् गतम् ॥

शत॑-हस्त । स॒म्-आह॑र । सह॑स्र-हस्त । सम् । कि॒र॒ ॥
कृ॒तस्य॑ । का॒र्य॑स्य । च॒ । इ॒ह । स्फा॒तिम् । सम्-आव॑ह ॥५॥

भाषार्थ—(शतहस्त) हे सैकड़ों हाथों वाले ! [मनुष्य !] [धान्य को—म० ४] (समाहर) बटोर कर ला, और (सहस्रहस्त) हे सहस्रों हाथों वाले (सम्) अच्छे प्रकार से (किर) फैला । (च) और (कृतस्य) किये हुये और (कार्यस्य) कर्तव्य कर्म की (स्फातिम्) बढ़ती को (इह) यहाँ पर (समावह) मिलकर ला ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य सैकड़ों और सहस्रों प्रकार से कर्मकुशल होकर, और सहस्रों कर्मकुशलों से मिल कर धन धान्य एकत्र करे और उत्तम कर्मों में व्यय करके आगा पीछा सोच कर सदैव उन्नति करता रहे ॥ ५ ॥

ति॒स्रो मात्रा॑ ग॒न्धर्वा॑णां॒ चत॑स्रो गृ॒हप॑त्न्याः ।
तासां॒ या स्फा॒तिम॑त्तमा॒ तया॑ त्वा॒भि मृ॑शामसि ॥ ६ ॥
ति॒स्रः । मात्राः॑ । ग॒न्ध॒र्वाणा॑म् । चत॑स्रः । गृ॒ह-प॑त्न्याः ॥
तासा॑म् । या । स्फा॒ति॒मत्-त॑मा । तया॑ । त्वा॒ । अ॒भि । मृ॒शा॒म॒सि॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(तिस्रः) तीन (मात्राः) मात्रायें [भाग] (गन्धर्वाणाम्)

५—(शतहस्त) हे बहुप्रकारेण हस्तक्रियाकुशल । हे बहुक्रियाकुशल पुरुषैर्युक्त मनुष्य ! (समाहर) समाहृत्य प्रापय हि । (सहस्रहस्त) असंख्यहस्तक्रियाकुशल-पुरुषैर्युक्त ! (सम्) सम्यक् । शोभनरीत्या । (किर) कॄ विक्षेपे । तृत इद्धातोः । पा० ७ । १ । १०० । इति इत्वम् । विक्षिप । प्रयच्छ । (कृतस्य) निष्पन्नस्य । (कार्यस्य) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति कृञ्-ण्यत् । कर्त्तव्यस्य कर्मणः । (स्फातिम्) म० ४ । समृद्धिम् । (समाहर) सम्यग आनय ॥

६—(तिस्रः) त्रिसंख्याकाः (मात्राः) दुयामाभ्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ ।

विद्या वा पृथिवी धारण करने वालों की, और (चतस्रः) चार (गृहपत्न्याः) गृहपत्नी [घर की पालन शक्ति] की [होवें], (तासाम्) उन सब [मात्राओं] में से (या) जो (स्फातिमत्तमा) अत्यन्त समृद्धि वाली है, (तया) उस [मात्रा] से (त्वा) तुझको (अभि) सब ओर से (मृशामसि =०—मः) हम छूते [संयुक्त करते] हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—सब कुटुम्बी लोग जो धन धान्य कमावें, उसमें से उत्तम अधिकांश अनदेखे विपत्ति समय के लिये प्रधान पुरुष को सौंपें, और शेष के सात भाग करके तीन भाग विद्यावृद्धि और राजप्रबंध आदि और चार भाग सामान्य निर्वाह खान पान वस्त्र आदि में व्यय करें। यह वैदिक शिक्षा सब मनुष्यों के सुख का मूल है ॥ ६ ॥

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते ।
ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥ ७ ॥

उप-ऊहः । च । सम्-ऊहः । च । क्षत्तारौ । ते । प्रजा-पते ॥ तौ । इह । आ । वहताम् । स्फातिम् । बहुम् । भूमानम् । अक्षितम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(प्रजापते) हे प्रजापालक गृहस्थ ! (उपोहः) योग [प्राप्ति] (च) और (समूहः) संग्रह [क्षेम वा रक्षा] दोनों (च) निश्चय करके

इति माङ् माने—त्रन्, टाप् । परिमाणानि (गन्धर्वाणाम्) अ० २ । १ । २ । गो+धृञ्—व । गोविंधायाः पृथिव्या वा धारकाणाम् । (चतस्रः) (गृहपत्न्याः) गृहपालनशक्तेः । (तासाम्) सर्वमात्राणाम् (स्फातिमत्तमा) स्फाति+मतुप्+तमप्+टाप् । अतिशयेन समृद्धियुक्ता । (त्वा) प्रधानम् (अभि) सर्वतः (मृशामसि) मृशामः । स्पृशामः । संयोजयामः ॥

७—(उपोहः) उप+ऊह वितर्के—घञ् । योगः । अलब्धलाभः । (समूहः) सम्+ऊह—घञ् । समुदायः । क्षेमः । लब्धस्य रक्षणम् (क्षत्तारौ) क्षणु बधे-क्विप्,

(ते) तेरे (क्षत्तारौ) क्षत्रिय [क्षति वा हानि से बचाने वाले] हैं। (तौ) वे दोनों (इह) यहाँ पर (स्फातिम्) बढ़ती और (बहुम्) बहुत (अक्षितम्) अचूक (भूमानम्) अधिकाई (आ वहताम्) लावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग पुरुषार्थ करके विद्या, धन, धान्य आदि जीवन सामग्री की १—प्राप्ति, २—रक्षा और ३—वृद्धि वा ऋद्धि सिद्धि करके आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

यजुर्वेद अ० २२ म० २२ का वचन है।

योग क्षेमो नः कल्पताम ॥

(नः (हमारा (योगक्षेमः) योग-अप्राप्त वस्तु का लाभ, और क्षेम - प्राप्त पदार्थ की रक्षा (कल्पताम्) समर्थ अर्थात् पर्याप्त होवे ॥

सूक्तम २५ ॥

१–६ ॥ कामो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

अविद्यानाशेन विद्यालाभोपदेशः—अविद्या के नाश से विद्या प्राप्त का उपदेश ।

उत्तुदस्त्वोत तुंदतु मा धृंथाः शयंने स्वे ।
इषुः कामंस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥

उत्-तुदः । त्वा । उत । तुदतु । मा । धृथाः । शयंने ॥ स्वे

इति क्षत् । तॄ तरणे, णिच्—अच् । तारयतीति तारः । क्षतः क्षतात् रक्षकौ । क्षत्रियौ । (ते) तव । (प्रजापते) हे सन्तानपालक गृहस्थ । (तौ) तादृशौ । उपोहसमूहौ । (आ वहताम्) आनयताम् (स्फातिम्) म० ४ । समृद्धिम् (बहुम्) विपुलम् (भूमानम्) बहु-इमनिच् । बहोर्लोपो भू च बहोः । पा० ६ । ४ । १५८ । इति इमनिच इकारलोपो बहोर्भूभावश्च । धनधान्यविषयं बहुभावम् । (अक्षितम्) क्षयरहितम् ॥

इषुः । कामस्य । या । भीमा । तया । विध्यामि । त्वा । हृदि ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे अविद्या !] (उत्तुदः) तेरा उखाड़ने वाला [विद्वान्] (त्वा) तुझको (उत् तुदतु उखाड़ दे । (स्वे शयने) अपने शयन स्थान (हृदय) में (मा धृथाः) मत ठहर । (कामस्य) सुकामना का (या) जो [तेरे लिये] (भीमा) भयानक (इषुः) तीर है, (तया) उससे (त्वा) तुझको (हृदि) हृदय में (विध्यामि) बधेता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—इस सूक्त में स्त्री लिङ्ग शब्द अविद्या और विद्या के लिये आये हैं । पहिले तीन मन्त्र अविद्यापरक, और पिछले तीन विद्यापरक हैं । अलङ्कार से अविद्या को दुःख दायिनी और विद्या को सुखदायिनी मानकर संबोधन किया है ।

मन्त्र का आशय—सब स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्यादि तपोबल द्वारा अविद्या को हृदय से मिटावें, जैसे शूर वीर योद्धा शत्रु सेना को अस्त्र शस्त्रों से मार गिराता है ॥ १ ॥

आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्पकुल्मलाम् ।
तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वां हृदि ॥ २ ॥
आधी-पर्णाम् । काम-शल्याम् । इषुम् । सम्-कल्प-कुल्मलाम् ॥

१—(उत्तुदः) उत्+तुद व्यथने—क । ऊर्ध्वमुखं व्यथयिता । अविद्यायाःसर्वनाशको विद्वान् (त्वा) अविद्याम् (उत् तुदतु) उत्कृष्य व्यथयतु नाशयतु । (मा धृथाः) धृञ् धारणे—लुङ् । लुङ् योगे अडभावः। स्थिता मा भूः(शयने) । शीङ्—ल्युट् । निद्रास्थाने । ब्रह्मचारिहृदये—इत्यर्थः । (स्वे) आत्मयी । (इषुः) तीरम् । (कामस्य) सुकामस्य । विद्याभिलषस्य । (भीमा) भियःषुग् वा । उ० १ । १४८ इति ञि भी—अपादाने मक्, टाप् । भयानका (तया) इष्वा (विध्यामि) व्यध ताडने । ताडयामि (हृदि) हृदये ॥

ताम् । सुसंनताम् । कृत्वा । कामः । विध्यतु । त्वा । हृदि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(आधीपर्णाम्) अधिष्ठान वा प्रतिष्ठा के पंख वाले, (कामशल्याम्) वीर्य [तपोबल] की अणि वाले (संकल्पकुल्मलाम्) संकल्प के दंड छिद्र वाले (ताम्) उस [प्रसिद्ध, बुद्धि रूपी] (इषुम्) तीर को (सुसंनताम्) ठीक २ लक्ष्य पर सीधा (कृत्वा) करके (कामः) सुन्दर मनोरथ (त्वा) तुझ [अविद्या] को (हृदि) हृदया में (विध्यतु) बेधे ॥ २ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी योगी बुद्धि बल से अविद्या को हटाकर प्रतिष्ठावान्, बलवान्, और सत्य संकल्पी होता है ॥ २ ॥

मुण्डकोपनिषद् का वचन है, मुण्डक २ खण्ड २ मन्त्र ४ ॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्येत ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ १ ॥

(प्रणवः) ओ३म् (धनुः) धनुष् (आत्मा हि) आत्मा ही (शरः) तीर, और (ब्रह्म) ब्रह्म (तल्लक्ष्यम्) उसका लक्ष्य (उच्यते) कहा जाता है, (अप्रमत्तेन) अप्रमत्त, अति सावधान मनुष्य (वेधव्यम्) बेधे, और वह (शरवत्) तीर के समान (तन्मयः) उसमें लय (भवेत्) हो जावे ॥

२—(आधीपर्णाम्) आ+डुधाञ् धारणपोषणयोः—कि, ङीप् । धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति पॄ पालनपूरणयोः—न । आधी अधिष्ठानं प्रतिष्ठा पर्णं पत्रमिव यस्यास्तां तथाविधाम् । (कामशल्याम्) शल्यः । अ० २ । ३० । ३ । कामं वीर्यं तपोबलं शल्यो बाणाग्रभाग इव यस्यास्तां तथोक्ताम् (इषुम्) तीरम् । (संकल्पकुल्मलाम्) सम्+कृपू सामर्थ्ये—घञ्, रस्य लः । कुल्मलम् । अ० २ । ३० । ३ । संकल्पो दृढविचारः कुल्मलं बाणदण्डछिद्रमिव यस्यास्तां तथोक्ताम् । (ताम) प्रसिद्धाम् । (सुसंनताम्) सु+सम्+णम नतौ ।—क । सुष्ठु सम्यक् नतां लक्ष्यीकृताम् । (कृत्वा) विधाय (कामः) कमु-घञ् । सुमनोरथः, यथा धर्मार्थकाममोक्षाः । (विध्यतु) म० १ । ताडयतु (त्वा) त्वामविद्याम् (हृदि) हृदये ॥

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंनता ।
प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

या । प्लीहानम् । शोषयति । कामस्य । इषुः । सु-संनता ।
प्राचीन-पक्षा । वि-ओषा । तया । विध्यामि । त्वा ।
हृदि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(कामस्य) सुन्दर मनोरथ का (सुसंनता) ठीक २ लक्ष्य पर चलाया हुआ, (प्राचीनपक्षा) प्राचीन [वेदविज्ञान] का पँख रखने वाला, (व्योषा) विविध प्रकार से [अविद्या का] दाह करने वाला [बुद्धिरूपी] (या) जो (इषुः) तीर [अविद्या की] (प्लीहानम्) गति [वा तिल्लीनाम मर्मस्थान] को (शोषयति) सुखा देता है, (तया) उससे (त्वा) तुझ [अविद्या] को (हृदि) हृदय में (विध्यामि) बेधता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य और दृढ़ प्रतिज्ञा से वेदविज्ञान द्वारा अविद्या मिटाकर आनन्द भोगे, जैसे शूर वैरी का मर्म स्थान छेद कर सुखी होता है ॥ ३ ॥

शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा ।
मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥

शुचा । विद्धा । वि-ओषया । शुष्क-आस्या । अभि । सर्प ।
मा ॥ मृदुः । नि-मन्युः । केवली । प्रिय-वादिनी । अनु-व्रता ॥ ४ ॥

३—(प्लीहानम्) अ० २ । ११ । ३ । प्लिह गतौ-कनिन् । गमनम् । कुक्षिवाम-पार्श्वस्थमांसखण्डम् (शोषयति) दहति (कामस्य) सुमनोरथस्य (इषुः) तीरम् (सुसंनता) सुष्ठु सम्यक् लक्ष्यीकृता (प्राचीनपक्षा) प्राचीनं वेदविज्ञानं पक्ष इव यस्याः सा तथोक्ता (व्योषा) वि + उष दाहे-पचाद्यच्, टाप् । विशेषेण दाह-शीला । अन्यद् गतम्-म० १ ॥

४—(शुचा) शुच शोके-क्विप् । शोकेन । पीड़या (विद्धा) ताडिता (व्योषया)

भाषार्थ—[हे विद्या,] (व्योषया) विशेष दाह करने वाली (शुचा) पीड़ा से (विद्धा) बिंधी हुई, (शुष्कास्या) सूखे मुखे वाली, (मृदुः) कोमल स्वभाव वाली (निमन्युः) निरभिमान, (केवली) सेवनीया, (प्रियवादिनी) प्रिय बोलने वाली और (अनुव्रता) अनुकूल आचरण वाली [पतिव्रता स्त्री के समान] तू (मा अभि) मेरी ओर (सर्प) चली आ ॥ ४ ॥

भावार्थ—यहाँ से तीन मन्त्र विद्यापरक हैं। मन्त्र का आशय यह है, जो ब्रह्मचारी विद्या के लिए पूरी लालसा से यत्नपूर्वक परिश्रम करता है, विद्या शीघ्र ही उसको मिल कर हितकारिणी होती है, जैसे सती गुणवती स्त्री मन, वचन, और कर्म से अपने पति की सेवा करती है ॥ ४ ॥

ऋग्वेद के परब्रह्मज्ञान सूक्त वा विद्यासूक्त में भी विद्या की उपमा पतिव्रता स्त्री से दी है, ऋ० म० १० सू० ७१ म० ४ ॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः १

(त्वः) एक पुरुष ने (पश्यन् उत) देखते हुये भी (वाचम्) वेद वाणी को (न ददर्श) नहीं देखा है, (त्वः) एक पुरुष (शृण्वन् उत) सुनता हुआ भी (एनाम्) इसको (न शृणोति) नहीं सुनता है। (उतो) किन्तु (त्वस्मै) एक पुरुष को [अपना] (तन्वम्) स्वरूप [परमज्ञान] (विसस्रे) उसने दिखाया है, (इव) जैसे (उशती) अनुरागवती (सुवासाः) सुन्दर वस्त्र वाली (जाया) पत्नी [अपने] (पत्ये) पति को ॥ १ ॥

म० ३। विशेषेण दाहशीलया (शुष्कास्या) शुष्कमुखयुक्ता (अभि) अभिगत्य। उपेत्य (सर्प) गच्छ (मृदुः) प्रथिम्रदिभ्रस्जां० उ०१।२८। इति म्रद मर्दे—कु। संप्रसारणं च। कोमलस्वभावा (निमन्युः) यजिमनिशुन्धि०। उ० ३।२०। इति मन गर्वे—युच्। निरभिमाना (केवली) अ० ३।१८।२। केवलमामक०। पा०४।१।३०। इति ङीप्। सेवनीया। सेवमाना वा (प्रियवादिनी) हितभाषिणी (अनुव्रता) अनुकूलाचरणपरा॥

आजा॑मि॒ त्वाज॒न्या॒ परि॑ मा॒तुरथो॒ पि॒तुः ।
यथा॒ मम॒ क्रता॒वसो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि ॥ ५ ॥

आ । अ॒जा॒मि॒ । त्वा॒ । आ॒-अ॒जन्या॑ । परि॑ । मा॒तुः ।
अथो॒ इति॑ । पि॒तुः ॥ यथा॑ । मम॑ । क्रतौ॑ । असः॑ । मम॑ ।
चि॒त्तम् । उ॒प॒-आय॑सि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(हे विद्या !) (त्वा) तुझ को (आजन्या) पूरे उपाय से [अपनी] (मातुः) माता से (अथो) और (पितुः) पिता से (परि) सब ओर (आ) यथानियम (अजामि) प्राप्त करता हूं, (यथा) जिस से (मम) मेरे (क्रतौ) कर्म वा बुद्धि में (असः) तू रहे, (मम चित्तम्) मेरे चित्त में (उपायसि) तू पहुँचती है ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष माता पिता आदि से विद्या पाकर परीक्षा द्वारा साक्षात् करके हृदय में दृढ़ करें ॥ ५ ॥
इस मन्त्र का उत्तरार्ध कुछ भेद से अथर्व० १ । ३४ । २ । में आया है ॥

व्य॑स्यै मित्रावरुणौ हृ॒दश्चि॒त्तान्य॑स्यतम् ।
अथै॑नामक्रतुं कृ॒त्वा ममै॒व कृ॑णुतं वशे॑ ॥ ६ ॥

वि । अ॒स्यै॒ । मि॒त्रा॒व॒रु॒णौ॒ । हृ॒दः । चि॒त्तानि॑ । अ॒स्य॒त॒म् ॥

५-(आ) समन्तात् (अजामि) अज गतिक्षेपणयोः । गच्छामि । प्राप्नोमि (आजन्या) आ+अज गतौ- ल्युट्, ङीप् । समन्ताद् गत्या । पूर्णोपायेन (परि) सर्वतः (मातुः) जनन्याः सकाशात् (अथो) अपि च (पितुः) पालकात् । जनकात् (यथा) येन प्रकारेण । अन्यद् व्याख्यातम्—अ० १ । ३४ । २ ॥

६—अस्यै । अस्या विद्यायाः प्राप्तये (मित्रावरुणौ) अ० १।२०।२। हे प्राणा-

अथ । एनाम् । अक्रतुम् । कृत्वा । मम । एव । कृणुतम् । वशे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(मित्रावरुणौ) हे प्राण और अपान (अस्यै) इस [विद्या] के लिये [मेरे] (हृदः) हृदय के (चित्तानि) विचारों को (वि अस्यतम्) फैलाओ। (अथ) और (एनाम्) इस को (अक्रतुम्) अहिंसिका [हितकारिणी] (कृत्वा) करके (मम एव) मेरे ही (वशे) वश में (कृणुतम्) करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—सब ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी प्राण और अपान अर्थात् इन्द्रियों को जीतकर अपने विचारों को बढ़ाकर महाहितकारिणी विद्या को उपयोगी बनावें ॥ ६ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

—:o:—

सूक्तम् २९ ॥

१—६ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः । जगती त्रिष्टुब् वा छन्दः ॥

युद्धगीतिः—मारू गीत ॥

ये ३ स्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः । ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नम-

पानौ (हृदः) मम हृदयस्य (चित्तानि) ज्ञानानि । विचारान् (वि+अस्यतम्) असु क्षेपणे । विस्तारयतम् (अथ) अनन्तरम् (एनाम्) निर्दिष्टाम् (अक्रतुम्) कृञः कतुः उ० १ । ७६ । इति कृञ् हिंसायाम्—कतु । अहिंसाशीलाम् । सुखप्रदाम् (कृत्वा) विधाय (कृणुतम्) कुरुतम् (वशे) आयत्तत्वे । प्रभुत्वे ॥

स्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ १ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । प्राच्याम् । दिशि । हेतयः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । अग्निः । इषवः ॥ ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (प्राच्याम्) पूर्व वा सन्मुख (दिशि) दिशा में (हेतयः) वज्र रूप (नाम) नाम (देवाः) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारी (अग्निः) अग्नि [अग्नि विद्या] (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें (मृडत) सुखी करो, (ते) वे तुम (नः) हमारे लिये (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रूत) बोलो, (तेभ्यः वः) उन तुम्हारे लिये (नमः) सत्कार वा अन्न होवे, (तेभ्यः वः) उन तुम्हारे लिये (स्वाहा) सुन्दर वाणी [प्रशंसा] होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—सेनानी अपनी सेना का व्यूह करके आग्नेय अस्त्र वाले शूर

१-(ये) ये यूयं शूराः (अस्याम्) निर्दिष्टायाम् (स्थ) भवथ (प्राच्याम्) ऋत्विग्दधृक्स्रग०। पा० ३। २। ५९ इतिप्र+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्। अनिदितां हल उप०। पा० ६।४। २४। इति नलोपः। उगितश्च। पा० ४। १। ६। अत्र वार्त्तिकम्। अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्। इति ङीप्। अचः। पा० ६। ४। १३८। इति अकारलोपे। चौ। पा० ६। ३। १३८। इति पूर्वपदस्य दीर्घः। स्वस्थानात् पूर्वस्याम्। स्वाभिमुखीभूतायाम् (दिशि) दिशायाम् (हेतयः) अ० १। १३। ३। वज्ररूपाः। हन्तारः (नाम) प्रसिद्धाः (देवाः) विजिगषीवः (तेषाम्) पूर्वदिक्स्थानाम् (वः) युष्माकम् (अग्निः) पावकः (इषवः) अ० १। १३। ४। बाणाः। तीराणि (ते) ते यूयम् (नः) अस्मान् (मृडत) सुखयत (नः) अस्मदर्थम् (अधि) अधिकारेण। ऐश्वर्येण (ब्रूत) वदत। विज्ञापयत (तेभ्यः) तथाविधेभ्यः (वः) युष्मभ्यम् (नमः) सत्कारः। अन्नम्-निघ० २। ७ (स्वाहा) अ० २। १६। १। वाक् नाम-निघ० १। ११। सुवाणी। प्रशंसा ॥

वीरों को पूर्व दिशा में वा अपने सन्मुख स्थान में रक्खे, वे लोग शत्रुओं को जीत कर अपने राजा की दुहाई वा जयघोषणा फेरें, और राजा सत्कार पूर्वक ऊँचे २ अधिकार देकर उनका उत्साह बढ़ावे ॥ १ ॥

ये ३ ' स्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः ॥ ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ २ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । दक्षिणायाम् । दिशि । अविष्यवः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । कामः । इषवः ॥ ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (दक्षिणायाम्) दक्षिण वा दाहिनी (दिशि) दिशा में (अविष्यवः) रक्षा की इच्छा वाले (नाम) नाम देवाः) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारा (कामः) मनोरथ (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें...... [म० १] ॥ २ ॥

भावार्थ—दक्षिण दिशा वा दाहिनी ओर वाले रक्षक विजयी वीर दृढ़ मनोरथ से शत्रुओं को जीत कर...... [म० १] ॥ २ ॥

२—(अस्याम्) स्याडभावश्छान्दसः । दक्षिणस्याम् । दक्षिणहस्तस्थितायाम् (अविष्यवः) अर्चिशुचि .... इसिः । उ० २ । १०८ । इति अव रक्षणे-इसि । इति अविः, रक्षणम् । छन्दसि परेच्छायामपि । वा० पा० ३ । १ । ८ । इति क्यच् । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । इति उप्रत्ययः । अवनेच्छवः । पररक्षणेच्छवः । (कामः) दृढमनोरथः । इष्टविषयोऽभिलाषः । अन्यत् गतम्—म० १ ॥

ये३'स्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां व आप इषवः ॥ ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ३ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । प्रतीच्याम् । दिशि । वैराजाः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । आपः । इषवः ॥ ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (प्रतीच्याम्) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशि) दिशा में (वैराजाः) विविध ऐश्वर्य वाले क्षत्रिय (नाम) नाम (देवाः) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारा (आपः) जल [जल विद्या] (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें ......[म० १] ॥ ३ ॥

भावार्थ—पश्चिम वा पीछे वाली दिशा के क्षत्रिय लोग वारुणेय वा जलास्त्रों से शत्रुओं को जीत कर ...... [म० १] ॥ ३ ॥

ये३'स्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवास्तेषां वो वात इषवः । ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो

३—(प्रतीच्याम्) प्राच्याम्, म० १ । त्यचोकपकारेण रूपसिद्धिः । पश्चिमायाम् । पश्चाद्भागे स्थितायाम् (आपः) जलानि (वैराजाः) राजति, ऐश्वर्यकर्मसु-निघ० २ । २१ । वि+राजृ ऐश्वर्ये—भावे क्विप् । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति अण् । विराट्, विविधं राज्यं येषां ते वैराजाः । क्षत्रियाः । विविधैश्वर्यवन्तः । अन्यद् गतं म० १ ॥

वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ४ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । उदीच्याम् । दिशि । प्र-विध्यन्तः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । वातः । इषवः ॥ ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (उदीच्याम्) उत्तर वा बायीं ओर वाली (दिशि) दिशा में (प्रविध्यन्तः) वेधने वाले (नाम) नाम (देवाः) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारा (वातः) पवन (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें ...... [म० १] ॥ ४ ॥

भावार्थ—उत्तर वा बायीं ओर वाली दिशा में बरछी, भाले, गोली आदि से छेदने वाले, वायु विद्या में कुशल योधा, वायव्य अस्त्र शस्त्र, विमानों द्वारा बैरियों को जीत कर...... [म० १] ॥ ४ ॥

ये३ऽस्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवास्तेषां व ओषधीरिषवः । ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ५ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । ध्रुवायाम् । दिशि । नि-लिम्पाः ।

४—(उदीच्याम्) उत्पूर्वाद् अञ्चतेः पूर्ववत् क्विनादि-म० १ । उद ईत् । पा० ६ । ४ । १३९ । इति धात्वकारस्य ईकारः । उत्तरस्याम् । वामभागवर्त्तमानायाम् (वातः) पवनः । वायुविद्या (प्रविध्यन्तः) व्यध वेधने-शतृ । प्रकर्षेण वेधनं कुर्वन्तः । अन्यद् गतम्-म० १ ॥

५—(ध्रुवायाम) अ० २ । २६ । ४ । स्थिरायाम् । निश्चितायाम् (निलिम्पाः)

नाम॑ । दे॒वाः । तेषा॑म् । वः॒ । ओष॑धीः । इष॑वः ॥ ते । नः॒ । मृ॒डत॒ । ते । नः॒ । अधि॑ । ब्रू॒त॒ । तेभ्यः॑ । वः॒ । नमः॑ । तेभ्यः॑ । वः॒ । स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (ध्रुवायाम्) स्थिर वा निश्चित (दिशि) दिशा में (निलिम्पाः) लेप करने वाले वैद्य (नाम) नाम (देवाः) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, तेषाम् वः) उन तुम्हारी (ओषधीः) अन्न, सोमलतादि ओषधियां (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें......म० १ ॥ ५ ॥

भावार्थ—लेप, पट्टी आदि करने वाले सद्वैद्य दृढ़ निश्चित स्थान में औषधालय बना कर सैनिकों को स्वस्थ रखकर शत्रुओं को जीत कर...... [म० १] ॥ ५ ॥

ये॒३॒ऽस्यां स्थो॒र्ध्वायां॑ दि॒श्यव॑स्वन्तो॒ नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ वो॒ बृह॒स्पति॒रिष॑वः । ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

ये । अ॒स्याम् । स्थ । ऊ॒र्ध्वाया॑म् । दि॒शि । अव॑स्वन्तः । नाम॑ । दे॒वाः । तेषा॑म् । वः॒ । बृह॒स्पतिः॑ । इष॑वः । ते । नः॒ । मृ॒डत॒ । ते । नः॒ । अधि॑ । ब्रू॒त॒ । तेभ्यः॑ । वः॒ । नमः॑ । तेभ्यः॑ । वः॒ । स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (ऊर्ध्वायाम्) ऊपर

नौ लिम्पेरिति वक्तव्यम् । वा० पा० ३ । १ । १३८ । इति नि+लिप लेपे मुचादिः—शप्रत्ययः । नितरां लेपनकर्तारः सद्वैद्याः (ओषधीः) अ० १ । ३० । ३ । ओषधयः । व्रीहियवसोमलताद्याः । अन्यद् गतम् म० १ ॥

६—ऊर्ध्वायाम् । उत् उपरि ध्वन्यते । ध्वन शब्दे ड । आदेरूरादेशः ।

वाली (दिशि) दिशा में (अवस्वन्तः) रक्षा के अधिकारी (नाम) नाम (देवाः) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारा (बृहस्पतिः) बड़ों का स्वामी, मुख्य सेनापति (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें (मृडत) सुखी करो, (ते) वे तुम (नः) हमारे लिये (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रूत) बोले, (तेभ्यः वः) उन तुम्हारे लिये (नमः) सत्कार वा अन्न होवे, (तेभ्यः वः) उन तुम्हारे लिये (स्वाहा) सुन्दर वाणी [प्रशंसा होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—बड़े साहसी रक्षाधिकारी, युद्ध विद्या में कुशल योधा लोग ऊँचे स्थान पर रहकर मुख्य सेनापति की सहायता से बैरियों को जीत कर अपने राजा की दुहाई वा जयघोषणा फेरें, और राजा सत्कार पूर्वक ऊँचे २ अधिकार देकर उनका उत्साह बढ़ावे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१—६॥ मन्त्रोक्ता देवताः। प्रथमा पङ्क्तिः—द्विपदा त्रिष्टुप्, द्वितीया द्विपदा भुरिग् जगती, तृतीया द्विपदानुष्टुप् ॥

सेनाव्यूहोपदेशः—सेना व्यूह का उपदेश ॥

प्राची दिग्गिनरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥

प्राची। दिक्। अग्निः। अधि-पतिः। असितः। रक्षिता।

टाप् उपरि वर्त्तमानायाम् (अवस्वन्तः। अव रक्षणगतिस्पृहादिषु—असुन्, मतुप् च। अवनवन्तः। रक्षाधिकरिणः (बृहस्पतिः) अ० १। ८। २। बृहतां महतां योद्धॄणां पतिः। मुख्यसेनापतिः। अन्यद् गतम्—म० १ ॥

१—प्राची। प्राच्याम्। सू० २६ म० १। इत्यत्रोक्तप्रकारेण रूपसिद्धिः।

आदित्याः । इषवः ॥ तेभ्यः । नमः । अधिपति-भ्यः । नमः । रक्षितृ-भ्यः । नमः । इषुभ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । दध्मः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्राची = प्राच्याः) पूर्व वा सन्मुख वाली (दिक् = दिशः) दिशा का (अग्निः) अग्नि [अग्नि विद्या में निपुण सेनापति] (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (असितः) कृष्ण सर्प [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक हो, (आदित्याः) सूर्य से संबंध वाले (इषवः) बाण हों । (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) अधिष्ठाओं और (रक्षितृभ्यः) रक्षकों के लिये (नमोनमः) बहुत बहुत सत्कार वा अन्न और (एभ्यः) इन (इषुभ्यः) बाणों [बाण वालों] के लिये (नमोनमः) बहुत सत्कार वा अन्न (अस्तु) होवे । (यः) जो [वैरी] (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) वैर करता है, [अथवा] (यम्) जिस [वैरी] से (वयम्) हम (द्विष्मः) वैर करते हैं, [हे शूरो] (तम्) उसको (वः) तुम्हारी (जम्भे) जबड़े में (दध्मः) हम धरते हैं ॥ १ ॥

सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति विभक्तिलोपः । प्राच्याः । पूर्वायाः । अभिमुखीभूतायाः (दिक्) विभक्तिलोपः । दिशः (अग्निः) अग्निविद्यायां कुशलः पुरुषः (अधिपतिः) अधिष्ठाता । स्वामी (असितः) अ० १ । २३ । ३ । अबद्धः । कृष्णवर्णः सर्पः—इति सायणः । कृष्णसर्पवत् सेनाव्यूहः (रक्षिता) रक्षकः (आदित्याः) अ० १ । ९ । १ । दित्यदित्यादित्य० पा० ४ । १ । ८५ । इति आदित्य—ण्य प्रत्ययः । आदित्यस्य सूर्यस्य सम्बन्धिनः । सूर्यविद्युदग्निप्रयोगेण सिद्धाः (इषवः) अ० १ । १३ । ४ । आयुधानि—इति सायणः । इषुरीषतेर्गतिकर्मणो बधकर्मणो वा—निरु० ९ । १८ । बाणाः । अस्त्रशस्त्राणि । इषुधारिणः । शूराः (तेभ्यः) दूरस्थेभ्यः । (नमः नमः) अतिशयेन सत्कारोऽन्नं वा । नमः = अन्नम्—निघ० २ । ७ (एभ्यः) समीपस्थेभ्यः (यः) दुष्टः । शत्रुः (द्वेष्टि) बाधते (द्विष्मः) बाधामहे (वः) युष्माकम् । शूराणाम् (जम्भे) जभि नाशे-घञ् । हनौ [Jaw] (दध्मः) धारयामः । अन्यत् सुगमम् ॥

भावार्थ—(आदित्याः इषवः) बाण अर्थात् सब अस्त्र शस्त्र सूर्य वा बिजुली वा अग्नि के प्रयोग से चलने वाले हों। शत्रु दो प्रकार के होते हैं, एक वे जो अपनी दुष्टता से धर्मात्माओं को बुरा जानते हैं, दूसरे वे जिन को धर्मात्मा लोग उनकी दुष्टता के कारण बुरा समझते हैं। उक्त दिशा में (अग्नि) पद वाला सेनापति (असित) नाम काले साँप के समान सेना व्यूह से ऐसे दुष्टों को जीत कर सैनिकों सहित यशस्वी होकर धर्मात्माओं की रक्षा करे ॥ १ ॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥

दक्षिणा। दिक्। इन्द्रः। अधि-पतिः। तिरश्चि-राजिः। रक्षिता। पितरः। इषवः॥ तेभ्यः। नमः। अधिपति-भ्यः। नमः। रक्षितृ-भ्यः। नमः। इषु-भ्यः। नमः। एभ्यः। अस्तु॥ यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। वयम्। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे। दध्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(दक्षिणा—०—णायाः) दक्षिण वा दाहिनी ओर वाली

२—(दक्षिणा) दक्षिणायाः (दिक्) दिशः। दिशायाः। उभयत्र विभक्तेर्लुप्। (तरश्चिराजिः) ऋत्विग्दधृक्०। पा० ३। २। ५९। इति तिरस्+अञ्चु गतिपूजनयोः— क्विन्। अनिदितां हल उप०। पा० ६। ४। २४। इति नलोपः। उगितश्च। पा० ४। १। ६। अत्र वार्त्तिकम्। अञ्चतश्चोपसंख्यानम्। इति ङीप्। छान्दसो ह्रस्वः। वसिवपियजिराजि०। उ० ४। १२५। इति राजृ दीप्तौ, ऐश्वर्ये च—इञ्। तिरश्च्यः तिर्यग् अवस्थिता राजयः, भावलयः, यस्य तथा विधः सर्पः-

(दिक् = दिशः) दिशा का (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला इन्द्र [अधिकारी सेनापति] (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (तिरश्चिराजिः) तिरछी धारी वाले सांप वा पशु पक्षी आदि की पंक्ति [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक हो, (पितरः) रक्षा करने हारे (इषवः) बाण होवें । (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) अधिष्ठाताओं और......... [म० ॥ १ ॥

भावार्थ—उक्त दिशा में (इन्द्र पदधारी सेनापति (तिरश्चिराजि) नाम सेना व्यूह करके शत्रुओं को जीत कर......[म० १] ॥ २ ॥

प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥

प्रतीची । दिक् । वरुणः । अधि-पतिः । पृदाकुः । रक्षिता । अन्नम् । इषवः ॥ तेभ्यः । नमः । अधिपति-भ्यः । नमः । रक्षितृभ्यः । नमः । इषु-भ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु ॥ यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । दध्मः ॥ ३ ॥

इति सायणः । [illegible] समारूढः । यद्वा तिरश्चीनां तर्यग्जातीनां पक्ष्यादीनां पङ्क्तिवत् पङ्क्तिर्यस्य तथाविधः सेना व्यूहः (पितरः) म० १ । २ । १ । रक्षकाः । इषवः, इत्यस्य विशेषणम् । अन्यद् गतम् ॥

३—(प्रतीची) प्रतीच्याः पश्चिमायाः पश्चाद्भागस्थाया वा (दिक्)

भाषार्थ—(प्रतीची=०—च्याः) पश्चिम वा पीछे की (दिक्= दिशः) दिशा का (वरुणः) शत्रुओं का रोकने वाला, वरुण [पदवाला सेनापति (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (पृदाकुः) अजगर, बिच्छू, बाघ, चीता वा हाथी [के समान सेनाव्यूह] (रक्षिता) रक्षक हो, और (अन्नम्) अन्न (इषवः) बाण होवें । (तेभ्यः अधिपतिभ्यः) उन अधिष्ठाओं और...... [म० १] ॥ ३ ।

भावार्थ—उक्त दिशा में (वरुण) नाम अधिकारी सेनापति (पृदाकु) नाम सेनाव्यूह बना कर, और अन्न आदि सामग्री एकत्र रखकर शत्रुओं को जीत कर...... [म० १] ॥ ३ ॥

उदी॑ची॒ दिक् सोमोऽधि॑पति॒: स्व॒जो र॑क्षि॒ताशनि॒रिष॑वः । तेभ्यो॒ नमोऽधि॑पतिभ्यो॒ नमो॑ रक्षि॒तृभ्यो॒ नम॒ इषु॑भ्यो॒ नम॑ एभ्यो अस्तु । यो॒ ३॒ स्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मस्तं वो॒ जम्भे॑ दध्मः ॥ ४ ॥

उदी॑ची । दिक् । सोम॑: । अधि॑-पतिः । स्व॒जः । र॒क्षि॒ता । अ॒शनि॑: । इष॑वः ॥ तेभ्य॑: । नम॑: । अधि॑पति-भ्यः । नम॑: । र॒क्षि॒तृ-भ्य॑: । नम॑: । इषु॑-भ्यः । नम॑: । ए॒भ्य॒: । अ॒स्तु । यः । अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः । तम् । व॒: । जम्भे॑ । द॒ध्म॒: ॥ ४ ॥

दिशः (वरुणः) वारयति शत्रूनिति । शत्रुनिवारकः सेनापतिः (पृदाकुः) अ० १ । २७ । १ । अजगरः । वृश्चिकः । व्याघ्रः । चित्रकः । गजः । तद्वत् सेना व्यूहः (अन्नम्) अद भक्षणे- क्त । सेनारक्षासाधनं भोजनम् । अन्यद् गतम् ॥

४—(उदीची) उदीच्याम्-सू० २६ म० ४ । तत्रवद् रूपसिद्धिः । उदीच्याः । उत्तर-

भाषार्थ—(उदीची = ०- च्याः) उत्तर वा बाईं ओर वाली (दिक् = दिशः) दिशा का (सोमः) प्रेरक वा उत्तेजक [सोम पद वाला सेनापति] (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (स्वजः) आप उत्पन्न होने वाले वा बहुत दौड़ने वाले सांप [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक होवे, और (अशनिः) बिजुली (इषवः) बाण होवें। (तेभ्यः अधिपतिभ्यः) उन अधिष्ठाओं और......[म० १] ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस दिशा में (सोम) नाम अधिकारी सेनापति (स्वज) नाम सेना व्यूह रच कर बिजुली के अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं को जीत कर...... [म० १] ॥ ४ ॥

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ५ ॥

ध्रुवा । दिक् । विष्णुः । अधि-पतिः । कल्माष-ग्रीवः । रक्षिता । वीरुधः । इषवः ॥ तेभ्यः । नमः । अधिपति-भ्यः । नमः । रक्षितृ-भ्यः । नमः । इषु-भ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु ॥ यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् ।

भागस्थितायाः । वामभागवर्त्तमाना याः (सोमः) अ० ३ । १६ । १ । षू प्रेरणे-मन्, तुदादिः । प्रेरकः । उत्तेजकः सेनापतिः (स्वजः) स्व+जः । यद्वा । सु+ अज गतिक्षेपणयोः—अच् । स्वयमेवोत्पन्नः स्वजनशीलो वा सर्पः स्वज :—इति सायणः । तथाविधसर्पवत् सेनाव्यूहः (अशनिः) अर्त्तिस्टधृधम्यम्यश्य०, उ० २ । १०२ । इति अश भक्षणे; वा अशू व्याप्तौ—अनि । [illegible] ...धा ॥ अन्यद् गतम् ॥

द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । दध्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ध्रुवा = ध्रुवायाः) स्थिर (दिक् = दिशः) दिशा का (विष्णुः) कामों में व्यापक [सद्वैद्य] (अधिपतिः) अधिष्ठाता होवे, (कल्माषग्रीवः) चितकबरे वा काले गले वाले सांप [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक होवे, और (वीरुधः) जड़ी बूटी ओषधें (इषवः) बाण होवें । (तेभ्यः अधिपतिभ्यः) उन अधिष्ठाताओं और..... [म० १] ॥ ५ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य दृढ़ वा निश्चित स्थान में ओषधालय से सैनिकों को स्वस्थ रक्खे और उसके साथ सेना (कल्माषग्रीवा) नाम व्यूह बनाकर रहे, और सब मिलकर शत्रुओं को जीतकर...... [म० १] ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वा । दिक् । बृहस्पतिः । अधि-पतिः । श्वित्रः । रक्षिता । वर्षम् । इषवः ॥ तेभ्यः । नमः । अधिपति-भ्यः । नमः । रक्षितृ-भ्यः । नमः । इषु-भ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु ॥

५—(ध्रुवा) अ० २ । २६ । ४ । ध्रुवायाः । स्थिरायाः (दिक्) दिशः । (विष्णुः) अ० ३ । २० । ४ । वेवेष्टि कार्याणि स विष्णुः सद्वैद्यः (कल्माषग्रीवः) कल गतौ—क्विप्, मष वधे—अण् । शेवायह्वजिह्वाग्रीवा० । उ० १ । १५४ । इति गृनिगलने—वन् । कल्माषः कृष्णवर्णः ग्रीवासु यस्यस कल्माषग्रीवः, एतदाख्यः सर्पः—इति सायणः । चित्रग्रीवायुक्तः कृष्णग्रीवायुक्तो वा सर्प इव सेनाव्यूहः (वीरुधः) अ० १ । ३२ । १ । विरोहणशीला ओषधयः । शिष्टं स्पष्टम् ॥

[कृपया इस पत्र को तृतीय काण्ड पृष्ठ ५८१ पर लगा लीजिये]

टिप्पणी—यही मन्त्र [अथर्व का० ३ सू० २७ म० १-६] महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत पुस्तक "पञ्चमहायज्ञविधिः" में "मनसा परिक्रमा मन्त्राः" के नामसे ईश्वर परक अर्थ में आये हैं, वह अर्थ इस प्रकार होता है ॥

भाषार्थ—(प्राची=प्राच्याः) पूर्व वा सन्मुख वाली (दिक्=दिशः) दिशा का (अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता और (असितः) बन्धन रहित (रक्षिता) रक्षक है, [जिसके] (आदित्याः) प्राण और किरणें (इषवः) बाण [के समान] हैं। (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) अधिष्ठाता, (रक्षितृभ्यः) रक्षा करने वाले ईश्वर गुणों को (नमो नमः) बारं बार नमस्कार, और (एभ्यः) इन (इषुभ्यः) बाणों [पापियों के लिये बाणरूप गुणों] को (नमो नमः) बारम्बार नमस्कार (अस्तु) होवे। (यः) जो [अज्ञानी] (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) वैर करता है, [अथवा] (यम्) जिस [अज्ञानी] से (वयम्) हम (द्विष्मः) वैर करते हैं, [हे ईश्वर गुणो !] (तम्) उस को (वः) तुम्हारे (जम्भे) मुख वा वश में (दध्मः) हम धरते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने सन्मुख और पूर्व दिशा में जगद्रक्षक परमात्मा को साक्षात् जानकर पापों से बचें और सब प्राणी अज्ञान और वैर छोड़कर परस्पर मित्र रहें। यही भावार्थ अगले मन्त्रों में लगालें ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दक्षिणा=दक्षिणस्याः) दक्षिण वा दाहिनी (दिक्=दिशः) दिशा का (इन्द्रः) पूर्ण ऐश्वर्य वाला परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता और (तिरश्चिराजिः=०—जेः) तिरछे चलने वाले कीट, पतङ्ग बिच्छू आदि की पंक्ति से (रक्षिता) बचाने वाला है, और (पितरः) ज्ञानी लोग (इषवः) बाण [के समान] हैं। (तेभ्यः) उन...[म० १] ॥ २ ॥

१—(अग्निः) ज्ञानस्वरूपः परमेश्वरः (असितः) षिञ् बन्धने—क्त। बन्धनरहितः (आदित्याः) प्राणाः किरणाश्च (तेभ्यः) ईश्वरगुणेभ्यः। अन्यद् गतं स्पष्टं च ॥

२—(इन्द्रः) परमैश्वर्ययुक्तः परमेश्वरः (तिरश्चिराजिः) पञ्चम्यर्थे प्रथमा। तिर्यग्गतीनां कीटपतङ्गवृश्चिकादीनां पङ्क्तेः सकाशात् ॥

भाषार्थ—(प्रतीची—०-च्याः) पश्चिम वा पीछे वाली (दिक्=दिशः) दिशा का (वरुणः) सब में उत्तम परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता, (पृदाकुः=०-कुभ्यः) बड़े २ अजगर सर्पादि विषधारी प्राणियों से (रक्षिता) बचाने वाला है, अन्नम्) जिसके अन्न [अर्थात् पृथिव्यादि पदार्थ] (इषवः) बाण [बाणों के समान श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों की ताड़ना के लिये] हैं। (तेभ्यः) उन......[म० १] ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(उदीची=०-च्याः) उत्तर वा बाईं (दिक्=दिशः) दिशा का (सोमः) सब जगत् का उत्पन्न करने वाला परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता और (स्वजः) अच्छे प्रकार अजन्मा (रक्षिता) बचाने वाला है, [जिसके] (अशनिः) बिजुली (इषवः) बाण हैं। (तेभ्यः) उन......[१] ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ध्रुवा=ध्रुवायाः) नीचे वाली (दिक्=दिशः) दिशा का (विष्णुः) व्यापक परमात्मा (अधिपतिः) अधिष्ठाता और (कल्माषग्रीवः) हरित रंग वाले वृक्षादि की ग्रीवा वाला (रक्षिता) बचानेवाला है, [जिसके] (वीरुधः) सब वृक्ष (इषवः) बाण [के समान] हैं। (तेभ्यः) उन........ [म० १] ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ऊर्ध्वा=ऊर्ध्वायाः) ऊपर वाली (दिक्—दिशः) दिशा का (बृहस्पतिः) बड़ी वाणी अर्थात् वेदशास्त्र, और बड़े आकाशादि का स्वामी परमेश्वर (अधिपतिः) अधिष्ठाता और (श्वित्रः) ज्ञानमय और वृद्धिमय (रक्षिता) बचाने वाला है, जिसके (वर्षम्) बरसा के बिन्दु (इषवः) बाण [के समान] हैं। (तेभ्यः) उन.........[म० १] ॥ ६ ॥

३—(वरुणः) सर्वोत्तमः परमेश्वरः (पृदाकुः=पृदाकुभ्यः) अजगरसर्पादिमहाविषधारिभ्यः प्राणिभ्यः (अन्नम्) कृवृजृ० । उ० ३ । १० । इति अन जीवने—न । पृथिव्यादिपदार्थः ॥

४—(सोमः) सर्वजगदुत्पादकः (स्वजः) सु-अजः । सुष्ठु अजन्मा ॥

५—(ध्रुवा=ध्रुवायाः) अधः स्थायाः (विष्णुः) व्यापक ईश्वरः (कल्माषग्रीवः) कल्माषा हरितवर्णा वृक्षादयो ग्रीवावद् यस्य सः (वीरुधः) वृक्षाः ।

६—(बृहस्पतिः) बृहत्या वाचो बृहतो वेदशास्त्रस्य बृहतामाकाशादानां च पतिः (श्वित्रः) अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः । उ० ४ । १६४ । इति टुओश्वि गतिवृद्ध्योः-क्त्र । ज्ञानमयो वृद्धिमयश्च ॥

यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। व॒यम्। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे। दध्मः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ऊर्ध्वा—ऊर्ध्वायाः) ऊपर वाली (दिक् = दिशः) दिशा का (बृहस्पतिः) बड़े २ शूरों का स्वामी, बृहस्पति [पद वाला सेनापति] (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (श्वित्रः) श्वेत वर्ण वाले सांप [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक होवे, (वर्षम्) वर्षा [वृष्टि विद्या] (इषवः) बाण होवें। (तेभ्यः अधिपतिभ्यः रक्षितृभ्यः) उन अधिष्ठाओं और रक्षकों के लिये (नमो नमः) बहुत २ सत्कार वा अन्न, और (एभ्यः इषुभ्यः) इन बाणों (बाण वालों) को (नमो नमः) बहुत २ सत्कार वा अन्न (अस्तु) होवे। (यः) जो [बैरी] (अस्मान् द्वेष्टि) हम से बैर करता है, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम् द्विष्मः) हम बैर करते हैं, [हे शूरो !] (तम्) उस को (वः जम्भे) तुम्हारे जबड़े में (दध्मः) हम धरते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—(बृहस्पति) मुख्य सेनापति पर्वत आदि उच्च स्थान में (श्वित्र) नाम सेना व्यूह रच कर ठहरे और वारुणेय अर्थात् जल संबन्धी अस्त्र शस्त्रों से, अथवा अस्त्र शस्त्रों की वर्षा करके बैरियों को मिटा कर संसार में सैनिकों समेत कीर्ति पावे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—६ ॥ यमिनी देवता ॥ १ भुरिग् जगती। २, ३ अनुष्टुप्,

६—(ऊर्ध्वा) सू० २६ म० ६। ऊर्ध्वायाः। उपरिवर्तमानायः। (दिक्) दिशः। दिशायाः (बृहस्पतिः) बृहतां शूराणां स्वामी। मुख्यसेनापतिः (श्वित्रः) स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ० २। १३। इति श्विता वर्णे—रक्। श्वित्रः श्वेतवर्णः, एतत्संज्ञः सर्पः—इति सायणः। श्वेतसर्पवत् सेनाव्यूहः (वर्षम्) वृष्टिजल-विद्या। वृष्टिवदायुधवृष्टिः। अन्यद् व्याख्यातम् ॥

४ स्वराड् गायत्री । ५ त्रिष्टुप् । ६ पूर्वार्धः स्वराड् गायत्री, द्वितीयस्त्रिष्टुप् , ॥

सुनियमेन सुखं भवति-उत्तम नियम से सुख होता है ।

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः । यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशती ॥ १ ॥

एक-एकया । एषा । सृष्ट्या । सम् । बभूव । यत्र । गाः । असृजन्त । भूत-कृतः । विश्व-रूपाः ॥ यत्र । वि-जायते । यमिनी । अप-ऋतुः । सा । पशून् । क्षिणाति । रिफती । रुशती ॥ १ ॥

भाषार्थ—(एषा) यह [साधारणी सृष्टि] (एकैकया) एक एक (सृष्ट्या) सृष्टि [सृष्टि के परमाणु] से (सम्=संभूय) मिलकर (बभूव) हुई है, (यत्र) जिसमें (भूतकृतः) पृथ्वी आदि भूतों से बनाने वाले (विश्वरूपाः) नाना रूप वाले [ईश्वर गुणों] ने (गाः) भूमि, सूर्य आदि लोकों को

१—(एकैकया) भिन्नभिन्नया । व्याप्त्या पृथक् (सृष्ट्या) सृज विसर्गे-क्तिन् । सृजमानया (एषा) समस्तिरूपा सृष्टिः (सम्) संभूय (यत्र) यस्मिन् स्थाने । (गाः) गौः, पृथिवी—निघ० १ । १ । गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद् दूरङ्गता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति—निरु० २ । ५ । गौरित्यादित्यो भवति गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षे—निरु० २ । १४ । भूमिसूर्यादीन् लोकान् (असृजन्त) उदपादयन् (भूतकृतः) डुकृञ् करणे-क्विप् । पृथिवीजलतेजोवायुगगनैः निर्मातारः (विश्वरूपाः) नानारूपाः परमेश्वरगुणाः (विजायते) विविधं प्रादुर्भवति (यमिनी) अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति यम-इनि । ङीब्भ्यो

(असृजन्त) सृजा है। (यत्र) जहाँ पर (यमिनी) उत्तम नियम वाली [बुद्धि] (अपर्तुः) ऋतु अर्थात् क्रम वा व्यवस्था से विरुद्ध (विजायते) हो जाती है, [वहाँ] (सा) वह [व्यवस्था विरुद्ध बुद्धि] (रिफती) पीड़ा देती हुई और (रुशती) सताती हुई (पशून्) व्यक्त वाणी वाले और अव्यक्त वाणी वाले जीवों को (क्षिणाति) नष्ट कर देती है ॥ १ ॥

भावार्थ—ईश्वर ने अपनी सर्वशक्तिमत्ता से एक एक परमाणु के संयोग से नियमानुसार यह इतनी बड़ी सृष्टि रची है, । जो प्राणी ईश्वरीय नियम तोड़ता है, वह दुःखदायी होता है ॥ १ ॥

एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी ।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

एषा । पशून् । सम् । क्षिणाति । क्रव्य-अत् । भूत्वा । वि-अद्वरी ॥ उत । एनाम् । ब्रह्मणे । दद्यात् । तथा । स्योना । शिवा । स्यात् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(एषा) यह [व्यवस्था विरुद्ध बुद्धि] (क्रव्याद्) माँस

ङीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति ङीप् । भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संबन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः। वा० पा० ५ । २ । ६४, प्रशस्तयमयुक्ता सृष्टिः प्रजा बुद्धिर्वा (अपर्तुः) अपगतो वर्जित ऋतुर्नियमितकालः क्रमो व्यवस्था यस्याः सा तथाभूता (सा) अपर्तु बुद्धिः (पशून्) पशवो व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११ । २६ । मनुष्यगवादीन् जीवान् (क्षिणाति) क्षि हिंसायाम् । नाशयति (रिफती) रिफ हिंसायाम्—शतृ । पीड़ां कुर्वती (रुशती) रुश हिंसायाम्—शतृ । दुःखं प्रापयन्ती ॥

२—(एषा) अपर्तुबुद्धिः (पशून्) द्विपदश्चतुष्पदः प्राणिनः (संक्षिणाति)

खाने वाली और (व्यद्वरी) अनेक विधि से भक्षणशीला (भूत्वा) होकर (पशून्) दोपाये और चौपाये जीवों को (संक्षिणाति) सर्वथा नष्ट करती है। (उत) इसलिए (एनाम्) इस [अनिष्ट बुद्धि को] (ब्रह्मणे) ब्रह्म [ईश्वर, वेद, वा ब्राह्मण को] (दद्यात्) वह सौंपे, (तथा) तौ वह (स्योना) सुखदायिनी और (शिवा) कल्याणी (स्यात्) हो जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—कुबुद्धि पापी मनुष्य परमात्मा वा वेद वा उत्तम विद्वान् की शरण लेकर उत्तम कर्म करने से सुधर जाता है ॥ २ ॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥

शिवा । भव । पुरुषेभ्यः । गोभ्यः । अश्वेभ्यः । शिवा ॥ शिवा । अस्मै । सर्वस्मै । क्षेत्राय । शिवा । नः । इह । एधि ॥ ३ ॥

भावार्थ—(हे यमिनी, उत्तम नियम वाली बुद्धि!) (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये (शिवा) कल्याणी, और (गोभ्यः) गौओं को और (अश्वेभ्यः) घोड़ों को (शिवा) कल्याणी (भव) हो, (इह) यहां (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय) इस सब खेत को (शिवा) कल्याणी और (नः) हम को (शिवा) कल्याणी (एधि) हो ॥३

सर्वथा नाशयति (क्रव्याद्) अ० २ । २५ । ५ । मांसभक्षिका (व्यद्वरी) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इतिवि + अद भक्षणे—वनिप् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । इति ङीब्रेफौ । विविधं भक्षणशीला (उत) एवंविधे । (एनाम्) अपतुं बुद्धिम् (ब्रह्मणे) ईश्वरस्य वेदस्य ब्राह्मणस्य वा शरणाय । (दद्यात्) समर्पयेत् (तथा) तेन प्रकारेण (स्योना)अ० १ । ३३ । १ । सुखकरी । (शिवा) कल्याणी । (स्यात्) भवेत् ॥

३—(क्षेत्राय) अ० २ । ८ । ५ । शालिगोधूमादिकेदारवर्धनाय (एधि)

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर ज्ञान से उत्तम बुद्धि पाकर सब संसार को सुखदायी होता है ॥ ३ ॥

इह पुष्टिरिह रसं इह सहस्रसातमा भव।
पशून् यमिनि पोषय ॥ ४ ॥

इह । पुष्टिः । इह । रसः । इह । सहस्र-सातमा । भव ॥
पशून् । यमिनि । पोषय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इह) यहां पर (पुष्टिः) पुष्टि, और (इह) यहां पर ही (रसः) रस होवे। (यमिनि) हे उत्तम नियम वाली बुद्धि! (इह) यहां पर (सहस्रसातमा) अत्यन्त करके सहस्रों प्रकार से धन देने वाली (भव) हो, और (पशून्) व्यक्त और अव्यक्त वाणी वाले जीवों को (पोषय) पुष्ट कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—उत्तम नियम युक्त बुद्धि से मनुष्य अनेक प्रकार की वृद्धि, और दूध, घी, आदि रस, और बहुत सा धन पाकर सब जीवों की रक्षा करता है ॥ ४ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः। तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्

अस्तेर्लोटि रूपम् । भव । अन्यत् स्पष्टम् ॥

४—(पुष्टिः) वृद्धिः । समृद्धिः (रसः) क्षीरदुग्धादिरूपः (सहस्रसातमा) जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । इति सहस्र+षणु दाने-विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । प० ६ । ४ । ४१ । इति आत्त्वम् । अतिशायने तमबिष्ठनौ । पा० ५ । ३ । ५५ । इति तमप् । टाप् । अतिशयेन सहस्रधनस्य दात्री (पोषय) समर्धय । अन्यद् व्याख्यातं म० १ ॥

पुरुषान् पशूंश्च ॥ ५ ॥

यत्र । सु-हार्दः । सु-कृतः । मदन्ति । वि-हाय । रोगम् । तन्वः । स्वायाः ॥ तम् । लोकम् । यमिनी । अभि-संबभूव । सा । नः । मा । हिंसीत् । पुरुषान् । पशून् । च । ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जहाँ पर (सुहार्दः) सुन्दर हृदय वाले (सुकृतः) सुकर्मी लोग (स्वायाः तन्वः) अपने शरीर का (रोगम्) रोग (विहाय) त्याग कर (मदन्ति) आनन्द भोगते हैं। (तम्) उस (लोकम्) लोक [जनसमूह] को (यमिनी) उत्तम नियम वाली [सुमति] (अभिसंबभूव) साक्षात् आकर मिली है। (सा) वह [सुमति] (नः) हमारे (पुरुषान्) पुरुषों (च) और (पशून्) ढोरों को (मा हिंसीत्) न पीड़ा दे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस घर में परस्पर हितैषी पुण्यात्मा स्त्री पुरुष नीरोग रहकर विद्या और धन को भोगते हैं, वह उनकी नियमवती सुमति देवी का

५—(यत्र) यस्मिन् लोके गृहे (सुहार्दः) हृदये भवं हार्दम्। प्राग्दीव्यतोऽण्। पा० ४। १। ८३। इति हृदय-अण्। हृदयस्य [illegible] लासेषु। पा० ६। ३। ५०। इति हृदयस्य हृत्। अन्त्यलोपश्छान्दसः। यद्वा। हार्दम् आनुकूल्यं करोति हार्दयति। हार्दयतेः क्विपि णिलोपे रूपम्। शोभनहार्दः। सुहृदयाः। अनुकूलकारिणः। (सुकृतः) सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः। पा० ३। २। ८९। डुकृञ् करणे-क्विप्। शोभनकर्माणः। (मदन्ति) मदी = हर्षे। हृष्यन्ति (विहाय) ओहाक् त्यागे-ल्यप्। त्यक्त्वा (रोगम्) व्याधिम् (तन्वः) शरीरस्य। (स्वायाः) स्वकीयस्य (लोकम्) लोक दर्शने To look घञ्। जनसमूहम् (यमिनी) म० १। नियमवती सुमतिः (अभिसंबभूव) भू सत्तायाम् प्राप्तौ च-लिट् आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्तवती (मा हिंसीत्) मा हिनस्तु (नः) अस्माकं (पुरुषान्) कलत्रपुत्रपौत्रभृत्यादीन्। (पशून्) गवश्वादीन् ॥

साक्षात् फल है। वहाँ पर सब मनुष्य और गौ, घोड़े आदि बहुत काल तक जीकर आपस में उपकारी होते हैं ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध अ० का० ६ सू० १२० मं० ३ में इस प्रकार है।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः। अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥

जहाँ पर सुन्दर हृदय वाले सुकर्मी लोग अपने शरीर का रोग त्याग कर आनन्द भोगते हैं, (तत्र) वहाँ पर (स्वर्गे) स्वर्ग में (अश्लोणाः) बिना लँगड़े हुये और (अङ्गैः अह्रुताः) अंगों से बिना टेढ़े हुये हम (पितरौ) माता पिता (च) और (पुत्रान्) सन्तानों को (पश्येम) देखते रहें ॥

यत्रा सुहार्दां सुकृतामग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः। तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥६॥

यत्र। सु-हार्दाम्। सु-कृताम्। अग्निहोत्र-हुताम्। यत्र। लोकः॥ तम्। लोकम्। यमिनी। अभि-संबभूव। सा। नः। मा। हिंसीत्। पुरुषान्। पशून्। च॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जहाँ पर (सुहार्दाम्) सुन्दर हृदय वाले (सुकृताम्) सुकर्मियों का और (यत्र) जहाँ पर (अग्निहोत्रहुताम्) अग्निहोत्र

६—(सुहार्दाम्) म० ५। शोभनहृदयानां शोभनज्ञानानाम्। (सुकृताम्) म० ५। शोभनं कर्म कृतवताम् (अग्निहोत्रहुताम्) अग्निहोत्र+हु दानादानादनेषु-क्विप्, तुक् च। अग्नौ होमादिकं जुह्वतां कुर्वताम्। अन्यद् गतम् ॥

करने वालों का (लोकः) लोक [जन समूह] है, (तम् लोकम्) उस लोक को (यमिनी) उत्तम नियम वाली [सुमति] (अभिसंबभूव) साक्षात् आकर मिली है। (सा) वह [सुमति] (नः पुरुषान्) हमारे पुरुषों (च) और (पशून्) ढोरों को (मा हिंसीत्) न पीड़ा दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जहाँ सब स्त्री पुरुष एक मन रहकर पुण्यात्मा पुरुषार्थी होकर अग्निहोत्र करते अर्थात् वेद मन्त्रों से अग्नि में मिष्ट सुगन्ध द्रव्य चढ़ा कर वायुशुद्धि करते और अग्निविद्या द्वारा अग्निनौका, अग्नियान, विमान आदि रचते, वहाँ (यमिनी) नियमवती सुमति के निवास से सब जने आनन्द भोगते हैं ॥ ६ ॥

सूक्तम् २९ ॥

१—८ ॥ १—६ अविर्देवता, ७, ८ कामो देवता ॥ १ प्रस्तारपङ्क्तिः । २, ४—६ अनुष्टुप् । ३ पङ्क्तिः, ७ साम्नी गायत्री । ८ पूर्वार्धो द्विपदानुष्टुप्, उत्तरार्धो द्विपदा त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यः परमेश्वर भक्त्या सुखंलभते=मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से सुख पाता है ॥

यद् राजा॑नो वि॒भज॑न्त इष्टापू॒र्तस्य॑ षोड॒शं य॒मस्या॒मी स॑भा॒सद॑ः। अवि॒स्तस्मा॑त् प्र मु॑ञ्चति द॒त्तः शि॑तिपात् स्व॒धा ॥ १ ॥

यत्। राजा॑नः। वि॒-भज॑न्ते। इ॒ष्टा॒पू॒र्तस्य॑। षो॒ड॒शम्। य॒मस्य॑। अ॒मी इति॑। स॒भा॒-सद॑ः ॥ अवि॑ः। तस्मा॑त्।

प्र । मुञ्चति । दत्तः । शिति-पात् । स्वधा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस कारण से (यमस्य) नियमकर्ता परमेश्वर के (अमी सभासदः) यह सभासद् (राजानः) ऐश्वर्य वाले राजा लोग (इष्टापूर्तस्य) यज्ञ, वेदाध्ययन, अन्नदानादि पुण्य कर्म के [फल], (षोडशम्) सोलहवें पदार्थ मोक्ष को [चार वर्ण, चार आश्रम, सुनना, विचारना, ध्यान करना, अप्राप्त की इच्छा, प्राप्त की रक्षा, रक्षित का बढ़ाना, बढ़े हुए का अच्छे मार्ग में व्यय करना, इन पन्द्रह प्रकार के अनुष्ठान से पाये हुए सोलहवें मोक्ष को]

१—(यद्) यस्मात् कारणात् (राजानः) अ० १ । १० । १ । ईश्वराः । समर्थाः (विभजन्ते) विशेषेण सेवन्ते (इष्टापूर्तस्य) अ० २ । १२ । ४ । यज्ञवेदाध्ययनान्नदानादिपुण्यकर्मणः (षोडशम्) तस्य पूरणे डट् । पा० ५ । २ । ४८ । इति षोडशन्—डट् । षष उत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च । वा० पा० ६ । ३ । १०६ । इति उत्वष्टुत्वे । षोडशानां पूरकम् । चत्वारो वर्णाश्चत्वार आश्रमाः श्रवण मनन निदिध्यासनानि त्रीणि कर्माणि, अलब्धस्य लिप्सा, लब्धस्य यत्नेन रक्षणं, रक्षितस्य वृद्धिः, वृद्धस्य सन्मार्गे व्ययकरणमेष चतुर्विधः पुरुषार्थः । एतैः पञ्चदशभिः प्राप्तं षोडशं मोक्षम् यथा दयानन्दभाष्ये, यजुर्वेदे ६ । ३४ (यमस्य) यमयतीति यमः । यम परिवेषणे—अच् । नियन्तुः । नियामकस्य । धर्मराजस्य । परमेश्वरस्य (अमी) परिदृश्यमानाः (सभासदः) सभा+षद्लृ गतौ, उपवेशने—क्विप् । सभेयाः (अविः) अ० ३ । १७ । ३ । अव रक्षणगतिकान्तिप्रीत्यादिषु—इन् । रक्षकः । गतिवान् । प्रभुः । सूर्यः, सूर्यरूपः परमात्मा (तस्मात्) पूर्वोक्तात् कारणात् (प्र) प्रकर्षेण (मुञ्चति) दुःखात् मुक्तं करोति (दत्तः) आत्मने समर्पितः (शितिपात्) क्रमितमिशतिस्तम्भामत इच्च उ० ४ । १२२ इति शति, हिंसायाम्—इन् । स च कित्, अत इकारः । पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः । पा० ५ । ४ । १३८ । इति अकारलोपः । शितिः शुक्लः, कृष्णश्च । तयोर्मध्ये पादो गमनं यस्य स तथाभूतः । प्रकाशान्धकारयोः समानगमनः । (स्वधा) अ० २ । २६ । ७ । स्वम् अस्माकमात्मानं पुष्णाति धनं ददातीति वा, । अमृतरूपः । अन्नरूपो भूत्वा ॥

(विभजन्ते विशेष करके भोगते हैं, (तस्मात्) उसी कारण से [आत्मा को] (दत्तः) दिया हुआ, (शितिपात्) उज्याले और अन्धेरे में गति वाला, (अविः) प्रभु (स्वधा) हमारे आत्मा का पुष्ट करने वाला वा धन का देने वाला अमृत रूप वा अन्न रूप होकर [पुरुषार्थी को] (प्र) अच्छे प्रकार से (मुञ्चति मुक्त करता है ॥ १ ॥

भावार्थ—धर्मराज परमेश्वर की आज्ञा मानने वाले पुरुषार्थी स्त्री पुरुष मोक्ष सुख भोगते रहते हैं, इसी से सब लोग उस अन्तर्यामी को हृदय में रख कर पुरुषार्थ से (स्वधा) अमृत अर्थात् आत्म बल और धनधान्य पाकर मोक्ष आनन्द भोगें ॥ १ ॥

सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन् ।
आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति ॥ २ ॥

सर्वान् । कामान् । पूरयति । आ-भवन् । प्र-भवन् । भवन् । आकूति-प्रः । अविः । दत्तः । शिति-पात् । न । उप । दस्यति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(आकूतिप्रः) संकल्पों का पूरा करने वाला, [आत्मा को] (दत्तः) दिया हुआ, (शितिपात्) प्रकाश और अप्रकाश में गति वाला (अविः) रक्षक प्रभु (आभवन्) व्यापक, (प्रभवन्) समर्थ और (भवन्) वर्तमान होता हुआ (सर्वान् कामान्) सब सुन्दर कामनाओं को (पूरयति) पूरा करता है, और (न) नहीं (उप दस्यति) घटता है ॥ २ ॥

२—(सर्वान्) समस्तान (कामान्) शुभाभिलाषान् (पूरयति) संपूर्णान् करोति (आभवन्) भू सत्तायां व्याप्तौ च-शतृ । आ समान्ताद् भवन् व्याप्नुवन् (प्रभवन्) समर्थः प्रबलः सन् (भवन्) वर्त्तमानः सन् (आकूतिप्रः) आकूति+प्रा पूरणे—क । संकल्पपूरकः (नोपदस्यति) दसु उपक्षये । न [illegible] । अपितु वर्धते । अन्यद् गतं म० ॥ १ ॥

भावार्थ— उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा का इतना बड़ा कोश है कि सब सृष्टि की शुभ कामनाओं को पूरा करते २ भी भरपूर ही बना रहता है ॥२॥

ईशावस्योपनिषद् के आरंभ में पाठ है।

ओ३म् । पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ १ ॥

ओ३म् । वह [ब्रह्म] पूर्ण [भरपूर] है, यह [जगत्] पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण उदय होता है, पूर्ण से पूर्ण लेकर पूर्ण ही बच रहता है ॥ १ ॥

यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥ ३ ॥

यः । ददाति । शिति-पादम् । अविम् । लोकेन । सम्-मितम् । सः । नाकम् । अभि-आरोहति । यत्र । शुल्कः । न । क्रियते । अबलेन । बलीयसे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो कोई (लोकेन) संसार कर के (संमितम्) सन्मान किये गये, (शितिपादम्) प्रकाश और अन्धकार में गतिवाले (अविम्)

३—(यः) यः कश्चित् (ददाति) स्वात्मने प्रयच्छति, समर्पयति । (शिति-पादम्) म० १ । प्रकाशान्धकारगतिवन्तम् । (अविम्) म० १ । प्रभुम् । (लोकेन) संसारेण (संमितम्) माङ् माने-क्त । द्यतिस्यतिमास्थामित् ति किति । पा० ७ । ४ । ४० । इति इकारः । सन्मानितः (नाकम्) अ० १ । ९ । २, न+अकम् । स्वर्गम् । सुखम् (अभ्यारोहति) अभित आरूढो भवति । अभिप्राप्नोति (यत्र) यस्मिन् (शुल्कः) शुल्क कथने, सर्जने, वर्जने च—घञ् । करः (न) निषेधे (क्रियते) दीयते (अबलेन) निर्बलेन (बलीयसे) बलवत्—ईयसुन् । विन्मतोर्लुक् । पा० ५ । ३ । ६५ । इति मतोर्लुक् । बलवत्तराय ॥

रक्षक प्रभु का [अपने आत्मा में] (ददाति) दान करता है, (सः) वह पुरुष (नाकम्) दुःख रहित स्वर्ग को (अभ्यारोहति) चढ़ जाता है, (यत्र) जहाँ पर (अबलेन) निर्बल करके (बलीयसे) अधिक बलवान् को (शुल्कः) शुल्क [कर] (न) नहीं (क्रियते) किया जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो कोई सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म को अपने में ग्रहण करता है, वह सन्मार्गी बड़ों और छोटों के साथ एक सा न्याय करता हुआ सदा आनन्द भोगता है ॥ ३ ॥

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति पितृणां लोकेऽक्षितम् ॥ ४ ॥

पञ्च-अपूपम् । शिति-पादम् । अविम् । लोकेन । सम्-मितम् ॥ प्र-दाता । उप । जीवति । पितृणाम् । लोके । अक्षितम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पञ्चापूपम्) विस्तीर्ण वा [पूर्वादि चार और ऊपर नीचे

४—(पञ्चापूपम्) सप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति पचि व्यक्तीकारे विस्तारे च-कनिन् । इति पञ्च विस्तीर्णः संख्यावाचको वा । पानीविषिभ्यः पः । उ० ३ । २३ । इति पूयी विशरणे दुर्गन्धे च पप्रत्ययः, यलोपः । अपूपः, अविशरणम् अहानिः गोधूमादिपिष्टकं वा । विस्तीर्णविशरणम् । संपूर्ण[illegible]कम् । यद्वा मध्यपदलोपः । पञ्चसु दिक्षु अपूपः, [illegible] अहानिः पूर्णता यस्य, यद्वा, दुर्गन्धरहितं पिष्टकं यस्मात् तं तथाभूतम् (प्रदाता) न लोकाव्ययनिष्ठा० । पा० २ । ३ । ६९ । इति तृन्नन्तत्वात् कर्मणि षष्ठ्या निषेधे द्वितीयैव । प्रदायकः (उप जीवति) उपभुङ्क्ते (पितृणाम्) रक्षकाणाम् । जननीजनकादिमान्यानां विदुषां शूराणाम् (लोके) जनसमूहे (अक्षितम्) नपुंसके भावे क्तः । पा० ३ । ३ । ११४ । इति क्षि क्षये-भावे क्त । अक्षयत्वम् । सम्पन्नवृद्धिम् । अन्यद् गतम् ॥

की पाँचवीं] पाचों दिशाओं में अटूट शक्ति वाले, अथवा बिना सड़ी रोटी देने वाले (शितिपादम्) प्रकाश और अन्धकार में गति वाले, (लोकेन) संसार करके (संमितम्) सन्मान किये गये (अविम्) रक्षक प्रभु का [अपने आत्मा में] (दाता) अच्छे प्रकार दान करने वाला (पितॄणाम्) रक्षक पुरुषों [बलवान और विद्वानों] के (लोके) लोक में (अक्षितम्) अक्षयता [नित्य वृद्धि] को (उपजीवति) भोगता है ॥ ४)

भावार्थ—अक्षय शक्ति वाले, सृष्टि भर को नित्य नवीन भोजन देने वाले, सर्वद्रष्टा परमेश्वर का उपासक माता पिता आदि विद्वान् वीर पितरों के साथ अक्षय (नित्य नवीन) सुख पाता है ॥ ४ ॥

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥ ५ ॥

पञ्च-अपूपम् । शिति-पादम् । अविम् । लोकेन । सम्-मितम् ॥ प्र-दाता । उप । जीवति । सूर्यामासयोः । अक्षितम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(पञ्चापूपम्) विस्तीर्ण वा [पूर्वादि चार और ऊपर नीचे की पांचवीं] पाँचों दिशाओं में अटूट शक्ति वाले, अथवा बिना सड़ी रोटी देने वाले, (शितिपादम्) प्रकाश और अन्धकार में गति वाले, (लोकेन) संसार करके (संमितम्) सन्मान किये गये (अविम्) रक्षक प्रभु का [अपने आत्मा में] (प्रदाता) अच्छे प्रकार दान करने वाला (सूर्यामासयोः) सूर्य और चन्द्रमा

५—(सूर्यामासयोः) सुवति प्रेरयति लोकान् कर्मणि स सूर्यः । अ० १ । ३ । ५ । मसी परिमाणे-घञ् । मस्यते परिमीयते गगनं येन स मासः, चन्द्रमाः । सूर्यश्च मासश्च सूर्यामासौ । देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । इति आनङ् । सूर्याचन्द्रमसोर्नियमेन । अन्यदुपरि व्याख्यातम् ॥

में [उनके नियम में] (अक्षितम्) अक्षयता [नित्यवृद्धि] को (उप जीवति) भोगता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—सूर्य आकर्षण और वृष्टि आदि से पृथिवी आदि लोकों का धारण करता और चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश पाकर हमें पुष्टि पहुँचाता है। इसी प्रकार जो मनुष्य मन्त्रोक्त ईश्वर को अपने हृदय में रखकर परोपकार करता है उसका सुख नित्य बढ़ता है ॥ ५ ॥

इरे॑व॒ नोप॑ दस्यति समु॒द्र इ॑व॒ पयो॑ म॒हत् ।
दे॒वौ सं॑वा॒सिना॑विव शिति॒पान्नोप॑ दस्यति ॥ ६ ॥

इरा॑-इव । न । उप॑ । द॒स्यति॒ । स॒मु॒द्रः-इ॑व । पयः॑ । म॒हत् ॥
दे॒वौ । स॒वा॒सिनौ॑-इव । शि॒ति॒-पात् । न । उप॑ । द॒स्य॒ति॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(शितिपात्) प्रकाश और अन्धकार में [illegible] परमेश्वर (इरा इव) भूमि वा विद्या के समान और (समुद्रः) समुद्र, अर्थात् (महत्) बड़े (पयः इव) जलराशि के समान (न) नहीं (उप दस्यति) घटता है, और (देवौ) दिव्य गुण वाले (सवासिनौ इव) साथ साथ निवास करने वाले दोनों [प्राण और अपान वा दिनरात] के समान वह (न) नहीं (उप दस्यति) घटता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे भूमि, विद्या, जल, वायु आदि उचित प्रयोग से अधिक अधिक उपकारी होते हैं, इसी प्रकार ईश्वर का उपकारी कोश विज्ञान द्वारा मनुष्य को बढ़ता चला जाता है ॥ ६ ॥

६—(इरा) ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति इण् गतौ-रक् । अथवा, इं कामं कामनां राति ददाति । रा दाने-क । टाप् । भूमिः । वाक् । विद्या (नोपदस्यति) म० २ । नोपक्षीयते (समुद्रः) जलधिः । अन्तरिक्षं वा (पयः) जलौघः (महत्) विशालम् (देवौ) दिव्यगुणौ (सवासिनौ) सह समानं वा निवसन्तौ । अश्विनौ प्राणापानौ । अन्यद् व्याख्यातं ॥

क इ॒दं कस्मा॑ अदा॒त् कामः॒ कामा॑यादात् ।
कामो॑ दा॒ता कामः॑ प्रतिग्रही॒ता कामः॑ समु॒द्रमा वि॑वेश ।
कामे॑न त्वा॒ प्रति॑ गृह्णामि॒ काम॑ै॒तत् ते॑ ॥ ७ ॥

कः । इ॒दम् । कस्मै॑ । अ॒दा॒त् । कामः॑ । कामा॑य । अ॒दा॒त् ॥
कामः॑ । दा॒ता । कामः॑ । प्र॒ति॒-ग्र॒ही॒ता । कामः॑ । स॒मु॒द्रम् ।
आ । वि॒वे॒श॒ ॥ कामे॑न । त्वा॒ । प्र॒ति॑ । गृ॒ह्णा॒मि॒ । काम॑ ।
ए॒तत् । ते॒ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(कः) किसने (इदम्) यह [कर्मफल] (कस्मै) किस को (अदात्) दिया है ? [इसका उत्तर] (कामः) मनोरथ [वा कामना योग्य परमेश्वर] ने (कामाय) मनोरथ [वा कामना करने वाले जीव] को (अदात्) दिया है ।

(कामः) मनोरथ [वा कमनीय ईश्वर] (दाता) देने वाला और (कामः) मनोरथ [वा कामना वाला जीव] (प्रतिग्रहीता) लेने वाला है । (कामः) मनोरथ ने (समुद्रम्) समुद्र [पार्थिव समुद्र वा अन्तरिक्ष] में (आ विवेश) प्रवेश किया है ।

(काम) हे मनोरथ ! [वा कमनीय ईश्वर] (त्वा) तुझ को (प्रति गृह्णामि) मैं जीव ग्रहण करता हूँ, (एतत्) यह [सब काम] (ते) तेरा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—संसार में देना लेना आदि सब उपकारी काम कामना

७—(इदम्) कर्मफलम् (अदात्) दत्तवान् (कामः) कमु-घञ् । कामना । सर्वैः कमनीयः परमेश्वरः । कामयमानो जीवः (दाता) कर्मफलस्य प्रदायकः (प्रतिग्रहीता) स्वीकर्ता (समुद्रम्) गम्यस्थानम् । जलधिम् । अन्तरिक्षम् । (आ विवेश) प्रविष्टवान् । प्राप्तवान् (त्वा) कामम् (प्रति गृह्णामि) अङ्गीकरोमि (एतत्) कर्म (ते) तुभ्यम् । अन्यत् सुगमम् ॥

से सिद्ध होते हैं, कामना से ही प्रयत्न के साथ मन देने पर मनुष्य के सब कठिन कामों को परमेश्वर सुगम करदेता है ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद ७। ४८। में है। उसका अर्थ श्रीमद् दयानन्द सरस्वती के भाष्य के आधार पर किया है।

कोऽदात् कस्मा अदात् कामोऽदात् कामायादात्।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते ॥

(कः) किस ने [कर्म फल] (अदात्] दिया है, और [कस्मै] किस को [अदात्] दिया है। इन दो प्रश्नों के उत्तर, (कामः) कामनायोग्य परमेश्वर ने (अदात्) दिया है, और (कामाय) कामना करने वाले जीव को (अदात्) दिया है। (कामः) योगीजनों के कामना योग्य परमेश्वर [दाता] देने वाला है। (कामः) कामना करने वाला जीव (प्रतिग्रहीता) लेने वाला है। (काम) हे कामना करने वाले जीव ! (ते) तेरे लिये (एतत्) यह सब है ॥

भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत्।
माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि ॥ ८ ॥

भूमिः। त्वा। प्रति। गृह्णातु। अन्तरिक्षम्। इदम्। महत् ॥ मा। अहम्। प्राणेन। मा। आत्मना। मा। प्र-जया। प्रति-गृह्य। वि। राधिषि ॥ ८ ॥

भाषार्थ(हे) काम (भूमिः) भूमि और (इदम्) यह (महत्) बड़ा

८—(भूमिः) भूमिस्थपदार्थाः, इत्यर्थः (त्वा) कामम् (प्रतिगृह्णातु) अङ्गीकरोतु (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षस्थपदार्थाः। (मा) निषेधे (प्राणेन) (आत्मना-

(अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष भी (त्वा) तुझको (प्रति गृह्णातु) स्वीकार करे। (अहम्) मैं जीव,(प्रतिगृह्य) पाकर, (मा) न (प्राणेन) प्राण से, [शरीर बल] से, (मा) न (आत्मना) आत्मबल से, और (मा) न (प्रजया) प्रजा से, (वि राधिषि) अलग हो जाऊं ॥ ८ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य सत्य कामना से भूमि और आकाश का राज्य हस्तगत कर लेता है, और शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक बल दृढ़ करके संसार में सुखी रहता है ॥ ८ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१-७ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १-४ अनुष्टुप् । ५ त्रिष्टुप् जगती वा । ६ प्रस्तारपङ्क्तिः । ७ त्रिष्टुप् ।

परस्परप्रीत्युपदेशः—परस्पर मेल का उपदेश ॥

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

स-हृदयम् । साम्-मनस्यम् । अवि-द्वेषम् । कृणोमि । वः ॥
अन्यः । अन्यम् । अभि । हर्यत । वत्सम् । जातम्-इव । अघ्न्या ॥१॥

भाषार्थ—(सहृदयम्) एक हृदयता, (सांमनस्यम्) एकमनता और (अविद्वेषम्) निर्वैरता (वः) तुम्हारे लिये (कृणोमि) मैं करता हूं। (अन्यो अन्यम्) एक दूसरे को (अभि) सब ओर से (हर्यत) तुम प्रीति से चाहो,

खिकाभ्यां संचरता जीवस्थितिलिङ्गेन वायुना, शारीरिकबलेन । (आत्मना) आत्मिकबलेन । (प्रजया) सामाजिकबलेन । (मा+वि+राधिषि) अ० १ । १ । ४ । अहं विराद्धो वर्जितो वियुक्तो मा भूवम् ॥

१—(सहृदयम्) वृहोः षुग्दुकौ च । उ० ४ । १०० । इति हञ् हरणे—स्वीकारे कयन्, दुक् च । सहृदस्य सभावः । सहग्रहणम् । सहवीर्यम् । (सांमनस्यम्) सम्+मनस्—भावे ष्यञ् । सामानममनस्त्वम् । ऐकमत्यम् (अवि-

(अघ्न्या इव) जैसे न मारने योग्य, गौ (जातम्) उत्पन्न हुए (वत्सम्) बछड़े को [प्यार करती है] ॥ १ ॥

भावार्थ—ईश्वर उपदेश करता है, सब मनुष्य वेदानुगामी होकर सत्य ग्रहण करके एकमता करें और आपा छोड़ कर सच्चे प्रेम से एक दूसरे को सुधारें, जैसे गौ आपा छोड़ कर तद्रूप होकर पूर्ण प्रीति से उत्पन्न हुए बच्चे को जीभ से चाट कर शुद्ध करती और खड़ा करके दूध पिलाती और पुष्ट करती है ॥ १ ॥

१—कठोपनिषद् के आरम्भ में पाठ है।

ओ३म् । सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥१॥

ओ३म्। (सः ह) वही (नौ) हम दोनों को (अवतु) बचावे। (सः ह) वही (नौ) हम दोनों को (भुनक्तु) पाले। हम दोनों (सह) मिलकर (वीर्यम्) उत्साह (करवावहै) करें। (नौ) हम दोनों का (अधीतम्) पढ़ा हुआ (तेजस्वि) तेजस्वी (अस्तु) होवे। (मा विद्विषावहै) हम दोनों झगड़ न करें॥

२—भगवान् यास्क मुनि कहते हैं।

(अघ्न्या) गौ का नाम है-निघ० २। ११। वह अहन्तव्या, [अवध्या न मारने योग्य] अथवा, अघघ्नी [पाप अर्थात् शारीरिक दुःख अथवा दुर्भिक्षादि पीड़ा नाश करने वाली] होती है—निरुक्त ११। ४३॥

द्वेषम्। द्विष वैरे-घञ्। अशत्रुताम्। सख्यम् (कृणोमि) उत्पादयामि। (वः) युष्मभ्यम्। (अन्यो अन्यम्) छान्दसं द्विपदत्वम्। परस्परम्। (अभि) सर्वतः (हर्यत) हर्य गतिकान्त्योः। कामयध्वम्। (वत्सम्) अ० ३। १२। ३। गोशिशुम्। (जातम्) नवोत्पन्नम्। (इव) यथा। (अघ्न्या) अघ्न्यादयश्च। उ ४। ११२। नञि अघे वोपपदे हन्तेर्यगन्तो निपातः। गौः-निघ० २। ११। अघ्न्या हन्तव्या भवत्यघघ्नीति वा—निरु० ११। ४३। अघ्न्याः। गावः। गोवधस्योपपातकरूपत्वाद्घन्तुमयोग्या अघ्न्या उच्यन्ते-इति श्रीमन्महीधरो यजुर्वेदभाष्ये १।

श्रीमान् महीधर यजुर्वेदभाष्य अ० १ म० १ में लिखते हैं—अघ्न्या गौयें हैं। गोवध उपपातक [भारी पाप] है, इसलिये वे न मारने योग्य (अघ्न्या) कही जाती हैं ॥

अनु॑व्रतः पि॒तुः पु॒त्रो मा॒त्रा भ॑वतु॒ संम॑नाः ।
जा॒या पत्ये॒ मधु॑मतीं वाचं॑ वदतु शन्ति॒वाम् ॥ २ ॥

अनु॑-व्रतः । पि॒तुः । पु॒त्रः । मा॒त्रा । भ॒व॒तु॒।सम्-म॑नाः॥ जा॒या। पत्यै॑ । मधु॑-मतीम् । वाच॑म् । व॒द॒तु॒ । श॒न्ति॒-वाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पुत्रः) कुल शोधक पवित्र, बहुरक्षक वा नरक से बचाने वाला पुत्र [सन्तान] (पितुः) पिताके (अनुव्रतः) अनुकूल व्रती होकर (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) एक मन वाला (भवतु) होवे। (जाया) पत्नी (पत्ये) पति से (मधुमतीम्) जैसे मधु में सनी और (शन्तिवाम्) शान्ति से भरी (वाचम्) वाणी (वदतु) बोले ॥ २ ॥

भावार्थ—सन्तान माता पिता के आज्ञाकारी, और माता पिता सन्तानों के हितकारी, पत्नी और पति आपस में मधुर भीषी और सुखदायी हों। यही वैदिक कर्म आनन्द मूल है। मन्त्र १ देखो ॥ २ ॥

२—(अनुव्रतः) पृषिरञ्जिभ्यां कित्। उ० ३। १११। इति वृञ् वरणे अतच्-कित्वाद् गुणाभावे यणादेशः। व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति सतः—निरु० २। १३। अनुकूलकर्मा। (पितुः) रक्षकस्य। जनकस्य(पुत्रः) अ० १। ११। ५। पुनातीति पुत्रः कुलशोधकः। पवित्रः। पुरुत्राता पुतो नरकात् त्राता वा। सन्तानः। (मात्रा) अ० १। २। १। माननीयया जनन्या सह। (संमनाः) समानमनस्कः (जाया) अ० ३। ४। ३। जनयति वीरान्। भार्या। पत्नी। (पत्ये) भर्त्रे। (मधुमतीम्) क्षौद्रयुक्तां यथा। माधुर्यवतीम्। (शन्तिवाम्) शमु उपशमे-क्तिन्। छान्दसो ह्रस्वः। वप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यते। वा० पा० ५। २। १०६। इति मत्वर्थे वप्रत्ययः। टाप्। शान्तियुक्ताम्। सुखोपेताम् ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

मा । भ्राता । भ्रातरम् । द्विक्षत् । मा । स्वसारम् । उत । स्वसा ॥
सम्यञ्चः । स-व्रताः । भूत्वा । वाचम् । वदत । भद्रया ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(भ्राता) भ्राता (भ्रातरम्) भ्राता से (मा द्विक्षत्) द्वेष न करे, (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से भी (मा) नहीं। (सम्यञ्चः) एक मत वाले और (सव्रताः) एक व्रती (भूत्वा) होकर (भद्रया) कल्याणी रीति से (वाचम्) वाणी (वदत) बोलो ॥ ३ ॥

भावार्थ—भाई भाई, बहिन बहिन, और सब कुटुम्बी नियम पूर्वक मेल से वैदिक रीति पर चल कर सुख भोगें ॥ ३ ॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

येन । देवाः । न । वि-यन्ति । नो इति । च । वि-द्विषते । मिथः ॥
तत् । कृण्मः । ब्रह्म । वः । गृहे । सम्-ज्ञानम् । पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस [वेद पथ] से (देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (न)नहीं (वियन्ति) विरुद्ध चलते हैं (च) और (नो) न कभी (मिथः) आपस

३—(भ्राता) अ० १ । १४ । २ । भ्राजते यः । सहोदरः । (मा द्विक्षत्) मा द्विष्यात् । (स्वसारम्) अ० १ । २८ । ४ । भगिनीम् । (सम्यञ्चः) । ऋत्विग्दधृक्० । पा० ३ । २ । ५९ । इति सम् + अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । समः समि । पा० ६ । ३ । ९३ । इति समि इत्यादेशः । समञ्चनाः सङ्गताः । समानज्ञानाः । सम्यक् पूजनशीलाः । (सव्रताः) सहकर्माणः । (वाचम्) वाणीम् । (वदत) कथयत । (भद्रया) कल्याण्या रीत्या । अन्यत् स्पष्टम् ॥

४—(देवाः) विजिगीषवः (वियन्ति) इण् गतौ । विरुद्धं गच्छन्ति (विद्विषते) द्विष अप्रीतौ-अदादिः । विद्वेषं कुर्वते (मिथः) परस्परम् (कृण्मः)

में (विद्विषते) विद्वेष करते हैं । (तत्) उस (ब्रह्म) वेद पथ को (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (पुरुषेभ्यः) सब पुरुषों के लिये (संज्ञानम्) ठीक ठीक ज्ञान का कारण (कृण्मः) हम करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—सार्वभौम हितकारी वेद मार्ग पर चलकर घरके सब लोग आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

ज्याय॑स्वन्तश्चि॒त्तिनो॒ मा वि यौ॑ष्ट संरा॒धय॑न्त॒: सधु॑राश्चर॑न्तः । अ॒न्यो अ॒न्यस्मै॑ व॒ल्गु वद॑न्त॒ एत॑ स॒ध्री॒ची॒नान् वः॒ संम॑नसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

ज्याय॑स्वन्तः । चि॒त्तिनः॑ । मा । वि । यौ॒ष्ट॒ । स॒म् । रा॒धय॑न्तः । स-धु॑राः । चर॑न्तः ॥ अ॒न्यः । अ॒न्यस्मै॑ । व॒ल्गु । वद॑न्तः । आ । इ॒त॒ । स॒ध्री॒ची॒नान् । वः॒ । सम्-म॑नसः । कृ॒णो॒मि॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ज्यायस्वन्तः) बड़ों का मान रखने वाले (चित्तिनः) उत्तम चित्त वाले, (संराधयन्तः) समृद्धि [धन धान्य की वृद्धि] करते हुये और (सधुराः) एक धुरा होकर (चरन्तः) चलते हुये तुम लोग (मा वि यौष्ट) अलग २ न होओ, और (अन्यो अन्यस्मै) एक दूसरे से (वल्गु) मनोहर (वदन्तः) बोलते हुये (एत) आओ । (वः) तुमको (सध्रीचीनान्) साथ साथ गति [उद्योग वा विज्ञान] वाले और (संमनसः) एक मन वाले (कृणोमि) मैं करता हूं ॥५॥

कृवि हिंसाकरणयोः । कृण्मः (ब्रह्म) वेद ज्ञानम् (संज्ञानम्) सम्यग् ज्ञानम् । अन्यत् सुगमम् ॥

५—(ज्यायस्वन्तः) ज्यायस्-वन्तः । ज्य च । वृद्धस्य च । पा० ५ । ३ । ६१, ६२ । इति प्रशस्यस्य वृद्धस्यस्य वा ज्य इत्यादेशः, ईयसुनि प्रत्यये । ज्यादादीयसः । पा० ६ । ४ । १६० । इति ईकारस्य आकारः। ततो मतुप् प्रशंसायाम् । ज्यायांसो प्रशस्या वृद्धा वा प्रशंसनीया येषां ते तथोक्ताः । (चित्तिनः) उत्तमचित्तवन्तः ।

भावार्थ—वेदानुयायी मनुष्य विद्यावृद्ध, धनवृद्ध, आयुवृद्धों का आदर करके उत्तम गुणों की प्राप्ति, और मिलकर उद्योग से, धन धान्य राज आदि बढ़ाते और आनन्द भोगते हैं ॥ ५ ॥

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि। सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥६॥

समानी। प्र-पा। सह। वः। अन्न-भागः। समाने। योक्त्रे। सह। वः। युनज्मि॥ सम्यञ्चः। अग्निम्। सपर्यत। अराः। नाभिम्-इव। अभितः॥ ६॥

भाषार्थ—(वः) तुम्हारी (प्रपा) जल शाला (समानी) एकही, और (अन्नभागः) अन्न का भाग (सह) साथ साथ हो, (समाने) एकही [योक्त्रे] जोते में (वः) तुम को (सह) साथ साथ (युनज्मि) मैं जोड़ता हूं। (सम्यञ्चः) मिलकर गति [उद्योग वा ज्ञान] रखने वाले तुम (अग्निम्) अग्नि [ईश्वर

(मा वि यौष्ट) यु मिश्रणामिश्रणयोः, माङि लुङि रूपम्। इडभावश्छान्दसः। मा पृथग् भूत। वियुक्ता मा भवत। (संराधयन्तः) राध संसिद्धौ, णिच्-शतृ। सम्यक् संसिद्धिकाः। समानकार्याः। (सधुराः) ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे। पा० ५।४।७४। इति सह+धुर—अकारः समासान्तः। सहकार्योद्वहनाः। (चरन्तः) गच्छन्तः। (वल्गु) अ० २।३६।१। मनोहरम्। प्रियवाक्यम्। (वदन्तः) भाषमाणाः (एत) आ+इत। आगच्छत (सध्रीचीनान्) ऋत्विग्दधृक्०। पा० ३।२।५९। इति सह+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्। सहस्य सध्रिः। पा० ६।३।९५। इति सध्रि। विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम्। पा० ५।४।८। इति स्वार्थिकः खः। अकारलोपे दीर्घत्वम्। सहाञ्चतः कार्येषु सहप्रवृत्तान् (समनसः) समानमनस्कान्। (कृणोमि) करोमि॥

६—(समानी) अ० २।१।५। साधारणा। एका। (प्रपा) प्रपीयतेऽस्याम्। पा पाने—ड, टाप्। पानीयशाला। (सह) मिलित्वा। (वः) युष्माकम्। युष्मान्। (अन्नभागः) भोजनस्य अंशः। (समाने) एकस्मिन् (योक्त्रे)

वा भौतिक अग्नि] को (सपर्यत) पूजो (इव) जैसे (अराः) अरा [पहिये के डंडे] (नाभिम्) नाभि [पहिये के बीच वाले काठ] में (अभितः) चारों ओर से [सटे होते हैं] ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे अरे एक नाभि में सटकर पहिये को रथ का बोझ सुगमता से लेचलने योग्य करते हैं, ऐसेही मनुष्य एक वेदानुकूल धार्मिक रीति पर चलकर अपना खान पान मिलकर करें और मिलकर रहें और मिलकर ही (अग्नि) को पूजें अर्थात् १—परमेश्वर की उपासना करें, २-शारीरिक अग्नि को, जो जीवन और वीरपन का चिन्ह है, स्थिर रक्खें, ३—हवन करके जल, वायु शुद्ध रक्खें, और ४-शिल्प व्यवहार में प्रयोग करके उपकार करें और सुख से रहें ॥ ६ ॥

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्। देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

सध्रीचीनान् । वः । सम्-मनसः । कृणोमि । एक-श्नुष्टीन् । सम्-वननेन । सर्वान् ॥ देवाः-इव । अमृतम् । रक्षमाणाः । सायम्-प्रातः । सौमनसः । वः । अस्तु ॥ ७ ॥

भावार्थ—(संवननेन) यथावत् सेवन वा व्यापार से (वःसर्वान्) तुम सब को (सध्रीचीनान्) साथ साथ गति [उद्योग वा ज्ञान] वाले, (संम-

दाम्नीशसयुयुज० । पा० ३ । २ । १८२ । इति युज योगे—ष्ट्रन् । युगेन सहयुज्यते आबध्यतेऽनेन तस्मिन् । योत्रे । बन्धने । स्नेहपाशे । (युनज्मि) युजिर युतौ । बध्नामि । (सम्यञ्चः) म० ३ । सङ्गताः । (अग्निम्) परमेश्वरं भौतिकं वा । (सपर्यत) सपर पूजायाम् । कण्ड्वादित्वाद् यक् । पूजयत । (अराः) ऋ गतौ—अच् । चक्रकीलकाः । (नाभिम्) म० १ । ३ । रथचक्रस्य मध्यभागम् । (अभितः) सर्वतः । अभितः परितः समया० । वा० पा० २ । ३ । २ । इति नाभिम् इति द्वितीया ॥

७—(एकश्नुष्टीन्) श्नसु अदने, आदाने, च—क्तिन् । एकभुक्तीन् ।समान-

नसः) एक मन वाले और (एकश्नुष्टीन्) एक भोजनवाले (कृणोमि) मैं करता हूं । (देवाः इव) विजय चाहने वाले पुरुषों के समान (अमृतम्) अमरपन [जीवन की सुफलता] को (रक्षमाणाः) रखते हुये तुम [बने रहो] (सायं प्रातः) सायंकाल और प्रातः काल में (सौमनसः) चित्त की प्रसन्नता (वः) तुम्हारे लिये (अस्तु) होवे ॥ ७ ॥

भावार्थ—(देव) पुरुषार्थी विजयी पुरुष मिलकर मृत्यु के कारण आलस्य आदि छोड़ने से अमर अर्थात् यशस्वी होते हैं । इसी प्रकार सब मनुष्य आपस में मिलकर उद्योग करके सुखी रहें और सायं प्रातः दो काल परमेश्वर की आराधना करके चित्त प्रसन्न करें ॥ ७ ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१—११ ॥ प्रजापतिर्देवता । १—४, ६—११ अनुष्टुप्, ५ बृहती ॥

आयुर्वर्धनायोपदेशः—आयु बढ़ाने का उपदेश ॥

वि देवा: जरसावृतन् वि त्वमग्ने अरात्या ।
व्यं१ हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥

वि । देवाः । जरसा । अवृतन् । वि । त्वम् । अग्ने । अरात्या ।
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥१॥

भाषार्थ—(देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (जरसा) आयु के घटाव से (वि) अलग (अवृतन्) रहे हैं । (अग्ने) हे विद्वान् पुरुष (त्वम्) तू

भोजनात् । (संवननेन) वन संभक्तौ-ल्युट् । सम्यक् सेवनेन व्यापारेण । (देवाः) विजिगीषवः । पुरुषार्थिनः । (अमृतम्) अमरत्वम् । जीवनसाफल्यम् । (रक्षमाणाः) पालयन्तो भवत-इति शेषः (सायंप्रातः) उभयसंध्याकाले । (सौमनसः) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति सुमनस्—भावे अण् । सुमनसो भावः । सुहृद्भावः । चित्तप्रसादः । अन्यद् गतम् ॥ ५ ॥

१—(देवाः) विजिगीषवः । (जरसा) षिद्भिदादिभ्योऽङ् । इति जृष् वयोहानौ—अङ् । ऋदृशोऽङि गुणः । पा० ७ । ४ । १६ । इति गुणः । टाप् । जराया

(अरात्या) कंजूसी वा शत्रुता से (वि=वि वर्तस्व) अलग रह। (अहम्) मैं (सर्वेण) सब (पाप्मना) पाप कर्म से (वि) अलग और (यक्ष्मेण) राज रोग, क्षयी आदि से (वि=वि वर्ते) अलग रहूं, और (आयुषा) जीवन [उत्साह] से (सम्=सम् वर्ते) मिला रहूं ॥ १ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी लोग ब्रह्मचर्य आदि के सेवन से सदा बलवान् रहे हैं, इसी प्रकार सब मनुष्य मानसिक पाप और शारीरिक रोग के त्याग और शुभ गुणों के सेवन से बल बढ़ाकर अपना जीवन सफल करें ॥ १ ॥

व्यार्त्या पर्वमानो वि शुक्रः पापकृत्यया ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ २ ॥

वि । आर्त्याः । पर्वमानः । वि । शुक्रः । पाप-कृत्यया ॥ वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥२॥

भाषार्थ—(पवमानः) शोधन करने वाला पुरुष (आर्त्या) पीड़ा से (वि) अलग, और (शक्रः) शक्तिमान् पुरुष (पापकृत्यया) पाप क्रिया से (वि=वि वर्तताम्) अलग रहे। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से ......[म० १] ॥ २ ॥

जरसन्यतरस्याम्। पा० ७। २। १०१। इति जरस्। वयोहन्या। (वि) पृथग्भूय (अवृतन्) वृतु वर्तने, भावे—लुङ्, अभूवन्। (वि) वि वर्तस्व। पृथग्भव। (अग्ने) हे विद्वन् पुरुष (अरात्या) अ० १। २। २। अदानेन। शत्रुतया (पाप्मना) नामन्सीमन् व्योमन्० । उ० ४। १५१। इति पा रक्षणे—अपादाने मनिन्, पुक् च। मानसेन पापेन। दुष्टकर्मणा। (वि) वि वर्ते। पृथग् भवानि। (यक्ष्मेण) अ० २। १०। ५। शारीरेण राजरोगेण। क्षयादिना। (सम्) सं वर्ते। सम्भूय भवानि। (आयुषा) चिरकालजीवनेन ॥

२—(वि) विवर्तताम्। वियुक्तो भवतु। (आर्त्या) आङ्+ऋ हिंसने-क्तिन्। पीड़या। रोगेन। (पवमानः) पूङ् यजोः शानच्। पा० ३। २। १२८।

भावार्थ—मनुष्य शुद्ध आचरण से सामाजिक आत्मिक और शारीरिक पीड़ा मिटावें और बलवान् होकर पाप को हटावें ॥ २ ॥

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णयासरन्।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ३ ॥

वि। ग्राम्याः। पशवः। आरण्यैः। वि। आपः। तृष्णया। असरन् ॥
वि। अहम्। सर्वेण। पाप्मना। वि। यक्ष्मेण। सम्। आयुषा ॥३॥

भाषार्थ—(ग्राम्याः) गाम वाले (पशवः) जीव (आरण्यैः) जङ्गली जीवों से (वि) अलग, और (आपः) जल (तृष्णया) पियास से (वि) अलग, (असरन्) चले हैं। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से ......[म०१] ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे ग्राम्य पशु जङ्गली जीवों से अलग रहकर प्रसन्न रहते हैं और जल की उपस्थिति में पियास से निवृत्ति होती है, इसी प्रकार मनुष्य पाप से निवृत्त होकर सब के सुख में प्रवृत्त हों।

वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम्।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ४ ॥

इति पूञ् शोधने—शानच्। आने मुक्। पा० ७। २। ८२। इति मुक्। संशोधकः (शक्रः) अ० २। ५। ४। शक्तः। इन्द्रः। (पापकृत्यया) पापम् इति व्याख्यातम्—अ० २। १२। ५। कृञः श च। पा० ३। ३। १००। इति डुकृञ् करणे, यद्वा, कृञ् हिंसायाम्-क्यप् तुक्। पापक्रियया महाहिंसया। अन्यद् गतम्—म० १ ॥

३—(ग्राम्याः) अ० २। ३४। ४। ग्राम—य। ग्रामीणाः। (आरण्यैः) अरण्य—ष्यञ्। अरण्यजातैः। (आपः) जलानि। (तृष्णया) तृषिशुषिरसिभ्यः कित्। उ० ३।१२। इति तृषिर् आकाङ्क्षायाम्—न, स च कित्। टाप्। पानेच्छया। पिपासया। (वि असरन्) सृ गतौ—लुङ्। विगता अभूवन्। अन्यद् गतम् ॥

वि । इमे इति । द्यावापृथिवी इति । इतः । वि । पन्थानः । दिशम्-दिशम् ॥ वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इमे) यह दोनों (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (वि) अलग अलग (इतः) चलते हैं, (पन्थानः) सब मार्ग (दिशंदिशम्) दिशा दिशा को (वि=वियन्ति) अलग अलग जाते हैं । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से......[म० १] ॥ ४ ॥

भावार्थ—सूर्य पृथिवी और मार्ग अलग अलग रहकर संसार का क्लेश हरते हैं, ऐसे ही सब मनुष्य दुःख का नाश करके सुख भोगें ॥ ४ ॥

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति ।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ५ ॥

त्वष्टा । दुहित्रे । वहतुम् । युनक्ति । इति । इदम् । विश्वम् । भुवनम् । वि । याति ॥ वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥ ५ ॥

भाषार्थ-(त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी पिता (दुहित्रे) बेटी को (वहतुम् दायज [स्त्री धन] (युनक्ति=वि युनक्ति) अलग करके देता है । (इति) इसी प्रकार (इदम् विश्वम्) यह प्रत्येक (भुवनम्) लोक (वि याति) अलग २ चलता है । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से......[म० १] ॥५॥

४—(इमे) परिदृश्यमाने । (द्यावापृथिवी) अ० २ । १ । ४ । सूर्यभूमी । (इतः) गच्छतः । (पन्थानः) मार्गाः । (वि) वियन्ति ॥ अन्यद् गतम् ॥

५—(त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । व्यवहाराणां तनूकर्ता, पिता । (दुहित्रे) अ० २ । १४ । २ । दोग्धि प्रपूरयति कार्याणीति दुहिता तस्यै । पुत्र्यै । (वहतुम्)

भावार्थ—जैसे पिता पुत्री को दायज देकर सदा हित करता रहता है, सब लोक और पदार्थ अलग अलग रहकर परस्पर उपकार करते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य आत्मिक और शारीरिक दोष हटाकर परस्पर सुख बढ़ावे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋग्वेद १० । १७ । १ में इस प्रकार है ।

त्वष्टा॑ दुहि॒त्रे व॑ह॒तुं कृ॑णो॒तीती॒दं विश्वं॒ भुव॑नं॒ समे॑ति ॥

(त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी पिता (दुहित्रे) बेटी के लिये (वहतुम्) दायज (कृणोति) करता है, (इति) इस प्रकार (इदम् विश्वम् भुवनम्) यह सब जगत् (समेति) मिलकर चलता है ॥

अ॒ग्निः प्रा॒णान्त्सं द॑धाति च॒न्द्रः प्रा॒णेन॒ संहि॑तः ।
व्य१॒॑हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण समायु॑षा ॥ ६ ॥

अ॒ग्निः । प्रा॒णान् । सम् । द॒धा॒ति॒ । च॒न्द्रः । प्रा॒णेन॑ । सम्ऽहि॑तः ॥
वि । अ॒हम् । सर्वे॑ण । पा॒प्मना॑ । वि । यक्ष्मे॑ण । सम् । आयु॑षा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि (प्राणान्) प्राणों, जीवन शक्तियों को (सम्=सम्भूय) मिलकर (दधाति) पुष्ट करता है, और (चन्द्रः) चन्द्र (प्राणेन) प्राण के साथ (संहितः) सन्धि वाला है । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से......[म० १] ॥ ६ ॥

एधिवह्योश्चतुः । उ० १ । ७७ । इति वह प्रापणे-चतु । विवाहकाले कन्यायै देयवस्तु (युनक्ति)वियुनक्ति पृथग् बध्नाति । (इति) अनेन प्रकारेण । (भुवनम) अ० २ । १ । ३ । भूतजातम् । लोकः । (वि याति) पृथग् गच्छति । अन्यद् गतम् ॥

६—(अग्निः) अशितपीतपरिणामहेतुर्जाठररूपः सूर्यतापः (प्राणान्) अ० २ । १२ । ७ । जीवनहेतून् श्वासप्रश्वासादीन् । चक्षुरादीन्द्रियाणि वा । (सं दधाति) संभूय पोषयति, स्वस्वकार्यसमर्थान् करोति । (चन्द्रः) अ०

भावार्थ—सूर्य का ताप श्वास प्रश्वास द्वारा शरीर में प्रविष्ट होकर नेत्र आदि इन्द्रियों को अन्न रस पहुंचाता है, और चन्द्रमा की शीतलता प्राण द्वारा रुधिर आदि में प्रणित रस से इन्द्रियों को पुष्ट करती है। ऐसेही मनुष्य अपने दोष मिटाकर शुभ गुणों से युक्त होवे ॥ ६ ॥

मन्त्र १—५ में दोषों से (वि) वियोग के और मन्त्र ६—१० में पुरुषार्थ से (सम्) संयोग के वर्णन से आयु बढ़ाने का उपदेश है ॥

प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ७ ॥

प्राणेन । विश्वतः-वीर्यम् । देवाः । सूर्यम् । सम् । ऐरयन् ॥
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥७॥

भाषार्थ—(देवाः) विजय चाहने वाले महात्माओं ने (विश्वतोवीर्यम्) सब ओर से वीर्यवान् (सूर्यम्) सर्वप्रेरक वा सर्वत्रगति परमेश्वर वा सूर्य को (प्राणेन) प्राण से (सम्) मिलकर (ऐरयन्) पाया है । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से......[म० १] ॥ ७ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय वीरों ने आत्मा के सहारे, अर्थात् आत्मज्ञान और आत्मबल से, परमात्मा को पाकर और सूर्य आदि लोकों तक गति करके परम पद पाया है। मनुष्य आत्मिक और शारीरिक दोष मिटाकर जीवन सुफल करें ॥ ७ ॥

---

१ । ३ । ४ । चदि आह्लादने—रक् । आह्लादकः । सोमः । चन्द्रमाः (प्राणेन) जीवनहेतुना सह (संहितः) सम्+धा—क्त । सन्धियुक्तः । संश्लिष्टः । अन्यद् गतम् ॥

७—(प्राणेन) जीवनहेतुना । (विश्वतोवीर्यम्) सर्वतःसामर्थ्यम् ॥ सर्वशक्तिमन्तम् । (देवाः) विजिगीषवो जितेन्द्रिया योगिनः । (सूर्यम्) अ० १ । ३ । ५ । सुवति प्रेरयति लोकान् सूर्यं वा सरति सर्वत्र स सूर्यः । लोकप्रेरकम् । सर्वत्रगतिं परमात्मानं (सम्) सम्भूय । (ऐरयन्) अ० १ । ११ । २ । ईर गतौ-लङ् । अगच्छन् । प्राप्नुवन् । अन्यद् गतम् ॥

आयु॑ष्मतामायुष्कृतां॑ प्रा॒णेन॑ जीव मा मृ॑थाः ।
व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥ ८ ॥

आयु॑ष्मताम् । आ॒युः-कृता॑म् । प्रा॒णेन॑ । जीव॑ । मा । मृ॒थाः ॥
वि । अ॒हम् । सर्वे॑ण । पा॒प्मना॑ । वि । यक्ष्मे॑ण । सम् । आयु॑षा ॥८॥

भाषार्थ—(आयुष्मताम्) बड़ी आयु वाले, और [दूसरों की] (आयुष्कृताम्) बड़ी आयु करने वाले [देवताओं] के (प्राणेन) प्राण के साथ (जीव) जीता रह, (मा मृथाः) मरा मत जा । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से......[म०१] ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने और दूसरों के सुधारने वाले वीर योगियों [देवताओं—म०] के अनुकरणी होकर पुरुषार्थ करें और आलस्य आदि में व्यर्थ जन्म न खोवें ॥ ८ ॥

प्रा॒णेन॑ प्राण॒तां प्राणे॒हैव भ॑व मा मृ॑थाः ।
व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥ ९ ॥

प्रा॒णेन॑ । प्रा॒ण॒ताम् । प्र । अ॒न॒ । इ॒ह । ए॒व । भ॒व । मा । मृ॒थाः ॥
वि । अ॒हम् । सर्वे॑ण । पा॒प्मना॑ । वि । यक्ष्मे॑ण । सम् । आयु॑षा ॥९॥

भाषार्थ—(प्राणताम्) जीते हुओं के (प्राणेन) श्वास से (प्राण) श्वास ले, (इह) यहां पर (एव) ही (भव) रह, (मा मृथाः) मरा मत जा । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से......[म० १] ॥ ९ ॥

८—(आयुष्मताम्) प्रशस्तेन दीर्घेणायुषा तद्वताम् । (आयुष्कृताम्) अन्येषां प्रशस्तदीर्घायुषः कर्तॄणां देवानाम्—म० ७ । (प्राणेन) अ० २ । १५ । १ । जीवनबलेन । (जीव) प्राणान् धारय । (मा मृथाः) मृङ् प्राणत्यागे—लुङ्, माङि अडभावः । प्राणान् मा त्याक्षीः । अन्यद् गतम् ॥

९—(प्राणेन) प्रकृष्टजीवनेन । श्वासप्रश्वासव्यापारेण । (प्राणताम्)

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थियों के समान अपने श्वास श्वास पर कर्तव्य करे और संसार में रहकर भूल, आलस्य आदि दोष छोड़कर कीर्ति पावे ॥ ६ ॥

उदायु॑षा समायुषोदोष॑धीनां॒ रसे॑न ।
व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण समायु॑षा ॥१०॥

उत् । आयु॑षा । सम् । आयु॑षा । उत् । ओष॑धीनाम् । रसे॑न ॥
वि । अहम् । सर्वे॑ण । पा॒प्मना॑ । वि । यक्ष्मे॑ण । सम् । आयु॑षा ॥१०॥

भाषार्थ—(आयुषा) जीवन [उत्साह] के साथ (उत्=उद्भव) खड़ा हो (आयुषा) जीवन के साथ (सम्=सम् भव) पराक्रमी हो । (ओषधीनाम्) ओषधियों, अन्न आदि, के (रसेन) रस [भोग] से (उत्=उद्भव) ऊंचा हो । (अहम्) (मैं सर्वेण पाप्मना) सब कर्म से... ...[म० १] ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य जीवन भर उद्योगी और पराक्रमी रहे, और अन्न आदि पदार्थों के भोगों के अनुसार उपकार का प्रतिफल देकर जीवन सुफल करे ॥१०॥

इस मन्त्र में (भव) पद की अनुवृत्ति मन्त्र ६ से आती है ॥

आ प॒र्जन्य॑स्य वृ॒ष्ट्योद॑स्थामा॒मृता॑ व॒यम् ।
व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण समायु॑षा ॥ ११ ॥

आ । प॒र्जन्य॑स्य । वृ॒ष्ट्या । उत् । अ॒स्था॒म॒ । अ॒मृता॑ः । व॒यम् ॥
वि । अ॒हम् । सर्वे॑ण । पा॒प्मना॑ । वि यक्ष्मे॑ण । सम् । आयु॑षा ॥११॥

प्र+अन जीवने-शतृ । श्वसताम् । आत्मवताम् । (प्राण) प्राणान् धारय । (इह एव) अस्मिन्नेव जन्मनि लोके वा । (भव) वर्तस्व । अन्यद् गतम् ॥

१०—(उत्) अत्र पूर्वमन्त्राद् भव इति क्रियापदम् अनुवर्तते । उद्भव । ऊर्ध्वो वर्तस्व । (आयुषा) जीवनेन । उत्साहेन । (सम्) सम्भव । पराक्रमी भव । (ओषधीनाम्) अ० ३ । ५ । १ । व्रीहियवादीनाम् । (रसेन) आयुष्करेण सारेण । अन्यत् स्पष्टम् ॥

भाषार्थ—(वयम्) हम (अमृताः) अमर होकर (पर्जन्यस्य) सींचने वाले मेघ की (वृष्ट्या) बरसा से [जैसे] (आ) सब ओर से (उत् अस्थाम) उठ खड़े हुये हैं। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से (वि) अलग, और (यक्ष्मेण) राज रोग, क्षयी आदि से (वि=विवर्तै) अलग रहूं, और (आयुषा) जीवन [उत्साह] से (सम्=सम् वर्तै) मिला रहूं ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य इस सूक्त में वर्णित उपदेश के अनुसार ब्रह्मज्ञान के श्रवण मनन, और निदिध्यासन [विचार] से ऐसे हर्ष में बढ़े हैं जैसे अन्न आदि औषधें जल की बरसा से नवीन जीवन पाकर उगती हैं, इसलिये प्रत्येक मनुष्य आत्मिक और शारीरिक दोष छोड़कर अपना जीवन का लाभ उठावें ॥ ११ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति तृतीयं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्री सयाजीराव गायकवाडा-धिष्ठित बडोदे पुरीगतश्रावणमासदक्षिणायाम् ऋक् सामाथर्ववेद-भाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना कृते अथर्ववेदभाष्ये तृतीयं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे चैत्रमासे रामनवम्याम् [शुक्लनवम्याम्] १९७१ तमे वक्रमीयेसंवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि श्री राजराजेश्वर जार्ज पञ्चम महोदयस्य सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—आषाढ़ शुक्ल पूर्णमास्यां संवत् १९७१ ता० ७ जुलाई १९१४ ॥

११—(आ) समन्तात् (पर्जन्यस्य) अ० १ । २ । १ । सेचकस्य । मेघस्य (वृष्ट्या) वर्षजलेन । (उत् अस्थाम) तिष्ठतेर्लुङ् । उत्थिता अभूम । (अमृताः) मरणरहिता अमृतत्वं जीवनत्वं प्राप्ताः सन्तः । (वयम्) उपासकाः । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

ओ३म् ।

आनन्द समाचार ।

[आप देखिये और अपने मित्रों को भी दिखाइये ।]

अथर्ववेदभाष्यम्—ब्रह्मा जी से लेकर सब बड़े २ ऋषि, मुनि, और योगी जिन वेदों का महत्व गाते आये हैं, और विदेशीय विद्वान् भी जिनकी महिमा और अर्थ खोजने में लग रहे हैं, वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन समझे जाते थे, और कुछ विद्वानों को छोड़ सर्वसाधारण उन का अर्थ नहीं समझ सकते थे। अब तक ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद का भाषा में अर्थ हो चुका है, और लोगों को उनके मर्म जानने का सौभाग्य मिला है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था. इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी सरल भाषा और संस्कृत में वेद, निघण्टु निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से इसका भाष्य बड़े परिश्रम से बना कर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है, १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्र के शब्दों को कोष्ट में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूपपाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण, निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, पूरे एक एक काण्ड का भावपूर्ण, संक्षिप्त, स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल भाषा और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छप कर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेदप्रेमी श्रीमान् राजे महराजे, सेठ साहूकार, विद्वान् और सर्वसाधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें, और जगत्पिता परमेश्वर के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यक विद्या, शिल्प विद्या, राजविद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जान कर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है। पूरे भाष्य के स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जनों को नियत मूल्य में से २०) सैकड़ा छूट देकर पुस्तक वी० पी० द्वारा वा नगद दाम पर दिये जाते हैं।

	मूल्य	स्थायी ग्राहकों से
काण्ड १—छप गया, भूमिका सहित, पृष्ठ २०२,	१।)	१)
काण्ड २—छप गया, पृष्ठ २१२	१।–)	१–)
काण्ड ३—छप गया, पृष्ठ २५०	१॥–)	१।)
काण्ड ४—शीघ्र प्रकाशित होगा।		

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान—सरल भाषा में शब्दार्थ सहित, संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य ।) ॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्म निरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अङ्गरेजी में, बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य ।–)

रुद्राध्यायः—मूल मात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य)॥

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी.

७ जुलाई १९१४

अथर्ववेदभाष्य—सम्मतियां ।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३ ।

...ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्य्यों का उपकार होगा ।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल बृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त । आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १९१३ ।

...श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द की शैली के अनुसार, भावपूर्ण, संक्षिप्त, और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौन सा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका, दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्य समाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्य समाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे ।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ कर के एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का उद्योग किया है। ईश्वर उन को बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें, निर्विघ्नता के साथ यह शुभ कार्य पूरा हो, छपाई और कागज़ भी अच्छा है।...

श्रीयुत महात्मा **मुन्शीराम जी** जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुलकांगड़ी हरिद्वार-पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१९१२ ।

अथर्ववेद भाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं, आपका परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९१२ ।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ ।

श्रीयुत पं० **शिवशङ्कर शर्मा** काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्त्ता वेदाध्यापक काङ्गड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि संपादक आर्यमित्र ८ फ़र्वरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य। श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है। आप बहुत दिनों तक सर्कारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पण्डित **भीमसेन शर्मा**—उपनिषद् गीतादिभाष्यकर्त्ता, वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा फ़र्वरी १९१३॥

अथर्ववेदभाष्य–इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरण दास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में ·····अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है···भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है और अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है,···और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है॥

श्रीयुत पण्डित **महाबीर प्रसाद द्विवेदी**—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़र्वरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्यम्—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और परिश्रम का यह फल है। आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है. बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मंत्र, पदपाठ हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलङ्कृत किया है······आप की राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद भाष्य के ढंग का है॥

श्रीयुत पण्डित **गणेशप्रसाद शर्मा**—सम्पादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तेहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३॥

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्त्ति का आरम्भ हो गया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मंत्र पुनः पदार्थ युक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये

शास्त्रार्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है...वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझकर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उस से कार्य्य लिया जा सकता है ॥

बाबू कालिका प्रसाद जी सिल्कमर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी, पत्र संख्या ५८९ ता० २७-३-१३ ।

आप का भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर साहाय्य करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें । ...आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ अपनी समाधि लगा कर पूर्ण करेंगे । मेरा नाम ग्राहकों में लिख लिजिये, जब २ अंक छपें मेरे पास भेज देना ॥

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्म्मा**, मु० एकलड़ा, पोस्ट किशुन पुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसंबर १९१३ ।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है । आप ने यह साहस दिखा कर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है । ईश्वर आप को वेद भण्डारे के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करे ॥

श्रीयुत विख्यात **पण्डित श्रीधर पाठक जी**, मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेन्ट सेक्रेटेरियट पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-९-१३ ।

आप का अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ । आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है ॥

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), Baroda State, letter No. 624 dated 6th February, 1913.

......It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम्......It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address lable "For Encouragement Fund"

Rai Thakur Datta, Retired District Judge, Dera Ismail Khan,

Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverence that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power......

Lettr dated 30th april 1914.

I very much admire your labor of lore and hope the venture with not fail for want of pecuiary support......

THE ARYA PATRIKA, *LAHORE*, *APRIL* 18, 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or Commentary on the *Atharva Veda*, which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverence and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre eminent position in Sanskrit literature....The arrangement is good the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words, quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini. *Unadikosha* of Dyananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works....The Pandit appears to have labored very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind....Cross reference to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves. ...Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N. B.—The printing and paper are good; the price of Book is moderate.

हवनमन्त्राः—सम्मतियां ।

परिडत शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार—पंजाब आर्य प्रतिनिधिसभोपदेशक, इत्यादि, सम्पादक आर्यमित्र, आगरा ६, फ़रवरी १९१३ ।......आर्य पुरुष हवनकाल में जिन मन्त्रों को पढ़ते हैं इन का सरल भाषा में अर्थ उक्त त्रिवेदी जी ने किया है। प्रत्येक पदका पृथक् पृथक् अर्थ इसमें किया गया है। अर्थ के ज्ञान बिना केवल मन्त्र पढ़ने से लाभ नहीं होता। अतः प्रत्येक आर्य को ऐसा ग्रन्थ अवश्य ख़रीदना चाहिये ॥

सद्धर्म प्रचारक—गुरुकुल कांगड़ी, १७ फाल्गुण सं० १९६८ ..आज कल लोग हवन मन्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते, उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवा कर पढ़नी चाहिये।

अभ्युदय, प्रयाग—ता० २८ अप्रेल १९१२......इस में ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण और हवन मन्त्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा में अनुवादित किये हैं।...पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है।

वेदप्रकाश, मेरठ—मई १९१२।...इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषा में अब तक नहीं था, इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है।

महाशय खुशीराम जी गवर्नमेन्ट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८। ...आप ने हवन मन्त्रों का भाषानुवाद करके बड़ा उपकार किया है। आप मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लेवें, अब प्रकाशित हो रुद्राध्याय भाषा अङ्गरेज़ी अनुवाद सहित वी० पी० द्वारा भेज देवें।

मिलने का पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी

७ जुलाई १९१४। } ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)

ओंकार प्रेस प्रयाग में मुद्रित हुआ।

All rights Reserved.

॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

चतुर्थं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादि सहितं
संस्कृते व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुण महिम धीर वीर चिर प्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बडोदेपुरीगत श्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्रीपण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryan man

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः पण्डित ओङ्कारनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

सर्वाधिकारः स्वाधीनएव रक्षितः ।

प्रथमावृत्तौ १००० पुस्तकानि | संवत् १९७२ वि० सन् १९१५ ई० | मूल्यम् २)

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allhabad.)

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ४ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	ब्रह्म जज्ञानम्	वेनः	ब्रह्म का विचार	त्रिष्टुप्
२	य आत्मदा बलदा	प्रजापति	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप् अनुष्टुप्
३	उदितस्त्रयः	इन्द्र	शत्रु नाश	पथ्यापङ्क्ति इत्यादि
४	यां त्वा गन्धर्वो	वृषा, इन्द्र	मनुष्य बल	अनुष्टुप्
५	सहस्रशृङ्गो	इन्द्र	बच्चों के सुलाना	अनुष्टुप् पथ्यापंक्ति
६	ब्राह्मणो जज्ञे	विष	विष दूर करना	अनुष्टुप् इत्यादि
७	वारिदं वारयातै	विष	विष नाश	अनुष्टुप्
८	भूतो भूतेषु	भूतानामधिपति	राज तिलक यज्ञ	त्रिष्टुप् इत्यादि
९	एहि जीवम्	आञ्जन	ब्रह्म विद्या	अनुष्टुप् इत्यादि
१०	वाताज्जातो	शङ्ख	विघ्नों के हटाना	अनुष्टुप् इत्यादि
११	अनड्वान् दाधार	अनड्वान्	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप् इत्यादि
१२	रोहण्यसि रोहि	धाता	दोष मिटाना	अनुष्टुप् आदि
१३	उत देवा अवहितं	आत्मा	स्वास्थ्य रक्षा	अनुष्टुप्
१४	अजो ह्यग्नेर	अग्नि	ब्रह्म प्राप्ति	त्रिष्टुप् आदि
१५	समुत्पतन्तु प्रदिशो	पर्जन्य	वृष्टि प्रार्थना	जगती इत्यादि
१६	बृहन्नेषामधिष्ठाता	वरुण	वरुण की सर्वज्ञता	अनुष्टुप् इत्यादि
१७	ईशानां त्वा भेषजा	अपामार्ग	राजा का लक्षण	अनुष्टुप्
१८	समं ज्योतिः सूर्येण	अपामार्ग	राजधर्म	अनुष्टुप्
१९	उतो अस्यबन्धुकृ	अपामार्ग	राजधर्म	अनुष्टुप् इत्यादि
२०	आपश्यति प्रति	ब्रह्म	ब्रह्म की उपासना	अनुष्टुप्
२१	आ गावो अग्मन्	गावः	विद्या के गुण	त्रिष्टुप् जगती
२२	इममिन्द्र वर्धय	इन्द्र	संग्राम में जय	त्रिष्टुप्
२३	अग्नेर्मन्वे	अग्नि	कष्ट हटाना	अनुष्टुप् इत्यादि
२४	इन्द्रस्य मन्महे	इन्द्र	पूर्ण सुख	जगती अनुष्टुप्
२५	वायोः सवितुर्	पवन	पवन और सूर्य	अनुष्टुप् इत्यादि
२६	मन्वे वां द्यावापृथि	सूर्य पृथिवी	सूर्य और पृथिवी	अनुष्टुप् इत्यादि
२७	मरुतां मन्वे	मरुतः	पवन के गुण	अनुष्टुप् इत्यादि
२८	भवाशर्वौ मन्वेअधि	भवाशर्वौ	परमेश्वर के गुण	अनुष्टुप् इत्यादि
२९	मन्वे वां मित्रा	मित्र, वरुण	पुरुषार्थ	अनुष्टुप् इत्यादि
३०	अहं रुद्रेभिः	राष्ट्री	परमेश्वर के गुण	त्रिष्टुप् जगती
३१	त्वया मन्यो सरथ	मन्यु	संग्राम में जय	त्रिष्टुप्, जगती
३२	यस्ते मन्योऽवि	मन्यु	संग्राम में जय	त्रिष्टुप्
३३	अप नः शोशुचद्	अग्नि	सर्व रक्षा	गायत्री
३४	ब्रह्मास्य शीर्ष	ओदन	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप्, इत्यादि
३५	यमोदनं प्रथमजा	ओदन	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप्, जगती
३६	तान्त्सत्यौजाः	अग्नि	राज धर्म	अनुष्टुप्
३७	त्वया पूर्वमथर्वा	ओषधि, इत्यादि	गन्धर्व आदि	अनुष्टुप् इत्यादि
३८	उद्भिदन्तीं संजय	अप्सरा	परमेश्वर के गुण	अनुष्टुप् इत्यादि
३९	पृथिव्यामग्नये	अग्नि इत्यादि	परमेश्वर गुण	त्रिपदा जगती इत्यादि
४०	ये पुरस्ताज्जुह्वति	जातवेदाः	शत्रुनाश	त्रिष्टुप् इत्यादि

२-अथर्ववेद, काण्ड ४ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से।

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड ४) सूक्त मन्त्र	ऋग्वेद, मंडल, सूक्त मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वाचिंक, उत्तराचिंक इत्यादि
१	ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं	१ । १		१३ । ३	पू० ४ । ३ । ६
२	य आत्मदा बलदा	२ । १	१० । १२१ । २,३	२५ । १३,११	
३	यः प्राणतो निमिषतो	२ । २	१० । १२१ । ३ २	२५ । ११,१२	
४	यं क्रन्दसी अवतश्च यस्यासौ पन्था	२ । ३	१० । १२१ । ६	३२ । ७ ३२ । ६	
५	यस्य विश्वे हिम	२ । ५	१० । १२१ । ४	२५ । १२	
६	आपो अग्रे विश्व	२ । ६	१० । १२१ । ७,८	२७ । २५,२६	
७	हिरण्य गर्भः सम	२ । ७	१० । १२१ । १	१३ । ४; २५ । १०	
८	आपो वत्सं जनयन्ती	२ । ८	१० । १२१ । ७	२७ । २५	
९	सहस्र शृङ्गोवृषभो	५ । १	७ । ५५ । ७		
१०	प्रोष्ठे शयास्तल्पे	५ । ३	७ । ५५ । ८		
११	य आस्ते यश्चर	५ । ५	७ । ५५ । ६		
१२	स्वप्तु माता स्वप्तु	५ । ६	७ । ५५ । ५		
१३	सनेयमश्वं गां	९ । ७	१० । ९७ । ४	१२ । ७८	
१४-१८	उत देवा अवहितं	१३ । १-५	१० । १३७ । १-५		
१९	अयं मे हस्तो भगवान्	१३ । ६	१० । ६० । १२		
२०	हस्ताभ्यां दश शाखा	१३ । ७	१० । १३७ । ७		
२१	अजो ह्यग्नेर	१४ । १		१३ । ५१	
२२	क्रमध्वमग्निना नाक	१४ । २		१७ । ६५	
२३-२५	पृष्ठात् पृथिव्या अह	१४ । ३-५		१७ । ६७-६९	
२६	अर्वाङतेन	१५ । ११	५ । ८३ । ६		
२७	अपोनिषिञ्चन	१५ । १२	५ । ८३ । ६		
२८	संवत्सरं शशयाना	१५ । १३	७ । १०३ । १		
२९	महान्तं कोशमुद	१५ । १६	५ । ८३ । ८		
३०-३६	आ गावो अग्मन्नुत	२१ । १-७	६ । २८ । १-७		
३७	मा वस्तेन	२१ । ७		१ । १	
३८	परि वो रुद्रस्य	२१ । ७		१६ । ५०	
३९-४६	अहंरुद्रे भिर्	३० । १-८	१० । १२५ । १-८		
४७-५२	त्वया मन्यो	३१ । १-७	१० । ८४ । १-७ (अ)		
५३-५९	यस्ते मन्यो	३२ । १-७	१० । ८३ । १-७		
६०-६७	अप नः शोशुचदघ	३३ । १-८	१० । ९७ । १-८		
६५	विश्वानि देव	३९ । १०		४० । १६	

(अ)—सूक्त ३१ म० १ के साथ यह टिप्पणी छपने से छुट गयी है॥

"यह सूक्त ऋग्वेद में कुछ भेद से है—म० १० । ८४ । वहां पर सूक्त के ऋषि मन्यु तामस और देवता मन्यु हैं ॥"

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

चतुर्थं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ।

सूक्तम् ॥ १ ॥

मन्त्राः १—७ ॥ वेनो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सृष्टि विद्यया ब्रह्मविचारः—सृष्टि विद्या से ब्रह्म का विचार ।

ब्रह्मं जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥ १ ॥

ब्रह्म । जज्ञानम् । प्रथमम् । पुरस्तात् । वि । सीमतः । सुरुचः । वेनः । आवः ॥ सः । बुध्न्याः । उप-माः । अस्य । वि-स्थाः । सतः । च । योनिम् । असतः । च । वि । वः ॥ १ ॥

सान्वय भाषार्थ—(वेनः) प्रकाशमान वा मेधावी परमेश्वर ने (पुरस्तात्) पहिले काल में (प्रथमम्) प्रख्यात (जज्ञानम्) उपस्थित रहने वाले (ब्रह्म) वृद्धि के कारण अन्न को और (सुरुचः) बड़े रुचिर लोकों को (सीमतः)

१—शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—(ब्रह्म) अ० १।८।४। वृद्धिकारणम् अन्नम्—निरु० २।७। (जज्ञानम्) जनी प्रादुर्भावे—शानचि शपः श्लौ सति

सीमाओं वा छोरों से (वि आवः) फैलाया है। (सः) उस ने (बुध्न्याः) अन्तरिक्ष में वर्तमान (उपमाः) [परस्पर आकर्षण से] तुलना करने वाले (विष्ठाः) विशेष विशेष स्थानों, अर्थात् (अस्य) इस (सतः) विद्यमान [स्थूल] के (च) और (असतः) अविद्यमान [सूक्ष्म जगत्] के (योनिम्) घर को (च) निश्चय करके (वि वः) खोला है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे उत्पन्न होने से पहिले बालक के लिये माता के स्तनों में दूध हो जाता है, ऐसेही जगत् के जननी जनक परमेश्वर ने सृष्टि से पूर्व प्रत्येक शरीरी के लिये प्रभूत (ब्रह्म) अन्न वा पालन शक्ति और पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, आदि को बनाया, जो परस्पर आकर्षण से स्थिर हैं। यही सब

रूपम्। जायमानम् । दृश्यमानम् (प्रथमम्) अ० १ । १२ । १ । प्रख्यातम् । (पुरस्तात्) दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः । पा० ५ । ३ । २७ । इति पूर्व-अस्ताति । अस्ताति च । पा० ५ । ३ । ४० । इति पूर्वस्य पुरादेशः । अतीते प्रथमे काले वा । सृष्ट्यादौ । (वि) व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । ८२ । इति व्यवधानम् । (सीमतः) नामन्सीमन्व्योमन् ० । उ० ४ । १५१ । इति षिञ् बन्धने—मनिन् । अपादाने चाहीयरुहोः । पा० ५ । ४ । ४५ । इति तसि । सीम्नः सीमतः सीमातो मर्यादातः । सीमा मर्यादा विषीव्यति देशाविति-निरु० १ । ७ । सीमभ्यः । लोकमर्यादाभ्यः (सुरुचः) रुच्लृ प्रीतिप्रकाशयोः—क्विप् । सुष्ठु रोचमानान् लोकान् । (वेनः) अ० २ । १ । १ । दीप्यमानः परब्रह्मात्मकः-इति सायणोऽपि । मेधावी—निघ० २ । १५ । (वि आवः) वृञ् वरणे-लुङ् । मन्त्रे घस० । पा० २।४।८० । इति च्लेर्लुक् । हल्ङ्यादिलोपे । छन्दस्यपि दृश्यते । पा० ६ । ४ । ७३ । इति आडागमः । विवृतानकरोत् । (सः) वेनः । (बुध्न्याः) बन्धेर्ब्रधिबुधी च । उ० ३ । ५ । इति बन्ध बन्धने-नक्, बुधादेशः । बुध्नो मेघो मूलमन्तरिक्षं वा । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । बुध्नमन्तरिक्षं बद्धा अस्मिन् धृता आप इति वा इदमपीतरद् बुध्नमेतस्मादेव बद्धा अस्मिन् धृताः प्राणा इति योऽहिः स बुध्न्योबुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासात् । निरु० १० । ४४ । बुध्नेऽन्तरिक्षे भवाः सूर्यचन्द्रपृथिवीतारकादयो लोकाः (उपमाः) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । ३ । १०६ । इति उप+माङ् माने-अङ्, टाप् । उपमीयमानाः । मानं प्राप्ताः । (अस्य) दृश्यमानस्य जगतः । (विष्ठाः) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । ३ । १०६ । वि+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-अङ्,

लोक कार्य वा मूर्त और कारण वा अमूर्त दो प्रकार के जगत् के भण्डार हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद अ० १३ म० ३ और सामवेद पूर्वार्चिक प्र० ४ द० ३ म० ६ में है ॥

इयं पित्र्या राष्ट्र्ये॒त्वग्रे॑ प्रथमाय॑ जनुषे॑ भुवनेष्ठाः । तस्मा॑ एतं सुरुचं॑ ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय॑ धास्यवे॑ ॥ २ ॥

इयम् । पित्र्या॑ । राष्ट्री॑ । एतु । अग्रे॑ । प्रथमाय॑ । जनुषे॑ । भुवने॒-स्थाः । तस्मै॑ । एतम् । सु-रुच॑म् । ह्वारम् । अह्य॒म् । घर्मम् । श्रीणन्तु । प्रथमाय॑ । धास्यवे॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पित्र्या) पिता [जगत् पिता परमेश्वर] से आई हुई, (भुवनेष्ठाः) सब जगत् में ठहरी हुई (इयम्) यह (राष्ट्री) राजराजेश्वरी शक्ति [वेद वाणी] (प्रथमाय) सब से उत्तम (जनुषे) जन्म के लिये (अग्रे) हमारे आगे (एतु) आवे, [अर्थात्] "(तस्मै) उस (प्रथमाय) सब से ऊपर विराजमान (धास्यवे) संसार का धारण पोषण चाहने वाले परमात्मा के लिए (एतम्) इस (सुरुचम्) बड़े रुचिर (ह्वारम्) अनिष्ट को झुका देने वाले (अह्यम्) प्राप्ति के योग्य, वा प्रति दिन वर्तमान (घर्मम्) यज्ञ को (श्रीणन्तु) सब लोग परिपक्व करें" ॥ २ ॥

टाप् । उपसर्गात् सुनोतिसुवति० । पा० ८ । ३ । ६५ । इति । षत्वम् (सतः) विद्यमानस्य । मूर्तस्य । स्थूलस्य (च) समुच्चये । अवधारणे (योनिम्) अ० १ । ११ । ३ । गृहम्—निघ० ३ । ४ । आकाशम् । कारणम् (वि वः) वि+वृञ् वरणे-लङ् । मन्त्रे घस० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेर्लुक् । बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि । पा० ६ । ४ । ७५ । इति अडभावः । विवृतमकरोत् ।

२—(इयम्) परिदृश्यमाना (पित्र्या) पितुर्यच्च । पा० ४ । ३ । ७६ । इति पितृ-यत्, टाप् । पितृसकाशाद् आगता । पैतृका । (राष्ट्री) राजतिः, ऐश्वर्यकर्मा—निरु० २ । २१ । सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५६ । इति राजृ दीप्तौ,

भावार्थ–जैसे पैतृक धन सब सन्तानों को यथावत् मिलता है वैसे ही जगत् पिता परमेश्वर की सर्वव्यापिनी, सर्वनियन्त्री यह वेदवाणीरूप शक्ति सब के हृदय में बसे कि सब मनुष्य अपना यज्ञ अर्थात् पुरुषार्थ परमात्मा को समर्पण करें जिससे मनुष्य जन्म सफल होवे ॥ २ ॥

प्र यो ज॒ज्ञे वि॒द्वान॑स्य॒ बन्धु॒र्विश्वा॑ दे॒वानां॒ जनि॑मा विवक्ति । ब्रह्म॒ ब्रह्म॑ण॒ उज्ज॑भार॒ मध्या॑न्नी॒चैरु॒च्चैः स्व॒धा अ॒भि प्र त॑स्थौ ॥ ३ ॥

प्र । यः । ज॒ज्ञे । वि॒द्वान् । अ॒स्य॒ । बन्धुः॑ । विश्वा॑ । दे॒वानाम् । जनि॑म । वि॒व॒क्ति॒ । ब्रह्म॑ । ब्रह्म॑णः । उत् । ज॒भा॒र॒ । मध्या॑त् । नी॒चैः । उ॒च्चैः॥ स्व॒धाः । अ॒भि । प्र । त॒स्थौ॒ ॥ ३॥

भाषार्थ—(यः विद्वान्) जो विद्वान् परमेश्वर (अस्य) इस [जगत्]

ऐश्वर्ये-ष्ट्रन । अशचभ्रस्ज० । पा०८ । २ । ३६ । इति षत्वम् । षित्वात् ङीप् । पा० ४ । १ । ४१ । राष्ट्री, ईश्वरनामसु, निघ० । २ । २२ । राज्ञी । ईश्वरी । सर्व जगद्व्यवहारस्य नियन्त्री शक्तिः (एतु) गच्छतु । प्राप्नोतु । (अग्रे) अभिमुखम् (प्रथमाय) म० १ । प्रख्याताय । प्रधानाय, (जनुषे) जनेरुसिः । उ० २ । ११५ । इति जनी प्रादुर्भावे—उसि । जन्मने । जीवनाय (भुवनेष्ठाः) अ० २ । १ । ४ । सर्वलोके स्थिता व्याप्ता (तस्मै) वेनाय (एतम्) समीपस्थम् (सुरुचम्) म० १ । सुष्ठु रोचमानम् (ह्वारम्) ह्वृ कौटिल्ये एयन्तात् पचाद्यच् । अनिष्टस्य कुटिलीकारकम् । (अह्यम्) अहि गतौ-एयत् । संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः—इति परिभाषया वृद्ध्यभावः । गन्तव्यम् प्राप्यम् । यद्वा । भवे छन्दसि । पा०४ । ४ – ११० । इति अहन्—यत् । नस्तद्धिते । पा० । ६ । ४ । १४४ । इति टिलोपः । अहनि भवम् (घर्मम) घर्मग्रीष्मौ । उ० १ । १४८ । इति घृ सेचनदीप्त्योः-मक् । आतपम् । ग्रीष्मम् । स्वेदम् । यज्ञम्, निघ० ३ । १७ (श्रीणन्तु) श्रीञ् पाके । पचन्तु । पक्वं कुर्वन्तु । संस्कुर्वन्तु (धास्यवे) अ० २ । १ । ४ । जगतो धारणपोषणेच्छवे ॥

३ (प्र) प्रकर्षेण । सर्वोपरि (यः) वेनः परमेश्वरः (जज्ञे) जनी

का (बन्धुः) बन्धन वा नियम करने वाला, अथवा, बन्धु हितकारी (प्र) अच्छे प्रकार (जज्ञे) प्रकट हुआ था, और जो (देवानाम्) भूमि, सूर्य आदि दिव्य पदार्थों वा महात्माओं के (विश्वा=विश्वानि) सब (जनिमा) जन्मों को (विवक्ति) बतलाता है। उसने (ब्रह्मणः) ब्रह्म [अपने परब्रह्म स्वरूप] के (मध्यात्) मध्य से (ब्रह्म) वेद को (उज्जहार) उभारा था, वही (नीचैः) नीचे और (उच्चैः) ऊंचे (स्वधाः) अनेक अमृतों वा अन्नों को (अभि=अभिलक्ष्य) सन्मुख करके (प्र) उत्तमता से (तस्थौ) स्थित हुआ था ॥ ३ ॥

भावार्थ—अनादि, सर्वज्ञ सर्वोत्तम परमात्मा ने सब चराचर जगत् को यथानियम रचा और वेद विद्या को अपने में से प्रकट करके नीचे ऊंचे लोकों की सृष्टि के अनकूल अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न किये हैं, सब मनुष्य उस जगत् नियन्ता की उपासना द्वारा पुरुषार्थ करके आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का (विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति) यह पाद अथ० २ । २८ । २ । में आया है ।

स हि दि॒वः स पृ॑थि॒व्या ऋ॑त॒स्था म॒ही क्षेमं॒ रोद॑सी अस्कभायत् । म॒हान् म॒ही अस्क॑भाय॒द् वि जा॒तो द्यां सद्म॒ पार्थि॑वं च॒ रजः॑ ॥ ४ ॥

प्रादुर्भावे—लिट् । यद्वृत्तान्नित्यम् । पा० ८ । १ । ६६ । इति निघातप्रतिषेधः । प्रादुर्बभूव (विद्वान्) अ० २ । १ । २ । ज्ञानी (अस्य) दृश्यमानस्य जगतः (बन्धुः) अ० २ । १ । ३ । बन्धकः । नियामकः । बान्धवः (विश्वा) विश्वानि । सर्वाणि (देवानाम्) पृथिवीसूर्यादीनां दिव्यपदार्थानाम् । महात्मनाम् (जनिम=जनिमानि) अ० १ । ८ । ४ । जन्मविधानानि (विवक्ति) अ० २ । २८ । २ । वच परिभाषणे । आदादिकः । शपः श्लुः । कथयति । उपदिशति (ब्रह्म) वेदम् (ब्रह्मणः) स्वपरब्रह्मस्वरूपस्य (उज्जभार) हृञ् हरणे-लिट् । हृग्रहोर्भश्छन्दसि । वार्त्तिकम् । इति भकारः । उज्जहार । उद्धृतवान् । उत्थापितवान् (मध्यात्) मध्यभागात् (नीचैः) अ० २ । ३ । ३ । अधोदेशे (उच्चैः) उदि चेर्डैसिः । उ० ५ । १२ । इति उत्+चिञ् चयने—डैसि । उपरिभागे (स्वधाः) अ० २ । २९ । ७ । अन्नानि । पायकद्रव्याणि (अभि) अभिलक्ष्य (तस्थौ) स्थितवान् ॥

सः । हि । दिवः । सः । पृथिव्याः । ऋत-स्थाः । मही इति । क्षेमम् । रोदसी इति । अस्कभायत् । महान् । मही इति । अस्कभायत् । वि । जातः । द्याम् । सद्म । पार्थिवम् । च । रजः ॥४॥

भाषार्थ—(सः) उस (सः) विष्णु वा शिव ने (हि) ही (दिवः) सूर्य के और (पृथिव्याः) पृथिवी के (ऋतस्थाः+सन्) सत्य वा कारण में स्थित होकर (मही=महत्यौ) विशाल (रोदसी=०…ऽयौ) सूर्य और पृथिवी को (क्षेमम्) क्षेम के साथ (अस्कभायत्) ठहराया । (महान्) उस विशाल परमेश्वर ने (जातः+सन्) प्रकट होकर (मही=महत्यौ) दोनों विशालों, अर्थात् (द्याम्) सूर्यरूप (सद्म) घर (च) और (पार्थिवम्) पृथिवी वाले (रजः) लोक को (वि) अलग अलग (अस्कभायत्) स्थिर किया ॥ ४ ॥

४—(सः) प्रसिद्धः (हि) अवश्यम् (दिवः) द्युलोकस्य । सूर्यस्य (सः) षो अन्तकर्मणि—ड । स्यति नाशयति दुष्टानिति सः । विष्णुः । ईश्वरः । शिवः । (पृथिव्याः) भूलोकस्य (ऋतस्थाः) अञ्चिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८६ । इति ऋ गतौ, हिंसने च—क्त । ऋतं सत्यनाम—निघ० ३ । १० । उदकम्—निघ० १ । १२ । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति ऋत+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-विच् । ऋते सत्ये कारणे स्थितः । कारणस्य कारणमित्यर्थः (मही) मह पूजायाम्-क्विप् । इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् । वा० पा० ७ । १ । ३९ । इति ईकारो विभक्तौ । महत्यौ । विशाले । (क्षेमम्) अ० ३ । ३ । ५, कुशलम् । (रोदसी) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति रुधेरसुन् । धस्य दकारः, उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णः । आभ्यां हि रुद्धानि सर्वभूतानि । रोदस्यौ । द्यावापृथिव्यौ-निघ० ३ । ३० (अस्कभायत्) स्कन्भु गतिप्रतिबन्धे—लङ् । छन्दसि शायजपि । पा० ३ । १ । ८४ । इति श्नः शायच् । अस्कभ्नात् । स्थापितवान् (महान्) विशालः (मही) पूर्ववत् । महत्यौ । (वि) पृथक् पृथक् (जातः) प्रादुर्भूतः । (द्याम्) अ० १ । २ । ४ । द्योतमानं सूर्यात्मकम् (सद्म) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-मनिन् । संग्रामनाम-निघ० २ । १७ । गृहनाम-निघ० ३ । ४ । उदकनाम-निघ० १ । १२ । सदनम् । गृहम् ।

भावार्थ—सूर्य आदि के (ऋतस्थाः) कारण के कारण परमेश्वर ने सूर्य आदि लोकों को रचा, और परस्पर आकर्षणरूप डोरी लगाकर उन को पृथक् पृथक् कर दिया। उस परमेश्वर की ऐसी बड़ी महिमा देखकर हम सदा पुरुषार्थ करें ॥ ४ ॥

स बुध्न्यादाष्ट्र जनुषोऽभ्यग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट् । अहर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्टाथ द्युमन्तो वि वसन्तु विप्राः ॥ ५ ॥

सः । बुध्न्यात् । आष्ट्र । जनुषः । अभि । अग्रम् । बृहस्पतिः । देवता । तस्य । सम्-राट् । अहः । यत् । शुक्रम् । ज्योतिषः । जनिष्ट । अथ । द्यु-मन्तः । वि । वसन्तु । विप्राः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सः) ईश्वर (जनुषः) उत्पन्न जगत् के (बुध्न्यात्) मूल देश से लेकर (अग्रम् अभि) उपरि भाग तक (आष्ट्र=आष्ट) व्याप्त हुआ। (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का स्वामी (देवता) प्रकाशमान परमेश्वर (तस्य) उस [जगत्] का (सम्राट्) सम्राट् [राजराजेश्वर] है। (यत्) क्योंकि (ज्योतिषः) ज्योतिः स्वरूप परमेश्वर से (शुक्रम्) चमचमाता हुआ (अहः) दिन [सूर्य] (जनिष्ट=अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ, (अथ) तभी (विप्राः) इन्द्रियां वा बुद्धिमान् लोग (द्युमन्तः) प्रकाशमान् होकर (वि) विविध प्रकार से (वसन्तु) निवास करें ॥ ५ ॥

(पार्थिवम्) अ० २ । २८ । ३ । भौमम् (रजः) भूरञ्जिभ्यां कित् । उ० ४ । २१७ । इति रञ्ज रागे-असुन् । रजो रजतेर्ज्योती रज उच्यते उदकं रज उच्यते लोका रजांस्युच्यन्तेऽसृगहनी रजसी उच्येते-निरु० ४ । १९ । लोकम् ॥

५—(सः) म० ४ । ईश्वरः (बुध्न्यात्) म० १ । मूले भवाद् देशात् (आष्ट्र) अशू व्याप्तौ-छान्दसो लुङ् । आष्ट । आश्नुत । व्याप्नोत् (जनुषः) म० २ । प्रादुर्भूतस्य संसारस्य (अभि) अभितः सर्वतः (अग्रम्) उपरिभागम् (बृहस्पतिः) बृहतां लोकानां स्वामी (देवता) देवात् तल् । पा० ५ । ४ । २७ ।

भावार्थ—परमेश्वर इस सब जगत् के आदि अन्त में विराजमान है, वही सार्वभौम शासक है, उसी ने सूर्य को बनाया है जिससे इन्द्रियां प्रकाश पाकर अपना व्यापार करती हैं। उसी से पंडित जन विद्या प्रकाश करके कीर्तिमान होते हैं ॥ ५ ॥

पं० सेवकलाल कृष्णदास की संहिता और सायणभाष्य में (आप्नुः) के स्थान में [आष्ट] है।

नूनं तद॑स्य का॒व्यो हि॑नोति म॒हो दे॒वस्य॑ पू॒र्व्यस्य॒ धाम॑। एष ज॑ज्ञे ब॒हुभि॑: सा॒कमि॒त्था पूर्वे॒ अर्धे॒ विषि॑ते स॒सन् नु ॥ ६ ॥

नूनम्। तत्। अ॒स्य॒। का॒व्यः। हि॒नो॒ति॒। म॒हः। दे॒वस्य॑। पू॒र्व्यस्य॑। धाम॑। ए॒षः। ज॒ज्ञे॒। ब॒हु-भि॑:। सा॒कम्। इ॒त्था। पूर्वे॑। अर्धे॑। वि-सि॑ते। स॒सन्। नु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(काव्यः) स्तुतियोग्य परमेश्वर [वेनः, म० १] (अस्य) इस (पूर्व्यस्य) समग्र जगत् के हित करनेवाले (देवस्य) प्रकाशमान सूर्य के (तत्) उस (महः)

इति स्वार्थे तल्। देवः। प्रकाशमानः परमेश्वरः (तस्य) जगुषा जगतः (सम्राट्) सत्सूद्विष०। पा० ३। २। ६१। इति सम्+राजृ दीप्त्यैश्वर्ययोः क्विप्। मो राजि समः क्वौ। पा० ८। ३। २५। इति समो मस्य अनुस्वाराभावः। सम्यक् राजमानः। राजाधिराजः। चक्रवर्त्ती (अहः) दिनम् (यत्) यस्मात् कारणात् (शुक्रम्) अ०। २। १२। ५। दीप्यमानम् (ज्योतिषः) अ० १। ६। १। द्योतमानात् परमेश्वरात् (अनिष्ट) जनी प्रादुर्भावे लुङ्, अडभावः। प्रादुरभूत् (अथ) अनन्तरम्। तस्मात् कारणात् (द्युमन्तः) दीप्तिमन्तः (वि वसन्तु) विविधं वर्तन्ताम् (विप्राः) अ० ३। ३। २। विप्राणां व्यापनकर्मणामिन्द्रियाणाम्—निरु० १४। १३। इन्द्रियाणि। मेधाविनः पुरुषाः ॥

६ (नूनम्) निश्चयेन (तत्) प्रसिद्धम् (अस्य) दृश्यमानस्य (काव्यः) ऋहलोर्ण्यत्। पा० ३। १। १२४। इति कव स्तुतौ—ण्यत्। वयोरैक्यम्

विशाल (धाम) तेज को (नूनम्) अवश्य (हिनोति) भेजता है। (ससन्) सोता हुआ (एषः) यह परमेश्वर (पूर्वे) समस्त (अर्धे) प्रवृद्ध जगत् के (विषिते) खुलने पर (इत्था) इस प्रकार से [जैसे सूर्य] (बहुभिः साकम्) बहुत [लोकों] के साथ (नु) शीघ्र (जज्ञे) प्रकट हुआ है ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर प्रलय की अवस्था में सोता हुआ सा था, उस ने सृष्टि उत्पन्न करने पर, आकर्षण, आतप वृष्टि आदि द्वारा संसार के हित के लिये सूर्य, पृथिवी, बृहस्पति, शुक्र आदि असंख्य लोक रचे। उस जगदीश्वर का सामर्थ्य विचार कर हम अपना सामर्थ्य बढ़ाकर उपकार करें ॥ ६ ॥

योऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात्। त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभायत् स्वधावान् ॥ ७ ॥

यः। अथर्वाणम्। पितरम्। देव-बन्धुम्। बृहस्पतिम्। नमसा। अव। च। गच्छात्। त्वम्। विश्वेषाम्। जनिता। यथा। असः। कविः। देवः। न। दभायत्। स्वधावान् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यः) गतिवाला, पुरुषार्थी पुरुष (अथर्वाणम्) निश्चल, (पितरम्) पिता, (देवबन्धुम्) विद्वानों या सूर्यादि दिव्य लोकों का बन्धु या

यथा, काव्या=बुद्धिः। स्तुत्यः परमेश्वरः (हिनोति) हि गतौ वृद्धौ च। प्रेरयति (महः) विशालम् (देवस्य) प्रकाशमानस्य सूर्यस्य (पूर्वस्य) तस्मै हितम्। पा० ५। १। ५। इति पूर्व—यत्। पूर्वाय समस्ताय जगते हितम् (धाम) अ० १। १३। ३। प्रभावम्। लोकम्। तेजः (एषः) पुरोवर्त्ती परमेश्वरः (जज्ञे) प्रादुर्बभूव (बहुभिः) असंख्यैर्दैवैर्लोकैः (साकम्) सार्धम् (इत्था) था हेतौ च च्छन्दसि। पा० ५। ३। २६। इति इदम्-था। अनेन प्रकारेण यथा सूर्यः (पूर्वे) पुर्व पूर्व पूरणे, निवासे—अच्। समस्ते (अर्धे) ऋधु वृद्धौ-घञ्। प्रवृद्धे संसारे (विषिते) वि विरोधे। षिञ् बन्धने—क्त। विवृत्ते प्रकाशिते सति (ससन्) षस स्वप्ने—शतृ। निद्रां गच्छन् सन्। प्रलयकालेऽज्ञातदशायां वर्तमान इत्यर्थः ॥

७—(यः) यातीति यः। या गतौ-ड। याता। गतिवान्। उद्योगी पुरुषः (अथर्वाणम्) अथर्वाणोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः—निरु० ११।

नियामक, (बृहस्पतिम्) बड़े बड़ों के स्वामी परमेश्वर को (नमसा) नमस्कार के साथ (च) निश्चय करके (अव गच्छात्) पहिचाने । [हे परमेश्वर !] (त्वम्) तू (विश्वेषाम्) सब [सुखों] का (जनिता) उत्पादक (असः) हो, (यथा) क्योंकि (कविः) मेधावी, (स्वधावान्) अन्नवान् वा स्वयं धारण सामर्थ्य वाला (देवः) परमेश्वर (न) कभी नहीं (दभायत्) ठगता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य विश्वास करके सत्य स्वभाव परमेश्वर से प्रार्थना करें "हे ईश्वर आप दुःखों से मुक्ति दाता हैं और आप कभी किसी को नहीं सताते" और पुरुषार्थ से पाप कर्मों को त्यागकर सुख प्राप्त करें ॥ ७ ॥

१८। स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप् । उ० ४। ११३ । इति अ+थर्व चरणे=गतौ —वनिप् । वकारलोपो विकल्पेन । न थर्वति न चरतीति अथर्वा निश्चलः परमेश्वरः । यद्वा । अथ+ऋ गतौ-वनिप् । अथ लोकमङ्गलाय ऋच्छति गच्छति व्याप्नोतीति अथर्वा । निश्चलं मङ्गलाय व्यापकं वा परमात्मानम् (पितरम्) अ० १ । २ । १ । पातारं पालयितारं वा—निरु० ४ । १६ (देवबन्धुम्) देवानां विदुषां सूर्यादिदिव्यलोकानां वा बन्धुं हितकरं बन्धकं नियामकं वा (बृहस्पतिम्) बृहतां लोकानां रक्षकम् (नमसा) नमस्कारेण । कराभ्यां शिरः संयोगविशेषेण स्वापकर्षसूचकेन व्यापारभेदेन (च) अवधारणे (अव गच्छात्) अवगच्छेत् जानीयात् (त्वम्) अथर्वा वेमो वा परमेश्वरः (विश्वेषाम्) सर्वेषां सुखानाम् (जनिता) अ० २ । १ । ३ । जनयिता (यथा) यस्मात् कारणात् (असः) भवेः (कविः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति कबृ स्तुतौ वर्णे च-इन् । यद्वा अच इः । उ० ४ । १३९ । इति कु शब्दे—इ । कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा निरु० १२ । १३ । अतीतानागतविप्रकृष्टविषयं युगत् ज्ञानं यस्य स क्रान्तदर्शनः— इति देवराजयज्वा निरुक्तटीकाकारः—निघ० ३ । १५ मेधावी—निघ० ३ । १५ । प्राज्ञः पण्डितः । (देवः) दीप्यमानः (न) नहि (दभायत्) दम्भु दम्भे=वञ्चने । छन्दसि शायजपि। पा० ३ । १ । ८४ । इति श्नः शायच् । इकारलोपश्च । दभ्नोति वञ्चति (स्वधावान्) अन्नवान् । स्वयं धारणवान् ॥

सूक्तम् ॥ २ ॥

१—८ ॥ कः प्रजापतिर्देवता । १-७ त्रिष्टुप् छन्दः, ८ आपो वत्समिति अनुष्टुप्, कस्मै देवायेति त्रिष्टुप् पादः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्वे॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः । यो॑३॒ स्येशे॒ द्वि॒पदो॒ यश्चतु॑ष्पद॒: कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ १ ॥

यः । आ॒त्म॒-दाः । ब॒ल॒-दाः । यस्य॑ । विश्वे॑ । उ॒प॒-आस॑ते । प्र॒-शिष॑म् । यस्य॑ । दे॒वाः । यः । अ॒स्य॒ । ईशे॑ । द्वि॒-पदः॑ । यः । चतु॑ः-पदः । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (आत्मदाः) प्राण [आत्मबल] का देने वा शुद्ध करने वाला और (बलदाः) शारीरिक बल का देने वा शुद्ध करने वाला है, (यस्य) जिस (यस्य) व्यापक वा पूजनीय के (प्रशिषम्) उत्तम शासन को (विश्वे) सब (देवाः) देवता [सूर्य चन्द्रादि सब लोक] (उपासते) सेवते हैं, (यः) जो (यः) व्यापक वा पूजनीय (अस्य) इस (द्विपदः) दुपाये और (चतुष्पदः) चौपाये जीव समूह का (ईशे=ईष्टे) ईश्वर है,उस (कस्मै=काय) प्रजापति सुखदाता परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ १ ॥

१—(यः) कः परमेश्वरः (आत्मदाः) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति आत्मन्+दाञ् दाने, दैप् शोधने वा—विच् । आत्मनः प्राणस्य आत्मबलस्य दाता शोधयिता वा (बलदाः) इति पूर्ववत् सिद्धिः । शरीरबलस्य दाता शोधयिता वा (यस्य) ईश्वरस्य (विश्वे) सर्वे (उपासते) आस उपवेशने—अदादिः । सेवन्ते । भजन्ते (प्रशिषम्) क्वौ च शास इत्वं भवतीति वक्तव्यम् । वा० पा० ६ । ४ । ३४ । इति शासु अनुशिष्टौ, इति क्विबन्तस्य उपधाया इत्वम् । शासिवसिघसीनां च । पा० ८ । ३ ६० । इति । षत्वम् । प्रकृष्टं

भावार्थ—जिस परमात्मा की आज्ञा में अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा आदि सब देवता [यजु० १४ । २०] और मनुष्य गौ आदि सब प्राणी चलते हैं, उस जगदीश्वर की उपासना करके हम लोग आत्मिक और शारीरिक बल बढ़ाकर सुख भोगें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । २, ३, और य० २५ । १३, ११ में है ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव ।
यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा वि-
धेम ॥ २ ॥

यः । प्राणतः । नि-मिषतः । महि-त्वा । एकः । राजा । ज-
गतः । बभूव । यस्य । छाया । अमृतम् । यस्य । मृत्युः ।
कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (महित्वा=०—त्वेन) अपनी महिमा से (प्राणतः)

शासनम् । आज्ञाम् (यस्य) या गतौ वा यज पूजायाम्—ड । याति व्याप्नोति यद्वा इज्यते पूज्यते स यः । व्यापकस्य । पूज्यस्य (देवाः) अग्निवायुसूर्यादयः-यथा यजु० १४।२०। (अस्य) दृश्यमानस्य (ईशे) ईश ऐश्वर्ये । लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः । ईष्टे । ईश्वरो भवति (द्विपदः) अ० २।३४।१ । पादद्वययुक्तस्य मनुष्यादेः (यः) व्यापकः । यजनीयः (चतुष्पदः) अ० २ । ३४ । १ । पादचतुष्टयोपेतस्य गवाश्वादेः (कस्मै) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१। इति कच दीप्तौ वा कमु कान्तौ वा क्रमु पादविक्षेपे गतौ च-ड प्रत्ययः। छान्दसी सर्वनामता । द्वितीयार्थे चतुर्थी । कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा निरु० १० । २२ । कमिति सुखनाम—निघ० ३ । ६ । काय । दीप्यमानाय प्रजा-पतये । सुखकारकाय (देवाय) दिव्यगुणाय-यथा दयानन्दभाष्ये, यजु० ४ । ३५ (हविषा) अ० १ । ४ । ३ । आत्मदानेन । भक्त्या (विधेम) अ० १ । १२ । २ । परिचरेम । सेवेमहि । परिचरणं कुर्याम ॥

२—(यः) प्रजापतिः कः (प्राणतः) अन प्राणने—शतृ । प्रश्वसतः । चेतनस्य

श्वास लेतेहुए, चेतन और (निमिषतः) आंख मूदे हुए, अचेतन (जगतः) जगत् का (एकः) एक (राजा) राजा (बभूव) हुआ है। (यस्य) जिसकी (छाया) छाया [छाया समान अनुगामी अथवा आश्रय वा कान्ति अर्थात् ज्ञान] (अमृतम्) अमरपन [जीवन वा पुरुषार्थ वा जीवन की सफलता, मोक्ष पद] है और (यस्य = यस्यच्छाया) जिसकी [छाया अर्थात् छाया समान अनुगामी अथवा अनाश्रय, वा प्रकाश का ढकना, अज्ञान](मृत्युः) मरण [शरीर त्याग वा निरुत्साह, वा जीवन की विफलता, नरक] है, उस (कस्मै) प्रजापति सुखदाता परमेश्वर की (देवाय) श्रेष्ठ गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) सेवा किया करें ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब चेतन और अचेतन जगत् के एक स्वामी परमेश्वर की आज्ञा में चलता है, वह जीते जागते हृदय वाला पुरुष पुरुषार्थ करके अमर [यशस्वी वा मुक्त] होजाता है और इसके विपरीत मरेमन वाला निरुत्साही मृतक सा होकर नरक भोगता है ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । ३, २ और यजु० २५ । ११, १३ में है ॥

यं क्रन्दंसी अवंतश्चस्कभाने भियसाने रोदंसी अह्वयेथाम् । यस्यासौ पन्था रजंसो विमानः कस्मै देवायं हविषा विधेम ॥ ३ ॥

(निमिषतः) मिष स्पर्धायाम्—शतृ । तुदादित्वात् शः । निमेषणं निमीलनं चक्षुर्मुद्रणं कुर्वतः । अचेतनस्य (महित्वा) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति मह पूजायाम्–इन् । महेर्महतो भावो महित्वम् । यद्वा । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । उ० ४ । १०५ । इति मह–भावे इत्वन । सुपां सुलुक० । पा० ७ । १ । ३९ । इति तृतीयाया आकारः । महित्वेन । महत्त्वेन (एकः) अद्वितीयः (राजा) शासकः अधिपतिः (जगतः) संसारस्य (बभूव) (यस्य) कस्य । प्रजापतेः (छाया) माछाससिभ्यो यः । उ० ४ । १०९ । इति छो छेदने—य, टाप् । गृहनाम—निघ० ३ । ४ । आश्रयः, इत्यर्थः । कान्तिः प्रकाशः । प्रतिबिम्बम् । प्रकाशावरणम् अज्ञानमित्यर्थः । यद्वा । छायेव अनुगामी वशीभूतः (अमृतम्) भावे—क्त । अमरणम् । जीवनम् । जीवनसाफल्यम् (यस्य) यस्यच्छाया (मृत्युः) मरणम् । जीवनवैफल्यम् । अन्यद् गतम् ॥ म० १ ॥

यम् । क्रन्दसी इति । अवतः । स्कभाने इति । भिय-साने इति । रोदसी इति । अह्वयेथाम् । यस्य । असौ । पन्थाः । रजसः । वि-मानः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥३॥

भाषार्थ—(यम्) जिसको (स्कभाने) परस्पर रोकती हुई (क्रन्दसी) ललकारती हुई दो सेनायें (अवतः) प्राप्त होती हैं, और [जिसको] (भियसाने) हे डरती हुई (रोदसी) सूर्य और भूमि ! (अह्वयेथाम्) तुम दोनों ने पुकारा है। (यस्य) जिसका (असौ पन्थाः) यह मार्ग (रजसः) संसार का (विमानः) विविध प्रकार नापने वाला वा विमान रूप है, उस (कस्मै) प्रजापति सुखदाता परमेश्वर की (देवाय) उत्तम गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर को ही दो लड़ती हुई सेनायें पुकारती हैं, उसी की आज्ञा में सूर्य आदि लोक रहते हैं, उसी की व्याप्ति संसार भर में है, उसी परब्रह्म की भक्ति करके सब मनुष्य पुरुषार्थ करें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । ६ और यजु० ३२ । ७ और उत्तरार्ध यजु० ३२ । ६ में है ॥

३—(यम्) प्रजापतिम् (क्रन्दसी) सर्वधातुभ्य इन् । उ० । ४ । ११८ । इति क्रदि आह्वाने रोदने च—असुन् । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णः । क्रन्दस्यौ । आक्रोशन्त्यौ । आह्वानं शब्दं वा कुर्वाणे द्वे सेने (अवतः) अव रक्षणगतिकान्तिप्रीत्यादिषु । अत्र गतौ प्राप्तौ—लट् । गच्छतः । प्राप्नुतः (स्कभाने) स्कभि प्रतिबन्धे—कानच् । प्रतिबन्धं कुर्वाणे (भियसाने) छन्दस्यसानच् शुजृभ्याम् । उ० २ । ८९ । इति ञि भी भये—असानच् । बिभ्यत्यौ (रोदसी) अ० ४ । १ । ४ । भूतानां निरोधनशीले द्यावापृथिव्यौ (अह्वयेथाम्) ह्वेञ् आह्वाने, स्पर्धायां शब्दे च—लङ् । युवाम् आहूतवत्यौ । (यस्य) कस्य । प्रजापतेः (असौ) प्रसिद्धः । दृश्यमानः (पन्थाः) पतस्थ च । उ० ४ । १२ । इति पत्लृ गतौ—इन् । मार्गः । (रजसः) अ० ४ । १ । ४ । लोकस्य (विमानः) वि+माङ् माने ल्युट् । परिच्छेदकः सर्वमानः । देवरथः । व्योमयानम् । विमानवत् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

यस्य द्यौरुर्वी पृ॑थि॒वी च॑ म॒ही यस्या॒द उ॒र्व॑१॒॑न्तरि॑क्षम् ।
यस्या॒सौ सूरो॒ वित॑तो महि॒त्वा कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ४ ॥

यस्य॑ । द्यौः । उ॒र्वी । पृ॒थि॒वी । च॒ । म॒ही । यस्य॑ । अ॒दः । उ॒रु । अ॒न्तरि॑क्षम् । यस्य॑ । अ॒सौ । सूर॑ः । वि-त॑तः । म॒हि॒-त्वा । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसकी (महित्वा=०—त्वेन) महिमा से (उर्वी) विस्तीर्ण (द्यौः) सूर्य (च) और (मही) विशाल (पृथिवी) पृथिवी है, (यस्य) जिसकी [महिमा से] (अदः) यह (उरु) चौड़ा (अन्तरिक्षम्) मध्य लोक है । (यस्य) जिसकी [महिमा से] (असौ) यह (सूरः) धर्म प्रचारक विद्वान् मनुष्य (विततः) विस्तारवाला है, उस (कस्मै) प्रजापति, सुखदाता परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने सूर्य आदि अनेक लोकों को रचकर परस्पर आकर्षण द्वारा स्थिर किया है, और जिसने मनुष्य को अद्भुत शक्तियां देकर ऐश्वर्यवान् और प्रतापी बनाया है, उसकी भक्ति करके हम पुरुषार्थ के साथ अपनी उन्नति करें ॥ ४ ॥

४—(यस्य) कस्य । प्रजापतेः (द्यौः) अ० २ । १२ । ६ । द्योतमानः सूर्यः (उर्वी) अ० ३ । २० । ६ । विस्तीर्णा (पृथ्वी) भूलोकः (मही) महती । विशाला (अदः) एतत् । दृश्यमानम् (उरु) अ० २ । १२ । १ । विस्तीर्णम् (अन्तरिक्षम्) अ० १ । ३० । ३ । मध्यलोकः (असौ) प्रत्यक्षं दृश्यमानः (सूरः) सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । ४ । इति षू प्रेरणे वा षूङ् प्राणिगर्भविमोचने, क्रन् । सुवति प्रेरयति, यद्वा, सूते उत्पादयति लोकं धर्मं वा । सूर्यः । पण्डितः (महित्वा) म० २ । महित्वेन । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्य रसामिदाहुः । इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥

यस्य । विश्वे । हिम-वन्तः । महि-त्वा । समुद्रे । यस्य । रसाम् । इत् । आहुः । इमाः । च । प्र-दिशः । यस्य । बाहू इति । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसकी (महित्वा=०—त्वेन) महिमा से (विश्वे) सब (हिमवन्तः) हिम वाले पहाड़ हैं, और (यस्य) जिसकी [महिमा से] (समुद्रे) समुद्र [अन्तरिक्ष, वा पार्थिव समुद्र] में (रसाम्) नदी को (इत्) भी (आहुः) बताते हैं । (च) और (इमाः) यह (प्रदिशः) बड़ी दिशायें (यस्य) जिसकी (बाहू) दो भुजायें हैं, उस (कस्मै) सुख दायक प्रजापति परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्तिके साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य अपनी दो भुजाओं के बल से अर्थात् शारीरिक और आत्मिक सामर्थ्य से प्रजा पालन आदि बड़े २ बोझ उठाते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर ने दिशाओं अर्थात् अवकाश के भीतर सब लोकों को रचकर परस्पर आकर्षण द्वारा स्थापित किया है, उस जगदीश्वर की आज्ञा में चलकर हम यत्न से उत्तम गुण प्राप्त करें ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । ४ और यजु० २५ । १२ में है ॥

५—(यस्य) कस्य । ईश्वरस्य (विश्वे) सर्वे (हिमवन्तः) भूम्नि मतुप्, मस्य वः । बहुहिमयुक्ता महागिरयः (महित्वा) म० २ । महित्वे (समुद्रे) अ० १ । ३ । ८ । अन्तरिक्षे । पार्थिवसागरे (रसाम्) नन्दिग्रहि० । पा० ३ । १ । १३४ । इति रस शब्दे—पचाद्यच् । यद्वा । रस उदकम्—निघ० १ । १२ । रसोऽस्त्यस्यामिति रसा । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति रस—अच् । रसा नदी भवति रसतेः शब्दकर्मणः—निरु० ११ । २५ । नदीम् । जलधाराम् (इत्) एव (आहुः) ब्रुवन्ति (इमाः) दृश्यमानाः (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशाः (बाहू) अ० २ । २७ । ३ । भुजद्वयवद् वर्तमानाः । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

आपो॒ अग्रे॒ विश्व॑मावन् गर्भं॒ दधा॑ना अ॒मृता॑ ऋत॒ज्ञाः।
यासु॑ दे॒वीष्वधि॑ दे॒व आसी॑त् कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम् ॥ ६ ॥

आपः॑ । अग्रे॑ । विश्व॑म् । आवन् । गर्भ॑म् । दधा॑नाः । अ॒मृताः॑ । ऋ॒त-ज्ञाः । यासु॑ । दे॒वीषु॑ । अधि॑ । दे॒वः । आसी॑त् । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(गर्भम्) बीज को (दधानाः) धारण करते हुए, (अमृताः) मरण रहित [जीवन शक्तिवाले] (ऋतज्ञाः) सत्य नियम को जानने वाले (आपः) उन व्यापक जलों [वा तन्मात्राओं] ने (अग्रे) पहले (विश्वम्) जगत् की (आवन्) रक्षा की थी, (यासु देवीषु अधि) जिन दिव्य गुण वालों के ऊपर (देवः) परमेश्वर (आसीत्) था उस (कस्मै) सुखदायक प्रजापति परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुणके लिये (हविषा) भक्तिके साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—सृष्टि की आदि में ईश्वर नियम से जल [वा तन्मात्रा] के भीतर जगत् का बीज और जीवन सामर्थ्य था, जिससे यह सृष्टि हुई है। उसी परमात्मा के नियम पर चलकर हम अपने जीवन को पुरुषार्थ करके सुधारें ॥६॥

६—(आपः) अ० १ । ४ । ३ । जलानि । व्यापिकास्तन्मात्राः—इति दयानन्दो यजुर्वेदभाष्ये २७ । २५ (अग्रे) सृष्ट्यादौ (विश्वम्) सर्वं जगत् (आवन्) अव रक्षणगत्यादिषु—लङ् । अरक्षन् (गर्भम्) अ० ३ । १० । १२ । बीजम् । मूलम् । प्रधानम (दधानाः) दधातेः शानच् । धारयन्त्यः । धरन्त्यः सत्यः (अमृताः) नास्ति मृतं मरणं याभिस्ताः । मरणरहिताः । प्राप्तजीवनशक्तयः (ऋतज्ञाः) आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति ऋत+ज्ञा बोधे-क । टाप् । ऋतं सत्यं नियमं जानानाः (यासु) अप्सु (देवीषु) दिव्यगुणसंपन्नासु (अधि) अधिकम् । उपरि (देवः) परमेश्वरः (आसीत्) अभवत् । अन्यद् व्याख्यातम्—म० १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । ७,८ और यजु० २७ । २५,२६ में हैं ।

मनु महाराज ने भी ऐसा कहा है—मनु १ । ८ ॥

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

उस परमात्मा ने सब ओर ध्यान करके अपने शरीर [अव्याकृत रूप वा सामर्थ्य] से नाना विध प्रजायें उत्पन्न करने की इच्छा करते हुये जलही पहिले उत्पन्न किया और उसमें बीज छोड़ दिया ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ७ ॥

हिरण्य-गर्भः । सम् । अवर्तत । अग्रे । भूतस्य । जातः । पतिः । एकः । आसीत् । सः । दाधार । पृथिवीम् । उत । द्याम् । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(हिरण्यगर्भः) तेजवाले लोकों का आधार (अग्रे) पहिले ही पहिले (सम्) ठीक ठीक (अवर्तत) वर्त्तमान था । वही (जातः) प्रकट होकर (भूतस्य) पृथिवी आदि पंचभूत का (एकः) एक (पतिः) पति, ईश्वर (आसीत्) हुआ, (सः) उसने (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) सूर्य को (दाधार) धारण किया, उस (कस्मै) सुखदायक प्रजापति परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ ७ ॥

७—(हिरण्यगर्भः) हिरण्यं व्याख्यातम्—अ० १ । ६ । २ । गर्भश्च, अ० ३ । १० । १२ । हिरण्यगर्भो हिरण्यमयो गर्भो हिरण्यमयो गर्भोऽस्येति-वा निरु० १० । २३ । हिरण्यानि सूर्यादितेजांसि गर्भे यस्य स परमात्मा—इति दयानन्द भाष्ये यजु० २५ । १० (सम्) प्रकर्षेण (अवर्तत) वृतु वर्तने—लङ् । वर्तमान आसीत् (अग्रे) सृष्टेः प्राक् (भूतस्य) पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशपञ्चकस्य

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् अविनाशी परमात्मा प्रलयकाल में विद्यमान था। उसके कर्मों से ज्ञात होता है कि उस अकेले ने सूक्ष्म पंचभूत का यथावत् संयोग वियोग करके पृथिवी, सूर्य आदि सृष्टि की रचना और धारण किया है, उसकी उपासना से उत्तम गुण प्राप्त करके आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । १, यजु० १३ । ४ तथा २५ । १० और निरु० १० । २३ में है ॥

आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन् ।
तस्योत जायमानस्योल्व आसीद्धिरण्ययः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ८ ॥

आपः । वत्सम् । जनयन्तीः । गर्भम् । अग्रे । सम् । ऐरयन् ।
तस्य । उत । जायमानस्य । उल्वः । आसीत् । हिरण्ययः ।
कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अग्रे) पहिले ही पहिले (वत्सम्) निवास स्थान संसार को वा बालक रूप संसार को (जनयन्तीः=०-न्त्यः) उत्पन्न करते हुए (आपः) जल धाराओं [वा तन्मात्राओं] ने (गर्भम्) बालक [रूप संसार] को (समैरयन्) यथावत् प्रकट किया, (उत) और (तस्य) उस (जायमानस्य)

वस्तुतत्त्वस्य । उदकस्य—निघ० १ । १२ । (जातः) उत्पन्नः । प्रादुर्भूतः । प्रसिद्धः सन् (पतिः) अ० १ । १ । १ । पाता । रक्षिता । ईश्वरः । स्वतन्त्रः (एकः) मुख्यः । अद्वितीयः (आसीत्) अभवत् (दाधार) धृञ् धारणे-लिट् । धृतवान् (पृथिवीम्) भूमिम् (उत) अपि च (द्याम्) अ० २ । १२ । ६ । प्रकाशम् । सूर्यम् । अन्यद् गतम् ॥

८—(आपः) जलानि । तन्मात्राः (वत्सम्) अ० ३ । १२ । ३ । वृतृवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । इति वद कथने यद्वा वस निवासे—सः । वसन्ति भूतान्यस्मिंस्तं संसारम् । वदति सततमिति वत्सो बालस्तं वा—इति दयानन्दभाष्ये यजु०१३ । ५ (जनयन्तीः) जनयतेः शतृ । जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । जनयन्त्यः ।

उत्पन्न होते हुए [बालक, संसार] का (उल्वः) जरायु [गर्भ की झिल्ली] (हिरण्ययः) तेजोमय परमात्मा (आसीत्) था, इस (कस्मै) सुख दायक प्रजापति परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ ८ ॥

भावार्थ—जल [वा तन्मात्राओं] की उत्पादन शक्ति से यह संसार उत्पन्न हुआ है और सृष्टि का आदिकारण परमेश्वर है, जो सृष्टि को सब ओर से गर्भ की झिल्ली के समान ढके हुए है और बाज में भी उत्पादन शक्ति देनेवाला वही है—मन्त्र ६ देखो ॥ ८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । ७ और यजु० २७ । २५ में है ॥

मनु भगवान् ने इस प्रकार कहा है—म० १ । ६ ।

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥

यह [बीज] सूर्य के समान प्रकाशवाला चमकीला अंडा होगया, उस [अण्डे] में ब्रह्मा [परमात्मा] सब लोकों का पितामह [दादा] अपने आप प्रकट हुआ [अर्थात् उसमें परमात्मा की महिमा जान पड़ी] ॥

सूक्तम् ॥ ३ ॥

१-७ ॥ इन्द्रो देवता । १ पथ्या पङ्क्तिः, २, ४-७ अनुष्टुप्, ३ गायत्री ॥

शत्रुनाशोपदेशः—वैरी के नाश का उपदेश ॥

उ॒दि॒तस्त्रयो॑ अक्रम॒न् व्या॒घ्रः पुरु॑षो॒ वृकः॑ । हिरु॒ग्घि यन्ति॒ सिन्ध॑वो॒ हिरु॑ग् दे॒वो वन॒स्पति॒र्हिरु॑ङ् नमन्तु॒ शत्र॑वः ॥ १ ॥

उत्पादयन्त्यः (गर्भम्) मूलं प्रधानम् । वीर्यम् । शिशुम् (अग्रे) प्राक्काले (सम्) सम्यक् । यथावत् (ऐरयन्) ईर गतौ एयन्तोल्लङ् । प्रेरितवत्यः । प्रकाशितवत्यः (तस्य) प्रसिद्धस्य (उत) अपि च (जायमानस्य) उत्पद्यमानस्य गर्भस्य (उल्वः) उल्वादयश्च । उ० ४ । ६५ । इति उच समवाये-वन् चस्य लत्वं गुणाभावश्च । यद्वा । वल संवरणे-वन्प्रत्ययः संप्रसारणं च । जरायुः । गर्भवेष्टनः (आसीत्) अभवत् (हिरण्ययः) म०॥१ । हिरण्यमयः । तेजोमयः । अन्यद् गतम् म०॥१॥

उत् । इतः । त्रयः । अक्रमन् । व्याघ्रः । पुरुषः । वृकः । हिरुक् । हि । यन्ति । सिन्धवः । हिरुक् । देवः । वनस्पतिः । हिरुक् । नमन्तु । शत्रवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्रयः) तीनों, (व्याघ्रः) सूंघकर पकड़ने वाला, बाघ, (पुरुषः) आगे बढ़नेवाला, [चोर] मनुष्य, और (वृकः) हुंडार वा भेड़िया (इतः) यहां से (उदक्रमन्) फलांगकर निकल गये। (सिन्धवः) नदियां (हि) अवश्य (हिरुक्)नीचे को (यन्ति) जाती हैं, (देवः) दिव्य गुणवाला (वनस्पतिः) सेवकों का रक्षक, वृक्ष भी (हिरुक्) नीचे को, [इसी प्रकार] (शत्रवः) हमारे वैरी (हिरुक्) नीचे को (नमन्तु) झुकें। ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करे कि हिंसक मनुष्य और अन्य प्राणी वशीभूत होकर झुके रहें, जैसे नदी और वृक्ष नीचे को झुकते हैं ॥

परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः ।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥ २ ॥

१—(उत्) उपसर्गाः क्रियायोगे (इतः) अस्मात् स्थानात् (त्रयः) त्रिसंख्यकाः (उदक्रमन्) क्रमु पादविक्षेपे—लङ्। क्रमः परस्मैपदेषु। पा० ७। ३। ७६। इति दीर्घाभावश्छान्दसः। उदक्रामन्। उत्क्रान्ता उत्थिता अभवन् (व्याघ्रः) आतश्चोपसर्गे। पा० ३। १। १३६। इति वि+आङ्+घ्रा गन्धोपादाने क। व्याजिघ्रति विशिष्टाघ्राणमात्रेण प्राणिनो हन्तीति। हिंसकजन्तुविशेषः (पुरुषः) अ० १। १६। ४। पुर-कुषन्। पुरति अग्रेऽगच्छतीति। चोरः। परमेणोत तस्करः। इति उत्तरत्र म० २, तस्यैवानुकीर्तनात् (वृकः) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक्। इति वृञ् वरणे-कक्। यद्वा। वृक आदाने-क। कुक्कुरप्रमाणहरिणादिघ्नजन्तुविशेषः। हुण्डार इति भाषा (हिरुक्) हि गतौ-रुकक्। वर्जने। त्यागे। अधमे। विना। निर्णीतान्तर्हितनाम-निघ० ३। २५। अन्तर्हितम् (हि) प्रसिद्धौ (यन्ति) गच्छन्ति (सिन्धवः) स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च। उ० १। ११। इति स्यन्दू प्रस्रवणे-उ। दस्य धः। सिन्धुः स्यन्दनात्-निरु ६। २६। स्यन्दनशीला नद्यः (देवः) दिव्यगुणयुक्तः (वनस्पतिः) वनानां सेवकानां पाता रक्षकः। वृक्षः (नमन्तु) प्रह्वीभवन्तु (शत्रवः) शातनशीलाः। विरोधिनः॥

परेण । एतु । पथा । वृकः । परमेण । उत । तस्करः । परेण । दत्वती । रज्जुः । परेण । अघ-युः । अर्षतु ॥ २ ॥

भाषार्थ–(वृकः) हुण्डार वा भेड़िया (परेण) दूर (पथा) मार्ग से (एतु) चला जावे, (उत) और (तस्करः) पीड़ा देने वाला चोर (परमेण) अधिक दूर मार्ग से । (दत्वती) दान्तवाली (रज्जुः) रस्सी अर्थात् साँप (परेण) दूर से, और (अघायुः) बुरा चीतनेवाला पापी (परेण) दूर से (अर्षतु) भाग जावे ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य अपने घर ऐसे बनावें और ऐसा प्रबन्ध करें जिससे दुष्ट मनुष्य और हिंसक जीवों से रक्षा रहे ॥ २ ॥

अक्ष्यौ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि ।
आत् सर्वान् विंशतिं नखान् ॥ ३ ॥

अक्ष्यौ । च । ते । मुखम् । च । ते । व्याघ्र । जम्भयामसि । आत् । सर्वान् । विंशतिम् । नखान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(व्याघ्र) हे बाघ ! (ते) तेरी (अक्ष्यौ) दोनों [हृदय और

२—(परेण) अन्येन दूरेण (एतु) गच्छतु (पथा) मार्गेण (वृकः) म० १ । अरण्यश्वा (परमेण) दूरतरेण (उत) अपि (तस्करः) त्यजितनियजिभ्यो डित् । उ० १ । १३२ । इति तनु विस्तारोपकृतिशब्दोपतापेषु-अदि । तनति उपतापय-तीति तद्, उपतापः पीड़ा । दिवाविभानिशा० । पा० ३ । २ । २१ । इति तत् इत्युपपदे कृञ् करणे—टप्रत्ययः । तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलो-पश्च । पा० ६ । १ । १५७ । इति सुट्तलोपौ । तत् उपतापं करोतीति तस्करः । चोरः । (दत्वती) दन्त-मतुप् ङीप् । पद्दन्नोमास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति दत् । दन्तवती (दत्वती रज्जुः) दन्तयुक्ता रज्ज्वाकृतिः सर्पः (अघायुः) म० १ । २० । २ । अनिष्टचारी । पापात्मा (अर्षतु) ऋषी गतौ । गच्छतु ॥

३—(अक्ष्यौ) म० १ । २७ । २ । अक्षिणी । उभे मानसिकमस्तिकनेत्रे ।

मस्तक की] आंखों को (च) और (च) भी (ते मुखम्) तेरे मुख को, (आत्) और भी (सर्वान्) सब (विंशतिम) बीसों (नखान्) नखों को (जम्भयामसि=०—मः) हम नष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे हिंसक जन्तुओं को अंग भंग करके नष्ट कर देते हैं, इसी प्रकार मनुष्य अपने अपने शत्रुओं को सेनादि और शरीर के अंगों से नष्ट करके प्रजा में शान्ति रक्खें ॥ ३ ॥

व्याघ्रं दत्वतां वयं प्रथमं जम्भयामसि ।
आदु ष्टेनमथो अहिं यातुधानमथो वृकम् ॥ ४ ॥

व्याघ्रम् । दत्वताम् । वयम् । प्रथमम् । जम्भयामसि । आत् । ऊं इति । स्तेनम् । अथो इति । अहिम् । यातु-धानम् । अथो इति । वृकम् ॥४॥

भाषार्थ—(दत्वताम्) दान्त वालों में से (प्रथमम्) पहिले (व्याघ्रम्) बाघ, (आत् उ) और भी (अहिम्) सांप, (अथो) और भी (वृकम्) भेड़िये, (स्तेनम्) चोर (अथो) और भी (यातुधानम्) पीड़ा देनेवाले राक्षस को (वयम्) हम (जम्भयामसि) नष्ट करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक दुष्ट जन्तुओं और उनके समान दुष्ट स्वभाववाले चोर डाकुओं और रोगों तथा दोषों को नष्ट करें ॥ ४ ॥

(मुखम्) अ० २ । ३५ । ५ । आस्यम् (ते) तव (व्याघ्र) म० १ । हे व्याघ्रेव हिंसक पुरुष (जम्भयामसि) म० ३ । नाशयामः (आत्) अनन्तरम् (सर्वान्) सकलान् (विंशतिम्) पङ्क्तिविंशति० । पा० ५ । १ । ५६ । इति विन् शब्दात् शतिच् प्रत्ययान्तो निपातः । द्वे दशती । पादचतुष्टये पञ्चशोऽवस्थितान्(नखान्) अ० २ । ३३ । ६ नखरान् ॥

४—(व्याघ्रम्) म० १ । हिंसकजन्तुविशेषं शार्दूलम् । (दत्वताम्) म० २ । दन्तवतां दंशनशीलानां हिंस्राणां मध्ये (वयम्) मनुष्याः (प्रथमम्) अग्रे (जम्भयामसि) म० ३ । नाशयामः (आत् उ) अनन्तरमेव (स्तेनम् स्तेन चौर्ये—पचाद्यच् । चोरम् (अथो) अनन्तरमेव (अहिम्) अ० २ । ५ । ५ । आहन्तारम् । सर्पम् (यातुधानम्) अ० १ । ७ । १ । पीड़ाप्रदं राक्षसम् (वृकम्) म० १ । अरण्यश्वानम् ॥

यो अद्य स्तेन आयति स संपिष्टो अपायति ।
पथामपध्वंसेनैत्विन्द्रो वज्रेण हन्तु तम् ॥ ५ ॥

यः । अद्य । स्तेनः । आ-अयति । सः । सम्-पिष्टः । अप । अयति । पथाम् । अपध्वंसेन । एतु । इन्द्रः । वज्रेण । हन्तु । तम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः स्तेनः) जो कोई चोर (अद्य) आज (आयति) आवे, (संपिष्टः) चूर चूर किया हुआ (सः) वह (अप अयति) हटजावे और (पथाम्) मार्गों के (अपध्वंसेन) विनाश से (एतु) चला जावे. (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् प्रतापी मनुष्य (वज्रेण) वज्र से (तम्) उसको (हन्तु) मार डाले ॥५॥

भावार्थ—मनुष्य घर और रक्षकों का ऐसा प्रबन्ध करें कि यदि चोर आदि आ भी जावें तो मार्ग भूलकर निराश होकर भागने लगें, और राजा पकड़ कर उसे यथोचित दंड देवे ॥ ५ ॥

मूर्णा मृगस्य दन्ता अपिशीर्णा उ पृष्टयः ।
निम्रुक् ते गोधा भवतु नीचायच्छशयुर्मृगः ॥ ६ ॥

मूर्णाः । मृगस्य । दन्ताः । अपि-शीर्णाः । ऊं इति । पृष्टयः । नि-म्रुक् । ते । गोधा । भवतु । नीचा । अयत् । शशयुः । मृगः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे चोर !] (मृगस्य) पशु [अर्थात् तेरी गाह] के (दन्तः) दान्त (मूर्णा) बन्द वा भोथरे (उ) और (पृष्टयः) पसलियां (अपि शीर्णाः)

५—(यः) (अद्य) अस्मिन् दिने (स्तेनः) म० ४ । चोरः (आ-अयति) अय गतौ । आगच्छतु (सः) चोरः (संपिष्टः) पिष्लृ संचूर्णने-क्त । सर्वथा चूर्णीकृतः (अप-अयति) निर्गच्छतु (पथाम्) मार्गाणाम् (अपध्वंसेन) ध्वन्सु गतौ, अधः पतने-घञ् । विनाशेन (एतु) गच्छतु (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुषः (वज्रेण) अस्त्रभेदेन (हन्तु) मारयतु (तम्) चोरम् ॥

६—(मूर्णाः) मुर्व बन्धने-राल्लोपः । पा० ६ । ४ । २१ । इति वकारलोपः । रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः । पा० ८ । २ । ४२ । इति तस्य नः । बद्धाः ।

चूर चूर [हो जावें], (ते) तेरी (गोधा) गोह (निम्रुक्) नीचे (भवतु) हो जावे, और (मृगः) वह पशु (शशयुः) सोता हुआ [निरुद्यमी होकर] (नीचा) नीचे (अयात्) आ जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—(गोधा) गोह वा गोसांप एक छिपकली जाति का जन्तु होता है, चोर उसको पूंछमें डोरी बांधकर ऊंचे घरोंपर फेंक देते, और उसे पकड़ कर ऊपर चढ़ जाते हैं। मनुष्य घर ऐसे चिकने और दृढ़ बनावें और सावधानी रक्खें कि चोर, डाकुओं की गोह आदि फंदे घरों पर न चिपट सकें किन्तु निकम्मे होकर नीचे फिसलपड़ें ॥ ६ ॥

यत् सं॒यमो॒ न वि य॒मो॒ वि य॒मो यन्न सं॒यमः॑ ।
इ॒न्द्र॒जाः सो॑म॒जा आ॑थर्व॒णम॑सि व्याघ्र॒जम्भ॑नम् ॥ ७ ॥

यत् । सम्-यमः । न । वि । यमः । वि । यमः । यत् । न । सम्-यमः । इन्द्र-जाः । सोम-जाः । आथर्वणम् । असि । व्याघ्र-जम्भनम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिससे (इन्द्रजाः) परमेश्वर से प्रकट हुआ, और (सोमजाः) मथन करने वाले तत्ववेत्ताओं अथवा सर्वप्रेरक शूरवीर पुरुषों से

कुण्ठिताः (मृगस्य) अ० २ । ३६ । ४ । अन्वेषणशीलस्य । पशोः । गोधायाः (दन्ताः) हसिमृग्रिण्वामिदमि० । उ० ३ । ८६ । इति दमु उपशमे-तन् । रदनाः । दशनाः (अपि - शीर्णाः) शॄ हिंसने-क्त । हिंसिताः । विदीर्णाः । त्रोटिताः (उ) अपि (पृष्टयः) पृषु सेके-क्तिन् । पर्शवः । पार्श्वास्थीनि (निम्रुक्) नि+म्रुचु गतौ—क्विप् । नीचगतिः (ते) तव । चोरस्य (गोधा) हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति गुध परिवेष्टने-घञ् । टाप् । धनुर्गुणाघातवारणाय प्रकोष्ठबद्धा चर्मपट्टिका । जन्तुविशेषः (भवतु) (नीचा) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति नीचैः डा । नीचैः (अयत्) अय गतौ लेट् । अडागमः । अयताम् गच्छतु (शशयुः) भृमृशीङ्० उ० १ । ७ । इति शीङ् स्वप्ने–उ । बाहुलकाद् द्विर्वचनम् । शयुः शयानः । निरुद्यमः (मृगः) पशुः ॥

७—(यत्) यस्मात् कारणात् (संयमः) सम्यङ् नियमः सुनियमः :

प्रकाशित हुआ (संयमः) यथावत् नियम (वि यमः) विरुद्ध नियम (न) नहीं होता, और (यत्) जिस से (वि यमः) विरुद्ध नियम (संयमः) यथावत् नियम (न) नहीं होता है, [इस लिये हे मनुष्य तू] (आथर्वणम्) निश्चल वा मंगलप्रद परमेश्वर से आया हुआ (व्याघ्रजम्भनम्) व्याघ्रों [व्याघ्र स्वभाववाले शत्रुओं और विघ्नों] के नाश का सामर्थ्य (असि) है ॥ ७ ॥

भावार्थ—ईश्वर ने, और वेदवेत्ता आप्त पुरुषों ने जिन कर्मों को सत्य, और जिनको विरुद्ध वा असत्य बताया है, वे सर्वदा वैसे ही हैं, इसलिये मनुष्य विवेक पूर्वक विघ्नों को निर्मूल करके सदा आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

सूक्त ॥ ४ ॥

१--८ ॥ वृषेन्द्रश्च देवते । अनुष्टुप् छन्दः ॥

मनुष्यो बलं वर्धयेत्—मनुष्य बल को बढ़ावें ॥

यां त्वा गन्धर्वो अखनुद् वरुणाय मृतभ्रजे ।
तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥ १ ॥

याम् । त्वा । गन्धर्वः । अखनत् । वरुणाय । मृत-भ्रजे ।
ताम् । त्वा । वयम् । खनामसि । ओषधिम् । शेपः-हर्षणीम् ॥ १

प्रबन्धः (वि यमः) विरुद्ध नियमः (इन्द्रजाः) जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । इति इन्द्र+जनी प्रादुर्भावे-विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । इति आत्वम् । इन्द्रात् परमेश्वराज्जातः प्रादुर्भूतः (सोमजाः) पूर्ववद् विट् प्रत्यये सिद्धिः । षुञ् अभिषवे, यद्वा षूप्रेरणे-मन् । सोमेभ्यो मन्थनशीलेभ्यः सर्वप्रेरकेभ्यो वा पुरुषेभ्यः प्रकाशितः (आथर्वणम्) अथर्वा, इति व्याख्यातः—अ० ४ । १ । ७ । तत आगतः । पा० ४।३ । ७४ । इति अथर्वन्-अण् । अन् । पा० ६ । ४ । १६७ । इति अणि प्रकृतिभावः । अथर्वणो निश्चलात् मङ्गलप्रदाद् वा परमेश्वराद् आगतं प्राप्तम् (असि) हे मनुष्य त्वं भवसि (व्याघ्रजम्भनम्) व्याघ्रस्वभावानां हिंसकानां शत्रूणां नाशसामर्थ्यम् ।

भाषार्थ—(याम् त्वा) जिस तुझ को (गन्धर्वः) वेद विद्या धारण करनेवाले पुरुष ने (मृतभ्रजे) नष्ट बल वाले (वरुणाय) उत्तम गुण युक्त मनुष्य केलिये (अखनत्) खना है, (ताम् त्वा) उस तुझ (शेपहर्षणीम्) सामर्थ्य बढ़ानेवाली (ओषधिम्) ओषधि को (वयम्) हम (खनामसि) खनते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पूर्व ऋषियों ने मनुष्य के हित के लिये परीक्षा करके श्रेष्ठ ओषधियों को प्राप्त किया है, उसी प्रकार हम उत्तम ओषधियों की परीक्षा और सेवन से बलवान् होकर सुखी रहें ॥ १ ॥

संहिता के (शेपहर्षणीम्) के स्थान पर पदच्छेद में (शेपः हर्षणीम्) है ॥

उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः ।
उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना ॥ २॥

उत् । उषाः । उत् । ऊं इति । सूर्यः । उत् । इदम् । मामकम् । वचः । उत् । एजतु । प्रजा-पतिः । वृषा । शुष्मेण । वाजिना ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वाजिना) वेग रखने वाले (शुष्मेण) बल वा प्रभाव से (उषाः) प्रभात वेला (उत्=उदेजतु) ऊंची होवे, (उ) और (सूर्यः) सूर्य

१—(याम् त्वा) यां त्वाम् ओषधिम् (गन्धर्वः) अ० २ । १ । २ । गां वाणीं पृथिवीं गतिं वा धरति धारयति वा सः । वेदवेत्ता पुरुषः (अखनत्) विदारितवान् (वरुणाय) अ० १ । ३ । ३ । वरेण्याय वरणीयाय जीवाय (मृतभ्रजे) भ्रस्ज पाके-क्विप्, सलोपः । नष्टपाकसामर्थ्याय । नष्टबलाय (वयम्) आयुर्वेदज्ञाः (खनामसि) खनामः । विदारयामः (ओषधिम्) अ०१ । ३० । ३ । भेषजम् (शेपहर्षणीम्) पानीविषिभ्यः पः । उ० ३ । २३ । इति शीङ् शयने-प प्रत्ययः । शेते वर्त्तते स शेपः सामर्थ्यम् । हृष्यतेः करणे ल्युट्, टित्वात् ङीप् । शेपस्य वीर्यस्य वर्धनीम् ।

२—(उत्) उदेजतु (उषाः) उषः किच्च । उ० ४।२३४ । इति उष दाहे बधे च, यद्वा, उछी विवासे, यद्वा, वश कान्तौ असि । उषाः कस्मादुच्छतीति

(उत्) ऊंचा चढ़े, (इदम्) यह (मामकम्) मेरा (वचः) वचन (उत्) ऊंचा होवे, (प्रजापतिः) प्रजाओं की पालन करनेवाली (वृषा) बल बढ़ाने वाली [कोई औषधि वा मूसाकर्नी ओषधि विशेष] (उदेजतु) ऊंची होवे ॥ २ ॥

भावार्थ--मनुष्य प्रभात समय उठकर ईश्वर चिन्तनादि, सूर्य के उदय पर जीविकादि, की प्राप्ति और आप्त पुरुषों से वेद अध्ययनादि, और बल बर्धक वृषा आदि ओषधि सेवन से बलवृद्धि करके आनन्द भोगें ॥

वृषा [स्त्रीलिंग] ओषधि के नाम अमरकोश १४ । ८७, ८८ में ये हैं ।

चित्रोपचित्रा न्यग्रोधी द्रवन्ती शम्बरी वृषा ।
प्रत्यक्श्रेणी सुतश्रेणी रण्डा मूषिकपर्ण्यपि ॥

चित्रा, उपचित्रा, न्यग्रोधी, द्रवन्ती, शम्बरी, वृषा, प्रत्यक्श्रेणी, सुतश्रेणी, रण्डा, मूषिकपर्णी, ये दस नाम मूषा पर्णी के हैं ॥

यथा॑ स्म ते विरोह॑तो॒ऽभित॑प्तमि॒वान॑ति ।
तत॑स्ते॒ शुष्म॑वत्तरमि॒यं कृ॑णो॒त्वोष॑धिः ॥ ३॥

सत्या रात्रेरपरकालः—निरु० २ । १८ । उषा वष्टेः कान्तिकर्मणः उच्छतेरितरा माध्यमिका—निरु० १२ । ५ । कल्यम् । प्रभातकालः (उ) अपि (सूर्यः) रविः (इदम्) मन्त्रात्मकम् (मामकम्) अ० १ । २६ । ५ । मदीयम् (वचः) वचनम् (उदेजतु) एजृ कम्पने । उत्कम्पयतु । उदेतु (प्रजापतिः) प्रजायन्ते प्रजाः । उपसर्गे च संज्ञायाम् । पा०३।२।९९। इति प्र+जनी प्रादुर्भावे-ड । प्रजानां पालयित्री (वृषा) अ०१।१२।१ । वृषु सेचने, प्रजननैश्वर्ययोः—कनिन् । यद्वा, कप्रत्ययः, टाप् स्त्रियाम् । बलसेचिका । ओषधिविशेषः । तत्पर्यायाः । चित्रा । उपचित्रादयः—अमरकोशे १४ । ८७, ८८ (शुष्मेण) अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभायावापदियक्षिनीभ्यो मन् । उ० १ । १४४ । इति शुष शोषणे—मन् । शुष्ममिति बलनाम शोषयतीति सतः—निरु० २ । २४ । बलेन । प्रभावेण (वाजिना) वज गतौ—घञ् । वाजो वेगः । अन्नम्—निघ० २ । ७ । बलम्—निघ० २ । ६ । अत इनिठनौ पा० ५ । २ । ११५ । इति इनि । वेगवता अन्नवता ॥

यथा । स्म । ते । वि-रोहतः । अभितप्तम्-इव । अनति ।
ततः । ते । शुष्मवत्-तरम् । इयम् । कृणोतु । ओषधिः ॥३॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य] (यथा स्म) जिस प्रकार से ही (ते विरोहतः) तुझ वृद्धिशील का [मन विद्या से](अभितप्तमिव) प्रतापयुक्त सा (अनति) चेष्टा करता है, (ततः) उस प्रकार से ही (ते=त्वाम्) तुझे (इयम् ओषधिः) यह ओषधि (शुष्मवत्तरम्) अधिक बलयुक्त (कृणोतु) करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार विद्याभ्यास से मनुष्यों का मन बढ़ता जावे उसी प्रकार परीक्षित उत्तम उत्तम बलवर्धक वृषा आदि ओषधि और यथावत् आहार विहार से अपना शरीर बल भी बढ़ावें ॥ ३

उच्छुष्मौषधीनां सारं ऋषभाणाम् ।
सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥ ४ ॥

उत् । शुष्मा । ओषधीनाम् । सारा । ऋषभाणाम् । सम् ।
पुंसाम् । इन्द्र । वृष्ण्यम् । अस्मिन् । धेहि । तनू-वशिन् ॥४॥

भाषार्थ—(ऋषभाणाम्) श्रेष्ठ [अथवा कांकड़ासिंगी आदि] (ओषधीनाम्) ओषधियों में से (शुष्मा) बल वाली (सारा) श्रेष्ठ [वा वृषा नाम ओषधि] (उत्=उदेजतु) उदय हो । (तनूवशिन्) हे शरीरों को वश में

३—(यथा) येन प्रकारेण (स्म) खलु (ते) तव मनः (विरोहतः) रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—शतृ । वृद्धिशीलस्य (अभितप्तम् इव) तप दाहैश्वर्ययोः-क्त । प्रतापयुक्तं यथा (अनति) अनिति चेष्टते (ततः) तेनैव प्रकारेण (ते) द्वितीयार्थे षष्ठी । त्वाम् (शुष्मवत्तरम्) अधिकबलयुक्तम् (इयम्) पूर्वोक्ता वृषा (कृणोतु) करोतु (ओषधिः) औषधम् ॥

४—(उत्) उदेजतु—म० २ (शुष्मा) म० २ । बलवती (ओषधीनाम्) वीरुधां मध्ये (सारा) सृ-घञ्, टाप् । श्रेष्ठा । यद्वा । सृ णिच्—अच्, टाप् दूर्वा । शातला-यथा । शातला सप्तला सारा विमला विदुला च सा । तथा

रखने वाले (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्य वाले सद्वैद्य ! (पुंसाम्) रक्षाशील पुरुषों के मध्य (वृष्ण्यम्) बल (अस्मिन्) इस मनुष्य में (संधेहि) यथावत् धारण करदे ॥ ४)

भावार्थ—सद्वैद्य प्रयत्न करें कि उत्तम सारवती बलवर्धक [वृषा आदि] ओषधियों के सेवन से मनुष्य ऐसे वीर्यवान् हों कि शूरवीरों के मध्य उनके बल की प्रशंसा होवे ॥ ४ ॥

(ऋषभ) और (सारा) श्रेष्ठ वाचक हैं और ओषधि विशेष भी हैं ॥

अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम् ।
उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ॥ ५ ॥

अपाम् । रसः । प्रथम-जः । अथो इति । वनस्पतीनाम् । उत । सोमस्य । भ्राता असि । उत । आर्शम् । असि । वृष्ण्यम् ॥५॥

भाषार्थ—[हे औषध !] तू (अपाम्) व्यापन शील जलों का (अथो) और भी (वनस्पतीनाम्] अपने सेवा करने वालों के पालक वृक्षों का (प्रथमजः) प्रथम उत्पन्न होने वाला (रसः) रस, (उत) और (सोमस्य) अमृत वा

निगदिता भूरिरेफा चर्मकषेत्यपि ॥ इति शब्दकल्पद्रुमः (ऋषभाणाम्) अ० ३ । २३ । ४ । ऋष गतौ दर्शने च—अभक् । टाप् । श्रेष्ठानाम् । ऋषभौषधादिरसानाम् (सार ऋषभाणाम्) ऋत्यकः । पा० ६ । १ । १२८ । इति प्रकृतिभावः । (पुंसाम्) अ० १ । ८ । १ । पा रक्षणे—डुमसुन् । रक्षणशीलानां पुरुषाणां मध्ये (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् सद्वैद्य (वृष्ण्यम्) खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च । पा० ५ । १ । ७ । इति वृषन्—यत् । वृष्णे—इन्द्राय जीवाय हितं बलम् । वीर्यम् । (अस्मिन्) पुरुषे (संधेहि) सम्यग् धारय (तनूवशिन्) अ० १ । ७ । २ । हे तनूनां शरीराणां वशयितः ॥

५—(अपाम्) व्यापनशीलानां जलानाम् (रसः) सारः (प्रथमजः) प्रथमं जातः प्रादुर्भूतः (अथो) अपि च (वनस्पतीनाम्) अ० २ । १२ । ३ । वनानां सेवकानां पतीनां पालकानां वृक्षाणाम् (उत) अपि (सोमस्य) अमृत-

ऐश्वर्य का (भ्राता) प्रकाशक वा धारक और पोषक (असि) है, (उत) और (आर्शम्) शूरों का हितकारक (वृष्ण्यम्) बल (असि) है ॥ ५ ॥

भावार्थ—उत्तम जल और उत्तम वृक्षों और अन्न आदिकों के यथावत् सेवन से मनुष्य ऐश्वर्यवान् और बलवान् होते हैं ॥ ५ ॥

अद्याग्ने अद्य सवितर्द्य देवि सरस्वति ।
अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनु॑रिवा तानया पसः ॥ ६ ॥

अद्य । अग्ने । अद्य । सवितः । अद्य । देवि । सरस्वति । अद्य । अस्य । ब्रह्मणः । पते । धनुः-इव । आ । तानय । पसः ॥६॥

भाषार्थ—(अद्य) आज (अग्ने) हे भौतिक अग्नि ! (अद्य) आज (सवितः) हे लोकप्रेरक सूर्य ! (अद्य) आज (देवि) दिव्य गुण वाली (सरस्वति) विज्ञानवति विद्या ! (अद्य) आज (ब्रह्मणस्पते) हे अन्न, वा धन, वा वेद, वा ब्राह्मण के रक्षक परमेश्वर ! (अस्य) इसके (पसः) राज्य को (धनुः इव) धनुष के समान (आ) भले प्रकार (तानय) फैला ॥ ६ ॥

स्य । ऐश्वर्यस्य (भ्राता) अ० १ । १४ । २ । भ्राजृ दीप्तौ-तृन् । प्रकाशकः । अथवा । डुभृञ् धारणपोषणयोः—तृन् । अन्योऽन्यभरणशीलः । भ्राता भरते र्हरतिकर्मणो हरते भागं भर्त्तव्यो भवतीतिवा—निरु० ४ । २६ । भ्रातृसमानगुणः (असि) भवसि (आर्शम्) इगुपधज्ञा० । पा० ३ । १ । १३५ । इति ऋश हिंसायाम्-कु, सौत्रो धातुः । ऋशति शृयते हिनस्ति शत्रूनिति ऋशः शूरः । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति अण् । ऋशाय शूराय हितम् (वृष्ण्यम्) म० ४ । बलम ॥

६—(अद्य) वर्तमानदिने । (अग्ने) भौतिकाग्ने (सवितः) हे लोकप्रेरक सूर्य (देवि) हे दिव्यगुणे (सरस्वति) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति सृ गतौ—असुन् । मतुप, मस्य वः, ङीप् । सरो नीरं विज्ञानं वा विद्यतेऽस्यां सा सरस्वती । वाक्—निघ० १ । ११ । सरस्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति—निरु० २ । २३ । हे विज्ञानवति विद्ये (अस्य) शूर पुरुषस्य (ब्रह्मणस्पते)

भावार्थ—मनुष्य यथावत् ओषधि सेवन से अपना शारीरिक और मानसिक बल बढ़ाकर अग्नि, सूर्य आदि पदार्थों और अनेक उत्तम विद्याओं से नित्य उपकार करता हुआ, ईश्वर के आश्रय से अन्न आदि प्राप्त करके अपना राज्य और सुख फैलावे, जैसे धनुष को लक्ष्य के लिये दृढ़ तानते हैं ॥ ६ ॥

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि ।
क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ७ ॥

आ । अहम् । तनोमि । ते । पसः । अधि । ज्याम्-इव । धन्वनि । क्रमस्व । ऋशः-इव । रोहितम् । अनव-ग्लायता । सदा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं [हे मनुष्य !] (ते) तेरे (पसः) राज्य को (आ) यथावत् (तनोमि) फैलाता हूं (ज्याम् इव) जैसे डोरी को (धन्वनि अधि) धनुष में । (अनवग्लायता) बिना ग्लानि वा थकावट के (सदा) सदा [शत्रुओं पर] (क्रमस्व) धावा कर, (ऋशः इव) जैसे हिंसकजन्तु, सिंह आदि (रोहितम्) हरिण पर ॥ ७ ॥

अ० १ । २६ । २ । ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मणः पाता वा पालयिता वा । ब्रह्म, अन्नम्-निघ० २ । ८ । धनम्—निघ० २ । १० । हे ब्रह्मणोऽन्नस्य, धनस्य, वेदस्य विप्रस्य वा पालक परमेश्वर (धनुरिव) अर्त्तिपृवपियजि० । उ० २ । ११७ । इति धन धान्ये—उसि । चापं यथा (आ) समन्तात् (तानय) तनु विस्तारे-णिच् । विस्तारय (पसः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति पस बन्धे, बाधे च-असुन् । राज्यप्रबन्धम् । राष्ट्रम्-इति दयानन्द भाष्ये, यजु० २३ । २२ ॥ ६ ॥

७—(आ) समन्तात् (अहम्) नीतिज्ञः (तनोमि) विस्तारयामि (ते) तव (पसः) म० ६ । राष्ट्रम् (अधि) सप्तम्यर्थानुवादी (ज्यामिव) मौर्वीमिव (धन्वनि) कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्वि० । उ० १ । १५६ । इति धन्व गतौ-कनिन् । धनुषि (क्रमस्व) वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः । पा० १ । ३ । ३८ । इति आत्मनेपदम् । आक्रमस्व (ऋशः) इगुपधज्ञा० । पा० ३ । १ । १३५ इति ऋश

भावार्थ—जैसे लक्ष्य वेधने के लिये धनुष में डोरी को दृढ़ कसते हैं, वैसे ही बलवान् पुरुष राज्य प्रबन्ध को प्रजा के सुख के लिये यथाशास्त्र दृढ़ रक्खे, और जैसे सिंह आदि हरिण आदि को दबोच लेते हैं, वैसे ही शत्रुओं पर धावा करके कुरीतियों को मिटावे ॥ ७ ॥

अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च ।
अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥८॥

अश्वस्य । अश्वतरस्य । अजस्य । पेत्वस्य । च । अथ । ऋषभस्य । ये । वाजाः । तान् । अस्मिन् । धेहि । तनू-वशिन् ॥८॥

भाषार्थ—(अश्वस्य) घोड़े के, (अश्वतरस्य) खच्चर के, (अजस्य) बकरे के, (च) और (पेत्वस्य) मेढ़े के, (अथ) और भी (ऋषभस्य) बलीवर्द के (ये वाजाः) जो बल हैं, (तान्) उनको, (तनूवशिन्) हे शरीरों को वश में रखने वाले शूर ! (अस्मिन्) इस पुरुष में (धेहि) धारण कर ॥ ८ ॥

हिंसायाम्-क । ऋशति शूर्यते हिनस्ति शत्रूनिति ऋशः । शूरो हिंसको जन्तुर्वा (रोहितम्) हृसृरुहियुषिभ्य इतिः । उ० १ । ९७ । इति रुह प्रादुर्भावे-इति । मृगं हरिणम् -यथा शार्दूलाय रोहित् । य० २४ । ३० । एको रोहिदृश्यः शार्दूलाय—इति तद्भाष्ये महीधरः । शार्दूलाय महासिंहाय रोहित् रक्तगुणविशिष्टो मृगः—इति तत्रैव दयानन्दभाष्ये (अनवग्लायता) संश्चत्तृपद्वेहत् । उ० २ । ८५ । इति अन+अव+ग्लै हर्षक्षये—अति प्रत्ययः, सच शतृवत् अहर्षक्षयेण । अग्लानेन । आनन्देन (सदा) सर्वदा ॥ ७ ॥

८—(अश्वस्य) अ० १ । १६ । ४ । अश्वः कस्मादश्नुतेऽध्वानं महाशनो भवतीति वा-निरु० २ । २७ । घोटकस्य (अश्वतरस्य) वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे । पा० ५ । ३ । ९१ । इति अश्व-ष्टरच् तनुत्वे । अश्वायां गर्दभेन जातस्य पशुविशेषस्य खचरस्य (अजस्य) अज गतिक्षेपणयोः—अच् । छागस्य (पेत्वस्य) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । उ० ४ । १०५ । इति पा पाने, वा पत्लृ पतने—

भावार्थ—शूरवीर पुरुष अश्व आदि उपकारी पशुओं को पालकर खेती, वाणिज्य, सेना आदि के यथायोग्य कामों में लगाकर संसार में सुख बढ़ावें ॥ ८ ॥

सूक्तम् ५ ॥

१-७ ॥ इन्द्रो देवता । १-६ अनुष्टुप्, ७ पथ्या पङ्क्तिः ॥

प्रजास्वापनार्थं गीतम्—बच्चों के सुलाने का गीत अर्थात् लोरी ॥

स॒हस्र॑शृङ्गो वृष॒भो यः स॑मु॒द्रादु॒दाच॑रत् ।
तेना॑ सह॒स्ये॑ना व॒यं नि जना॑न्स्वापयामसि ॥ १ ॥

स॒हस्र॑-शृ॒ङ्गः । वृ॒ष॒भः । यः । स॒मु॒द्रात् । उ॒त्-आच॑रत् । तेन॑ । स॒ह॒स्ये॑न । व॒यम् । नि । जना॑न् । स्वा॒प॒या॒म॒सि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (वृषभः) सुख बरसाने वाला (सहस्रशृङ्गः) सहस्रों तेज अर्थात् नक्षत्रों वाला चन्द्रमा [अथवा सहस्रों किरणों वाला सूर्य] (समुद्रात्) आकाश से (उदाचरत्) उदय हुआ है, (तेन) उस (सहस्येन) बल के लिये हितकारक [चन्द्रमा] से (वयम्) हम लोग (जनान्) सब जनों को (नि स्वापयामसि) सुलादें ॥ १ ॥

त्वन्, पृषोदरादिरूपम् । मेषः पतनशीलो वेगवान् पशुः—इति महीधरो यजुर्वेदभाष्ये—२६ । ५८ । मेषस्य (अथ) अपि च (ऋषभस्य) ऋषिवृषिभ्यां किन् । उ० । १२३ । इति ऋष गतौ—अभच् । बलीवर्दस्य (वाजाः) बलानि । अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च म० ४ ॥

१—(सहस्रशृङ्गः) सहो बलम्—निघ० २ । ९ । रो मत्वर्थे । सहस्रं बहुनाम—निघ० ३ । १ । शृणातेर्ह्रस्वश्च । उ० १ । १२६ । इति शॄ हिंसायाम्-गन्, स च कित्, नुडागमः । शृङ्गाणि ज्वलतो नामसु—निघ० १ । १७ । शृङ्गं श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा निरु० २ । ७ । सहस्राणि बहूनि शृङ्गाणि तेजांसि नक्षत्राणि किरणा वा यस्य सः

भावार्थ—माता पिता आदि बच्चों को चन्द्रमा के दर्शन कराते हुये सुलावें, जिस से उनके शरीर की पुष्टि और नेत्रोंकी ज्योति बढ़े [(सहस्रशृङ्गः) का अर्थ सूर्य भी है, अर्थात् सूर्य का प्रकाश आने से यह घर स्वास्थ्यकारक है। हम सब सोवें] ॥ १ ॥

इस सूक्त के चार मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद म० ७। सू० ५५ के हैं जिनका इन्द्र देवता है, इससे यहां भी सूक्त का इन्द्र ही देवता है। यह मन्त्र उक्त सूक्त का मन्त्र ७ है ॥

न भूमिं॒ वातो॒ अति॑ वाति॒ नाति॑ पश्यति॒ कश्च॒न।
स्त्रिय॑श्च॒ सर्वाः॑ स्वा॒पय॒ शुन॒श्चेन्द्र॑सखा॒ चर॑न् ॥ २॥

न। भूमि॑म्। वातः॑। अति॑। वा॒ति॒। न। अति॑। प॒श्य॒ति॒। कः। च॒न। स्त्रियः॑। च॒। सर्वाः॑। स्वा॒पय॑। शुनः॑। च॒। इन्द्र॑-सखा। चर॑न् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(न) न (वातः) पवन (भूमिम्) भूमि पर (अति) अत्यन्त (वाति) चलता है, और (न) न (कश्चन) कोई जन (अति) ऊपर से (पश्यति) देखता है [हे पवन!] (इन्द्रसखा) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा को अपना सखा

बहुतेजाः। असंख्याननक्षत्रः। चन्द्रः। सूर्यः (वृषभः) ऋषिवृषिभ्यां कित् उ० ३। १२३। इति वृषु सेचने—अभच्। यद्वा, वृह वृद्धौ—अभच्, हस्य षकारः। वृषभः प्रजां वर्षतीति वातिवृहति रेत इति वा तद् वृषकर्मा वर्षणाद् वृषभः— निरु० ९। २२। किरणद्वारा सुखस्य वर्षकः (यः)(समुद्रात्) अ० १। ३। ८। अन्तरिक्षात्—निघ० १। ३ (उत्+आ+अचरत्) उदागात् (तेन) प्रसिद्धेन तादृशेन (सहस्येन) तस्मै हितम्। पा० ५। १। ५। इति सहस्—य सहसे बलाय हितेन चन्द्रेण (वयम्) (नि) नित्यम्। सर्वथा (जनान्) गृहस्थप्राणिनः (स्वापयामसि) स्वापयामः। निद्रापयामः॥

२—(न) निषेधे (भूमिम्) पृथिवीम् (वातः) अ० १। ११। ६। वायुः (अति) अतिशयेन (वाति) गच्छति (पश्यति) प्रेक्षते (कश्चन) कोपि जनः (स्त्रियः) अ० १। ८। १। स्त्यायति स्तौति वा गुणान् स्तूयते सा

रखने वाला तू, (चरन्) चलता हुआ, (सर्वाःस्त्रियः) सब स्त्रियों (च) और (शुनः) कुत्तों को (च) भी (स्वापय) सुला दे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करे कि रात्री को सोते समय तीव्र वायु वा अन्य किसी तुच्छ कारण से निद्रा भंग न हो और न बाहिरी पुरुष गुप्त बातें सुने ॥२॥

प्रो॒ष्ठे॒श॒यास्त॑ल्पेश॒या नारी॒र्या व॑ह्य॒शीव॑रीः ।
स्त्रियो॒ याः पुण्य॑गन्धय॒स्ताः सर्वाः॑ स्वापयामसि ॥ ३॥

प्रो॒ष्ठे॒-श॒याः । त॒ल्पे॒-श॒याः । नारीः॑ । याः । व॒ह्य॒-शीव॑रीः ।
स्त्रियः॑ । याः । पुण्य॑-गन्धयः । ताः । सर्वाः॑ । स्वा॒प॒या॒म॒सि॒ ॥३॥

भाषार्थ—(प्रोष्ठेशयाः) बड़े घर वा बड़े आंगन में सोने वाली, (तल्पेशयाः) खाटों पर सोने वाली, और (वह्यशीवरीः=०-र्यः) हिंडोला आदि में सोने वाली (याः) जो (नारीः=नार्यः) नारियां हैं, और (याः) जो (स्त्रियः) स्त्रियां (पुण्यगन्धयः) पुण्य गति वाली हैं, (ताः सर्वाः) उन सब को (स्वापयामसि=०—मः) हम सुलाते हैं ३ ॥

स्त्री । नारीः (सर्वाः) (स्वापय) निद्रापय (शुनः) श्वनुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति टुओश्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन् । श्वयतीति श्वा । कुक्कुरान् (च) (इन्द्रसखा) इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्ट० । पा० ५ । २ । ६३ । इति इन्द्र आत्मा । "इन्द्र आत्मा स सखा यस्य प्राणवायोस्तदात्मकः" - इति सायणः । आत्मप्रियः । वातः (चरन्) देहे वर्तमानः ॥

३—(प्रोष्ठेशयाः) उषिकुषिगर्त्तिभ्यस्थन् । उ० २ । ४ । इति उष दाहे—थन् । इति ओष्ठः । एङि पररूपम् । पा० ६ । १ । ९४ । अत्र वार्त्तिकम् । ओत्वोष्ठयोः समासे वा । इति पररूपम् । अधिकरणे शेतेः । पा० ३ । २ । १५ । इति प्र+शीङ् शयने—अच् । शयवासवासिष्वकालात् । पा० ६ । ३ १८ । इति सप्त्या अलुक् । प्रोष्ठे अतिशयेन प्रौढे गृहे प्राङ्गणे वा शयानाः (तल्पेशयाः) खष्पशिल्पशष्प० । उ० ३ । २८ । इति तल प्रतिष्ठायाम्—पप्रत्ययः । शेषं पूर्ववत् सिद्धिः खट्वासु शयानाः । (नारीः) नार्यः । (वह्यशीवरीः) वह्यं करणम् । पा० ३ । १ । १०२ । इति वह प्रापणे—यत् । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ ।

भावार्थ—गृहस्थ लोग स्त्रियों के रहने के घर ऐसे उत्तम बनावें जिससे रात्री को वे सुख पूर्वक सोया करें ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० ७। ५५। ८ में है ॥

एजदे॑जदजग्रभं॒ चक्षुः॑ प्रा॒णम॑जग्रभम् ।
अङ्गा॑न्यजग्रभं॒ सर्वा॒ रात्री॑णामतिशर्व॒रे ॥ ४ ॥

एज॑त्-एजत् । अ॒ज॒ग्र॒भ॒म् । चक्षुः॑ । प्रा॒णम् । अ॒ज॒ग्र॒भ॒म् । अ॒ङ्गानि । अ॒ज॒ग्र॒भ॒म् । सर्वा॑ । रात्री॑णाम् । अ॒ति॒-श॒र्व॒रे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एजदेजत्) इधर उधर पड़ी हुई प्रत्येक वस्तु को (अजग्रभम्) मैंने संग्रह करलिया है, (चक्षुः) नेत्र और (प्राणम्) प्राण मार्ग [नासिका] को (अजग्रभम्) मैंने ग्रहण करलिया है, और (रात्रीणाम्) रात्रियों के मध्य (अतिशर्वरे) अत्यन्त अन्धकार में (सर्वा=सर्वाणि) सब (अङ्गानि) अंगों को (अजग्रभम्) मैंने थांभ लिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रिय निग्रह करके शान्त चित्त होकर रात्रि में सोवें ॥ ४ ॥

---

७५ । इति वह्य+शीङ्—क्वनिप् । वनो र च । पा० ४।१ । ७ । इति ङीब्रेफौ । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०१ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । वह्ये वहनसाधने आन्दोलिकादौ शयनस्वभावाः (पुण्यगन्धयः) पूञो यण् णुग्घ्रस्वश्च । उ० ५ । १५ । इति पूञ् शोधे—यत्, णुक् च । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति गन्ध गतिहिंसायाचनेषु—इन् । पुण्यं पवित्रं गन्धि गमनं यासां ताः पवित्रगतयः । अन्यद् गतम् ॥

४—(एजदेजत्) एजृ कम्पने—शतृ । इतस्ततः पतत् प्रत्येकं वस्तु (अजग्रभम्) ग्रह उपादाने—लङ् । हस्य भत्वम् । अहं संगृहीतवानस्मि (चक्षुः) दर्शनसाधनं नेत्रम् (प्राणम्) प्राणसंचारमार्गं घ्राणम् । (अजग्रभम्) निद्रया सह गृहीतवानस्मि (अङ्गानि) हस्तपादादीनि (अजग्रभम्) (सर्वा) सर्वाणि (रात्रीणाम्) रात्रीणां मध्ये (अतिशर्वरे) कॄगॄशॄवृञ्चतिभ्यः ष्वरच् । उ० २ । १२१ । इति शॄ हिंसायाम्—ष्वरच् । शर्वरं तमः । अत्यन्ततमसि ॥

य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन् विपश्यति ।
तेषां सं दध्मो अक्षीणि यथेदं हर्म्यं तथा ॥ ५ ॥

यः । आस्ते । यः । चरति । यः । च । तिष्ठन् । वि-पश्यति ।
तेषाम् । सम् । दध्मः । अक्षीणि । यथा । इदम् । हर्म्यम् । तथा ५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो कोई (आस्ते) बैठता है, (यः) जो (चरति) चलता है, (च) और (यः) जो (तिष्ठन्) खड़े होकर (विपश्यति) विविध प्रकार से देखता है, (तेषाम्) उनकी (अक्षीणि) आंखों को (तथा) उस प्रकार से (संदध्मः) हम मूंदते हैं, (यथा) जैसे (इदम्) इस (हर्म्यम्) हर्म्य [धनियों के मनोहर घर] को ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे धनिक लोगों के घर सुरक्षित होते हैं, जिन्हें बन्ध करके सुख पूर्वक वे सोते हैं वैसेही घर सब गृहस्थ बनावें, जिनमें निर्भय होकर रात्रि को आनन्द से सोवें ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद मं० ७ । ५५ । ६ । में है ॥

स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः ।
स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः ॥ ६ ॥

स्वप्तु । माता । स्वप्तु । पिता । स्वप्तु । श्वा । स्वप्तु । विश्पतिः । स्वपन्तु । अस्यै । ज्ञातयः । स्वप्तु । अयम् । अभितः । जनः ॥ ६ ॥

५—(यः) (आस्ते) उपविशति (यः) (चरति) संचरति (यः च) (तिष्ठन्) स्थितः सन् (विपश्यति) विविधम् इतस्ततः पश्यति (तेषाम्) (संदध्मः) संहितानि निमीलितानि अदर्शकानि कुर्मः (अक्षीणि) चक्षूंषि (यथा) येन प्रकारेण (इदम्) दृश्यमानम् (हर्म्यम्) अघ्न्यादयश्च । उ० ४।११२ । इति हृञ् हरणे—यक्, मुट् च । हरति मनांसि । धनिनां वासम् । मनोहरं गृहम् (तथा) तेन प्रकारेण ॥

भाषार्थ—(अस्यै) इस [सन्तति, पुत्र वा पुत्री के हित] के लिये (माता) माता (स्वप्तु) सोवे, (पिता) पिता (स्वप्तु) सोवे, (श्वा) कुत्ता (स्वप्तु) सोवे, (विश्पतिः) प्रजापालक गृहपति (स्वप्तु) सोवे। (ज्ञातयः) ज्ञाति के लोग (स्वपन्तु) सोवें, और (अयम्) यह (जनः) सब जन (अभितः) चारों ओर (स्वप्तु) सोवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जब रात्री में सब लोग चुप चाप सो जावें, खलबल न मचावें जिससे यह बालक सुखपूर्वक सो जावे ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वे ७।५५।५ में है ॥

स्वप्नं स्वप्नाभिकरणेन सर्वं नि ष्वापया जनम्। ओत्सूर्यमन्यान्त्स्वापयाव्युषं जागृतादहमिन्द्र इवारिष्टो अक्षितः ॥ ७ ॥

स्वप्न॑। स्वप्न-अभिकरणेन। सर्व॑म्। नि। स्वापय। जन॑म्। आ-उत्सूर्य॑म्। अन्यान्। स्वापय। आ-व्युषम्। जागृतात्। अहम्। इन्द्रः-इव। अरिष्टः। अक्षितः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(स्वप्न) हे निद्रा ! (स्वप्नाभिकरणेन) नींद के उपाय वा साधन से (सर्वं जनम्) सब जनों को (नि, स्वापय) सुलादे। (अन्यान्) दूसरे

६—(स्वप्तु) ञिष्वप शयने। इडभावश्छान्दसः। स्वपितु। निद्रातु (माता) जननी (पिता) जनकः (श्वा) म० २। गमनशीलः। वृद्धिशीलः। कुक्कुरः (विश्पतिः) विशां प्रजानां पालको गृही। गृहाधिपतिः (स्वपन्तु) निद्रान्तु (अस्यै) दृश्यमानायै प्रजायै सन्तत्यै। कन्यायाः पुत्रस्य वा हिताय (ज्ञातयः) स्त्रियां क्तिन् च संज्ञायाम्। पा० ३। ३। १७४। इति ज्ञा ज्ञाने—क्तिच्। जानाति कुलस्थितिं स ज्ञातिः। एककुलोत्पन्नाः पितृव्यादयः। बान्धवाः। सम्बन्धिनः (अभितः) परितः स्थितः (जनः) लोकः। मनुष्यसमूहः ॥

७—(स्वप्न) ञिष्वप् शये-नन्। हे निद्रे (स्वप्नाभिकरणेन) निद्राजनकेन साधनेन कर्मणा द्रव्येण वा (सर्वम्) सकलम् (नि स्वापय) सर्वथा निद्रापय

पुरुषों को (ओत्सूर्यम्) सूर्य उदय तक (स्वापय) सुला. (अहम्) मैं (इन्द्रः इव) प्रतापी मनुष्य के समान (अरिष्टः) नाश रहित और (अक्षितः) हानि रहित (आव्युषम्) प्रभात तक (जागृतात्=जागराणि) जागरण करूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—घर के अन्य सब स्त्री पुरुष अपने अपने स्थानों पर सो जावें और गृहपति यथावत् जाग कर सावधानी रक्खें ॥ ७ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

सूक्तम् ६ ॥

१—८ ॥ विषं देवता । १, ३—८ अनुष्टुप्, २ यावतीति त्रिष्टुप्, वाचमित्यनुष्टुप् ॥

विषनिवारणोपदेशः—विष दूर करने के लिये उपदेश ॥

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दर्शशीर्षो दशास्यः ।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणः । जज्ञे । प्रथमः । दर्श-शीर्षः । दर्श-आस्यः । सः । सोमम् । प्रथमः । पपौ । सः । चकार । अरसम् । विषम् ॥१॥

(जनम्) मनुष्यसमूहम् (ओत्सूर्यम्) उद्यन् सूर्यो यस्मिन् काले स उत्सूर्यः कालः । सूर्योदयपर्यन्तम् (अन्यान्) इतरान् मनुष्मान् । (आव्युषम्) उष वधे दाहे च—क, वा टाप् । उषः, उषा वा रात्रिशेषः । उषः कालावधि । रात्र्यवसानपर्यन्तम् (जागृतात्) जागृ निद्राक्षये लोट्, उत्तमपुरुषस्य छन्दसि प्रथमपुरुषः । अहं जागराणि । जागृतो भवानि (अहम्) गृहपतिः (इन्द्रः इव) प्रतापी पुरुषो यथा (अरिष्टः) अहिंसितः (अक्षितः) क्षयरहितः ॥

भावार्थ—(प्रथमः) सब वर्णों में प्रधान, (दशशीर्षः) दस प्रकार के [१—दान, २—शील, ३—क्षमा, ४—वीर्य, ५—ध्यान,६—बुद्धि,—७ सेना, ८—उपाय,६—गुप्त दूत,और १०—ज्ञान] बलोंमें शिर रखनेवाला,और (दशास्यः)दस दिशाओं में मुख के समान पोषण शक्ति वाला वा दस दिशाओं में स्थिति वाला (ब्राह्मणः) ब्राह्मण अर्थात् वेदवेत्ता पुरुष (जज्ञे) उत्पन्न हुआ । (सः प्रथमः) उसप्रधान पुरुष ने (सोमम्) सोम नाम ओषधि का रस (पपौ) पिया, और (सः) उसने (विषम्) विष को (अरसम्) निर्गुण कर दिया ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे वेदवेत्ता महर्षियों ने पूर्ण विद्या प्राप्त करके सब दिशाओं में खोजकर संसार के उपकार के लिये सोम रस को पाया और आरोग्यनाशक और शरीरविकारक विष को हटाया है, हम लोग इसी प्रकार सोमलता आदि ओषधों की प्राप्ति और परीक्षा करके संसार का कष्ट मिटाकर सब को सुख पहुंचावें और ब्राह्मण अर्थात् वेदवेत्ता होकर अगुआ बनें ॥ १ ॥

सोम का विशेष वर्णन ऋग्वेद मण्डल ६, और सामवेद उत्तरार्चिक प्रपाठक १ आदि में है, यहां दो मन्त्र लिखते हैं ।

स्वादि॑ष्ठया॒ मदि॑ष्ठया॒ पव॑स्व सोम॒ धार॑या ।
इन्द्रा॑य॒ पात॑वे सु॒तः ॥ १ ॥
र॒क्षो॒हा वि॒श्वच॑र्षणिर॒भि योनि॒मयो॑हतम् ।
द्रुणा॑ स॒धस्थ॒मास॑दत् ॥ २ ॥

ऋग्वेद ६ । १ । १,२ ॥ यजु० २६ । २५, २६ ॥ साम उत्तरा० प्र० १ अ० १ त्रक १५ ॥

(सोम) हे सोम रस (स्वादिष्ठया) बड़ी स्वादिष्ठ और (मदिष्ठया) ति आनन्द कारक (धारया) धारा से (इन्द्राय) बड़े प्रतापी इन्द्र, पुरुष लिये (पातवे) पीने को (सुतः) छनकर (पवस्व) शुद्ध हो ॥ १ ॥

१—(ब्राह्मणः) तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५६ । इति ब्रह्मन्—अण् । ह्मोऽजातौ । पा० ६ । ४ । १७१ । इति न टिलोपः । वेदपाठी । वेदवेत्ता पुरुषः जज्ञे) जनी—लिट् । प्रादुर्बभूव (प्रथमः) सर्ववर्णेषु प्रधानः । अग्रिमः दशशीर्षः) श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च । उ० ४ । १६४ । श्रिञ् सेवायाम्—सुन्, शिरादेशः । शिरः शब्दस्य शीर्षं वा । उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं मूर्धा ना

(रक्षोहा) रोगादि दुष्ट राक्षसों के नाश करने वाले, (विश्वचर्षणिः) सब मनुष्यों के हितकारक उस [सोम] ने (अयोहतम्) सुवर्ण से बने हुये (सधस्थम्) एक साथ ठहरने योग्य (योनिम्) स्थान (द्रुणा=द्रोणे) द्रोण कलश में (अभि) व्याप कर (आ असदत्) पाया है ॥ २ ॥

सोम का वृत्तांत सुश्रुतचरक आदि वैद्यक ग्रन्थों में सविस्तार है वहां देख लेवें ॥

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावत् सप्त सिन्धवो वितष्ठिरे । वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम् ॥ २ ॥

यावती इति । द्यावापृथिवी इति । वरिम्णा । यावत् । सप्त । सिंधवः । वि-तस्थिरे । वाचम् । विषस्य । दूषणीम् । ताम् । इतः । निः । अवादिषम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी=०–व्यौ) सूर्य और पृथिवी लोक (वरिम्णा)

मस्तकोऽस्त्रियाम् . इत्यमरः, १६।६५। दानशीलक्षमावीर्य्यध्यानप्रज्ञा बलानि च । उपायः प्रणिधिर्ज्ञानं दश बुद्धबलानि च । इति शब्दकल्पद्रुमवचनाद् दशसु बलेषु शीर्षं शिरोबलं यस्य स तथाभूतः पुरुषः (दशास्यः) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३।१।१२४। इति असु क्षेपणे–ण्यत् । अस्यतेऽन्नमस्मिन्निति आस्यं मुखम् । यद्वा । आस उपवेशने –ण्यत् .टाप् आस्या स्थितिः, आसनम् । दशसु दिक्षु आस्यं मुखवत् पोषणं यस्य । यद्वा । दशसु दिक्षु आस्या स्थितिर्यस्य स तथाभूतः (सः) ब्राह्मणः (सोमम्) अ० १।६।२ । सोमलतारसम् । ओषधिः सोमः सुनोतेर्यदेनमभिषुण्वन्ति । बहुलमस्य नैघण्टुकं वृत्तमाश्चर्य्यमिव प्राधान्येन तस्य पावमानीषु—निरु० ११ । २ । (प्रथमः) प्रधानः । (पपौ) पीतवान् (चकार) कृतवान् (अरसम्) रसरहितं निर्वीर्यम् (विषम्) विष विप्रयोगे, यद्वा, विष्लृ व्याप्तौ—क । विषमित्युदकनाम विष्णातेर्विपूर्वस्य स्नातेः शुद्ध्यर्थस्य विपूर्वस्य वा सचतेः निरु० २२ । २६ आरोग्यस्य शरीरस्य नाशकं द्रव्यम् ॥

२—(यावती) यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् पा० ५ । २ । ३९ । इति यत्—

अपने विस्तार से (यावती=०—त्यौ) जितने हैं, और (सप्त) जीव से मिली हुई वा गमन शील, वा सात (सिन्धवः) बहने वाली नदी रूप इन्द्रियां [दो कान, दो नथने, दो आंखें और एक मुख] (यावत्) जितने (वितष्ठिरे) फैलकर स्थित हैं। (इतः) इस स्थान से (विषस्य) विष की (दूषणीम्) खंडन करने वाली (ताम्) उस (वाचम्) वाणी को (निरवादिषम्) मैं ने कह दिया है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उपाय करें कि आकाश और पृथिवी के सब गोचर पदार्थों में विष का संसर्ग न हो और पुष्टिकारक और बलवर्धक वस्तुओं के स्पर्श, दर्श, श्रवण, मनन, संभोग आदि से आनन्द प्राप्त हो ॥ २ ॥

सुपर्णस्त्वा गरुत्मान् विष प्रथममावयत् ।
नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः ॥ ३ ॥

सु-पर्णः । त्वा । गुरुत्मान् । विष । प्रथमम् । आवयत् । न । अमीमदः । न । अरूरुपः । उत । अस्मै । अभवः । पितुः ॥३॥

तुप् । ङीप् । आ सर्वनाम्नः । पा० ६ । ३ । ९१ । इति आत्वम् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । यावत्यौ । यावत्परिमाणके (द्यावापृथिवी) पूर्वसवर्णदीर्घः । सूर्यपृथिव्यौ (वरिम्णा) पृथ्वादिभ्य मनिज्वा । पा० ५ । १ । १२२ । इति उरु—इमनिच् । प्रियस्थिर० । पा० ६ । । १५७ इति वर् आदेशः । उरुत्वेन । विस्तारेण (सप्त) सप्यशूभ्यां तुट् च । ० १ । १५७ । इति षप समवाये, यद्वा, सृप्लृ गतौ कनिन् । तुट् च, ऋकारस्य कारः । सप्तपुत्रं सप्तमपुत्रं सर्पणपुत्रमति वा सप्त सृप्ता सङ्ख्या प्तादित्यरश्मय इति निरु० ४ । २६ । जीवेन सह समवेताः सर्पणा गमनशीला सप्तसङ्ख्याका वा (सिन्धवः) अ० ४ । ३ । १ । स्यन्दनशीलानि नदीणि शीर्षण्यानि कर्णनासिकाचक्षुर्द्वयमुखानि—व्याख्यातम् । अ० २।१२। ७ । तष्ठिरे) ष्ठा गतिनिवृत्तौ—लिट् । समवप्रविभ्यः स्थः । पा० १ । ३ । २२ । इति मनेपदम् । विस्तारेण स्थिताः (वाचम्) वाणीम् (दूषणीम्) दुष वैकृतेन्तात् ल्युट् । ङीप् । नाशनीम् (ताम्) तादृशीम् (इतः) अस्माद् देशात् ः अवादिषम्) वद वाक्ये-लुङ् । वदव्रजहलन्तस्याचः । पा० ७ । २ । ३ । । वृद्धिः । अहं निर्गमय्य उच्चारितवानस्मि ॥

भाषार्थ—(विष) हे विष ! (सुपर्णः) शीघ्रगामी (गरुत्मान्) सुन्दर पंख वाले गरुड़ ने (प्रथमम्) प्रसिद्ध (त्वा) तुझ को (आवयत्) खाया, तू ने [उसे] (न) न तौ (अमीमदः) मत्त किया और (न) न (अरूरुपः) घबरा दिया, (उत) किन्तु तू (अस्मै) उसके लिये (पितुः) अन्न (अभवः) हुआ है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे गरुड़, मोर आदि पक्षी अपनी विष पाचक शक्ति से विषधारी सर्प को खाकर अपना शरीर पुष्ट करते हैं, इसी प्रकार सद्वैद्य ओषधि द्वारा विष जनक रोगों का नाश करके संसार में नीरोगता फैलाते हैं ॥ ३ ॥

यस्त आस्यत् पञ्चाङ्गुरिर्व॒क्राच्चि॒दधि॒ धन्व॑नः ।

अ॒प॒स्क॒म्भस्य॑ श॒ल्यान्निर॑वोचम॒हं वि॒षम् ॥ ४ ॥

यः । ते॒ । आस्य॑त् । पञ्च॑-अ॒ङ्गु॒रिः । व॒क्रात् । चि॒त् । अधि॑ । धन्व॑नः । अ॒प॒-स्क॒म्भस्य॑ । श॒ल्यात् । निः । अ॒वो॒च॒म् । अ॒हम् । वि॒षम् ॥ ४ ॥

३—(सुपर्णः) आ० १ । २४ । १ । सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः, सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाणि—निरु० ३ । १२ । शीघ्रगतिः । शोभनपक्षयुक्तः (त्वा) त्वां विषम् (गरुत्मान्) मृग्रोरुतिः । उ० १ । ६४ । इति गॄ शब्दे-उति । गृणाति शब्दायते वायुवेगात् स गरुत् पक्षः । ततो मतुप् । उरगाशनः पक्षिविशेषः । गरुड़ः (विष) (प्रथमम्) प्रधानम् । अतिप्रभावयुक्तमित्यर्थः (आवयत्=आ अवयत्) वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु—लङ् । आवयतिः, अत्तिकर्मा—निघ० २ । ८ । अभक्षयत् (न) निषेधे (अमीमदः) मदी हर्षग्लेपनयोः । ग्लेपनं दैन्यम् । ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । मत्तं ज्ञानविकलम् अकार्षीः (अरूरुपः) रुप विमोहने ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । विमूढम् अकार्षीः (उत) अपि तु (अस्मै) गरुत्मते (अभवः) लङ् (पितुः) कमिमनि० । उ० १ । ७१ । इति पा रक्षणे, वा पा पाने, अथवा ओप्यायी वृद्धौ तु प्रत्ययः । धातोः पिभावः । पितुरित्यन्ननाम पातेर्वा पिबतेर्वा प्यायतेर्वा—निरु० ६ । २४ । अन्नम् ॥

भाषार्थ—(यः) जिस किसी पुरुष ने (पञ्चाङ्गुरिः) पांचों अंगुली जमा कर (वक्रात्) टेढ़े (चित्) ही (धन्वनः अधि) धनुष परसे (अपस्कम्भस्य) तीर के बन्धन की (शल्यात्) अणि व पैनी कील से (ते) तेरे लिये [विष] (आस्यत्) चलाया है, (अहम्) मैंने (विषम्) उस विष को (निः) निकाल कर (अवोचम्) बचन बोला है ॥ ४ ॥

भावार्थ—यदि शत्रु अपने छल बल से दृढ़ हाथ से छोड़े हुये विष में बुझे तीरसे किसी बीर मनुष्य के शरीर में विष प्रवेश करदे, चतुर वैद्य उसकी चिकित्सा करके यश प्राप्त करे ॥ ४ ॥

शल्याद् विषं निरंवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः ।
अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुल्मंलान्निरंवोचमहं विषम् ॥ ५ ॥

शल्यात् । विषम् । निः । अवोचम् । प्र-अञ्जनात् । उत । पर्ण-धेः । अपाष्ठात् । शृङ्गात् । कुल्मंलात् । निः । अवोचम् । अहम् । विषम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शल्यात्) बाण की अणि से, (प्राञ्जनात्) लेप से (उत) और (पर्णधेः) पंखवाले तीर के भाग से (विषम्) विष को (निः) निकाल

४—(यः) कश्चित् पुरुषः (ते) तुभ्यम् (आस्यत्) असु क्षेपणे लङ्। प्राक्षिपत् (पञ्चाङ्गुरिः) वालमूललघ्वसुरालमङ्गुलीनां वा रो लमापद्यत इति वक्तव्यम्। वा० पा० ८।२।१८। इति लस्य रत्वम्। वाणारोपणे पञ्च अङ्गुरयः अङ्गुलयो यस्य स तथोक्तः। दृढहस्तः सन् (वक्रात्) स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ० २। १३। इति वञ्चु प्रलम्भने—रक्। कुटिलात्। क्रूरात् (चित्) अपि (अधि) उपरिभावे (धन्वनः) अ० १। ३। ६। चापात् (अपस्कम्भस्य) स्कभि गतिप्रतिबन्धे—घञ्। शरबन्धनात् (शल्यात्) अ० २। ३०। ३। शल गतौ—य। वाणाग्रभागात् (निः) ओषधिबलेन निःसार्य (अवोचम्) उक्तवानस्मि (विषम्) हलाहलम् ॥

५—(शल्यात्। विषम्) निः। अवोचम्) गतम्—म० ४। (प्राञ्जनात्) अन्जु व्यक्तिगतिम्रक्षणेषु—ल्युट्। प्रलेपात् (उत) अपि (पर्णधेः) पत्रयुक्तशरकाण्डात् (अपाष्ठात्) अप+आङ्+ष्ठा—क। अपस्थिताद्

कर (अवोचम्) मैं ने वचनबोला है। (शृङ्गात्) तीक्ष्ण (अपाष्ठात्) वाणके फल से और (कुल्मलात्) वाण छिद्र से (विषम्) विष को (निः=निर्गमय्य) निकालकर (अहम्) मैंने (अवोचम्) बचन कहाहै ॥ ५ ॥

भावार्थ—विषैले वाण के जिस जिस खंड से जहां जहां शरीर में घाव हों, बुद्धिमान् वैद्य वहां वहां से सावधानी के साथ विष निकालकर घायल पुरुष को स्वस्थ करे ॥ ५ ॥

अरसस्त इषो शल्योऽथो ते अरसं विषम् ।
उतारसस्य वृक्षस्य धनुष्टे अरसारसम् ॥ ६ ॥

अरसः । ते । इषो इति । शल्यः । अथो इति । ते । अरसम् । विषम् । उत । अरसस्य । वृक्षस्य । धनुः । ते । अरस । अरसम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इषो) हे हिंसक वैरी ! (ते) तेरे (शल्यः) वाण की अणि (अरसः) निर्बल, (अथो) और भी (ते) तेरा (विषम्) विष (अरसम्) निर्बल [हो जावे]। (उत) और (अरस) हे निर्बल शत्रु ! (अरसस्य) निर्बल (वृक्षस्य) वृक्ष का (ते धनुः) तेरा धनुष (अरसम्) निकम्मा [हो जावे] ॥६॥

वाणफलात् (शृङ्गात्) अ० २ । ३२ । ६ । शॄ हिंसायाम्—गन्, नुट् च । शृणातीति शृङ्गं तीक्ष्णम् । तीक्ष्णात् (कुल्मलात्) अ० २ । ३० । ३ । वाणदण्डच्छिद्रात् । गतमन्यत् ॥

६—(अरसः) निर्बलः (ते) तव । (इषो) ईषेः किच्च । उ० १ । १३ । ईषति हिनस्तीति इषुः । हे हिंसक ! हे वाण ! हे वाणधारिन्—इत्यर्थः (शल्यः) म० ४ । वाणाग्रभागः (अथो) अपि च (अरसम्) निर्वीर्यम् । निष्प्रभावम् (विषम्) (उत) अपि च (अरसस्य) निःसारस्य (वृक्षस्य) अ० १ । २ । ३ । अ० ३ । ६ । ८ । वृक्ष वरणे—क । स्वीकरणीयस्य । विटपस्य । वृक्षकाष्ठस्येत्यर्थः (धनुः) अ० ४ । ४ । ६ । चापः (ते) तव (अरस) निर्वीर्यशत्रो ॥

भावार्थ—चिकित्सक लोग ऐसी उत्तम संजीवनी ओषधें उपस्थित रक्खें जिनसे शत्रुओं के अस्त्र शस्त्रों के घाव योधाओं के अंगों में भर कर तुरन्त अच्छे हो जावें ॥ ६ ॥

ये अपीषन् ये अदिहन् य आस्यन् ये अवासृजन् ।
सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृतः ॥ ७ ॥

ये । अपीषन् । ये । अदिहन् । ये । आस्यन् । ये । अव-असृजन् ।
सर्वे । ते । वध्रयः । कृताः । वध्रिः । विष-गिरिः । कृतः ॥७॥

भाषार्थ—(ये) जिन शत्रुओं ने [विष को] (अपीषन्) पीसा है, (ये) जिन्हों ने (अदिहन्) लेप किया है, (ये) जिन्हों ने (आस्यन्) दूर से फेंका है, और (ये) जिन्हों ने (अवासृजन्) पास से छोड़ा है । (ते सर्वे) वे सब (वध्रयः) असमर्थ (कृताः) कर दिये गये, और (विषगिरिः) विष पर्वत भी (वध्रिः) निर्वीर्य (कृतः) करदिया गया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा विष प्रयोगी पुरुषों को यथावत् दंड देकर सर्वथा बल-हीन करदेवे, और विष के उत्पत्ति स्थानों को भी नियम बद्ध रक्खे ॥ ७ ॥

वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे ।
वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम् ॥ ८ ॥

वध्रयः । ते । खनितारः । वध्रिः । त्वम् । असि । ओषधे ।
वध्रिः । सः । पर्वतः । गिरिः । यतः । जातम् । इदम् । विषम् ॥८॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे दाह [जलन] के धारण करने वाले विष ! (ते)

७-(ये) जनाः (अपीषन्) पिलृ संचूर्णने लङि छान्दसंरूपम् । अपिंषन् । पिष्टवन्तः । विषमिति शेषः (अदिहन्) दिह उपचये=वृद्धौ—लङ् । लिप्तवन्तः (आस्यन्) म० ४ । दूरात् क्षिप्तवन्तः (अव—असृजन्) सृज विसर्गे—लङ् । अवसृष्टवन्तः । समीपे त्यक्तवन्तः (सर्वे) (ते) पूर्वोक्ता जनाः (वध्रयः) अ० ३ । ६ । २ । बन्ध बन्धने क्रिन् । विफलाः । निर्वीर्याः । (कृताः) निष्पादिताः । (वध्रिः) निर्वीर्यः (विषगिरिः) विषोत्पत्तिहेतुः पर्वतः ॥

८—(वध्रयः) म० ७ । असमर्थाः (ते) तव (खनितारः) खननकर्तारः

तेरे (खनितारः) खोदने वाले (वध्रयः) असमर्थ [हो जावें] और (त्वम्) तू भी (वध्रिः) निर्वीर्य (असि) है। (सः) वह (पर्वतः) अवयव वाला (गिरिः) पहाड़ (वध्रिः) असमर्थ [हो जावे], (यतः) जिस से (इदम् विषम्) यह विष (जातम्) उत्पन्न हुआ है ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा विष व्यापारियों और विष स्थानों को नीति विधान से अपने वश में रक्खे ॥ ८ ॥

सूक्तम् ॥ ७ ॥

१—७ ॥ विषो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

विषनाशायोपदेशः—विष नाश करने का उपदेश ॥

वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि ।
तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥

वाः । इदम् । वारयातै । वरणा-वत्याम् । अधि । तत्र । अमृतस्य । आ-सिक्तम् । तेन । ते । वारये । विषम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वरणावत्याम् अधि) उत्तम गुण वाली क्रिया में [अथवा वरण नामवाली ओषधि में] वर्तमान (इदम्) यह (वाः) जल (वारयातै) [विष को] हटावे। (तत्र) उस [जल] में (अमृतस्य) अमृत अर्थात्

(वध्रिः) निर्वीर्या । निर्वीर्यः । (त्वम् असि) (ओषधे) अ० १ । २३ । १ । उष दाहे—घस्+डुधाञ् धारणपोषणयोः—कि । हे दाहधारक विष (सः) (पर्वतः) अ० १ । १२ । ३ । पर्व पूरणे ऋतच् । पर्वति पूरयति भूमिम् । यद्वा । पर्वमरुद्भ्यां तन् वक्तव्यः । वा० पा० ५ । २ । १२२ । इति पर्वन्—तन् मत्वर्थे । पर्ववान् । अवयवयुक्तः (गिरिः) अ० २ । २५ । ४ । शैलः (यतः) यस्माद् गिरेः (जातम्) उत्पन्नम् (इदम्, विषम्) ।

१—(वाः) अ० ३ । १३ । ३ । वारि । जलम् (इदम्) (वारयातै) वारयतेर्लेटि आडागमः । निवारयतु विषम् (वरणावत्याम्) सुयुरुवृञो युच् । उ० २ । ७४ । इति वृञ् वरणे—युच् । शरादीनां च । पा० ६ । ३ । १२० । इति मतौ पूर्वपदस्य

स्वास्थ्य का (आसिक्तम्) रस है। (तेन) उस [जल] से (ते विषम्) तेरे विष को (वारये) मैं हटाता हूं॥ १ ॥

भावार्थ—१-यथावत् क्रिया से किये हुये जलके अभिषेक आदि से और २—वरुण नाम औषध के रस प्रयोग से विष और विष जनक रोगों की निवृत्ति होती है ॥ १ ॥

अ॒र॒सं प्राच्यं॑ वि॒षम॑र॒सं यदु॑दी॒च्यम् ।
अथे॒दम॑ध॒रा॒च्यं॑ कर॒म्भेण॒ वि क॑ल्पते ॥ २ ॥

अ॒र॒सम् । प्रा॒च्य॑म् । वि॒षम् । अ॒र॒सम् । यत् । उ॒दी॒च्य॑म् ।
अथ॑ । इ॒दम् । अ॒ध॒रा॒च्य॑म् । क॒र॒म्भेण॑ । वि । क॒ल्प॒ते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्राच्यम्) पूर्व वा सन्मुख दिशा का (विषम्) विष (अरसम्) अरस होवे, और (यत्) जो (उदीच्यम्) उत्तर वा बांयी दिशा में

दीर्घः। वरणीयगुणयुक्तायां क्रियायाम्। अथवा वरणे वरुणे वृक्षविशेषः। वरुणरसवत्याम् ओषधौ वर्तमानम्। वरुणस्य गुणाः। कटुत्वम्, उष्णत्वम् रक्तदोषशीतवातहरत्वम्, स्निग्धत्वम, दीपनत्वं च—इति शब्दकल्पद्रुमात् (अधि) सप्तम्यर्थानुवादी (तत्र) तस्मिन् जले (अमृतस्य) अमरणस्य, स्वास्थ्यस्य (आसिक्तम्) पिच क्षरणे—भावे क्त। आसेचनम्। समन्तात् वर्षणम्। रसः (तेन) उदकेन (वारये) अहं निवारयामि (विषम्) विषप्रभावम् ॥

२—(अरसम्) नीरसम्। निष्प्रभावम्, भवतु (प्राच्यम्) द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्। पा० ४। २। १०१। इति प्राच्-यत्। पूर्वदिग्भवम् (स्वाभिमुखदिशि भवम्) (यत्) यद् विषमस्ति तदपि (उदीच्यम्) उदच्—यत् पूर्ववत्। उत्तरदिशि भवम् वामदिशि भवम् (अथ) अनन्तरम् (इदम्) (अधराच्यम्) अधराच्—यत्। अधस्तात् वर्तमानायां दिशि भवम्। (करम्भेण) अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। पा० ३। ३। १६। इति क+रभि शब्दे, अत्र सेके—घञ्। रभेरशब्लिटोः। पा० ७। १। ६३। इति नुम्। केन जलेन रभ्यते सिच्यते मिश्रीक्रियते वा स करम्भः तेन, जलसेचनकर्मणा। यद्वा दधिमिश्रितशक्तुभिः (विकल्पते) कृपू सामर्थ्ये। कृपो रो लः। पा० ८। २। १८। इति लत्वम्। विगतसामर्थ्यं भवति ॥

है [वह भी] (अरसम्) अरस होवे । (अथ) और (इदम्) यह (अधराच्यम्) नीचे की दिशा का [विष] (करम्भेण) जल सेचन से [वा दही मिले सत्तुओं से] (विकल्पते) असमर्थ हो जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—चिकित्सक लोग विष और विषैले रोगों को यथावत् जल सेचन से अथवा सत्तुओं के प्रयोग से हटावें ॥ २ ॥

(करम्भ) शब्द का अर्थ जल क्रिया वा जल सेचन का और दही सत्तुओं का है [करम्भो दधिसक्तवः—इत्यमरः, १६ । ४८]

क॒र॒म्भं कृ॒त्वा ति॒र्यं॑ पीबस्पा॒कमु॑दा॒र॒थिम् ।
क्षु॒धा किल॑ त्वा दुष्टनो जक्षि॒वान्त्स न रू॑रुपः ॥३॥

क॒र॒म्भम् । कृ॒त्वा । ति॒र्यम् । पीबः-पा॒कम् । उ॒दा॒र॒थिम् । क्षु॒धा । किल॑ । त्वा॒ । दु॒स्त॒नो॒ इति॒ दुः-तनो । ज॒क्षि-वान् । सः । न । रू॒रु॒पः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(दुष्टनो) हे शरीर के दुःख दायक [विष !] (किल) तिरस्कार के साथ (त्वा) तेरे लिये [तेरे हटाने के लिये] (तिर्यम्) रोग जीतने में समर्थ, (पीबस्पाकम्) मुटाई वा चर्बी रोग पचाने वाले और

३—(करम्भम्) म० २ । जलसेचनम् । दधिसक्तून् (कृत्वा) विधाय (तिर्यम्) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति तॄ प्लवनतरणयोः—असुन् । गुणविषये इर् । तरतीति तिरः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । इति यत् । अव्ययानां च० । वा० पा० ६।४। १४४ । इति टिलोपः । तरणे रोगजये समर्थम् । रोगतिरस्कारे कुशलम् (पीबस्पाकम्) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति पीव स्थौल्ये—असुन् । पचे करणे—घञ् । पीवः स्थौल्यं मेदो वा रोगविशेषः पच्यते येन तम् (उदारथिम्) उदर्त्तेश्चित् । उ० ४ । ८८ इति उत्+ऋ गतौ-थिन् । छान्दसो दीर्घः । उदरथिम् । उद्गमयितारम् जाठराग्नेरुद्दीपयितारम् (क्षुधा) बुभुक्षया (किल) तिरस्कारेण । निश्चयेन (त्वा) सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । इति चतुर्थ्यर्थे द्वितीया, त्वदर्थम् । तन्निवारणायेत्यर्थः (दुष्टनो) दुर्-तनो । हे शरीरदूषक ! (जक्षिवान्) अदेर्लिटः

क्तुः । (उदारथिम्) जाठर अग्नि बढ़ाने वाले (करम्भम्) जल सेचन [वा दही सत्तुओं] को (कृत्वा) बनाकर (क्षुधा) भूख के कारण (जक्षिवान्=यः जक्षिवान् तम्) जिस ने खा लिया, उसको (सः=स त्वम्) उस तू ने (न) नहीं (रूरुपः) मूर्छित किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जल सेचन और सत्तुओं के सेवन से विषैले रोगों का नाश होता है ॥ ३ ॥

वि ते॒ मदं॑ मदावति श॒रमि॑व पातयामसि ।
प्र त्वा॑ च॒रुमि॑व॒ येष॑न्तं॒ वच॑सा स्थापयामसि ॥ ४ ॥

वि । ते॒ । मद॑म् । म॒द॒-व॒ति॒ । श॒रम्-इ॑व । पा॒त॒या॒म॒सि॒ । प्र । त्वा॒ । च॒रुम्-इ॑व । येष॑न्तम् । वच॑सा । स्था॒प॒य॒म॒सि॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मदावति) हे मूर्छा करने वाली [विष पीड़ा] (ते) तेरे (मदम्) मद्यपन को (शरमिव) तीर के समान (वि) अलग (पातयामसि=०—मः) हम फेंक देते हैं । और (येषन्तम) खदबदाते हुये (चरुमिव) चरुये [बासन] के समान (त्वा) तुझको (वचसा) वचन मात्र से [शीघ्र] (प्र स्थापयामसि=०—मः) हम हटाते हैं ॥ ४ ॥

लिड्यन्यतरस्याम् । पा० २ । ४ । ४० । इति घस्लृ आदेशः । तस्यैकाजाद् घसाम् । पा० ७ । २ । ६७ । इति इटि कृते उपधालापे स्थानिवद्भावाद् द्विर्वचनादि । भक्षितवान् यः पुरुषः, तम् इति शेषः (सः) स त्वम् (न) नहि (रूरुपः) रुप विमोहने । ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् अडभावः । अरूरुपः । अमूमुहः । मूर्छितम् अकार्षीः ॥

४—(वि) वियोगे (ते) त्वदीयम् (मदम्) मदी स्वप्ने, जाड्ये, मदे—अच् । मद्यम् । मत्तताम् । विकलताम् (मदावति) शरादीनां च । पा० ६ । ३ । १२० । इति मतौ दीर्घः । हे मूर्छाकरगुणयुक्ते विषपीडे (शरमिव) शॄ हिंसायाम्—अप् । चापाद् विमुक्तं तीरमिव (वि पातयामसि) शरीराद् विश्लेषयामः (त्वा) त्वाम् (चरुमिव) भृमृशीङ्तृचरि० उ० १।७। इति चर गमने, अदने. आचारे—उ । चर्यते भक्षते अग्निना, अन्नपाक भाण्डं यथा (येषन्तम्) जृविशिभ्यां झच् ।

भावार्थ—वैद्य लोग विषैली, मदकारी पीडाओंको बहुत शीघ्र प्रयत्न करके हटावें, जैसे धनुष से तीर को फेंकते अथवा अतितप्त बरतन को आग पर से हटाते हैं ॥ ४ ॥

परि ग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि ।
तिष्ठा वृक्ष इव स्थाम्न्यभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ५ ॥

परि । ग्रामम्-इव । आ-चितम् । वचसा । स्थापयामसि ।
तिष्ठ । वृक्षः-इव । स्थाम्नि । अभ्रि-खाते । न । रूरुपः ॥५॥

भाषार्थ—(आचितम्) एकत्र हुए (ग्रामम् इव) जन समूह [शत्रु वृन्द] के समान [तुझको] (वचसा) वचन मात्र से (परि:स्थापयामसि=०—मः) हम घेरते हैं। (वृक्षः इव) वृक्ष के समान (स्थाम्नि) अपने स्थान पर (तिष्ठ) ठहर। (अभ्रिखाते) हे कुद्दाल से खोदी हुई ! तूने (न) नहीं (रूरुपः) मूर्छित किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—विद्वान वैद्य विचार पूर्वक उपाय के साथ विष को प्रभाव रहित करके निकाल देते हैं जैसे शूर पुरुष शत्रुसेना को घेरकर हरा देते हैं ॥ ५ ॥

उ० ३ । १२६ । इति येषृ प्रयत्ने—ऋच् । येषमाणम् । प्रयतमानम् अङ्ग-प्रत्यङ्गानि व्याप्नुवन्तम् प्रतप्तं वा (वचसा) वचनमात्रेण (प्र स्थापयामसि) दूरी कुर्मः ॥

५—(परि) परितः सर्वतः (ग्रामम्) ग्रसेरा च । उ० १ । १४३ । इति ग्रस ग्रहणे, भक्षणे—मन्, धातोराकारः । जनसमूहम् । शत्रुवृन्दम् (इव) यथा (आचितम्) आङ्+चि-क्त । आकीर्णम् । व्याप्तम् (वचसा) वचनमात्रेण (स्थापयामसि) वयमः (तिष्ठ) स्थिता भव (वृक्ष इव) यथा वृक्षो निश्चलो भूत्वा (स्थाम्नि) सर्वधातुभ्यो मनिन् उ० ४ । १४५ । इति ष्ठा गतिनिवृत्तौ—मनिन् स्वस्थाने । मूले (अभ्रिखाते) सर्वधातुभ्य इन् उ० ४ । ११८ । इति अभ्र गतौ-इन् अपादाने । अभ्रिः काष्ठकुद्दालः । तीक्ष्णाग्रो लोहदण्डः । खन विदारे—क्त । हे खन—नसाधनेन विदारिते ओषधे (न) नहि (रूरुपः) म० ३ । अमूमुहः ॥

प॒व॒स्तैस्त्वा॒ पर्य॑क्रीणन् दू॒र्शेभि॑र॒जिनै॑रु॒त ।
प्र॒क्रीर॑सि॒ त्वमो॑षधेऽभ्रि॒खाते॒ न रू॑रुपः ॥ ६ ॥

प॒व॒स्तैः । त्वा॒ । परि॑ । अ॒क्री॒ण॒न् । दू॒र्शेभिः । अ॒जिनैः । उ॒त ।
प्र॒-क्रीः । अ॒सि॒ । त्वम् । ओ॒ष॒धे॒ । अ॒भ्रि॒-खा॒ते । न । रू॒रु॒पः॥६॥

भाषार्थ—(त्वा) तुझ से (पवस्तैः) मंडप वा घरों के लिये, (दूर्शे-भिः=दूर्शैः) वस्त्र गृहों के लिये, (उत) और (अजिनैः) चर्म के लिये (परि अक्रीणन्) उन्हों ने [पुरुषों ने] व्यापार किया है। (ओषधे) हे दाह-धारण करनेवाली ! (त्वम्) तू (प्रक्रीः) बिकाऊ वस्तु (असि) है। (अभ्रि-खाते) हे कुद्दाल से खोदी हुई ! तू ने (न) नहीं (रूरुपः) मूर्छित किया है ॥६॥

भावार्थ—मनुष्य अपने लाभ के लिये विष का व्यापार भी करते हैं, विद्वान् लोग अपनी योग्यता से विष को निर्बल करके रखते हैं ॥ ६ ॥

अना॑प्ता॒ ये वः॑ प्रथ॒मा यानि॒ कर्मा॑णि चक्रि॒रे ।
वी॒रान् नो॒ अत्र॒ मा द॑भन् तद् व॑ ए॒तत् पु॒रो द॑धे ॥७॥

अना॑प्ताः । ये । वः॒ । प्र॒थ॒माः । यानि॑ । कर्मा॑णि । च॒क्रि॒रे । वी॒-रान् । नः॒ । अत्र॑ । मा । द॒भ॒न् । तत् । वः॒ । ए॒तत् । पु॒रः । द॒धे॒ ॥७॥

६—(पवस्तैः) पवते, गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । अस्माद् औणादिको अस्तप्रत्ययः । पवन्ते गच्छन्ति यत्र । मण्डपैः । गृहैः । अत्रसर्वत्रनिमित्ते तृतीया । पवस्तशब्दो द्यावापृथिव्योर्वाचको दृष्टः । ऋ० १० । २७ । ७ । (त्वा) त्वां विषरूपाम् (परि अक्रीणन्) डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये—लङ् । परिक्रीतवन्तः पुरुषाः (दूर्शेभिः) दुर्+शो तनूकरणे—ड । दुर् दुःखं श्यतीति दूर्शम् । दूर्शैः । दृश्यैः । दूष्यैः । वस्त्रनिर्मितगृहैः (अजिनैः) अजेरज च । उ० २ । ४८ । इति अज गतिक्षेपणयोः—इनच् । चर्मभिः (उत) अपि च (प्रक्रीः) प्रपूर्वात् क्रीणातेः कर्मणि संपदादित्वात् क्विप् । प्रकर्षेण क्रीता (असि) भवसि (त्वम्) (ओषधे) हे तापधारिणि । अन्यद् गतम्—म० ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जिन (प्रथमाः) प्रधान (अनाप्ताः) अत्यन्त यथार्थ ज्ञानी पुरुषों ने (वः) तुम्हारे लिये (यानि) पूजनीय (कर्माणि) कर्म (चक्रिरे) किये हैं, वे (नः) हम (वीरान्) वीरों को (अत्र) यहां पर (मा दभन्) न मारें (तत्) सो (एतत्) इस कर्म को (वः) तुम्हारे (पुरः) आगे (दधे) मैं धरता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि जगत् हितकारी महात्मा लोग आनन्द प्राप्त करके सब की यथावत् रक्षा करते रहें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र अ० ५ । ६ । २ । में भी है ।

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१—७ ॥ भूतानामधिपतिर्देवता ॥ १, ३, ७ त्रिष्टुप्, शिष्टानुष्टुप् ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ का उपदेश ॥

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव। तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम् ॥ १ ॥

भूतः । भूतेषु । पयः । आ । दधाति । सः । भूतानाम् । अधि-पतिः । बभूव । तस्य । मृत्युः । चरति । राज-सूयम् । सः । राजा । राज्यम् । अनु । मन्यताम् । इदम् ॥ १ ॥

७—(अनाप्ताः) आप्लृ व्याप्तौ—क्त । आप्ता यथार्थज्ञातारः । न सन्ति आप्ता येभ्यस्ते अनाप्ताः, अनुत्तमाः । अतिशयेन आप्ताः (ये) पुरुषाः (वः) युष्मभ्यम् (प्रथमाः) प्रधानाः (यानि) यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु—ड । यजनीयानि । पूज्यानि (कर्माणि) कर्तव्यानि । आचरणानि (चक्रिरे) कृतवन्तः (वीरान्) शूरान् (नः) अस्मान् (अत्र) अस्मिन् संसारे विषनिवारणकर्मणि वा (मा दभन्) दन्भु दम्भे=कपटे । मा हिंसन्तु ते शत्रवः (तत्) तस्मात् (वः) युष्माकम् (एतत्) क्रियमाणं कर्म (पुरः) पुरस्तात् (दधे) धारयामि ॥

भाषार्थ—(भूतः) विभूति वा ऐश्वर्यवाला पुरुष (भूतेषु) सब स्थावर जंगम पदार्थों में (पयः) दूध, अन्न जल आदि (आ) अच्छे प्रकार (दधाति) धारण करता है, (सः) वही (भूतानाम्) प्राणी और अप्राणियों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता (बभूव) हुआ है। (मृत्युः) मृत्यु [मारणसामर्थ्य] (तस्य) उसके (राजसूयम्) राज तिलक यज्ञ में (चरति) अनुचर होता है। (सः राजा) वह राजा (इदम् राज्यम्) इस राज्य को (अनु मन्यताम्) अङ्गीकार करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रतापी पुरुष को विद्वान् पुरुषों ने राजा बनाया है, वह अपनी बुद्धि, नीति और वीरता से प्रजा के प्राण और धन की रक्षा करता है, और वही शिष्टों का पालन करके मृत्यु से बचाता और दुष्टों को दण्ड देकर मारता है ॥ १ ॥

अभि प्रेहि माप॑ वेन उ॒ग्रश्चे॒त्ता स॑पत्न॒हा ।
आ ति॑ष्ठ मित्रवर्धन॒ तुभ्यं॑ दे॒वा अधि॑ ब्रु॒वन् ॥ २ ॥

१—(भूतः) भू सत्तायां प्राप्तौ च, यद्वा, शुद्धिचिन्तनमिश्रणेषु—क। भवति विद्यते भूयते प्राप्यते वा भूतः। प्राणी। भूतिवान् ऐश्वर्यवान् राजा (भूतेषु) सत्तां प्राप्तेषु स्थावरजङ्गमद्रव्येषु (पयः) रपेरत एच्च। ४।१६० । इति पय गतौ, पीङ्वा पा पाने—असुन्। पयः पिबतेर्वा प्यायतेर्वा—निरु २। ५। पयः, रात्रिनाम—निघ० १। ७। उदकनाम—निघ० १। १२। अन्ननाम—निघ० २। ७। दुग्धान्नजलादिपदार्थजातम् (आ) सम्यक् (दधाति) स्थापयति (सः) राजा (भूतानाम्) प्राणिनाम् (अधिपतिः) अधिष्ठाता। स्वामी। (बभूव) (तस्य) राज्ञः (मृत्युः) भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ। उ० ३। २१। इति मृङ् प्राणत्यागे—त्युक्। अन्तर्भावितण्यर्थः। मृत्युर्मारयतीति सतो मृतं च्यावयतीति वा शतबलाक्षो मौद्गल्यः—निरु० ११। ६। मारणसामर्थ्यम्, दुष्टनिग्रहेण शिष्टपरिपालनेन च (चरति) अनुचरति। सेवते (राजसूयम्) राजसूयसूर्य०। पा० ३। १। ११४। इति राजन्+षुञ् अभिषवे—क्यप्। अभिषवः स्नपनं पीडनं स्नानं सुरासंधानं च। राजा सूयते अभिषिच्यते यत्र। राजाभिषेकयज्ञम् (सः) कृताभिषेकः (राजा) ऐश्वर्यशाली। प्रतापवान् (राज्यम्) पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्। पा० ५। १। १२८। इति राजन्—यक्। राज्ञः कर्म प्रजारक्षणादिकम् (अनु मन्यताम्) अनुजानातु। अङ्गीकरोतु (इदम्) प्रत्यक्षम् ॥

अभि । प्र । इहि । मा । अप । वेनः । उग्रः । चेत्ता । सपत्न-हा ।
आ । तिष्ठ । मित्र-वर्धन । तुभ्यम् । देवाः । अधि । ब्रुवन् ॥२॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (उग्रः) तेजस्वी, (चेत्ता) चैतन्य स्वभाव और (सपत्नहा) शत्रुनाशक तू (अभि) सब ओर से (प्रेहि) आगे बढ़, (मा अप वेनः) पीछे न हट । (मित्रवर्धन) हे मित्रों के बढ़ाने हारे ! (आतिष्ठ) [सिंहासन वा हाथी आदि पर] आकर बैठ । (देवाः) विजय चाहने वाले वीर विद्वानों ने (तुभ्यम्) तेरे लिये (अधि ब्रुवन्) यह अनुग्रहवचन दिया है ॥ २ ॥

भावार्थ—(देवाः) मुख्य मुख्य शूर विद्वान् लोग राजा को सहाय वचन के साथ अभिनन्दन कर के राजसिंहासन और हाथी आदि यान पर बिठलावें और (मित्रवर्धन) राजा माननीय पुरुषों का आदर मान करे ॥ २ ॥

आ तिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः। महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥ ३ ॥

आ-तिष्ठन्तम् । परि । विश्वे । अभूषन् । श्रियम् । वसानः । चरति । स्व-रोचिः । महत् । तत् । वृष्णः । असुरस्य । नाम । आ । विश्व-रूपः । अमृतानि । तस्थौ ॥ ३ ॥

२—(अभि) अभितः सर्वतः (प्रेहि) प्रगच्छ (मा अप वेनः) वेनतिः कान्तिकर्मा—निघ २ । ६ । गतिकर्मा०—२ । १४ । अर्चतिकर्मा—३ । १४ । माप गच्छ (उग्रः) तीव्रस्वभावः (चेत्ता) चिती संज्ञाने—तृन् । चेतिता । ज्ञानवान् (सपत्नहा) अ० १ । २९ । ५ । शत्रूणां हन्ता (आतिष्ठ) राजासनं हस्त्यश्वादियानं च आरोह (मित्रवर्धन) नन्दिग्रहिपचादि० । पा० ३ । १ । १३४ । इति वृधेर्ण्यन्तात्—ल्यु । हे मित्राणां वर्धयितः (तुभ्यम्) (देवाः) विजिगीषवो विद्वांसः (अधि ब्रुवन्) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लङ् । अधि अब्रुवन् । अधिवचनम् अनुग्रहवचनम् उच्चारितवन्तः ॥

भाषार्थ—(विश्वे) सब जनों ने (आतिष्ठन्तम्) [सिंहासन आदि पर] बैठते हुये राजा को (परि अभूषन्) सब प्रकार से अलंकृत वा प्राप्त किया है। (श्रियम्) राज लक्ष्मी को (वसानः) धारण करता हुआ, (स्वरोचिः) स्वयं प्रकाशमान वह (चरति) वर्त्तमान होता है। (वृष्णः) उस ऐश्वर्य वाले (असुरस्य) प्राणदाता का (तत्) वह (महत्) विशाल (नाम) नाम है। (विश्वरूपः) अनेक प्रकार के स्वभाव वाले उसने (अमृतानि) अनश्वर सुखों को (आ तस्थौ) प्राप्त किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रजा गण सिंहासन पर बैठे हुये राजा को भेट आदि देकर सेवा करें, और राजा यथायोग्य सब से वर्त्ताव करके आनन्द प्राप्त करे ॥ ३ ॥

व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः।

विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः॥ ४ ॥

व्याघ्रः। अधि। वैयाघ्रे। वि। क्रमस्व। दिशः। महीः। विशः। त्वा। सर्वाः। वाञ्छन्तु। आपः। दिव्याः। पयस्वतीः॥ ४ ॥

३—(आतिष्ठन्तम्) सिंहासनादिकम् आरोहन्तम् (परि) परितः सर्वतः (विश्वे) विश्वे देवाः। सर्वे शूरविद्वांसः (अभूषन्) भूष अलंकारे लुङ्। यद्वा, भू प्राप्तौ छान्दसे लुङि सिप्। अलंकृतवन्तः। प्राप्त वन्तः (श्रियम्) क्विव् वचिप्रच्छिश्रिस्रु०। उ० २। ५७। इति श्रिञ् सेवने—क्विप् दीर्घश्च। श्रयति पुरुषार्थिनं सा श्रीः। राजलक्ष्मीम्। सम्पत्तिम् (वसानः) वस आच्छादने—लटः शानच्। धारयन् (चरति) राज्यपालने वर्तते (स्वरोचिः) वसौ रुचेः संज्ञायाम्। उ० २। १११। रुच दीप्तौ अभिप्रीतौ च—इसिन्। स्वयंरोचमानो-दीप्यमानः। स्वरुचिः। स्वतन्त्रः (महत्) अधिकम्। विशालम् (तत्) प्रसिद्धम् (वृष्णः) अ० १। १२। १। वर्षकस्य। ऐश्वर्ययुक्तस्य। इन्द्रस्य (असुरस्य) अ० १। १०। १। दीप्यमानस्य। प्राणप्रदस्य। शूरस्य (नाम) अ० १। २४। ३। म्ना अभ्यासे—मनिन्। अभ्यस्तं नामधेयम्। संज्ञा। (आ) समन्तात् (विश्वरूपः) शत्रुमित्रकलत्रादिषु नानास्वभावः। यथायोग्यं वर्त्तमानः (अमृतानि) अनश्वरसुखानि (आ तस्थौ) आरूढवान्। प्राप्तवान् ॥

भाषार्थ—[हे राजन्] (व्याघ्रः) बाघ के समान पराक्रमी तू (वैयाघ्रे अधि) बाघ के स्वभाव में [स्थित होकर] (महीः दिशः) बड़ी दिशाओं को (वि क्रमस्व) विक्रम से जीत। (सर्वाः) सब (विशः) प्रजायें, और (दिव्याः) उत्तम (पयस्वतीः = ०—त्यः) सार वाली (आपः) जल धारायें (त्वा) तुझ को (वाञ्छन्तु) चाहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा व्याघ्र के समान पराक्रमी और जल के समान उपकारी होवे, सब प्रजागण उस से प्रीति करें और राज्य में अनावृष्टि आदि न हो ॥४॥

या आपो॑ दि॒व्याः पय॑सा मद॑न्त्य॒न्तरि॑क्ष उ॒त वा॑ पृथि॒व्याम्। तासां॑ त्वा स॒र्वासा॑म॒पाम॒भि षि॑ञ्चामि॒ वर्च॑सा ॥५॥

याः। आप॑ः। दि॒व्याः। पय॑सा। मद॑न्ति। अ॒न्तरि॑क्षे। उ॒त। वा॒। पृ॒थि॒व्याम्। तासा॑म्। त्वा॒। स॒र्वासा॑म्। अ॒पाम्। अ॒भि। सि॒ञ्चा॒मि॒। वर्च॑सा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में की (उत वा) और भी (पृथिव्याम्) पृथिवी पर की (याः) जो (दिव्याः) दिव्य (आपः) जल धारायें (पयसा) अपने रस से (मदन्ति) [प्राणियों को] तृप्त करती हैं, (तासाम्)

४—(व्याघ्र) अ० ४। ३। १। व्याघ्रो व्याघ्राणाद् व्यादाय हन्तीति वा निरु० ३। १८। लुप्तोपममेतत्। व्याघ्रवद् दुष्प्रधर्षः (अधि) उपरि उपविष्टः सन् (वैयाघ्रे) तस्येदम्। पा० ४। ३। १२०। इति व्याघ्र—अण्। न य्वाभ्यां पदान्ताभ्याम०। पा० ७। ३। ३। इति यकारात् पूर्वम् ऐच्। व्याघ्रस्यायं स्वभावस्तस्मिन् (विक्रमस्व) वेः पादविहरणे। पा० १। ३। ४१। इति क्रमेरात्मनेपदम्। विक्रमेण शौर्येण व्याप्नुहि। विजयस्व (दिशः) प्राच्याद्याः (महीः) महतीः (विशः) प्रजाः (त्वा) त्वां राजानम् (सर्वाः) (वाञ्छन्तु) वाछि इच्छायाम्। स्वामित्वेन इच्छन्तु (आपः) जलानि (दिव्याः) दिवि भवः—यत्। उत्तमगुणयुक्ताः (पयस्वतीः) पयस्वत्यः। सारवत्यः ॥

५—(याः) (आपः) जलधाराः (दिव्याः) श्रेष्ठाः (पयसा) रसेन। सारेण (मदन्ति) मद तृप्तियोगे। तर्पयन्ति प्राणिनः (अन्तरिक्षे) आकाशे वर्त-

इन (सर्वासाम्) सब (अपाम्) जल धाराओं के (वर्चसा) बल दायक सार से (त्वा) तुझको (अभि षिञ्चामि) अभिषेक कराता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजगद्दी पर बैठने के समय राजा को ओषधियों के रस से मिले हुये वृष्टि, नदी, कूप आदि के उत्तम जलों से स्नान करावें, जिस से उस का शरीर पुष्ट रहे और जल के समान वह अपने प्रजा को सुख पहुंचावे ॥ ५ ॥

अभि त्वा वर्चसासिचन्नापो दिव्याः पयस्वतीः । यथासो मित्रवर्धनस्तथा त्वा सविता करत् ॥ ६ ॥

अभि । त्वा । वर्चसा । असिचन् । आपः । दिव्याः । पयस्वतीः । यथा । असः मित्र-वर्धनः । तथा । त्वा । सविता । करत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !](त्वा) तुझ को (दिव्याः) दिव्य (पयस्वतीः=०—त्यः) सारयुक्त (आपः) जल धाराओं ने (वर्चसा) अपने बलदायक सार से (अभि असिचन्) सब प्रकार सींचा है, (यथा) जिससे तू (मित्रवर्धनः) मित्रों की वृद्धि करने वाला (असः) होवे । (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर (त्वा) तुझको (तथा) वैसे गुण वाला [जैसा जल] (करत्) करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—अभिषेक के उपरान्त सब लोग आशीर्वाद दें, हे राजन् ! तुझे यह अभिषेक वा स्नान इस लिये कराया है कि जैसे जल अन्न आदि उत्पन्न

मानाः (उत वा) अपि वा (पृथिव्याम्) भूम्याम् अवस्थिताः (तासाम्) तथाविधानाम् (त्वा) राजानम् (सर्वासाम्) सर्वत्र व्याप्तानाम् (अपाम्) जलधाराणाम् (अभि षिञ्चामि) अभिषेकयुक्तं करोमि (वर्चसा) तेजसा । बलकरेण सारेण ॥

६—(अभि असिचन्) षिच क्षरणे, सेके—लुङ् । अभिषेकयुक्तं कृतवत्यः (त्वा) राजानम् (वर्चसा) स्वकीयेन सारेण (आपः) (दिव्याः) (पयस्वतीः) पयस्वत्यः । सारवत्यः (यथा) येन प्रकारेण (असः) अस्तेर्लेटि अडागमः । त्वं भवेः (मित्रवर्धनः) म० २ । मित्राणां वर्धयिता (तथा) तेन प्रकारेण । जलवत्स्वभावेन (सविता) सर्वप्रेरको देवः परमेश्वरः (करत्) लेट् । कुर्यात् ॥

करके संसार का उपकार करता है, वैसे ही सर्व प्रेरक परमेश्वर के अनुग्रह से तू प्रजाप्रेरक होकर अपने हितैषी जनों की सदा उन्नति करता रहे॥ ६ ॥

एना व्याघ्रं परिषस्वजानाः सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय। समुद्रं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्व१न्तः ॥ ७ ॥

एना। व्याघ्रम्। परि-सस्वजानाः। सिंहम्। हिन्वन्ति। महते। सौभगाय। समुद्रम्। न। सु-भुवः। तस्थि-वांसम्। मर्मृज्यन्ते। द्वीपिनम्। अप्-सु। अन्तः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(परिषस्वजानाः) सब ओर से चिपटे हुये लोग (एना=एनम्) इस (व्याघ्रम्) व्याघ्ररूप और (सिंहम्) सिंह समान [पराक्रमी राजा] को (महते) बहुत ही (सौभगाय) बड़े ऐश्वर्य के लिये (हिन्वन्ति) तृप्त करते हैं, और (सुभुवः) सुन्दर जन्म वा बड़ी भूमि वाले पुरुष (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर (तस्थिवांसम्) स्थिति हुये, (समुद्रम् न) समुद्र के समान [गम्भीर स्वभाव] और (द्वीपिनम्) चीते [के तुल्य पराक्रमी राजा] को (मर्मृज्यन्ते) अनेक प्रकार से शुद्ध करते वा सजाते हैं ॥ ७ ॥

७—(एना) द्वितीयाटौस्स्वेनः। पा० २। ४। ३४। इति एतच्छब्दस्य एनादेशो द्वितीयायाम्। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। इति विभक्तेः आच्। चितः। पा० ६। १। १६३। इति चित्वाद् अन्तोदात्तः। एनम् (व्याघ्रम्) व्याघ्रवत् पराक्रमयुक्तम् (परिषस्वजानाः) ष्वञ्ज सङ्गे-लिटः कानच्। आलिङ्गन्तः। परितः संगच्छमानाः पुरुषाः (सिंहम्) सिचेः संज्ञायां हनुमौ कश्च। उ० ५। ६२। इति षिच क्षरणे कप्रत्ययः, चस्य हकारो नुम् च। यद्वा। आद्यन्तविपर्यये। हिसि वधे-अच्। हिनस्तीति सिंहः। पञ्चास्यः। सिंहः सहनाद्धिंसेर्वा स्याद् विपरीतस्य सम्पूर्वस्य वा हन्तेः संहाय हन्तीति वा-निरु० ३। १८, सिंहतुल्यपराक्रमवन्तं राजानम् (हिन्वन्ति) हिवि प्रीणने। इदितो नुम्। प्रीणयन्ति। तर्पयन्ति (महते) अधिकाय (सौभगाय) प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्। पा० ५। १। १२९। इति सुभग मन्त्रे, इति उद्गात्रादिषु पाठाद् भावे अञ्। ञ्नित्यादिर्नित्यम्। पा० ६। १। १९७। इति आद्युदात्तः।

भावार्थ—अभिषेक विधि के समाप्त हो चुकने पर सब बड़े बड़े लोग प्रशंसा करके राजा का उत्साह बढ़ावें और अलंकार आदि से उसको यथावत् शोभायमान करें ॥ ७ ॥

सूक्तम् ८ ॥

१—१० ॥ आञ्जनं देवता ॥ १, २, ४-१० अनुष्टुप् । ३ पथ्या पङ्क्तिः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम् ।
विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥

आ । इहि । जीवम् । त्रायमाणम् । पर्वतस्य । असि । अक्ष्यम् । विश्वेभिः । देवैः । दत्तम् । परि-धिः । जीवनाय । कम् ॥१॥

भाषार्थ—(एहि) आ । (जीवम्) जीव को (त्रायमाणम्) पालता हुआ, (पर्वतस्य) पूर्ति करने वाले वा अवयवों वाले मेघ के (अक्ष्यम्) व्यवहार के लिये हितकारक, (विश्वेभिः) सब (देवैः) दिव्य गुणों के साथ (दत्तम्) दिया हुआ (कम्) तू सुख स्वरूप ब्रह्म (जीवनाय) हमारे जीवन के लिये (परिधिः) परकोटा रूप (असि) है ॥ १ ॥

सुभगत्वाय । शोभनैश्वर्याय (समुद्रम् न) समुद्रवद् गम्भीरस्वभावम् (सुभुवः) सु+भू-क्विप् । शोभना भूरुत्पत्तिर्भूमिर्वा यस्य स सुभूः शोभन-जन्मानः । यद्वा । शोभनभूमयः पुरुषाः (तस्थिवांसम्) ष्ठा गतिनिवृत्तौ-क्वसु । स्थितवन्तम् (मर्मृज्यन्ते) मृजू शौचालंकारयोः । यङि निपातनादभ्यासस्य रुगागमः । पुनः पुनः, अत्यर्थं वा शोधयन्ति अलंकुर्वन्ति वा (द्वीपिनम्) द्वि+ई गतौ-पप्रत्ययः । द्वौ वर्णौ ईयते द्वीपं द्विवर्णं चर्म । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति इनि । शार्दूलवद् अधृष्यं राजानम् (अप्सु) उदकेषु (अन्तः) मध्ये ॥

१—(एहि) आगच्छ (जीवम्) इगुपधज्ञा० । पा० ३ । १ । १३५ । इति जीव प्राणधारणे—क । जीवति प्राणयतीति जीवः । प्राणिनम् । आत्मानम्

भावार्थ—परमेश्वर मेघ के समान जगत् की रक्षा करने वाला हमारे हृदयों में विराजमान होकर हमारा प्राणाधार है, ऐसा समझ कर हम पुरुषार्थ के साथ सुख प्राप्त करें ॥ २ ॥

परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि ।
अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ॥ २ ॥

परि-पानम् । पुरुषाणाम् । परि-पानम् । गवाम् । असि ।
अश्वानाम् । अर्वताम् । परि-पानाय । तस्थिषे ॥ २ ॥

भाषार्थ—तू (पुरुषाणाम्) अग्रगामी मनुष्यों का (परिपाणम्) रक्षा-साधन, और (गवाम्) गौओं का (परिपाणम्) रक्षा साधन (असि) है। और (अर्वताम्) शीघ्र गामी (अश्वानाम्) घोड़ों के (परिपाणाय) पूर्ण रक्षा के लिये (तस्थिषे) तू ही स्थित हुआ है ॥ २ ॥

(त्रायमाणम्) त्रैङ् पालने—शानच् । पालयन् (पर्वतस्य) भृमृदृशियजिपर्वि० । उ० ३ । ११० । इति पर्व पूरणे—अतच् । यद्वा । पर्वतो मेघः—निघ० १ । १० । पर्वमरुद्भ्यां तन् वक्तव्यः । वा० पा० ५।२।१२२। इति पर्वन्-मत्वर्थे तन् । पर्ववान् पर्वतः पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा । निरु० १ । २० । इष्टपूरकस्य यद्वा अवयवयुक्तस्य मेघस्य (असि) भवसि (अद्यम्) अशेर्देवने । उ०।३। ६५ । इति अशू व्याप्तौ—स । अक्षो व्यवहारः । अक्ष—यत् । अक्षाय व्यवहाराय हितम् (विश्वेभिः) सर्वैः (देवैः) दिव्यगुणैः सह (दत्तम्) हृदये समर्पितम् (परिधिः) उपसर्गे घोः किः । पा० ३ । ३ । ६२ । इति परि+धाञ्—कि । परितो धीयते परिधिः प्राकारः (जीवनाय) चिरकालजीवनार्थम् (कम्) कच दीप्तौ—ड । सुखस्वरूपं ब्रह्म ॥

२—(परिपाणम्) पातेः करणे—ल्युट् । वा भावकरणयोः । पा० ८ । ४ । १० । इति विकल्पेन नस्य णः । परिरक्षणसाधनम् (पुरुषाणाम्) अ० १।१६ ।४। पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य—नि० २ । ३ । अग्रगामिनां । मनुष्याणाम् (गवाम्) धेनूनाम् (असि) भवसि (अश्वानाम्) मार्गव्यापनशीलानां तुरङ्गाणाम् (अर्वताम्) स्नामदिपद्यर्ति पृशकिभ्यो

भावार्थ—वह परब्रह्म कृपा करके हमसे सब पदार्थों की रक्षा कराता है, इस कारण अभिमान छोड़कर हम पुरुषार्थ करते रहें ॥ २ ॥

उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन । उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम् ॥ ३ ॥

उत । असि । परि-पानम् । यातु-जम्भनम् । आ-अञ्जन । उत । अमृतस्य । त्वम् । वेत्थ । अथो इति । असि । जीव-भोजनम् । अथो इति । हरित-भेषजम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(उत) और (आञ्जन) हे संसार के व्यक्त करने वाले ब्रह्म ! तू (परिपाणम्) हमारी रक्षा का साधन, (यातुजम्भनम्) पीड़ाओं का नाश करने वाला (असि) है, (उत) और (त्वम्) तू (अमृतस्य) अमृत अर्थात् मोक्ष सुखका (वेत्थ) ज्ञाता है, (अथो) और भी तू (जीवभोजनम्) जीवों का पालने वाला (अथो) और भी (हरितभेषजम्) रोग से उत्पन्न पीतरंग की ओषधि (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—संसार के कर्ता धर्ता परमेश्वर के उपकारों को देखकर मनुष्य प्रयत्न पूर्वक विद्यादि सुख साधनों की प्राप्ति से मोक्षानन्द भोगें ॥ ३ ॥

वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति ऋ गतिप्रापणयोः—वनिप् । अर्वणस्त्रसावनञः । पा० ६ । ४ । १२७ । इति नकारस्य तृ=तकारः । गन्तृणाम् । शीघ्रगामिनाम् (परिपाणाय) परिरक्षणाय (तस्थिषे) ष्ठा-लिट् । स्थितं बभूविथ त्वं ब्रह्म ॥

३—(उत) अपि च (असि) भवसि (परिपाणम्) म० २ । परिरक्षण-साधनम् (यातुजम्भनम्) कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । इति यत ताडने-उण् । जभि नाशने—ल्युट् । यातूनां यातनानां पीडानां नाशनम् (आञ्जन) आङ् पूर्वाद् अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—ल्युट् । आसमन्ताद् अनक्ति व्यनक्ति व्यक्तं करोति अव्यक्तं जगत् आञ्जनम् । तत्सम्बुद्धौ । हे यथावत् संसारस्य व्यक्तीकारक ब्रह्म (अमृतस्य) मोक्षस्य । परमानन्दस्य (त्वम्) (वेत्थ) विदो लटो वा।पा०३।४। ८३। इति थल् आदेशः । ज्ञाता भवसि(अथो) अपि च (जीव-भोजनम्) भुज पालनाभ्यवहारयोः—ल्युट् । जीवानां जीवतां प्राणिनां पालनम्

यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ।
ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ४ ॥

यस्य । आ-अञ्जन । प्र-सर्पसि । अंगम्-अंगम् । परुः-परुः ।
ततः । यक्ष्मम् । वि । बाधसे । उग्रः । मध्यमशीः-इव ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(आञ्जन) हे संसार के प्रकट करने वाले ब्रह्म ! तू (यस्य) जिसके (अङ्गमङ्गम्) अङ्ग अङ्ग में और (परुष्परुः) जोड़ जोड़ में (प्रसर्पसि) व्याप जाता है, (ततः) उस पुरुष से (यक्ष्मम्) राजरोग को (विबाधसे) तू सर्वथा हटा देता है, (इव) जैसे (उग्रः) प्रबल (मध्यमशीः) बिचौलिया पुरुष ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो पुरुष पूर्ण भक्ति से परमात्मा को अपने रोम २ में व्यापक जानकर पुरुषार्थ करता है। परमात्मा उसके सब विघ्नों का नाश कर देता है, जैसे सद्वैद्य बड़े बड़े रोगों को, और नीति कुशल मध्यस्थ राजा आदि वादी और प्रतिवादी के टंटों को मिटा देता है ॥ ४ ॥

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम् ।
नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन ॥ ५ ॥

(हरितभेषजम्) हृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ९३ । इति हृञ् हरणे—इतन् । हरति सुखमिति हरितः । भेषं रोगं जयतीति भेषजम् । भेष+जि—ड । हरितस्य रोगजनितस्य पीतवर्णस्यौषधम् । तद्वद् उपकारकम् ॥

४—(यस्य) पुरुषस्य (आऽञ्जन) हे सम्यक् संसारस्य व्यक्तिकारक ब्रह्म (प्रसर्पसि) प्रकर्षेण व्याप्नोषि (अङ्गमङ्गम्) प्रत्येकमङ्गम् (परुष्परुः) अर्त्तिपृवपि० । उ० २ । ११७ । इति पॄ पालनपूरणयोः—उसि । प्रत्येकपरुः । प्रत्येकग्रन्थिम् (ततः) तस्मात् पुरुषात् (वि बाधसे) विविधं निवारयसि (यक्ष्मम्) अ० २ । १० । ५ । राजरोगम् । क्षयम् (उग्रः) उद्गूर्णबलः । प्रबलः (मध्यमशीः) क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति मध्यम+शीङ्—क्विप् । मध्यदेशे शेते वर्तते सः । वादिप्रतिवादिनोर्वाक्यादिविषयविमर्शपूर्वकं तत्त्वनिर्णायकः । मध्यवर्त्ती । मध्यस्थः (इव) यथा ॥

न । एनम् । म । आप्नोति । शपथः । न । कृत्या । न । अभि-शोचनम् । न । एनम् । वि-स्कन्धम् । अश्नुते । यः । त्वा । बिभर्ति । आ-अञ्जन ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(न) नहीं (एनम्) इस [पुरुष] को (शपथः) क्रोध वचन, (न) न (कृत्या) हिंसा क्रिया और (न) न (अभिशोचनम्) महा-शोक (प्राप्नोति) पहुंचता है, और (न) न (एनम्) इसको (विष्कन्धम्) विघ्न (अश्नुते) व्यापता है, (यः) जो [पुरुष] (आञ्जन) हे संसार को व्यक्त करनेवाले ब्रह्म ! (त्वा) तुझको (बिभर्ति) धारण करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शुद्ध अन्तःकरण से परमात्मा को आत्मा में स्थिर करता है, उसको आध्यात्मिक शान्ति होने से आधिभौतिक और आधिदैविक शान्ति भी मिलती है ॥ ५ ॥

असन्मन्त्राद् दुष्वप्न्याद् दुष्कृताच्छमलादुत ।
दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात् तस्मान्नः पाह्याञ्जन ॥ ६ ॥

असत्-मन्त्रात् । दुः-स्वप्न्यात् । दुः-कृतात् । शमलात् । उत । दुः-हार्दः । चक्षुषः । घोरात् । तस्मात् । नः । पाहि । आ-अञ्जन ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(आञ्जन) हे संसारके व्यक्त करने वाले ब्रह्म! तू (असन्म-

---

५—(न) नहि (एनम्) पुरुषम् (प्राप्नोति) गच्छति (शपथः) शीङ् शपिरुगमि० । उ० ३ । १३ । इति शप आक्रोशे-अथ । मिथ्यापवादः । उपद्रवः । क्रोधवचनम् (कृत्या) विभाषा कृवृषोः । पा० ३ । १ । १२० । इति कृञ् हिंसा-याम्—क्यप्, तुक् टाप् च । हिंसाक्रिया (अभिशोचनम्) शुच शोके-ल्युट् । इष्टवियोगानुचिन्तनम् । चित्तविकलता (विष्कन्धम्) अ० १ । १६ । ३ । विशेषेण शोषकः । विघ्नः (अश्नुते) व्याप्नोति (यः) आत्मा (त्वा) त्वाम् (बिभर्ति) आत्मनि धारयति (आञ्जन) म० ३ । हे जगतो व्यक्तीकारक ब्रह्म ॥

६—(असन्मन्त्रात्) असत्+मत्रि गुप्तभाषणे-अच् । मन्त्रा मननात्—

न्रात्) असत्य भाषण से, (दुष्वप्न्यात्) बुरी निद्रा में उठे हुए कुविचार से, (दुष्कृतात्) दुष्ट कर्म से, (शमलात्) अशुद्धता से (उत) और (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले (घोरात्) घोर वा भयानक (चक्षुषः) नेत्र से (तस्मात्) इस सब से (नः) हमें (पाहि) बचा ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के सहाय से प्रयत्न करें कि वे कभी मिथ्या न बोलें, स्वप्न में बुरा विचार न करें, और दुष्कर्मों से बच कर शुद्ध आचरण रक्खें और नेत्र आदि इन्द्रियों से कुचेष्टा न करें ॥ ६ ॥

इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम् ।
सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष ॥ ७ ॥

इदम् । विद्वान् । आ-अञ्जन । सत्यम् । वक्ष्यामि । न । अनृतम् । सनेयम् । । अश्वम् । गाम् । अहम् । आत्मानम् । तव । पुरुष ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(आञ्जन) हे संसार के व्यक्त करनेवाले ब्रह्म ! तेरे (इदम्) परम ऐश्वर्य को (विद्वान्) जानता हुआ मैं (सत्यम्) सत्य (वक्ष्यामि) बोलूंगा, (अनृतम्) असत्य (न) नहीं । (पूरुष=पुरुष) हे सब के अगुआ पुरुष,

---

निरु० ७ । १२ । असत्यभाषणात् (दुष्वप्न्यात) दुःस्वप्न—यत् । दुर् दुष्टेषु स्वप्नेषु भवात् कुविचारात् (दुष्कृतात्) दुष्टकृतात् । पापात् (शमलात्) शकिशम्योर्नित् । उ० १ । ११२ । इति शम उपशमे-कलप्रत्ययः । अशुद्धव्यवहारात् (उत) अपि च (दुर्हार्दः) अ० २ । ७ । ५ । हार्दयतेः क्विपि णिलोपे रूपम् । दुष्टहृदययुक्तात् (चक्षुषः) नेत्रात् (घोरात्) क्रूरात् (तस्मात्) उपर्युक्तात् सर्वस्मात् (नः) अस्मान् (पाहि) रक्ष (आञ्जन) म० ३ । हे जगतो व्यक्तीकारक ब्रह्म ।

७—(इदम्) इन्देः कमिन्नलोपश्च । उ० ४ । १५७ । इति इदि परमैश्वर्ये कमिन्, नलोपः । परमैश्वर्यम् । महाप्रभुताम् (विद्वान्) अ० २ । १ । २ । विद ज्ञाने—शतृ । वसुरादेशः । जानन् (सत्यम्) यथार्थम् (वक्ष्यामि) वच-लृट् । वदिष्यामि (न) नहि (अनृतम्) असत्यम् (सनेयम्) षण सम्भक्तौ-लिङ् ।

परमेश्वर ! (तव) तेरे [दिये हुये] (अश्वम्) घोड़े, (गाम्) गौ वा भूमि और (आत्मानम्) आत्मबल को (अहम्) मैं (सनेयम्) सेवन करूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा देखकर सदा सत्य ही बोले और पुरुषार्थ पूर्वक सब पदार्थों से उपकार लेवे ॥ ७ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध ऋ० १० । ९७ । ४ और यजु० १२ । ७८ में इस प्रकार है ।

सनेयमश्वं गां वासं आत्मानं तव पूरुष ॥

हे पुरुष ! तेरे [दिये हुये] घोड़े, गौ वा भूमि वस्त्र और आत्मबल को सेवन करूं ॥

त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः ।
वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता ॥ ८ ॥

त्रयः । दासाः । आ-अञ्जनस्य । तक्मा । बलासः । आत् । अहिः । वर्षिष्ठः । पर्वतानाम् । त्रि-ककुत् । नाम । ते । पिता ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(तक्मा) जीवन को कष्ट देने वाला ज्वर, (बलासः) बल का गिराने वाला संनिपात, कफ़ादि रोग, (आत्) और (अहिः) जीवों को मारने वाला सांप, (त्रयः) यह तीनों (आञ्जनस्य) संसार के व्यक्त करने वाले

संभजेयम् (अश्वम्) हयम् (गाम्) धेनुं भूमिं वा (अहम्) उपासकः (आत्मानम्) अ० १ । १८ । ३ । आत्मबलम् । पुरुषार्थम् (तव) तव प्रसादात् (पूरुष) म० २ । छान्दसो दीर्घः । हे अग्रगामिन् परमात्मन् ॥

८—(त्रयः) त्रिसंख्याकाः (दासाः) दंसेष्टटनौ न आ च । उ० ५ । १० इति दसि दर्शने—ट । दंसयति पश्यतीति दासः । यद्वा । दास दाने—अच् । दासति ददाति आत्मानं स दासः । सेवकाः (आञ्जनस्य) म० ३ । जगतो व्यक्तीकारकस्य ब्रह्मणः (तक्मा) अ० १ । २५ । १ । कृच्छ्रजीवनकारी ज्वरः (बलासः) बल+असु क्षेपणे—अण् । बलमस्यति क्षिपतीति । श्लेष्मविकारः (आत्) अपि च (अहिः) अ० २।५।५। आहन्ता । सर्पः (वर्षिष्ठः) प्रियस्थिर० । पा० ६ । ४ । १५७ । इति वृद्ध—इष्ठन् । वर्षि इत्यादेशः । वृद्धतमः (पर्वतानाम्) म० १ । पर्ववान् पर्वतः—निरु० १ । २० । पर्ववतां लोकानाम् (त्रिककुत्) त्रि+

अश्व के (दासाः) दास हैं। [हे आञ्जन, ईश्वर !] (वर्षिष्ठः) सब में वृद्ध, (पर्वतानाम्) अवयव वाले स्थूल लोकों का (पिता) पालन कर्ता,(त्रिककुत्) तीन प्रकार के [आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक] सुखों का पहुंचाने वाला यद्वा तीनों लोकों वा कालों में गति वाला (ते) तेरा (नाम) नाम है ॥८॥

भावार्थ—ईश्वरीय नियम तोड़ने वाले मनुष्यों को परमेश्वर अपनी न्याय व्यवस्था से रोग आदि कष्ट देता है, और अपने आज्ञाकारियों को वह अत्यन्त सुख पहुंचाता है ॥ ८ ॥

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि ।
यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत्सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ९ ॥

यत् । आ-अञ्जनम् । त्रैककुदम् । जातम् । हिम-वतः । परि ।
यातून् । च । सर्वान् । जम्भयत् । सर्वाः । च । यातु-धान्यः ॥९॥

भाषार्थ—(यत्) सब का पूजनीय वा पदार्थों की संगति करने वाला, (त्रैककुदम्) तीन प्रकार के [आध्यात्मिक आदि] सुखों के पहुंचाने वाले यद्वा तीनों लोकों वा कालों में गति वाले पुरुषों का ईश्वर, (जातम्) सब में

क+कुत् । कं सुखम्—निघ० ३ । ६ । कवते, गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । कुङ् गतिशोषणयोः—क्विप्, तुक् च । अन्तर्भावितण्यर्थः, पृषोदरादित्वात् तस्य दः । आध्यात्मकादीनि त्रीणि कानि सुखानि कावयति गमयति स त्रिककुत् । यद्वा । मृग्रोरुतिः । उ० १ । ६४ । इति त्रि+ककि गतौ—उति, तस्य दः । त्रिषु लोकेषु कालेषु वा ककुत् गतिर्यस्य सः (नाम) संज्ञा (ते) तव (पिता) सर्वस्य पाता पालयिता वा ॥

९—(यत्) त्यजितनियजिभ्यो डित् । उ० १ । १३२ । इति यज देवपूज सङ्गतिकरणदानेषु—अदि, स च डित् । यजनीयं पूजनीयम् । पदार्थानां सङ्गतिकारकम् (आञ्जनम्) म० ३ । लोकानां व्यक्तीकारकम् ब्रह्म (त्रैककुदम्) तस्येश्वरः । पा० ५ । १ । ४२ । इति बाहुलकात् त्रिककुद्—अण् । त्रिककुद्—इति व्याख्यातम् म० ८ । त्रिककुदाम् आध्यात्मादित्रिप्रकारस्य सुखस्य प्रापकानां, यद्वा, त्रिषु लोकेषु कालेषु गतिवतां मनुष्याणां ईश्वरम् (जातम्)

प्रसिद्ध, (हिमवतः) हिंसा वाले कर्म से (परि) पृथक् वर्तमान, (आञ्जनम्) संसार का व्यक्त करने वाला ब्रह्म (सर्वान्) सब (यातून्) पीड़ा देने वाले दुष्टों (च) और (सर्वाः) सब (यातुधान्यः=०—नीः) पीड़ा देने वाली शत्रु सेनाओं को (च) भी (जम्भयत्) नाश करने वाला है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो पुण्यात्मा पुरुष विद्या बल से सब प्रकार के सुखों को पहुंचाते, और तीनों द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष लोकों, और तीनों भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालों के वृत्तान्त जानते हैं, वे परब्रह्म की छत्र छाया में रहकर सब विघ्नों को हटा कर आनन्द भोगते हैं ॥ ६ ॥

यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे ।
उभे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन ॥ १० ॥

यदि । वा । असि । त्रैककुदम् । यदि । यामुनम् । उच्यसे । उभे इति । ते । भद्रे इति । नाम्नी इति । ताभ्याम् । नः । पाहि । आ-अञ्जन ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यदि वा) चाहे तू (त्रैककुदम्) तीन प्रकार के [आध्यात्मिक आदि] सुखों के पहुंचाने वाले, यद्वा तीनों लोकों वा कालों में गति वाले पुरुषों का ईश्वर (असि) है, (यदि=यदि वा) चाहे तू (यामुनम्) यमों, नियन्ताओं, न्यायकारियों का हितकारी (उच्यसे) कहा जाता है, (उभे) दोनों (ते) तेरे (नाम्नी) नाम (भद्रे) कल्याण कारक हैं, (आञ्जन) हे

सर्वत्रप्रादुर्भूतम् (हिमवतः) हन्तेर्हिं च । उ० १ । १४७ । इति हन हिंसागत्योः मक्, हिरादेशः । मतुप् । हिंसायुक्तात् कर्मणः (परि) वर्जने । पृथग् वर्तमानम् (यातून्) कृवापा० । उ० १ । १ । इति यत ताड़ने—उण् । पीड़कान् राक्षसान् (सर्वान्) अशेषान् (जम्भयत्) नाशयद् वर्तते (सर्वाः) (च) (यातुधान्यः) अ० १ । २८ । २ । शसः स्थाने जस् । यातुधानीः । पीड़ादायिनीः शत्रुसेनाः ॥

१०—(यदि वा) अथवा (असि) भवसि (त्रैककुदम्) व्याख्यातम् म० ६ (यदि) अथवा (यामुनम्) अजियमिशीङ्भ्यश्च । उ० ३ । ६१ । इति यम नियमने—उनन् । यमयतीति यमुनः । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति अण् ।

संसार के व्यक्त करनेवाले ब्रह्म ! (ताभ्याम्) उन दोनों से (नः पाहि) हमारी रक्षा कर ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के उत्तम उत्तम गुणों का चिन्तन करके पुरुषार्थ के साथ दुष्कर्मों से बचकर सदा आनन्द भोगें ॥ १० ॥

सूक्तम् १० ॥

१—७ ॥ शङ्खो देवता ॥ १-५ अनुष्टुप्, ६ पथ्या पङ्क्तिः, ७ पञ्चपदा त्रिष्टुप् ॥

विघ्ननिवारणायोपदेशः—विघ्नों के हटाने के लिये उपदेश ।

वाता॑ज्जा॒तो अ॒न्तरि॑क्षाद् वि॒द्यु॒तो॒ ज्योति॑ष॒स्परि॑ ।

स नो॑ हिरण्य॒जाः श॒ङ्खः कृश॑नः पा॒त्वंह॑सः ॥ १ ॥

वता॑त् । जा॒तः । अ॒न्तरि॑क्षात् । वि॒-द्यु॒तः॑ । ज्योति॑षः । परि॑ । सः । नः॒ । हि॒र॒ण्य॒-जाः । श॒ङ्खः । कृश॑नः । पा॒तु॒ । अंह॑सः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वातात्) पवन से, (अन्तरिक्षात्) आकाश से (विद्युतः) बिजुली से, और (ज्योतिषः) सूर्य से (परि) ऊपर (जातः) प्रकट होने वाला (सः) दुःख नाशक ईश्वर (हिरण्यजाः) सूर्यादि तेजों का उत्पन्न करने वाला, (कृशनः) सूक्ष्म रचना करने वाला, (शङ्खः) सबों का विवेचन करने वाला

यमुनेभ्यो यमेभ्यो न्यायकारिभ्यो हितम् (उच्यसे) त्वं कथ्यसे (उभे) त्रैककुदं यामुनमिति (ते) तव (भद्रे) कल्याणकरे (नाम्नी) नामनी, संज्ञे (ताभ्याम्) नामभ्याम् (नः) अस्मान् (पाहि) रक्ष (आञ्जन) म० ३ । हे संसारस्य व्यक्तीकारक, ब्रह्म ॥

१—(वातात्) अ० १ । ११ । ६ । वायुसकाशात् (जातः) प्रादुर्भूतः (अन्तरिक्षात्) अ० १ । ३० । ३ । सर्वमध्ये दृश्यमानात् । आकाशात् (विद्युतः) भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जि० । पा० ३ । २ । १७७ इति वि+द्युत दीप्तौ—क्विप् । विद्योतमानायाः । तडितः सकाशात् (ज्योतिषः) अ० १ । ९ । १ । दीप्यमानात् सूर्यात् (परि) अधि । उपरि भागे जातः । पञ्चम्याः परावध्यर्थे । पा० ८ । ३ । ५१ । इति विसर्जनीयस्य सत्वम् (सः) षो अन्तकर्मणि—ड । दुःखनाशकः । विष्णुः । ईश्वरः (नः) अस्मान् (हिरण्यजाः) हिरण्यम् । अ० १ । ९ । २ । जन

वा देखने वाला, वा शान्ति देने वाला परमेश्वर (नः) हमको (अंहसः) रोग जनक दुष्कर्म से (पातु) बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर संसार के सब सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों का रचने वाला और हमारे गुप्त प्रकट कर्मों का देखने और विचारनेवाला है, उसका सदा ध्यान करके हम दुष्कर्मों से बचकर सत्कर्म करते रहें॥ १ ॥

यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे ।
शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्त्रिणो वि षहामहे ॥ २ ॥

यः । अग्रतः । रोचनानाम् । समुद्रात् । अधि । जज्ञिषे ।
शङ्खेन । हत्वा । रक्षांसि । अत्त्रिणः । वि । सहामहे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः=यः त्वम्) जो तू (रोचनानाम) प्रकाशमान लोकों के (अग्रतः) आगे और (समुद्रात्) जल समूह समुद्र से भी (अधि) ऊपर [देश और काल में] (जज्ञिषे) प्रकट हुआ था, [उस तुझ] (शङ्खेन) सबों के विवेचन करनेवाले, वा देखने वाले, वा शान्ति देने वाले, परमेश्वर [के आश्रय]

सनखन० । पा०३ । २। ६७ । इति जन जनने,वा,जनो प्रादुर्भावे—विट् । विड्वनो रनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ इति आत्वम् । हिरण्यानां तेजसां सूर्यादीनां सुवर्णादिधनानां च जनयिता (शङ्खः) शमेः खः । उ० १ । १०२ । इति शम आलोचने=विवेचने । यद्वा शमो दर्शने । यद्वा । शमु उपशमे, शान्तीकरणे—ख प्रत्ययः । सर्वेषां विवेचको विचारकर्ता दर्शको शान्तिदायको वा परमेश्वरः (कृशनः) कृपृवृजि० । उ० २ । ८१ । इति कृश तनूकरणे—क्यु । कृशनं हिरण्य म —निघ० १ । २ । रूपमं—निघ० ३ । ७ । तनूकर्ता । सूक्ष्मरचयिता (पातु) रक्षतु (अंहसः) अमेर्हुक् च । उ० ४ । ११३ । इति अम रोगे गतौ च—असुन् हुक् च । पापात् ॥

२—(यः) हे शङ्ख यस्त्वम् (अग्रतः) अग्रे । आदौ (रोचनानाम्)अनुदात्तेतश्च हलादेः । पा० ३ । २ । १४६ । इति रुच दीप्तौ—युच् । प्रकाशमानानां नक्षत्रादीनाम् (समुद्रात्) जलसमूहात् (अधि) उपरि देशे काले च (जज्ञिषे) जनी-लिट् । त्वं प्रादुर्बभूविथ (शङ्खेन) म० १ । सर्वेषां विवेचकेन दर्शकेन शा-

से (रक्षांसि) जिन से रक्षा की जावे उन राक्षसों को (हत्वा) मारकर (अत्रिणः) पेटार्थियों को (वि) विविध प्रकार से (सहामहे) हम दबाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वदा सर्वोपरि विराजमान परमेश्वर की महिमा और उपकारों को विचारकर, हम लोग कुव्यवहार से बचकर पुरुषार्थ के साथ आनन्द भोगें ॥ २ ॥

शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः ।
शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

शङ्खेन । अमीवाम् । अमतिम् । शङ्खेन । उत । सदान्वाः ।
शङ्खः । नः । विश्व-भेषजः । कृशनः । पातु । अंहसः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शङ्खेन) सबों के विचार करने वाले परमेश्वर से (अमीवाम्) अपनी पीड़ा और (अमतिम्) कुमति को (उत) और भी (शङ्खेन) सबों के देखने वाले परमेश्वर से (सदान्वाः) सदा चिल्लाने वाली, यद्वा, दानवों, दुष्टों के साथ रहने वाली निर्धनता आदि विपत्तियों को [विषहामहे म० २] [हम दबाते हैं म० २] । (शङ्खः) शान्ति देने वाला, (विश्वभेषजः) सब भय का जीतने वाला, (कृशनः) सूक्ष्म रचना करने वाला परमात्मा (नः) हम को (अंहसः) पाप से (पातु) बचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य जगदीश्वर के सर्वोपकारक गुणों को विचारता हुआ प्रयत्न करके दुष्कर्मों से अपनी रक्षा करे ॥ ३ ॥

न्तिदायकेन वा परमेश्वरेण (हत्वा) नाशयित्वा (रक्षांसि) अ० १।२१।३। राक्षसान् । शत्रून् (अत्रिणः) अ० १।७।३। अद भक्षणे-त्रिनि । भक्षणशीलान् । उदरपोषकान् (वि) विशेषेण (सहामहे) अभिभवामः ॥

३—(शङ्खेन) म० १ तथा २ (अमीवाम्) इणशीभ्यां वन् । उ० १।१५२। इति अम रोगे-वन् । ईडागमः । टाप् । पीडाम् । रोगम् (अमतिम्) कुमतिम् । अज्ञानम् (उत) अपि च (सदान्वाः) अ० २।१४।१। सदा नोनूयमानाः शब्दायमानाः । यद्वा । सदानवाः, दानवैः सह वर्तमाना दरिद्रतादिविपत्तीः, "विषहामहे"—इत्यनुषज्यते—मा० २ (शङ्खः) म० १ । (नः) अस्मान् (विश्वभेषजः) अ० २।४।३। सर्वभयजेता । सर्वौषधः (कृशनः पातु अंहसः) व्याख्यातं म० ॥ १ ॥

दि॒वि जा॒तः स॑मु॒द्र॒जः सि॒न्धु॒तस्पर्याभृ॑तः ।
स नो॑ हिर॒ण्य॒जाः श॒ङ्ख आ॑युष्प्र॒तर॑णो म॒णिः ॥ ४ ॥

दि॒वि । जा॒तः । स॒मु॒द्र॒-जः । सि॒न्धु॒तः । परि॑ । आ॒-भृ॑तः । सः । नः॒ । हि॒र॒ण्य॒-जाः । श॒ङ्खः । आयुः॒-प्र॒तर॑णः । म॒णिः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(दिवि) सूर्य मण्डल में (जातः) प्रकट, (समुद्रजः) अन्तरिक्ष में प्रकट, (सिन्धुतः) पार्थिव समुद्र से (परि) ऊपर (आभृतः) सर्वथा पुष्टि को प्राप्त, (सः) दुःखनाशक, (हिरण्यजाः) सूर्यादि तेजों का उत्पन्न करने वाला, (शङ्खः) शान्तिकारक, (मणिः) प्रशंसा योग्य परमेश्वर (नः) हमारा (आयुष्प्रतरणः) जीवन बढ़ाने वाला है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब के ऊपर, नीचे, मध्य में विराजमान होकर अपनी न्याय व्यवस्था से हमारे उत्तम कर्मों के अनुसार हमें उत्तम फल देता है ॥ ४ ॥

स॒मु॒द्राज्जा॒तो म॒णिर्वृ॒त्राज्जा॒तो दि॑वाक॒रः ।
सो अ॒स्मान्त्स॒र्वतः॑ पातु हे॒त्या दे॑वासु॒रेभ्यः॑ ॥ ५ ॥

स॒मु॒द्रात् । जा॒तः । म॒णिः । वृ॒त्रात् । जा॒तः । दि॒वा-क॒रः । सः । अ॒स्मान् । स॒र्वतः॑ । पा॒तु॒ । हे॒त्याः । दे॒व-अ॒सु॒रेभ्यः॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वृत्रात्) ढकने वाले मेघ से (जातः) प्रकट हुये (दिवाकरः)

४—(दिवि) द्युलोके । सूर्यमण्डले (जातः) प्रादुर्भूतः । वर्तमानः (समुद्रजः) सप्तम्यां जनेर्डः । पा० ३ । २ । ९७ । इति डप्रत्ययः । अन्तरिक्षे प्रत्यक्षः (सिन्धुतः) पार्थिवजलौघात् (परि) म० १ । अधि । उपरि (आभृतः) समन्तात् पुष्टिं प्राप्तः (सः) म० १ । दुःखनाशक ईश्वरः (नः) अस्माकम् । अस्मभ्यम् (हिरण्यजाः) म० १ । तेजसां जनयिता (शङ्खः) म० १ । शान्तिकारकः (आयुष्प्रतरणः) आयुषो जीवनस्य प्रवर्धयिता (मणिः) अ० १ । २९ । १ । रत्नम् । प्रशंसनीयः परमेश्वरः ॥

५—(समुद्रात्) अन्तरिक्षात् । अन्तरिक्षस्थलोकजातात् (जातः) प्रादु

सूर्य [के समान] (समुद्रात) अन्तरिक्ष से (जातः) प्रकट हुआ, (मणिः) प्रशंसा योग्य (सः) दुःखनाशक, विष्णु (अस्मान्) हम को (सर्वतः) सब ओर से (हेत्या) अपने वज्र द्वारा (देवासुरेभ्यः) देवताओं के गिराने वाले शत्रुओं से (पातु) बचावे ॥५॥

भावार्थ—जैसे सूर्य मेघ मंडल से निकल कर देदीप्यमान होता है, इसी प्रकार परमात्मा अन्तरिक्षस्थ प्रत्येक पदार्थ से विज्ञानियों को प्रकाशमान दीखता है। वह जगदीश्वर दुष्टों को दंड और शिष्टों को आनन्द देता है ॥ ५ ॥

हिरण्यानामेकोऽसि सोमात् त्वमधि जज्ञिषे । रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

हिरण्यानाम् । एकः । असि । सोमात् । त्वम् । अधि । जज्ञिषे । रथे । त्वम् । असि । दर्शतः । इषु-धौ । रोचनः । त्वम् । प्र । नः । आयूंषि । तारिषत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(हिरण्यानाम्) सूर्यादि तेजों के बीच तू (एकः) एक (असि) है, (त्वम्) तू (सोमात्) सूर्य लोक से (अधि) ऊपर (जज्ञिषे) प्रकट हुआ था, (त्वम्) तू (रथे) रथ में (दर्शतः) दृश्यमान और (त्वम्)

भूतः। ज्ञानः (मणिः) म० ४। प्रशंसनीयः परमेश्वरः (वृत्रात्) अ० २। ५। ३। आवरकाद् मेघात् (दिवाकरः) दिवाविभानिशा०। पा० ३। २। २१। इति दिवा+कृञ् करणे—ट। दिवा दिनं करोतीति। सूर्यः। लुप्तोपममेतत्। तद्वत् प्रभातिशययुक्तः परमेश्वरः (सः) म० १। दुःखनाशक ईश्वरः (अस्मान्) वेदानुगामिनः पुरुषान् (सर्वतः) सर्वस्मादुपद्रवात् (पातु) रक्षतु (हेत्या) अ० १। १३। ३। वज्रेण—निघ० ३। २० (देवासुरेभ्यः) असेरुरन्। उ० १। ४२। इति असु क्षेपणे—उरन्। अस्यति क्षिपति देवान् सोऽसुरः। देवानां धर्मात्मनाम् असुरेभ्यः क्षेपकेभ्यः सकाशात् ॥

६—(हिरण्यानाम्) अन्धकारहरणशीलानां सूर्यादितेजसां मध्ये (एकः) अद्वितीयः (असि) (सोमात्) सोमः सूर्यः प्रसवनात्—निरु० १४। १२।

तू (इषुधौ) तूणीर में (रोचनः) प्रकाशमान (असि) है। [आप] (नः) हमारे (आयूंषि) जीवनों को (प्रतारिषत्) बढ़ावें ॥ ६ ॥

भावार्थ—अद्वितीय प्रकाशस्वरूप परमात्मा सूर्यादि लोकों से काल और विस्तार में बड़ा है, वही रथारूढ़ और बाणधारी शूर को रणक्षेत्र में बल देता है, उसी जगदीशवर के आश्रय से हम अपना जीवन धार्मिक बनाकर आनन्द भोगें ॥ ६ ॥

देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्व१न्तः।
तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वायं शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु ॥ ७ ॥

देवानाम्। अस्थि। कृशनम्। बभूव। तत्। आत्मन्-वत्। चरति। अप्-सु। अन्तः। तत्। ते। बध्नामि। आयुषे। वर्चसे। बलाय। दीर्घायु-त्वायं। शत-शारदाय। कार्शनः। त्वा। अभि। रक्षतु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(कृशनम्) सूक्ष्म रचना करने वाला ब्रह्म (देवानाम्) दिव्य गुणों और प्रकाशमान पदार्थों का (अस्थि) प्रकाशक (बभूव) हुआ था।

सूर्यलोकात् (त्वम्) (अधि) उपरि देशे काले च (जज्ञिषे) प्रादुर्बभूविथ (रथे) हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्। उ० २। २। इति रमु क्रीडने क्थन्। रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद्व विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा रपतेर्वा रसतेर्वा—निरु० ९।११। रमणीये याने। रथारूढे, इत्यर्थः (त्वम् असि) (दर्शतः) भृमृदृशि० । उ० ३। ११०। इति दृशिर् प्रेक्षणे—अतच्। दृश्यमानः (इषुधौ) अ० ३। २३। २। बाणाधारे। तूणीरे (रोचनः) रोचमानः। दीप्यमानः (नः) अस्माकम् (आयूंषि) जीवनानि (प्रतारिषत्) अ० २। ४। ६। लेटि रूपम्। प्रवर्धयेत्, भवान् इति शेषः॥

७—(देवानाम्) दिव्यगुणानां प्रकाशमानानां पदार्थानां च (अस्थि) असिसञ्जिभ्यां क्थिन्। उ० ३। १५४। इति असु क्षेपे, यद्वा। अस गतिदीप्त्यादानविद्यामानतासु—क्थिन्। प्रदीपकं प्रकाशकम् (कृशनम्) अ० १। सूक्ष्मकारकं

(तत्) विस्तृत ब्रह्म (अप्सु अन्तः) अन्तरिक्ष के भीतर [ठहरे हुये] (आत्मन्वत्) आत्मा वाले जगत् में (चरति) विचरता है। [हे प्राणी !] (तत्) उस ब्रह्म को (ते) तेरे (आयुषे) लाभ के लिये, (वर्चसे) तेज वा यश के लिये (बलाय) बल के लिये, और (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतुओं वाले (दीर्घायुत्वाय) चिरकाल जीवन के लिये [अन्तः करण के भीतर] (बध्नामि) मैं बांधता हूं। (कार्शनः) अनेक सुवर्णादि धनों और तेजों वाला परमेश्वर (त्वा) तुझको (अभि) सब प्रकार (रक्षतु) पाले ॥ ७ ॥

भावार्थ—विश्वकर्मा ब्रह्म ने बुद्धि आदि गुण और मनुष्य शरीर आदि दिव्य पदार्थ रचे हैं, वही सब में रमकर जीवन शक्ति दे रहा है, उसी को मनुष्य हृदय में धारण करके पुरुषार्थ के साथ यशस्वी होकर आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः।

ब्रह्म (तत्) विस्तृतम् ब्रह्म (आत्मन्वत्) आत्मन्—मतुप्। मादुपधायाश्च०। पा० ८। २। ९। इति वत्वम्। अनो नुट्। पा० ८। २। १६। इति नुट्। सात्मकं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत्। (चरति) गच्छति व्याप्नोति (अप्सु) अन्तरिक्षे—निघ० १। ३। (तत् ते ······ शतशारदाय) व्याख्यातम्—अ० १। ३५। १। (तत्) प्रसिद्धम् (ते) तव (बध्नामि) धारयामि (आयुषे) आयाय। लाभाय (वर्चसे) तेजसे। यशसे (बलाय) पराक्रमाय (दीर्घायुत्वाय) चिरकालजीवनाय (शतशारदाय) शतशरदृतुयुक्ताय। शतसंवत्सरयुक्ताय (कार्शनः) कृशनः—मा० १। कृशनं हिरण्यम्—निघ० १। २। रूपम्—निघ० ३। ७। तस्येदम्। पा० ४। ३। १२०। इति कृशन—अण्। कृशनानि हिरण्यानि सुवर्णादिधनानि तेजांसि च यस्य स कार्शनः (त्वा) प्राणिनम् (अभि) सर्वतः (रक्षतु) पालयतु ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ११ ॥

१-१२ ॥ अनड्वान् देवता ॥ १-६ त्रिष्टुप्, ७ षट्पदा त्रिष्टुप्,) ८-१२ अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मविद्या पुरुषार्थश्चोपदिश्येते । ब्रह्म विद्या और पुरुषार्थ का उपदेश ॥

अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान् दाधारोर्व-
१ न्तरिक्षम् । अनड्वान् दाधार प्रदिशः षडुर्वीरन-
ड्वान् विश्वं भुवनमा विवेश ॥ १ ॥

अनड्वान् । दाधार । पृथिवीम् । उत । द्याम् । अनड्वान् । दाधार । उरु । अन्तरिक्षम् । अनड्वान् । दाधार । प्र-दिशः । षट् । उर्वीः । अनड्वान् । विश्वम् । भुवनम् । आ । विवेश ॥१॥

भाषार्थ—(अनड्वान्) प्राण जीविका पहुंचाने वाले परमेश्वर ने (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) सूर्य को (दाधार) धारण किया था । (अनड्वान्) प्राण और जीविका पहुंचाने वाले परमेश्वरने (उरु) चौड़े (अन्तरिक्षम्) मध्य लोक वा आकाश को (दाधार) धारण किया था । (अनड्वान्) प्राण और जीविका पहुंचाने वाले परमेश्वर ने (षट्) पूर्वादि, नीचे और ऊपरकी छह (उर्वीः) चौड़ी (प्रदिशः) महादिशाओं को (दाधार) धारण किया था । (अनड्वान्) प्राण और जीविका पहुंचाने वाले परमेश्वर ने (विश्वं भुवनम्) सब जगत् में (आ विवेश) सब प्रकार प्रवेश किया था ॥ १ ॥

१—(अनड्वान्) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति अन प्राणने-असुन् । अनो वायुरनितेरपि वोपमार्थे स्यादनस इव शकटादिव, अनः शकटमानद्धमस्मिंश्चीवरमनितेर्वा स्याज्जीवनकर्मण उपजीवन्त्येनन्मेघोऽप्यन एतस्मादेव—निरु० ११ । ४७ । अनः प्राणं जीवनं वायुं मेघं शकटं वहति वा गमयतीति विग्रहे । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति अनसि वहेः क्विप् अनसो डश्च ।

भावार्थ—पुनरुक्ति निश्चय द्योतक है, अर्थात् एक परमात्मा ही सब जीवन साधन देकर सब पदार्थों को रचता है। सब मनुष्य भक्ति पूर्वक उसकी अपार महिमा को विचार कर सदा पुरुषार्थ करें ॥ १ ॥

अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयाञ्छक्रो वि मिमीते अध्वनः। भूतं भविष्यद् भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि ॥ २ ॥

अनड्वान्। इन्द्रः। सः। पशु-भ्यः। वि। चष्टे। त्रयान्। शक्रः। वि। मिमीते। अध्वनः। भूतम्। भविष्यत्। भुवना। दुहानः। सर्वा। देवानाम्। चरति। व्रतानि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य वाला (अनड्वान्) प्राण और जीविका पहुंचाने वाले परमेश्वर (पशुभ्यः) व्यक्त वाणी वाले और अव्यक्त वाणी वाले जीवों के लिये (वि) विविध प्रकार से (चष्टे) देखता है (शक्रः) वह समर्थ परमात्मा (त्रयान्) तीन अवयव [भूमि सूर्य और अन्तरिक्ष] वाले

वचिस्वपियजादीनां किति। पा० ६। १। १५। इति यजादित्वात् संप्रसारणम्। अनडुह् इति स्थिते। आमनुम्सुलोपेषु कृतेषु संयोगान्तलोपेन हकारलोपः। अनसः प्राणस्य जीवनस्य च वाहकः प्रापकः परमेश्वरः (दाधार) तुजादित्वाद् अभ्यासदीर्घत्वम्। धृतवान् (पृथिवीम्) भूमिम् (उत) अपि च (द्याम्) प्रकाशमानं सूर्यम् (उरु) विस्तीर्णम् (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकम् (प्रदिशः) महादिशाः (षट्) प्राच्यादिनीचोर्ध्वषट् संख्याकाः (उर्वी) विस्तीर्णाः (विश्वं भुवनम्) सर्वं जगत् (आ विवेश) सर्वतः प्रविष्टवान् ॥

२—(अनड्वान्) म० १। अनसः प्राणस्य जीवनस्य च वाहकः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (सः) प्रसिद्धः (पशुभ्यः) अ० २। २६। १। व्यक्तवाग्भ्योऽव्यक्तवाग्भ्यो जीवेभ्यः—निरु० ११।२९। तेषां हिताय (वि) विविधम् (चष्टे) चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च। चष्टे पश्यतिकर्मा—निघ० ३। ११। पश्यति कथयति वा (त्रयान्) संख्याया अवयवे तयप्। पा० ५। २। ४२। इति तयप्। द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा। पा० ५।२।४३। इति तयस्य अयच्। त्र्यवयववान् (शक्रः)

(अध्वनः) मार्गों को (वि) विशेष करके (मिमीते) नापता है । (भूतम्) भूत, (भविष्यत्) भविष्यत् और (भुवना=०–नि) लोकों वा वर्त्तमान वस्तुओं को (दुहानः) परिपूर्ण करता हुआ वह (देवानाम्) इन्द्रियों के (सर्वा व्रतानि) सब कामों को (चरति) सिद्ध करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर संसार के कर्मों का साक्षी होकर तीनों लोकों और तीनों कालों की सुधि रखता, और देखना आदि सब काम करता है ॥ २ ॥

इन्द्रो॑ जा॒तो म॑नु॒ष्ये॑ष्व॒न्तर्घ॒र्मस्त॒प्तश्च॑रति॒ शोशु॑चानः ।
सु॒प्र॒जाः सन्त्स उ॑दा॒रे न स॑र्ष॒द् यो नाश्नी॒याद॑न॒डु॒हो॑ वि॒जा॒नन् ॥ ३ ॥

इन्द्रः॑ । जा॒तः । म॒नु॒ष्ये॑षु । अ॒न्तः । घ॒र्मः । त॒प्तः । च॒र॒ति॒ । शोशु॑चानः । सु॒ऽप्र॒जाः । सन् । सः । उ॒त्ऽआ॒रे । न । स॒र्ष॒त् । यः । न । अ॒श्नी॒यात् । अ॒न॒डु॒हः॑ । वि॒ऽजा॒नन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(तप्तः) तपते हुये (घर्मः) सूर्य के समान (शोशुचानः) अत्यन्त प्रकाशमान (इन्द्रः) परमेश्वर (मनुष्येषु अन्तः) मननशील मनुष्यों के भीतर (जातः) प्रकट होकर (चरति) विचरता है। (यः) जो पुरुष

शक्तः समर्थः (वि) विशेषे ॥ (मिमीते) माङ् माने शब्दे च । भृञामित् । पा० ७ । ४ । ७६ । इत्यभ्यासस्य इत्वम् । परिमितान् करोति (अध्वनः) अ० १ । ४ । १ । मार्गान् (भूतम्) गतम् (भविष्यत्) अनागतम् (भुवना) भुवनानि । लोकान् वर्तमानानि वस्तूनि वा (दुहानः) दुह प्रपूरणे—शानच् । प्रपूरयन् (सर्वा) सर्वाणि (देवानाम्) इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते—निरु० १३ । ११ । इन्द्रियाणाम् (व्रतानि) कर्माणि (चरति) करोति ॥

३—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (जातः) प्रादुर्भूतः सन् (मनुष्येषु) अ० ३ । ४ । ६ । मननशीलेषु (अन्तः) मध्ये (घर्मः) अ० ४ । १ । २ । दीप्यमानः । घृणिः सूर्य इव । घर्मः, अहर्नाम—निघ० १।९ (तप्तः) तापयुक्तः (चरति) संचरति । वर्तते (शोशुचानः) शुच दीप्तौ यङन्तात् शानच् । देदीप्यमानः (सुप्रजाः) उत्तमान् पुत्रपौत्रभृत्यादीन् (सन्) अस भुवि—शतृ । विद्यमानः पुरुषः (सः)

(अनडुहः) प्राण और जीविका पहुंचाने वाले परमेश्वर का (न विजानन्) विज्ञान न रखता हुआ (अश्नीयात्) भोजन करे, (सः) वह (सन्) विद्यमान पुरुष (उदारे) बड़े पद पर वर्तमान (सुप्रजाः) उत्तम प्रजा गणों को (न सर्पत्) न पावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा मनुष्यादि प्राणियों में निःसन्देह प्रकाशमान है। जो अज्ञानी पुरुष उसकी महिमा को नहीं जानता, वह दुष्ट आप, और उसके साथी प्रजा गण महा दुःख भोगते हैं ॥ ३ ॥

अनड्वान् दुहे सुकृतस्य लोक ऐनं प्याययति पवमानः पुरस्तात्। पर्जन्यो धारा मरुत ऊधो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य ॥ ४ ॥

अनड्वान्। दुहे। सु-कृतस्य। लोके। आ। एनम्। प्याययति। पवमानः। पुरस्तात्। पर्जन्यः। धाराः। मरुतः। ऊधः। अस्य। यज्ञः। पयः। दक्षिणा। दोहः। अस्य ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अनड्वान्) प्राण वा जीविका पहुंचाने वाला परमेश्वर (सुकृतस्य) पुण्य के (लोके) स्थान में (दुहे=दुग्धे) पूर्ण करता है, (पवमानः) शुद्ध करने वाला परमात्मा (पुरस्तात्) पहिले से ही (एनम्) इस

(उदारे) उत्+आङ्+रा दानादानयोः—क। यद्वा। उत्+ऋ गतिप्रापणयोः घञ्। महति पदे। 'उदारो दातृमहतोः, इत्यमरः—२३। १६२ (न) नहि (सर्पत्) सृ गतौ लेटि अडागमः, सिप् च। प्राप्नुयात् (यः) पुरुषः (न) नहि (अश्नीयात्) अश भोजने—विधिलिङ्। भक्षयेत् (अनडुहः) म० १। प्राणस्य जीवनस्य च वाहकस्य परमेश्वरस्य (विजानन्) विशेषेण ज्ञानं प्राप्नुवन् ॥

४—(अनड्वान्) म० १। प्राणस्य जीवनस्य वा प्रापकः परमेश्वरः (दुहे) लोपस्त आत्मनेपदेषु। पा० ७। १। ४१। इति तलोपः। दुग्धे। इष्टं प्रपूरयति (सुकृतस्य) पुण्यकर्मणः (लोके) लोक दर्शने—घञ्। भुवने। गृहे। एनम्) इमं जीवं संसारं वा (आ प्याययति) प्रवर्धयति, (पवमानः) अ० ३। ३१। २। संशोधकः परमेश्वरः (पुरस्तात्) अग्रतः। सृष्ट्यादौ (पर्जन्यः) अ० १। २।१।

[जीव] को (आ प्याययति) सब प्रकार बढ़ाता है । (अस्य) इस [परमेश्वर] की (धाराः) धारण शक्तियां (पर्जन्यः) मेघ [के समान] हैं, और (ऊधः) वहन वा लेचलने का सामर्थ्य (मरुतः) पवन [के समान] है, (अस्य) इसकी (यज्ञः) संगति क्रिया (पयः) दूध [के समान] है, और (दक्षिणा) दान शक्ति (दोहः) दोहनी [के समान] है ॥ ४ ॥

भावार्थ—वह जगदीश्वर पुण्यात्माओं की इच्छा पूर्ण करता है, और सृष्टि की आदि में वेद देकर सब की वृद्धि करता है और जैसे मेघ, वायु आदि पदार्थ उपकारी हैं, इसी प्रकार वह परमात्मा मेघ, पवन आदिकों का धारण करने वाला आदिमूल है ॥ ४ ॥

यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता । यो विश्वजिद् विश्वभृद् विश्वकर्मा घर्मं नो ब्रूत यतमश्चतुष्पात् ॥ ५ ॥

यस्य । न । ईशे । यज्ञ-पतिः । न । यज्ञः । न । अस्य । दाता । ईशे । न । प्रति-ग्रहीता । यः । विश्व-जित् । विश्व-भृत् । विश्व-कर्मा । घर्मम् । नः । ब्रूत । यतमः । चतुः-पात् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(न) न तो (यज्ञपतिः) संगतिकर्ता पुरुष, और (न) न

मेघ इव (धारा) धृ धारणे णिच्-अङ्, टाप् । धार्य्यते यया । धारणशक्तयः (मरुतः) अ० १ । २० । १ । वायुरिव (ऊधः) श्वेः सम्प्रसारणं च । उ० ४ । १९३ । इति वह-असुन् । धातोः सम्प्रसारणे कृते दीर्घत्वं धकारश्चान्तादेशः । वहनसामर्थ्यम् (अस्य) अनडुहः परमेश्वरस्य (यज्ञः) संगतिकरणम् (पयः) दुग्धमिव (दक्षिणा) द्रुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । इति दक्ष वृद्धिशैघ्रयोः—इनन् । टाप् । दक्षिणा दक्षतेः समर्द्धयतिकर्मणः, दक्षिणो हस्तो दक्षतेरुत्साहकर्मणो दाशतेर्वास्याद् दानकर्मणः—निरु० १ । ७ । दानशक्तिः (दोहः) दुह प्रपूरणे—घञ् । दोहनपात्रमिव ॥

५—(यस्य) घर्मस्य । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति

(यज्ञः) संगतिकर्म (यस्य) जिस [परमेश्वर] का (ईशे=ईष्टे) ईश्वर है, (न) न तौ (दाता) दाता, (न) न (प्रतिग्रहीता) ग्रहणकर्ता (अस्य) इस का (ईशे) ईश्वर है, (यः) जो (विश्वजित्) सब का जीतने वाला, (विश्व-भृत्) सब का पोषण करने वाला, (विश्वकर्मा) सब काम करने वाला, और (यतमः) जौन सा (चतुष्पात्) चारो दिशाओं में स्थिति वा गति वाला है, (घर्मम्) उस प्रकाशमान सूर्यसदृश परमात्मा को (नः) हमें, [हे ऋषियो !] (ब्रूत) बताओ ॥ ५ ॥

भावार्थ—उस परमात्मा का शासक कोई अन्य नहीं है, वह सर्वशक्तिमान् सर्वरक्षक, सर्वव्यापक प्रकाश स्वरूप है। उसकी उपासना और अन्वेषणा से सब मनुष्य अपनी उन्नति करें ॥ ५ ॥

येन॑ दे॒वाः स्व॑रारुरु॒हुर्हि॒त्वा शरी॑रम॒मृत॑स्य॒ नाभि॑म्। तेन॑ गेष्म सुकृ॒तस्य॑ लो॒कं घ॒र्मस्य॑ व्र॒तेन॒ तप॑सा यश॒स्यवः॑॥६

येन॑। दे॒वाः। स्वः॑। आ॒-रु॒रु॒हुः। हि॒त्वा। शरी॑रम्। अ॒मृत॑स्य। नाभि॑म्। तेन॑। गे॒ष्म॒। सु॒-कृ॒तस्य॑। लो॒कम्। घ॒र्मस्य॑। व्र॒तेन॑। तप॑सा। य॒श॒स्यवः॑ ॥ ६ ॥

कर्मणि षष्ठी (न) नहि (ईशे) लोपस्त आत्मनेपदेषु। पा० ७। १। ४१। ईष्टे। शासिता भवति (यज्ञपतिः) यजमानः सङ्गतिकर्ता (यज्ञः) संगतिक्रिया (दाता) दानशीलः (प्रतिग्रहीता) दानस्य स्वीकर्ता (यः) अनड्वान्। घर्मः (विश्वजित्) विश्वस्य जेता (विश्वभृत्) सर्वस्य भर्ता पोषयिता वा (विश्वकर्मा) विश्वं सर्वं कर्म कर्तव्यं व्यापारो यस्य। सर्वव्यापारकर्ता (घर्मम्) म० ३। तं दीप्यमानम्। आदित्यरूपं। अनड्वाहं परमात्मानम् (नः) अस्माभ्यम् (ब्रूत) कथयत। उपदिशत (यतमः) वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्। पा० ५।३।९३। इति यत्—डतमच्। बहूनां मध्ये निर्द्धारित एकः। एषां मध्ये यः (चतुष्पात्) पद स्थैर्ये,गतौ च—घञ्। इति पादः। संख्यासुपूर्वस्य। पा० ५।४।१४०। इति बहुव्रीहेः पादान्तस्य लोपः। चतसृषु दिक्षु पादः स्थितिर्गतिर्वा यस्य सः ॥

भाषार्थ—(येन) जिस [परमात्मा] के द्वारा (देवाः) व्यवहार कुशल पुरुष (शरीरम्) नाशमान शरीर [देह अभिमान] (हित्वा) छोड़ कर (अमृतस्य) अमरपन के (नाभिम्) केन्द्र (स्वः) स्वर्ग को (आरुरुहुः) चढ़े थे। (तेन) उसी [ईश्वर] के सहारे से (यशस्यवः) यश चाहने वाले हम लोग (घर्मस्य) दीप्यमान सूर्य के [समान] (व्रतेन) कर्म और (तपसा) सामर्थ्य से (सुकृतस्य) पुण्य के (लोकम्) लोक [परमात्मा] को (गेष्म) खोजें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे पूर्वज महात्मा परमात्मा की भक्ति से मोक्ष सुख पाकर अमर अर्थात् कीर्तिमान हुये हैं, उसी प्रकार हम परमेश्वर की आज्ञा पाल कर संसार में उपकार करके यशस्वी होवें, जैसे सूर्य अपने तेज से वृष्टि दान और आकर्षण आदि करके लोक का उपकार करता है ॥ ६ ॥

इन्द्रो॑ रू॒पेणा॒ग्निर्वहे॑न प्र॒जाप॑तिः पर॒मे॒ष्ठी वि॒राट् ।
वि॒श्वान॑रे अक्रमत वैश्वान॒रे अ॑क्रमतान॒डुह्य॑क्रमत ।
सो॑ऽदृं॒हयत॒ सो॑ऽधारयत ॥ ७ ॥

इन्द्रः॑ । रू॒पेण॑ । अ॒ग्निः । वहे॑न । प्र॒जा-प॑तिः । प॒र॒मे॒-स्थी ।
वि॒-राट् । वि॒श्वान॑रे । अ॒क्र॒म॒त॒ । वै॒श्वा॒न॒रे । अ॒क्र॒म॒त॒ ।
अ॒न॒डुहि॑ । अ॒क्र॒म॒त॒ । सः । अ॒दृं॒ह॒य॒त॒ । सः । अ॒धा॒र॒य॒त॒ ॥७

६—(येन) अनडुहा परमेश्वरेण (देवाः) व्यवहारिणः पुरुषाः (स्वः) अ० २। ५। २। स्वर्गम्। देवालयम् (आरुरुहुः) आरूढवन्तः (हित्वा) ओहाक् त्यागे—क्त्वा। त्यक्त्वा। (शरीरम्) अ० २। १२। ८। शीर्यमाणं देहम्। देहाभिमानमित्यर्थः (अमृतस्य) अमरणस्य। मोक्षसुखस्य (नाभिम्) अ० १। १३। ३। मध्यस्थानम्। केन्द्रम् (तेन) अनडुहा (गेष्म) गेषृ अन्विच्छायाम्-लोटि छान्दसं रूपम्। गेषामहै। अन्विच्छाम। अन्वेषणेन प्राप्नवाम (सुकृतस्य) पुण्यस्य (लोकम्) गृहम् (घर्मस्य) म० ३। प्रकाशमानस्य। आदित्यस्य (व्रतेन) वरणीयेन कर्मणा (तपसा) ऐश्वर्येण (यशस्यवः) सुप आत्मनः क्यच्। पा० ३। १। ८। इति यशस्—क्यच्। क्याच्छन्दसि। पा० ३। २। १७०। इति उप्रत्ययः। यशः कीर्तिमात्मन इच्छन्तः ॥

भाषार्थ—(प्रजापतिः) उत्पन्न पदार्थों का रक्षक, (परमेष्ठी) ऊंचे स्थान पर ठहरने वाला, (विराट्) विशेष प्रकाशमान, (अग्निः) व्यापक वा अग्निरूप (इन्द्रः) सूर्य (रूपेण) अपने रूप से और (वहेन) चलाने के सामर्थ्य से (विश्वानरे) सब के नायक परमात्मा में (अक्रमत) प्रविष्ट हुआ, (वैश्वानरे) सब नायकों के हित कारी परमेश्वर में (अक्रमत) प्राप्त हुआ, (अनडुहि) जीवन पहुंचाने वाले जगदीश्वर में (अक्रमत) प्रविष्ट हुआ है, (सः) उस [जगदीश्वर] ने [सूर्य को] (अदृंहयत) दृढ़ किया और (सः) उसने ही (अधारयत) धारण किया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—सूर्य अर्थात् सूर्य आदि बड़े बड़े लोक अपने आकर्षण आदि शक्तियों के साथ सर्वनियन्ता जगदीश्वर में स्थित हैं, वही उनका धारण पोषण करता है। उसीकी उपासना हम सदा करें ॥ ७ ॥

मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः ।
एतावदस्य प्राचीनं यावान् प्रत्यङ् समाहितः ॥ ८ ॥

मध्यम् । एतत् । अनडुहः । यत्र । एषः । वहः । आ-हितः । एतावत् । अस्य । प्राचीनम् । यावान् । प्रत्यङ् । सम्-आहितः॥८

भाषार्थ—(अनडुहः) जीविका पहुंचाने वाले परमात्मा का (एतत्)

७—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् सूर्यः (रूपेण) तेजसा (अग्निः) व्यापकः । अग्निरूपः (वहेन) वहनसामर्थ्येन । आकर्षणेन (प्रजापतिः) प्रजानां प्रजातानां पदार्थानां पालकः (परमेष्ठी) अ० १।७।२ । परमे प्रधानस्थाने स्थितः (विराट्) राजृ दीप्तौ—क्विप् विशेषेण दीप्यमानः (विश्वानरे) विश्व+नृ नीतौ—अच् । नरे संज्ञायाम् । पा० ६ । ३ । १२६ । इति दीर्घः । सर्वनायके परमेश्वरे (अक्रमत) अक्रामत संक्रान्तवान् प्राप्तवान् (वैश्वानरे) अ० १ । १० । ४ । विश्वनरेभ्यः सर्वनायकेभ्यो हिते परमात्मनि (अनडुहि) म० १ । जीवनप्रापके परमेश्वरे (सः) अनड्वान् (अदृंहयत) दृढमकरोत् (अधारयत) धृतवान् ॥

८—(मध्यम्) अ० १ । ३३ । २ । द्वयोरन्तरालम् । गोलस्य मध्यस्थानम्

यह [स्थान वा काल] (मध्यम्) मध्य है (यत्र) जहां (एषः) यह (वहः) [आकर्षित] भार (आहितः) धरा हुआ है । (अस्य) सर्वव्यापक वा सर्वरक्षक विष्णु का (एतावत्) उतना ही (प्राचीनम्) प्राचीन काल वा देश है, (यावान्) जितना (प्रत्यङ्) आगामी काल वा देश (समाहितः) सिद्ध है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की सर्व व्यापकता और नित्यता को विचार कर मनुष्य सावधानी से प्रयत्न करता रहै ॥

यो वेदा॑नडुहो॒ दोहा॑न् स॒प्तानु॑पदस्वतः ।
प्र॒जां च॑ लो॒कं चा॑प्नोति॒ तथा॑ सप्तऋ॒षयो॑ विदुः ॥९॥

यः । वेद॑ । अ॒न॒डुहः॑ । दोहा॑न् । स॒प्त । अनु॑प-दस्वतः । प्र॒-जाम् । च॒ । लो॒कम् । च॒ । आ॒प्नोति॒ । तथा॑ । स॒प्त-ऋ॒षयः॑ । वि॒दुः॥९॥

भाषार्थ—(यः) जो कोई (अनडुहः) जीवन पहुंचाने वाले परमेश्वर के (दोहान्) पूर्ति के प्रवाहों को (सप्त) नित्य संबन्ध वाले और (अनुपदस्वतः) अक्षय (वेद) जानता है, वह (प्रजाम्) प्रजा (च) और (लोकम्) लोक (च) भी (आप्नोति) पाता है, (तथा) ऐसा (सप्तऋषयः) सात व्यापनशील वा दर्शनशील, [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि, अथवा दो कान, दो नथने, दो आंख और मुख यह सात छिद्र] (विदुः) जानते हैं [प्रत्यक्ष करते हैं] ॥ ९ ॥

(एतत्) दृश्यमानं सर्वम् (अनडुहः) म० १ । जीवनप्रापकस्य परमेश्वरस्य (यत्र) यस्मिन् स्थाने (एषः) अयम् (वहः) वहनीयः पदार्थो भारो वा (आहितः) धा—क्त । स्थापितः (एतावत्) एतत्परिमाणयुक्तम् (अस्य) अतति सर्वं व्याप्नोतीति अः । अत सातत्यगमने—ड । यद्वा अवति रक्षतीति अव रक्षणे ड । अः विष्णुः । सर्वव्यापकस्य सर्वरक्षकस्य वा परमेश्वरस्य (प्राचीनम्) विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम् । पा० ५ । ४ । ८ । इति स्वार्थे खः । खस्य ईनादेशः । प्राक् पूर्वः कालो देशो वा (यावान्) यत्परिमाणवान् (प्रत्यङ्) प्रति+अन्चु—क्विन् । पश्चिमकालः । पश्चिमदेशः (समाहितः) निष्पन्नः ॥

९—(यः) यः पुरुषः (वेद) वेत्ति (अनडुहः) म० १ । प्राणप्रापकस्य (दोहान्) म० ४ पूर्तिप्रवाहान् (सप्त) सप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ ।

भावार्थ—विज्ञानी पुरुष जीवनदाता परमेश्वर के सर्वव्यापी और अनन्त कोश को अपनी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, मन और बुद्धि द्वारा साक्षात् करके अपना आत्मिक और शारीरिक बल बढ़ाते हैं ॥ ९ ॥

पुद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन् ॥
श्रमेणानड्वान् कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः ॥ १० ॥

पत्-भिः । सेदिम् । अव-क्रामन् । इराम् । जङ्घाभिः । उत्-खिदन् । श्रमेण । अनड्वान् । कीलालम् । कीनाशः । च । अभि । गच्छतः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(कीनाशः) निन्दित कर्म का नाश करने वाला (अनड्वान्) जीवन पहुंचाने वाला परमेश्वर, (श्रमेण) परिश्रम से (अभिगच्छतः) चलते

इति षप समवाये—कनिन् । अथवा कप्रत्ययः । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति विभक्तिलोपः । समवेतान् । नित्यसम्बद्धान् । अथवा, सप्तपुत्रं सप्तमपुत्रं सर्पणपुत्रमिति वा सप्त सृप्ता सङ्ख्या सप्तादित्यरश्मयः । निरु० ४ । २६ । इति यास्कवचनात् सूर्यरश्मिवत् परस्परसंयुक्तान् (अनुपदस्वतः) दसु उपक्षये—असुन्, मतुप् । अक्षयान् (प्रजाम्) पुत्रपौत्रभृत्यादिकम् (च) समुच्चये । अवधारणे (लोकम्) संसारम् । संसारराज्यम् (आप्नोति) लभते (तथा) तेनैव प्रकारेण (सप्तऋषयः) सप्त समवेताः । इगुपधात् । कित् । उ० ४ । १२० । इति ऋष गतौ दर्शने च—इन् । ऋत्यकः । पा० ६ । १ । १२८ । इति प्रकृतिभावः । सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे । य० ३४ । ५५ । सप्त ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी । निरु० १२ । ३७ । कः सप्त खानि वितर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् । अ०१०।२ । ६।त्वक्चक्षुः श्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धयः । अथवा । शीर्षण्यानि सप्तच्छिद्राणि (विदुः) जानन्ति । प्रत्यक्षीकुर्वन्ति ॥

१०—(पद्भिः) पद स्थैर्ये गतौ च—क्विप् । स्वस्थितिभिः (सेदिम्) किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात् । वा० पा० ३ । २ । १७१ । इति

फिरते पुरुष के (सेदिम्) विषाद को (पद्भिः) अपनी स्थितियों से (अवक्रामन्) दबाता हुआ, (च) और (जङ्घाभिः) अपनी अत्यन्त व्याप्तियों से [उस के] (कीलालम्) बन्ध के निवारण, अर्थात् (इराम्) अन्न को (उत्खिदन्) उत्पन्न करता हुआ [वर्तमान है] ॥ १० ॥

भावार्थ—उद्योगी पुरुष सब स्थानों में परमेश्वर रचित पदार्थों से अन्नादि प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं ॥ १० ॥

द्वा॒द॑श॒ वा ए॒ता रा॒त्रीर्व्रत्या॑ आहुः प्र॒जाप॑तेः ।

तत्रोप॒ ब्रह्म॒ यो वेद॒ तद्वा अ॑न॒डुहो॑ व्र॒तम् ॥ ११ ॥

द्वाद॑श । वै । ए॒ताः । रात्रीः । व्रत्याः । आ॒हुः । प्र॒जा-प॑तेः ।

तत्र॑ । उप॑ । ब्रह्म॑ । यः । वेद॑ । तत् । वै । अ॒न॒डुहः॑ । व्र॒तम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(द्वादश) बारह (एताः) प्राप्तियोग्य (रात्रीः) विषय ग्रहण करने वाली और विज्ञान देनेवाली मन बुद्धि सहित पांच ज्ञानेन्द्रियों और

षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—कि । अवसादनम् । दरिद्रताम् (अवक्रामन्) अवाङ्मुखी कुर्वन् (इराम्) ऋज्रेन्द्र० । उ० २ । २८ । इति इण् गतौ—रन्,गुणाभावः । अन्नम्—निघ० २।७ (जङ्घाभिः) अच् तस्य जङ्घ च । उ०५ ।३१ । इति जनी प्रादुर्भावे—अच्, जङ्घ इत्यादेशः । प्रादुर्भावैः । यद्वा । अन्येष्वपि दृश्यते । पा०३ । २ । १०१ । इति हन हिंसागत्योः—यङ्लुगन्तात्—ड प्रत्ययः । अतिवेगगतिभिः । अत्यन्तव्याप्तिभिः (उत्खिदन्) खिद दैन्ये, परिघाते । उत्पूर्वात् खिद उत्पादने—शतृ । उत्पादयन् वर्तते (श्रमेण) श्रम तपसि, आयासे, खेदे च—घञ् आयासेन । प्रयत्नेन (अनड्वान्) म० १ । जीवनप्रापकः (कीलालम्) कील बन्धे—घञ्+अल वारणपर्याप्तिभूषासु—अण् । बन्धनिवारणम् । अमृतम् । जीवनसाधनम् (कीनाशः) अ०३। १७ । ५ । कुकुत्सितं नाशयतीति । कोः कीति आदेशः । निन्दितकर्मनाशकः परमेश्वरः (अभि गच्छतः) अभितो गच्छतः पुरुषस्य ॥

११—(द्वादश) द्वे च दश च (वै) वा गतौ—डै । निश्चयेन (एताः) हसिमृग्रिण्वा० । उ० ३ । ८६ । इति इण् गतौ—तन् । प्राप्तव्याः । (रात्रीः)

पांच कर्मेन्द्रियों को (प्रजापतेः) प्रजापालक परमात्मा के (व्रत्याः) व्रतयोग्य (वै) निश्चय करके [वे विज्ञानी] (आहुः) बताते हैं। (तत्र) उन [मन बुद्धि सहित इन्द्रियों] में (यः) गतिशील पुरुषार्थी पुरुष (अनडुहः) जीवन पहुंचाने वाले परमेश्वर के (तत्) विस्तृत (ब्रह्म) वेद विज्ञान और (व्रतम्) व्रत को (वै) निश्चय करके (उप) आदर से (वेद) जानता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—मन बुद्धि और इन्द्रियों से योगी पुरुषार्थी लोग परमात्मा के गुण कर्म स्वभाव को जान कर संसार में उन्नति करते हैं ॥ ११ ॥

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यंदिनं परि ।
दोहा ये अस्य संयन्ति तान् विद्मानुपदस्वतः ॥१२॥

दुहे । सायम् । दुहे । प्रातः । दुहे । मध्यंदिनम् । परि । दोहाः । ये । अस्य । सम्-यन्ति । तान् । विद्म । अनुप-दस्वतः ॥१२॥

भाषार्थ—वह [परमेश्वर] (सायम्) सायंकाल में (परि) सब ओर से (दुहे=दुग्धे) पूर्ण करता है। (प्रातः) प्रातः काल (दुहे) पूर्ण करता है। (मध्यं दिनं) मध्याह्न में (दुहे) पूर्ण करता है। (अस्य) सर्वव्यापक वा

राशदिभ्यां त्रिप्। उ०४।६७।इति रा दानग्रहणयोः-त्रिप्। विषयग्रहीतॄणि विज्ञानदातॄणि मनोबुद्धिसहितानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च (व्रत्याः) व्रतं व्याख्यातम्—अ० २ । ३० । २ । व्रत—यत् । व्रतहिताः । कर्मयोग्याः (आहुः) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लट्। ब्रुवन्ति विज्ञानिनः (प्रजापतेः) प्रजापालकस्य अनडुहः (तत्र) रात्रिषु (उप) आदरेण (ब्रह्म) अ०१ । ८ । ४ । वेदविज्ञानम् (यः) या गतौ—ड । याता । गतिशीलः (वेद) वेत्ति (तत्) त्यजितनि० । उ० १ । १३२ । इति तनु विस्तारे—अदि । विस्तृतम् (अनडुहः) म० १ । प्राणप्रापकस्य परमेश्वरस्य (व्रतम्) वरणीयं कर्म ॥

१२—(दुहे) लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः । दुग्धे प्रपूरयति अनड्वान् (सायम्) षो अन्तकर्मणि—णम्, युगागमः । दिनान्ते (प्रातः) प्रातर्तेररन्। उ० ५ । ५६ । इति प्र+अत सातत्यगमने—अरन् ।

सर्वरक्षक विष्णु के (ये) जो (दोहाः) पूर्त्ति प्रवाह (संयन्ति) बटुरते रहते हैं (तान्) उनको (अनुपदस्वतः) अक्षय (विद्म) हम जानते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—परमेश्वर का सदा अक्षय भण्डार है। ऐसा जानकर मनुष्य विज्ञान पूर्वक आगे बढ़ता रहे ॥ १२ ॥

सूक्तम् १२ ॥

१—७ ॥ धाता देवता । १ गायत्री, २-५ अनुष्टुप्, ६ पदपङ्क्तिः, ७ बृहती छन्दः ॥

स्वदोषनिवारणोपदेशः—अपने दोष मिटाने का उपदेश ॥

रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी ।
रोहयेदमरुन्धति ॥ १ ॥

रोहणी । असि । रोहणी । अस्थ्नः । छिन्नस्य । रोहणी ।
रोहय । इदम् । अरुन्धति ॥ १ ॥

भाषार्थ[हे मानुषी प्रजा तू] (छिन्नस्य) टूटी (अस्थ्नः) हड्डी की (रोहणी) पूरनेवाली (रोहणी) रोहिणी वा लाक्षा [के समान] (रोहणी) पूरनेवाली शक्ति (असि) है। (अरुन्धति) हे रोक न डालने वाली शक्ति तू ! (इदम्) ऐश्वर्य (रोहय) सम्पूर्ण कर ॥ १ ॥

प्रभातकाले (मध्यं दिनम्) राजदन्तादित्वात् मध्यशब्दस्य पूर्वत्वम्। पृषोदरादित्वात् नकारागमः। दिनस्य मध्यम्। मध्याह्नम् (परि) परितः। सर्वतः। (दोहाः) पूर्त्तिप्रवाहाः (अस्य) म० ८। सर्वव्यापकस्य सर्वरक्षकस्य वा विष्णोः परमेश्वरस्य (संयन्ति) इण् गतौ। संगच्छन्ते (तान्) दोहान् (विद्म) विदो लटो वा। पा० ३। ४। ८३, इति मसो मादेशो वा। विद्मः। जानीमः (अनुपदस्वतः) म० ६। क्षयरहितान् ॥

१—(रोहणी) रुह प्रादुर्भावे-णिच्—ल्युट्, ङीप्। रोहयित्री पूरयित्री शक्तिः। नित्यवीप्सयोः। पा० ८। १। ४। इति द्विर्वचनम् (असि) भवसि (अस्थ्नः) अ० १। २३। ४। मांसाभ्यन्तरस्थस्य धातुविशेषस्य (छिन्नस्य)

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष विज्ञान पूर्वक अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को मिटावे जैसे सद्वैद्य रोहिणी वा लाक्षा [लाख वा लाह] आदि ओषधि से रोगों को निवृत्त करता है ॥ १ ॥

सायण भाष्य में (रोहणी) पदके स्थान में [रोहिणी] मानकर " लाक्षा" अर्थ किया है ॥

यत् ते रिष्टं यत् ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि ।
धाता तद् भद्रया पुनः सं दधत् परुषा परुः ॥ २ ॥

यत् । ते । रिष्टम् । यत् । ते । द्युत्तम् । अस्ति । पेष्ट्रम् । ते । आत्मनि । धाता । तत् । भद्रया । पुनः । सम् । दधत् परुषा । परुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यत्) जो कुछ (ते) तेरा (रिष्टम्) टूटा हुआ और (यत्) जो (ते) तेरा (द्युत्तम्) जलता हुआ, और जो (ते) तेरे (आत्मनि) शरीर में (पेष्ट्रम्) पिसा हुआ (अस्ति) है । (धाता) पोषण करने वाला वैद्य (भद्रया) कल्याण करने वाली क्रिया से (तत् परुः) उस जोड़ को (परुषा) दूसरे जोड़ से (पुनः) फिर (सं दधत्) सन्धि कर देवे ॥ २ ॥

भिन्नस्य (रोहणी) व्युत्पत्तिः पूर्ववत् । रोहणी पत्र रोहिणी, ओषधिविशेषः । तत्पर्यायाः शब्दकल्पद्रुमे । कटुम्भरा । सोमवल्कः । सोमवृक्षः । सायणमते तु रोहिणी लाक्षा नामौषधविशेषः (रोहय) प्ररोहय । पूरय (इदम्) इन्देः कमि नलोपश्च । उ० ४ । १५७ । इति इदि परमैश्वर्ये—कमिन् । परमैश्वर्यम् (अरुन्धति) नञ्+रुधिर् आवरणे—शतृ, ङीप् । हे अरोधनशीले । हे अवारयित्रि शक्ते ॥

२—(यत्) अङ्गम् (ते) तव (द्युत्तम्) द्योतते, ज्वलतिकर्मा—निघ० १ । १६ । द्योतितम् । प्रज्वलितम् (अस्ति) (पेष्ट्रम्) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । इति पिष्लृ चूर्णे-ष्ट्रन् । पिष्टम् । चूर्णितम् (आत्मनि) शरीरे (धाता) पोषयिता पुरुषः (तत्) सर्वमङ्गम् (भद्रया) कल्याण्या क्रियया

भावार्थ—विचारवान् पुरुष आप ही अपने दोषों का वैद्य होता है ॥ २ ॥

सं ते॑ म॒ज्जा म॒ज्ज्ञा भ॑वतु॒ समु॑ ते॒ परु॑षा॒ परुः॑ ।
सं ते॑ मां॒सस्य॒ विस्र॑स्तं॒ सम॒स्थ्यपि॑ रोहतु ॥ ३ ॥

सम् । ते॒ । म॒ज्जा । म॒ज्ज्ञा । भ॒व॒तु॒ । सम् । ऊं॒ इति॑ । ते॒ । परु॑षा । परुः॑ । सम् । ते॒ । मां॒सस्य॑ । वि-स्र॑स्तम् । सम् । अ॒स्थि॑ । अपि॑ । रो॒ह॒तु॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान्] (ते) तेरे (मज्जा) हाड़की मींग (मज्ज्ञा) हाड़ की मींगसे (संभवतु) मिल जावे (उ) और (ते परुः) तेरा जोड़ (परुषा) जोड़ से (सम्=संभवतु) मिल जावे । (ते) तेरे (मांसस्य) मांस का (विस्रस्तम्) हटा हुआ अंश (सम्=सं रोहतु) जुड़ जावे, और (अस्थि) हाड़ (अपि) भी (सं रोहतु) जुड़ कर ठीक होजावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने चंचल मन को ज्ञान प्राप्ति में ऐसा जोड़ दे जैसे वैद्य विचलित अवयवों को जोड़ देता है ॥ ३ ॥

म॒ज्जा म॒ज्ज्ञा सं धी॑यतां॒ चर्म॑णा॒ चर्म॑ रोहतु ।
असृ॑क् ते॒ अस्थि॑ रोहतु मां॒सं मां॒सेन॑ रोहतु ॥ ४ ॥

म॒ज्जा । म॒ज्ज्ञा । सम् । धी॒य॒ता॒म् । चर्म॑णा । चर्म॑ । रो॒ह॒तु॒ । असृ॑क् । ते॒ । अ॒स्थि॑ । रो॒ह॒तु॒ । मां॒सम् । मां॒सेन॑ । रो॒ह॒तु॒ ॥४॥

(पुनः) अवधारणे । द्वितीयवारे (संदधत्) संदधातु संयुनक्तु (परुषा) पर्वणा (परुः) पर्व । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(ते) तव (मज्जा) अ० १ । ११ । ४ । अस्थिमध्यस्थस्नेहः (मज्ज्ञा) अस्थिस्नेहेन (सं भवतु) संयुक्तो भवतु (उ) अपि (परुषा) पर्वणा (परुः) पर्व (मांसस्य) मन ज्ञाने धृतौ च—सप्रत्ययः । रक्तजधातुविशेषस्य (विस्रस्तम्) वि+स्रन्सु पतने—क्त । विचलितो भागः (अस्थि) शरीरस्थधातुविशेषः (अपि) (सं रोहतु) संहितं भवतु ॥

भाषार्थ—(मज्जा) हाड़ की मींग (मज्ज्ञा) हाड़ की मींग से (सं धीयताम्) मिल जावे, (चर्म) चाम (चर्मणा) चाम के साथ (रोहतु) जम जावे। (ते) तेरा (असृक्) रुधिर और (अस्थि) हाड़ (रोहतु) जमे, और (मांसम्) मांस (मांसेन) मांस के साथ (रोहतु) जमे ॥ ४॥

भावार्थ—मन्त्र ३ के समान ॥ ४ ॥

लोम॒ लोम्ना॒ सं क॑ल्पया त्व॒चा सं क॑ल्पया॒ त्वच॑म् ।
असृ॑क् ते॒ अस्थि॑ रोहतु छि॒न्नं सं धे॑ह्योषधे ॥ ५ ॥

लोम॑ । लोम्ना॑ । सम् । क॒ल्प॒य॒ । त्व॒चा । सम् । क॒ल्प॒य॒ । त्वच॑म् । असृ॑क् । ते॒ । अस्थि॑ । रो॒ह॒तु॒ । छि॒न्नम् । सम् । धे॒हि॒ । ओ॒ष॒धे॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे ताप नाशक ओषधि [के समान मनुष्य !] (लोम) रोम को (लोम्ना) रोम के साथ (सं कल्पय) जमा दे, (त्वचम्) त्वचा को (त्वचा) त्वचा के साथ (संकल्पय) जोड़ दे, (ते) तेरा (असृक्) रुधिर और (अस्थि) हाड (रोहतु) उगे, (छिन्नम्) टूटा अंग भी (संधेहि) अच्छे प्रकार मिला दे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर विचार से अपने दोषों की चिकित्सा करे जैसे वैद्य ओषधि से करते हैं ॥ ५ ॥

४—(मज्जा) अस्थिस्नेहः (मज्ज्ञा) अस्थिस्नेहेन (सं धीयताम्) संहितः संयुक्तो भवतु (चर्मणा) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। इति चर गतौ-मनिन्। शरीरावरणम् (चर्म) त्वचा (रोहतु) प्ररूढं भवतु संयुज्यताम् (असृक्) असु क्षेपे-ऋजिप्रत्ययः। असृयते क्षिप्यते इतस्ततो नाड़ीभिः। रुधिरः। अन्यत् सुगमम् ॥

५—(लोम) अ० ३। ३३। ७। देहजातं केशाकारं द्रव्यम्। रोम। (लोम्ना) रोम्णा (संकल्पय) संक्लृप्तं पुनः स्वस्थानगतं कुरु। संयोजय (त्वचा) चर्मणा (त्वचम्) चर्म (छिन्नम्) भिन्नमङ्गम् (सं धेहि) संहितं संश्लिष्टं व्यापारक्षमं कुरु। अन्यत् पूर्ववत् ॥

स उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः।
प्रति तिष्ठोर्ध्वः ॥ ६ ॥

सः । उत् । तिष्ठ । प्र । इहि । प्र । द्रव । रथः । सु-चक्रः । सु-पविः । सु-नाभिः । प्रति । तिष्ठ । ऊर्ध्वः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सः=स त्वम्) सो तू (उत्तिष्ठ) उठ, (प्रेहि) आगे बढ़, (सुचक्रः) सुन्दर पहिये वाले, (सुपविः) दृढ़ नेमि वा पुट्ठी वाले, (सुनाभिः) सुन्दर मध्य छिद्र वाले (रथः) रथ [के समान] (प्र द्रव) वेग से चल और (ऊर्ध्वः) ऊंचा होकर (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठित हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक आगे बढ़कर प्रतिष्ठा प्राप्त करे जैसे उत्तम शिल्पी का बनाया हुआ सुदृढ़ रथ अन्य रथों से आगे निकल जाता है ॥ ६ ॥

यदि कुर्तं पंतित्वा संशुश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जुघानं ।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दंधत् परुषा परुः ॥ ७ ॥

यदि । कर्तम् । पतित्वा । सम्-शश्रे । यदि । वा । अश्मा । प्र-हृतः । जघानं । ऋभुः । रथस्य-इव । अङ्गानि । सम् । दधत् । परुषा । परुः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यदि) यदि (कर्तम्) कटारी आदि हथियार ने (पतित्वा)

६—(सः) तादृशो विचारवान् त्वम् (उत्तिष्ठ) उद्गच्छ । सावधानो भव (प्रेहि) प्रकर्षेण गच्छ (प्रद्रव) प्रधाव (रथः) हनिकुषिनीरमि० । उ० २।२ । इति रमु क्रीडायाम्, वा रंहतेर्गतिकर्मणः कथन् । रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वास्याद् विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा रपतेर्वा रसतेर्वा—निरु ९। ११ । वेगवान् । स्यन्दनो यथा (सुचक्रः) सुदृढैश्चक्रैर्युक्तः (सुपविः) सुदृढः पविर्नेमिश्चक्रधारा यस्य स तथोक्तः (सुनाभिः) दृढया नाभ्या, अक्षच्छिद्रेण युक्तः (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठितो भव (ऊर्ध्वः) उत्थितः सन् ॥

७—(यदि) पक्षान्तरे । सम्भावनायाम् (कर्तम्) कृती छेदने-घञ् ।

गिर कर (संशश्रे) काट कर दिया है, (यदि वा) अथवा (प्रहृतः) फेंके हुये (अश्मा) पत्थर ने (जघान) चोट लगाई है । (ऋभुः) बुद्धिमान् पुरुष (रथस्य अङ्गानि इव) रथ के अंगों के समान (परुः) एक जोड़ को (परुषा) दूसरे जोड़ से (सं दधत्) मिला देवे ॥ ७ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष अपने विचलित मन को इस प्रकार ठीक करे, जैसे चिकित्सक चोट को, और शिल्पी टूटे रथ को फिर जोड़कर सुधार लेते हैं ॥ ७ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१—७ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

स्वास्थ्यरक्षोपदेशः—स्वास्थ्य रक्षा का उपदेश

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ १ ॥

उत । देवाः । अव-हितम् । देवाः । उत् । नयथ । पुनः । उत । आगः । चक्रुषम् । देवाः । देवाः । जीवयथ । पुनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे व्यवहार कुशल (देवाः) विद्वान् लोगो । (अव-हितम्) अधोगत पुरुष को (उत) अवश्य (पुनः) फिर (उन्नयथ) तुम उठाते हो । (उत) और भी, (देवाः) हे दानशील (देवाः) महात्माओ ! (आगः)

कर्तकं छेदकमायुधम् । कर्त्तरी । कृपाणी (पतित्वा) अधः प्राप्य (संशश्रे) शॄ हिंसायाम्—लिट् । संशृणाति स्म । संहिनस्ति स्म (यदि वा) अपि वा (अश्मा) प्रस्तरः (प्रहृतः) प्रक्षिप्तः (जघान) हन—लिट् । हतवान् (ऋभुः) अ० १ । २ । ३ । मेधावी—निघ० ३ । ५ (रथस्य) (इव) यथा (अङ्गानि) अक्षचक्रेषायुगादीनि (सं दधत्) संदधातु । संयोजयतु (परुषा) पर्वान्तरेण (परुः) पर्व ॥

१— (उत) निश्चयेन (देवाः) हे व्यवहारकुशलाः (अव हितम्) अव परिभवे + धाञ्—क्त । अधोधृतम् । अवनीतं पुरुषम् (देवाः) दिव्यगुणवन्तो विद्वांसः (उन्नयथ) उन्नतं कुरुथ (पुनः) (उत) अपि च (आगः) इण

अपराध (चक्रुषम्) करने वाले प्राणी को (पुनः) फिर (जीवयथ) तुम जिलाते हो ॥ १ ॥

भावार्थ—महात्मा लोग स्वभाव से ही अधोगत पुरुषों को ऊंचा करते और मृतक समान अपराधियों को पाप से छुड़ा कर उन का जीवन सुफल कराते हैं। मनुष्य सत्पुरुषों के सत्सङ्ग से अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को त्याग कर जीवन सुधारें ॥ १ ॥

इस सूक्त के मन्त्र १—५, ७ ऋग्वेद १० । १३७ के म० १—५, ७ कुछ भेद से हैं ॥

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः ।
दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद्रपः ॥ २ ॥

द्वौ । इमौ । वातौ । वातः । आ । सिन्धोः । आ । परा-वतः ।
दक्षम् । ते । अन्यः । आ-वातु । वि । अन्यः । वातु । यत् । रपः ॥२

भाषार्थ—(इमौ) यह (द्वौ) दोनों (वातौ) पवन, अर्थात् प्राण और अपान वायु (आसिन्धोः) बहने वाले इन्द्रियदेश तक और (आ परावतः) बाहिर दूर स्थान तक (वातः) चलते रहते हैं। (अन्यः) एक [प्राण वायु) (ते) तेरा (दक्षम्) वृद्धि करने वाले बल को (आवातु) बह कर लावे और (अन्यः) दूसरा [अपान वायु] (यत् रपः) जो दोष है उसे (विवातु) बहकर निकाल देवे ॥ २ ॥

आगोऽपराधे च । उ० ४ । २१२ । इति इण् गतौ—असुन्, आगादेशः । अपराधम् (चक्रुषम्) करोतेर्लिटः क्वसुः । अमि भत्वाभावेऽपि छान्दसं वसोः संप्रसारणम् । चकृवांसम् । कृतवन्तं पुरुषम् (देवाः) हे दानशीलाः (देवाः) महात्मानः (जीवयथ) जीवनवन्तं कुरुथ ॥

२—(द्वौ) (इमौ) दृश्यमानौ (वातौ) पवनौ । प्राणापानौ (वातः) वा गतिगन्धनयोः । गच्छतः संचरतः (आसिन्धोः) मर्यादायामाकारः । स्यन्दनशील-नाडीदेशपर्यन्तम् (आ परावतः) शरीराद् बाह्यदेशपर्यन्तम् (दक्षम्) दक्ष । वृद्धौ—अच वृद्धिकरं बलम् (ते) तव (अन्यः) एकः प्राणवायुः (आवातु)

भावार्थ—मनुष्य शुद्ध स्थान में शुद्ध वायु के सेवन से प्राण वायु के सञ्चार द्वारा शरीर का बल बढ़ाकर और अपान से पसीना आदि मल दोष नाश करके स्वस्थ रहें ॥ २॥

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः ।
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥

आ । वात । वाहि । भेषजम् । वि । वात । वाहि । यत् । रपः ।
त्वम् । हि । विश्व-भेषज । देवानाम् । दूतः । ईयसे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वात) हे वायु (भेषजम्) स्वास्थ्य को (आ वाहि) बह कर ला और, (वात) हे वायु (यत् रपः = यत् रपः तत्) जो दोष है उसे (विवाहि) वह कर निकाल दे (हि) क्योंकि (विश्वभेषज) हे सर्व रोग-नाशक वायु ! (त्वम्) तू (देवानाम्) इन्द्रियों, विद्वानों और सूर्यादि लोकों के बीच (दूतः) चलने वाला वा दूत [समान सन्देश पहुंचाने वाला] होकर (ईयसे) फिरता रहता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—वायु के संचार से शरीर का मल निकलकर स्वास्थ्य मिलता है और तार, विमान, ताप, वृष्टि आदि का संचार होता है ॥ ३ ॥

आगमयतु (अन्यः) द्वितीयोऽपानवायुः (वि वातु) विगमयतु । निवारयतु (यत्) (रपः) रप कथने—असुन् । रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः—निरु० ४ । २१ । पापम् दोषम् ॥ २ ॥

३—(वात) हे वायो ! (आ वाहि) आवह । आगमय (भेषजम्) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति भिषज्—अण् । निपातनाद् गुणः । भिषजो वैद्यस्येदम् । स्वास्थ्यम् । (वि वाहि) विगमय । विनाशय (यत्) यत्किञ्चित् (रपः) पापम् । दोषः (हि) यस्मात् कारणात् (विश्वभेषज) भेषं भयं जयतीति । जि—ड । सर्वव्याधिनिवर्तक वायो ! (देवानाम्) इन्द्रियाणां विदुषां सूर्यादीनां च मध्ये (दूतः) दुतनिभ्यां दीर्घश्च । उ० ३ । ९० । इति दु गतौ उपतापे वा—कर्त्तरि क्त । गन्ता । यद्वा दूतवत्सन्देशहरः (ईयसे) ईङ् गतौ—श्यन् । संचरसि ॥

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः ।
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् ॥ ४ ॥

त्रायन्ताम् । इमम् । देवाः । त्रायन्ताम् । मरुताम् । गणाः ॥
त्रायन्ताम् । विश्वा । भूतानि । यथा । अयम् । अरपाः । असत् ॥४॥

भाषार्थ—(देवाः) इन्द्रियां (इमम्) इस [जीव] की (त्रायन्ताम्) रक्षा करें, और (मरुताम्) पवनों [श्वास प्रश्वासों] के (गणाः) प्रवाह (त्रायन्ताम्) रक्षा करें। और (विश्वा=०—नि) सब (भूतानि) पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, पांच तत्त्व (त्रायन्ताम्) रक्षा करें, (यथा) जिस से (अयम्) यह [प्राणी] (अरपाः) दोष रहित (असत्) रहे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रियों के शोधन और श्वास प्रश्वास के यथावत् प्राणायाम से पंच भूतों को सम रख कर सदा हृष्ट पुष्ट रहें ॥ ४ ॥

आ त्वागमं शंतातिभिरथो अरिष्टतातिभिः ।
दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥५॥

आ । त्वा । अगमम् । शंताति-भिः । अथो इति । अरिष्ट-ताति-भिः । दक्षम् । ते । उग्रम् । आ । अभारिषम् । परा । यक्ष्मम् । सुवामि । ते ॥ ५ ॥

४—(त्रायन्ताम्) रक्षन्तु (इमम्) प्राणिनम् (देवाः) इन्द्रियाणि (मरुताम्) वायूनां श्वासप्रश्वासानाम् (गणाः) समूहाः । प्रवाहाः (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भूतानि) पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि (यथा) येन प्रकारेण (अयम्) देहस्थो जीवः (अरपाः) न विद्यन्ते रपांसि पापानि यस्मिन्निति बहुव्रीहौ । नञ्सुभ्याम् । पा० ६ । २ । १७२ । इति उत्तरपदान्तोदात्तः । अपापः । निर्दोषः (असत्) लेट् । भवेत् ॥

भाषार्थ—[हे प्राणी !] (त्वा) तुझ को (शन्तातिभिः) शान्तिदायक कर्मों से (अथो) और भी (अरिष्टतातिभिः) अहिंसाकारक कर्मों से (आगमम्) मैं प्राप्त हुआ हूं । (ते) तेरे लिये (उग्रम्) उग्र (दक्षम्) वृद्धिकारक बल (आ अभारिषम्) मैं लाया हूं, [उससे] (ते) तेरे (यक्ष्मम्) महारोग को (परा सुवामि) दूर हटाता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य श्वास प्रश्वास और पंच भूतों की यथावत् समता और ब्रह्मचर्य आदि शुभ कर्मों द्वारा दुष्कर्मों से बच कर बलवान् धनवान् और नीरोग होवे ॥ ५ ॥

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ ६ ॥

अयम् । मे । हस्तः । भग-वान् । अयम् । मे । भगवत्-तरः ।
अयम् । मे । विश्व-भेषजः । अयम् । शिव-अभिमर्शनः ॥६॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (मे) मेरा (हस्तः) [बायां] हाथ (भगवान्) भाग्यवान् है, और (अयम्) यह (मे) मेरा [दायां हाथ] (भगवत्तरः) अधिक भाग्यवान् है । (अयम्) यह (मे) मेरा [हाथ] (विश्वभेषजः) सर्वरोगनाशक, और (अयम्) यह (शिवाभिमर्शनः) छूने में मंगल दायक है ॥६॥

५—(त्वा) त्वां प्राणिनम् (आगमम्) गमेर्लुङि रूपम् । आगतवान् प्राप्तवानस्मि (शंतातिभिः) शिवशमरिष्टस्य करे । पा० ४ । ४ । १४३ । इति करणेऽर्थे तातिल् प्रत्ययः । लिति । पा० ६ । १ । १९३ । इति प्रत्ययपूर्व उदात्तः । शंकरैः सुखकरैः कर्मभिः (अथो) अपि च (अरिष्टतातिभिः) पूर्ववत् तातिल्, उदात्तत्वं च । अरिष्टम् अहिंसा । तत्करैः श्रेयोहेतुभिः कर्मभिः (दक्षम्) वृद्धिकरं बलम् (ते) तुभ्यम् (उग्रम्) उद्गूर्णम् । तीव्रम् (आ अभारिषम्) हस्य भकारः । आहार्षम् । आहृतवानस्मि । आनैषम् (यक्ष्मम्) महारोगम् (परा सुवामि) षू प्रेरणे, तौदादिकः । पराङ्मुखं प्रेरयामि (ते) तव ॥

६—(अयम्) [illegible] वामहस्तः (मे) मदीयः (हस्तः) करः (भगवान्) भाग्यवान् । समर्थः (अयम्) दक्षिणहस्तः (भगवत्तरः) वामहस्ताद्

भावार्थ—मनुष्य श्वास प्रश्वास और पंच भूतों के परिज्ञान से स्पर्श द्वारा रोगों का निदान करके शरीर को रोग रहित और पुष्ट करे ॥ ६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १० । सू० ६ । म० १२ ।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी ।

अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥७॥

हस्ताभ्याम् । दश-शाखाभ्याम् । जिह्वा । वाचः । पुरः-गवी । अनामयित्नु-भ्याम् । हस्ताभ्याम् । ताभ्याम् । त्वा । अभि । मृशामसि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(दशशाखाभ्याम्) दश शाखा वाले (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों के द्वारा (जिह्वा) जिह्वा (वाचः) वाणी की (पुरोगवी) आगे लेचलने वाली है । (ताभ्याम्) उन (अनामयित्नुभ्याम्) आरोग्य देने वाले (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों से (त्वा) तुझ को (अभि मृशामसि) हम छूते हैं ॥७॥

भावार्थ—मनुष्य प्राण अपान और पंच भूत परीक्षा द्वारा दस अंगुलियों से दस इन्द्रियों और दस दिशाओं का ज्ञान प्राप्त करके दुःख की निवृत्ति और सुख की प्रवृति करें ॥ ७ ॥

अधिकभाग्यवान् (विश्वभेषजः) सर्वरोगनिवर्तकः (शिवाभिमर्शनः) मङ्गलस्पर्शयुक्तः । सुखस्पर्शः ॥

७—(हस्ताभ्याम्) कराभ्याम् (दशशाखाभ्याम्) दश अङ्गुलयः शाखाभूता ययोस्तादृशाभ्याम् (जिह्वा) रसना (वाचः) वाण्याः (पुरोगवी) गोरतद्धितलुकि । पा०५।४ । ६२ । इति पुरस्+गो समासे टच्, स्त्रियां ङीप् , अन्तर्गतण्यर्थः । पुरो अग्रे गौर्गमयित्री (अनामयित्नुभ्याम्) अनामय-इत्नुच् । अनामयशीलाभ्याम् ।आरोग्यहेतुभ्याम् (त्वा) त्वां प्राणिनम् (अभि मृशामसि) इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मसः स्थाने मसि । अभितः स्पृशामः ॥

सूक्तम् १४ ॥

१-८ ॥ अग्निर्देवता ॥ १, ५-७त्रिष्टुप् । २, ४ अनुष्टुप् । ३ प्रस्तारपङ्क्तिः । ८ पञ्चपदा जगती, ९ जगती ॥

ब्रह्मप्राप्त्युपदेशः—ब्रह्म की प्राप्ति का उपदेश ॥

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकात् सो अपश्यज्जनितारमग्रे । तेन देवा देवतामग्र आयन् तेन रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः ॥ १ ॥

अजः । हि । अग्नेः । अजनिष्ट । शोकात् । सः । अपश्यत् । जनितारम् । अग्रे । तेन । देवाः । देवताम् । अग्रे । आ । अयन् । तेन । रोहान् । रुरुहुः । मेध्यासः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अजः) अजन्मा, वा गतिशील, अज अर्थात् जीवात्मा (शोकात) दीप्यमान (अग्नेः) सर्वव्यापक अग्नि अर्थात् परमेश्वर से (हि) ही (अजनिष्ट) प्रकट हुआ। (सः) उस (जीवात्मा) ने (अग्रे) पहिले से वर्तमान (जनितारम्) अपने जनक [परमात्मा] को (अपश्यत्) देखा। (तेन) उस [ज्ञान] से (देवाः) देवताओं ने (अग्रे) पहिले कालमें (देवताम्) देवतापन (आयन्) पाया, (तेन) उस से ही (मेध्यासः) मेधावी वा पवित्रस्वभाव पुरुष (रोहान्) चढ़ने योग्य पदों पर (रुरुहुः) चढ़े ॥ १ ॥

१—(अजः) न जायते यः। नञ्+जन-ड। यद्वा, अज गतिक्षेपणयोः, अच्। अजन्मा। गतिशीलः। जीवात्मा—इति शब्दस्तोममहानिधिः (हि) निश्चयेन (अग्नेः) अगि गतौ-नि। सर्वव्यापकात् परमेश्वरात् (अजनिष्ट) प्रादुरभूत् (शोकात्) शुच शौचे, शोके च-घञ्। दीप्यमानात्—इति महीधरः य० १३। ५१। (सः) अजः। जीवात्मा (अपश्यत्) दृष्टवान् (जनितारम्) जनयितारं स्वोत्पादकं प्रजापतिम् अग्निम् (अग्रे) सृष्टेः प्राग् वर्तमानम् (तेन) जनयितृज्ञानेन (देवाः) विद्वांसः। महात्मानः (देवताम्) तस्य भावस्त्वतलौ-पा० ५। १

भावार्थ—मनुष्य आदि पिता जगदीश्वर से अपना शरीर और सामर्थ्य पाकर अपने जन्म और वंश का गौरव बढ़ाते हैं, जैसे पूर्वज महात्माओं ने परमात्मा की महिमा पहचानकर मोक्ष आदि उच्च पद पाये हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद १३।५१ में है ॥

क्रमंध्वम॒ग्निना॒ नाक॒मुख्या॑न् हस्ते॑षु॒ बिभ्र॑तः ।
दि॒वस्पृ॒ष्ठं स्व॑र्ग॒त्वा मि॒श्रा दे॒वेभि॑राध्वम् ॥ २ ॥

क्रम॑ध्वम् । अ॒ग्निना॑ । नाक॑म् । उख्या॑न् । हस्ते॑षु । बिभ्र॑तः ।
दि॒वः । पृ॒ष्ठम् । स्वः॑ । ग॒त्वा । मि॒श्राः । दे॒वेभिः॑ । आ॒ध्व॒म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे वीरो !] (उख्यान्) पके हुये आहारों को (हस्तेषु) हाथों में (बिभ्रतः) भरे हुये तुम (अग्निना) अग्नि अर्थात् परमेश्वर के सहारे से [अथवा अपने शरीर की उष्णता वा बल से] (नाकम्) पूर्ण सुख (क्रमध्वम्) पराक्रम से प्राप्त करो। और (देवेभिः) विद्वानों के साथ (मिश्राः) मिलते हुये तुम (दिवः) व्यवहार के (पृष्ठम्) सींचने वा बढ़ानेवाले अथवा पीठ के समान सहायक (स्वः) सुख स्वरूप परमात्मा को (गत्वा) प्राप्त होकर (आध्वम्) बैठो ॥ २ ॥

१५६। इति तल्। देवभावम्। दिव्यगुणताम् (अग्रे) अस्मत्पूर्वकाले वर्त्तमानाः (आयन्) इण् गतौ-लङ्। प्राप्नुवन् (रोहान्) रुह-घञ्। आरोहणीयान् सुखलोकान् (रुरुहुः) आरूढवन्तः (मेध्यासः) उगवादिभ्यो यत्। पा० ५। १। २। इति मेधा-यत्। असुगागमः। मेधायै हिताः। मेध्याः। मेधाविनः। पवित्राः पुरुषाः ॥

२—(क्रमध्वम्) पराक्रमेण प्राप्नुत (अग्निना) परमेश्वरसहायेन। यद्वा स्वशरीरस्थेन उष्णत्वेन (नाकम्) अकेन दुःखेन रहितं पूर्णसुखम् (उख्यान्) शूलोखाद्यत्। पा० ४। २। १७ इति उखा—"संस्कृतं भक्षाः"—इत्यर्थे यत्। उखायां पाकपात्रे संस्कृतान् आहारान् (हस्तेषु) करेषु दानाय (बिभ्रतः) धरन्तः (दिवः) व्यवहारस्य (पृष्ठम्) तिथपृष्ठयूथ० । उ० २। १२। इति पृषु सेके—थक्। सेचकं वर्धकम्। यद्वा पृष्ठवत् सहायकम् (स्वः) सुखस्वरूपं

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की अपार सृष्टि में पुरुषार्थ पूर्वक परोपकार के लिये अन्न प्राप्त करें और विद्वानों से व्यवहार शिक्षा पाकर आनन्द भेगें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से य० १७ । ६५ में है ॥

पृष्ठात् पृ॑थि॒व्या अ॒हम॒न्तरि॑क्ष॒मारु॑हम॒न्तरि॑क्षा॒द् दिव॒मारु॑हम् । दि॒वो नाक॑स्य पृ॒ष्ठात् स्व॑१॒ र्ज्योति॑रगाम॒हम् ॥ ३ ॥

पृ॒ष्ठात् । पृ॒थि॒व्याः । अ॒हम् । अ॒न्तरि॑क्षम् । आ । अ॒रु॒ह॒म् । अ॒न्तरि॑क्षात् । दिव॑म् । आ । अ॒रु॒ह॒म् । दि॒वः । नाक॑स्य । पृ॒ष्ठात् । स्व॑ः । ज्योतिः । अ॒गा॒म् । अ॒हम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (पृथिव्याः) पृथिवी के (पृष्ठात्) पृष्ठ से (अन्तरिक्षम्) मध्य लोक, आकाश को (आ अरुहम्) चढ़ गया, (अन्तरिक्षात्) आकाश लोक से (दिवम्) सूर्य लोक को (आ अरुहम्) मैं चढ़ गया। (नाकस्य) सुख देने हारे (दिवः) प्रकाशमान सूर्य लोक के (पृष्ठात्) पृष्ठ से (अहम्) मैंने (स्वः) सुख स्वरूप और (ज्योतिः) ज्योति स्वरूप परमात्मा को (अगाम्) प्राप्त किया ॥ ३ ॥

भावार्थ—योगी पुरुष विद्याभ्यास और योगभ्यास से पृथिवी, अन्तरिक्ष

परमात्मनम् (गत्वा) प्राप्य (मिश्राः) मिश्रिताः । मिलिताः सन्तः (देवेभिः) देवैः । विद्वद्भिः (आध्वम्) आस उपवेशने—लोट् । उपविशत ॥

३—(पृष्ठात्) तलात् (पृथिव्याः) भूमेः (अहम्) विद्वान् योगी जनः (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (आ अरुहम्) रुह–लुङ् । आरूढवान् (अन्तरिक्षात्) आकाशात् (दिवम्) प्रकाशमानं सूर्यम् (दिवः) सूर्यस्य (नाकस्य) सुखनिमित्तस्य अन्धकारनाशकत्वात् (पृष्ठात्) उपरिभागात् (स्वः) सुखस्वरूपम्

और सूर्य लोक में खोजता हुआ तुरीय अर्थात् इन तीनों से चौथे आनन्दघन, ज्योतिः स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त करके ब्रह्मानन्द में मग्न होजाता है ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजु० १७। ६७ में है ॥

स्वः॑ यन्तो नापे॑क्षन्त॒ आ द्यां रो॑हन्ति॒ रोद॑सी ।
य॒ज्ञं ये वि॒श्वतो॑धारं सु॒विद्वां॑सो वितेनि॒रे ॥ ४ ॥

स्वः॑ । यन्तः॑ । न । अप॑ । ई॒क्ष॒न्ते॒ । आ । द्याम् । रो॒ह॒न्ति॒ । रोद॑सी॒ इति॑ । य॒ज्ञम् । ये । वि॒श्वतः॑-धारम् । सु॒-विद्वां॑सः । वि॒-ते॒नि॒रे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (सुविद्वांसः) बड़े विद्वान् योगी जन (द्याम्) अन्तरिक्ष और (रोदसी) सूर्य और पृथिवी लोक तक (आरोहन्ति) चढ़ते हैं, और जिन्होंने (विश्वतोधारम्) सब प्रकार से धारण शक्ति वाले (यज्ञम्) देव अर्थात् ब्रह्म के पूजन को (वितेनिरे) फैलाया है, वे ही योगी पुरुष (यन्तः न) चलते फिरते उद्योगी पुरुषों के समान (स्वः) सुख स्वरूप परब्रह्म को (अपेक्षन्ते) हृदय से चाहते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् योगी जन संसार के सब पदार्थों के विज्ञानी होकर परमात्मा की महिमा को विचारते हैं, वे ही उससे प्रीति करके आत्मबल पाकर यशस्वी होते हैं ॥ ४ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—अ० १७ म० ६८ ॥

(ज्योतिः) ज्योतिः स्वरूपं परमात्मानम् (अगम्) इण् गतौ—लुङ् । आगमम् । प्राप्तवान् ॥

४—(स्वः) सुखस्वरूपं परब्रह्म (यन्तः) गच्छन्तः । उद्योगिनः पुरुषाः (न) इव—निरु० ३ । १५ । (अप ईक्षन्ते) अप+ईक्ष दर्शने । आकाङ्क्षन्ति । समालोकन्ते ते सुविद्वांसः (द्याम्) अन्तरिक्षम् (आ रोहन्ति) आरूढा भवन्ति ये सुविद्वांसः (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ च (यज्ञम्) देवस्य परब्रह्मणः पूजनम् (ये) (विश्वतोधारम्) सर्वतो धाराभिर्धारणशक्तिभिर्युक्तम् (सुविद्वांसः) सुष्ठु विशेषेण कर्मप्रकारं जानन्तः पण्डिता योगिनः (वितेनिरे) तनु—लिट् । विस्तारितवन्तः ॥

अग्ने॒ प्रेहि॑ प्र॒थ॒मो दे॒व॒ता॒नां॒ चक्षु॑र्दे॒वाना॑मु॒त मानु॑-
षाणाम्। इ॒यक्ष॑माणा॒ भृगु॑भिः स॒जोषाः॒ स्व॑र्यन्तु॒ यज॑-
मानाः स्व॒स्ति ॥ ५ ॥

अग्ने॑। प्र। इ॒हि॒। प्र॒थ॒मः। दे॒व॒ताना॑म्। चक्षुः॑। दे॒वाना॑म्।
उ॒त। मानु॑षाणाम्। इ॒यक्ष॑माणाः। भृगु॑-भिः। स॒-जोषाः॑।
स्वः॑। य॒न्तु॒। यज॑मानाः। स्व॒स्ति ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन्! (प्रेहि) प्राप्त हो, तू (देवतानाम्) सब विद्वानों में (प्रथमः) पहिला, और (देवानाम्) सूर्य आदि लोकों का (उत) और भी (मानुषाणाम्) मनुष्य जातियों का (चक्षुः) नेत्र [के समान देखने वाला] है। (इयक्षमाणाः) संगति चाहने वाले, (भृगुभिः) परिपक्व विज्ञानी वेदज्ञ ब्राह्मणों के साथ (सजोषाः) एकसी प्रीति करते हुये, (यजमानाः) दानशील यजमान लोग (स्वः) सुख स्वरूप परब्रह्म और (स्वस्ति) कल्याण को (यन्तु) प्राप्त होवें ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब का आदि गुरु है वही सब का साक्षी और नियन्ता है, पुरुषार्थी सदाचारी पुरुष विज्ञानी महात्माओं के सत्संग से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करके परमगति प्राप्त करें।

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १७। ६६ ॥

५—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमात्मन्! (प्रेहि) प्रगच्छ। अस्मान् प्राप्नुहि (प्रथमः) आदिमः। मुख्यः (देवतानाम्) देव-स्वार्थे तल्। देवानां विदुषाम् (चक्षुः) नेत्रवद् द्रष्टा (देवानाम्) सूर्यादिलोकानाम् (उत) अपि च (मानुषाणाम्) मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च। पा० ४। १। १६१। इति मनु-अञ्, षुगागमः। मनुष्यजातीनाम् (इयक्षमाणाः) यजेः सन्। सन्यतः। पा० ७। ४। ७६। इति अभ्यासाकारस्य इकारः, यलोपश्छान्दसः। यियक्षमाणाः। यष्टुं संगन्तुमिच्छन्तः (भृगुभिः) अ० २। ५। ३। परिपक्वविज्ञानैः। अनूचानब्राह्मणैः। (सजोषाः) जुषी प्रीतिसेवनयोः—घञ्। समानस्य सभावः। समानप्रीतयः। प्रतिमन्तः (स्वः) सुखस्वरूपं परब्रह्म (यन्तु) प्राप्नुवन्तु (यजमानाः) यज—शानच्। दानशीलाः (स्वस्ति) कल्याणं च ॥

अ॒जम॑न॒ज्मि॒ पय॑सा घृ॒तेन॑ दि॒व्यं सु॑प॒र्णं प॑य॒सं बृ॒ह- न्त॑म्। तेन॑ गेष्म सु॒कृ॒तस्य॑ लो॒कं स्व॑रा॒रोह॑न्तो अ॒भि नाक॑मुत्त॒मम् ॥ ६ ॥

अ॒जम्। अ॒न॒ज्मि॒। पय॑सा। घृ॒तेन॑। दि॒व्यम्। सु॒ऽप॒र्णम्। प॒य॒सम्। बृ॒हन्त॑म्। तेन॑। गे॒ष्म॒। सु॒ऽकृ॒तस्य॑। लो॒कम्। स्व॑ः। आ॒ऽरोह॑न्तः। अ॒भि। नाक॑म्। उ॒त्ऽत॒मम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(दिव्यम्) दिव्य गुणवाले, (सुपर्णम्) बड़े पूर्ण शुभ लक्षण वाले (पयसम्) गतिवान् वा उद्योगी (बृहन्तम्) बड़े बली (अजम्) जीवात्मा को (घृतेन) प्रकाशमान (पयसा) ज्ञान से (अनज्मि) मैं [मनुष्य] संयुक्त करता हूं। (तेन) उस [ज्ञान] से (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) दुःख रहित (स्वः) सुख स्वरूप परब्रह्म को (अभि=अभिलक्ष्य) लख कर (आरोहन्तः) चढ़ते हुये हम (सुकृतस्य लोकम्) पुण्य लोक को (गेष्म) खोजें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की दी हुई अद्भुत शक्तियों से अपना ज्ञान बढ़ावे, और उस आनन्दस्वरूप जगत्पति की अनन्त महिमा को खोजता हुआ निरन्तर उन्नति करके मोक्ष पद प्राप्त करे ॥ ६ ॥

६-(अजम्) म० १। अजनशीलम् जीवात्मानम् (अनज्मि) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु। म्रक्षयामि। मिश्रयामि (पयसा) पय गतौ-असुन्। ज्ञानेन (घृतेन) घृ भासे, सेके च-क्त। प्रकाशमानेन (दिव्यम्) प्रकाशार्हम्। मनोहरम् (सुपर्णम्) पॄ पूर्तिपालनयोः-न। शोभनानि पर्णानि पूर्णानि शुभलक्षणानि यस्य तम्-यथा दयानन्दभाष्ये य०१७।७२ (पयसम्) अत्यविचमि०। उ०३।११७। इति पय गतौ—असच्। गतिशीलम्। उद्योगिनम् (बृहन्तम्) महान्तं बलिनम् (तेन) उक्तप्रकारेण (गेष्म) अ० ४।११।६। अन्विच्छाम (सुकृतस्य) शुभकर्मणः (लोकम्) स्थानम् अ० ४।११।६।(स्वः) सुखस्वरूपं परब्रह्म (आरोहन्तः) रुह-शतृ। अधिरोहन्तः (अभि) अभिलक्ष्य (नाकम्) दुःखशून्यम् (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्टम् ॥

पञ्चौ॑दनं प॒ञ्चभि॑र॒ङ्गुलि॑भि॒र्दर्व्योद्ध॑र पञ्च॒धैतमो॑द॒नम् । प्राच्यां॑ दि॒शि शिरो॑ अ॒जस्य॑ धेहि॒ दक्षि॑णायां दि॒शि दक्षि॑णं धेहि पा॒र्श्वम् ॥ ७ ॥

पञ्च॑-ओदनम् । प॒ञ्च-भिः॑ । अ॒ङ्गु॒लि-भिः॑ । दर्व्या॑ । उत् । ह॒र॒ । प॒ञ्च॒-धा । ए॒तम् । ओ॒द॒नम् । प्राच्या॑म् । दि॒शि । शिरः॑ । अ॒ज॒स्य॑ । धे॒हि॒ । दक्षि॑णायाम् । दि॒शि । दक्षि॑णम् । धे॒हि॒ । पा॒र्श्वम् ॥७॥

भाषार्थ—(एतम्) इस (पञ्चधा) पांच प्रकार पर (पञ्चौदनम्) पांच भूतों से सींचे हुये (ओदनम्) वृद्धि करने वाले आत्मा को (पञ्चभिः) विस्तृत (अङ्गुलिभिः) चेष्टाओंके साथ (दर्व्या) विदारण वा पृथक् करण शक्ति से (उद्धर=उत्‌हर) ऊपर ला, (प्राच्याम्) अपने से पूर्व वा सन्मुख (दिशि) दिशा में (अजस्य) जीवात्मा का (शिरः) शिर (धेहि) धर, (दक्षिणायाम् दिशि) दक्षिण दिशा में (दक्षिणम्) दाहिने (पार्श्वम्) कक्षाके नीचे भाग को (धेहि) धर ॥ ७ ॥

७—(पंचौदनम्) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ । इति पचि व्यक्तीकरणे विस्तारे च-कनिन् । उन्देर्नलोपश्च । उ० २ । ७६ । इति उन्दी क्लेदने-युच् । ओदनो मेघः-निघ० १ । १० । ओदनमुदकदानं मेघम्-निरु० ६ । ३४ । पंचभिर्भूतैः ओदनः सेचनं यस्य तम् (पंचभिः) विस्तृताभिः (अङ्गुलिभिः) ऋतन्यञ्जि० । उ० ४ । २ । इति अङ्ग पदे=चेष्टायाम्-उलिप्रत्ययः । अंगुलयः कस्मादग्रगामिन्यो भवन्तीति वाग्रगालिन्यो भवन्तीति वाग्रकारिण्यो भवन्तीति वाङ्कना भवन्तीति वाञ्चना भवन्तीति वापि वाभ्यञ्चनादेव स्युः । निरु० ३ । ८ । चेष्टाभिः (दर्व्या) वृदृभ्यां विन् । उ० ४ । ५३ । इति दॄ विदारणे विन्, ङीष् । विदारणशक्त्या । वियोगशक्त्या (उद् हर) उद्धृत्य स्थापय (पंचधा) पंचप्रकारेण विभज्य (एतम्) आ—इण्-क्त । आगतं दृश्यमानं वा (ओदनम्) व्याख्यातम् । सेचनसमर्थं यद्वा, अन्नवद् वृद्धिकरम् आत्मानम् (प्राच्याम्) अ० ३ । २६ । १ । स्वस्थानात् पूर्वस्याम् । स्वाभिमुखी भूतायाम् (दिशि) दिशायाम् (शिरः) अ० २ । २५ । २ । मस्तकम् (अजस्य) म० १ । अजन-

भावार्थ—पंच भूत निर्मित स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर वाला आत्मा इन्द्रियों सहित रहता है। योगी विवेक दृष्टि द्वारा आत्मा को स्थूल: शरीर से पृथक् करे, और आत्मा के सूक्ष्म अवयवों को मन्त्र ७ व ८ के अनुसार स्थापित करके मन्त्र ९ के अनुसार मोक्ष फल प्राप्त करे ॥ ७ ॥

प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम्। ऊर्ध्वायां दिश्यजस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यमन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥८॥

प्रतीच्याम्। दिशि। भसदम्। अस्य। धेहि। उत्तरस्याम्। दिशि। उत्तरम्। धेहि। पार्श्वम्। ऊर्ध्वायाम्। दिशि। अजस्य। अनूकम्। धेहि। दिशि। ध्रुवायाम्। धेहि। पाजस्यम्। अन्तरिक्षे। मध्यतः। मध्यम्। अस्य ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (प्रतीच्याम्) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशि) दिशा में (अस्य) इस [जीवात्मा] के (भसदम्) दीप्ति वा कटि भाग को (धेहि) धर, (उत्तरस्याम्) उत्तर वा बाईं (दिशि) दिशा में (उत्तरम्) बायें (पार्श्वम्) कक्षा के नीचे भाग को (धेहि) धर। (ऊर्ध्वायाम्) ऊपर वाली (दिशि) दिशा में (अजस्य) जीवात्मा की (अनूकम्) रीढ़ को (धेहि)

शीलस्य जीवात्मनः (धेहि) धर (दक्षिणायाम्) दक्षिणस्याम् (पार्श्वम्) स्पृशेः श्वण्शुनौ पृ च। उ० ५। २७ इति स्पृश संपर्के-श्वण्, धातोः पृ इत्यादेशः। कक्षयोरधोभागम् ॥

८—(प्रतीच्याम्) अ० ३। २६। ३। पश्चिमायाम् पश्चात् स्थितायाम् (दिशि) दिशायाम् (भसदम्) शृदृभसोऽदिः। उ० १। १३०। इति भस भर्त्सनदीप्तयोः-अदि। कटिप्रदेशं जघनं वा (अस्य) अजस्य (धेहि) स्थापय (उत्तरस्याम्) उदीच्याम्। वामभागवर्तमानायाम् (उत्तरम्) वामभागस्थम् (पार्श्वम्) म० ७ (ऊर्ध्वायाम्) अ० ३। २६। ६। उपरि वर्तमानायाम् [अजस्य] म० १। जीवात्मनः (अनूकम्) अनु+उच् समवाये

धर, (ध्रुवायाम्) स्थिर (दिशि) दिशा में (अस्य) इसके (पाजस्यम्) बल देने वाले उदर को, और (अन्तरिक्षे) आकाश में (मध्यतः) बीचाबीच (मध्यम्) मध्य भाग को (धेहि) धर ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ देखो।

शृतम॒जं शृ॒तया॒ प्रोर्णु॑हि त्व॒चा स॒र्वैरङ्गैः॒ संभृ॑तं वि॒श्वरू॑पम्। स उत् ति॑ष्ठे॒तो अ॒भि नाक॑मुत्त॒मं प॒द्भिश्च॒तुर्भिः॒ प्रति॑ तिष्ठ दि॒क्षु ॥ ९ ॥

शृ॒तम्। अ॒जम्। शृ॒तया॑। प्र। ऊ॒र्णु॒हि॒। त्व॒चा। सर्वैः॑। अङ्गैः॑। सम्ऽभृ॑तम्। वि॒श्वऽरू॑पम्। सः। उत्। ति॒ष्ठ॒। इ॒तः। अ॒भि। नाक॑म्। उ॒त्ऽत॒मम्। प॒त्ऽभिः। च॒तुः॑ऽभिः। प्रति॑। ति॒ष्ठ॒। दि॒क्षु ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (विश्वरूपम्) संपूर्ण रूप से (सर्वैः) सब (अङ्गैः) अंगों के साथ (संभृतम्) भले प्रकार पुष्ट, और (शृतम्) परिपक्व [दृढ़ ज्ञानी] (अजम्) जीवात्मा को (शृतया) परिपक्व (त्वचा) विस्तृत शक्ति से (प्र) भले प्रकार (ऊर्णुहि) ढकले। (सः) सो तू (इतः) यहां से (उत्तमम्) सर्वोत्तम (नाकम्) सुख स्वरूप परब्रह्म को (अभि=अभिलक्ष्य) लखकर (उत् तिष्ठ) उठ, और (चतुर्भिः पद्भिः) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पदार्थों के सहित (दिक्षु) सब दिशाओं में (प्रतितिष्ठ) प्रतिष्ठित हो ॥ ९ ॥

घञर्थे कः। न्यङ्क्वादीनां च। पा० ७। ३। ५३। इति कुत्वम्। पृष्ठवंशम् (ध्रुवायाम्) अ० २। २६। ४। स्थिरायाम्। अधस्तात् (पाजस्यम्) पाज इति बलनाम-निघ० २। ६। पाजसे हितम्। बलकरमङ्गम्। उदरम् (अन्तरिक्षे) आकाशे (मध्यतः) मध्यभागे (मध्यम्) शरीरमध्यभागम् (अस्य) निर्दिष्टस्य ॥

९—(शृतम्) शॄ वा श्रै पाके—क्त। शृतं पाके। पा० ६। १। २७। इति शृभावः। पक्वम्। परिपक्वज्ञानम् (अजम्) म० १। जीवात्मानम् (शृतया) परिपक्वया। दृढया (प्र ऊर्णुहि) ऊर्णुञ् आच्छादने। प्रकर्षेणाच्छादय (त्वचा) तनोतेरनश्च वः। उ० २। ६३। इति तनु विस्तारे-चिक्, अनश्च वः। यद्वा, त्वच

भावार्थ—मनुष्य उपरोक्त रीति से पंच भूत और जीवात्मा के विवेक से पक्का ज्ञानी होकर सब प्रकार पुष्ट और परमात्मा में लवलीन होकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, की प्राप्ति से संसार भर में प्रतिष्ठावान् होता है ॥ ६ ॥

सूक्तम् १५ ॥

१-१६ ॥ पर्जन्यो देवता ॥ १-३, ५ जगती, ४, ७, ८, १३-१५ अनुष्टुप्, ६, १०, ११, १६ त्रिष्टुप् १२ जगती ज्योतिष्मती, ॥

वृष्टेः प्रार्थना गुणाश्चोपदिश्यन्ते—वृष्टि की प्रार्थना और गुणोंका उपदेश ॥

समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु । महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥ १ ॥

सम्-उत्पतन्तु । प्र-दिशः । नभस्वतीः । सम् । अभ्राणि । वात-जूतानि । यन्तु । महा-ऋषभस्य । नदतः । नभस्वतः । वाश्राः । आपः । पृथिवीम् । तर्पयन्तु ॥ १ ॥

भावार्थ—(नभस्वतीः=०-त्यः) बादल से छायी हुई (प्रदिशः) दिशायें (समुत्पतन्तु) भले प्रकार उदय हों, (वातजूतानि) पवन से चलाये गये (अभ्राणि) जल भरे बादल (संयन्तु) छा जावें । (महऋषभस्य) बड़े

संवरणे-क्विप् । विस्तृतशक्त्या । ज्ञानावरणेन वा (सर्वैः) अशेषैः (अङ्गैः) अवयवैः (संभृतम्) सम्यक् पुष्टम् (विश्वरूपम्) यथा तथा । सर्वरूपेण । सर्वाकारेण (सः) तादृशः परिपक्वज्ञानः (उत् तिष्ठ) उद्गच्छ (इतः) अस्माद् देशात् (अभि) अभिलक्ष्य (नाकम्) दुःखरहितं परब्रह्म (उत्तमम्) श्रेष्ठम् (पाद्भिः) पद स्थैर्ये गतौ च—क्विप् । धर्मार्थकाममोक्षाख्यैः पदार्थैः (चतुर्भिः) (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठितो भव (दिक्षु) सर्वासु दिशासु ॥

१—(समुत्पतन्तु) सम्यग् उद्गच्छन्तु । उद्यन्तु (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशः (नभस्वतीः) नभः-म० ३ । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । नभस्वत्यः । मेघवत्यः (अभ्राणि] अभ्र गतौ=पचाद्यच् । पा० ६ । १ ।

गमन शील (नदतः) गरजते हुये (नभस्वतः) आकाश में छाये [बादल] की (वाश्राः) धड़ धड़ाती (आपः) जल धारायें (पृथिवीम्) पृथिवी को (तर्पयन्तु) तृप्त करें ॥१॥

भावार्थ—पवन द्वारा वर्षा होने से दिशायें निर्मल और पृथिवी अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करने योग्य हो जाती है, इसी प्रकार मनुष्य उपकारी बनें ॥१॥

समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम् । वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः ॥२॥

सम् । ईक्षयन्तु । तविषाः । सु-दानवः । अपाम् । रसाः । ओषधीभिः । सचन्ताम् । वर्षस्य । सर्गाः । महयन्तु । भूमिम् । पृथक् । जायन्ताम् । ओषधयः । विश्व-रूपाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तविषाः) विशाल गुण वाले (सुदानवः) बड़े दान करने वाले [मेघ, हमें वृष्टि] (समीक्षयन्तु) दिखावें, (अपाम्) जल के (रसाः) रस (ओषधीभिः) अन्नादि ओषधियों से (सचन्ताम्) एक रस होजावें। (वर्षस्य)

---

१३४ । यद्वा, अप्—भृञ्—क । अपो जलानि बिभृति धारयन्तीति । मेघाः (वातजूतानि) जु वेगे-क्त, दीर्घत्वम् । वायुना प्रेरितानि (संयन्तु) संगच्छन्ताम् (मह ऋषभस्य) ऋषिवृषिभ्यां कितु । उ० ३ । १२३ । इति ऋष गतौ-अभच् स च कित् । महागतिशीलस्य (नदतः) गर्जतः (नभस्वतः) आकाशस्थस्य मेघस्य (वाश्राः) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । इति वाशृ शब्दे-रक् । शब्दायमानाः (आपः) जल धाराः (पृथिवीम्) भूमिम् (तर्पयन्तु) तृप्ताम् ओषधिप्ररोहणसमर्थां कुर्वन्तु ॥

२—(समीक्षयन्तु) ईक्ष दर्शने, णिच् । संदर्शयन्तु अस्मान् वृष्टिम् (तविषाः) तवेर्णिद्वा । उ० १ । ४८ । इति तु वृद्धिहिंसापूर्तिषु-टिषच् । तविषो महन्नाम निघ० ३ । ३ महान्तः (सुदानवः) दाभाभ्यां नुः । उ० ३ । ३२ । इति दा—नु । शोभनदाना मेघाः (अपाम्) उदकानाम् (रसाः) श्रेष्ठगुणाः (ओषधीभिः) व्रीहियवादिभिः । अन्नैः । (सचन्ताम्) षच समवाये । समवयन्तु

वर्षा की (सर्गाः) धारायें (भूमिम्) भूमि को (महयन्तु) समृद्ध करें, (विश्व-रूपाः) नाना रूपवाली (ओषधयः) चावल, यवादि ओषधें (पृथक्) नाना प्रकार से (जायन्ताम्) उत्पन्न होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे मेघों की वर्षा से सब लोग आनन्द पाते हैं, वैसे ही मनुष्य विद्वानों के सत्संग से लाभ उठावें ॥ २ ॥

समीक्षयस्व गायतो नभांस्यपां वेगासः पृथगुद् विजन्ताम् । वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तां वीरुधो विश्वरूपाः ॥ ३ ॥

सम् । ईक्षयस्व । गायतः । नभांसि । अपाम् । वेगासः । पृथक् । उत् । विजन्ताम् । वर्षस्य । सर्गाः । महयन्तु । भूमिम् । पृथक् । जायन्ताम् । वीरुधः । विश्व-रूपाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] (गायतः) गान करने वाले लोगों को (नभांसि) बादलों का (समीक्षयस्व) दर्शन करा । (अपाम्) जल के (वेगासः) प्रवाह (पृथक्) नाना प्रकार से (उद् विजन्ताम्) उमड़कर चलें । (वर्षस्य) वर्षा की (सर्गाः) धारायें (भूमिम्) भूमिको (महयन्तु) समृद्ध करें, (विश्व-

---

(वर्षस्य) वृष्टिजलस्य (सर्गाः) सृज्यमानाः प्रवाहाः (महयन्तु) मह वृद्धौ । वर्धयन्तु । समर्धयन्तु (भूमिम्) पृथिवीम् भूमिस्थपदार्थानित्यर्थः (पृथक्) नानाप्रकारेण जातिभेदेन (जायन्ताम्) उत्पद्यन्ताम् (ओषधयः) व्रीहियवाद्याः (विश्वरूपाः) नानाविधाः ॥

३—(समीक्षयस्व) द्विकर्मकः । सन्दर्शय (गायतः) स्तुवतो लोकान् (नभांसि) नहेर्दिवि भश्च । उ० ४ । २११ । इति णह बन्धने-असुन् हस्य भः । यद्वा णभ हिंसायाम्-असुन् । नभ उदकम्-निघ० १ । १२ । नभ आदित्यो भवति नेता भासां ज्योतिषां प्रणयोऽपि वा भन एव स्याद् विपरीतो न भातीति वैतेन द्यौर्व्याख्याता-निरु० २ । १४ । अभ्राणि (अपाम्) उदकानाम् (वेगासः) वेगाः प्रवाहाः (पृथक्) भिन्नभिन्नप्रकारेण (उद् विजन्ताम्) ओविजी भयचलनयोः । उच्चलन्तु (वीरुधः) विरोहणशीला आरण्या ओषधिवनस्पतयः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

रूपाः) नाना रूप (वीरुधः) झाड़ लतायें (पृथक्) नाना प्रकार से (जायन्ताम्) उपजें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र २ के समान है ॥ ३ ॥

गुणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक् । सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ४ ॥

गणाः । त्वा । उप । गायन्तु । मारुताः । पर्जन्य । घोषिणः । पृथक् । सर्गाः । वर्षस्य । वर्षतः । वर्षन्तु । पृथिवीम् । अनु ॥४॥

भाषार्थ—(पर्जन्य) हे मेघ ! (घोषिणः) आनन्द ध्वनि करने वाले (मारुताः) ऋत्विज् लोगों के (गणाः) समूह (त्वा) तेरा (पृथक्) नाना प्रकार से (उप) आदर पूर्वक (गायन्तु) गान करें । (वर्षतः) बरसते हुये (वर्षस्य) वृष्टि जल की (सर्गाः) धारायें (पृथिवीम्) पृथिवी पर (अनु) अनुकूल (वर्षन्तु) बरसें ॥ ४ ॥

भावार्थ—वृष्टि से अन्न आदि यज्ञ के पादार्थ उत्पन्न होते और याजक गण वृष्टि के गुणों को गागाकर आनन्द मनाते हैं ॥ ४ ॥

उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत् पातयाथ । महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥ ५ ॥

४—(गणाः) समूहाः (त्वा) त्वाम् (उप गायन्तु) उप आदरेण स्तुवन्तु (मारुताः) मरुतः—अ० १ । २० । १ । ऋत्विजः-निघ० ३ । १८ । मरुत्—अण् । ऋत्विक्संबन्धिनः (पर्जन्य) अ० १ । २ । १ । हे सेचक, मेघ ! (घोषिणः) आनन्द घोषयुक्ताः (पृथक्) नानात्वेन (सर्गाः) प्रवाहाः (वर्षस्य) वृष्टिजलस्य (वर्षतः) सिञ्चतः (वर्षन्तु) आर्द्रीकुर्वन्तु (पृथिवीम्) (अनु) अनुकूलम् ॥

उत् । ई॒र॒य॒त॒ । म॒रु॒तः॒ । स॒मु॒द्र॒तः॒ । त्वे॒षः॒ । अ॒र्कः॒ । नभः॑ । उत् । पा॒त॒या॒थ॒ । म॒हा-ऋ॒ष॒भस्य॑ । नद॑तः । नभ॑स्वतः । वा॒श्राः । आप॑ः । पृ॒थि॒वीम् । त॒र्प॒य॒न्तु॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे वायुवेगो ! (अर्कः=अर्कस्य) सूर्य के (त्वेषः=त्वेषेण) प्रकाश द्वारा (नभः) जलको (समुद्रतः) समुद्र से (उदीरयत) उठाओ और (उत् पातयाथ) ऊपर लेजाओ। (मह ऋषभस्य) बड़े गमन शील, (नदतः) गरजते हुये, (नभस्वतः) आकाश में छाये [बादल] की (वाश्राः) धड़धड़ाती (आपः) जल धारायें (पृथिवीम्) पृथिवी को (तर्पयन्तु) तृप्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—जल, पवन और प्रकाश द्वारा पृथिवी से मेघमंडल में चढ़ता और फिर पृथिवी पर बरसकर अनेक पदार्थ उपजाता है, इसी प्रकार सज्जन पुरुष विज्ञान से परिपूर्ण होकर संसार में विद्या फैलाते हैं ॥ ५ ॥

अ॒भि क्र॑न्द स्त॒नया॒र्दयो॑द॒धिं भूमिं॑ पर्जन्य॒ पय॑सा॒ समं॑ङ्धि । त्वया॑ सृ॒ष्टं ब॑हु॒लमै॑तु॒ व॒र्षमा॑शारै॒षी कृ॒शगु॑-रे॒त्वस्त॑म् ॥ ६ ॥

अ॒भि । क्र॒न्द॒ । स्त॒नय॑ । अ॒र्दय॑ । उ॒द॒-धिम् । भूमि॑म् । प॒र्ज॒न्य॒ । पय॑सा । सम् । अ॒ङ्धि॒ । त्वया॑ । सृ॒ष्टम् । ब॒हु॒लम् । आ । ए॒तु॒ । व॒र्ष॑म् । आ॒शा॒र॒-ए॒षी । कृ॒श-गु॑ः । ए॒तु॒ । अ॒स्तम्॑ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(पर्जन्य) हे मेघ ! तू (अभि) सब ओर (क्रन्द) गड़गड़ कर, (स्तनय) गरज, (उदधिम्) समुद्र को (अर्दय) हिलादे, (भूमिम्) भूमि

५—(उदीरयत) ऊर्ध्वं प्रेरयत जलम् (मरुतः) वायुवेगाः (समुद्रतः) पार्थिवसमुद्रात् (त्वेषः) त्विष दीप्तौ—घञ् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ इति तृतीयायां प्रथमा । त्वेषेण । प्रकाशेन (अर्कः) अर्क स्तवने तापे च—अच् । षष्ठ्यर्थे प्रथमा । सूर्यस्य (नभः) म० ३ । उदकम् (उत् पातयाथ) पत गतौ—णिच्, लेट् । उद्गमयत । अन्यद् गतम्-म० १ ॥

६—(अभि) अभितः (क्रन्द) शब्दं कुरु (स्तनय) घोषय । गर्ज (अर्दय)

(पयसा) जलसे (सम्‌अङ्‌धि) भरदे। (त्वया) तुझ करके (सृष्टम्) भेजा हुआ (बहुलम्) बहुत पदार्थ लाने वाला (वर्षम्) वृष्टि जल (ऐतु)आवे, (आशारैषी) शरण चाहने वाला, (कृशगुः) दुबली गौ बैल वाला किसान (अस्तम्) अपने घर (एतु) जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—पृथिवी पर वृष्टि होने से अनेक पदार्थ उपजते हैं, तब किसान आनन्द पूर्वक थके दुर्बल पशुओं को चराकर घर ले जाते हैं ॥ ६ ॥

सं वो॑ऽवन्तु सु॒दान॑व॒ उत्सा॑ अजग॒रा उ॒त ।
म॒रुद्भिः॒ प्रच्यु॑ता मे॒घा वर्ष॑न्तु पृथि॒वीमनु॑ ॥ ७ ॥

सम् । वः॒ । अ॒व॒न्तु॒ । सु॒-दान॑वः । उत्साः॑ । अ॒ज॒ग॒राः॑ । उ॒त ।
म॒रुत्-भिः॑ । प्र-च्यु॑ताः । मे॒घाः । वर्ष॑न्तु । पृ॒थि॒वीम् । अनु॑ ॥७॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यों !] (सुदानवः) महा दानी, (अजगराः) अजगर [समान स्थूल आकार वाले] (उत्साः) सोते (वः) तुम्हें (उत) अत्यन्त करके (सम्) यथावत् (अवन्तु) तृप्त करें। (मरुद्भिः) पवन से (प्रच्युताः) चलाये गये (मेघाः) मेघ (पृथिवीम्) पृथिवी पर (अनु) अनुकूल (वर्षन्तु) बरसें ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य मेह के समान परस्पर उपकार करें ॥

पीडय (उदधिम्) जलधिम् (भूमिम्) (पर्जन्य) हे मेघ (पयसा) वृष्टिजलेन (सम् अङ्‌धि) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । समक्तां संसिक्तां कुरु (त्वया) (सृष्टम्) प्रेरितम् (बहुलम्) अ० ३ । १४ । ६ । बहूनर्थान् लातीति, बहु+ला दानादानयोः—क। बहुपदार्थप्रापकम् (आ एतु) आगच्छतु (वर्षम्) वृष्टिजलम् (आशारैषी) शॄ वायुवर्णनिवृत्तेषु। वा० पा० ३। ३।२१। इति आङ्+शॄ हिंसायाम्—घञ्। आशृणाति दुःखम् आशारः शरणम्। आशारमिच्छतीति, इष—णिनि। शरणेच्छुः (कृशगुः) गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य। पा०१।२।४८। इति ह्रस्वः। कृशा दुर्बला गावः पशवो यस्य तथाविधिः कर्षकः (एतु) गच्छतु (अस्तम्) हसिमृग्रिण्० । उ० ३ । ८६ । अस गतिदीप्त्यादानेषु—तन्। गृहम्—निघ०३ । ४ ॥

७—(सम्) सम्यक् । एकीभूय (वः) युष्मान् हे जनाः (अवन्तु) तर्पयन्तु (सुदानवः) म० २ । महादातारः (उत्साः) म० १ । १५ । ३ । स्रोतां-

आशामाशां वि द्योततां वाता वान्तु दिशोदिशः ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनु ॥८॥

आशाम्-आशाम् । वि । द्योतताम् । वाताः । वान्तु । दिशः-दिशः । मरुत्-भिः । प्र-च्युताः । मेघाः । सम् । यन्तु । पृथिवीम् । अनु ॥८॥

भाषार्थ—(वाताः) पवनें (दिशोदिशः) दिशा दिशा से (द्योतताम्) दीप्यमान (आशाम्-आशाम्) प्रत्येक दिशा को (वि) विविध प्रकार से (वान्तु) चलें । (मरुद्भिः) पवनों से (प्रच्युताः) चलाये गये (मेघाः) मेह (पृथिवीम्) पृथिवी पर (अनु) अनुकूल (संयन्तु) उमड़ कर आवें ॥८॥

भावार्थ—जैसे मेह पवन द्वारा एक देश से दूसरे देश में बरसते हैं वैसे ही मनुष्य प्रयत्न करके देश देशान्तरों में वेद विद्या फैलावें ॥८॥

आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु ॥९॥

आपः । वि-द्युत् । अभ्रम् । वर्षम् । सम् । वः । अवन्तु । सु-दानवः । उत्साः । अजगराः । उत । मरुत्-भिः । प्र-च्युताः । मेघाः । प्र । अवन्तु । पृथिवीम् । अनु ॥ ९ ॥

सि । कूपाः-निघ० ३ । २३ । (अजगराः) अज+गॄ निगरणे-अच् । अजान् गतिशीलान् जन्तून् गिरन्तिभक्षयन्ति ये । बृहत्सर्पाः । तद्वत् स्थूलाकाराः (उत) अत्यर्थम् । एव । (मरुद्भिः) वायुभिः (प्रच्युताः) प्रेरिताः (मेघाः) मिह सेचने-अच्, कुत्वम् । वारिवाहाः (वर्षन्तु) सिंचन्तु (पृथिवीम्) (अनु) अनुकूलमे ॥

८—(आशामाशाम्) दिशंदिशम् आश्रित्य (द्योतताम्) भृमृदृशि० । उ० ३ । ११० । इति द्युत दीप्तौ-अतच्, टाप् । द्योतमानाम्, दीप्यमानाम् (वाताः) पवनाः (वि वान्तु) विविधं संचरन्तु (दिशोदिशः) सर्वस्या अपि दिशः सकाशात् (संयन्तु) संगता भवन्तु (अनु) अनुलक्ष्य । अन्यद् यथा म० ॥७॥

भाषार्थ—(आपः) जल धारायें, (विद्युत्) बिजुली, (अभ्रम्) जल से भरा मेह (वर्षम्) बरसा और (सुदानवः) महादानी, (अजगराः) अगर [समान स्थूल आकार वाले] (उत्साः) स्रोते (वः) तुम्हें (उत) अत्यन्त करके (सम्) यथावत् (अवन्तु) तृप्त करें। (मरुद्भिः) पवनों से (प्रच्युताः) चलाये गये (मेघाः) मेह (पृथिवीम्) पृथिवी को (अनु) अनुकूल (प्र) भले प्रकार (अवन्तु) तृप्त करें ॥९॥

भावार्थ—जैसे जल, बिजुली आदि मिलकर जगत् का उपकार करते हैं, वैसेही मनुष्य परस्पर मिलकर संसार का सुधार करें ॥९॥

मन्त्र ७ व ८ का मिलान करो ॥

अपामग्निस्तनूभिः संविदानो य ओषधीनामधिपा बभूव । स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि ॥ १० ॥

अपाम् । अग्निः । तनूभिः । सम्-विदानः । यः । ओषधीनाम् । अधि-पाः । बभूव । सः । नः । वर्षम् । वनुताम् । जात-वेदाः । प्राणम् । प्र-जाभ्यः । अमृतम् । दिवः । परि ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यः) जो (अग्निः) अग्नि [सूर्य ताप] (अपाम्) जलों के (तनूभिः) विस्तारों से (संविदानः) मिलता हुआ (ओषधीनाम्) चावल, यवादियों का (अधिपाः) विशेष पालन कर्ता (बभूव) हुआ है । (सः) वह (जातवेदाः) धनों का उत्पन्न करने वाला, वा उत्पन्न पदार्थों में सत्ता वाला अग्नि (नः प्रजाभ्यः) हम प्रजाओं के लिये (दिवः) अन्तरिक्ष से (परि) सब

९—(आपः) जलधाराः (विद्युत्) तडित् (अभ्रम्) उदकपूर्णो मेघः (वर्षम्) वृष्टिजलम् (प्र) प्रकर्षेण । अन्यद् यथा म० ७॥

१०—(अपाम्) जलानाम् (अग्निः) सूर्यतापः (तनूभिः) विस्तारैः । करणैः (संविदानः) संगच्छमानः (यः) (ओषधीनाम्) व्रीहियवादीनाम् (अधिपाः) अधि+पा रक्षणे-विच् । विशेषरक्षकः (बभूव) (सः) तादृशोऽग्निः (नः) अस्मभ्यम् (वर्षम्) वृष्टिजलम् (वनुताम्) प्रयच्छतु (जातवेदाः) अ० १ । ७ । २ । वेदः=धनम्-निघ० २ । १० । जातानि वेदांसि धनानि यस्मात्, यद्वा

और (वर्षम्) वरसा, (प्राणम्) प्राण और (अमृतम्) अमृत [मरण से बचाव का साधन] (वनुताम्) देवे ॥१०॥

भावार्थ—जैसे सूर्य जल को खैंच लेकर फिर बरसा कर सब प्राणियों का जीवन आधार होता है, वैसे ही मनुष्य विद्या और धन प्राप्त करके संसार का उपकार करें ॥१०॥

प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिमर्दयाति। प्रप्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेहि ॥ ११ ॥

प्रजा-पतिः । सलिलात् । आ । समुद्रात् । आपः । ईरयन् । उद्-धिम् । अर्दयाति । प्र । प्यायताम् । वृष्णः । अश्वस्य । रेतः । अर्वाङ् । एतेन । स्तनयित्नुना । आ । इहि ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(प्रजापतिः) प्रजापालक सूर्य (सलिलात्) व्यापक (समुद्रात्) आकाश से (आपः=अपः) जल (आ ईरयन्) भेजता हुआ (उदधिम्) [पार्थिव] समुद्र को (अर्दयाति) दबावे [जल खैंचे]। (अश्वस्य) व्यापक (वृष्णः) बरसने वाले मेघ का (रेतः) जल (प्रप्यायताम्) अच्छे प्रकार बढ़े। [हे पर्जन्य ! तू] (एतेन) इस (स्तनयित्नुना) गर्जन के साथ (अर्वाङ्) सन्मुख (आ इहि) आ ॥ ११ ॥

भावार्थ—मन्त्र १० के समान है ॥ ११ ॥

इस मन्त्र का चौथा पाद (अर्वाङेतेन...) ऋ० ५ । ८३ । ६ का तीसर पाद है ॥

जातेषु पदार्थेषु वेदः सत्ता यस्य स तथाभूतः (प्राणम्) जीवनम् (प्रजाभ्यः) सृष्टिपदार्थेभ्यः (अमृतम्) नास्ति मृतं मरणं यस्मात् । अमरणम् (दिवः) अन्तरिक्षात् (परि) परितः ॥

११—(प्रजापतिः) प्रजानां पालयिता वृष्टिप्रदः सूर्यः (सलिलात्) सलिकल्यनि० । उ० १ । ५४ । इति षल गतौ—इलच् । व्यापनशीलात् (आ) समन्तात् (समुद्रात्) अन्तरिक्षात्—निघ० १ । ३ (आपः) सुपां सुलुक्०।

अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणाव नीचीरपः सृज । वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका इरिणानु ॥ १२ ॥

अपः । नि-सिञ्चन् । असुरः । पिता । नः । श्वसन्तु । गर्गराः । अपाम् । वरुण । अव । नीचीः । अपः । सृज । वदन्तु । पृश्नि-बाहवः । मण्डूकाः । इरिणा । अनु ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारा (पिता) पालन करने वाला (असुरः) प्राण दाता मेघ (अपः) जल धारायें (निषिञ्चन्) उंडेलता हुआ [वर्तमान हो]। (अपाम्) जलके (गर्गराः) गड़गड़ाते हुये गगरे ((श्वसन्तु) श्वास लेवें। (वरुण) हे वरणीय मेघ ! (अपः) जल धाराओं को (नीचीः) नीचे की ओर (अव सृज्) छोड़दे । (पृश्निबाहवः) छोटी २ भुजा वाले (मण्डूकाः) शोभा बढ़ाने वाले वा डुबकी लगाने वाले मेंडके (इरिणा=इरिणानि) ऊसर भूमियों को (अनु=अनुहाय) छोड़कर (वदन्तु) ध्वनि करें ॥ १२ ॥

भावार्थ—बरसा होने पर जैसे मेंडकों में फिर प्राण आजाते हैं इसी प्रकार अनेक पदार्थ उगकर आनन्द दायक होते हैं ॥ १२ ॥

इस मन्त्रका पहिला पाद (अपो...नः) ऋ० ५ । ८३ । ६ का चौथा पाद है ॥

पा० ७ । १ । ३६ । इति शसः स्थाने जस् । अपः । उदकानि (ईरयन्) प्रेरयन् (उदधिम्) जलधिम् (अर्दयाति) अर्दयतेर्लेटि आडागमः । अर्दयतु । रश्मिभिर्जलादानेन पीडयतु (प्र प्यायताम्) प्रवर्धताम् (वृष्णः) वर्षकस्य मेघस्य (अश्वस्य) व्यापकस्य (रेतः) स्रुरीभ्यां तुट् च । उ० ४ । २०२ । इति रि, रीङ् स्रवणे—असुन्, तुट् च । उदकम्—निघ० १ । १२ । (अर्वाङ्) अभिमुखः सन् (एतेन) पूर्वोक्तेन (स्तनयित्नुना) स्तनिहृषिपुषि० । उ० ३ । २६ । इति स्तन देवशब्दे—इत्नुच् । गर्जनेन सह (आ—इहि) आगच्छ हे पर्जन्य ॥

१२—(अपः) जलानि (निषिञ्चन्) न्यग्भावेन नितरां वा वर्षयन् (असुरः) अ० १ । १० । १ । असून् प्राणान् रातीति । असु+रा दाने—क । प्राणप्रदः । मेघः—निघ० १ । १० (पिता) पालकः (नः) अस्माकम् (श्वसन्तु) उच्छ्वसिता भवन्तु (गर्गराः) सुद्रिभ्योर्गगौ । उ० । १ १२८ । इति गॄ शब्दे-गप्र-

सं॒व॒त्स॒रं श॑शया॒ना ब्रा॑ह्म॒णा व्र॑तचा॒रिणः॑ ।
वाचं॑ प॒र्जन्य॑जिन्वितां॒ प्र म॒ण्डूका॑ अवादिषुः ॥ १३ ॥
स॒म्-व॒त्स॒रम् । श॒श॒या॒नाः । ब्रा॒ह्म॒णाः । व्र॒त-चा॒रिणः॑ ।
वाच॑म् । प॒र्जन्य॑-जिन्विताम् । प्र । म॒ण्डूकाः॑ । अ॒वा॒दि॒षुः ॥१३॥

भाषार्थ—(संवत्सरम्) बोलने के समय तक (शशयानाः) शयन करने वाले (मण्डूकाः) शोभा बढ़ानेवाले वा डुबकी लगाने वाले मेंडुके, (व्रतचारिणः) व्रतधारी (ब्राह्मणाः) ब्राह्मणों के समान, (पर्जन्यजिन्विताम्) मेह से तृप्त की हुई (वाचम्) वाणी को (प्र) अच्छे प्रकार (अवादिषुः) बोले ॥ १३ ॥

भावार्थ—जैसे वेदज्ञानी पुरुष वेदों में मौन [मनन] व्रत साधकर सत्य ज्ञान से तृप्त होकर संसार में उपदेश करते हैं, इसी प्रकार मेंडुके वृष्टि होने से संतुष्ट होकर बोलते हैं ॥ १४

यह मन्त्र ऋ० ७ । १०३ । १ में है । और निरुक्त ९ । ६ में भी व्याख्यात है ॥

त्ययः । गर्ग+रा-क । गर्गं शब्दं रान्ति ददतीति । शब्दं कुर्वाणः कलसा जलपात्राणि । प्रकाहाः (अपाम्) उदकानाम् (वरुण) हे वरणीय जलेश मेघ (नीचीः) न्यग्भावं गताः (अपः) वृष्टिधाराः (अव) नीचैः (सृज) त्यज (वदन्तु) ध्वनिं कुर्वन्तु (पृश्निबाहवः) स्वल्पभुजयुक्ताः (मण्डूकाः) शलिमण्डिभ्यामूकण् । उ० ४ । ४२ । इति मडि भूषणे-ऊकण् । यद्वा । मस्ज स्नाने-ऊकण्, जकारस्य डकारे नुमि ष्टुत्वम् । मण्डयन्ति भूषयन्ति जलाशयं निमज्जन्ति जले वा । मण्डूका मज्जूका मज्जनान्मदतेर्वा मोदतिकर्मणो मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणो मण्डयतेरिति वैयाकरणा मण्ड एषामोक इति वा मण्डो मदेर्वा मुदेर्वा—निरु० ९।५। मण्डनशीलाः । मज्जनस्वभावाः। मज्जूकाः। भेकाः (इरिणा) ऋतेः किदिच्च । उ० २ । ५१ । इति ऋ० हिंसागतिप्रापणेषु—इनन्, ऋलोपः । इरिणानि । ऊषरभूमीः (अनु) हीने । विहाय् ॥

१३—(संवत्सरम्) संपूर्वाच्चित् । उ० ३ । ७२ । इति बाहुलकात् सम्+वद कथने—सरन् प्रत्ययः, स च चित् । चित्वादन्तोदात्तः । सम्यग् वदनपर्यन्तम् । वर्षारम्भपर्यन्तम् इत्यर्थः (शशयानः) शिश्यानाः शयानाः । शयनशीलाः । निद्रालवः (ब्राह्मणाः) अ० २ । ६ । ३ । वेदपाठिनः । ब्रह्मज्ञानिनो यथा

उप॒प्रव॑द मण्डूकि व॒र्षमा व॑द तादुरि ।
मध्ये॑ ह्र॒दस्य॑ प्लवस्व वि॒गृह्य॑ च॒तुरः॑ प॒दः ॥ १४ ॥

उ॒प॒-प्रव॑द । म॒ण्डू॒कि॒ । व॒र्षम् । आ । व॒द॒ । ता॒दु॒रि॒ ।
मध्ये॑ । ह्र॒दस्य॑ । प्ल॒व॒स्व॒ । वि॒-गृ॒ह्य॑ । च॒तुरः॑ । प॒दः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(मण्डूकि) हे शोभा बढ़ाने वाली वा डुबकी लगाने वाली मेंडुकी ! (उप प्रवद) पास आकर बोल, (तदुरि) हे तैरनेवाली वा उतने [शरीर जितना] उदरवाली (वर्षम्) वर्षा को (आवद) बुला (ह्रदस्य) पोखर के (मध्ये) बीच में (चतुरः) चारों (पदः) पदों को (विगृह्य) फलाकर (प्लवस्व) तैर ॥ १४ ॥

भावार्थ—जैसे मेंडुकी वर्षा होने पर आनन्द से जल के भीतर तैरती फिरती है, ऐसे ही ब्रह्मज्ञानी लोग ब्रह्मविद्या में मग्न होकर विचरते हैं ॥ १४ ॥

यह मन्त्र निरुक्त ९ । ७ में उदाहृत है ॥

ख॒ण्व॒खा३इ॒ खैमखा३इ॒ मध्ये॑ तदुरि ।
व॒र्षं व॑नु॒ध्वं पितरो॒ म॒रुतां॒ मनः॑ इच्छत ॥ १५ ॥

खण्व॒खा३इ॑ । खैमु॒खा३ इ॑ । मध्ये॑ । त॒दु॒रि॒ ।
व॒र्षम् । व॒नु॒ध्व॒म् । पि॒त॒रः॒ । म॒रुता॑म् । मनः॑ । इ॒च्छ॒त॒ ॥ १५ ॥

(व्रतचारिणः) व्रत + चर-णिनि । कृतसंयमाः (वाचम्) वाणीम् (पर्जन्यजिन्विताम्) जिवि प्रीणने—क्त । पर्जन्येनप्रीतां तर्पिताम् (प्र) प्रकर्षेण (मण्डूकाः) म० १२ । मज्जूकाः । भेकाः (अवादिषुः) वद—लुङ् । अवोचन् ॥

१४—(उपप्रवद) उपेत्य प्रकृष्टं घोषं कुरु (मण्डूकि) मण्डूक, म० १२ स्त्रियां ङीष् । हे मण्डनशीले । निमज्जनस्वभावे । भेकि (वर्षम्) वृष्टिम् (आ वद) आभाषय (तदुरि) तरणशीले ! अथवा तावत् उदरि ! यावच्छरीरं तावदेवोदरं तस्याः—इति दुर्गाचार्यो निरुक्तटीकायाम्—९ । ७ । ददुरि इत्यस्यैव छान्दसं रूपम् । मकुरदर्दुरौ । उ० १ । ४० । इति दृ विदारणे—उरच्, निपातनात् साधुः । दृणाति भूमिं करणौ वा स दर्दुरः । ङीष् । हे दर्दुरि ! मण्डूकि ! (मध्ये) मध्यदेशे (ह्रदस्य) ह्राद अव्यक्तशब्दे—अच् । पृषोदरादि ह्रस्वत्वम् । जलाशयस्य (प्लवस्व) प्रतर (विगृह्य) प्रसार्य (चतुरः) (पद) पादान् ॥

भाषार्थ—(खण्वखा३ इ=खण्वखे) हे खनती में लंगड़ाने वाली (खैमखा ३ इ=खैमखे) हे कष्ट में ठहरी हुई (तदुरि=दर्दुरि) हे [भूमि वा कान] फोड़नेवाली दादुरी ! (मध्ये) [जल के] भीतर वर्तमान ! और (पितरः) हे पालन करनेवाले विद्वान् किसान आदि लोगो ! (वर्षम्) वर्षा का (वनध्वम्)सेवन करो (मरुताम्) याजकों के (मनः) मन को (इच्छत) चाहो [प्रसन्न करो ॥ १५ ॥

भावार्थ—वृष्टि होने से अन्न आदि पदार्थों की उत्पत्ति से सब प्राणी मेंडुकी के समान प्रसन्न होते हैं और यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्ति होते हैं॥१५॥

म॒हान्तं॒ कोश॒मुद॑चा॒भि षि॑ञ्च सविद्यु॒तं भ॑वतु॒ वातु॒ वातः॑ । त॒न्वतां॑ य॒ज्ञं ब॑हु॒धा विसृ॑ष्टा आन॒न्दिनी॒रोष॑धयो भवन्तु ॥ १६ ॥

म॒हान्त॑म् । कोश॑म् । उत् । अ॒च॒ । अ॒भि । सि॒ञ्च॒ । स॒-वि॒द्यु॒त॑म् । भ॒व॒तु॒ । वातु॑ । वातः॑ । त॒न्वता॑म् । य॒ज्ञम् । ब॒हु॒-धा । वि-सृ॑ष्टाः । आ॒-न॒न्दिनीः॑ । ओष॑धयः । भ॒व॒न्तु॒ ॥ १६ ॥

१५—(खण्वखा३ इ=खण्वखे) अशूप्रुषि० । उ० । १ । १५१ । इति खनु अवदारणे—क्वन् । णत्वं छान्दसम् । खजि गतिवैकल्ये–ड । टाप् । एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ । पा० ८ । २ । १०७ । इति एकारं विगृह्य अकारस्य प्लुतः । खण्वे खनने छिद्रे खञ्जति सा खण्वखा, तत्सम्बुद्धौ खण्वखे । हे बिले पङ्गुगते ! (खैमखा३ इ=खैमखे) अर्त्तिस्तुसुहु० । उ० १ । १४० । इति खै स्थैर्ये, खनने, हिंसायां चेति शब्दकल्पद्रुमः—ततो मन् प्रत्ययः, स च णित् । पुनः खै—ड, टाप् । खैमे हिंसायां कष्टे खायति तिष्ठति सा खैमखा । हे कष्टस्थिते (तदुरि) म० १४ ! हे दर्दुरि ! मण्डूकि (वर्षम्) वृष्टिम् (वनुध्वम्) वन सम्भक्तौ । सेवध्वम् (पितरः) हे पालयितारो विद्वांसो यूयं च (मरुताम्) ऋत्विजाम्–निघ० ३ । १८ । दोषनाशकानां याजकानाम् (मनः) चित्तम् (इच्छत) कामयध्वम् ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (महान्तम्) बड़े (कोशम्) धन भण्डार-को (उत् अच) ऊंचा कर, (अभि) सब ओरसे (सिञ्च) बरसा दे । (सवि-द्युतम्)समान विविध प्रकाशित [जगत्] (भवतु) होवे । (वातः) वायु (वातु) [अनुकूल] चले । (बहुधा) अनेक प्रकार से (विसृष्टाः) फैली हुई (ओषधयः) चावल, यव आदि ओषधें (यज्ञम्) यज्ञ को(तन्वताम्) फैलावें, और (आन-न्दिनीः=०—न्यः) आनन्द युक्त (भवन्तु) होवें ॥ १६ ॥

भावार्थ—परमात्मा के अनुग्रह से मनुष्य प्रयत्न पूर्वक धन संचय करें और वायु, वृष्टि आदि से उपकार लेकर यज्ञ अर्थात् अनेक विज्ञान युक्त कर्मों को फैलावें और अन्न आदि पदार्थ को पुष्टिकारक करें ॥ १६ ॥

इस मन्त्र का प्रथम पाद (महांतं…षिञ्च) ऋ० ५ । ८३ । ८ में है ।

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १६ ॥

१-९ ॥ वरुणो देवता । १ अनुष्टुप्, २-६ त्रिष्टुप् ७ जगती, ८, ९, त्रिपदा त्रिष्टुप् ॥

वरुणस्य सर्वव्यापकतोपदिश्यते—वरुण की सर्वव्यापकता का उपदेश ॥

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति ।
यस्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ॥ १ ॥

बृहन् । एषाम् । अधि-स्थाता । अन्तिकात्-इव । पश्यति ।
यः । तायत् । मन्यते । चरन् । सर्वम् । देवाः । इदम् । विदुः ॥१॥

१६—(महान्तम्) विशालम् (कोशम्) कुश श्लेषे-घञ् । हिरण्यादिस्थापन-गृहम् । मेघम्-निघ० १ । १० (उत् अच) अञ्चु गतौ । ऊर्ध्वं प्राप्नुहि । उत्थापय (अभि) अभितः (सिञ्च) वर्षय (सविद्युतम्) स+वि+द्युत दीप्तौ—क । समानं विविधं प्रकाशितं जगत् (भवतु) (वातु) अनुकूलं संचरतु (वातः) पवनः (तन्वताम्) विस्तारयन्तु (यज्ञम्) यजनीयं कर्म (बहुधा) नानाप्रकारेण (विसृष्टाः) उत्पन्नाः । वितीर्णाः (आनन्दिनीः) आनन्द-इनि,ङीप् । आनन्दिन्यः । हर्षयुक्ताः (ओषधयः) व्रीहियवतरुगुल्मादयः ॥

भाषार्थ—(एषाम्) इन [लोकों] का (बृहन्) बड़ा (अधिष्ठाता) अधिष्ठाता [वह वरुण] (अन्तिकात् इव) समीप में वर्तमान सा (पश्यति) देखता है, (यः) जो [वरुण] (तायत्) विस्तार वा पालन (चरन्) करता हुआ (सर्वम्) सब जगत् को (मन्यते) जानता है। (देवाः) व्यवहार में कुशल देवता लोग (इदम्) यह बात (विदुः) जानते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा सर्व नियन्ता, सर्वज्ञाता, सर्वद्रष्टा और सर्वरक्षिता है, इस बात को ऋषि महात्मा साक्षात् करते हैं ॥ १ ॥

यस्तिष्ठ॑ति॒ चर॑ति॒ यश्च॒ वञ्च॑ति॒ यो नि॒लाय॑ं॒ चर॑ति॒ यः प्र॒तङ्क॑म्। द्वौ सं॑नि॒षद्य॒ यन्म॒न्त्रये॑ते॒ राजा॒ तद्वे॑द॒ वरु॑णस्तृ॒तीयः॑ ॥ २ ॥

यः। तिष्ठ॑ति। चर॑ति। यः। च॒। वञ्च॑ति। यः। नि॒-लाय॑न्। चर॑ति। यः। प्र॒-तङ्क॑म्। द्वौ। स॒म्-नि॒षद्य॑। यत्। म॒न्त्रये॑ते॒ इति॑। राजा॑। तत्। वे॒द॒। वरु॑णः। तृ॒तीयः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (तिष्ठति) खड़ा होता है, वा (चरति) चलता है, (च) और (यः) जो पुरुष (वञ्चति) ठगी करता है, और (यः) जो (निलायन्) भीतर घुसकर, और (यः) जो (प्रतङ्कम्) बाहिर निकलकर

१—(बृहन्) महान् (एषाम्) दृश्यमानानां लोकानाम् (अधिष्ठाता) नियन्ता (अन्तिकात्) इव समीपदेशाद् यथा (पश्यति) अवलोकयति (यः) वरुणः (तायत्) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च। उ० २। ८४। इति तायृ सन्तानपालनयोः—अति। विस्तारम्। पालनम् (मन्यते) जानाति (चरन्) चर आचारे-शतृ। कुर्वन् सन् (सर्वम्) सरणशीलं जगत् (देवाः) व्यवहार-कुशलाः। विद्वांसः (इदम्) निर्दिष्टं वृत्तम् (विदुः) विदन्ति। जानन्ति। साक्षात् कुर्वन्ति ॥

२—(यः) पुरुषः (तिष्ठति) स्थितो भवति (चरति) गच्छति (वञ्चति) प्रतारयति। वञ्चनं करोति (निलायन्) नि+ली श्लेषे द्रावणे च—शतृ। निलीनः अदृश्यः सन् (चरति) आचरति (प्रतङ्कम्) प्र+तकि कृच्छ्रजीवने-णमुल्।

(चरति) काम करता है और (द्वौ) दो जने (संनिषद्य) एक साथ बैठकर (यत्) जो कुछ (मन्त्रयेते) कानाफूसी करते हैं, (तृतीयः) तीसरा (राजा) राजा (वरुणः) वरणीय वा दुष्टनिवारक वरुण परमेश्वर (तत्) उसे (वेद) जानता है ॥२॥

भावार्थ—परमेश्वर प्राणियों के गुप्त से गुप्त कर्मों को सर्वथा जानता और उनका यथावत् फल देता है ॥ २ ॥

उतेयं भूमिर्वरु॑णस्य॒ राज्ञ॑ उ॒तासौ द्यौर्बृ॑ह॒ती दू॒रेअ॑न्ता।
उ॒तो स॑मु॒द्रौ वरु॑णस्य कु॒क्षी उ॒तास्मिन्न॒ल्प उ॑द॒के निली॑नः॥३

उत । इ॒यम् । भूमिः॑ । वरु॑णस्य । राज्ञः॑ । उ॒त । अ॒सौ । द्यौः । बृ॒ह॒ती । दू॒रे- अ॑न्ता । उ॒तो इति॑ । स॒मु॒द्रौ । वरु॑णस्य । कु॒क्षी इति॑ । उ॒त । अ॒स्मिन् । अ॒ल्पे । उ॒द॒के । नि-ली॑नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इयम् भूमिः) यह भूमि (उत) भी, (उत) और (असौ) वह (बृहती) बड़ा, (दूरे अन्ता) [पृथिवी से] दूर गति वाला (द्यौः) प्रकाशमान सूर्य (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजा का है, (उतो) और भी [पृथिवी और आकाश के] (समुद्रौ) दोनों समुद्र (वरुणस्य) वरुण की (कुक्षी) दो कोखें हैं, (उत) और वह (अस्मिन्) इस (अल्पे) थोड़े से (उदके) जल में भी (निलीनः) लीन हो रहा है ॥ ३ ॥

प्रकृष्टगमनं बहिर्गमनं प्राप्य (द्वौ) यौ पुरुषौ (संनिषद्य) सहोपविश्य (यत्) यत्किञ्चित् कार्यम् (मन्त्रयेते) मन्त्रि गुप्तभाषणे। रहसि गुप्तं भाषेते (राजा) ईश्वरः (सर्वम्) (वेद) वेत्ति (वरुणः) वरणीयो दुष्टानां निवारको वा (तृतीयः) त्रेः संप्रसारणं च । पा० ५ । २ । ५५ । इति त्रि—तीय, संप्रसारणं च । त्रयाणां पूरकः ॥

३—(उत) अपि (इयम्) दृश्यमाना (भूमिः) (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठस्य परमेश्वरस्य (राज्ञः) ईश्वरस्य । समर्थस्य (असौ) विप्रकृष्टा (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यलोकः (बृहती) महती (दूरेअन्ता) दुरीणो लोपश्च । उ० २ । २० । इति दुर + इण् गतौ—रक् । इति दूरम् । हसिमृग्रिण्वामि० । उ० ३ । ८६ । इति

भावार्थ—वरुण परमात्मा की ईश्वरता बड़ों से बड़े और छोटों से छोटे पदार्थों में है, अर्थात् यह स्थूल और सूक्ष्म जगत् उसी के आकर्षण, धारण, संयोग, वियोग सामर्थ्य में स्थित हैं। उसकी उपासना करके सब मनुष्य अपनी उन्नति करें ॥ ३ ॥

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः । दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥ ४ ॥

उत । यः । द्याम् । अति-सर्पात । परस्तात् । न । सः । मुच्यातै । वरुणस्य । राज्ञः । दिवः । स्पशः । प्र । चरन्ति । इदम् । अस्य । सहस्र-अक्षाः । अति । पश्यन्ति । भूमिम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(उत) और (यः) जो [दुष्ट] (परस्तात्) दूर देश में (द्याम्) सूर्य लोक को (अतिसर्पात्) पार करके चुपके से रेंग जावे, (सः) वह पुरुष (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजा की (न मुच्यातै) मुक्ति न पासके। (दिवः) प्रकाशमान (अस्य) इस [वरुण] के (स्पशः) बन्धन सामर्थ्य (इदम्)

अम गतौ—तन्। अन्तो अततेः–निरु ४। २५। पृथिव्या दूरे अन्तं गमनं यस्याः सा। (उतो) अपि च (समुद्रौ) अन्तरिक्षभूमिस्थौ जलधी (कुक्षी) प्लुषि कुषिशुषिभ्यः क्सिः। उ० ३। १५५। इति कुष निष्कर्षे-क्सि। उदरस्य दक्षिणवाम-पार्श्वौ यथा (अस्मिन्) निकटस्थे (अल्पे) अल वारणपर्य्याप्तिभूषासु–पप्रत्ययः। लेशमात्रे (उदके) जले (निलीनः) अन्तर्हितः॥

४—(उत) अपि च (यः) दुष्टः (द्याम्) सूर्यलोकम् (अतिसर्पात्) सृप—लेट्। अतिक्रम्य सर्पेत् गुप्तं गच्छेत् (परस्तात्) दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी०। पा० ५। ३। २७। इति पर–अस्ताति। परस्मिन् दूरे देशे (न) नहि (सः) पुरुषः (मुच्यातै) मुचेः कर्मणि लेटि आडागमः, वैतोऽन्यत्र। पा० ३। ४। ९६। इति ऐकारः। मुक्तिं प्राप्नुयात् (वरुणस्य) वरणीयस्य परमेश्वरस्यो (राज्ञः) ईश्वरस्य (दिवः) प्रकाशमानस्य (स्पशः) स्पश बाधनस्पर्शनयोः–क्विप्। बाधमानाः। बन्धाः। पाशाः (प्र चरन्ति) प्रकर्षेण गच्छन्ति (इदम्)

इस [जगत्] में (प्र चरन्ति) चलते रहते हैं, [उन को] (सहस्राक्षाः) सहस्र प्रकार की दृष्टि वा व्यवहार वाले पुरुष (भूमिम् अति) भूमि के पार (पश्यन्ति) देखते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—चाहे कोई दुष्कर्म करके कहीं छिप जावे, तौ भी वह वरुण परमेश्वर के अखंड दण्ड से नहीं बच सकता। वह अपनी करनी का फल इस जन्म वा परजन्म में अवश्य पाता है ॥ ४ ॥

सर्वं तद् राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात्। संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि ॥ ५ ॥

सर्वम्। तत्। राजा। वरुणः। वि। चष्टे। यत्। अन्तरा। रोदसी इति। यत्। परस्तात्। सम्-ख्याताः। अस्य। नि-मिषः। जनानाम्। अक्षान्-इव। श्व-घ्नी। नि। मिनोति। तानि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(राजा वरुणः) राजा वरुण (तत् सर्वम्) वह सब (वि चष्टे) देखता रहता है, (यत्) जो कुछ (रोदसी अन्तरा) सूर्य और भूमि के बीच में, और (यत्) जो कुछ (परस्तात्) परे हैं। (जनानाम्) मनुष्यों के (निमिषः) पलक मारने (अस्य) इस [वरुण] के (संख्याताः) गिने हुये

दृश्यमानं जगत् (अस्य) वरुणस्य (सहस्राक्षाः) अ० ३। ११। ३। सहस्+अक्षि-षच्। यद्वा। सहस्र+अक्ष। सहस्राणि बहूनि अक्षीणि दर्शनसामर्थ्यानि, अथवा, अक्षा व्यवहारा येषां ते तथाभूताः। बहुदर्शकाः बहुव्यवहारशीलाः पुरुषाः (अति) अतीत्य (पश्यन्ति) साक्षात्कुर्वन्ति तान् स्पशः (भूमिम्) भूलोकम् ॥

५—(सर्वम् तत्) सकलं वृतम् (राजा वरुणः) समर्थः परमेश्वरः (विचष्टे) अ० ४। ११। २। विशेषेण पश्यति (यत्) (रोदसी अन्तरा) द्यावापृथिव्योर्मध्ये (परस्तात्) म० ४। दूरदेशे (संख्याताः) परिगणिताः (अस्य) वरुणस्य (निमिषः) मिष स्पर्धायाम्—क्विप्। निमेषाः। चक्षुः स्पन्दनकालाः।

हैं, वह (तानि) हिंसा कर्मों को (नि मिनोति) गिरा देता है (श्वघ्नी इव) जैसे धन हारने वाला जुआरी (अक्षान्) पासों को [गिरा देता है] ॥ ५ ॥

भावार्थ—वरुण सर्वज्ञ सर्वनियन्ता है, वह दुष्टों को दण्ड देकर ऐसे गिरा देता है जैसे हारा जुआरी निर्धन होकर क्रोध से पासे आदि पटक देता है। यहां गिराने मात्र में दृष्टान्त है ॥ ५ ॥

ये ते॒ पाशा॑ वरुण स॒प्तस॑प्त त्रे॒धा तिष्ठ॑न्ति॒ विषि॑ता॒ रुश॑न्तः । छि॒नन्तु॒ सर्वे॒ अनृ॑तं॒ वद॑न्तं॒ यः स॑त्यवा॒द्यति॒ तं सृ॑जन्तु ॥ ६ ॥

ये । ते॒ । पाशाः॑ । व॒रु॒ण॒ । स॒प्त-स॑प्त । त्रे॒धा । तिष्ठ॑न्ति । वि-सि॑ताः । रुश॑न्तः । छि॒नन्तु॑ । सर्वे॑ । अनृ॑तम् । वद॑न्तम् । यः । स॒त्य॒-वा॒दी । अति॑ । तम् । सृ॒ज॒न्तु॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे दुष्ट निवारक परमेश्वर! (सप्तसप्त=सप्तसप्ताः) सात धाम [पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, विराट् अर्थात् स्थूल जगत्, परमाणु और प्रकृति] से सम्बन्धवाले, (त्रेधा) तीन प्रकार से [भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान काल में] (विषिताः) फैले हुए (रुशन्तः) [दुष्टों वा दोषों

(जनानाम्) प्राणिनाम् (अक्षान्) अशेर्देवने । उ० ३ । ६५ । इति अशू व्याप्तौ-स । द्यूतसाधनानि (इव) यथा (श्वघ्नी) कर्मणि हनः । पा० ३ । २ । ७६ इति । स्व+हन—णिनि । सस्य शः । श्वघ्नी कितवो भवति, स्वं हन्ति स्वं पुनराश्रितं भवति-निरु० ५ । २२ । स्वहा, स्वघाती । धननाशकः । द्यूतकारकः (निमिनोति) डुमिञ् प्रक्षेपणे । नीचैः क्षिपति (तानि) तर्द हिंसे-ड । तर्दनानि । हिंसनानि ॥

६—(ये) (ते) तव (पाशाः) अ० १ । ३१ । २ । बन्धनानि (वरुण) परमेश्वर (सप्तसप्त) सप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति षप समवाये-कनिन् तुट् च । षप—क्त । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति विभक्तेर्लुक् मध्यपदलोपश्च । सप्तसप्ताः । सप्तधामभिः पृथिवीजलाग्निवायुविराट्परमाणुप्रकृतिभिः संवेताः संबद्धाः-यथा [पृथिव्याः सप्त धामभिः] ऋ० १ । २२ ।

को] नाश करते हुये (ये) जो(ते) तेरे (पाशाः) फांस वा जाल (तिष्ठन्ति) स्थित हैं। (सर्वे) वे सब [फांस] (अनृतं वदन्तम्) मिथ्या बोलने वाले को (छिनन्तु) छिन्न भिन्न करें, और (यः) जो (सत्यवादी) सत्यवादी है (तम्) उसको (अति) सत्कार पूर्वक (सृजन्तु) छोड़ें ॥ ६ ॥

भावार्थ—वह परमात्मा प्रत्येक वस्तु और काल में व्यापक होकर दुष्टों को यथावत् दण्ड और शिष्टों को यथावत् आनन्द देता है ॥ ६ ॥

शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः। आस्तां जाल्म उदरं श्रंशयित्वा कोश इवाबन्धः परिकृत्यमानः ॥ ७ ॥

शतेन। पाशैः। अभि। धेहि। वरुण। एनम्। मा। ते। मोचि। अनृत-वाक्। नृ-चक्षः। आस्ताम्। जाल्मः। उदरम्। श्रंशयित्वा। कोशः-इव। अबन्धः। परि-कृत्यमानः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे दुष्टनिवारक परमेश्वर! (शतेन) सौ (पाशैः) फांसों से (एनम्) इस [मिथ्यावादी] को (अभि धेहि) बांध ले, (नृचक्षः) हे मनुष्यों के देखनेवाले! (अनृतवाक्) मिथ्यावादी पुरुष (ते) तेरी (मा मोचि) मुक्ति न पावे। (जाल्मः) नीच अन्यायी (उदरम्) युद्ध कर्म को (श्रंशयित्वा=

१६। इत्यत्र दयानन्दभाष्ये (त्रेधा) त्रिप्रकारं भूतभविष्यत्वर्तमानकालेषु (तिष्ठन्ति) वर्त्तन्ते (विषिताः) षिञ् बन्धने-क्त। त्रिविधं बद्धाः। विस्तृताः (रुशन्तः) दुष्टान् शत्रून् वा हिंसन्तः (छिनन्तु) छिन्दन्तु (सर्वे) पाशाः (अनृतम्) असत्यम् (वदन्तम्) कथयन्तम् (यः) (सत्यवादी) सत्यवक्ता (तम्) (अति) अत सातत्यगमने—इन्। पूजायाम्। उत्कर्षे। (सृजन्तु) त्यजन्तु मुञ्चन्तु ॥

७—(शतेन) बहुभिः (पाशैः) दण्डबन्धनैः (अभि धेहि) अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने। बधान (वरुण) हे दुष्टनिवारक (एनम्) अनृतवादिनम् (ते) तव (मा मोचि) मुक्तिं न प्राप्नुयात् (अनृतवाक्) मिथ्यावादी (नृचक्षः) चक्षेर्बहुलं शिच्च। उ० ४। २३३। नृ + चक्षिङ् दर्शने—असुन्। हे नृणां मनुष्याणां साध्वसाधुच रित्राणां द्रष्टः (आस्ताम्) तिष्ठतु (जाल्मः) जल अपवारणे—मप्रत्ययः।

स्रंसयित्वा) नीचे गिराकर (परिकृत्यमानः) कटी हुई, (अबन्धः) अपने से छुटी (कोशः इव) फूल की कली के समान (आस्ताम्) बैठा रहे ॥ ७ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के दण्ड से कोई मिथ्यावादी नहीं छूट सकता, और अधर्मी दुष्ट धर्मात्माओं के सन्मुख ऐसा गिर जाता है, जैसे फूल की अधखिली कली अधिक पवन आदि के कारण गिरकर कुम्हला जाती है ॥७॥

यः संमाम्यो३ वरुणो यो व्याम्यो३ यः संदेश्यो३ वरुणो यो विदेश्यः। यो दैवो वरुणो यश्च मानुषः॥८॥

यः। सम्ऽआम्यः। वरुणः। यः। विऽआम्यः। यः। सम्ऽदेश्यः। वरुणः। यः। विऽदेश्यः। यः। दैवः। वरुणः। यः। च। मानुषः॥ ८॥

भाषार्थ—(वरुणः) वरुण परमेश्वर (यः) व्यापक, (समाम्यः) समान सेवनीय,(यः) सर्वनियन्ता और (व्याम्यः) पीड़ा रहित है, (वरुणः) वरुण ही (यः) यत्नशील, (संदेश्यः) समान देशीय, (यः) संयोग और वियोग

जालयति दूरीकरोति हितज्ञानमिति। पामरः। क्रूरः (उदरम्) उदि दृणातेरलचौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च। उ० ५। १६। इति उद्+दृ विदारे-अच्। उदो दस्य लोपः। उद्विदारणं युद्धम् (भ्रंशयित्वा) स्रंसु अवस्रंसने = अधः पतने णिचि क्त्वा, सकारस्य शकारः। स्रंसयित्वा। अधः पातयित्वा (कोशः) कुश संश्लेषे-घञ्। कोशोऽस्त्री कुड्मले, इत्यमरः—२३। २१८। कुड्मलः। विकाशोन्मुखकलिका (इव) यथा (अबन्धः) बन्धेन शाखासंयोगतन्तुना विश्लिष्टः (परिकृत्यमानः) कृती छेदने-कर्मणि यक्, शानच्, मुक् च। परिच्छिद्यमानः॥

८—(यः) या गतौ-ड। व्यापकः (समाम्यः) ऋहलोर्ण्यत्। पा० ३। १। १२४। इति सम्+अम गतौ, भजने च-ण्यत्। सम्यग् आम्योः भजनीयः सेवनीयः (वरुणः) वरणीयः सर्वश्रेष्ठः (यः) यम-ड। नियन्ता (व्याम्यः) वि+अम पीडने-भावे ण्यत्। विगतम् आम्यं पीडनं यस्मात् सः। पीडारहितः। आनन्दस्वरूपः (यः) यती यत्ने-ड। यत्नशीलः (संदेश्यः) दिगादिभ्यो यत्। पा० ४। ३। ५४। इति देश-यत्। समानदेशे भवः (यः) यु मिश्रणामिश्रणयोः—ड। यविता संयोक्ता वियोक्ता च (विदेश्यः) पूर्ववद्-यत्। विदेशे भवः (यः) यज देवपू-

करने वाला, (विदेश्यः) विदेशीय है। (वरुणः) वरुण ही (यः) पूजनीय, (दैवः) दिव्य गुण वालों में वर्त्तमान, (च) और (वः) दाता, और (मानुषः) मनन शील मनुष्यों में वर्तमान है ॥८॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वान्तर्यामी परमेश्वर की महिमा भले प्रकार जान कर अपने आत्मा की उन्नति करें ॥८॥

तैस्त्वा सर्वैरभि ष्यामि पाशैरसावामुष्यायणामुष्याः पुत्र । तानु ते सर्वाननु संदिशामि ॥ ९ ॥

तैः । त्वा । सर्वैः । अभि । स्यामि । पाशैः । असौ । आमुष्यायण । अमुष्याः । पुत्र । तान् । ऊं इति । ते । सर्वान् । अनु-संदिशामि ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(असौ = असौ त्वम्) वह तू (आमुष्यायण) हे अमुक पिता के पुत्र ! और (अमुष्याः पुत्र) हे अमुक माता के पुत्र ! (त्वा) तुझ को (तैः सर्वैः) उन सब (पाशैः) नियम बन्धनों से (अभि ष्यामि) मैं [वरुण] बांधता हूं, और (तान् सर्वान्) उन सबों को (उ) अवश्य (ते) तेरे लिये (अनुसंदिशामि) समीप से समझाता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने वेद द्वारा स्पष्ट दिखा दिया है कि सत्कर्म सुख के और दुष्कर्म दुःख के मूल हैं। इस लिये मनुष्य दुष्कर्मों को छोड़कर सत्कर्म करके आनन्द भोगें ॥ ९ ॥

जने—ड । पूजनीयः (दैवः) देवाद् यञञौ । वा० पा० ४।१।८५। इति देव—अञ् । देवेषु दिव्यगुणवत्सु भवः (यः) यज दाने—ड । दाता (च) समुच्चये (मानुषः) अ० ४ । १४ । ५ । मनुष्येषु मननशीलेषु भवः ॥

९—(तैः) सुप्रसिद्धैः (त्वा) त्वां मनुष्यम् (सर्वैः) (अभि ष्यामि) अभिपूर्वः षो बन्धने । बध्नामि, अहं वरुणः (पाशैः) बन्धैः (असौ) स त्वम् (आमुष्यायण) अमुष्य, अदस् इत्यस्य षष्ठी, फक्, षष्ठ्या अलुक । हे अमुष्य-पुरुषस्य पुत्र । हे प्रख्यातकुलोद्भव (अमुष्याः) स्त्रियाम् अदस्—षष्ठी । अमुक-जनन्याः (पुत्र) (तान्) (सर्वान्) पाशान् (उ) अवश्यम् (ते) तुभ्यम् (अनुसंदिशामि) दिश दाने आज्ञापने । अनु सामीप्येन विज्ञापयामि निरूपयामि ॥

सूक्तम् १७ ॥

१-८ ॥ ओषधिर्वापामार्गो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजलक्षणोपदेशः—राजा के लक्षणों का उपदेश ॥

ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रभामहे ।
चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वस्मा ओषधे त्वा ॥ १ ॥

ईशानाम् । त्वा । भेषजानाम् । उत्-जेषे । आ । रभामहे ।
चक्रे । सहस्र-वीर्यम् । सर्वस्मै । ओषधे । त्वा ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (ईशानाम्) समर्थ (भेषजानाम्) भय निवारक पुरुषों में (त्वा) तेरा (उज्जेषे) [शत्रुओं को] जीतने के लिये (आरभामहे) हम आश्रय लेते हैं। (ओषधे) हे ताप नाशक [वा अन्न आदि ओषधि के समान उपकारक !] (सर्वस्मै) सब जनों के लिये (त्वा) तुझे (सहस्रवीर्यम्) सहस्रों सामर्थ्य वाला (चक्रे) उस [परमात्मा] ने बनाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थियों में महा पुरुषार्थी पुरुष को अपना प्रधान बनावें और उससे अपनी रक्षा का सहारा लें ॥ १ ॥

सत्यजितं शपथयावनीं सहमानां पुनःसराम् ।
सर्वाः समह्वयोषधीरितो नः पारयादिति ॥ २ ॥

सत्य-जितम् । शपथ-यावनीम् । सहमानाम् । पुनः-सराम् ।
सर्वाः । सम् । अह्वि । ओषधीः । इतः । नः । पारयात् । इति ॥२॥

१—(ईशानाम्) ईश ऐश्वर्ये—क । ईश्वराणां समर्थानाम् (त्वा) त्वां राजानम् (भेषजानाम्) भेष+जि जये—ड । भेषस्य भयस्य जेतॄणां मध्ये (उज्जेषे) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ९ । इति जि—सेप्रत्ययः । उज्जेतुं, निवारयितुं शत्रून् (आ रभामहे) आङ्पूर्वको रभ स्पर्शे । संस्पृशामः । आश्रयामः (चक्रे) स परमेश्वरः कृतवान् (सहस्रवीर्यम्) अपरिमितसामर्थ्ययुक्तम् (सर्वस्मै) सर्वजनहिताय (ओषधे) हे दाहनाशक ! अन्नाद्योषधिवद् उपकारक (त्वा) त्वाम् ॥

भाषार्थ—(सत्यजितम्) सत्य से जीतने वाली, (शपथयावनीम्) शाप या क्रोध वचन हटाने वाली, (सहमानाम्) शत्रुओं को हराने वाली, और (पुनः सराम्) बारंबार आगे बढ़ाने वाली सेना को, और (सर्वाः) सब (ओषधीः) ताप नाश करने वाली प्रजाओं को (सम् अह्वि) यथावत् मैंने आवाहन किया है, (इतः) इस [कठिन कर्म] से (नः) हमें (पारयात्) वह [पुरुषार्थी] पार लगावे, (इति) इस अभिप्राय से ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजा प्रतिनिधि सब हितकारी सेना और प्रजा गणों को बुला कर शत्रुओं से बचने के लिये राजा बनाने का प्रयोजन प्रकाशित करे ॥ २ ॥

या श॒शाप॒ शप॑नेन॒ याघं मूर॑माद॒धे ।
या रस॑स्य॒ हर॑णाय जा॒तमा॑रे॒भे तो॒कम॑त्तु सा ॥ ३ ॥

या । श॒शाप॑ । शप॑नेन । या । अ॒घम् । मूर॑म् । आ॒-द॒धे ।
या । रस॑स्य । हर॑णाय । जा॒तम् । आ॒-रे॒भे । तो॒कम् । अ॒त्तु । सा ॥३॥

भाषार्थ—(या) जिस [शत्रुसेना] ने (शपनेन) शाप [कुवचन] से (शशाप) कोसा है और (या) जिसने (अघम्) दुःख देने वाली (मूरम) मूल को (आदधे) जमा लिया है । और (या) जिसने (रसस्य) रस के (हर-

---

२—(सत्यजितम्) जि-क्विप् , तुक् । सत्येन जयशीलाम् (शपथयावनीम्) यु अमिश्रणे-णिच्, ल्युट् ङीप् । शपथस्य आक्रोशस्य क्रोधवचनस्य पृथक्कर्त्रीं नाशयित्रीम् (सहमानाम) अभिभवशीलाम् (पुनः सराम्) पुनः पुनः सरति प्रवर्तते सा तां सेनां प्रजां वा (सर्वाः) (सम्) सम्यक् । (अह्वि) अह्वे । आहूतवानस्मि (ओषधीः) तापनिवारिकाः प्रजाः (इतः) अस्मात् कठिनकर्मणः (नः) अस्मान् (पारयात्) पार कर्मसमाप्तौ । अस्मत्कर्तव्यं समापयेत् । पारं गमयेत् स राजा (इति) अनेन हेतुना ॥

३—अयं मन्त्रो व्याख्यातः-अ० १ । २८ । ३ । इह शब्दार्थो दीयते । (या) शत्रुसेना (शशाप) अनिष्टकथनं कृतवती । (शपनेन) शापेन कुवचनेन (अघम्) दुःखकरम् (मूरम्) लस्य रः । मूलं प्रतिष्ठाम् (आदधे) परिजग्राह (रसस्य) सारस्य । आनन्दस्य (हरणाय) नाशनाय (आरेभे) आलेभे । स्पृष्टवती (तोकम्) वर्धनम् । सन्तानम् (अत्तु) भक्षयतु (सा) शत्रुसेना ॥

णाय) हरण के लिये (जातम्) [हमारे] समूह को (आरेभे) छूआ है, (सा) वह [शत्रुसेना] (तोकम्) अपनी बढ़ती वा संतान को (अत्तु) खा लेवे ॥३॥

भावार्थ—जल शत्रु सेना दुर्वचन बोलती और उपद्रव मचाती बढ़ती आवे, युद्ध कुशल सेनापति उनमें भेद डाल दे कि वह लोग अपने संतान अर्थात् इष्ट मित्रों को ही नाश करदें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र पहले आ चुका है—अ० १ । २८ । ३ ॥

यां ते॑ चुक्रुरा॒मे पात्रे॒ यां चुक्रुर्नी॑ललोहि॒ते ।
आ॒मे मां॒से कृ॒त्यां यां चुक्रुस्तया॑ कृत्या॒कृतो॑ जहि ॥४॥

याम् । ते॒ । चु॒क्रुः । आ॒मे । पात्रे॑ । याम् । चु॒क्रुः । नी॒ल॒-लो॒हि॒ते । आ॒मे । मां॒से । कृ॒त्याम् । याम् । चु॒क्रुः । तया॑ । कृ॒त्या-कृत॑ः । ज॒हि॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ— [हे राजन् !] (याम्) जिस [हिंसा] को (ते) तेरे (आमे) भोजन में, वा (पात्रे) पानी में (चक्रुः) उन्होंने [हंसाकारियों ने] किया है, (याम्) जिसको [तेरे] (नीललोहिते=नीलरोहिते) नीलों अर्थात् निधियों की उत्पत्ति में (चक्रुः) उन्हों ने किया है। (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को [तेरे] (यामे) चलने में वा (मांसे) ज्ञान वा काल वा मांस में (चक्रुः)

४—(याम्) कृत्याम् (ते) तव (चक्रुः) कृतवन्तः ते कृत्याकृतः (आमे) अम गतिभोजनादिषु-घञ् । भोजने (पात्रे) दादिभ्यश्छन्दसि । उ० ४ । १७० । इति पा पाने-त्रन् । पाने जलभाजने वा (नीललोहिते) नि नितराम् इलन्ति प्राप्नुवन्ति यं स नीलो निधिः कोशः । नि+इल गतौ-क । रुहेश्च लो वा । उ० ३ । ९४ । इति रुह बीजजन्मनि, प्रादुर्भावे च—इतन्, रस्यलः । निधीनां प्रदुर्भावे, उत्पत्तौ (आमे) अम गतौ-घञ् । गमने (मांसे)मनेर्दीर्घश्च ।उ० ३ । ६४ । इति मन ज्ञाने, अर्च्चे, गर्वे, धृतौ-सप्रत्ययः, दीर्घश्च । मन्यते ज्ञायते ध्रियते वानेन तन्मांसम् । ज्ञाने । मांसः कालः, कीटः—इति शब्दकल्पद्रुमः । काले । यद्वा रक्तजधातुविशेषः (कृत्याम्) अ० ४ । ९ । १ । हिंसाक्रियाम् । विपत्तिम् (तया) कृत्यया (कृत्याकृतः) कृत्या+ डुकृञ् करणे-क्विप्, तुक् । हिंसाकारिणः पुरुषान् हन-लोट् । नाशय ॥

उन्हों ने किया है, (तया) उस [हिंसा] के कारण (कृत्याकृतः) हिंसाकारियों को (जहि) नाश करदे ॥४॥

भावार्थ—जो दुष्कर्मी राजा के खान, पान, धनसंचय, मार्ग, वा सत्य सत्य जानने, वा काल के सुप्रयोग वा शरीर में विपत्ति डालें, राजा उनको यथावत् दंड देकर नाश कर दे ॥ ४ ॥

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः ।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ५ ॥

दौः-स्वप्न्यम् । दौः-जीवित्यम् । रक्षः । अभ्वम् । अराय्यः ।
दुः-नाम्नीः । सर्वाः । दुः-वाचः । ताः । अस्मत् । नाशयामसि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(दौष्वप्न्यम्) नीद में बेचैनी, (दौर्जीवित्यम्) जीवन का कष्ट., (अभ्वम्) बड़े (रक्षः) राक्षस, (अराय्यः) अनेक अलक्ष्मियों और (दुर्णाम्नीः) दुष्ट नाम वाली (दुर्वाचः) कुवाणियों, (ताः सर्वाः) इन सब को (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि) हम नाश करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा ऐसी नीति चलावे कि प्रजागण बाहिर भीतर से निश्चिन्त होकर सुख की नींद सोवें, उद्यमी होकर आनन्द भोगें, चोर डाकू आदिकों से निर्भय रहें, धन की वृद्धि करें और विद्या बल से कलह छोड़कर परस्पर उन्नति करने में लगे रहें ॥ ५ ॥

५—(दौष्वप्न्यम्) दुर्+स्वप्न-ष्यञ् । बाह्याभ्यन्तरकारणैः स्वप्नावसादं निद्राभङ्गम् (दौर्जीवित्यम्) दुर्+जीवित-ष्यञ् । दुर्जीवनत्वम् (रक्षः) राक्षसम् (अभ्वम्) अशू प्रुषि० । उ० १ । १५१ । इति अभि शब्दे-क्वन्, नलोपः । अभ्वो महन्नाम—निघ० ३ । ३ । महद् । अतिभयकरम् । (अराय्यः) अ० २ । १४ । ३ । शसि जस् । अरायीः । अलक्ष्मीः । विपत्तीः (दुर्णाम्नीः) दुर्+नामन्—ङीप् दुष्टनामोपेताः (सर्वाः) दुर्वाचः । दुष्टवाणीः (ताः) (अस्मत्) अस्मत्सकाशात् (नाशयामसि) नाशयामः ॥

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम् ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ६ ॥

क्षुधा-मारम् । तृष्णा-मारम् । अगोताम् । अनप-त्यताम् ।
अपामार्ग । त्वया । वयम् । सर्वम् । तत् । अप । मृज्महे ॥६॥

भाषार्थ—(क्षुधामारम्) भूख से मरना,(तृष्णामारम्) पियास से मरना, (अगोताम्) गौओं की हानि, और (अनपत्यताम्) बच्चों का अभाव, (तत् सर्वम्) इस सब को, (अपामार्ग) हे सर्वसंशोधक! [वा अपामार्ग औषध के समान उपकारी राजन्!] (त्वया) तेरे साथ (वयम्) हम (अप मृज्महे) शोधते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा के सुप्रबन्ध से सूखा के समय भी अन्न, जल, गौ, बैल आदि की बहुतायत से मनुष्य यथावत् बढ़ते रहते हैं ॥ ६ ॥

(अपामार्ग) का अर्थ सर्वथा संशोधक है, और एक औषध भी है, जिस से कफ, बवासीर, खुजिली, उदर रोग और विष रोग का नाश होता है ॥ ६ ॥

तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम् ॥
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ७ ॥

तृष्णा-मारम् । क्षुधा-मारम् । अथो इति । अक्ष-पराजयम् ।
अपामार्ग । त्वया । वयम् । सर्वम् । तत् । अप । मृज्महे ॥७॥

६—(क्षुधामारम्) मृञ्—घञ् । क्षुत्पीडया मरणम् (तृष्णामारम्) पिपासया मरणम् (अगोताम्) गवाम् अभावम् (अनपत्यताम्) अपत्यानां राहित्यम् (अपामार्ग) अप+आङ्+मृजू शौचालंकारयोः—घञ् । हे सर्वथा संशोधक । हे अपामार्गौषधवद् उपकारिन् ! अपामार्गपर्य्यायः—अपामार्गः शैखरिको धामार्गवमयूरकौ—इत्यमरः, १४ । ८८ । अस्यगुणाः । कफार्शः कण्डूदरामविषरोगनाशित्वम्—इति शब्दकल्पद्रुमः (त्वया) राज्ञा (वयम्) प्रजागणाः (सर्वम्) (तत्) एतत् [अपमृज्महे] अपमार्जयामः शोधयामः, विनाशयामः—इत्यर्थः ॥

भाषार्थ—(तृष्णामारम्) पियास से मरना, (क्षुधामारम्) भूख से मरना, (अथो) और भी (अक्षपराजयम्) व्यवहारों वा इन्द्रियों की हार, (तत् सर्वम्) इस सब को, (अपामार्ग) हे सर्व संशोधक राजन्! (त्वया) तेरे साथ (वयम् अपमृज्महे) हम शोधते हैं ॥ ७॥

भावार्थ—राजा के उत्तम प्रबन्ध से न तो जल, अन्न और दैनिक काम काज की हानि, और न शरीर और आत्मा की दुर्बलता होती है ॥ ७ ॥

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी ॥
तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ॥ ८ ॥

अपामार्गः । ओषधीनाम् । सर्वासाम् । एकः । इत् । वशी ।
तेन । ते । मृज्मः । आ-स्थितम् । अथ । त्वम् । अगदः । चर ॥८॥

भाषार्थ—(अपामार्गः) सब दोषों का शोधने वाला परमेश्वर (सर्वासाम्) सब (ओषधीनाम्) तापनाशक अन्न आदि पदार्थों का (एकः इत्) एक ही (वशी) वश में रखने वाला है। (तेन) उस [के आश्रय] से [हे राजन्!] (ते) तेरे (आस्थितम्) उपस्थित [भय] को (मृज्मः) हम शोधते हैं, (अथ) इस लिये (त्वम्) तू (अगदः) नीरोग होकर (चर) विचर ॥ ८ ॥

भावार्थ—प्रजागण कहते हैं "परमात्मा सब संसार का स्वामी है, उसी सहारे से हम आप पर यह राज्य भार रखते हैं, आप भी उसी के सहारे से निश्चिन्त होकर अपना कर्तव्य करें" ॥ ८ ॥

७—(अथो) अपि च (अक्षपराजयम्) अक्षू व्याप्तौ-पचाद्यच् घञ् वा। यद्वा। अशेर्देवने। उ० ३। ६५। इति अशू व्याप्तौ-सप्रत्ययः। अक्षाणां व्यवहाराणाम् इन्द्रियाणां वा पराजयं पराभवम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

८—(अपामार्गः) म० ६। सर्वदोषशोधकः परमेश्वरः (ओषधीनाम्) तापनाशयित्रीणाम् अन्नादिपदार्थानाम् (सर्वासाम्) अशेषाणाम् (एकः) अद्वितीयः (इत्) एव (वशी) वशयिता (तेन) अपामार्गेण परमेश्वरेण (ते) तव (मृज्मः) मार्जयामः शोधयामः (आस्थितम्) आपतितं राज्यभार रूपं भयम् (अथ) अनन्तरम् (त्वम्) राजन् (अगदः) गद व्यक्तायां वाचि रोगे च-अच्। रोगशून्यः स्वस्थः (चर) चिरकालं वर्तस्व ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-८ ॥ अपामार्गो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती ।
कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः ॥ १ ॥

समम् । ज्योतिः । सूर्येण । अह्ना । रात्री । सम-वती ॥
कृणोमि । सत्यम् । ऊतये । अरसाः । सन्तु । कृत्वरीः ॥१॥

भाषार्थ—(ज्योतिः) ज्योति (सूर्येण समम्) सूर्य के साथ साथ और (रात्री) रात्री (अह्ना समावती) दिन के साथ वर्तमान है, [ऐसे ही] मैं (सत्यम्) सत्यकर्म को (ऊतये) रक्षा के लिये (कृणोमि) करता हूं' (कृत्वरीः=कृत्वर्यः) कतरने वाली विपत्तियां (अरसाः) नीरस (सन्तु) हो जावें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे प्रकाश के साथ सूर्य का और दिन के साथ रात्री का नित्य सम्बन्ध है, ऐसे ही मनुष्य का सत्य के साथ नित्य सम्बन्ध है । इससे राजा और प्रजा सदा सत्य में प्रवृत होकर मिथ्या कामों की विपत्तियों से बचें ॥ १ ॥

यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविदुषो गृहम् ।
वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुप पद्यताम् ॥ २ ॥

१—(समम्) सह वर्तमानम् (ज्योतिः) प्रभामण्डलम् (सूर्येण) आदित्येन (अह्ना) दिवसेन (रात्री) अ० २ । ८ । २ । निशा (समावती) सम-मतुप् । छान्दसो दीर्घः । समं समानं वर्तमाना (कृणोमि) करोमि (सत्यम्) यथार्थं कर्म (ऊतये) रक्षणार्थम् (अरसाः) निर्बलाः (सन्तु) भवन्तु (कृत्वरीः) इण्नशजिसर्त्तिभ्यः क्वरप् । पा० ३ । २ । १६३ । इति कृती छेदने-क्वरप् । टिड्ढाणञ० । पा० ४ । १ । १५ । इति ङीप् । पूर्वसवर्णदीर्घः । कर्तनशीलाः । विपत्तयः । बाधाः ॥

यः । दे॒वाः । कृ॒त्याम् । कृ॒त्वा । हरा॑त् । अवि॑दुषः । गृ॒हम् ॥
व॒त्सः । धा॒रुः-इ॑व । मा॒तर॑म् । तम् । प्र॒त्यक् । उप॑ । प॒द्य॒ता॒म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानों ! (यः) जो पुरुष (कृत्याम्) हिंसा (कृत्वा) करके (अविदुषः) अजान मनुष्य के (गृहम्) घर को (हरात्) हर लेवे। वह दुष्कर्म (प्रत्यक्) लौट कर (तम्) उसी [दुष्कर्मी] को (उप पद्यताम्) जा मिले, (इव) जैसे (धारुः) दूध पीने वाला (वत्सः) बछड़ा (मातरम्) अपने माता [गौ के पीछे पीछे दौड़ता है] ॥ २ ॥

भावार्थ—दुष्ट मनुष्य को उसकी दुष्टता का दण्ड राज प्रबन्ध वा ईश्वर व्यवस्था से अवश्य पहुंचता है, जैसे छोटा बछड़ा अनेक गौओं में से अपनी ही माता को चिपट जाता है ॥ २ ॥

अ॒मा कृ॒त्वा पा॒प्मानं॒ यस्तेना॒न्यं जिघां॑सति ।
अश्मा॑नस्त॒स्यां॑ द॒ग्धायां॑ बहु॒लाः फट् क॑रिक्रति ॥ ३ ॥

अ॒मा । कृ॒त्वा । पा॒प्मान॑म् । यः । तेन॑ । अ॒न्यम् । जिघां॑सति ।
अश्मा॑नः । तस्या॑म् । द॒ग्धाया॑म् । ब॒हु॒लाः । फट् । क॒रि॒क्र॒ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (तेन अमा) चोर वा म्लेच्छ के साथ होकर (पाप्मानम्) पाप कर्म (कृत्वा) करके (अन्यम्) दूसरे को (जिघांसति) मारना चाहे, (बहुलाः] वृद्धि करने वाले (अश्मानः) व्यापनशील वा

२—(यः) शत्रुः (देवाः) हे विद्वांसः (कृत्याम्) हिंसाम् (कृत्वा) विधाय (हरात्) लेटि आडागमः । हरेत् (अविदुषः) अजानानस्य (गृहम्) गेहम् (वत्सः) वदनशीलः । गोशिशुः (धारुः) दाधेट्सिशदसदो रुः । पा० ३ । २ । १५९ । इति धेट पाने-रु । स्तनपानकर्ता (इव) यथा (मातरम्) जननीम् (तम्) दुष्टम् (प्रत्यक्) प्रतिनिवृत्य (उप पद्यताम्) उप गच्छतु ॥

३—(अमा) अम गतौ- का । सह (कृत्वा) (पाप्मानम्) अ० ३ । ३१ । १ । पाति यस्मात् स पाप्मा । पापम् (यः) शत्रुः (तेन) तर्द हिंसे-ड । तर्दति हिनस्तीति तः । चौरः । म्लेच्छः । चोरेण । पामरेण (अन्यम्) सत्कर्माणम् (जिघांसति) हन्तुमिच्छति (अश्मानः) अ० १ । २ । २ । व्यापनशीलाः पाषा-

पाषाण के समान दृढ़स्वभाव पुरुष (तस्याम्) उस [दुष्क्रिया] के (दग्धायाम्) भस्म किये जाने पर (फट्) [उस दुष्ट का] नाश (करिक्रति) कर डालें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो पुरुष दुष्टों से मिल कर लोगों में उपद्रव मचावें, राज पुरुष अनुसन्धान करके उन दोनों को यथावत् दण्ड देवें ॥ ३ ॥

सहस्रधामन् विशिखान् विग्रीवाञ् छायया त्वम् ।
प्रति स्म चक्रुषे कृत्यां प्रियां प्रियावते हर ॥ ४ ॥

सहस्र-धामन् । वि-शिखान् । वि-ग्रीवान् । शायय । त्वम् ।
प्रति । स्म । चक्रुषे । कृत्याम् । प्रियाम् । प्रिय-वते । हर ॥४॥

भाषार्थ—(सहस्रधामन्) हे सहस्रों धारण, पोषण और दान वाले राजन् ! (त्वम्) तू (विशिखान्) विरुद्ध प्रकार से सोने वाले, वा विरुद्ध गति वाले, (विग्रीवान्) विरुद्ध रीति से खाने वाले [दुष्टों] को (शायय) सुला दे [गिरा दे] । (कृत्याम्) दुष्क्रिया (चक्रुषे) करने वाले पुरुष को (प्रति) प्रत्यक्ष (स्म) अवश्य [वैसी ही दण्ड पीड़ा] (हर) पहुंचा [जैसे] (प्रियाम्) प्रिया, भार्या को (प्रियावते) उसके स्वामी के पास [प्रत्यक्ष पहुंचाते हैं] ॥ ४ ॥

एव दृढ़स्वभावा वा राजपुरुषाः (तस्याम्) पूर्वोक्तायां कृत्यायाम्-म० २ (दग्धायाम्) भस्मीकृतायां नष्टायां सत्याम् (बहुलाः) अ० ३ । १४ । ६ । वृद्धिशीलाः (फट्) त्रिफला विशरणे-क्विप् । डलयोरैक्यम् । तस्य विशीर्णम् (करिक्रति) करोतेर्यङ्लुगन्तात् लेटि । रुग्रिकौ च लुकि । पा० ७ । ४ ६१ । इति अभ्यासस्य रिगागमः । पुनः पुनः कुर्वन्तु ॥

४—(सहस्रधामन्) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति डुधाञ् धारणपोषणदानेषु-मनिन् । हे असंख्यातधारणपोषणदानयुक्त राजन् ! (विशिखान्) शीङो ह्रस्वश्च । उ० ५ । २४ । इति शीङ् शयने-ख, ह्रस्वो गुणाभावश्च । यद्वा, शिखि गतौ-क, नलोपः । विरुद्धनिद्रान् । विरुद्धगतीन् (विग्रीवान्) शेवायह्वजिह्वाग्रीवा० । उ० १ । १५४ । इति गॄ निगरणे-वन् । ग्रो इत्यादेशः । विरुद्ध निगलनशीलान् भक्षकान् दुष्टान् (शायय) शीङ् शयने-णिच् । स्वापय ।

भावार्थ—राजा अनेक प्रकार से प्रजा का रक्षण आदि करता हुआ दुष्टों को दण्ड पहुंचावे, जैसे भूली भटकी स्त्री को उसके स्वामी के पास प्रत्यक्ष पहुंचा देते हैं ॥ ४ ॥

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ५ ॥

अनया । अहम् । ओषध्या । सर्वाः । कृत्याः । अदूदुषम् ।
याम् । क्षेत्रे । चक्रुः । याम् । गोषु । याम् । वा । ते । पुरुषेषु ५॥

भाषार्थ—(अहम्) मैंने (अनया ओषध्या) इस ओषधिरूप [तापनाशक तुझ राजा] के साथ (सर्वाः कृत्याः) सब हिंसाओं को (अदूदुषम्) खंडित कर दिया है, (याम्) जिस [हिंसा] को (क्षेत्रे) खेत में, अथवा (याम्) जिसको (गोषु) गौओं में (वा) अथवा (याम्) जिसको (ते) तेरे (पुरुषेषु) पुरुषों में (चक्रुः) उन लोगों ने किया था ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो दुष्ट लोग प्रजा को किसी प्रकार से सतावें, प्रजा गण और राज पुरुष मिलकर दुष्टों का नाश करें ॥ ५ ॥

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥ ६ ॥

यः । चकार । न । शशाक । कर्तुम् । शश्रे । पादम् । अङ्गुरिम् ।
चकार । भद्रम् । अस्मभ्यम् । आत्मने । तपनम् । तु । सः ॥६॥

निद्रापय पातय । (त्वम्) (प्रति) प्रत्यक्षम् (स्म) अवश्यम् (चक्रुषे) करोतेः कसुः । कृतवते पुरुषाय (कृत्याम्) हिंसां दुष्क्रियाम् (प्रियाम्) प्रीञ् प्रीणने—क, टाप् । भार्य्यां यथा (प्रियावते) प्रियया भार्यया तद्वते (हर) प्रापय=दण्डपीडां प्रापय ॥

५—(अनया ओषध्या) अनेन ओषधिरूपेण तापनाशकेन राज्ञा सह (अहम्) प्रजागणः (सर्वाः) (कृत्याः) हिंसाः (अदूदुषम्) दुषेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । दूषितवान् खण्डितवानस्मि (याम्) कृत्याम् (क्षेत्रे) शस्यवपनयोग्ये प्रदेशे (चक्रुः) कृतवन्तः शत्रवः (गोषु) गोषु मध्ये (वा) अथवा (ते) तव (पुरुषेषु) मनुष्येषु ॥

भाषार्थ—(यः) जिस दुष्ट ने (कर्तुम्) हिंसा को (चकार) किया था, वह (न शशाक) समर्थ न था, उसने (पादम्) अपना पैर और (अंगुरिम्) अंगुरी (शश्रे) तोड़ली । (सः) उसने (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (भद्रम्) आनन्द, और (आत्मने) अपने लिये (तु) तो (तपनम्) तपन (चकार) कर लिया ॥ ६ ॥

भावार्थ—पापी का आत्मा दुर्बल होता है, वह दण्ड पाने से आप ही अपने हाथ पैर में कुल्हाड़ी मारता है। उससे शिष्टोंको सुख और उस दुष्ट को दुःख होता है ॥ ६ ॥

अ॒पा॒मा॒र्गोऽप॑ मार्ष्टु क्षेत्रि॒यं श॒पथ॑श्च॒ यः ।

अपा॑ह॒ या॑तु॒धा॒नी॒रप॒ सर्वा॑ अरा॒य्यः॑ ॥ ७ ॥

अ॒पा॒मा॒र्गः । अप॑ । मा॒र्ष्टु॒ । क्षे॒त्रि॒यम् । श॒पथः॑ । च॒ । यः ।

अप॑ । अ॒ह॒ । या॒तु॒ऽधा॒नीः । अप॑ । सर्वाः॑ । अ॒रा॒य्यः॑ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अपामार्गः) दोषों का शोधने वाला राजा (क्षेत्रियम्) देह वा वंश के दोष को, (च) और (यः) जो कुछ (शपथः) दुर्वचन हो [उसे भी] (अप मार्ष्टु) शुद्ध कर देवे । (अह) अरे (यातुधानीः) यातना देने वाली शत्रु सेनाओं को (अप=अप मार्ष्टु) शुद्ध कर डाले, और (सर्वाः) सब (अराय्यः=अरायीः) अलक्ष्मियों को (अप=अप मार्ष्टु) शुद्ध कर डाले ॥ ७ ॥

६—(यः) दुष्टपुरुषः (चकार) कृतवान् (न) नहि (शशाक) शक्तः समर्थ आसीत् (कर्तुम्) सितनिगमि० । उ० ३ । ६६ । इति कृञ् हिंसायाम्—तुन् । हिंसाम् (शश्रे) शॄ हिंसायाम्—लिट् । शीर्णवान् । छिन्नवान् (पादम्) चरणम् (अंगुरिम्) अ० २ । ३३ । ६ । अङ्गुलिम् (भद्रम्) मङ्गलम् (अस्मभ्यम्) प्रजागणेभ्यः (आत्मने) स्वस्मै (तपनम्) दहनं पीडनम् (तु) किन्तु (सः) दुष्कर्मी ॥

७—(अपामार्गः) अ० ४ । १७ । ६ । सर्वथा शोधको राजा (अप मार्ष्टु) मृजूष् शुद्धौ । शोधयतु । अपगमयतु (क्षेत्रियम्) अ० २ । ८ । १ । क्षेत्र–घच् । देहे वंशे वा भवं रोगं दोषं वा (शपथः) क्रोशः । दुर्वचनम् (च) (यः)

भावार्थ—राजा अपनी सुनीति से प्रजा के दुःखों का नाश करके उनके स्वास्थ्य और धन की वृद्धि करे ॥ ७ ॥

अपमृज्यं यातुधानानप सर्वा अराय्यः ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥८॥

अप-मृज्य । यातु-धानान् । अप । सर्वाः । अराय्यः ।
अपामार्ग । त्वया । वयम् । सर्वम् । तत् । अप । मृज्महे ॥८॥

भाषार्थ—(यातुधानान्) पीड़ा देने वाले राक्षसों को (अपमृज्य) शोधकर, और (सर्वाः) सब प्रकार की (अराय्यः) दरिद्रताओं को (अप= अपमृज्य) शोधकर, (अपामार्ग) हे सर्वसंशोधक राजन् ! (त्वया) तेरे साथ (वयम्) हम लोग (तत् सर्वम्) उस सब [कष्ट कर्म] को (अप मृज्महे) शोधते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—नीति निपुण राजा के शासन में सब प्रजागण अपने कष्टों को दूर करके आनन्द भोगते हैं ॥ ८ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध सूक्त १७ मन्त्र ६ में आया है ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-८ ॥ अपामार्गो देवता ॥ १, ३-८ अनुष्टुप्, २ पथ्या पङ्क्तिः॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

उतो अस्यबन्धुकृदुतो असि नु जामिकृत् ।
उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा च्छिन्धि वार्षिकम् ॥१॥

यः, तमपि (अप) अप मार्ष्टु (अह) विनिग्रहे (यातुधानीः) अ० १ । २८ । २ । पीडादायिनीः शत्रुसेनाः (सर्वाः) (अराय्यः) अ० ४ । १७ ५ । अलक्ष्मीः ॥

८—(अपमृज्य) सम्यक् शोधयित्वा (यातुधानान्) अ० १ । ७ । १ । पीडाप्रदान् राक्षसान् (अप) अपमृज्य (सर्वाः) (अराय्यः) म०७ । अरायीः। अलक्ष्मीः । अन्यद् व्याख्यातं सू० १७ म० ६ ॥

उतो इति । असि । अबन्धु-कृत् । उतो इति । असि । नु । जामि-कृत् । उतो इति । कृत्या-कृतः । प्र-जाम् । नडम्-इव । आ । छिन्धि । वार्षिकम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे राजन्] तू (अबन्धुकृत्) अबन्धुओं का काटनेवाला (उतो) भी (असि) है, (नु) और (जामिकृत्) बन्धुओं का बनानेवाला (उतो) भी (असि) है । (उतो) इससे (कृत्याकृतः) हिंसा करते वालों और (प्रजाम्) उनके सेवकों को (आ छिन्धि) काट डाल, (इव) जैसे (वार्षिकम्) वर्षा में उत्पन्न (नडम्) नरकट घास को ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपने उत्तम शासन से हिंसक दुष्टों का नाश करके इष्ट मित्रों में मेल बढ़ावे ॥ १ ॥

ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन । सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे ॥ २ ॥

ब्राह्मणेन । परि-उक्ता । असि । कण्वेन । नार्षदेन । सेना-इव । एषि । त्विषि-मती । न । तत्र । भयम् । अस्ति । यत्र । प्र-आप्नोषि । ओषधे ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] तू (ब्राह्मणेन) वेदज्ञानी ब्राह्मण, (कण्वेन) मेधावी, (नार्षदेन) नायकों की सभा के हितकारी पुरुष करके (पर्युक्ता) उप-

---

१—(उतो) अपि च (असि) (अबन्धुकृत्) कृती छेदने-क्विप् । अबन्धूनां शत्रूणां कर्तकश्छेदकः (नु) अनुनये (जामिकृत्) जामिइति व्याख्यातम्-अ० ८ । ७ । २ । जामिः, बन्धुः-यथा सायणः-ऋ० १ । ७५ । ३ । करोतेः क्विप् । बन्धूनां कर्ता सम्पादकः (कृत्याकृतः) हिंसाकर्तॄन् (प्रजाम्) तेषां जनान् भृत्यादीन् च (नडम्) नल बन्धे=पचाद्यच् । लस्य डत्वम् । सुच्छेद्यं तृणविशेषम् (इव) यथा (आ) समन्तात् (छिन्धि) भिन्धि । विदारय (वार्षिकम्) छन्दसि ठञ् । पा० ४ । ३ । १९ । इति वर्षा-ठञ् । वर्षाकालोद्भवम् ॥

२—(ब्राह्मणेन) वेदज्ञेन विदुषा (पर्युक्ता) उपदिष्टौषधिवत् (असि) (कण्वेन) अ० २ । ३२ । ३ उपदेशकेन । मेधाविना-निघ० ३ । १५ (नार्षदेन)

विष्ट [औषध समान] (असि) है। (त्विषीमती) प्रकाशयुक्त (सेना) सेना, अर्थात् सूर्य की किरण पुंज के (इव) समान (एषि) तू चलता है। (तत्र) वहां पर (भयम्) भय (न अस्ति) नहीं होता, (यत्र) जहां पर औषधे हे ओषधि तुल्य तापनाशक राजन् (व्याप्नोषि) तू व्यापक होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य की बतलाई ओषधि बड़ी गुणकारी होती है और जैसे सूर्य अपनी किरणों से अन्धकार मिटाता है, वैसे ही राजा वेदज्ञानी, बुद्धिमान् नरशिरोमणि पुरुषों के उपदेशक और सत्संग से प्रतापी होकर शत्रुओंका नाश करके प्रजाको सुख देता है ॥ २ ॥

अग्रमे॒ष्योष॑धीनां॒ ज्योति॑षेवाभि॒दीपय॑न् ।
उ॒त त्रा॒तासि॒ पाक॒स्याथो॑ ह॒न्तासि॑ र॒क्षसः॑ ॥ ३ ॥

अग्र॑म् । ए॒षि॒ । ओष॑धीनाम् । ज्योति॑षा-इव । अ॒भि॒-दी॒पय॑न् । उ॒त । त्रा॒ता । अ॒सि॒ । पाक॑स्य । अथो॒ इति॑ । ह॒न्ता । अ॒सि॒ । र॒क्षसः॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (ज्योतिषा इव) अपने तेज से जैसे (अभिदीपयन्) सब ओर प्रकाश फैलाता हुआ (ओषधीनाम्) ओषधि तुल्य उपकारी पुरुषों में (अग्रम्) आगे आगे (एषि) तू चलता है। (उत) और तू (पाकस्य) पक्का [दृढ़] करने योग्य अथवा रक्षा योग्य दुर्बल पुरुष का (त्राता)

नरो नायकाः सीदन्ति यत्रेति नृषत्। तस्मै हितम्। पा० ५।१।५। इति नृषद्-अण्। नृणां नायकानां सभाया हितकारकेण (सेनाइव) यथा सेना सूर्यकिरण-समूहः (एषि) गच्छसि (त्विषीमती) इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। इति त्विष दीप्तौ-इन् 'स च कित्' ङीप्। दीप्तियुक्ता (न) (तत्र) (भयम्) भीतिः दरः (अस्ति) (यत्र) (प्राप्नोषि) व्याप्नोषि (ओषधे) हे ओषधिवत् तापनाशक राजन् ॥

३—(अग्रम्) अग्रतः (एषि) गच्छसि (ओषधीनाम्) ओषधिसमान-हितकारकाणां मध्ये (ज्योतिषा) तेजसा स्वप्रतापेन (अभि दीपयन्) अभितः सर्वतः प्रकाशयन् (उत) अपि च (त्राता) रक्षिता (असि) (पाकस्य) पच पाके-घञ्। पक्तव्यस्य दृढीकरणीयस्य। यद्वा, इण्भीकापा०। उ० ३।४३।

रक्षक (असि) है (अथो) और भी तू (रक्षसः) राक्षस का (हन्ता) हनन करने वाला (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा सब उपकारी पुरुषों में अग्रगामी होकर यथावत् शासन करता है ॥ ३ ॥

यद्दो देवा असु॑रांस्त्वयाग्रे॑ निरकु॑र्वत ।

ततस्त्वमध्योषधेऽपामार्गो अ॑जायथाः ॥ ४ ॥

यत् । अ॒दः । दे॒वाः । असु॑रान् । त्वया॑ । अग्रे॑ । निः-अकु॑र्वत ।

तत॑ः । त्वम् । अधि॑ । ओष॒धे॒ । अ॒पा॒मा॒र्गः । अ॒जा॒य॒थाः ॥४॥

भाषार्थ—(अदः) वह (यत्) जो (अग्रे) पूर्वकाल में (त्वया) तेरे साथ होकर (देवाः) देवताओं [विद्वान् शूरों] ने (असुरान्) असुरों को (निरकुर्वत) निकाल दिया है, (ततः) उसीसे (ओषधे) हे ओषधि समान ताप-नाशक राजन् ! (त्वम्) तू (अपामार्गः) संशोधक (अधि) अधिक करके (अजायथाः) प्रकट हुआ है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रशंसनीय काम करने से ही संसार में प्रशंसा पाते हैं ॥ ४ ॥

वि॒भि॒न्द॒ती श॒तशा॑खा वि॒भि॒न्दन् नाम॑ ते पि॒ता ।

प्र॒त्यग् वि भि॑न्धि॒ त्वं तं यो अ॒स्माँ अ॑भि॒दास॑ति ॥५॥

वि॒-भि॒न्द॒ती । श॒त-शा॑खा । वि॒-भि॒न्दन् । नाम॑ । ते॒ । पि॒ता ।

प्र॒त्यक् । वि । भि॒न्धि॒ । त्वम् । तम् । यः । अ॒स्मान् । अ॒भि-दास॑ति ॥ ५ ॥

इति पा रक्षणे—कन् । रक्षणीयस्य दुर्बलस्य पुरुषस्य (अथो) अपि च (हन्ता) नाशयिता (रक्षसः) राक्षस्य ॥

४—(यत्) यस्मात् (अदः) तत् (देवाः) विद्वांसः शूराः (असुरान्) सुरविरोधिनो दुष्टान् (त्वया) राज्ञा (अग्रे) पूर्वकाले (निरकुर्वत) निरा-कृतवन्तः । निवारितवन्तः (ततः) तस्मात् कारणात् (त्वम्) (अधि) उपरि वर्त्तमानः श्रेष्ठः सन् (ओषधे) हे ओषधिवत् तापनाशक राजन् ! (अपा-मार्गः) दोषाणाम् अपमार्जनशीलः संशोधकः (अजायथाः) उत्पन्नोऽभवः ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (विभिन्दती) रोगों को छिन्न भिन्न करनेवाली (शतशाखा) सैकड़ों शाखावाली [ओषधि के समान] (विभिन्दन्) शत्रुओं को छिन्न भिन्न करनेवाला (नाम) प्रसिद्ध (ते) तेरा (पिता) पिता है। (त्वम्) तू भी (प्रत्यक्) लौटाकर (तम्) उसको (वि भिन्धि) छिन्न भिन्न करदे, (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) सताता रहता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—शूरवीर पिता का पुत्र भी अपने पिता के तुल्य शूरवीर होकर वैरियों का नाश करता है ॥ ५ ॥

असद् भूम्याः समभवत् तद्यामेति महद् व्यचः ।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ॥ ६ ॥

असत् । भूम्याः । सम् । अभवत् । तत् । याम् । एति । महत् । व्यचः । तत् । वै । ततः । वि-धूपायत् । प्रत्यक् । कर्तारम् । ऋच्छतु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(तत्) यह (महत्) बड़ा (व्यचः) परस्पर मिला हुआ वा फैला हुआ (असत्) अनित्य जगत् (भूम्याः) भूमि से (समभवत्) उत्पन्न हुआ है, [जो जगत्] (याम्) जिस [भूमि] को (एति) चला जाता है। (ततः) उसी कारण से (तत्) वह [दुष्ट कर्म] (वै) अवश्य (प्रत्यक्) लौटकर (कर्तारम्) हिंसक को (विधूपायत्) संताप देता हुआ [उसको ही (ऋच्छतु) पहुंचे ॥ ६ ॥

५—(विभिन्दती) भिदिर् विदारणे—शतृ । रोगविदारणशीला (शतशाखा) बहुशाखायुक्ता यथौषधिः (विभिन्दन्) शत्रूणां विभेदकः । विदारणशक्तिः (नाम) प्रसिद्धः (ते) तव (पिता) पालकः । जनकः (प्रत्यक्) प्रति गमनेन प्रतिनिवार्य (वि भिन्धि) विदारय (त्वम्) हे राजन् (तम्) अस्मदीयं शत्रुम् (यः) शत्रुः (अस्मान्) धार्मिकान् (अभिदासति) दास बधे-वैदिकः । अभितो हिनस्ति॥

६—(असत्) सत् नित्यम् असत् अनित्यं नश्वरं कार्यरूपं जगत् (भूम्याः) भूमिसकाशात् (समभवत्) उदपद्यत (तत्) असद् यत् (याम्) भूमिम् (एति) प्राप्नोति प्रतिनिवृत्य (महत्) विशालम् (व्यचः) व्यच छले । सम्बन्धे-असुन् । सम्बद्धं व्याप्तम् (तत्) शत्रुकृतं कर्म (वै) अवश्यम् (ततः)

भावार्थ—जैसे ईश्वर नियम से कार्य रूप स्थूल पदार्थ भूमि आदि तत्त्वों से उत्पन्न होकर फिर छिन्न भिन्न होकर भूमि आदि अपने कारणों में लौट जाते हैं, ऐसे ही राजा के दण्ड से दुष्ट की दुष्टता उसी को ही लौटती और सताती है ॥ ६ ॥

बम्बई गवर्नमेन्ट पुस्तक में टिप्पणी है कि जर्मनी के भट्ट रोथ और ह्विटनी महाशय के मतमें (याम्) के स्थान पर [द्याम्] होना चाहिये और ग्रिफ़िथ महाशय ने भी [द्याम्] मान कर स्वर्ग [heaven] अनुवाद किया है, परन्तु पद पाठ और सायण भाष्य में (याम्) है, और हमारे मत में भी (याम्) ही शुद्ध है ॥

प्रत्यङ् हि संबभूविथ प्रतीचीनंफलस्त्वम् ।

सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया वधम् ॥ ७ ॥

प्रत्यङ् । हि । सम्-बभूविथ । प्रतीचीनं-फलः । त्वम् । सर्वान् । मत् । शपथान् । अधि । वरीयः । यवय । वधम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—[हे राजन् !] (त्वम्) तू (हि) ही (प्रत्यङ्) प्रत्यक्ष होकर (प्रतिचीनफलः) प्रतिकूल गति में रहने वालों का नाश करने वाला (संबभूविथ) हुआ है, [इस कारण] (मत्) मुझ से [शत्रु के] (सर्वान्) सब (शपथान्) शापों को और (वरीयः) अधिक विस्तीर्ण (वधम्) हथियार को (अधि) अधिकार पूर्वक (यवय) पृथक् कर ॥ ७ ॥

तस्मात् कारणात् (विधूपायत्) धूप संतापे । गुपूधूपविच्छि० । पा० ३ । १ । २८ । इति आयप्रत्ययः स्वार्थे, ततः शतृ । संतापयत् शत्रुम् (प्रत्यक्) प्रतिनिवृत्य (कर्तारम्) कृञ् हिंसायाम्-तृच् । हिंसकम् (ऋच्छतु) गच्छतु ॥

७—(प्रत्यङ्) प्रति+अञ्चु-क्विन् । प्रत्यञ्चनः । प्रतिगतः । अभिमुखः सन् (हि) एव (संबभूविथ) सम्यग् विद्यमानो बभूविथ (प्रतीचीनफलः) प्रत्यच्—खप्रत्ययः, ञिफला विशरणे-अच् । प्रत्यक् प्रतिगमनं तत्र भवानां फलं विशरणं नाशनं यस्मात् स तथाभूतः । प्रतिगतिभवानां शत्रूणां विदारकः (त्वम्) राजन् (सर्वान्) (मत्) मत्तः (शपथान्) शापान् । शत्रुकृतानि

भावार्थ—पराक्रमी विजयी राजा शत्रुओं का नाश करके प्रजा को सुख पहुंचावे ॥ ७ ॥

शतेनं मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा ।
इन्द्रस्ते वीरुधां पत उग्र ओज्मानमा दंधत् ॥ ८ ॥

शतेनं । मा । परि । पाहि । सहस्रेण । अभि । रक्ष । मा ।
इन्द्रः । ते । वीरुधाम् । पते । उग्रः । ओज्मानंम् । आ ।
दधत् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (शतेन) सौ [उपाय] से (मा) मेरा (परि पाहि) सब प्रकार पालन कर, (सहस्रेण) सहस्र साधन से (मा) मेरी (अभि) सब ओर से (रक्ष) रक्षा कर। (वीरुधां पते) हे विविध प्रकार बढ़ने वाली प्रजाओं के पालक ! (उग्रः) महाबली (इन्द्रः) परमेश्वर (ते) तुझको (ओज्मानम्) पराक्रम (आ) यथावत् (दधत्) देता हुआ वर्तमान है ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा अपनी प्रजा की सदा रक्षा करे। वह पुरुषार्थी पुरुष परमेश्वरकी न्याय व्यवस्था से सब बल पाता रहता है॥ ८ ॥

सूक्तम् २० ॥

१-८ । ब्रह्म देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मोपासनोपदेशः—ब्रह्म की उपासना का उपदेश ॥

आ पंश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति पश्यति ।
दिवंमन्तरिक्षमाद् भूमिं सर्वं तद् देवि पश्यति ॥ १ ॥

दुर्वाक्यानि (अधि) अधिकृत्य (वरीयः) उरु-ईयसुन् । उरुतरं विस्तीर्णतरम् (यवय) पृथक् कुरु (वधम्) हननसाधनम् । आयुधम् ॥

८—(शतेन) शतसंख्याकेन रक्षणोपायेन (मा) माम् (परि) परितः (पाहि) रक्ष (सहस्रेण) सहस्रसंख्याकेन, साधनेन (अभिरक्ष) सर्वतः पालय (इन्द्रः) परमेश्वरः (ते) तुभ्यम् (वीरुधाम्) विरोहणशीलानां लतारूपाणां वा प्रजानाम् (पते) अधिपते (उग्रः) उद्गूर्णबलः । महाबली (ओज्मानम्) सर्वधातुभ्यो मनिन् उ० ४ । १४५ । इति ओज बले-मनिन् । बलम् । पराक्रमम् (आ) समन्तात् (दधत्) डुधाञ् दाने-शतृ । ददत् प्रयच्छन् वर्तते॥

आ । पुश्यति । प्रति । पुश्यति । परा । पुश्यति । पश्यति ।
दिवम् । अन्तरिक्षम् । आत् । भूमिम् । सर्वम् । तत् । देवि ।
पुश्यति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे दिव्यशक्ति परमात्मन् ! तू, (तत्) विस्तार करने वाला वा विस्तीर्ण ब्रह्म आप (आ) अभिमुख (पश्यति) देखता है, (प्रति) पीछे से (पश्यति) देखता है, (परा) दूर से (पश्यति) देखता है, और (पश्यति) सामान्यतः देखता है। (दिवम्) सूर्य लोक, (अन्तरिक्षम्) मध्यलोक (आत्) और भी (भूमिम्) भूमि अर्थात् (सर्वम्) सब को (पश्यति) देखता है ॥ १ ॥

भावार्थ—वह ब्रह्म सब संसार को एक रस देखता रहता है, इस लिये सब मनुष्य उस की उपासना करके दुष्कर्मों से बचकर सत्कर्मों में प्रवृत्त रहें ॥ १ ॥

तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथक्।
त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यानि देव्योषधे ॥ २ ॥

तिस्रः । दिवः । तिस्रः । पृथिवीः । षट् । च । इमाः । प्रदिशः । पृथक् । त्वया । अहम् । सर्वा । भूतानि । पश्यानि ।
देवि । ओषधे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे दिव्य शक्ति, (ओषधे) तापनाशक परमात्मन् । (त्वया) तेरे सहारे से (अहम्) मैं (तिस्रः) तीनों (दिवः) सूर्य लोकों,

---

१—(आ) अभिमुखम् (पश्यति) अवलोकयति (प्रति) प्रतिमुखम् (परा) दूरतः (पश्यति) अविशेषेण साक्षात्करोति (दिवम्) सूर्यलोकम् (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकम् (आत्) अपि च (भूमिम्) पृथिवीम् (सर्वम्) सकलम् (तत्) त्यजितनियजिभ्यो डित् । उ० १ । १३२ । इति तनु विस्तारोपकृतिशब्दोपतापेषु—अदि, स च डित् । विस्तारकं विस्तीर्णं वा, ब्रह्मनामैतत् । (देवि) हे दिव्यशक्ते त्वं तद् ब्रह्म भवत् (पश्यति)

२—(तिस्रः) उत्तममध्यमाधमरूपेण त्रिसंख्याकाः (दिवः) द्युलोकान् (पृथिवीः) भूलोकान् (षट्) प्राच्याद्या ऊर्ध्वाधोदिग्भ्यां सह षट्संख्याकाः

(तिस्रः) तीनों (पृथ्वीः) भूमियों (च) और (इमाः) इन (षट्) छह (प्रदिशः) फैली हुई दिशाओं और (सर्वा) सब (भूतानि) सृष्ट पदार्थों को (पृथक्) नाना प्रकार से (पश्यानि) देखूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा के साथ तीन उत्तम, मध्यम और अधम प्रकार से संसार के सब पदार्थों को साक्षात् करके विज्ञान पूर्वक उनसे उपकार लेवे ॥ २ ॥

दि॒व्यस्य॑ सुप॒र्णस्य॒ तस्य॑ हासि क॒नीनि॑का ।
सा भूमि॒मा रु॑रोहिथ व॒ह्यं॑ श्रा॒न्ता व॒धूरि॑व ॥ ३ ॥

दि॒व्यस्य॑ । सु॒-प॒र्णस्य॑ । तस्य॑ । ह॒ । अ॒सि॒ । क॒नीनि॑का । सा । भूमि॑म् । आ । रु॒रो॒हि॒थ॒ । व॒ह्य॒म् । श्रा॒न्ता । व॒धूः-इ॑व ॥३॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (दिव्यस्य) दिव्य गुण वाले (सुपर्णस्य) यथावत् पालनीय जीव की तू (ह) अवश्य (कनीनिका) कमनीया देवी, अथवा नेत्र तारा समान (असि) है । (सा=सा त्वम्) उस तूने (भूमिम्) हृदय भूमि को (आ रुरोहिथ) प्राप्त किया है, (इव) जैसे (श्रान्ता) थकी हुई, वा शान्त स्वभाव, वा जितेन्द्रिय (वधूः) स्त्री (वह्यम्) अपने पाने योग्य पदार्थ को [प्राप्त करती है] ॥ ३ ॥

(च) (इमाः) परिदृश्यमानाः (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशाः (पृथक्) नानाप्रकारेण (त्वया) ब्रह्मणा सहायेन (अहम्) उपासकः (सर्वा) सर्वाणि (भूतानि) भूतजातानि (पश्यानि) साक्षात्करवाणि (देवि) हे दिव्यशक्ते (ओषधे) हे अन्नाद्योषधिवत् ताप नाशक परमात्मन् ॥

३—(दिव्यस्य) दिव्यस्वभावस्य (सुपर्णस्य) पॄ पालनपूरणयोः—न । सुष्ठु यथावत् पालनीयस्य जीवस्य (तस्य) प्रसिद्धस्य (ह) प्रसिद्धौ (असि) (कनीनिका) कनी दीप्तिकान्तिगतिषु–ईन, कन्, टाप्, अत इत्वम् । कमनीया । यद्वा, चक्षुस्तारावत् प्रदर्शिका (सा) सा त्वं देवी (भूमिम्) योगिनो हृदय-भूमिम् (आ रुरोहिथ) आरूढवती, प्राप्तवती (वह्यम्) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति वह—यक् । यद्वा । वह्यं करणम् । पा० ३ । १ । १०२ । इति वह-यत् । प्रापणीयं पदार्थं स्थानं वा (श्रान्ता) श्रम तपःखेदयोः=क ।

भावार्थ—जैसे जैसे योगी समाधि लगाकर परमात्मा की महिमा देखता है वैसे वैसे ही परमात्मा उस के हृदय में दृढ़ भूमि होता है, जैसे जितेन्द्रिय स्त्री वा पुरुष ठिकाने पर पहुंचकर ठहर जाता है ३

तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत् ।
तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः ॥ ४ ॥

ताम् । मे । सहस्र-अक्षः । देवः । दक्षिणे । हस्ते । आ । दधत् ।
तया । अहम् । सर्वम् । पश्यामि । यः । च । शूद्रः । उत । आर्यः ॥४

भावार्थ—(सहस्राक्षः) असंख्य दर्शन शक्ति वाला अथवा सहस्रों व्यवहारों वाला (देवः) प्रकाश स्वरूप परमात्मा (दक्षिणे) प्रवृद्ध (हस्ते) प्रकाश के निमित्त (ताम्) उपकारशक्ति (मे) मुझ को (आ) सब ओर से (दधत्) दान कर रहा है, (तया) उस [उपकारशक्ति] से (अहम्) मैं (सर्वम्) सब को (पश्यामि) देखता हूं, (यः च) जो कोई (शूद्रः) शोचनीय शूद्र अर्थात् मूर्ख (उत) अथवा (आर्यः) प्राप्त करने योग्य आर्य अर्थात् विद्वान् [ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य] हो ॥ ४ ॥

अध्वश्रमयुक्ता । शान्ता । जितेन्द्रिया (वधूः) वहेर्धश्च । उ० १ । ८३ । इति वह प्रापणे-ऊप्रत्ययः, हस्य धः । वहति सुखानि । यद्वा । बन्ध—ऊः, नलोपः, बध्नाति प्रेम्णा या । नारी, स्त्री (इव) यथा ॥

४—(ताम्) तनु विस्तारे, उपकृतौ च-ड । टाप् । विस्तृतिम् । उपकृतिम् (मे) मह्यम् (सहस्राक्षः) अ० ४ । ११ । ४ । बहुदर्शकः । बहुव्यवहारवान् । असंख्यदर्शनः । (देवः) प्रकाशदानादिगुणयुक्तः परमेश्वरः (दक्षिणे) अ० ४ । ११ । ४ । समर्थे । प्रवृद्धे (हस्ते) हसिमृग्रिण्० । उ० ३ । ८६ । इति हस विकाशे—तन् । विकाशे । प्रकाशे निमित्ते (आ) समन्तात् (दधत्) ददत् वर्तते (तया) विस्तृत्या (अहम्) उपासकः (सर्वम्) शूद्रमार्यं च (पश्यामि) साक्षात्करोमि निर्णयामि (यः) (च) पक्षान्तरे (शूद्रः) शुचेर्दश्च । उ० २ । १९ । इति शुच शोके—रक्, चस्य दः, धातोर्दीर्घश्च । शोचनीयः । मूर्खः (उत) विकल्पे (आर्यः) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति ऋ गतौ-ण्यत् ।

भावार्थ—सर्व व्यवहार कुशल, सर्वद्रष्टा, सर्वनियन्ता जगदीश्वर की दी हुई उपकारशक्ति द्वारा मनुष्य सब मनुष्यों और पदार्थों का यथावत् विवेक करके संसार की उन्नति करे ॥ ४ ॥

आ॒विष्कृ॑णुष्व रू॒पाणि॒ मात्मान॒मप॑ गूहथाः ।
अथो॑ सहस्रचक्षो॒ त्वं प्रति॑ पश्याः किमी॒दिनः॑ ॥ ५ ॥

आ॒विः । कृ॒णु॒ष्व॒ । रू॒पाणि॑ । मा । आ॒त्मान॑म् । अप॑ । गू॒ह॒थाः॒ । अथो॒ इति॑ । स॒ह॒स्र॒च॒क्षो॒ इति॑ सहस्र-चक्षो॑ । त्वम् । प्रति॑ । प॒श्याः॒ । कि॒मी॒दिनः॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(रूपाणि) [पदार्थों के] रूपों अर्थात् बाहिरी आकार को (आविष्कृणुष्व) प्रकट करदे, (आत्मानम्) [वस्तुओं के] आत्मा अर्थात् भीतरी स्वभाव को (मा अप गूहथाः) गुप्त मत रख (अथो) और भी (सहस्रचक्षो) हे असंख्य दर्शन शक्ति वाले परमात्मन्! (त्वम्) तू (किमीदिनः) अब क्या, यह क्या होरहा है, ऐसे गुप्त कर्म करने वाले को लुतरे लोगों को (प्रति) प्रत्यक्ष (पश्याः) देखले ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य पदार्थों के आकार और गुण को स्थूल और सूक्ष्म रीति से पहिचानकर दोषों से बचें और दूसरों को बचावें ॥ ५ ॥

अर्त्तुं प्राप्तुं योग्यः । पूज्यः । श्रेष्ठः विद्वान् । ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो वा । महाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधवः-इत्यमरः, १७ । ३ ।

५—(आविष्कृणुष्व) प्रकटी कुरु । प्रकाशय (रूपाणि) खष्पशिल्पशष्प० । उ० ३ । २८ । इति रु शब्दे-पप्रत्ययः, दीर्घश्च । यद्वा, रूप रूपस्य दर्शने करणे वा-अच् । पदार्थानां बाह्याकारान् (मा अप गूहथाः) गुहू संवरणे । संवृतम् आच्छादितं मा कार्षीः (आत्मानम्) अ० १ । १८ । ३ । पदार्थानां सूक्ष्मस्वभावं सारं तत्त्वं वा (अथो) अपि च (सहस्रचक्षो) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति चक्षिङ् कथने दर्शनेच- उ । हे बहुदर्शनशक्ते परमात्मन् (त्वम्) (प्रति) प्रत्यक्षम् (पश्य) दृशेर्लेटि आडागमः । अवलोकय (किमीदिनः) अ० १ । ७ । १ । किमिदानीं वर्तते किमिदं वर्तते-इत्येवमन्वेषमाणान् पिशुनान् राक्षसान् ॥

दुर्शयं मा यातुधानान् दुर्शयं यातुधान्यः ।
पिशाचान्त्सर्वान् दर्शयेति त्वा रभ ओषधे ॥ ६ ॥

दुर्शय । मा । यातु-धानान् । दुर्शयं । यातु-धान्यः । पिशाचान् । सर्वान् । दुर्शय । इति । त्वा । आ । रभे । ओषधे ॥६॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (यातुधानान्) यातना देने वाले दोषों को (मा) मुझे (दर्शय) दिखा, (यातुधान्यः = ०-नीः) महापीड़ा देने वाली कुवासनाओं को (दर्शय) दिखा। (सर्वान्) सब (पिशाचान्) मांस खाने वाले विघ्नों को (दर्शय) दिखा, (ओषधे) हे तापनाशक परमेश्वर ! (इति) इस के लिये (त्वा) तेरा (आरभे) मैं सहारा लेता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य की बाहिरी कुचेष्टायें और भीतरी कुवासनायें उस की उन्नति के महाविघ्न हैं। इस लिये वह विवेक पूर्वक उनका संशोधन करे ॥ ६ ॥

कुश्यपंस्य चक्षुरसि शुन्याश्चं चतुरक्ष्याः ।
वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥ ७ ॥

कुश्यपस्य । चक्षुः । असि । शुन्याः । च । चतुः-अक्ष्याः । वीध्रे । सूर्यम्-इव । सर्पन्तम् । मा । पिशाचम् । तिरः । करः ॥७॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] तू (कश्यपस्य) रस पीने वाले सूर्य का (च) और (चतुरक्ष्याः) पूर्वादि चार प्रकार से व्याप्ति वाली (शुन्याः) बढ़ी हुई दिशा का (चक्षुः) देखने वाला ब्रह्म (असि) है। (पिशाचम्) मांस

६—(दर्शय) आविष्कारय, प्रकाशय (मा) माम् (यातुधानान्) पीडाप्रदान् दोषान् (यातुधान्यः) यातुधानीः । पीडाप्रदायिकाः कुवासनाः (सर्वान्) (पिशाचान्) अ० १ । १६ । ३ । पिशितस्य मांसस्य भक्षकान् महादुःखदायिनो विघ्नान् (इति) एवमर्थम् (त्वा) त्वां परमात्मानम् (आरभे) आलभे । स्पृशामि । धारयामि ॥

७—(कश्यपस्य) अ० २ । ३७ । ७ । कश्यं जलरसं पिबतीति, तस्य, सूर्यस्य (चक्षुः) दर्शकं ब्रह्म (असि) (शुन्याः) श्वनुक्षन्पूषन्० । उ० १ ।

जाने वाले [पीड़ादायक] विघ्न को (मा तिरस्करः) गुप्त मत रख [प्रकाश करदे], (वीधे) विशेष चमकने के समय अर्थात् मध्यान्ह में (सर्पन्तम्) चलते हुये (सूर्यमिव) सूर्य को जैसे [नहीं छिपा सकते] ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा इस सब विशाल संसार को सर्वथा देखता है और सब के दोषों को इस प्रकार जानता है, जैसे दोपहर के सूर्य को। इससे सब मनुष्य दोषों को त्याग कर सदा सुख से रहें ॥ ७ ॥

उद॑ग्रभं परि॒पाणा॑द् यातु॒धानं॒ किमी॑दिन॑म् ।
तेना॒हं सर्वं॑ पश्याम्यु॒त शू॒द्रमु॒तार्य॑म् ॥ ८ ॥

उत् । अ॒ग्र॒भ॒म् । प॒रि॒ऽपाना॑त् । या॒तु॒ऽधान॑म् । कि॒मी॒दिन॑म् ।
तेन॑ । अ॒हम् । सर्व॑म् । प॒श्या॒मि॒ । उ॒त । शू॒द्रम् । उ॒त । आर्य॑म् ॥ ८

भाषार्थ—(परिपाणात्) रक्षास्थान [अपने हृदय देश] से (यातुधानम्) पीड़ा देने हारे (किमीदिनम्) पिशुन रूप अपने दोष को (उत् अग्रभम्) मैं ने पकड़ लिया है। (तेन) उसी से (अहम्) मैं (सर्वम्) सब को (पश्यामि) देखता हूं, (यः च) जो कोई (शूद्रः) शोचनीय शूद्र अर्थात् मूर्ख, (उत) अथवा (आर्यः) प्राप्त करने योग्य आर्य अर्थात् विद्वान् [ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य] हो ॥ ८ ॥

१५६। इति टुओश्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन्, नान्तत्वात् ङीप्। व्याप्तायाः प्रवृद्धाया विशायाः (चतुरक्ष्याः) चतुर्+अक्षू व्याप्तौ—इन—ङीप्। पूर्वादि दिग्रूपेण चतुर्विधानि अक्षीणि व्यापनानि यस्याः सा चतुरक्षी तस्याः। चतुर्विधव्यापनशीलायाः (वीध्रे) वाविन्धेः। उ० २। २६। इति वि+इन्धी दीप्तौ—क्रन्। विशेषदीप्तिकाले। मध्याह्ने) (सूर्यमिव) (सर्पन्तम्) गच्छन्तम् (पिशाचम्) पिशितभक्षकं विघ्नम् (मा तिरस्करः) करोतेर्माङि लुङि। कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि। पा० ३। १। ५६। इति च्लेः अङ् आदेशः। अन्तर्हितं मा कार्षीः। सर्वथा प्रकाशय—इत्यर्थः।

८—(उत् अग्रभम्) उत्कर्षेण अग्रहं गृहीतवानस्मि वशीकृतवानस्मि (परिपाणात्) परिरक्षणस्थानात्। हृदयदेशात् (यातुधानम्) यातनाप्रदम

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष आत्मदोष के निवारण और बुरे भले के विवेक से शिवसंकल्पी होकर अविद्या का नाश और विद्या का प्रकाश करके सुखी होता है ॥ ८ ॥

इस मन्त्र के उत्तरार्ध के लिये मन्त्र ४ देखो ॥

यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति ।
भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्र दर्शय ॥ ९ ॥

यः । अन्तरिक्षेण । पतति । दिवम् । यः । च । अति-सर्पति ।
भूमिम् । यः । मन्यते । नाथम् । तम् । पिशाचम् । प्र । दर्शय ॥९॥

भाषार्थ—(यः) जो [उपद्रवी] (अन्तरिक्षेण) मध्यवर्ती हृदय अवकाश द्वारा (पतति) नीचे गिरता है, (च) और (यः) जो (दिवम्) व्यवहार वा प्रकाश को (अतिसर्पति) लांघकर रेंगता है, और (यः) जो (भूमिम्) अपनी सत्ता को [अहंकार से] (नाथम्) ईश्वर (मन्यते) मानता है, (तम्) उस (पिशाचम्) मांसभक्षक, दुःखदायक, आत्मा को (प्रदर्शय) तू दिखा दे ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य मनोविकार से वेद मार्यादा छोड़ कुकर्मी बनजाता है, वह मनुष्य ईश्वर भक्ति से अपने अविद्यादि दोषों को छोड़कर सुखी होवे ॥ ९ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

(किमीदिनम्) म० ५ । पिशुनरूपं स्वदोषम् (तेन) तेन कारणेन दोषनिग्रहेण । अन्यद् व्याख्यातं म ४ ॥

९—(यः) आत्मदोषः । उपद्रवी जनो वा (अन्तरिक्षेण) मध्यवर्त्तिना हृदयावकाशेन, तत्सहायेन (पतति) अधोगच्छति (दिवम्) इगुपधज्ञा० । पा० ३ । १ । १३५ । इति दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारादिषु—क प्रत्ययः । व्यवहारम् । प्रकाशम् (यः) (च) (अतिसर्पति) (अतीत्य, उल्लङ्घ्य गच्छति (भूमिम्) अ० १ ।११ ।२। भू सत्तायाम्—मि । सत्ताम् (यः)(मन्यते) अहंकारेण जानाति (नाथम्) नाथ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु—अच् । प्रभुम् । ईश्वरम् (तम्) (पशाचम्) पिशिताशिनम् । दुःखदायकमात्मानम् (प्रदर्शय) अवगमय ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २१ ॥

१-७ ॥ गावो देवताः । १, ५-७ त्रिष्टुप् २-४ जगती ॥

विद्यागुणोपदेशः—विद्या के गुणों का उपदेश ॥

आ गावो अग्मन्नुत भुद्रमंक्रन्त्सीदंन्तु गोष्ठे रुणयंन्त्वस्मे । प्रजावंतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः ॥१

आ । गावः । अग्मन् । उत । भुद्रम् । अक्रन् । सीदंन्तु । गो-स्थे । रुणयंन्तु । अस्मे इति । प्रजा-वंतीः । पुरु-रूपाः । इह । स्युः । इन्द्राय । पूर्वीः । उषसंः । दुहानाः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(गावः) पाने वा स्तुति योग्य, विद्यायें (आ अग्मन्) प्राप्त हुई हैं, (उत) और उन्हों ने (भद्रम्) कल्याण (अक्रन्) किया है । वे (गोष्ठे) हमारी गोट अर्थात् विद्यासमाज में (सीदन्तु) प्राप्त होवें और (अस्मे) हमें (रणयन्तु = रमयन्तु) सुख देवें । वे (इह) यहां समाज में (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य वाले पुरुष के लिये (पूर्वीः) बहुत (उषसः) प्रभात वेलाओं तक (प्रजावतीः) उत्तम मनुष्यों वाली, (पुरुरूपाः) अनेक लक्षण वाली होकर (दुहानाः) [कामनाओं को] पूर्ण करती हुईं (स्युः) रहें ॥ १ ॥

१—(गावः) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । इति गम्लृ गतौ गाने वा—डो । गौरिति वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । प्रापणीया गानयोग्या वा वाचः । विद्याः (आ अग्मन्) मन्त्रे घसह्वर० । पा० २ । ४ । ८० । इति लुङि च्लेर्लुक् । अगमन् आगताः प्राप्ता अभवन् (उत) अपि च (भद्रम्) कल्याणम् (अक्रन्) पूर्ववत् लुङ् । अकार्षुः (सीदन्तु) षद्लृ गतौ । ताः प्राप्नुवन्तु (गोष्ठे) गावो वाचस्तिष्ठन्ति यत्र । विद्यासमाजे (रणयन्तु) रणाय रमणीयाय संग्रामाय—निरु० १० । ४७ । इति निर्देशात् मस्य णः । रमयन्तु सुखयन्तु (अस्मे) विभक्तेः शे । अस्मान् (प्रजावतीः) प्रजावत्यः । प्रशस्तजनवत्यः (पुरुरूपाः) बहुरूपाः । नानाविधाः (इह) अस्मिन् गोष्ठे (स्युः) भवेयुः (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्ताय

भावार्थ—विद्यायें परमेश्वर से आकर संसार को महा उपकारी हुई हैं। मनुष्य ईश्वर विद्या, शिल्प विद्या आदि अनेक विद्याओं को प्राप्त करें और (इन्द्र) महापुरुषार्थी प्रधान पुरुष के सहायक होकर बहुत काल तक सुख भोगें ॥ १ ॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है, म० ६ सू२ २८ म० १—७। उस में सूक्त के भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि हैं ॥

इन्द्रो॒ यज्व॑ने गृण॒ते च॒ शिक्ष॑त॒ उपेद्द॑दाति॒ न स्वं मु॑षायति। भूयो॑भूयो र॒यिमिद॑स्य व॒र्धय॒न्नभि॑न्ने खि॒ल्ये नि द॑धाति देव॒युम् ॥ २ ॥

इन्द्र॑ः। यज्व॑ने। गृ॒ण॒ते। च॒। शिक्ष॑ते॒। उप॑। इत्। द॒दा॒ति॒। न। स्वम्। मु॒षा॒य॒ति॒। भूय॑ः-भूयः। र॒यिम्। इत्। अ॒स्य॒। व॒र्धय॑न्। अभि॑न्ने। खि॒ल्ये। नि। द॒धा॒ति॒। दे॒व॒-युम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (यज्वने) यज्ञ करने वाले (च) और (गृणते) उपदेशक पुरुष को (शिक्षते) शिक्षा देता है, और (उप=उपेत्य) आदर करके (स्वम्) धन (ददाति) देता है, और (न) न (मुषायति) चुराता है, और (देवयुम्) दिव्य गुण वा विद्वानों के प्राप्त कराने

पुरुषाय (पूर्वीः) पुरु बहुनाम-निघ० ३ । १ । ततो ङीष् । पुर्वीः । बह्वीः (उषसः) कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । उषः-कालोपलक्षितान् दिवसान् । सर्वकालम् (दुहानाः) दुह प्रपूरणे-शानच् । कामान् प्रपूरयन्त्यः ॥

२—(इन्द्रः) राजा (यज्वने) सुयजोर्ङ्वनिप् । पा० ३ । २ । १०३ । इति यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु—ङ्वनिप् । यज्ञकर्त्रे (गृणते) गॄ शब्दे-शतृ । उपदेशकाय जनाय (च) (शिक्षते) उपदिशति (उप) उपेत्य (इत्) अवधारणे (ददाति) सुपात्राय प्रयच्छति (न) निषेधे (स्वम्) धनम् (मुषायति) छन्दसि शायजपि । पा० ३ । १ । ८४ । इति मुष स्तेये श्नः शायच् । मुष्णाति चोरयति (भूयोभूयो) बहुतरम् (रयिम्) धनम् (इत्) (अस्य) संसा-

वाले (रयिम्) धन को (भूयोभूयः) अधिक अधिक (इत्) ही (वर्धयन्) बढ़ाता हुआ (अस्य) इस संसार के (अभिन्ने) अटूट (खिल्ये) कण कण प्राप्ति के लाभ में (निदधाति) निधि रूप से रखता है ॥ २॥

भावार्थ—प्रतापी राजा स्वार्थ छोड़कर विद्यादानादि में धन को व्यय करता है, विद्याबल से धन बढ़ाता हुआ संसार को बहुत लाभ पहुंचाता है ॥ २ ॥

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति। देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित् ताभिः सचते गोपतिः सह ॥ ३ ॥

न। ताः। नशन्ति। न। दभाति। तस्करः। न। आसाम्। आमित्रः। व्यथिः। आ। दधर्षति। देवान्। च। याभिः। यजते। ददाति। च। ज्योक्। इत्। ताभिः। सचते। गोपतिः। सह ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ताः) वे [विद्यायें] (न) नहीं (नशन्ति) नष्ट होती हैं, (न) न [उन्हें] (तस्करः) चोर (दभाति) ठगता है, (न) न (आमित्रः) पीडा देने वाला (व्यथिः) व्यथाकारी शत्रु (आसाम्) इनकी (आ दधर्षति) हंसी उड़ाता है। (च) और (गोपतिः) विद्याओं का स्वामी, वाचस्पति (याभिः)

रस्य (वर्धयन्) समर्धयन् (अभिन्ने) अच्छिन्ने। निरुपद्रवे (खिल्ये) खिल कणश आदाने-क। ततो यत्। कणश आदानस्थाने, अप्रहते देशे भवे सुरक्षिते लाभे (निदधाति) निधिरूपेण स्थापयति (देवयुम्) मृगय्वादयश्च। उ० १। ३७। इति देव+या प्रापणे—कु। देवानां दिव्यगुणानां विदुषां वा प्रापकम् ॥

३—(न) नहि (ताः) गावः। विद्याः (नशन्ति) णश अदर्शने, श्यनःशप्। नश्यन्ति (दभाति) दम्भु दम्भे = वञ्चने, छान्दसं रूपम्। दम्भयति दभ्नोति वञ्चति ताः तस्करः) अ० ४। ३। २। उपतापकरः। चोरः (आसाम्) गवाम्। विद्यानाम् (आमित्रः) अमेर्द्विषिति चित्। उ० ४। १७४। इति आङ्+अम पीडने-इत्रिच्। आ समन्तात् आमयति पीडयतीति सः। शत्रुः (व्यथिः) सर्व-

जिन [विद्याओं] से (देवान्) दिव्य गुणों को (यजते) पूजता (च) और (ददाति) देता है, (ताभिःसह) उन [विद्याओं] के साथ (ज्योक्इत्) बहुत ही काल तक वह (सचते) मिला रहता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्या अक्षय कोश है। जो मनुष्य विद्याओं को सत्कारपूर्वक ग्रहण करके संसार में फैलाता है। वह यशस्वी होकर सदा आनन्द भोगता है ॥३॥

न ता अर्वा रे॒णुक॑काटोऽश्नुते॒ न सं॑स्कृत॒त्रमु॒प॑ य॒न्ति ता अ॒भि ॥ उ॒रु॒गा॒यमभ॑यं॒ तस्य॒ ता अनु॒ गावो॒ मर्त॑स्य॒ वि च॑रन्ति॒ यज्व॑नः ॥ ४ ॥

न । ताः । अर्वा॑ । रे॒णु-क॑काटः । अ॒श्नु॒ते॒ । न । सं॒स्कृ॒त॒त्रम् । उप॑ । य॒न्ति॒ । ताः । अ॒भि । उ॒रु-गा॒यम् । अभ॑यम् । तस्य॑ । ताः । अनु॑ । गाव॑ः । मर्त॑स्य । वि । च॒र॒न्ति॒ । यज्व॑नः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(न) न तो (अर्वा) घोड़े के समान विषयासक्त, अथवा हिंसक पुरुष, और (न) न (रेणुककाटः) धूलि के कूये के समान गिरजाने वाला मनुष्य (ताः) उन [विद्याओं] को (अश्नुते) पाता है। (ताः) वे विद्यायें (संस्कृतत्रम्) संस्कृत [शुद्ध] विद्याओं के रक्षक जनको (अभि) सब ओर से (उप यन्ति) आती हैं। (ताः गावः) वे विद्यायें (तस्य) उस (यज्वनः)

धातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति व्यथ भयसंचलनयोः–इन्। व्यथाजनको दुष्टः (आ दधर्षति) धृष प्रहसने। आधर्षति आधर्षणं प्रहसनं तिरस्कारं करोति (देवान) दिव्यगुणान् (च) (याभिः) गोभिः। विद्याभिः (यजते) पूजयति (ददाति) प्रयच्छति (च) (ज्योक्) निरन्तरम् (इत्) (ताभिः) गोभिः। विद्याभिः (सचते) समवैति (गोपतिः) गवां विद्यानां स्वामी। वाचस्पतिः (सह) सहितः ॥

४—(न) निषेधे (ताः) गाः। वाचः। विद्याः (अर्वा) अन्यावमाध-मार्वरेफाः कुत्सिते। उ०५।५४। इति ऋ गतौ हिंसायां च–वन्। अर्वा, अश्वनाम-निघ० १। १४। अर्वेरणवान्–निरु० १०। ३१। निकृष्टप्रतिकृष्टार्वरेफ०। इत्यमरः-२१। ५४। ऋच्छति मार्गम्, ऋणोत्यन्यान्। अश्व इव विषयासक्तो हिंसको

देवताओं के पूजने वाले (मर्त्तस्य) मनुष्य के (उरुगायम्) बड़े प्रशंसनीय (अभयम्) निर्भय राज्य में (अनु) अनुकूलता से (विचरन्ति) विचरती हैं ॥४॥

भावार्थ—विषयी, अदृढ़स्वभाव, दुष्ट जन विद्या के उत्तम फल को नहीं पासकते हैं। जितेन्द्रिय, विद्वानों के सत्कार करने वाले राजा के सुरक्षित राज्य में अनेक उत्तम विद्यायें उन्नति को प्राप्त होती हैं ॥ ४ ॥

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः। इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥ ५ ॥

गावः। भगः। गावः। इन्द्रः। मे। इच्छात्। गावः। सोमस्य। प्रथमस्य। भक्षः। इमाः। याः। गावः। सः। जनासः। इन्द्रः। इच्छामि। हृदा। मनसा। चित्। इन्द्रम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(गावः) विद्यायें ही (भगः) धन हैं, (गावः) विद्यायें (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य हैं, (गावः) विद्यायें (प्रथमस्य) अति श्रेष्ठ (सोमस्य) सोमरस अर्थात् अमृत वा मोक्ष का (भक्षः) सेवन हैं, [इति] (मे इच्छात्)

वा कुत्सितः पुरुषः (रेणुककाटः) रेणु+क+काटः। अजिवृरीभ्यो निच्च। उ० ३। ३८। इति री गतिरेषणयोः—नु। इति रेणुः। कटे वर्षावरणयोः—घञ्। कस्य जलस्य काटो वर्षणं सेचनं यस्मात् स ककाटः कूपः। धूलिकूप इवपतनस्वभावः (अश्नुते) प्राप्नोति (संस्कृतत्रम्) संस्कृत+त्रैङ् रक्षणे—क। संस्कृतानां देववाणीनां शोभनविद्यानां रक्षकम् (उपयन्ति) आगच्छन्ति प्राप्नुवन्ति (अभि) आभिमुख्येन (उरुगायम्) अ० २। १२। १। बहुप्रशंसनीयम् (अभयम्) निर्भयं राज्यम् (तस्य) विद्यारक्षकस्य (ताः) (अनु) अनुकूलतया (गावः) विद्याः (मर्तस्य) हसिमृग्रिण०। उ०।३।८६। इति मृङ् प्राणत्यागे—तन्। मारयति दोषान् स मर्तः। मनुष्यस्य (विचरन्ति) विविधं गच्छन्ति (यज्वनः) म० २। याजकस्य। देवपूजकस्य ॥

५—(गावः) वाचः। विद्याः (भगः) भजनीयं धनम्—निघ० २। १० (इन्द्रः) परमैश्वर्यं सन्ति (मे) मम (इच्छात्) इषु इच्छायां लोटि आडागमः। इच्छा भवेत्—इति (सोमस्य) ऐश्वर्यवतो अमृतस्य मोक्षस्य (प्रथमस्य)

[यह] मेरी इच्छा हो। (जनासः) हे मनुष्यो ! (इमाः) ये (याः) जो (गावः) विद्यायें हैं, (सः) सो ही (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य हैं। (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य की (चित्) ही (हृदा) हृदय अर्थात् आत्मा और (मनसा) विज्ञान के साथ (इच्छामि) मैं चाह करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्याओं को धन, ऐश्वर्य और मोक्ष का मुख्य साधन जानकर पूर्ण श्रद्धा से प्राप्त करें ॥ ५ ॥

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्। भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वयं उच्यते सभासु ॥ ६ ॥

यूयम्। गावः। मेदयथ। कृशम्। चित्। अश्रीरम्। चित्। कृणुथ। सु-प्रतीकम्। भद्रम्। गृहम्। कृणुथ। भद्र-वाचः। बृहत्। वः। वयः। उच्यते। सभासु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(गावः) हे विद्याओ ! (यूयम्) तुम (कृशम्) दुर्बल से (चित्) भी, (अश्रीरम्) श्रीरहित निर्धन से (चित्) भी (मेदयथ) स्नेह करती हो और (सुप्रतीकम्) बड़ी प्रतीति वाला वा बड़े रूप वाला (कृणुथ) बना देती हो। (भद्रवाचः) हे कल्याणी विद्याओ ! (गृहम्) घर को (भद्रम्)

अतिश्रेष्ठस्य (भक्तः) वृतृवदिवचि०। उ० ३। ६२। इति भज सेवने-स। सेवनम्। भोगः (इमाः) (याः) (वाचः) (सः) स एव (इन्द्रः) ऐश्वर्यम् (जनासः) हे जनाः। विद्वांसः (इच्छामि) अहं कामये (हृदा) हृदयेन। आत्मना (मनसा) विज्ञानेन (चित्) अपि। एव (इन्द्रम्) विद्यारूपम् ऐश्वर्यम् ॥

६—(यूयम्) (गावः) हे विद्याः (मेदयथ) ञि मिदा स्नेहने-णिच्। स्नेहयथ। आप्याययथ (कृशम्) अनुपसर्गात् फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः। पा० ८। २। ५५। इति कृश तनूकरणे-क्तप्रत्ययान्तो निपात्यते। क्षीणं निर्बलम् (चित्) अपि (अश्रीरम्) रो मत्वर्थीयः। अश्रीयुक्तम्। निर्धनम्। अमङ्गलम् (कृणुथ) कुरुथ (सुप्रतीकम) अलीकादयश्च। उ० ४। २५। इति सु+प्र+इण् गतौ-

मंगलमय (कृणुथ) कर देती हो, (सभासु) विद्वानों से प्रकाशमान सभाओं में (वः) तुम्हारा ही (वयः) बल (बृहत्) बड़ा (उच्यते) बखाना जाता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—विद्या से दुर्बल मनुष्य सबल, और निर्धन बड़ा विश्वासी और रूपवान् होता है, विद्वानों के घर में सदा आनन्द रहता, और विद्वानों की ही राज सभा और पंचायतों में बड़ाई होती है ॥ ६ ॥

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः । मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥ ७ ॥

प्रजा-वतीः । सु-यवसे । रुशन्तीः । शुद्धाः । अपः । सु-प्रपाने । पिबन्तीः । मा । वः । स्तेनः । ईशत । मा । अघ-शंसः । परि । वः । रुद्रस्य । हेतिः । वृणक्तु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य प्रजाओ!] (प्रजावतीः) उत्तम सन्तान वाली, (सुयवसे) सुन्दर यव आदि अन्न वाले [घर] में [अन्न] (रुशन्तीः) खाती हुई, और (सुप्रपाणे) सुन्दर जलस्थान में (शुद्धाः) शुद्ध (अपः) जलोंको (पिबन्तीः) पीती हुई (वः) तुमको (स्तेनः) चोर (मा ईशत) वश में न करे, और (मा) न (अघशंसः) बुरा चीतनेवाला, डाकू उचक्का आदि [वशमें करे]।

कीकन्, धातोस्तुट् च । शोभनप्रतीतिवन्तम् । शोभनावयवम् । सुरूपम् (भद्रम्) कल्याणकरम् (गृहम्) गेहम् (भद्रवाचः) हे शोभना वाचो विद्याः (बृहत्) महत् (वः) युष्माकम् (वयः) अ० २ । १० । ३ । यौवनम् । बलम् (उच्यते) प्रशस्यते (सभासु) सह+भा दीप्तौ—अङ्, टाप्, सहस्य सः । विद्वद्भिः प्रकाशमानासु परिषत्सु ॥

७—(प्रजावतीः) उत्तमसन्तानयुक्ताः [हे प्रजाः—इति शेषः] (सुयवसे) अत्यविचमि० । उ० ३।११७ । इति सु+यु मिश्रणामिश्रणयोः— असच् । शोभनानि यवाद्यन्नानि यस्मिन् तस्मिन् गृहे (रुशन्तीः) रुश हिंसायाम्–शतृ । अन्नं भक्षयन्तीः (शुद्धाः) निर्मलाः (अपः) जलानि (सुप्रपाणे) सुन्दरे जलपानस्थाने (पिबन्तीः)

(रुद्रस्य) पीड़ानाशक परमेश्वर की (हेतिः) हनन शक्ति (वः) तुमको (परि) सब ओर से (वृणक्तु) त्यागे रहे ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्यायें उपार्जन करके अपनी सन्तानों को उत्तम शिक्षा देते हुये और अन्न जल आदि का सुप्रबन्ध करते हुये सदा हृष्ट पुष्ट बुद्धिमान् और धर्मिष्ठ रहें जिससे उन्हें न चोर आदि सता सके और न परमेश्वर दण्ड देवे ॥ ७ ॥

(मा वस्तेन इति) यह पाद य०१।१ और (परि वो रुद्रस्येति) यह पाद य० १६।५० में है ॥

सूक्तम् २२ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

संग्रामजयायोपदेशः—संग्राम में जय के लिये उपदेश ॥

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्। निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान् रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु ॥ १ ॥

इमम । इन्द्र । वर्धय । क्षत्रियम् । मे । इमम् । विशाम् । एक-वृषम् । कृणु । त्वम् । निः । अमित्रान् । अक्ष्णुहि । अस्य । सर्वान् । तान् । रन्धय । अस्मै । अहम्-उत्तरेषु ॥ १ ॥

पानं कुर्वतीः (वः) युष्मान् (स्तेनः) चोरः (व स्तेन) खर्परे शरिवा लोपो वक्तव्यः । वा० पा० ८ । ३ । ३६ । इति विसर्गलोपः । (मा ईशत) मा ईशिष्ट । अधिकारे वशे न करोतु (मा) मा ईशत (अघशंसः) अघ पापकरणे-पचाद्यच्, शसि इच्छायाम्- अच् । अघं पापं शंसति इच्छतीति यः । अनिष्टचिन्तकः (परि) सर्वतः (वः) युष्मान् (रुद्रस्य) रुद्+रस्य । रुदिर् अश्रुविमोचने-क्विप, इति रुद् पीडा । रुङ् गतिहिंसनयोः-ड । रुदं पीडां रवते नाशयतीति रुद्रः, तस्य दुःखनाशकस्य परमेश्वरस्य (हेतिः) ऊतियूतिजूति० । पा० ३ । ३ । ६७ इति हन वधे क्तिन् । हन्यते ताड्यते अनया । हननशक्तिः (वृणक्तु) वृजी वर्जने । वर्जयतु । त्यजतु ॥

भावार्थ—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वम्) तू (इमम्) इस (क्षत्रियम्) राज्य करने में चतुर राजा को (मे) मेरे लिये (वर्धय) बढ़ा, और (इमम्) इसको (विशाम्) मनुष्यों का (एकवृषम्) अद्वितीय प्रधान अर्थात् सार्वभौम शासक (कृणु) बना। (अस्य) इसके (सर्वान्) सब (अमित्रान्) वैरियों को (निरक्ष्णुहि) निर्बल करदे, और (तान्) उन्हें (अस्मै) इसके लिये (अहमुत्तरेषु) मैं ऊंचा होता हूं, मैं ऊंचा होता हूं, ऐसे कथन स्थान रण क्षेत्रोंमें (रन्धय) नाश कर वा वश में कर ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजागण सर्व श्रेष्ठ पुरुष को राजा बनावें जो परमेश्वर में विश्वास करके युद्ध भूमि में शत्रुओं को मारकर प्रजाको सुखी रक्खे ॥ १ ॥

सायणाचार्य ने (अहमुत्तरेषु) पद को पदपाठ के विरुद्ध [अहम् उत्तरेषु] ऐसे दो पद मानकर व्याख्या की है ॥

एमं भ॑ज॒ ग्रामे॒ अश्वे॑षु॒ गोषु॒ निष्टं भ॑ज॒ यो अ॒मित्रो॑ अ॒स्य । वर्ष्मं॑ क्ष॒त्राणा॑म॒यम॑स्तु॒ राजेन्द्र॒ शत्रुं॑ रन्धय॒ सर्व॑म॒स्मै ॥ २ ॥

आ । इ॒मम् । भ॒ज॒ । ग्रामे॑ । अश्वे॑षु । गोषु॑ । निः । तम् । भ॒ज॒ । यः । अ॒मित्रः॑ । अ॒स्य । वर्ष्म॑ । क्ष॒त्राणा॑म् । अ॒यम् । अ॒स्तु॒ । राजा॑ । इन्द्र॑ । शत्रु॑म् । र॒न्धय॑ । सर्व॑म् । अ॒स्मै ॥२॥

१—(इमम्) अस्माकं मध्ये वर्त्तमानम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (वर्धय) समर्धय (क्षत्रियम्) क्षत्राद् घः। पा० ४।१।१३८। इति क्षत्र-घ। क्षत्रे राष्ट्रे साधुम्। राजानम् (मे) मह्यम् (विशाम्) विश प्रवेशने-क्विप्। विशः, मनुष्यनाम-निघ० २।३। मनुष्याणाम्। प्रजानाम् (एकवृषम्) वृषु सेचने, प्रजननैश्वर्ययोः-क। अद्वितीयप्रधानम्। एकवीरम्। सार्वभौमम् (कृणु) कुरु (त्वम्) (अमित्रान्) अ० १।१६।२ पीडकान् शत्रून् (निः अक्ष्णुहि) अक्ष व्याप्तौ। निर्गतव्याप्तिकान् निर्बलान् कुरु (अस्य) राज्ञः (सर्वान्) तान् तथाविधान् शत्रून् (रन्धय) रध हिंसापाकयोः। रधिजभोरचि। पा० ७।१।६१। इति नुमागमः। रध्यतिर्वशगमने-निरु० १०।४०। नाशय। वशीकुरु (अस्मै) राज्ञे (अहमुत्तरेषु) अहम् + उत्तरेषु। अहमुत्तरो भवामि अहमुत्तरो भवामि इति कथनं यत्र। परस्परोत्कर्षाय योधानां भाषणकर्मसु। महासंग्रामेषु ॥

भावार्थ—(इमम्) इसको (ग्रामे) ग्राममें, (अश्वेषु) घोड़ों में, और (गोषु) गौ आदिकों में (आभज) भाग्यवान् कर, और (यः) जो (अस्य) इसका (अमित्रः) बैरी है, (तम्) उस को (निर्भज) अलग कर दे । (अयम्) यह (राजा) राजा (क्षत्राणाम्) क्षत्रियों का (वर्ष्म) मस्तक [समान ऊंचा] (अस्तु) होवे । (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले इन्द्र भगवान् ! (अस्मै) इसके लिये (सर्वम्) सब (शत्रुम्) शत्रु को (रन्धय) वश में कर ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर में श्रद्धा रखता हुआ अपनी प्रजा, सेना, और गौ आदि पशुओं की रक्षा करता हुआ अपने सब शत्रुओं का नाश करके क्षत्रियों का शिरोमणि बने ॥ २ ॥

अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा ।
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य ॥३॥

अयम् । अस्तु । धन-पतिः । धनानाम् । अयम् । विशाम् । विश्पतिः । अस्तु । राजा । अस्मिन् । महि । इन्द्र । वर्चांसि । धेहि । अवर्चसम् । कृणुहि । शत्रुम् । अस्य ॥ ३ ॥

भावार्थ—(अयम्) यह (धनानाम्) बहुत प्रकार के धनों का (धनपतिः) धनपति (अस्तु) होवे । (अयम्) यह (राजा) राजा (विशाम्) बहुत प्रजाओं का (विश्पतिः) प्रजापति (अस्तु) होवे । (इन्द्र) हे परमेश्वर !

२—(इमम्) राजानम् (आ भज) भज सेवाविभाजनयोः । समन्तात् सेवस्व । भागं देहि (ग्रामे) अ० ४ । ७ । ५ । वसतौ । (अश्वेषु) तुरङ्गेषु (गोषु) धेन्वादिपशुषु (तम्) शत्रुम् (निभज) निर्भक्तं वियुक्तं कुरु (यः) (अमित्रः) पीडकः शत्रुः (अस्य) राज्ञः (वर्ष्म) अ० ३ । ४ । २। उन्नतस्थानम् । शिरोवदुन्नतः (क्षत्राणाम्) अ० २ । १५ । ४ । क्षतत्रायकाणां क्षत्रियाणां मध्ये (अस्तु) (राजा) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (शत्रुम्) रिपुम् (रन्धय) म० १ । वशीकुरु सर्वम्) (अस्मै) राजहिताय ॥

३—(अयम्) (अस्तु) (धनपतिः) धनानां निधीनां पालकः (धनानाम्) बहुविधधनानाम् (विशाम्) बहुप्रजानाम् (विश्पतिः) प्रजापालकः (राजा) (अस्मिन्) राजनि (इन्द्र) हे परमात्मन् (महि) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ ।

(अस्मिन्) इस राज्य में (महि-महीनि) बड़े बड़े (वर्चांसि) तेजों को (धेहि) धारण कर, (अस्य) इसके (शत्रुम्) वैरी को (अवर्चसम्) निस्तेज (कृणुहि) करदे ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर के अनुग्रह से पुरुषार्थ पूर्वक बहुत धन एकत्र करके प्रजा की रक्षा करे और महा प्रतापी होकर शत्रुओं को वश में रक्खे ॥ ३ ॥

अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघे इव धेनू । अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात् प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम् ॥ ४ ॥

अस्मै । द्यावापृथिवी इति । भूरि । वामम् । दुहाथाम् । घर्मदुघे इवेति घर्मदुघे-इव । धेनू इति । अयम् । राजा । प्रियः । इन्द्रस्य । भूयात् । प्रियः । गवाम् । ओषधीनाम् । पशूनाम् ॥४॥

भावार्थ—(द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों ! (अस्मै) इसराजा के लिये (घर्मदुघे) यज्ञ की पूर्ति करने वाली (धेनू इव) दो गौओं के समान (भूरि) बहुत (वामम्) उत्तम धन (दुहाथाम्) पूर्णकरो । (अयम्) यह (राजा) राजा (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (प्रियः) प्रिय (गवाम्) विद्याओं का, (ओषधीनाम्) सब अन्नों का और (पशूनाम्) दोपाये और चौपाये जीवों का (प्रियः) प्रिय (भूयात्) होवे ॥ ४ ॥

---

११८ । इति मह पूजायाम्—इन् । सुपां सुलुक्० । पा० ७।१।३६ । इति शसः सुः । महीनि महान्ति (वर्चांसि) तेजांसि (धेहि) धारय (अवर्चसम्) अतेजस्कम् (कृणुहि) कुरु (शत्रुम्) (अस्य) ॥

४—(अस्मै) राज्ञे (द्यावापृथिवी) हे द्यावापृथिव्यौ । सूर्यभूलोकौ । तत्रस्थपदार्थाः, इत्यर्थः (भूरि) प्रभूतम् (वामम्) अर्तिस्तुसुहु० । उ० १ । १४० । इति वा गतिगन्धनयोः—मन् । यद्वा । इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । इति वन सम्भक्तौ याचने च—मक् । नस्य आकारः । प्रशस्यम्-निघ० ३ । ८ । धनम् (दुहाथाम्) दुग्धम् । प्रपूरयतम् (घर्मदुघे) घर्म+दुघे । घर्म इति

भावार्थ—राजा सूर्य पृथिवी आदि सब लोकों और पदार्थों से विज्ञान पूर्वक उपकार लेकर धन संचय करे, और अनेक विद्याओं और अन्नों और सब प्राणियों की वृद्धि करके सुख प्राप्त करे ॥ ४ ॥

युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते। यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥ ५ ॥

युनज्मि। ते। उत्तर-वन्तम्। इन्द्रम्। येन। जयन्ति। न। परा-जयन्ते। यः। त्वा। करत्। एक-वृषम्। जनानाम्। उत। राज्ञाम्। उत्-तमम्। मानवानाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे राजन्!] (ते!) तेरे लिये (उत्तरावन्तम्) अत्यन्त उत्तम गुण वाले (इन्द्रम्) परमेश्वर को (युनज्मि) मैं संयुक्त करता हूं, (येन) जिसके साथ [शूर जन] (जयन्ति) जय पाते हैं, और (न) कभी नहीं (पराजयन्ते) हारते हैं। (यः) जो (त्वा) तुझको (जनानाम्) मनुष्यों के बीच (एकवृषम्) अद्वितीय प्रधान, और (मानवानाम्) मनन शील अथवा माननीय (राज्ञाम्) राजाओं में (उत्तमम्) अति श्रेष्ठ (करत्) करे ॥ ५ ॥

व्याख्यातम्—अ० ४। १। २। दुहः कब्घश्च। पा० ३। २। ७०। इति दुह प्रपूरणे-कप्, हस्य घश्च। टाप्। घर्मस्य यज्ञस्य प्रपूरयित्र्यौ यज्ञाय दोग्ध्र्यौ (इव) यथा (धेनू) गावौ (अयम्) (राजा) (प्रियः) हृद्यः। तर्पकः। (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य (गवाम्) वाणीनाम्। विद्यानाम् (ओषधीनाम्) व्रीहियवादिसस्यानाम् (पशूनाम्) द्विपाच्चतुष्पदां प्राणिनाम् ॥

५—(युनज्मि) योजयामि (ते) तुभ्यम् (उत्तरावन्तम्) छान्दसो दीर्घः। अत्युत्कृष्टगुणयुक्तम् (इन्द्रम्) परमात्मानम् (येन) इन्द्रेण सह (जयन्ति) शूरा जयं प्राप्नुवन्ति (न) निषेधे (पराजयन्ते) विपराभ्यां जेः। पा० १। ३। १९। इति आत्मनेपदम्। शत्रुभ्यः सकाशात् पराभवं प्राप्नुवन्ति (यः) इन्द्रः (त्वा) त्वां राजानम् (करत्) करोतेर्लेट्। लेटोऽडाटौ। पा० ३। ४। ९४।

भावार्थ—विद्वान् पुरुष राजा को परमेश्वर का उपदेश करें, जिसके आश्रय से वह राजा धीर वीर होकर प्रजा का पालन करे और उत्तमों में उत्तम राजा हो ॥ ५ ॥

उत्त॑रस्त्वमध॑रे ते सपत्ना ये के च॑ राजन् प्रतिशत्र॑वस्ते । एकवृष इन्द्र॑सखा जिगीवाञ्छत्रूयतामा भ॑रा भोज॑नानि ॥ ६ ॥

उत्त॑रः । त्वम् । अध॑रे । ते । स-पत्नाः । ये । के । च । राजन् । प्रति-शत्रवः । ते । एक-वृषः । इन्द्र-सखा । जिगीवान् । शत्रु-यताम् । आ । भर । भोज॑नानि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[राजन् !] हे राजन् ! (त्वम्) तू (उत्तरः) अधिक ऊंचा हो, (च) और (ये के) जो कोई (ते) तेरे (प्रतिशत्रवः) प्रतिकूलवर्ती शत्रु और (ते) तेरे (सपत्नाः) साथ झगड़नेवाले हैं, [वे] (अधरे) नीचे होवें। (इन्द्रसखा) परमेश्वर का मित्र, (जिगीवान्) विजयी और (एकवृषः) अद्वितीय प्रधान तू (शत्रूयताम्) शत्रुओं जैसे आचरण वाले मनुष्यों के (भोजनानि) भोगों के साधन, धन धान्यों को (आभर) लाकर भरदे ॥६॥

इति अडागमः । इतश्च लोपः परस्मैपदेषु । पा० ३ । ४ । ९७ । इति इकारलोपः । कुर्यात् (एकवृषम्) म० १ । अद्वितीयं सुखसेचकं सार्वभौमम् (जनानाम्) शूरजनानाम् (उत) अपि च (राज्ञाम्) क्षत्रियाणाम् (उत्तमम्) मुख्यं सर्वश्रेष्ठं प्रजापरिपालनशौर्यादिगुणैरुत्कृष्टम् (मानवानाम्) तस्येदम् । पा०४। ३ । १२० । इति । मनु—अण् । मननशीलानाम् । यद्वा । छन्दसीवनिपौ च । वा० पा० ५ । २ । १०९ । इति मान-वप्रत्ययो मत्वर्थे । मान्यानाम् ॥

६—(उत्तरः) ऊर्ध्वतरः (त्वम्) राजन् (अधरे) नीचाः (ते) त्वदीयाः (सपत्नाः) अ० १ । ९ । २ । सहपतित्ववन्तः । शत्रवः (ये के च राजन्) (प्रतिशत्रवः) प्रतिकूलवर्तिनो वैरिणः (एकवृषः) म० १ । अद्वितीयशासकः (इन्द्रसखा) इन्द्रेण परमेश्वरेण सखित्वयुक्तः (जिगीवान्) जि जये+क्वसु । सन्लिटोर्जेः । पा०७ । ३ । ५७ । इत्यभ्यासादुत्तरस्य कुत्वम् । छान्दसो दीर्घः । जयशीलः (शत्रूयताम्) अ० ३ । १ । ३ । शत्रु-क्यच्,—शतृ । शत्रुवदाचरताम्

भावार्थ—राजा प्रतिकूलवर्ती सब शत्रुओं को परमेश्वर के सहाय से जीतकर सर्वथा निर्बल करे और प्रजा को सुख देवे ॥ ६ ॥

सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽव बाधस्व शत्रून्। एकवृष इन्द्रसखा जिगीवाञ्छत्रूयतामा खिदा भोजनानि ॥ ७ ॥

सिंह-प्रतीकः। विशः। अद्धि। सर्वाः। व्याघ्र-प्रतीकः। अव। बाधस्व। शत्रून्। एक-वृषः। इन्द्र-सखा। जिगीवान्। शत्रु-यताम्। आ। खिद। भोजनानि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे राजन्!] (सिंहप्रतीकः) सिंह तुल्य पराक्रमी तू (सर्वाः) सब [शत्रुओं के] (विशः) मनुष्यों को (अद्धि) खाले, (व्याघ्रप्रतीकः) व्याघ्र समान झपट कर (शत्रून्) दुष्ट वैरियों को (अव बाधस्व) हटादे। (इन्द्रसखा) परमेश्वर का मित्र, (जिगीवान्) विजयी और (एकवृषः) अद्वितीय प्रधान तू (शत्रूयताम्) शत्रु जैसे आचरण वाले मनुष्यों के (भोजनानि) भोगों के साधन धन धान्यों को (आ खिद) छीनले ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा पूर्ण पराक्रमसे शत्रुओं की सेनाओं और शत्रुओं का नाश करे और सब प्रकार से विजय प्राप्त करके उन्हें अपने अधीन रक्खे ॥ ७ ॥

(आ भरा) छान्दसो दीर्घः। आनीय धर (भोजनानि) ल्युट् च। पा० ३। ३। ११५। इति भुज पालनाभ्यवहारयोः—ल्युट्। भोगसाधनानि धान्यानि धनानि च ॥

७—(सिंहप्रतीकः) सिंह इति। गतम्—अ० ४। ८। ७। अलीकादयश्च। उ० ४। २५। इति प्रति+इण् गतौ-कीकन्। प्रतीयते स प्रतीकः। प्रतीतिः ख्यातिः। सिंहतुल्यपराक्रमः (विशः) प्रजाः शत्रूणाम् (अद्धि) अद भक्षणे—लोट्। भुङ्क्ष्व नाशय (सर्वाः) सकलाः (व्याघ्रप्रतीकः) व्याघ्रवत्पराक्रमशीलः (अव बाधस्व) निवारय (शत्रून्) शातयितॄन्। हिंसकान् (आखिद) खिद दैन्ये परिघाते च। आङ्पूर्वः खिदिः आच्छेदने। आच्छिन्धि। अपहरेत्यर्थः। अन्यद् व्याख्यातं म० ६ ॥

सूक्तम् २१ ॥

१-७ ॥ अग्निर्देवता । १, २, ५, ७, पादत्रयं जगती, अन्तिमोऽनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती, ४ अनुष्टुप्, ६ पूर्वार्धस्त्रिष्टुप्, उत्तरोऽनुष्टुप् ॥

कष्टनिवारणायोपदेशः—कष्ट हटाने के लिये उपदेश ॥

अ॒ग्नेर्म॑न्वे प्रथ॒मस्य॒ प्रचे॑तसः पाञ्च॑जन्यस्य बहु॒धा यमि॒न्धते॑ । विशो॑विशः प्रविशि॒वांसमी॑महे॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ १ ॥

अ॒ग्नेः । म॒न्वे॒ । प्र॒थ॒मस्य॑ । प्र-चे॑तसः । पाञ्च॑-जन्यस्य । ब॒हु॒धा । यम् । इ॒न्धते॑ । विशः॑-विशः । प्र॒वि॒शि॒-वांस॑म् । ई॒म॒हे॒ । सः । नः॒ । मु॒ञ्च॒तु॒ । अंह॑सः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रथमस्य) सबसे पहिले वर्तमान, (प्रचेतसः) बड़े ज्ञान वाले (पाञ्चजन्यस्य) पांच भूतों से उत्पन्न मनुष्य आदि के हितकारक (अग्नेः) सर्वव्यापक अग्नि, अर्थात् परमेश्वर का (मन्वे) मैं मनन करता हूं, (यम्) जिसको [ऋषि लोग] (बहुधा) बहुत प्रकार से (इन्धते) प्रकाशित करते हैं (विशोविशः) सब प्रवेश स्थानों में (प्रविशिवांसम्) प्रवेश करने वाले परमेश्वर को (ईमहे) हम पहुंचते हैं । (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) पीड़ा से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ १ ॥

१— (अग्नेः) सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य (मन्वे) मनु अवबोधने । मननं करोमि (प्रथमस्य) आद्यस्य । मुख्यस्य (प्रचेतसः) प्रकृष्टज्ञानस्य (पाञ्चजन्यस्य) पञ्चजनाः, इति मनुष्य नाम—निघ० २ । ३ । पञ्चभिर्भूतैर्जाताः, इत्यर्थः । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ इति पञ्चजन-ञ्य । पञ्चजनेभ्यो मनुष्येभ्यो हितस्य (बहुधा) बहुप्रकारेण (यम्) अग्निम् (इन्धते) दीपयन्ति प्रकाशयन्ति (विशोविशः) विश आवेशने—क्विप् । सर्वप्रवेशस्थानानि । सर्वाः प्रजाः (प्रविशिवांसम्) विश प्रवेशने । छान्दसं रूपम् । प्रविविशिवांसम् । प्रविष्टवन्तम् । (ईमहे) ईङ् गतौ । प्राप्नुमः । याचामहे—निघ० ३ । १९ । (सः)

भावार्थ—सबके आदि कारण, सर्वज्ञ, सर्वहितकारक, सर्वव्यापक परमेश्वर की महिमा विचारते हुये मनुष्य पुरुषार्थ करके अधर्म को छोड़कर धर्म में प्रवृत्त होकर आनन्द भोगें ॥ १ ॥

यथा॑ ह॒व्यं वह॑सि जातवेदो॒ यथा॑ य॒ज्ञं क॒ल्पय॑सि प्रजा॒नन् । ए॒वा दे॒वेभ्यः॑ सुम॒तिं न॒ आ व॑ह॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥२

यथा॑ । ह॒व्यम् । वह॑सि । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ । यथा॑ । य॒ज्ञम् । क॒ल्प॒य॑सि । प्र॒ऽजा॒नन् । ए॒व । दे॒वेभ्यः॑ । सु॒ऽम॒तिम् । नः॒ । आ । व॒ह॒ । सः । नः॒ । मु॒ञ्च॒तु॒ । अंह॑सः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे उत्पन्नपदार्थों के जानने वाले परमेश्वर ! (यथा) जिस प्रकार से (हव्यम्) देने वा खाने योग्य अन्न को (वहसि) तू पहुंचाता है, (यथा) जिस प्रकार से (यज्ञम्) पूजनीय कर्म को (प्रजानन्) अच्छे प्रकार जानता हुआ (कल्पयसि) तू रचता है । (एव) वैसेही (देवेभ्यः) दिव्य गुणों के लिये (सुमतिम्) सुमति (नः) हमें (आवह) पहुंचा, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) पीड़ा से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ २ ॥

भवार्थ—परमेश्वर ने पुष्टि कारक और सुखदायक अन्न सूर्य आदि पदार्थ उत्पन्न करके हम पर बड़ा उपकार किया है, उसके गुणों को जानकर विज्ञानपूर्वक अपनी धार्मिक बुद्धि बढ़ावें और दुष्कर्मों से पृथक रहकर जीवन लाभ उठावें ॥ २ ॥

अग्निः (नः) अस्मान् (मुञ्चतु) मोचयतु वियोजयतु (अंहसः) अ० २ । ४ ३ । अमेर्हुक् च । उ० ४ । २१३ इति अम रोगे, पीडने—असुन्, हुक् च । रोगात् पीडकात् कष्टात् ॥

२—(यथा) येन प्रकारेण (हव्यम्) अ० ३ । ३ । ४ हु दानादनयोः—यत् । दातव्यं भोक्तव्यं वान्नम् (वहसि) प्रापयसि (जातवेदः) अ० १ । ७ । २ जातानामुत्पन्नानां वेदिनः (यज्ञम्) यजनीयं पूजनीयं कर्म (कल्पयसि) विरचयसि (प्रजानन्) प्रकर्षेणावगच्छन् (एव) एवम् । तथा (देवेभ्यः) दिव्यगुणानां प्राप्तये (सुमतिम्) धार्मिकां बुद्धिम् (नः) अस्मान् (आवह) द्विकर्मकः । प्रापय । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

यामन्यामुन्नुपयुक्तं वहिष्ठं कर्मन्कर्म॒न्नाभंगम्। अग्निमीडे रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं स नो मुञ्चत्वंहसः ॥३॥

यामन्-यामन्। उप-युक्तम्। वहिष्ठम्। कर्मन्-कर्मन्। आ-भंगम्। अग्निम्। ईडे। रक्षः-हनम्। यज्ञ-वृधम्। घृत-आ-हुतम्। सः। नः। मुञ्चतु। अंहसः॥ ३॥

भाषार्थ—(यामन् यामन्) प्रत्येक गति वा उद्योग में (उपयुक्तम्) उपयोग किये, (कर्मन्कर्मन्) प्रत्येक कर्म में (आभगम्) अच्छे प्रकार से भक्ति योग्य, (वहिष्ठम्) अतिबली, (रक्षोहणम्) राक्षसों के हनन करनेहारे, (यज्ञवृधम्) पूजनीय कर्म के बढ़ाने वाले, (घृताहुतम्) प्रकाश के भलीभांति देनेवाले, (अग्निम्) सर्वज्ञ अग्नि, परमात्मा की (ईडे) मैं स्तुति करता हूं। (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ३ ॥

भवार्थ—जो मनुष्य प्रत्येक कर्म में परमात्मा का ध्यान करके उद्योग करते हैं, वही बाहिरी और भीतरी शत्रुओं को हटाकर संसार में सुख भोगते हैं ॥ ३ ॥

३—(यामन् यामन्) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। इति या प्रापणे—मनिन्। सप्तम्या लुक्। यामनि यामनि। सर्वस्यां गतौ (उपयुक्तम्) उपयोगीभूतम् (वहिष्ठम्) तुश्छन्दसि। पा० ५। ३। ५९। इति वोढृ—इष्ठन्। तुरिष्ठेमेयस्सु। पा० ६। ४। १५४। इति तृलोपः। वोढृतमम्। अतिशयेन प्रापकम्। बलिष्ठम् (कर्मन् कर्मन्) डुकृञ् करणे—मनिन्। सप्तम्या लुक्। सर्वस्मिन् कर्मणि (आभगम्) आभक्तव्यम्। आसेव्यम् (अग्निम्) सर्वज्ञं परमात्मानम् (ईडे) ईड स्तुतौ। अग्निमीडेऽग्निं याचामीडिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा—निरु० ७। १५। स्तौमि (रक्षोहणम्) रक्षस्+हन् हिंसागत्योः—क्विप्। रक्षसां हन्तारम् (यज्ञवृधम्) यज्ञस्य पूजनीयकर्मणो वर्धयितारम् (घृताहुतम्) घृत+आङ्-हु दाने-क्विप्, तुक् च। घृतस्य प्रकाशस्य सम्यक् दातारम्। अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

सुजातं जातवेदसमग्निं वैश्वानरं विभुम्।
हव्यवाहं हवामहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ४ ॥

सु-जातम्। जात-वेदसम्। अग्निम्। वैश्वानरम्। वि-भुम्।
हव्य-वाहम्। हवामहे। सः। नः। मुञ्चतु। अंहसः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सुजातम्) बड़े प्रसिद्ध, (जातवेदसम्) उत्पन्नपदार्थों के जानने वाले अथवा धन प्राप्त कराने हारे (वैश्वानरम्) सब नरों [नायकों] के हित करने वाले, (विभुम्) सर्वशक्तिमान्, (हव्यवाहम्) उत्तम अन्न पहुंचाने वाले (अग्निम्) सर्वव्यापक परमेश्वर को (हवामहे) हम पुकारते हैं, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के गुण और कर्मों को जानकर मनुष्य अपना सामर्थ्य बढ़ावें और परस्पर उपकार करके आनन्दित रहें ॥ ४ ॥

येन ऋषयो बलमद्योतयन् युजा येनासुराणामयुवन्त मायाः। येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ५ ॥

येन। ऋषयः। बलम्। अद्योतयन्। युजा। येन। असुराणाम्। अयुवन्त। मायाः। येन। अग्निना। पणीन्। इन्द्रः। जिगाय। सः। नः। मुञ्चतु। अंहसः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस (युजा) मित्र परमेश्वर के साथ (ऋषयः)

४—(सुजातम्) जनी प्रादुर्भावे—क्त। सुप्रसिद्धम् (जातवेदसम्) म० २। जातानां वेदितारम्। धनस्य जनयितारं प्रापकम्। (अग्निम्) सर्वव्यापकम् (वैश्वानरम्) म० १। १०। ४। सर्वेषां नराणां नायकानां हितम् (विभुम्) विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम्। पा० ३। २। १८०। इति वि+भू डु। सर्वशक्तिमन्तम्। प्रभुम् (हव्यवाहम्) हव्यं वहतीति। हव्य+वह-अण्। अन्नप्रापकम् (हवामहे) आह्वयामः। अन्यद् गतम् ॥

५—(येन) अग्निना परमेश्वरेण (ऋषयः) म० २। ६। १। ऋषिर्द-

ऋषि लोगों ने (बलम्) बल (अद्योतयन्) प्रकाशित किया है, और (येन) जिसके साथ (असुराणाम्) असुरों की (मायाः) मायाओं [छलों] को (अयुवन्त) हटाया है। और (येन) जिस (अग्निना) सर्व व्यापक परमेश्वर के साथ (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष ने (पणीन्) कुव्यवहारी मनुष्यों को (जिगाय) जीता है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा का आश्रय लेकर सूक्ष्मदर्शी महात्माओं ने सत्य का प्रकाश और असत्य का नाश किया है और जिस पर विश्वास करके प्रतापी मनुष्यों ने दुष्टों को जीता है, उसी परमात्मा की शरण लेकर हम विघ्नों को हटा कर सुख पावें ॥५॥

येन॑ दे॒वा अ॒मृत॑म॒न्ववि॑न्द॒न् येनौष॑धी॒र्मधु॑मतीरकृ॑ण्वन्।
येन॑ दे॒वाः स्व॑१॒ राभ॑र॒न्त्स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ६ ॥

येन॑। दे॒वाः। अ॒मृत॑म्। अ॒नु॒-अ॒विन्द॒न्। येन॑। ओष॑धीः। मधु॑-मतीः। अकृ॑ण्वन्। येन॑। दे॒वाः। स्वः॑। आ॒-अभ॑रन्। सः। नः॒। मु॒ञ्च॒तु॒। अंह॑सः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(येन) जिसके द्वारा (देवाः) विद्वान् देवताओं ने (अमृतम्)

र्शनात्—निरु० २। ११। साक्षात्कृतधर्म्माणः। सन्मार्गदर्शकाः। अतीन्द्रियार्थदर्शिनः (बलम्) सामर्थ्यम् (अद्योतयन्) द्युत दीप्तौ णिचि लङि रूपम्। अदीपयन् (युजा) सख्या, मित्रेण सह (असुराणाम्) सुरविरोधिनाम्। खलानाम् (अयुवन्त) यु मिश्रणामिश्रणयोः—आत्मनेपदं छान्दसम्। अयुवन्। पृथक् कृतवन्तः (मायाः) माछाससिभ्यो यः। उ० ४। १०६। इति माङ् माने—य। टाप्। प्रज्ञाः—नि घ० ३। ६। छलानि। मिथ्याजालान् (अग्निना) परमात्मना (पणीन्) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति पण व्यवहारे स्तुतौ च-इन्। पणिर्वणिग्भवति पणिः पणनात्—निरु० २। १७। कुव्यवहारिणः पुरुषान् (इन्द्रः) परमैश्वर्य्यवान् पुरुषः (जिगाय) जि जये-लिट्। जितवान् अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

६—(येन) अग्निना परमेश्वरेण (देवाः) विद्वांसः (अमृतम्) अमरत्वम्

अमरपन [मृत्यु से छुटकारा अर्थात् मोक्ष वा कीर्ति] को (अनु-अविन्दन्) अनन्तर पाया है, और (येन) जिसके आश्रय से (ओषधीः) यव आदि पदार्थों को (मधुमतीः) मधुर रस वाली (अकृण्वन्) बनाया है, और (येन) जिसके द्वारा (देवाः) देवताओं ने (स्वः) स्वर्ग अर्थात् महा आनन्द (आ अभरन्) यथावत् धारण किया है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर की महिमा से महापुरुषों ने पुरुषार्थ करके अमरपन अर्थात् सुन्दर नाम प्राप्त किया है, और सांसारिक पदार्थों से विज्ञान पूर्वक उपकार लेकर अत्यन्त सुख पाया है, उसी जगदीश्वर के आश्रय से हम भी उद्योग करके दुःख से छूटें ॥ ६ ॥

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते यज्जातं जनितव्यं च केवलम् । स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ७ ॥

यस्य । इदम् । प्र-दिशि । यत् । वि-रोचते । यत् । जातम् । जनितव्यम् । च । केवलम् । स्तौमि । अग्निम् । नाथितः । जोहवीमि । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(केवलम्) केवल (यस्य) जिस परमेश्वर के (प्रदिशि) शासन में (इदम्) यह [जगत्] है, अर्थात् (यत्) जो कुछ (विरोचते) चमकता है और (यत्) जोकुछ (जातम्) उत्पन्न हुआ है (च) और (जनि-

---

मोक्षम् (अनु—अविन्दन्) विद्लृ लाभे—लङ् । अनुक्रमेण अलभन्त (ओषधीः) व्रीहियवाद्यास्तण्डुलमाद्याश्च (मधुमतीः) मधुररसयुक्ताः (अकृण्वन्) अकुर्वन् (स्वः) स्वर्गं सुखम् (आ-अभरन्) डुभृञ् धारण-पोषणयोः—लङ् सम्यग् अधारयन् । अलभन्तेत्यर्थः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(यस्य) अग्नेः परमेश्वरस्य (इदम्) परिदृश्यमानं जगत् (प्रदिशि) प्रदेशने । प्रशासने (यत्) (विरोचते) विविधं दीप्यते (यत्) (जातम्) उत्पन्नम् (जनितव्यम्) जनयितव्यम् । जनिष्यमाणम् (च) समुच्चये (केव-

तव्यम्) उत्पन्न होगा। (नाथितः) मैं भक्त (अग्निम्) उस सर्वव्यापक परमेश्वर को (स्तौमि) सराहता हूं और (जोहवीमि) बारंबार पुकारता हूं। (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जगत्पिता परमेश्वर की आज्ञा में यह सब जगत् वर्तमान है, उसी की प्रार्थना उपासना करके मनुष्य अपने विघ्नों को हटाकर सदा धर्म में प्रवृत्त होकर प्रसन्न रहें ॥ ७ ॥

सूक्तम् २४ ॥

१-७ ॥ इन्द्रो देवता । १, ४ पादत्रयं जगती, अन्तिमोऽनुष्टुप्, २, ३, ५-७ पादत्रयं त्रिष्टुप्, अन्तिमोऽनुष्टुप् ॥

सर्व सुख प्राप्त्युपदेशः—पूर्ण सुख पाने का उपदेश ॥

इन्द्रस्य मन्महे शश्वदिदस्य मन्महे वृत्रघ्न स्तोमा उप मेम आगुः। यो दाशुषः सुकृतो हवमेति स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥

इन्द्रस्य । मन्महे । शश्वत् । इत् । अस्य । मन्महे । वृत्र-घ्नः । स्तोमाः । उप । मा । इमे । आ । अगुः । यः । दाशुषः । सु-कृतः । हवम् । एति । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) परमऐश्वर्य वाले परमात्मा का (मन्महे) हम मनन करते हैं. (शश्वत् इत्) सदाही (अस्य) इस (वृत्रघ्नः) शत्रु नाशक

लम्) अ० ३ । १८ । २ । निश्चितम् । अनन्यसाधारणम् (स्तौमि) प्रशंसामि (अग्निम्) सर्वव्यापकं परमेश्वरम् (नाथितः) तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् । पा० ५ । २ । ३६ । इति नाथ–इतच् । नाथः स्वामी संजातोयस्य स नाथितः । नाथवान् । भक्तः (जोहवीमि) अ० २ । १२ । ३ । पुनः पुनराह्वयामि । अन्यद् व्याख्यातम् म० १ ॥

१—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्ययुक्तस्य परमात्मनः (मन्महे) मनुमहे । मननं कुर्मः (शश्वत्) सर्वदा (इत्) निश्चयेन (अस्य) इन्द्रस्य (वृत्रघ्नः) अ० १ ।

वा अन्धकार निवारक का (मन्महे) हम मनन करते हैं। (इमे) ये (स्तोमाः) स्तुति के ज्ञान (मा) मुझको (उप आ अगुः) प्राप्त हुये हैं। (यः) जो परमेश्वर (दाशुषः) दानशील और (सुकृतः) सुकर्मी पुरुष के (हवम्) आवाहन को (एति) प्राप्त होता है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के गुणों को नित्य गाते हुए हम लोग पापसे बचकर धर्म प्रचार करें ॥ १ ॥

य उग्रीणामुग्रबाहुर्ययुर्यो दानवानां बलमारुरोज ।
येन जिताः सिन्धवो येन गावः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥२॥

यः । उग्रीणाम् । उग्रबाहुः । ययुः । यः । दानवानाम् । बलम् । आ-रुरोज । येन । जिताः । सिन्धवः । येन । गावः । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (ययुः) शीघ्रगामी परमात्मा (उग्रीणाम्) प्रचण्ड सेनाओं के (उग्रबाहुः) भुजाओं का प्रचण्ड करने वाला है, (यः) जिसने (दानवानाम्) छेदनशील राक्षसों का (बलम्) बल (आरुरोज) तोड़ दिया है, (येन) जिस परमेश्वर करके (सिन्धवः) जल और (येन)

---

२१ । १ । शत्रुनाशकस्य । अन्धकारनिवारकस्य (स्तोमाः) अर्तिस्तुसुहु० । उ० १ । १४० । ष्टुञ् स्तुतौ—मन् । स्तोत्राणि (उप) समीपे (मा) मां सेवकम् (इमे) वक्ष्यमाणाः (आ अगुः) इण् गतौ-लुङ् । आगमन् (यः) इन्द्रः (दाशुषः) दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च । पा० ६ । १ । १२ । इति दाशृ दाने-क्वसौ निपात्यते । दानशीलस्य (सुकृतः) शोभनकर्मणः । धार्मिकस्य पुरुषस्य (हवम्) अ० १ । १५ । २ । आह्वानम् (एति) गच्छति प्राप्नोति । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

२—(यः) इन्द्रः (उग्रीणाम्) षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० । ४ । १ । ४१ । इति उग्र-ङीष् । उग्रस्वभावानां प्रजानां सेनानां वा (उग्रबाहुः) उग्रा बाहवो यस्मात् स तथाभूतः । अतिशयेन बलदाता, इत्यर्थः (ययुः) या हुेच । उ० १ । २१ । इति या प्रापणे-उप्रत्ययः, द्वित्वं च । शीघ्रगामी (दानवानाम्) दो

जिस करके (गावः) वायु, सूर्य, और भू लोक (जिताः) जीते गये हैं, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने सब विघ्नों का नाश करके जल पृथिवी आदि पदार्थों को उपकारी बनाया है, उसीकी उपासना से हम अपना सामर्थ्य बढ़ाकर क्लेशों से बचें ॥ २ ॥

यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद् यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम्। यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स नो मुञ्चत्वंहसः॥३

यः । चर्षणि-प्रः । वृषभः । स्वः-वित् । यस्मै । ग्रावाणः । प्र-वदन्ति । नृम्णम् । यस्य । अध्वरः । सप्त-होता । मदिष्ठः । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो परमेश्वर (चर्षणिप्रः) उद्योगी पुरुषों का मनोरथ पूरा करने वाला, (वृषभः) सुख की वर्षा करने वाला, श्रेष्ठ और (स्वर्वित्) स्वर्ग अर्थात् मोक्ष प्राप्त कराने हारा है और (यस्मै) जिसके [आज्ञा पालन के] लिये (ग्रावाणः) शास्त्र वेत्ता पण्डित जन (नृम्णम्) बल वा धन (प्रवदन्ति) बताते हैं। (यस्य) जिसका (अध्वरः) सन्मार्गदर्शक वा हिंसारहित

अवखण्डने-ल्युट्। इति दानं छेदनम्। ततः छन्दसीवनिपौ च। वा० पा० ।५।२। १०६। इति-वप्रत्ययौ मत्वर्थे। छेदनशीलानां राक्षसानाम् (बलम्) सामर्थ्यम् (आ-रुरोज) रुजो भङ्गे-लिट्। सर्वतो बभञ्ज (येन) इन्द्रेण (जिताः) वशीकृताः (सिन्धवः) स्यन्दनशीलानि जलानि (गावः) गच्छतीति गौः। वायुसूर्यभूलोकाः। अन्यद् गतम् ॥

३—(यः) इन्द्रः (चर्षणिप्रः) अर्तिसृधृ०। उ० २। १०२। इति चर गतौ—अनि, षुगागमश्च। यद्वा। कृषेरादेश्च चः। उ० २। १०४। इति कृष विलेखने-अनि, आदेश्च चः। चर्षणयो मनुष्याः-निघ०२। ३। आतोऽनुपसर्गे कः। पा० ३। २। ३। इति प्रा पूरणे-क। मनुष्याणां मनोरथपूरकः। (वृषभः) अ० ४। ५। १। सुखस्य वर्षकः। श्रेष्ठः (स्वर्वित्) अन्तर्गतण्यर्थः। स्वर्गस्य प्रापयिता (यस्मै) इन्द्राय (ग्रावाणः) अ० ३। १०। ५। गॄ विज्ञापे-क्वनिप्।

व्यवहार (सप्तहोता) सातहोताओं से [अर्थात् विषयों के ग्रहण करने और देने वाले त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन, और बुद्धि से] साक्षात् किया हुआ (मदिष्ठः) अतिशय आनन्द दायक है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के अनन्त सुखदायक गुणों को साक्षात् करके पुरुषार्थ पूर्वक कष्टों का नाश करके आनन्द प्राप्त करें ॥३॥

यहां पर [सप्त प्राणान्] अ० २ । १२ । ७ और [सप्त ऋषयः] अ० ४ । ११ । ९ । इन पदों की भी व्याख्या देखो ॥

यस्यं वृशासं ऋषुभासं उुक्षणो यस्मैं मीयन्ते स्वरंवः स्वुर्विदें । यस्मैं शुक्रः पवंते ब्रह्मंशुम्भितुः स नों मुञ्चुत्वंहंसः ॥ ४ ॥

यस्यं । वुशासंः । ऋृषुभासंः । उुक्षणंः । यस्मैं । मीयन्तें । स्वरंवः स्वुः-विदें । यस्मैं । शुक्रः । पवंते । ब्रह्मं-शुम्भितः । सः । नुः । मुञ्चुतु । अंहंसः ॥ ४ ॥

शास्त्रविज्ञापकाः । पण्डिताः (प्रवदन्ति) प्रकथयन्ति (नृम्णम्) णम प्रह्वत्वे-शब्दे, च-पचाद्यच् । पृषोदरादित्वादाद्यन्तविपर्ययोऽलोपश्च । इति नृणम, रूपं जातम् । नृम्णं च बले नृम्नतम्–निरु० ११ । ९ । नॄन् नमयति प्रह्वीकरोतीति । बलम्–निघ० २ । ९ । धनम्–निघ० २ । १० । (यस्य) इन्द्रस्य (अध्वरः) अ० १ । ४ । २ । सन्मार्गदाता हिंसारहितो वा व्यवहारः (सप्तहोता) सप्त + हु दानादानादनतर्पणेषु–तृच् । सप्तहोता सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति, सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा–नि रु० ११ । २३ । सप्त त्वक्चक्षुःश्रवण-रसनाघ्राणमनोबुद्धयो होतारो विषयाणां ग्रहीतारो दातारःसाक्षात्कर्तारो यस्य स सप्तहोता । अत्र [सप्त प्राणान्] इत्यस्य पदस्य, अ० २ । १२ । ७ । तथा [सप्तऋषयः] इतिपदस्यच, अ० ४ । ११ । ९ । व्याख्या द्रष्टव्या । (मदिष्ठः) मदी हर्षे–तृच् । तुश्छन्दसि । पा० ५ । ३ । ५९ । इति इष्ठन् । तुरिष्ठेमेयस्सु । पा० ६।४।१५४। इति तृलोपः अतिशयेन मादयिता हर्षकः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिस परमेश्वर के (वशासः) वशी भूत होकर (ऋषभासः) धर्म जाननेवाले ऋषि लोग (उक्षणः) सुख की वर्षा करने वाले होते हैं, और (यस्मै) जिस (स्वर्विदे) सुख प्राप्त कराने वाले के लिये (स्वरवः) जयस्तम्भ (मीयन्ते) गाड़े जाते हैं। (यस्मै) जिसके लिये (ब्रह्मशुम्भितः) वेदों से कहा गया (शुक्रः) निर्मल सोम रस [अमृत वा मोक्षानन्द] (पवते) शुद्ध किया जाता है। (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा की आज्ञा पालन से ऋषि महात्मा वेदों का उपदेश करके संसार को सुख देते हैं और शूरवीर लोग शत्रुओं पर जय पाते हैं और ब्रह्मज्ञानी मोक्ष सुख प्राप्त करते हैं, वही परमात्मा हमारे कष्टों को मिटावे ॥ ४ ॥

यस्य जुष्टिं सोमिनः कामयन्ते यं हवन्त इषुमन्तं गविष्टौ। यस्मिन्नर्कः शिश्रिये यस्मिन्नोजः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ५ ॥

यस्य। जुष्टिम्। सोमिनः। कामयन्ते। यम्। हवन्ते। इषु-मन्तम्। गो-इष्टौ। यस्मिन्। अर्कः। शिश्रिये। यस्मिन्। ओजः। सः। नः। मुञ्चतु। अंहसः ॥ ५ ॥

४—(यस्य) इन्द्रस्य परमेश्वरस्य (वशासः) असुगागमः। वशाः। अधीनाः सन्तः (ऋषभासः) अ० ३। ६। ४। असुगागमः। ऋषन्ति प्राप्नुवन्ति सर्वान् मन्त्रानिति ऋषभाः। साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः। ऋषिर्दर्शनात्—निरु० २। ११। श्रेष्ठाः (उक्षणः) अ० ३। ११। ८। उक्षाणः। बलवन्तः (यस्मै) इन्द्राय (मीयन्ते) डुमिञ् प्रक्षेपणे। स्थाप्यन्ते (स्वरवः) शॄस्वृस्निहि०। उ० १। १०। इति स्वृ शब्दोपतापयोः—उ। यूपाः। जयस्तम्भाः (स्वर्विदे) अ० ३। स्वर्गप्रापकाय (शुक्रः) अ० २। ११। ५। शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः—निरु० ८। ११। निर्मलो रसवान् सोमः (पवते) गच्छति—निघ० २। १४। पूयते (ब्रह्मशुम्भितः) शुम्भ भाषणभासनहिंसासु—क्तः। ब्रह्मभिर्वेदैः शुम्भितो भाषितः कथितः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(सोमिनः) सोम अर्थात् ऐश्वर्य वाले पुरुष (यस्य) जिस परमात्मा की (जुष्टिम्) प्रीति की (कामयन्ते) कामना करते हैं, (यम्) जिस (इषुमन्तम्) दृष्टिवाले परमात्मा को (गविष्टौ) वज्रों के दान स्थान, संग्राम में [शूर लोग] (हवन्ते) पुकारते हैं। (यस्मिन्) जिसमें (अर्कः) अन्न और (यस्मिन्) जिसमें (ओजः) पराक्रम (शिश्रिये) आश्रित हुआ है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के आश्रय से ऐश्वर्य, विजय, अन्न, और पराक्रम प्राप्त होते हैं, उसी के विश्वास पर हम पुरुषार्थ पूर्वक दुःखों का नाश करें ॥ ५ ॥

यः प्र॑थ॒मः कर्म॑कृ॒त्या॑य ज॒ज्ञे यस्य॑ वी॒र्यं॑ प्रथ॒मस्यानु॑बु॒द्धम्। येनोद्य॑तो॒ वज्रो॒ऽभ्याय॒ताहिं॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः॥६

यः। प्र॒थ॒मः। कर्म॒-कृ॒त्या॑य। ज॒ज्ञे। यस्य॑। वी॒र्य॑म्। प्र॒थ॒मस्य॑। अनु॑-बु॒द्धम्। येन॑। उ॒त्-य॑तः। वज्रः॑। अ॒भि-आय॑त। अहि॑म्। सः। नः॒। मु॒ञ्च॒तु॒। अंह॑सः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (प्रथमः) मुख्य परमात्मा (कर्मकृत्याय) कर्म करने वाले के हित के लिये (जज्ञे) प्रगट हुआ है, (यस्य) जिस (प्रथमस्य)

५—(यस्य) परमात्मनः (जुष्टिम्) जुषी प्रीतिसेवनयोः—क्तिन्। प्रीतिम् (सोमिनः) सोमवन्तः। ऐश्वर्यवन्तः (कामयन्ते) अभिलषन्ति (यम्) इन्द्रम् (हवन्ते) आह्वयन्ति (इषुमन्तम्) ईषेः किच्च। उ०१।१३। इति ईष गतिहिंसादर्शनेषु—उ। ह्रस्वश्च। दर्शनवन्तम् (गविष्टौ) गौरिति वज्रम्। इत्यमरः—२३। २५। यज दाने—क्तिन्। गवां वज्राणां शस्त्राणामिष्टिर्दानं यत्र। संग्रामे (यस्मिन्) इन्द्रे (अर्कः) कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः। उ० ३। ४०। इति अर्च पूजायाम्—क अर्कः—अन्ननाम—निघ० २। ७। अर्कमन्नंभवत्यर्चति भूतानि—निरु० ५। ४। अन्नम् (शिश्रिये) श्रिञ् सेवायाम्—लिट्। आश्रितो बभूव (ओजः) बलम्। पराक्रमः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

६—(यः) इन्द्रः परमेश्वरः (प्रथमः) मुख्यः। श्रेष्ठः। (कर्मकृत्याय) विभाषा कृवृषोः। पा० ३। १। १२०। इति डुकृञ् करणे—कर्तरि क्यप् तुकच।

श्रेष्ठ परमात्मा का (वीर्यम्) सामर्थ्य (अनुबुद्धम्) सर्वत्र जाना गया है। (येन) जिस परमात्मा करके (उद्यतः) उठाये गये (वज्रः) वज्र ने (अहिम्) हनन करने वाले शत्रु को (अभ्यायत) हनन कर दिया है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर वैदिक कर्म करने वालों का सदा आनन्द दायक है, उसी शत्रुनाशक जगदीश्वर की कृपा से हम अपने दोषों को त्याग कर सदा प्रसन्न रहें ॥ ६ ॥

यः संग्रामान् नयति सं युधे वशी यः पुष्टानि संसृजति द्वयानि । स्तौमीन्द्रं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ७ ॥

यः । सम्-ग्रामान् । नयति । सम् । युधे । वशी । यः । पुष्टानि । सम्-सृजति । द्वयानि । स्तौमि । इन्द्रम् । नाथितः । जोहवीमि । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥७॥

भाषार्थ—(यः) जो (वशी) स्वतन्त्र परमात्मा (संग्रामान्) संग्राम करने वाले योधाओं को (युधे) युद्ध करने के लिये (संनयति) यथावत् ले चलता है, और (यः) जो (द्वयानि) दो प्रकार की [शारीरिक और आत्मिक]

कर्मणां कर्तुर्हिताय (जज्ञे) जातवान्। प्रादुर्बभूव (यस्य) (वीर्यम्) सामर्थ्यम् (प्रथमस्य) श्रेष्ठस्य (अनुबुद्धम्) अनुज्ञातम् (येन) इन्द्रेण (उद्यतः) उद्धृतः (वज्रः) दण्डः (अभ्यायत) आङ्पूर्वाद् यमेर्लुङि च्लेःसिच्। यमो गन्धने। पा० १।२।१५। इति सिचः कित्वात्। अनुदात्तोपदेश०। पा० ६।४।३७। इति अनुनासिकलोपः। ह्रस्वादङ्गात्। पा० ८।२।२७। इति सिज्लोपः। अभितः सर्वतोऽहिंसीत् (अहिम्) अ० २।५।५। आहन्तारम्। क्लेशप्रदम्। अन्यत् पूर्ववत्॥

७—(यः) इन्द्रः परमेश्वरः (संग्रामान्) संग्राम युद्धे-पचाद्यच्। योद्धॄन् (सन्नयति) सम्यक्प्रापयति (युधे) युद्धाय (वशी) स्वतन्त्रः (पुष्टानि) पोषणानि (संसृजति) सम्यग् ददाति (द्वयानि) संख्याया अवयवे तयप्।

(पुष्टानि) पुष्टियां (संसृजति) यथावत् देता है । (नाधितः) मैं भक्त (इन्द्रम्) परमैश्वर्य वाले परमात्मा को (स्तौमि) सराहता हूं और (जोहवीमि) बारंबार पुकारता हूं (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥७॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सत्यवादी शूरों का जय करता है और वेद द्वारा शरीर और आत्मा का सुख देता है। उसी परमात्मा की उपासना और प्रार्थना से सब मनुष्य पुरुषार्थी होकर कष्टों को निवारें ॥७॥

सूक्तम् २५ ॥

१-७ ॥ वायुसवितारौ देवते १, २, ४-६ पादत्रयं त्रिष्टुप्, अन्तिमोऽनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ७ ७ बृहती छन्दः ॥

वायुसूर्यगुणोपदेशः—पवन और सूर्य के गुणों का उपदेश ॥

वायोः सवितुर्विदथानि मन्महे यावात्मन्वद् विशथो यौ च रक्षथः । यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

वायोः । सवितुः । विदथानि । मन्महे । यौ । आत्मन्-वत् । विशथः । यौ । च । रक्षथः । यौ । विश्वस्य । परिभू इति परि-भू । बभूवथुः । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥१॥

भाषार्थ—(वायोः) गतिशील वा दोषनाशक पवन के और (सवितुः) सर्वप्रेरक सूर्य के (विदथानि कर्मों को (मन्महे) हम विचारते हैं। (यौ) जो तुम (यौ) गमनशील होकर (आत्मन्वत) आत्मा वाले जगत में (विशथः)

पा० ५ । २ । ४२ । इति द्वि-तयप् । द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा । पा० ५।२।४३ । इति तयस्य अयच् । द्वौ अवयवौ यस्य तद्द्वयम् । द्वन्द्वानि । शारीरिकात्मिकानि (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् । अन्यद् व्याख्यातम्-सू० २३ म० ७ ॥

१—(वायोः) कृवापा० । उ० १ । १ । इति वा गतिगन्धनयोः-उण्, युगागमः । गमनशीलस्य दोषनाशकस्य वा जगदाधारभूतस्य वातस्य (सवितुः) सर्वप्रेरकस्य सूर्यस्य (विदथानि) विद ज्ञाने-अथ । वेदितव्यानि कर्माणि (मन्महे) जानीमः । विचारयामः (यौ) वायुसवितारौ युवाम् (आत्म-

प्रवेश करते हो (च) और (रक्षथः) रक्षा करते हो, (यौ) जो तुम दोनों (विश्वस्य) सब जग के (परिभू) सहारा देने वाले (बभूवथुः) हुये हो, (तौ) वह तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥१॥

भावार्थ—वायु और सूर्य के यथावत् गुण जानकर मनुष्य आत्मिक शारीरिक और सामाजिक उन्नति करें ॥ १ ॥

ययो॑: संख्या॑ता॒ वरि॑मा॒ पार्थि॑वानि॒ याभ्यां॒ रजो॑ युपि॒तम॒न्तरि॑क्षे । ययो॑: प्रा॒यं नान्वा॑न॒शे कश्च॒न तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ २ ॥

ययो॑: । स॒म्ऽख्या॑ता । वरि॑मा । पार्थि॑वानि । याभ्या॑म् । रज॑: । यु॒पि॒तम् । अ॒न्तरि॑क्षे । ययो॑: । प्र॒ऽअ॒यम् । न । अनु॑ऽआ॒न॒शे । क॑: । च॒न । तौ । नः॒ । मु॒ञ्च॒त॒म् । अंह॑सः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ययोः) जिन दोनों [वायु सूर्य] के (संख्याता) गिने हुए (पार्थिवानि) पृथिवी के (वरिमा) विस्तार हैं, (याभ्याम्) जिन दोनों करके (अन्तरिक्षे) आकाश में (रजः) जल वा जगत् (युपितम्) विमोहित किया गया [मेघ मण्डल में ताड़न शक्ति से रोका गया] है । (ययोः) जिन दोनों की

न्वत्) अ० ४ । १० । ७ । सात्मकं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत् । जीवनशक्तियुक्तम् (विशथः) प्रविशथः (यौ) या प्रापणे-ड । यातारौ । गन्तारौ सन्तौ (रक्षथः) पालयथः (विश्वस्य) सर्वस्य जगतः (परिभू) अ० ३।२१।४। सुपां सुलुक्० । पा० ७।१।३६। इति पूर्वसवर्णदीर्घः । परिग्रहीतारौ । सर्वतो व्यापकौ (बभूवथुः) (तौ) तथाभूतौ युवाम् (नः) अस्मान् (मुञ्चतम्) मोचयतम् (अंहसः) कष्टात् ॥

२—(ययोः) वायुसवित्रोः (संख्याता) संख्यातानि परिगणितानि (वरिमा) पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा । पा० ५ । १ । १२२ । इति । उरु-इमनिच् । प्रियस्थिर० । पा० ६ । ४ १५७ । इति वर् आदेशः शेर्लोपः । वरिमाणि । उरुत्वानि । महत्वानि । (पार्थिवानि) पृथिव्या आञौ । वा० पा० ४ । १ । ८५ । इति पृथिवी-अञ् । पृथिव्यां भवानि जातानि (याभ्याम्) वायुसवितृभ्याम् (रजः) अ० ४ । १ । ४ । उदकम् । जगत् (युपितम्) युपु विमोहने-क्त ।

(प्रायम्) उत्तम गति को (कश्चन) कोई भी जीव (न) नहीं (अन्वानशे) पहुंचा है, (तौ) वह तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो २॥

भावार्थ—जगत् व्यापी वायु और सूर्य के प्रभाव से जल, पृथिवी से आकाश पर और आकाश से पृथिवी पर आता है, और उन को मनुष्य जितना जितना खोजते हैं, उतना उतना ही अधिक उनका विषय जानते जाते हैं, इन वायु और सूर्य से यथावत् उपकार लेकर हम लाभ उठावें ॥२॥

तव॑ व्र॒ते नि वि॑शन्ते॒ जना॑स॒स्त्वय्युदि॑ते॒ प्रेर॑ते चित्रभानो । यु॒वं वा॑यो सवि॒ता च॒ भुव॑नानि रक्षथ॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ३ ॥

तव॑ । व्र॒ते । नि । वि॒श॒न्ते॒ । जना॑सः । त्वयि॑ । उत्-इ॑ते । प्र । ई॒र॒ते॒ । चि॒त्र॒-भा॒नो॒ इति॑ चित्र-भानो । यु॒वम् । वा॒यो॒ इति॑ । स॒वि॒ता । च॒ । भुव॑नानि । र॒क्ष॒थः॒ । तौ । नः॒ । मु॒ञ्च॒त॒म् । अंह॑सः ॥३॥

भावार्थ—[हे वायु] (तव) तेरे (व्रते) वरणीय नियम में (जनासः) सब जने (निविशन्ते) प्रवृत्त होते हैं, और (चित्रभानो) हे विचित्र प्रकाश वाले सूर्य! (त्वयि उदिते) तेरे उदय होने पर [कामों में] (प्रेरिते) लगते हैं। (वायो) हे वायु! (च) और (सविता) हे सूर्य! (युवम्) तुम दोनों (भुवनानि) सब प्राणियों को (रक्षथः) बचाते हो, (तौ) तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ३ ॥

विमोहितम्। ताडनैर्मेघमण्डले धृतम् (अन्तरिक्षे) आकाशे (प्रायम्) एरच्। पा० ३। ३। ५६। इति प्र+इण् गतौ-अच्। प्रकृष्टगमनम् (न) निषेधे (अन्वानशे) अशू व्याप्तौ-लिट्। अनुप्राप। अनुगन्तुं समर्थो बभूव (कश्चन) कोऽपि जीवः। अन्यत् पूर्ववत्॥

३—[हे वायो] (तव) त्वदीये (व्रते) अ० २। ३०। २। वरणीये कर्मणि। नियमे (निविशन्ते) नेर्विशः। पा० १। ३। १७। इति आत्मनेपदम्। नितरां वर्तन्ते (जनासः) जनाः। प्राणिनः (त्वयि) सवितरि (उदिते) उदयं प्राप्ते सति (प्रेरिते) ईर गतौ। प्रवर्तन्ते (चित्रभानो) हे विचित्रदीप्ते सवितः

भावार्थ—वायुविद्या और सूर्यविद्या से उपकार लेकर मनुष्य अनेक प्रकार के लाभ उठावें ॥ ३ ॥

अपे॒तो वा॑यो सवि॒ता च॑ दु॒ष्कृ॒तमप॒ रक्षां॑सि॒ शिमि॑दां च सेधतम्। सं ह्यू॒३॑र्जया॑ सृ॒जथः॒ सं बले॑न॒ तौ नो॑ मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

अप॑। इ॒तः। वायो॒ इति॑। स॒वि॒ता। च॒। दुः॒ऽकृ॒तम्। अप॑। रक्षां॑सि। शिमि॑दाम्। च॒। से॒ध॒त॒म्। सम्। हि। ऊ॒र्जया॑। सृ॒जथः॑। सम्। बले॑न। तौ। नः॒। मु॒ञ्च॒त॒म्। अं॒ह॑सः ॥४॥

भाषार्थ—(वायो) हे वायु (च) और (सविता) हे सूर्य ! तुम् दोनों (इतः) यहां से (दुष्कृतम्) मलिन काम को (अप=अप सेधतम्) हटा दो, (रक्षांसि) निवारणीय रोगों (च) और (शिमिदाम्) कर्म छेदन करने हारी पीड़ा को (अप सेधतम्) निकाल दो। (हि) क्योंकि (ऊर्जया) आत्मिक पुष्टि के साथ (सं सृजथः) तुम दोनों मिलाते हो और (बलेन) शारीरिक बलके साथ (सम्=सं सृजथः) तुम संयुक्त करते हो, (तौ) सो तुम् दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य पवन और सूर्य के यथावत् सेवन और उपयोग से

(युवम्) युवाम् (वायो) (सविता) हे सवितः, त्वम् (च) (भुवनानि) भूतजातानि (रक्षथः) पालयथः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(अप)=अप सेधतम् (इतः) अस्मात्स्थानात् (वायो) (सविता) हे सवितः ! (च) समुच्चये (दुष्कृतम्) दुष्टं कर्म (अप सेधतम्) षिध गत्याम्, अन्तर्गतो णिजर्थः। अपगमयतम् (रक्षांसि) रक्षो रक्षितव्यमस्मात्—निरु० ४। १८। उपद्रवकारिणो रोगान् (शिमिदाम्) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति शम उपशमे-इन्, आकारस्य इकारः। शिमी कर्मनाम—निघ० २। १। दाप् लवने-ड। टाप्। कर्मछेदिकां पीडाम् (च) (हि) अवश्यम् (ऊर्जया) ऊर्ज बलप्राणनयोः-पचाद्यच्, टाप्। पुष्ट्या। मानसिकपराक्रमेण

दोषों और मलीनता को दूर करके स्वस्थ रहें और आत्मिक और शारीरिक बल बढ़ाकर संसार में उन्नति करें ॥ ४ ॥

र॒यिं मे॒ पोषं॑ सवि॒तोत वा॒युस्त॒नू दक्ष॒मा सु॑वतां सु॒शेव॑म्।
अ॒य॒क्ष्मता॑तिं॒ मह॑ इ॒ह ध॑त्तं॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ५ ॥

र॒यिम् । मे॒ । पोष॑म् । स॒वि॒ता । उ॒त । वा॒युः । त॒नू इति॑ । दक्ष॑म् । आ । सु॒व॒ताम् । सु॒-शेव॑म् । अ॒य॒क्ष्म-ता॑तिम् । मह॑ः । इ॒ह । ध॒त्तम् । तौ । नः॒ । मु॒ञ्च॒त॒म् । अंह॑सः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सविता) सूर्य (उत) और (वायुः) पवन (मे) मेरे लिये (तनू=तन्वाम्) अपने शरीर में वर्त्तमान् (सुशेवम्) अति सुखदायक (रयिम्) धन, (पोषम्) पुष्टि और (दक्षम्) बल को (आ सुवताम्) भेजें। (इह) यहां पर (अयक्ष्मतातिम्) नीरोगता और (महः) तेज (धत्तम्) तुम दोनों दान करो, (तौ) सो तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्टसे (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ५ ॥

भवार्थ—मनुष्य वायु और सूर्य के विज्ञान से ऋद्धि, सिद्धि, बल और स्वस्थता प्राप्त करके आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

(संसृजथः) संयोजयथः (सम्) संसृजथः (बलेन) शारीकसामर्थ्येन। अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—(रयिम्) धनम् (मे) मह्यम् (पोषम्) पुष्टिं समृद्धिम् (सविता) सूर्यः (उत) अपि च (वायुः) पवनः (तनू) सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। इति। सप्तम्या लुक्। ईदूतौ च सप्तम्यर्थे। पा० १। १। १९। इति प्रगृह्यम्। तन्वाम्। स्वशरीरे वर्तमानम् (दक्षम्) बलम्—निघ० २। ९। (आसुवताम्) षू प्रेरणे। समन्तात् प्रेरयताम्। प्रयच्छताम् (सुशेवम्) इण-शीभ्यां वन्। उ० १। १५२। इति शीङ् स्वप्ने-वन्। शेवं सुखम्—निघ० ३। ६। अतिशयेन सुखकरम् (अयक्ष्मतातिम्) भावे च। पा० ४। ४। १४४। इति बाहुलकात् भावे तातिल्। अयक्ष्मताम्। यक्ष्माद् राहित्यम्। आरोग्यम् (महः) तेजः (इह) अस्मिन् शरीरे (धत्तम्) दत्तम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

प्र सुमतिं सवितर्वाय ऊतये महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः।
अर्वाग् वामस्य प्रवतो नि यच्छतं तौ नो मुञ्चतमंहसः॥६॥

प्र। सु-मतिम्। सवितः। वायो इति। ऊतये। महस्वन्तम्। मत्सरम्। मादयाथः। अर्वाक्। वामस्य। प्र-वतः। नि। यच्छतम्। तौ। नः। मुञ्चतम्। अंहसः॥ ६॥

भाषार्थ—(सवितः) हे सूर्य ! (वायो) हे वायु ! (ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (सुमतिम्) सुमति और (महस्वन्तम्) तेजवाले (मत्सरम्) हर्ष को (प्र) अच्छे प्रकार (मादयाथः) तुम दोनों परिपूर्ण करो। (अर्वाक्) हमारे सन्मुख (प्रवतः) बड़ाई वाले (वामस्य) धन का (नि) नियमपूर्वक (यच्छतम्) तुम दोनों दान करो। (तौ) सो तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो॥ ६॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य और वायु के गुणों का यथावत् प्रयोग करके बुद्धि, प्रताप और धन बढ़ा कर आनन्द भोगें॥६॥

उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धामन्नस्थिरन्।
स्तौमि देवं सवितारं च वायुं तौ नो मुञ्चतमंहसः॥७॥

उप। श्रेष्ठाः। नः। आ-शिषः। देवयोः। धामन्। अस्थिरन्।

६—(प्र) प्रकर्षेण (सुमतिम्) शोभनां बुद्धिम् (सवितः) हे सूर्य ! (वायो) हे पवन ! (ऊतये) रक्षणाय (महस्वन्तम्) तेजोवन्तम् (मत्सरम्) कृधूमदिभ्यः कित्। उ० ३। ७३। इति मदी हर्षे-सरन्। मत्सरः सोमो मन्दतेस्तृप्तिकर्मणो मत्सर इति लोभनामाभिमत्त एनेन धनं भवति—निरु० २। ५। हर्षम्। सोमम्। आनन्दरसम् (मादयाथः) मद तृप्तियोगे-चुरादिः। णिच्-लेट्। युवां तर्पयतं पूरयतम् (अर्वाक्) सन्मुखम् (वामस्य) धनस्य (प्रवतः) अ० ३। १। ४। प्रकर्षवतः (नि) नियमेन (यच्छतम्) दाण् दाने। पाघ्रा ध्मा०। पा० ७। ३। ७८। इति यच्छ आदेशः। दानं कुरुतम्। अन्यत् पूर्ववत्॥

स्तौमि । देवम् । सवितारम् । च । वायुम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(देवयोः) उन दोनों देवों की [—के लिये] (श्रेष्ठाः) श्रेष्ठ (आशिषः) कामनायें (नः) हमारे (धामन्) देह में (उप अस्थिरन्) उपस्थित हुई हैं। (देवम्) दिव्य (सवितारम्) सूर्य (च) और (वायुम्) वायु की (स्तौमि) मैं स्तुति करता हूं। (तौ) सो तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥७॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य और वायु से गुण ग्रहण करने के लिये पूरी इच्छा अपने हृदय में स्थित करके प्रयत्न पूर्वक लाभ उठावें और सदा सुखी रहें ॥७॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २६ ॥

१-७ ॥ द्यावापृथिव्यौ देवते ॥ सर्वत्रान्तिमः पादोऽनुष्टुप् । शेषाः पादाः-१ स्वराट् पथ्याबृहती, २-५ त्रिष्टुप्, ६, ७ बृहती ॥

द्यावापृथिव्योर्गुणोपदेशः—सूर्य और पृथिवी के गुणों का उपदेश ॥

मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथे-

७—(उप) उपसर्गः (श्रेष्ठाः) अतिशयेन प्रशस्ताः (नः) अस्माकम् (आशिषः) आङ्पूर्वः शासु इच्छायाम्—क्विप् । आशासः क्वावुपधाया इत्वम् । वा० पा० ६ । ४ । ३४ । इति इत्वम् । कामनाः (देवयोः) दानादिगुणयुक्तयोः । वायुसवित्रोः (धामन्) धामनि । स्थाने । देहे (उप अस्थिरन्) तिष्ठतेर्लुङि । अकर्मकाच्च । पा० १ । ३ । २६ । इत्यात्मनेपदम् । उपस्थिता अभवन् (स्तौमि) प्रशंसामि (देवम्) दिव्यम् (सवितारम्) सूर्यम् (च) (वायुम्) पवनम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

द्यामर्मिता योजनानि । प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चत्मंहसः ॥ १ ॥

मन्वे । वाम् । द्यावापृथिवी इति । सु-भोजसौ । स-चेतसौ । ये इति । अप्रथेथाम् । अमिता । योजनानि । प्रतिस्थे इति प्रति-स्थे । हि । अभवतम् । वसूनाम् । ते इति । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥१॥

भाषार्थ—(सुभोजसौ) हे उत्तम भोग देने वाली वा पालन करने वाली (सचेतसौ) समान ज्ञान कराने वाली (द्यावापृथिवी) सूर्य पृथिवी ! (वाम्) तुम दोनों का (मन्व) मैं मनन करता हूं, (ये) जिन तुम दोनों ने (अमिता) अगणित (योजनानि) संयोग कर्मों को (अप्रथेथाम्) प्रसिद्ध किया है और (हि) अवश्य ही (वसूनाम्) धनों की (प्रतिष्ठे) आधार (अभवतम्) हुई हो । (ते) वे तुम दोनों (नः) हमें) (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ १ ॥

भावार्थ—सूर्य और पृथिवी के परस्पर आकर्षण से अन्न, धन और अनेक संयोग वियोग क्रियायें प्रकट होती हैं । मनुष्य उनके गुणों का यथावत् उपयोग करके आनन्द भोगें ॥ १ ॥

१—(मन्वे) मननं करोमि (वाम्) युवयोः (द्यावापृथिवी) हे द्यावा-पृथिव्यौ ! हे सूर्यभूलोकौ ! (सुभोजसौ) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति भुज पालनाभ्यवहारयोः-असुन् । शोभनपालयित्र्यौ । सुष्ठु भोजयित्र्यौ (सचेतसौ) अ० १ । ३० । २ । समानचेतयित्र्यौ (ये) द्यावापृथिव्यौ (अप्रथेथाम्) प्रथ प्रख्याने-लङ् । प्रख्यातवत्यौ । प्रसिद्धीकृतवत्यौ (अमिता माङ माने शब्दे च-क्त । अमितानि । अपरिमितानि बहूनि (योजनानि) युजिर् योगे-ल्युट् । संयोजनानि । संयोगकर्माणि (प्रतिष्ठे) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । ३ । १०६ । इति प्रति+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-अधिकरणेऽङ् । आधारभूते (हि) अवश्यम् (अभवतम्) (वसूनाम्) निवासहेतूनां धनानाम्-निघ० २ । १० । (ते) तथाभूते युवाम् (नः) अस्मान् (मुञ्चतम्) मोचयतम् (अंहसः) कष्टात् ॥

प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

प्रतिस्थे इति प्रति-स्थे । हि । अभवतम् । वसूनाम् । प्रवृद्धे इति प्र-वृद्धे । देवी इति । सुभगे इति सु-भगे । उरूची इति । द्यावापृथिवी इति । भवतम् । मे । स्योने इति । ते इति । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्रवृद्धे) हे बड़ी वृद्धिवाली, (देवी) दिव्य स्वरूप (सुभगे) बड़े ऐश्वर्य वाली, (उरूची) बहुत पदार्थ प्राप्त कराने वाली तुम दोनों (हि) ही (वसूनाम्) धनों की (प्रतिष्ठे) आधार (अभवतम्) हुई हो। (द्यावा-पृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों (मे) मेरे लिये (स्योने) सुखवती (भवतम्) होओ। (ते) वे तुमदोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य और पृथिवी के विज्ञान से अनेक ऐश्वर्य प्राप्त करके सुखी रहें ॥ २ ॥

असंतापे सुतपसौ हुवेऽहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥३॥

असंतापे इत्यसम्-तापे । सु-तपसौ । हुवे । अहम् । उर्वी इति । गम्भीरे इति । कवि-भिः । नमस्ये इति । द्यावा-

---

२—(प्रतिष्ठे) म० १ । आधारभूते (हि) अवश्यम् (अभवतम्) (वसूनाम्) धनानाम् (प्रवृद्धे) हे प्रकर्षेण वृद्धियुक्ते (देवी) हे देव्यौ दिव्यस्वरूपे (सुभगे) हे शोभनैश्वर्ये (उरूची) अ० ३ । ३ । १ । उरवो बहवः पदार्था अञ्चन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति याभ्यां सकाशात् ते उरूच्यौ । बहुपदार्थप्रापिके (द्यावापृथिवी) हे सूर्यभूलोकौ ! (भवतम् (मे) मह्यम् (स्योने) अ० १ । ३३ । १ । सुखवत्यौ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

पृथिवी इति । भवंतम् । मे । स्योने इति । ते इति । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सुतपसौ) सुन्दर ताप रखने वाली,(असंतापे) संताप न देने वाली, (उर्वी) चौड़ी, (गम्भीरे) गहरी [शान्त स्वभाव वाली] (कविभिः) विद्वानों से (नमस्ये) नमस्कार योग्य तुम दोनों को (अहम्) मैं (हुवे) पुकारता हूं। (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों (मे) मेरे लिये ......म० २ ॥ ३ ॥

भावार्थ—सूर्य के पिण्ड में ताप है जिससे पृथिवी तापयुक्त होती है। इस प्रकार दोनों के ताप से सब जगत् के पदार्थ रक्षित रहते हैं। उन दोनों के यथावत् ज्ञान से मनुष्य बुद्धिमान् होकर आनन्द प्राप्त करें॥ ३ ॥

ये अमृतं बिभृथो ये हवींषि ये स्रोत्या बिभृथो ये मनुष्यान्। द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

ये इति । अमृतम् । बिभृथः । ये इति । हवींषि । ये इति । स्रोत्याः । बिभृथः । ये इति । मनुष्यान् । द्यावापृथिवी इति भवतम् । मे । स्योने इति । ते इति । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम दोनों (अमृतम्) मृत्यु से बचने के साधन और (ये) जो तुम (हवींषि) देने और ग्रहण करने योग्य अन्न आदि पदार्थों को (बिभृथः) धारण करती हो, (ये) जो तुम दोनों (स्रोत्याः) जल वा

३—(असंतापे) नास्ति संतापो याभ्याम्। असंतापकर्त्र्यौ (सुतपसौ) सुन्दरतापयुक्ते। शोभनैश्वर्ययुक्ते (हुवे) आह्वयामि (अहम्) जीवः (उर्वी) उर्व्यौ। विस्तीर्णे (गम्भीरे) गभीरगम्भीरौ। उ० ४। ३५। इति गम्लृ गतौ—ईरन्, मस्य भः, नुम् च। गमनीये प्रापणीये। शान्तस्वभावे। महाशये (कविभिः) मेधाविभिः (नमस्ये) वन्दनीये। अन्यत् पूर्ववत् म०-२।

४—(ये) द्यावापृथिव्यो युवाम् (अमृतम्) नास्ति मृतं मरणं यस्मात् तत्। मरणाद् रक्षणसाधनम्। अन्नादिकम् (बिभृथः) धारयथः (हवींषि)

नदियों को और (ये) जो तुम दोनों (मनुष्यान्) मनुष्यों को (बिभृथः) धारण करती हो। (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों (मे) मेरे लिये.. ...म० २ ॥ ४ ॥

भावार्थ—सूर्य और पृथिवी के परस्पर आकर्षण से वृष्टि होकर अन्न आदि उत्पन्न होते हैं, जिन से मनुष्य आदि प्राणियों को अमृत अर्थात् अन्न आदि पदार्थ मिलते हैं ॥ ४ ॥

ये उस्रियां बिभृथो ये वनस्पतीन् ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः। द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥५॥

ये इति। उस्रियाः। बिभृथः। ये इति। वनस्पतीन्। ययोः। वाम्। विश्वा। भुवनानि। अन्तः। द्यावापृथिवी इति। भवतम्। मे स्योने इति। ते इति। नः। मुञ्चतम्। अंहसः॥५॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम दोनों (उस्रियाः) गौओं को और (ये) जो तुम दोनों (वनस्पतीन्) वनस्पतियों को (बिभृथः) धारण करती हो, (ययोः वाम्) जिन तुम दोनों के (अन्तः) भीतर (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक हैं। (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों (मे) मेरे लिये...... म०२॥ ५ ॥

भावार्थ—सूर्य के ताप और पृथिवी के संयोग से किरण द्वारा वृष्टि

अर्चिशुचिहु०। उ० २। १०८। इति हुदानादानादनतर्पणेषु-इसि। देयग्राह्यद्रव्याणि धान्यादीनि (स्रोत्याः) स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ। पा० ४। ४। ११३। इति स्रोतस्-ड्य। स्रोतसि भवाः। अपो जलानि। स्रोत्याः,नदी नाम-निघ०१। १३ (मनुष्यान्) मननशीलान् नरान्। अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥

५—(ये) युवाम् (उस्रियाः) स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ०२। १३। इति वस निवासे-रक्, सम्प्रसारणं च। वसति क्षीरादिहविरस्याम्-इति उस्रा। ततः-पृषोदरादित्वात्स्वार्थे घ। उस्रियेति गोनामोत्स्राविणोऽस्यां भोगाः। उस्रे ति च, निरु० ४। १६। गाः (बिभृथः) धारयथः (वनस्पतीन्) अ० १। १२। ३। वनानां सेवकानां पालकान्। वृक्षान् (ययोः) (वाम्) युवयोः (विश्वा)

होकर गौ आदि सब पशु और सब वृक्ष पुष्ट होते हैं और सब लोक उन के ही प्रभाव में ठहरे हैं ॥ ५ ॥

ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किं चन शक्नुवन्ति। द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

ये इति। कीलालेन। तर्पयथः। ये इति। घृतेन। याभ्याम्। ऋते। न। किम्। चन। शक्नुवन्ति। द्यावापृथिवी इति। भवतम्। मे। स्योने इति। ते इति। नः। मुञ्चतम्। अंहसः ॥६॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम दोनों (कीलालेन) जाठराग्नि के निवारण करने वाले अन्न से, और (ये) जो तुम दोनों (घृतेन) जल से (तर्पयथः) तृप्त करती हो, (याभ्याम् ऋते) जिन तुम दोनों के बिना [सब प्राणी] (किम् चन) कुछ भी (न) नहीं (शक्नुवन्ति) शक्ति रखते हैं। (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी (मे) मेरे लिये (स्योने) सुखवती (भवतम्) हो। (ते) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ६ ॥

भावार्थ—सूर्य और पृथिवी के प्रभाव से अन्न और जल आदि पदार्थ उत्पन्न होकर जगत् का उपकार करते हैं। उनके विज्ञान से सब मनुष्य सुखी रहें ॥ ६ ॥

विश्वानि सर्वाणि (भुवनानि) अ० २। १। ३। लोकान्। (अन्तः) मध्ये। अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥

६—(ये) युवाम् (कीलालेन) कील—अलेन। कील बन्धने खण्डने च घञ् क वा। अल निवारणे—अण्। कीलं जाठराग्नेर्ज्वालामलति वारयतीति। कीलालम् अन्नम्—निघ० २। ७। अन्नेन (तर्पयथः) (घृतेन) उदकेन-निघ० १। १२। (याभ्याम्) अन्यारादितरर्ते०। पा० २। ३। २९। इति पञ्चमी (ऋते) बिना (न) निषेधे (किञ्चन) यथातथा। किमपि (शक्नुवन्ति) शक्ता भवन्ति सर्वे जनाः। अन्यत् पूर्ववत्। म० २ ॥

यन्मे॒दम॑भि॒शोच॑ति॒ येन॑येन वा कृ॒तं पौरु॑षेया॒न्न दैवा॑त्। स्तौमि॒ द्यावा॑पृथि॒वी ना॑थि॒तो जो॑हवीमि॒ ते नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ७ ॥

यत्। मा। इदम्। अभि-शोच॑ति। येन॑-येन। वा। कृतम्। पौरु॑षेयात्। न। दैवा॑त्। स्तौमि॑। द्यावा॑पृथिवी इति॑। नाथितः। जोहुवीमि। ते इति। नः। मुञ्चतम्। अंह॑सः ॥७॥

भाषार्थ—(येनयेन) जिस किसी कारण से (पौरुषेयात्) पुरुष [इस शरीर] से किया हुआ (वा) अथवा (दैवात्) दैव [प्रारब्ध, पूर्वजन्म] के फल से प्राप्त हुआ (यत्) जो (इदम्) यह (कृतम्) कर्म (न) इस समय (मा) मुझ को (अभिशोचति) शोक में डालता है। [इस लिये] (नाथितः) मैं अधीन होकर (द्यावपृथिवी) सूर्य और पृथिवी को (स्तौमि) सराहता हूं और (जोहवीमि) बारंबार पुकारता हूं। (ते) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ के साथ सुकर्म करके इस जन्म वा प्रारब्ध से प्राप्त हुए दुःख का नाश करके सूर्य पृथिवी आदि लोकों के उपयोग से सुख भोगें ॥ ७ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१—७ ॥ मरुतो देवताः॥ सर्वत्रान्तिमः पादोऽनुष्टुप्, शेषाः पादाः-१-४, ६, ७, त्रिष्टुप्, ५ बृहती छन्दः ॥

मरुतां गुणोपदेशः—पवन के गुणों का उपदेश ॥

७—(यत्) (मा) माम् (इदम्) इण् गतौ-दमुक्। पुरोवर्त्ति (अभिशोचति) अभितः सर्वतो दहति (येनयेन) येनकेन कारणेन (वा)अथवा (कृतम्) कर्म (पौरुषेयात्) पुरुषाद्वधविकारसमूहतेनकृतेषु। वा०पा० ५। १। १०। इति पुरुष-ढञ्। पुरुषकृतात्कर्मणः (न) सम्प्रत्यर्थे-निरु० ७। ३१। (दैवात्) अ० ४। १६। ८। पूर्वजन्मार्जितात् कर्मणः (स्तौमि) प्रशंसामि द्याव पृथिव्यौ) (नाथितः) अ० ४। २३। ७। नाथवान्। अधीनः (जोहवीमि) पुनः पुनाराह्वयामि। अन्यत् पूर्ववत् ॥

मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु।
आशूनिव सुयमानह्व ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

मरुताम्। मन्वे। अधि। मे। ब्रुवन्तु। प्र। इमम्। वाजम्। वाज-साते। अवन्तु। आशून्-इव। सु-यमान्। अह्वे। ऊतये। ते। नः। मुञ्चन्तु। अंहसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मरुताम्) दोष नाशक वायुओं का (मन्वे) मैं मनन करता हूं। (मे) मेरे लिये (अधि) अनुग्रह से (ब्रुवन्तु) बोलें और (इमम्) इस (वाजम्) बल को (वाजसाते) अन्न के सुख वा दान के निमित्त (प्र) अच्छे प्रकार (अवन्तु) तृप्त करें। (आशून् इव) शीघ्रगामी घोड़ों के समान (सुयमान्) उन सुन्दर नियम वालों को (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (अह्वे) मैंने पुकारा है। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य प्राण अपान व्यानरूप वायुओं के शोधन, सेवन, और प्राणायाम से बल और अन्न प्राप्त करके अपनी रक्षा करें ॥ १ ॥

उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु। पुरो दधे मरुतः पृश्निमातृंस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥२

१—(मरुताम्) उ० १। २०। १। मारयन्ति दोषान् मरुतः। दोषनाशकानां प्राणापानव्यानरूपाणां वायूनाम् (मन्वे) मननं करोमि (मे) मह्यम् (अधि ब्रुवन्तु) अधिकमनुग्रहेण वदन्तु (इमम्) (वाजम्) बलम्—निघ० २। ६ (वाजसाते) वाजः, अन्नम्—निघ० २। ७। अनुपसर्गाल्लिम्पविन्द०। पा० ३। १। १३८। इति सूत्रे पठितः सातिः सौत्रो धातुः। सात सुखे—अच्। यद्वा षणु दाने—क्त। जनसनखनाम्। पा० ६। ४। ४२। इत्यात्वम्। वाजस्य अन्नस्य साते सुखे दाने वा निमित्तभूते सति (प्र अवन्तु) प्रकर्षेण तर्पयन्तु (आशून्) अ० २। १४। ६। शीघ्रगामिनोऽश्वान् (इव) तथा (सुयमान्) शोभननियमयुक्तान् तान् मरुतः (अह्वे) ह्वेञ् आह्वाने—लुङ्। लिपिसिचिह्वश्च। पा० ३। १। ५३। इति च्लेः अङ् आदेशः। आहूतवानस्मि (ऊतये) रक्षायै (ते) मरुतः (नः) अस्मान् (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (अंहसः) कष्टात् ॥

उत्सम् । अक्षितम् । वि-अचन्ति । ये । सदा । ये । आ-सिञ्चन्ति । रसम् । ओषधीषु । पुरः । दधे । मरुतः । पृश्नि-मातॄन् । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [मरुत् देवता] (सदा) सदा (अक्षितम्) अक्षय (उत्सम्) सींचने वाले जल को (व्यचन्ति) विविध प्रकार से पहुंचाते हैं, और (ये) जो (रसम्) रस को (ओषधीषु) अन्न आदि ओषधियों में (आसिञ्चन्ति) सींच देते हैं। (पृश्निमातॄन्) छूने योग्य पदार्थों को वा आकाश के नापने वाले (मरुतः) उन वायु देवताओं को (पुरो दधे) मैं सन्मुख रखता रखता हूं। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य वायु के गुणों में विज्ञान प्राप्त करके सदा आनन्दित रहें ॥ २ ॥

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ।
शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ।३॥

पयः । धेनूनाम् । रसम् । ओषधीनाम् । जवम् । अर्वताम् । कवयः । ये । इन्वथ । शग्माः । भवन्तु । मरुतः । नः । स्योनाः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ ३ ॥

२—(उत्सम्) अ० १।१५।३। सेचनसाधनं जलं वा (अक्षितम्) अक्षीणम् (व्यचन्ति) अंचु अचु गतौ याचने च, अन्तर्गतो ण्यर्थः । विविधं गमयन्ति (ये) मरुतः (सदा) सर्वदा (आसिञ्चन्ति) समन्तात् क्षारयन्ति वर्षयन्ति (रसम्) सारम् (ओषधीषु) व्रीहियवाद्यासु तरुगुल्मादिषु च (पुरो दधे) पुरस्ताद् धारयामि । भजामि । पूजयामि (मरुतः) दोषनाशकान् वायून् (पृश्निमातॄन्) घृणिपृश्निपार्ष्णि० । उ० ४।५२। इति स्पृश संस्पर्शे—नि । धातोः पृश् भावः । पृश्निः……द्यौः संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च—निरु० २।१४। सवुलतृचौ । पा० ३।१।१३३। इति माङ् माने—तृच् । पृश्नीनां स्पर्शनीयानां पदार्थानाम् । अथवा । पृश्नेर्दिव आकाशस्य मातारो मानकर्तारः परिच्छेत्तारो ये तान् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (कवयः) चलने फिरने वाले अथवा सुखाने वाले [मरुत् देवता] (धेनूनाम्) गौओं का (पयः) दूध, (ओषधीनाम्) अन्न आदि ओषधियों का (रसम्) रस और (अर्वताम्) घोड़ों का (जवम्) वेग (इन्वथ) भरदेते हो। (शग्माः) शक्ति वाले (मरुतः) वे आप दोषनाशक वायु गण (नः) हमारे लिये (स्योनाः) सुख दायक (भवन्तु) होवें। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्राण अपान आदि द्वारा सब पदार्थों में शक्ति पहुंचती है। उन वायु प्रवाहों का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य सदा प्रसन्न रहें ॥ ३ ॥

अ॒पः स॑मु॒द्राद् दिव॒मुद् व॑हन्ति दि॒वस्पृ॑थि॒वीम॒भि ये सृ॒जन्ति॑। ये अ॒द्भिरीशा॑ना म॒रुत॒श्चर॑न्ति॒ ते नो॑ मुञ्च॒-न्त्वंह॑सः ॥ ४ ॥

अ॒पः। स॒मु॒द्रात्। दिव॑म्। उत्। व॒ह॒न्ति॒। दि॒वः। पृ॒थि॒वीम्। अ॒भि। ये। सृ॒जन्ति॑। ये। अ॒त्-भिः। ईशा॑नाः। म॒रुतः॑। चर॑न्ति। ते। नः॒। मु॒ञ्च॒न्तु॒। अंह॑सः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [वायुगण] (अपः) जलको (समुद्रात्) पार्थिव समुद्र से (दिवम्) आकाश में (उद्वहन्ति) उठाकर पहुंचाते हैं और (दिवः)

३—(पयः) दुग्धम् (धेनूनाम्) अ० २। ५। ६। दुग्धं पाययित्रीणां गवाम् (रसम्) सारम् (ओषधीनाम्) अन्नादीनाम् (जवम्) ऋदोरप्। पा० । ३। ३। ५७। इति जु वेगे-अप्। वेगम् (अर्वताम्) अ० । ४। ६। २। अश्वानाम् (कवयः) कुङ् गतिशोषणयोः-इन्। कवते, गतिकर्मा-निघ० २। १४। गन्तारः। शोषयितारः (ये) यूयं मरुतः (इन्वथ) इवि व्याप्तौ। इदितो-नुम्। व्यापयथ। स्थापयथ (शग्माः) अर्तिस्तुसुहु०। उ० । १। १४०। इति शक्लृ-मन्। शक्ताः। समर्थाः (भवन्तु) (मरुतः) वायवः (नः) अस्मभ्यम् (स्योनाः) सुखकराः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(अपः) जलानि (समुद्रात्) पार्थिवसागरात् (दिवम्) अन्तरिक्षम् (उत्) ऊर्ध्वम् (वहन्ति) प्रापयन्ति (दिवः) अन्तरिक्षात् (पृथिवीम्)

आकाश से (पृथिवीम् अभि) पृथिवी पर (सृजन्ति) छोड़ देते हैं। और (ये) जो (ईशानाः) समर्थ (मरुतः) वायुगण (अद्भिः) जल के साथ (चरन्ति) चलते रहते हैं । (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—सूर्य की किरणों से मिलकर वायु गण जल आकाश में ले जाते और पृथिवी पर बरसाते हैं। उनके उपकारों को समझ कर मनुष्य आनन्द प्राप्त करें ॥ ४ ॥

ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति । ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥

ये । कीलालेन । तर्पयन्ति । ये । घृतेन । ये । वा । वयः । मेदसा । सम्-सृजन्ति । ये । अत्-भिः । ईशानाः । मरुतः । वर्षयन्ति । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [मरुत्गण] (वयः) जीवन को (कीलालेन) अन्न से और (ये) जो (घृतेन) जलसे (तर्पयन्ति) तृप्त करते हैं, (वा) और (ये) जो (मेदसा) मेदा अर्थात् चर्बी से (संसृजन्ति) संयुक्त करते हैं। और (ये) जो (ईशानाः) समर्थ (मरुतः) वायुगण (अद्भिः) जल से [प्राणियों को] (वर्षयन्ति) सींचते हैं। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ ५ ॥

भूमिम् (अभि) अभिलक्ष्य (ये) मरुतः (सृजन्ति) त्यजन्ति (अद्भिः) जलैः (ईशानाः) ईश्वराः समर्थाः (मरुतः) दोषनाशका वायवः (चरन्ति) गच्छन्ति । अन्यद् गतम् ॥

५—(ये) मरुतः (कीलालेन) अ० ४ । २६ । ६ । अन्नेन (तर्पयन्ति) पोषयन्ति (घृतेन) उदकेन (वा) चार्थे (वयः) अ० २ । १० । ३ । वी गतौ—असुन् । अन्नम्—निघ० २ । ७ । आयुः । जीवनम् (मेदसा) सर्वधातुभ्योऽसुन् उ० ४ । १८९ । इति ञिमिदा स्नेहने—असुन् । मांसप्रभवधातुविशेषेण ।

भावार्थ—वायु वेग द्वारा अन्न, जल मिलकर शरीर रक्षा के लिये रक्त अस्थि आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उन वायु गणों के गुणों से हम सदा स्वस्थ और पुष्ट रहें ॥ ५ ॥

यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेदृगार।
यूयमीशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥६

यदि। इत्। इदम्। मरुतः। मारुतेन। यदि। देवाः। दैव्येन। ईदृक्। आर। यूयम्। ईशिध्वे। वसवः। तस्य। निःऽकृतेः। ते। नः। मुञ्चन्तु। अंहसः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजयशील (मरुतः) दोषनाशक वायुगण ! (यदि) यत्नशील (इदम्) चलता हुआ जगत् (इत्) निश्चय करके [तुम्हारे] (मारुतेन) दोषनाशक धर्म से और (दैव्येन) दिव्यपन से (ईदृक्) ऐसा (यदि) यत्नशील (आर) प्राप्त हुआ है। (वसवः) हे निवास कराने वाले ! (यूयम्) तुम (तस्य) उस जगत् के (निष्कृतेः) उद्धारके (ईशिध्वे) समर्थ होते हो। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥६॥

भावार्थ—यह सब जगत् वायु के कारण चेष्टा करता हुआ उद्योगी रहता है, उस वायु के गुणों को जान कर सब मनुष्य प्रसन्न रहें ॥ ६ ॥

वारा तुरीयधातुना (संसृजन्ति) संयोजयन्ति (वर्षयन्ति) सिञ्चन्ति प्राणिनः। अन्यत् पूर्ववत्–म० ४ ॥

६—(यदि) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति यती प्रयत्ने–इन् तस्य दः। यत्नशीलम् (इत्) अवधारणे (इदम्) इण् गतौ कमुक्। एति गच्छतीति इदं जगत् (मरुतः) हे दोषनाशका वायवः (मारुतेन) तस्येदम्। पा०४। ३। १२०। इति मरुत्–भावेऽण्। मरुत्त्वेन मरुतो दोषनाशकधर्मेण (यदि) यत्नशीलम् (देवाः) हे विजिगीषवः (दैव्येन) दिवि भवं दिव्यम्। ततो भावे अण्। दिव्यगुणेन (ईदृक्) त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च। पा० ३। २। ६०। इति दृशेः क्विन्। इदंकिमोरीश्की। पा० ६। ३। ६०। इति इदम ईशादेशः। एवंरूपं जगत् यथा दृश्यते (आर) ऋ गतौ लिट्। प्राप्तं बभूव (यूयम्) (ईशिध्वे) ईश्वराः समर्था भवथ (वसवः) हे वासयितारः। प्रशस्ताः (तस्य) दृश्यमानस्य जगतः (निष्कृतेः) निस्तारस्य उद्धारस्य। अन्यत् पूर्ववत् ॥

तिग्ममनीकं विदितं सहस्वन्मारुतं शर्धः पृतनासूग्रम् । स्तौमि मरुतो नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ७ ॥

तिग्मम् । अनीकम् । विदितम् । सहस्वत् । मारुतम् । शर्धः । पृतनासु । उग्रम् । स्तौमि । मरुतः । नाथितः । जोहवीमि । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(मारुतम्) दोष नाशक वायु गणों का (अनीकम्) सेनादल और (शर्धः) बल (पृतनासु) संग्रामों में (तिग्मम्) तीक्ष्ण, (सहस्वत्) बड़ा साहसी और (उग्रम्) बड़ा प्रचण्ड (विदितम्) विदित है (नाथितः) अधीन मैं (मरुतः) वायु गणों को (स्तौमि) सराहता हूं और (जोहवीमि) बारंबार पुकारता हूं । (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो साहसी शूरवीर संग्रामों में अपने श्वास प्रश्वास को सावधान रखके वायु का यथावत् प्रयोग करते हैं, वे विजयी होकर आनन्द भोगते हैं ॥ ७ ॥

सूक्तम् २८ ॥

१-७ ॥ भवाशर्वौ देवते ॥ पादत्रयं त्रिष्टुप्, अन्तिमोऽनुष्टुप् ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

७—(तिग्मम्) युजिरुजितिजां कुश्च । उ० १ । १४६ । इति तिज निशाने—मक्, कुत्वं च । तीक्ष्णम् (अनीकम्) अनिहृषिभ्यां किच्च । उ० ४ । १७ । इति अन प्राणने-ईकन् । सैन्यम् (विदितम्) प्रख्यातम् (सहस्वत्) बलवत् (मारुतम्) मरुतां सम्बन्धि (शर्धः) शर्द्ध निरुत्साहार्थः-असुन् । इति देवराजयज्वा निघण्टुटीकायाम् । बलम् निघ० २ । ६ (पृतनासु) अ० ३ । २१ । ३ । संग्रामेषु (उग्रम्) प्रचण्डम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद् विरोचते । यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

भवाशर्वौ । मन्वे । वाम् । तस्य । वित्तम् । ययोः । वाम् । इदम् । प्र-दिशि । यत् । वि-रोचते । यौ । अस्य । ईशाथे इति । द्वि-पदः । यौ । चतुः-पदः । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥१॥

भाषार्थ—(भवाशर्वौ) हे सुख उत्पन्न करने हारे और शत्रु नाशक [परमेश्वर के गुणो !] (वाम्) तुम दोनों का (मन्वे , मैं मनन करता हूं । (तस्य) उस [जगत्] का (वित्तम्) वे तुम दोनों ज्ञान रखते हो, (ययोः-वाम्) जिन तुमदोनोंके (प्रदिशि) शासन में (इदम्) यह (यत्) जो कुछ जगत् (विरोचते) प्रकाशमान है । (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये समूह के और (यौ) जो तुम दोनों (चतुष्पदः) चौपाये संसार के (ईशाथे) ईश्वर हो, (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुंचतम्) छुड़ावो ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सर्वजनक सर्वशासक और सर्वज्ञ है, उसकी उपासना करके सब मनुष्य सुखी रहें ॥ १ ॥

इस सूक्त में गुणों के वर्णन से गुणी अर्थात् ईश्वर का ग्रहण है ॥

१—(भवाशर्वौ) भवत्युत्पद्यते सुखमस्मादिति भवः । सुखोत्पादको गुणः । कॄगॄशॄदॄभ्यो वः । उ० १ । १५५ । इति शॄ हिंसायाम् व । शत्रुनाशको गुणः । भवश्च शर्वश्च भवाशर्वौ परमेश्वरस्य गुणौ । देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । इति आनङ् । अस्मिन् सूक्ते गुणग्रहणेन गुणिग्रहणम् । (मन्वे) मननं करोमि (वाम्) युवयोः (तस्य) जगतः (वित्तम्) लडर्थे लोट् । वित्थः । वेदनं ज्ञानं कुरुथः (ययोः) (वाम्) युवयोः (इदम्) दृश्यमानं गमनशीलं वा जगत् (प्रदिशि) प्रदेशने प्रशासने (यत्) यत्किञ्चित् (विरोचते) रुच दीप्तौ । प्रकाशते (यौ) (अस्य) वर्तमानस्य (ईशाथे) ईश्वरौ भवथः (द्विपदः) पादद्वयोपेतस्य प्राणिमात्रस्य (चतुष्पदः) पादचतुष्टयोपेतस्य गवादेः (तौ) भवाशर्वौ (नः) अस्मान् (मुञ्चतम्) मोचयतम् (अंहसः) कष्टात् ॥

यद्योरभ्यध्व उत यद् दूरे चिद् यौ विदिताविषुभृतामसिष्ठौ। यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

ययोः । अभि-अध्वे । उत । यत् । दूरे । चित् । यौ । विदितौ । इषु-भृताम् । असिष्ठौ । यौ । अस्य । ईशाथे इति । द्वि-पदः । यौ । चतुः-पदः । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ययोः) जिन दोनों का [वह सब है] (यत् चित) जो कुछ (अभ्यध्वे) समीप में (उत) और (दूरे) दूर देश में है। (यौ) जो तुम दोनों (इषुभृताम्) हिंसा कारियों के (असिष्ठौ) अत्यन्त गिराने वाले (विदितौ) विदित हो। (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दो पाये ......म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सर्व अन्तर्यामी और शत्रुनाशक है हम उसकी उपासना से सदा पुरुषार्थी रहें ॥ २ ॥

सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेऽहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नेम्युग्रौ ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥३

सहस्र-अक्षौ । वृत्र-हना । हुवे । अहम् । दूरेगव्यूती इति । दूरे-गव्यूती । स्तुवन् । एमि । उग्रौ । यौ । अस्य । ईशाथे इति । द्वि-पदः । यौ । चतुः-पदः । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥३॥

२—(ययोः) भवाशर्वयोः (अभ्यध्वे) अभि अध्वन अभ्यध्वः । उपसर्गादध्वनः । पा० ५ । ४ । ८५ । इति अच् समासान्तः । समीपदेशे (उत) अपि (यत् चित्) यत्किञ्चित (दूरे) दूरदेशे (यौ) भवाशर्वौ (विदितौ) प्रज्ञातौ (इषुभृताम्) ईष हिंसायाम्—कु, ह्रस्वश्च । डुभृञ् धारणपोषणयोः—क्विप्—तुक् च । हिंसाधारकाणाम् (असिष्ठौ) तुरछन्दसि । पा० ५ । ३ । ५९ । इति असितृ-इष्ठन् । तुरिष्ठेमेयस्सु । पा० ६ । ४ । १५४ । इति तृलोपः । असितृतमौ । क्षेप्तृतमौ । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (स्तुवन्) स्तुति करता हुआ (उग्रौ) उग्र स्वभाव वाले, (सहस्राक्षौ) सहस्रों व्यवहारों में व्यापक रहने वाले वा दृष्टि रखने वाले, (वृत्रहणा=०-णौ) शत्रुओं वा अन्धकारके नाश करने वाले, (दूरेगव्यूती) दूर तक प्रकाश का संयोग रखने वाले,दोनोंको (हुवे) मैं पुकारता हूं और (एमि) प्राप्त होताहूं । (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) द्विपाये......म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सर्व व्यापक, सर्वदर्शक, शत्रु वा अज्ञान नाशक और सूर्य आदि लोकों का प्रकाशक है, उसकी स्तुति उपासना करके हम सदा पुरुषार्थ करें ॥ ३ ॥

यावा॑रे॒भाथे॑ ब॒हु सा॒कमग्रे॒ प्र चेद॒स्राष्ट्र॑मभि॒भां जने॑षु ।
याव॒स्येशा॑थे द्वि॒पदो॒ यौ चतु॑ष्पद॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ४ ॥

यौ । आरे॒भाथे॒ इत्या॑-रे॒भाथे॑ । ब॒हु । सा॒कम् । अग्रे॑ । प्र । च॒ । इत् । अस्रा॑ष्ट्रम् । अ॒भि॒-भाम् । जने॑षु । यौ । अ॒स्य । ईशा॑थे॒ इति॑ । द्वि॒-पदः॑ । यौ । चतुः॑-पदः । तौ । नः॒ । मु॒ञ्च॒त॒म् । अंह॑सः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यौ) जिन तुम दोनों ने (बहु) बहुत सा जगत् (साकम्)

३—(सहस्राक्षौ) अ० ४। २० । ४ । बहुव्यवहारव्यापकौ । यद्वा । सर्वतोदत्त-दृष्टी स्थूलसूक्ष्मविषयेष्वपि प्राप्तदर्शनौ । (वृत्रहणा) अ० १ । २१ । १ । शत्रुनाशकौ । अन्धकारनिवारकौ (हुवे) आह्वयामि (अहम्) मनुष्यः (दूरेगव्यूती) दूरे+गो+यूती । दुरीणो लोपश्च । उ०२। २० । इति दुर्+इण् गतौ-रक् धातुलोपश्च । इति दूरं विप्रकृष्टम् । गमेर्डो । उ० २ । ६७ । इति गम्लृ गतौ—डो प्रत्ययः । ऊतियूतिजूति० । पा० ३ । ३ । ९७ । इति यु मिश्रणामिश्रणयोः-क्तिन् । निपातनात् साधुः । गोर्यूतौ छन्दसि । वा० पा० ६ । १ । ७९ । इति अव् आदेशः । रश्मयो गाव उच्यन्ते—निरु० २ । ६ । दूरे दूरदेशे गवां रश्मीनां प्रकाशानां यूतिः संयोगो ययोस्तौ । सर्वलोकप्रकाशकौ—इत्यर्थः (स्तुवन्) प्रशंसन् सन् (एमि) प्राप्नोमि (उग्रौ) तीक्ष्णस्वभावौ । अन्यत् पूर्ववत् म० ॥ १ ॥

४—(यौ) भवाशर्वौ (आरेभाथे) रभ राभस्ये=उपक्रमे-लुङ् । आरब्ध-

एक साथ (अग्रे) पूर्वकाल में (आरेभाथे) आरम्भ किया (च) और जिन तुम दोनों ने (इत्) ही (जनेषु) प्राणियों में (अभिभाम्) प्रतिभा अर्थात् बुद्धि को (प्र असाष्टम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न किया। (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दो पाये……म० १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सृष्टि को उत्पन्न करके प्राणियों में इष्ट अनिष्ट और सुख दुःख जानने के लिये बुद्धि दी है, उसकी ही भक्ति से हम सदा प्रसन्न रहें ॥ ४ ॥

ययो॑र्व॒धान्नाप॒पद्य॑ते॒ कश्च॒नान्तर्दे॒वेषू॒त मानु॑षेषु ।
याव॒स्येशा॑थे द्वि॒पदो॒ यौ चतु॑ष्पद॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः॥५

ययोः। व॒धात्। न। अ॒प॒-पद्य॑ते। कः। च॒न। अ॒न्तः। दे॒वेषु॑ उ॒त। मानु॑षेषु। यौ। अ॒स्य। ईशा॑थे॒ इति॑। द्वि॒-पदः॑। यौ। चतुः॑-पदः। तौ। नः॒। मु॒ञ्चत॒म्। अंह॑सः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ययोः) जिन तुम दोनों के (वधात्) हनन सामर्थ्य से (देवेषु) प्रकाशमान सूर्य आदि लोकों (उत) और (मानुषेषु अन्तः) मनुष्यों के बीच (कश्चन) कोई भी (न) नहीं (अपपद्यते) छुटकर जाता है। (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दो पाये......म० १ ॥ ५ ॥

भावार्थ—सर्व नियन्ता जगदीश्वर की आज्ञा पालन करके सब मनुष्य आनन्द प्राप्त करें ॥ ५ ॥

वन्तौ (बहु) प्रभूतं जगत् (साकम्) सह (अग्रे) आदौ (प्र) प्रकर्षेण (च) (इत्) एव (असाष्टम्) सृज विसर्गे छान्दसं लुङि रूपम्। असाष्टम्। सृष्टवन्तौ। उत्पादितवन्तौ (अभिभाम्) भा क्वप्। प्रतिभां बुद्धिं। (जनेषु) उत्पन्नेषु प्राणिषु। अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

५—(ययोः) भवाशर्वयोः (वधात्) अ० १। २०। २। हननसामर्थ्यात् (न) निषेधे (अपपद्यते) अपेत्य गच्छति (कश्चन) कोऽपि (अन्तः) मध्ये (देवेषु) प्रकाशमानेषु सूर्यादिलोकेषु (उत) अपि च (मानुषेषु) अ० ४। १४ ५। मनुष्-अण्। मनुष्येषु। अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

यः कृत्याकृन्मूलकृद् यातुधानो नि तस्मिन् धत्तं वज्रमुग्रौ । यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

यः । कृत्या-कृत् । मूल-कृत् । यातु-धानः । नि । तस्मिन् । धत्तम् । वज्रम् । उग्रौ । यौ । अस्य । ईशाथे इति । द्वि-पदः । यौ । चतुः-पदः । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (कृत्याकृत्) हिंसा कारी, (मूलकृत्) मूल कतरने वाला और (यातुधानः) पीड़ा देने वाला पुरुष है, (तस्मिन्) उसपर (उग्रौ) हे उग्र स्वभाव वाले तुम दोनों (वज्रम्) वज्र (निधत्तम्) गिरावो (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये समूह के और (यौ) जो तुम दोनों (चतुष्पदः) चौपाये संसार के (ईशाथे) ईश्वर हो, (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर दुष्ट नाशक और शिष्ट रक्षक है, उसकी ही उपासना से मनुष्य बलवान् होवें ॥ ६ ॥

अधि नो ब्रूतं पृतनासूग्रौ सं वज्रेण सृजतं यः किमीदी । स्तौमि भवाशर्वौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

अधि । नः । ब्रूतम् । पृतनासु । उग्रौ । सम् । वज्रेण । सृजतम् । यः । किमीदी । स्तौमि । भवाशर्वौ । नाथितः । जोहवीमि । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ७ ॥

६—(यः) शत्रुः (कृत्याकृत्) अ० ४ । १७ । ४ । हिंसाकारकः (मूलकृत्) मूल + कृती छेदने—क्विप् । मूलकर्तकः । प्रतिष्ठाछेदकः (यातुधानः) अ० १ । ७ । १ । यातनाकरः । पीड़ाकारकः (तस्मिन्) यातुधाने (निधत्तम्) निक्षिपतम् (वज्रम्) अ० १।७।७। दण्डरूपम् कुठारम् (उग्रौ) प्रचण्डस्वभावौ । अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

भाषार्थ—(उग्रौ) हे उग्र स्वभाव वाले तुम दोनों (नः) हम से (पृतनासु) संग्रामों में (अधि) अनुग्रह से (ब्रूतम्) बोलो और [उसको] (वज्रेण) वज्र के साथ (सम् सृजतम्) संयुक्त करो (यः) जो (किमीदी) अब क्या हो रहा है, यह क्या हो रहा है, ऐसा खोजने वाला लुतरा पुरुष है। (नाधितः) मैं अधीन होकर (भवाशर्वौ) सुख उत्पन्न करने वाले और शत्रु नाश करने वाले तुम दोनों को (स्तौमि) सराहता हूं और (जोहवीमि) बारंबार पुकारता हूं। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सदाचारी और सत्यवादी होकर शत्रुओं को संग्राम में जीतें और परमेश्वर की उपासना करके सदा प्रसन्न रहें ॥ ७ ॥

सूक्तम् २८ ॥

१-७ ॥ मित्रावरुणौ देवते ॥ सर्वत्रान्तिमः पादोऽनुष्टुप्, ५-७ जगती ॥

पुरुषार्थकरणायोपदेशः—पुरुषार्थ करने का उपदेश ॥

मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे । प्र सत्यावानमवथो भरेषु तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥१

मन्वे । वाम् । मित्रावरुणौ । ऋत-वृधौ । स-चेतसौ । द्रुह्वणः । यौ । नुदेथे इति । प्र । सत्य-वानम् । अवथः । भरेषु । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ १ ॥

७—(अधिब्रूतम्) अधिकमनुग्रहेण वदतम् (नः) अस्मभ्यम् (पृतनासु) संग्रामेषु (वज्रेण) (संसृजतम्) संयोजयतम् (यः) पुरुषः (किमीदी) अ० १। ७। १। किमिदानीं वर्तते किमिदं वर्तते—इत्येवमन्वेषणं कुर्वाणः। पिशुनः (स्तौमि) प्रशंसामि (भवाशर्वौ) सुखजनकशत्रुनाशकौ परमेश्वरगुणौ (नाधितः) अ० ४ । २३ । ७ । नाथवान् । अधीनः (जोहवीमि) पुनः पुनराह्वयामि । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(ऋतावृधौ) हे सत्य के बढ़ाने वाले (सचेतसौ) समान ज्ञान कराने हारे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण [प्राण और अपान अथवा दिन और रात] (वाम्) तुम दोनों का (मन्वे) मैं मनन करता हूं, (यौ) जो तुम दोनों (द्रुह्वणः) द्रोहकारियों को (नुदेथे) निकाल देते हो और (सत्यावानम्) सत्यवान् पुरुष को (भरेषु) संग्रामों में (प्र) अच्छे प्रकार (अवथः) बचाते हो। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥१॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्राणायाम करके श्वास श्वास पर दिन रात शुभ चिन्तन करते हैं, वे सत्यवादी सत्यसंकल्पी पुरुष आत्म दोषों को त्याग कर संसार में विजय पाते और आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु ।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥२॥

स-चेतसौ । द्रुह्वणः । यौ । नुदेथे इति । प्र । सत्य-वानम् । अवथः । भरेषु । यौ । गच्छथः । नृ-चक्षसौ । बभ्रुणा । सुतम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ २ ॥

१—(मन्वे) मननं करोमि (वाम्) युवयोः (मित्रावरुणौ) अ० १ ।२० । २ । मिनोति प्रेरयति जगत् कार्ये स मित्रः । वृणोति आच्छादयति स्वीकरोति वा स वरुणः ।प्राणापानौ, दयानन्दभाष्ये-य० २ । ३। अहोरात्राभिमानिनौ-इतिसायणः, म० २ । अहोरात्रौ । (ऋतावृधौ) छान्दसो दीर्घः । ऋतस्य सत्यस्य वर्धयितारौ (सचेतसौ) अ० ४ । २६ । १ । समानचेतयितारौ (द्रुह्वणः) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति द्रुह जिघांसायाम् क्वनिप् । द्रोग्धॄन् । उपद्रविणः (यौ) मित्रावरुणौ (नुदेथे) णुद प्रेरणे । दूरे प्रेरयथः । स्थानात् प्रच्यावयथः (प्र) प्रकर्षेण (सत्यावानम्) छन्दसीवनिपौ । वा० पा० ५ । २ । १०९ । इति मत्वर्थीयो वनिप् । छान्दसो दीर्घः । सत्यवन्तं सत्यप्रतिज्ञं पुरुषम् (अवथः) रक्षथः (भरेषु) भृ भर्त्सने क्र्यादिः—पचाद्यच् । संग्रामेषु-निरु०। २ । १७ । (तौ) तादृशौ युवाम् (नः) अस्मान् (मुंचतम् मोचयतम् (अंहसः) कष्टात् ॥

भाषार्थ—(सचेतसौ) हे समान ज्ञान करानेवाले ! (यौ) जो तुम दोनों (द्रुह्वणः) उपद्रवियों को (नुदेथे) निकाल देते हो और (सत्यावानम्) सत्यवान् पुरुष को (भरेषु) संग्रामों में (प्र) अच्छे प्रकार (अवथः) बचाते हो । (नृचक्षसौ) मनुष्यों के देखने वाले (यौ) जो तुम दोनों (बभ्रुणा) पोषण के साथ (सुतम्) उत्पन्न जगत् वा पराक्रमी वा पुत्र समान सेवक पुरुष को (गच्छथः) प्राप्त होते हो । (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य श्वास श्वास और पल पल पर दृष्टि रख कर वैदिक कर्म करते रहते हैं, वे सत्य प्रतिज्ञ पुरुष बल पराक्रम प्राप्त करके सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ २ ॥

यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम् । यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

यौ । अङ्गिरसम् । अवथः । यौ । अगस्तिम् । मित्रावरुणा । जमत्-अग्निम् । अत्रिम् । यौ । कश्यपम् । अवथः । यौ । वसिष्ठम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण तुम दोनों (अङ्गिरसम्) उद्योगी वा ज्ञानी पुरुष को और (यौ) जो तुम दोनों (अगस्तिम्)

२—पूर्वार्द्धो व्याख्यातः—म० १ (यौ) मित्रावरुणौ (गच्छथः) प्राप्नुथः (नृचक्षसौ) अ० १ । ७ । ५ । हे नृणां चष्टारौ द्रष्टारौ ,सर्वस्यापि मानुषव्यापारस्य साक्षिणौ (बभ्रुणा) कुभ्रश्च । उ० १ । २२ । इति डुभृञ् धारणपोषणयोः—कु, द्वित्वं च । भरणेन पोषणेन (सुतम्) षु प्रसवैश्वर्ययोः—क्तः । उत्पन्नं जगत् ऐश्वर्यवन्तम् । पराक्रमिणम् । पुत्रवत्सेवकं वा । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(यौ) युवाम् (अङ्गिरसम्) अ० २ । १२ । ४ । गन्तारम् । उद्योगिनं ज्ञानिनं वा (अवथः) रक्षथः (अगस्तिम्) अ० २ । ३२ । ३ । अग वक्रगतौ-अच् । वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । इति अग + असु क्षेपणे कर्त्तरि-ति प्रत्यय, : पृषो-

वक्रगति पाप के गिरा देने वाले, (जमदग्निम्) [यज्ञ वा शिल्प सिद्धि में] प्रकाशमान अग्नि वाले और (अत्रिम्) दोष के नाश करने वाले, यद्वा निरन्तर गतिशील, यद्वा कायिक वाचिक और मानसिक तीन दोष रहित महात्मा को (अवथः) बचाते हो। (यौ) जो तुम दोनों (कश्यपम्) सोमरस पीने वाले वा सूक्ष्मदर्शी पुरुष को और (यौ) जो तुम दोनों (वसिष्ठम्) बड़े धनी और बड़े श्रेष्ठ जन को (अवथः) बचाते हो। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य (मित्रावरुणा) दिन रात अर्थात् समय, और प्राण और अपान अर्थात् इन्द्रियों के यथावत् प्रयोग से ज्ञानी, शुद्ध चित्त, और सूक्ष्म दर्शी होकर सदा आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

यौ श्यावाश्वमवथो वध्र्यश्वं मित्रावरुणा पुरुमीढमत्रिम्। यौ विमदमवथः सप्तवध्रिं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥४॥

यौ। श्याव-अश्वम्। अवथः। वध्रि-अश्वम्। मित्रावरुणा। पुरु-मीढम्। अत्रिम्। यौ। वि-मदम्। अवथः। सप्त-वध्रिम्। तौ। नः। मुञ्चतम्। अंहसः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण तुम दोनों (श्यावाश्वम्) ज्ञान में व्याप्ति रखने वाले को, (वध्र्यश्वम्) मित भोजन करने वाले

वरादित्वाद् दीर्घाभावः। अगं कुटिलगतिं पापम् अस्यति उत्पाटयतीति अगस्तिः। तथाभूतं पापनाशकं महर्षिम् (मित्रावरुणा) म० १। हे अहोरात्रौ प्राणापानौ वा (जमदग्निम्) अ० २। ३२। ३। जमन्तः प्रज्वलन्तोऽग्नयो यज्ञे शिल्पसिद्धौ वा यस्य तं महर्षिम् (अत्रिम्) अ० २। ३२। ३। दोषभक्षकं निरन्तरगतिशीलं वा मुनिम् यद्वा। अत्रिर्न त्रयः—निरु० ३। १७। इति कायिकवाचिकमानसिकत्रिदोषरहितं पुरुषम् (कश्यपम्) अ० २। ३३। ७। सोमरसपानशीलम्। यद्वा पश्यकं सूक्ष्मदर्शिनम् (वसिष्ठम्) वसुमत्-इष्ठन्। विन्मतोर्लुक्। पा० ।५। ३ ६५। इति मतुपो लुक्। वसुमत्तमम्। अतिशयेन धनवन्तम्। यद्वा वसु-इष्ठन्। सर्वश्रेष्ठम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(यौ) युवां मित्रावरुणौ (श्यावाश्वम्) कॄगॄशॄदॄभ्यो वः। उ० १। १५५। इति श्यैङ् गतौ-व। इति श्यावः। अशूप्रुषिलटि० । १ । १५१। इति

को, (पुरुमीढम्) बड़े धनी को और (अत्रिम्)नित्य उद्योगी को (अवथः) बचाते हो ।(यौ) जो तुम दोनों (विमदम्) मद्रहित वा अदीन पुरुष को और (सप्तवध्रिम्) [पंच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि इन] सात को संयम में रखने वाले पुरुष को (अवथः) बचाते हो । (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुंचतम्) छुड़ाओ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य समय और प्राण के संयम से ज्ञान पूर्वक, शुद्ध आहार, विहार करके निरभिमानी और अदीन अर्थात् उत्साही, स्वस्थ और धनी होके सदा आनन्दित रहते हैं ॥ ४ ॥

यौ भ॒रद्वा॑ज॒मव॑थो॒ यौ गवि॑ष्ठिरं वि॒श्वामि॑त्रं वरुण मित्र॒ कुत्स॑म् । यौ क॒क्षीव॑न्त॒मव॑थः॒ प्रोत कण्वं॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ५ ॥

यौ । भ॒रत्ऽवा॑जम् । अव॑थः । यौ । गवि॑ष्ठिरम् । वि॒श्वाऽमि॑त्रम् । वरुण । मित्र॑ । कुत्स॑म् । यौ । क॒क्षीव॑न्तम् । अव॑थः । प्र । उ॒त । कण्व॑म् । तौ । नः॒ । मु॒ञ्चत॒म् । अंह॑सः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (मित्र वरुण) मित्र और वरुण तुम दोनों

अशू व्याप्तौ, अश भोजने वा-क्वन् । इति अश्वः । श्यावे ज्ञाने अश्वो व्याप्तिर्यस्य तं ज्ञानव्याप्तिकम् (अवथः) रक्षथः (वध्र्यश्वम्) अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् । उ० ४ । ६५ । इति बध बन्धने भ्वा०, वा बध संयमने चुरा०-क्रिन् । बध्रौ संयमने अश्वोऽशनं भोजनं यस्य तं मितभोजिनम् (मित्रावरुणा) म० १ । अहोरात्रौ । प्राणापानौ (पुरुमीढम्) मिह सेचने-क्त । मीढं धननाम-निघ० २ । १२ । बहुधनयुक्तम् (अत्रिम्) म० ३ । निरन्तरगतिशीलम् (विमदम्) मदी हर्षग्लेपनयोः, गर्वे च-अच् । ग्लेपनं दैन्यम् । विगतो मदोऽहङ्कारो दैन्यं वा यस्य तम् । निरहङ्कारम् । अदीनम् (सप्तवध्रिम्) बध संयमने-क्रिन् पूर्ववत् । पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च सप्त बध्रौ संयमने यस्य तम् । अतिजितेन्द्रियम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—(यौ) मित्रावरुणौ युवाम् (भरद्वाजम्) म० २ । १२ । २ । अन्नस्य बलस्य विज्ञानस्य वा भर्तारं धारकं पुरुषम् (अवथः) रक्षथः (गविष्ठिरम्)

(भरद्वाजम्) अन्न वा बल, वा ज्ञान के धारण करने वाले को, (यौ) जो तुम (गविष्ठिरम्) वेद वाणी में स्थिर को, (विश्वामित्रम्) सब के मित्र को, वा सब हैं मित्र जिसके उसको, और (कुत्सम्) संगतिशील वा दोषों के कतरने वाले को (अवथः) बचाते हो, (यौ) जो तुम दोनों (कक्षीवन्तम्) उद्योगी वा शासन शील (उत) और (कण्वम्) स्तुति करने वाले मेधावी पुरुष को (प्र) अच्छे प्रकार (अवथः) बचाते हो। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ५ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी, वेदों की आज्ञा पालन करने वाले सर्वहितकारक आदिक पुरुषों के लिये समय और आत्मबल सदा अनुकूल रहते हैं ॥ ५ ॥

यौ मेधा॑तिथि॒मव॑थो॒ यौ त्रि॒शोकं॒ मित्रा॑वरुणावु॒शनां॑ का॒व्यं यौ। यौ गोत॑म॒मव॑थः॒ प्रोत मु॒द्गलं॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ६ ॥

तत्पुरुषे कृति बहुलम्। पा० ६। ३। १४। इत्यलुक्। गवियुधिभ्यां स्थिरः। पा० ८। ३। ९५। इति षत्वम्। गवि वाचि वेदात्मिकायां स्थिरं दृढम् (विश्वामित्रम्) मित्रे चर्षौ। पा० ६। ३। १३०। इति दीर्घः। विश्वामित्रः सर्वमित्रः, सर्वं संसृतम्—निरु० । २। २४। सर्वस्यैव मित्रं सर्वमेव वा तस्य मित्रम्। तं सर्वहितम् (वरुण मित्र) हे मित्रावरुणौ (कुत्सम्) स्तुत्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्। उ० ३। ६६। इति—कुस संश्लेषणे—स। सः स्यार्धधातुके। पा० ७। ४। ४९। इति सस्य तः। सद्भिः संगतिशीलम्। यद्वा कृती छेदने सप्रत्ययः। ऋकारस्य उत्वम्। दोषाणां कर्तकं छेत्तारम्। यद्वा कुत्स अवक्षेपणे चुरा०—घञ्। कुत्सयति दोषान् यः तम्। कुत्सो वज्रः—निघ० २। २० कुत्स इत्येतत्कृन्ततेः। ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः। अत्राप्यस्य वधकर्मैव भवति तत्सख इन्द्रः शुष्णं जघानेति—निरु० ३। ११। (कक्षीवन्तम्) अशेर्नित्। उ० ३। १५६। इति कश गतिशासनयोः—क्स। ततो मतुप्। मस्य वः। अन्येषामपि दृश्यते। पा० ६। ३। १३७। इति दीर्घः। कक्षिर्गतिः शासनं वा विद्यते यस्मिन् स कक्षीवान् तं गतिशीलं शासनशीलं वा कक्षीवान् कक्ष्यावान्… अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्—निरु० ६। १०। (प्र) प्रकर्षेण (उत) अपि च (कण्वम्) अ० २। २५। ३। अशूप्रुषिलटिकणि०। उ० १। १५१। इति कण शब्दे निमीलने वा—क्वन्। कणति स्तौति यद्वा निमीलयति दोषान् स्वज्ञानेन, तम् मेधाविनम्—निघ० ३। १५। अन्यत् पूर्ववत् ॥

यौ । मेध-अतिथिम् । अवथः । यौ । त्रि-शोकम् । मित्रावरुणौ । उशनाम् । काव्यम् । यौ । यौ । गोतमम् । अवथः । प्र । उत । मुद्गलम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (मित्रावरुणौ) दिन रात वा प्राण और अपान तुम दोनों ! (मेधातिथिम्) धारणावती बुद्धि के नित्य प्राप्त करने वाले को और (यौ) जो तुम दोनों (त्रिशोकम्) कायिक, वाचिक, और मानसिक तीन दोषों पर शोक करने वाले को, और (यौ) जो तुम दोनों (उशनाम्) कामना योग्य नीति को और (काव्यम्) बुद्धिमानों के कर्म को (अवथः) बचाते हो। (यौ) जो तुम दोनों (गोतमम्) अतिशय स्तुति करने वाले वा विद्या की कामना करने वाले को (उत) और (मुद्गलम्) मोद अर्थात् हर्ष देने वाले को (प्र) अच्छे प्रकार (अवथः) बचाते हो। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य तपश्चर्या करके अपने समय और शारीरिक मानसिक शक्तियों का यथावत् उपयोग करते हैं वे उत्तम नीति और कर्म प्राप्त करके आनन्दित होते हैं ॥ ६ ॥

६—(यौ) युवाम् (मेधातिथिम्) षिभिदादिभ्योऽङ् । पा० । ३ । ३ । १०४ । इति मेधृ वधहिंसासङ्गमेषु—अङ् । टाप् । धीर्धारणावती मेधा—इत्यमरः । ५ । २ । ऋतन्यञ्जिवन्यञ्ज्यर्पिमद्यत्यङ्गि० । उ० ४ । २ । इति अत सातत्यगमने—इथिन् । अततीति अतिथिः । मेधां धारणावतीं बुद्धिं अतति निरन्तरं प्राप्नोति यः, तम् । (अवथः) (त्रिशोकम्) त्रिषु कायिकवाचिकमानसिकदोषेषु शोकः खेदो यस्य तम् (मित्रावरुणौ) अहोरात्रौ प्राणापानौ वा (उशनाम्) रञ्जतेः क्युन् । उ० २ । ७६ । इति वश कान्तौ—क्युन् । टाप् । सम्प्रसारणं च । कमनीयां नीतिम् (काव्यम्) गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च पा० ५ । १ । १२४ । इति कवि—ष्यञ् । कवीनां मेधाविनां कर्म (गोतमम्) गो-तमप् । गौः स्तोता—निरु०३। १६ । अतिशयेन स्तोतारम् । यद्वा, गौः, वाङ्नाम-निघ०१ । ११ । तमु काङ्क्षायाम् पचाद्यच् । गां वाचं विद्यां ताम्यति काङ्क्षति यस्तं विद्याकामम् (प्र उत) (मुद्गलम्) मुदिग्रोर्गग्गौ । उ०१ । १२८ । इति मुद हर्षे—गक् । ला दानादनयोः क । मुद्गलो मुद्गवान् मुद्गिलो वा मदनङ्गिलतीति वा मदङ्गिलो वा मुदङ्गिलो वा निरु० ६ । २४ । मोदस्य हर्षस्य दातारम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

यया रथः सत्यवर्त्मर्जुरश्मिर्मिथुया चरन्तमभियाति दूषयन्। स्तौमि मित्रावरुणौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

ययोः। रथः। सत्य-वर्त्मा। ऋजु-रश्मिः। मिथुया। चरन्तम्। अभि-याति। दूषयन्। स्तौमि। मित्रावरुणौ। नाथितः। जोहवीमि। तौ। नः। मुञ्चतम्। अंहसः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ययोः) जिन दोनों का (सत्यवर्त्मा) सत्यमार्ग वाला, (ऋजुरश्मिः) सरल व्याप्ति वा डोरी वाला (रथः) रथ (मिथुया) हिंसा के साथ (चरन्तम्) चलते हुये पुरुष को (दूषयन्) सताता हुआ (अभियाति) चढ़ाई करता है। (नाथितः) मैं अधीन होकर (मित्रावरुणौ) दिन रात वा प्राण अपान को (स्तौमि) सराहता हूं और (जोहवीमि) वारंवार पुकारता हूं। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य समय और आत्मिक शक्तियों का कुप्रयोग करते हैं, वेही कर्म उन दुराचारियों का नाश कर देते हैं। इस लिये मनुष्य अपने काल और सामर्थ्य को उत्तम कामों में लगाकर प्रसन्न रहें ॥ ७ ॥

७—(ययोः) मित्रावरुणयोः (रथः) अ० ४। १२। ६। वेगवान्। स्यन्दनः (सत्यवर्त्मा) अवितथमार्गयुक्तः (ऋजुरश्मिः) अर्जिदृशिकम्यमि०। उ० १। २७। इति अर्ज अर्जने-कु। इति ऋजु। अश्नोतेरश्च। उ० ४। ४६। इति अशू व्याप्तौ-मि। रश् इत्यादेशो धातोः। ऋजवः सरला अनुकूला रश्मयो व्याप्तयः प्रग्रहा वा यस्य सः (मिथुया) मिथ वधे-कु। सुपां सुलुक्। पा० ७। १। ३९। इति विभक्तेर्याच्। मिथुना हिंसनेन (चरन्तम्) गच्छन्तम् (अभियाति) अभिमुखं गच्छति (दूषयन्) दुष वैकृत्ये एयन्तात्-शतृ। दोषो णौ। पा० ६। ४। ९०। इति ऊत्वम् (स्तौमि) प्रशंसामि (मित्रावरुणौ) अहोरात्रौ प्राणापानौ वा (नाथितः) नाथवान्। अधीनः (जोहवीमि) पुनः पुनराह्वयामि। अन्यत् पूर्ववत् ॥

सूक्तम् ३० ॥

१-८ ॥ राष्ट्री देवता । १-५, ७, ८ त्रिष्टुप्, ६ जगती ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

अहम् । रुद्रेभिः । वसु-भिः । चरामि । अहम् । आदित्यैः । उत । विश्व-देवैः । अहम् । मित्रावरुणा । उभा । बिभर्मि । अहम् । इन्द्राग्नी इति । अहम् । अश्विना । उभा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं [परमेश्वर] (रुद्रेभिः) ज्ञान दाताओं वा दुःख नाशकों (वसुभिः) निवास कराने वाले पुरुषों के साथ (उत) और (अहम्) मैं ही (विश्वदेवैः) सर्व दिव्य गुण वाले (आदित्यैः) प्रकाशमान, अथवा अदीन प्रकृति से उत्पन्न हुये सूर्य आदि लोकों के साथ (चरामि) चलता हूं । (अहम्) मैं (उभा) दोनों (मित्रावरुणा) दिन और रात को, (अहम्) मैं (इन्द्राग्नी) पवन और अग्नि को, (अहम्) मैं ही (उभा) दोनों (अश्विना) सूर्य और पृथिवी को (बिभर्मि) धारण करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सर्वशक्तिमान् सर्वोत्पादक और सर्वपोषक है, उसकी उपासना से सब मनुष्य नित्य उन्नति करें ॥ १ ॥

१—(अहम्) परमेश्वरः (रुद्रेभिः) अ० २ । २७ । ६ । रुत्+र । रुद्रैः । ज्ञानदातृभिः । दुःखनाशकैः (वसुभिः) अ० २ । १२ । ४ । वासयितृभिः । धनैः (चरामि) गच्छामि (आदित्यैः) अ० १ । ९ । १ । प्रकाशमानैः । अदितेरदीनायाः, देवमातुः प्रकृतेः सकाशादुत्पन्नैः सूर्यादिलोकैः (उत) अपि च (विश्वदेवैः) सर्वदिव्यगुणयुक्तैः (मित्रावरुणा) अहोरात्रौ । (उभा) उभौ (बिभर्मि) धारयामि (इन्द्राग्नी) अ० १ । ३५ । ४ । वाय्वग्नी (अश्विना) अ० २ । २९ । ६ । द्यावापृथिव्यौ ॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है—मण्डल १० सूक्त १२५। वहां सूक्त की वागाम्भृणी ऋषि और वागाम्भृणी ही देवता है ॥

अहं राष्ट्री । संगमनी वसूनां चिकितुषीप्रथमा यज्ञियानाम् । तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः ॥ २ ॥

अहम् । राष्ट्री । सम्-गमनी । वसूनाम् । चिकितुषी । प्रथमा । यज्ञियानाम् । ताम् । मा । देवाः । वि । अदधुः । पुरु-त्रा । भूरि-स्थात्राम् । भूरि । आ-वेशयन्तः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (वसूनाम्) धनों की (संगमनी) पहुंचाने वाली और (यज्ञियानाम्) संगति योग्य पूजनीय विषयों की (चिकितुषी) जानने वाली (प्रथमा) पहिली (राष्ट्री) नियम करने वाली शक्ति हूं। (देवाः) विद्वानों ने (पुरुत्रा) बहुत प्रकारों से (भूरिस्थात्राम्) अनेक पदार्थों में ठहरी हुई (ताम् मा) उस मुझ को (भूरि) अनेक विध से (आवेशयन्तः) [अपने आत्मा में] प्रवेश कराके (व्यदधुः) विविध प्रकार धारण किया है ॥२ ॥

भावार्थ—अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वपोषक, सर्वनियन्ता परमेश्वर सब स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों में विद्यमान है। विद्वान् लोग ही उसकी अपार महिमा का अनुभव करते हैं ॥ २ ॥

२—(अहम्) परमेश्वरः (राष्ट्री) अ० ४ । १ । ९ । राज्ञी । नियन्त्री शक्तिः (संगमनी) सम्+गम्लृ-ल्युट् । ङीप् । संगमयित्री प्रापयित्री (चिकितुषी) कित ज्ञाने-क्वसु । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । ज्ञातवती । प्राप्तज्ञाना (प्रथमा) प्रख्याता मुख्या (यज्ञियानाम्) अ० २ । १२ । २ । यज्ञार्हाणां संगमनीयानां देवानाम् (ताम्) तथाविधाम् (मा) माम् । परमेश्वरम् (देवाः) विद्वांसः (व्यदधुः) धाञो लङि रूपम् । विविधं स्थापितवन्तः (पुरुत्रा) देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यः । पा० ५ । ४ । ५६ । इति सप्तम्यर्थे-त्रा । बहुषु प्रकारेषु (भूरिस्थात्राम्) अदिशदिभू० । उ० ४ । ६। । इति भू-क्रिन् । भूरि बहु-निघ० ३ । १ । दाद्भिभ्यश्छन्दसि । उ० ४ । १७० । इति ष्ठा-त्रन् । बहुपदार्थेषु कृतावस्थानाम् (भूरि) अनेकधा (आवेशयन्तः) विश, णिच्-शतृ । प्रवेशयन्तः स्वात्मानं प्रति ॥

अ॒हमे॒व स्व॒यमि॒दं व॑दामि॒ जुष्टं॑ दे॒वाना॑मु॒त मानु॑षा-
णाम्। यं का॒मये॒ तंत॑मु॒ग्रं कृ॑णोमि॒ तं ब्र॒ह्माणं॒ तमृ-
षिं॒ तं सु॑मे॒धाम् ॥ ३ ॥

अ॒हम्। ए॒व। स्व॒यम्। इ॒दम्। व॒दा॒मि॒। जुष्ट॑म्। दे॒वा-
नाम्। उ॒त। मानु॑षाणाम्। यम्। का॒मये॑। तम्-त॑म्। उ॒ग्रम्।
कृ॒णोमि॒। तम्। ब्र॒ह्माण॑म्। तम्। ऋषि॑म्। तम्। सु॒-
मे॒धाम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (एव) ही (स्वयम्) आप (देवानाम्) सूर्य आदि लोकों (उत) और (मानुषाणाम्) मननशील मनुष्यों का (जुष्टम्) प्रिय (इदम्) यह बचन (वदामि) कहता हूं। [अर्थात्] (यम्) जिस किस को (कामये) मैं चाहता हूं (तम्-तम्) उस उसको ही [कर्मानुसार] (उग्रम्) तेजस्वी, (तम्) उस को ही (ब्रह्माणम्) बृद्धिशील ब्रह्मा, (तम्) उसी को (ऋषिम्) सन्मार्गदर्शक ऋषि, (तम्) उसीको (सुमेधाम्=०-धम्) उत्तम बुद्धि वाला (कृणोमि) बनाता हूं ॥३॥

भावार्थ—परमात्मा सब लोकों और प्राणियों को शरण में रखकर उपदेश करता है कि मैं अपने आज्ञाकारियों को प्रीति पूर्वक उत्तम गति देता हूं ॥ ३ ॥

३—(अहम्) परमेश्वरः (एव) अवधारणे। नान्योऽस्ति ममोपदेष्टेति यावत् (स्वयम्) आत्मना (इदम्) अनुभूयमानं ब्रह्मात्मकं वाक्यम् (वदामि) उपदिशामि। प्रकटयामि (जुष्टम्) प्रियं हितम्। सेवितम् (देवानाम्) सूर्यादिलोकानाम् (उत) अपि च (मानुषाणाम्) मननशीलानां मनुष्याणाम् (यम्) उपासकम् (कामये) वाञ्छामि (तम्-तम्) प्रत्येकं वाञ्छितं पुरुषम् (उग्रम्) दुष्प्रधर्षं तेजस्विनम् (कृणोमि) करोमि (ब्रह्माणम्) बृंहेर्नोऽच्च। उ० ४। १४६। इति बृहि वृद्धौ–मनिन्। नस्य अकारः। बृंहति वर्धते बृंहयति वर्धयति वेदज्ञानेन स ब्रह्मा। विधातारं ब्रह्माणम् (ऋषिम्) अ० २। ६। १। ऋषिर्दर्शनात्–निरु० २। ११ आप्तं सन्मार्गदर्शकम् (सुमेधाम्) दीर्घश्छान्दसः। सुमेधम्। सुमेधसम्। शोभनप्रज्ञम् ॥

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्। अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥ ४ ॥

मया। सः। अन्नम्। अत्ति। यः। वि-पश्यति। यः। प्राणिति। यः। ईम्। शृणोति। उक्तम्। अमन्तवः। माम्। ते। उप। क्षियन्ति। श्रुधि। श्रुत। श्रत्-धेयम्। ते। वदामि॥४॥

भाषार्थ—(मया) मेरे द्वारा ही (सः) वह (अन्नम्) (अत्ति) खाता है (यः) जो कोई (विपश्यति) विशेष करके देखता है, (यः) जो (प्राणति) श्वास लेता है और (यः) जो (ईम्) यह (उक्तम्) वचन (शृणोति) सुनता है। (माम्) मुझे (अमन्तवः) न जानने वाले (ते) वे पुरुष (उप) हीन होकर (क्षियन्ति) नष्ट हो जाते हैं। (श्रुत) हे सुनने में समर्थ जीव ! (श्रुधि) तू सुन, (ते) तुझसे (श्रद्धेयम्) आदर योग्य सत्य (वदामि) बताता हूं ॥४॥

भावार्थ—विवेकी पुरुष परमात्मा को जानकर आनन्द, और अज्ञानी नास्तिक उससे विमुख होकर दुःख भोगते हैं। यह परमेश्वर का उपदेश है ॥४॥

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ। अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥५॥

४—(मया) मम द्वारा (सः) पुरुषार्थी (अन्नम्) अदनीयम्। जीवनसाधनं वा (अत्ति) भक्षयति (यः) (वि पश्यति) विशेषेणावलोकयति (प्राणति) शपःप्रयोगश्छान्दसः। प्राणिति प्रश्वसिति (ईम्) इदम् (शृणोति) श्रोत्रेण गृह्णाति (उक्तम्) वचनम् (अमन्तवः) कमिमनिजनि०। उ० १। ७३। इति नञ्+मनु अवबोधने-तु। अजानन्तः (माम्) परमेश्वरम्। न लोकाव्यय०। पा० २। ३। ६९। इति द्वितीया (ते) प्रसिद्धा मूर्खाः (उप) हीने (क्षियन्ति) क्षि क्षये। नश्यन्ति (श्रुधि) शृणु (श्रुत) श्रुतं श्रवणं यस्यास्तीति श्रुतः। श्रुत-अर्श आद्यच्। हे श्रवणसमर्थ (श्रद्धेयम्) श्रत्, सत्यम्-निघ० ३। १०। अचो यत्। पा० ३। १। ९७। इति श्रत्+धाञो यत्। ईद्यति। पा० ६। ४। ६५। इति ईकारः। श्रद्धातव्यम्। आदरणीयं सत्यम् (ते) तुभ्यम् (वदामि) उपदिशामि ॥

अहम् । रुद्राय । धनुः । आ । तनोमि । ब्रह्म-द्विषे । शरवे । हन्तवै । ऊं इति । अहम् । जनाय । स-मदम् । कृणोमि । अहम् । द्यावापृथिवी इति । आ । विवेश ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (रुद्राय) दुःखनाशक शूर के लिये (ब्रह्मद्विषे) ब्राह्मणों के द्वेषी (शरवे) हिंसक के (हन्तवै) मारने को (उ) ही (धनुः) धनुष् (आ तनोमि) सब ओर से तानता हूं । (अहम्) मैं (जनाय) भक्त जन के लिये (समदम्) आनन्दयुक्त [जगत्] (कृणोमि) करता हूं । (अहम्) मैं ने (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोक में (आ) सब ओर से (विवेश) प्रवेश किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक परमेश्वर शिष्टों की रक्षा के लिये दुष्टों का नाश करता है और अपने भक्तों को सब स्थानों में आनन्द देता है ॥ ५ ॥

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् । अहं दधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राव्या ३ यजमानाय सुन्वते ॥ ६ ॥

अहम् । सोमम् । आहनसम् । बिभर्मि । अहम् । त्वष्टारम् । उत । पूषणम् । भगम् । अहम् । दधामि । द्रविणा । हविष्मते । सुप्र-अव्या । यजमानाय । सुन्वते ॥ ६ ॥

५—(अहम्) परमेश्वरः (रुद्राय) म० । १ । ज्ञानदात्रे । दुःखनाशकाय । तस्य हितायेत्यर्थः (धनुः) अ० ४ । ६ । ६ । चापम् (आ तनोमि) विस्तारयामि । सज्यं करोमि (ब्रह्मद्विषे) द्विष अप्रीतौ—क्विप् । ब्राह्मणानां द्वेष्ट्रे (शरवे) शृस्वृस्निहि० । उ० १ । १० । इति शॄ हिंसायाम्—उ । कर्मणि चतुर्थी । हिंसकम् । दुष्टम् (हन्तवै) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ९ । इति हन हिंसागत्योः —तवै । हन्तुं हिंसितुम् (उ) अवधारणे (जनाय) भक्तजनार्थम् (समदम्) मदोऽनुपसर्गे । पा० ३ । ३ । ६८ । इति मदी हर्षे-अप् । मदेन हर्षेण सहितम् (कृणोमि) करोमि (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (आविवेश) प्रविष्टवान् ॥

भषार्थ—(अहम्) मैं (आहनसम्) प्राप्तियोग्य (सोमम्) ऐश्वर्य को (अहम्) मैं (त्वष्टारम्) रसों के छिन्न भिन्न करने हारे सूर्य को (उत) और (पूषणम्) पोषण करने हारी पृथिवी को और (भगम्) सेवनीय चन्द्रमा को (बिभर्मि) धारण करता हूं। (अहम्) मैं (हविष्मते) भक्ति रखनेवाले, (सुन्वते) विद्या रस वा निचोड़ करने हारे (यजमानाय) देवताओं की पूजा वासंगति करनेहारे पुरुष को (सु प्राव्या=०—णि) सुन्दर सुन्दर रक्षा योग्य (द्रविणा) अनेक धन (दधामि) देता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अनेक प्रकार के ऐश्वर्य और सूर्य आदि बड़े उपकारी पदार्थ रचे हैं। विद्वान् लोग विज्ञान द्वारा उनसे लाभ प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं ॥ ६ ॥

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे। ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥ ७ ॥

अहम्। सुवे। पितरम्। अस्य। मूर्धन्। मम। योनिः। अप्ऽसु। अन्तः। समुद्रे। ततः। वि। तिष्ठे। भुवनानि। विश्वा। उत। अमूम्। द्याम्। वर्ष्मणा। उप। स्पृशामि ॥ ७ ॥

६—(अहम्) परमेश्वरः (सोमम्) अ० १।६।२। ऐश्वर्यम् (आहनसम्) आङ्+हन हिंसागत्योः—असुन्। सम्यक् प्रापणीयम् (बिभर्मि) धारयामि (त्वष्टारम्) अ० २।५।६। रसानां तनूकर्तारं सूर्यम् (उत) अपि च (पूषणम्) अ० १।६।१। पूषा पृथिवीनाम। निघ० १।१। पोषयित्रीं पृथिवीम् (भगम्) अ० १।१४।१। भगो भजतेः—निरु० १।७। सेवनीयं चन्द्रम् (दधामि) ददामि प्रयच्छामि (द्रविणा) द्रविणानि। धनानि (हविष्मते) हविः—अ० १।४।३। दानयुक्ताय। भक्तिविशिष्टाय (सुप्राव्या) अहलोर्ण्यत्। पा० ३।३।१२४। इति सु+प्र+अव रक्षणे—ण्यत्। संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः—इति वृद्धेरभावः। सुष्ठु प्रकर्षेण अवनीयानि। रक्षणीयानि। (यजमानाय) देवपूजकाय (सुन्वते) षुञ् अभिषवे शतृ। विद्यारसस्याभिषवं मथनं कुर्वते ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (अस्य) इस जगत् के (मूर्धन्) नियम के निमित्त (पितरम्) पालन करनेवाले गुण को (सुवे) उत्पन्न करता हूं। (मम) मेरा (योनिः) घर (समुद्रे) अन्तरिक्ष में वर्तमान (अप्सु अन्तः) व्यापनशील रचनाओं के भीतर है। (ततः) इसी से (विश्वा) सब (भुवनानि) प्राणियों में (वि तिष्ठे) व्यापकर वर्तमान हूं (उत) और (अमूम् द्याम्) उस प्रकाशमान सूर्य को (वर्ष्मणा) अपने ऐश्वर्य से (उप स्पृशामि) छूता रहता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब में व्यापक रहकर सब का पालन कर्ता, और नियन्ता और उपास्य है ॥ ७ ॥

अ॒हमे॒व वात॑ इव॒ प्र वा॑म्या॒रभ॑माणा॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
प॒रो दि॒वा प॒र ए॒ना पृ॑थि॒व्यैताव॑ती महि॒म्ना सं ब॑भूव ॥८॥

अ॒हम् । ए॒व । वातः॑-इव । प्र । वा॒मि॒ । आ-रभ॑माणा । भुव॑नानि । विश्वा॑ । प॒रः । दि॒वा । प॒रः । ए॒ना । पृ॒थि॒व्या । ए॒ताव॑ती । म॒हि॒म्ना । सम् । ब॒भू॒व॒ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अहम् एव) मैं ही (विश्वा) सब (भुवनानि) प्राणियों को (आरभमाणा = आलभमाना) छूती हुई शक्ति (वातः) पवन के समान

७—(अहम्) परमेश्वरः (सुवे) षूङ् प्राणिगर्भविमोचने। जनयामि (पितरम्) पालकं गुणं (अस्य) दृश्यमानस्य। जगतः (मूर्धन्) अ० ३। ६। ६। मुर्व बन्धने—कनिन्। मूर्धनि। बन्धने। नियमे निमित्ते (मम) (योनिः) गृहम्—निघ० ३। ४। (अप्सु) व्यापनशीलासु प्रकृतिरचनासु (अन्तः) मध्ये (समुद्रे) अ० १। ३। ८। समुद्रवन्त्यस्माद् भूतानि। अन्तरिक्षे—निघ० १। ३ (ततः) तस्मात्कारणात् (वितिष्ठे) समवप्रविभ्यः स्थः। पा० १। ३। २२। इति आत्मने पदम्। विविधं व्याप्य तिष्ठामि (भुवनानि) भूतजातानि (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (अमूम्) विप्रकृष्टाम् (द्याम्) प्रकाशमानं सूर्यम् (वर्ष्मणा) अ० ३। ४। २। वृषु प्रजननैश्वर्ययोः—मनिन्। स्वैश्वर्येण (उप स्पृशामि) व्याप्नोमि—इत्यर्थः॥

८—(अहम्) परमेश्वरः (एव) निश्चयेन (वातः) पवनः (इव) यथा (प्र वामि) प्रवेर्तै (आरभमाणा) आङ् पूर्वको लभ स्पर्शे—शानच्। लस्य रः।

(प्र वामि) चलती रहती हैं। (दिवा) सूर्य लोक से (परः) परे और (एना पृथिव्या) इस पृथिवी से (परः) परे [वर्तमान होकर] (एतावती) इतनी बड़ी शक्ति (महिम्ना) अपनी महिमा से (संबभूव) हो गई हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे वायु सब सांसारिक पदार्थों को अवलम्बन करता है उसी प्रकार परमात्मा वायु का भी आश्रय दाता है और वह इन्द्रियों के विषय, सूर्य पृथिवी आदि पदार्थों से अलग है। उस की महिमा को जान कर सब मनुष्य पुरुषार्थी होकर आनन्दित रहें ॥ ८ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१-७ ॥ मन्युर्देवता ॥ १-३ त्रिष्टुप्, ४-७ जगती ॥

संग्रामे जयप्राप्त्युपदेशः—संग्राम में जय पाने का उपदेश ॥

त्वया॑ मन्यो स॒रथ॑मारु॒जन्तो॒ हर्ष॑माणा हृषि॒तासो॑ मरुत्वन्। ति॒ग्मेष॑व॒ आयु॑धा सं॒शिशा॑ना॒ उप॒ प्र य॑न्तु॒ नरो॑ अ॒ग्निरू॑पाः ॥ १ ॥

त्वया॑। म॒न्यो॒ इति॑। स॒-रथ॑म्। आ॒-रु॒जन्तः॑। हर्ष॑माणाः। हृ॒षि॒तासः॑। म॒रु॒त्व॒न्। ति॒ग्म-इ॑षवः। आयु॑धा। स॒म्-शिशा॑नाः। उप॑। प्र। य॒न्तु॒। नरः॑। अ॒ग्नि-रू॑पाः ॥ १ ॥

आलभमाना। स्पृशन्ती। आलम्बमाना शक्तिः (भुवनानि) भूतजातानि लोकान् वा (विश्वा) सर्वाणि (परः) परस्तात्। दूरे (दिवा) सूर्येण (एना) सुपां सुलुक्०। पा० ७।१।३९। इति आच्। एनया। अनया (पृथिव्या) भूम्या (एतावती) यत्तदेतेभ्यः परिमाणे०। पा० ५।२।३९। इति एतद्-वतुप्। आसर्वनाम्नः। पा० ६।३।९१। इति आत्वम्। एतत्परिमाणा महती (महिम्ना) माहात्म्येन (सं बभूव) समर्था बभूव ॥

भावार्थ—(मरुत्वन्) हे शूरवीरों वाले (मन्यो) क्रोध ! (त्वया) तेरे साथ (सरथम्) एक रथ पर चढ़ कर [शत्रुओं को] (आरुजन्तः) तोड़ते फोड़ते हुये, (हर्षमाणाः) हर्ष मानते हुये, (हृषितासः) संतुष्ट मन, (तिग्मेषवः) तीक्ष्ण बाणों वाले, (आयुधा) शस्त्रों को (संशिशानाः) तीक्ष्ण करते हुये, (अग्निरूपाः) अग्निरूप [अग्नि तुल्य प्रचण्ड कर्मों वाले, अथवा सन्नद्ध कवच पहिने हुये] (नरः) हमारे नर [मुखिया लोग] (उप प्र यन्तु) व्यापकर चढ़ाई करें ॥ १ ॥

भावार्थ—जो शूर वीर दुष्टों पर क्रोध करके चढ़ाई करते हैं, वे विजयी होते हैं ॥ १ ॥

अ॒ग्निरि॑व मन्यो त्विषि॒तः स॑हस्व सेना॒नीर्नः॑ सहुरे हू॒त ए॑धि । ह॒त्वाय॒ शत्रू॒न् वि भ॑जस्व॒ वेद॒ ओजो॒ मिमा॑नो॒ वि मृधो॑ नुदस्व ॥ २ ॥

अ॒ग्निः-इ॑व । म॒न्यो॒ इति॑ । त्वि॒षि॒तः । स॒ह॒स्व॒ । से॒ना॒-नीः । नः॒ । स॒हु॒रे॒ । हू॒तः । ए॒धि॒ । ह॒त्वाय॑ । शत्रू॑न् । वि । भ॒ज॒स्व॒ । वेदः॑ । ओजः॑ । मिमा॑नः । वि । मृधः॑ । नु॒द॒स्व॒ ॥ २ ॥

१—(त्वया) मन्युना (मन्यो) यजिमनिशुन्धि० । उ० । ३।२० इति मन ज्ञाने गर्वे च—युच्, अनादेशाभावः । मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो बधकर्मणो वा मन्यन्त्यस्मादिषवः–निरु० १० । २९ । हे क्रोध—निघ० २ । १३ । (सरथम्) समानं रथमारुह्य । सरथमारुह्य–निरु० १० । ३० (आरुजन्तः) आभञ्जन्तः पीड़यन्तः शत्रून् (हर्षमाणाः) हृष तुष्टौ–शानच् । हर्षं कुर्वाणाः (हृषितासः) संतुष्टाः सन्तः (मरुत्वन्) अ० १ । २० । १ । मरुद्भिः शूरैर्युक्त (तिग्मेषवः) तीक्ष्णशराः (आयुधा) आयुधानि खड्गादीनि शस्त्राणि (संशिशानाः) शो तनूकरणे–कानच् । संश्यन्तः । तीक्ष्णीकुर्वन्तः (उप) व्याप्तौ (प्र यन्तु) प्रकर्षेण गच्छन्तु (नरः) । नयतेर्डिच्च । उ० २ । १०० । इति णीञ् प्रापणे–ऋ । नेतारः (अग्निरूपाः) अग्निवत्तीक्ष्णदाहादिकर्माणः । यद्वा सन्नद्धाः कवचिनः । अग्निरूपा अग्निकर्माणः सन्नद्धाः कवचिन इतिवा–निरु० १० । ३० ॥

भावार्थ—(मन्यो) हे क्रोध ! (अग्निः इव) अग्नि के समान (त्विषितः) प्रज्वलित होकर (सहस्व) समर्थ हो, (सहुरे) हे प्रबल ! (हुतः) आवाहन किया हुआ तू (नः) हमारा (सेनानीः) सेनापति (एधि) हो । (शत्रून्) शत्रुओं को (हत्वाय) मारकर (वेदः) उनका धन (वि भजस्व) बांट दे, और (ओजः) बल (मिमानः) दिखाता हुआ तू (मृधः) हिंसक लोगों को (वि नुदस्व) इधर उधर फेंक दे ॥२॥

भावार्थ—सेनानी लोग क्रोध के साथ शत्रुओं को मारकर उन का धन बांट लें और उन्हें इतर बितर कर दें ॥२॥

सह॑स्व मन्यो अ॒भिमा॑तिम॒स्मै रु॒जन् मृ॒णन् प्र॑मृ॒णन् प्रेहि॒ शत्रू॑न् । उ॒ग्रं ते॒ पाजो॒ नन्वा रु॑रुध्रे व॒शी वशं॑ नयासा एकज॒ त्वम् ॥ ३ ॥

सह॑स्व । म॒न्यो॒ इति॑ । अ॒भि-मा॑तिम् । अ॒स्मै । रु॒जन् ॥ मृ॒णन् । प्र॒-मृ॒णन् । प्र । इ॒हि॒ । शत्रू॑न् । उ॒ग्रम् । ते॒ । पाजः॑ ननु । आ । रु॒रु॒ध्रे॒ । व॒शी । वशं॑म् । न॒या॒सै॒ । ए॒क॒-ज॒ । त्वम् ॥ ३

भावार्थ—(मन्यो) हे क्रोध ! (अस्मै) इस पुरुष के लिये (अभिमातिम्) अभिमानी शत्रु को (सहस्व) दबा दे, और (शत्रून्) वैरियों को (रुजन्)

२—(अग्निरिव) (मन्यो हे क्रोध ! (त्विषितः) प्रदीप्तः सन् (सहस्व) षह मर्षणे शक्तौ च । शक्तो भव (सेनानीः) सेनाया नेता सेनाधिपतिः (नः) अस्माकम् (सहुरे) जसिसहोरुरिन् । उ० २ । ७३ । इति षह-उरिन् । हे शक्तिमन् (हुतः) आहूतः (एधि) अस भुवि-लोट् । भव (हत्वाय) छान्दसः क्त्वाल्यपोः प्रयोगः । हत्वा (शत्रून्) वैरिणः (विभजस्व) विभज्य देहि (वेदः) विद्लृ लाभे-असुन् । धनम्-निघ० २ । १० । (ओजः) बलम् (मिमानः) माङ् माने-कानच् । आविष्कुर्वन् (मृधः) अ० १ । २१ । २ । हिंसकान् शत्रून् (विनुदस्व) विविधं प्रेरय ॥

३—(सहस्व) अभिभव (मन्यो) म० १ । हे क्रोध ! (अभिमातिम्) अ० २ । ६ । ३ । अभिमन्तारं शत्रुम् (अस्मै) अस्य जनस्य हितार्थम् (रुजन्) भञ्जन् (मृणन्) हिंसन् (प्रमृणन्) प्रकर्षेण नाशयन् (प्रेहि) प्रगच्छ (शत्रून्)

तोड़ता हुआ, (मृणन्) मारता हुआ, (प्रमृणन्) कुचिलता हुआ (प्रेहि) चढ़ाई कर। (ते) तेरे (उग्रम्) उग्र (पाजः) बल को (नु) कभी नहीं (आ रुरुध्रे) वे रोक सके। (एकज) हे एक [परमात्मा] से उत्पन्न हुये (वशी) बलवान् (त्वम्) तू [उनको] (वशम्) वश में (नयासै) लेआ ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य क्रोध करके अभिमान आदि शत्रुओं को जीतकर अपनी इन्द्रियों को वश में रक्खे ॥ ३ ॥

एको॑ बहू॒नाम॑सि मन्य ई॒ळि॒ता विशं॑विशं यु॒द्धाय॒ सं शि॑शाधि। अकृ॑त्तरुक् त्वया॑ यु॒जा व॒यं द्यु॒मन्तं॒ घोषं॑ विज॒याय॑ कृण्मसि ॥ ४ ॥

एकः॑। ब॒हू॒नाम्। अ॒सि॒। म॒न्यो॒ इति॑। ई॒ळि॒ता। विश॑म्-विश॑म्। यु॒द्धाय॑। सम्। शि॒शा॒धि॒। अकृ॑त्त-रुक्। त्वया॑। यु॒जा। व॒यम्। द्यु॒-मन्त॑म्। घोष॑म्। वि॒-ज॒याय॑। कृ॒ण्म॒सि॒ ॥४॥

भाषार्थ—(मन्यो) हे क्रोध ! (एकः) अकेला ही तू (बहूनाम्) बहुत से शूरों का (ईडिता) सत्कार करने वाला (असि) है। (विशंविशम्) प्रत्येक प्रजा वा मनुष्य को (युद्धाय) युद्ध के लिये (सम्) यथावत् (शिशाधि) शिक्षा दे वा तीक्ष्ण कर। (अकृत्तरुक्) हे पूर्ण कान्ति वाले ! (त्वया युजा)

शातयिष्यन् वैरिणः (उग्रम्) प्रचण्डम् (ते) त्वदीयम् (पाजः) पातेर्बले जुट् च। उ० ४। २०३। इति पा रक्षणे-असुन्, जुट् च। बलम्-निघ० २। ६। (नु) न नुदति, प्रेरयतीति। हरिमितयोर्द्रुवः। उ० १। ३४। इति न+णुद प्रेरणे-कु, स च डित्। प्रश्नेनैव (आ) समन्तात् (रुरुध्रे) रुधिर आवरणे लिटि छान्दसं रूपम्। रुरुधिरे। रुद्धवन्तः। आवृतवन्तः केचित्शत्रवः (वशी) वशयिता स्वतन्त्रः (वशम्) अधीनत्वम् (नयासै) लेटि रूपम्। नय। प्रापय शत्रून् (एकज) एकस्मात्परमेश्वराज्जात ! (त्वम्) ॥

४—(एकः) एकएव (बहूनाम्) अनेकानां शूराणाम् (असि) भवसि (मन्यो) हे क्रोध (ईडिता) ईड-तृच्। ईडिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा-निरु० ७। १५। याचकः। पूजकः सत्कारकः (विशंविशम्) प्रत्येकप्रजाम्। मनुष्यं वा-निघ० २। ३। (युद्धाय) संग्रामाय (सम) सम्यक् (शिशाधि) शासु अनु-

तुझ मित्र के साथ (वयम्) हम लोग (द्युमन्तम्) हर्षयुक्त (घोषम्) ध्वनि [सिंहनाद वा मारू गीत] (विजयाय) विजय के लिये (कृण्मसि) करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य क्रोध पूर्वक शत्रुओं पर धावा करके स्तुति, विजय और कीर्ति पाते हैं ॥ ४ ॥

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवो३स्माकं मन्यो अधिपा भवेह । प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ ॥ ५ ॥

विजेष-कृत् । इन्द्रः-इव । अनव-ब्रवः । अस्माकम् । मन्यो इति । अधि-पाः । भव । इह । प्रियम् । ते । नाम । सहुरे । गृणीमसि । विद्म । तम् । उत्सम् । यतः । आ-बभूथ ॥५॥

भाषार्थ—(मन्यो) हे क्रोध ! (अनवब्रवः) नीच वचन न बोलने वाला, (विजेषकृत्) विजय करने वाला तू (इन्द्रः इव) बड़े प्रतापी पुरुष के समान (इह) यहां पर (अस्माकम्) हमारा (अधिपाः) बड़ा स्वामी (भव) हो । (सहुरे) हे शक्तिमान् (ते) तेरा (प्रियम्) प्रिय (नाम) नाम (गृणी-

---

शिष्टौ । यद्वा शो तनूकरणे । लोटि छान्दसं रूपम् । विकरणस्य श्लौ द्वित्वम-भ्यासस्येत्वम् । हेर्धित्वम् । शाधि शिक्षय । श्य तीक्ष्णीकुरु (अक्रुत्तरुक्) हे अच्छि-न्नदीप्ते । संपूर्णप्रकाश ! (त्वया) (युजा) मित्रेण (वयम्) (द्युमन्तम्) दिवु मोदे-क्विप् । हर्षवन्तम् (घोषम्) सिंहनादात्मकं ध्वनिम् (विजयाय) विजयार्थम् (कृण्मसि) कृण्मः कुर्मः ॥

५—(विजेषकृत्) वृतृवदि० । उ० । ३ । ६२ । इति जि जये-स । विजेषस्य विजयस्य कर्ता (इन्द्रः इव) प्रतापी पुरुषो यथा (अनवब्रवः) अन्+अव+ ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-पचाद्यच् । निपातनात्साधुः । अनवनतवचनः । उन्नतवचनः (अस्माकम्) (मन्यो) हे क्रोध (अधिपाः) पा रक्षणे-विच् । अधिकपालकः (भव) (इह) अत्र संग्रामे (प्रियम्) प्रीतिकरम् (ते) तव (नाम) (सहुरे) म० २ । हे शक्तिमन् (गृणीमसि) गॄ शब्दे । गृणीमः स्तुमः (विद्म) जानीमः

मसि) हम सराहते हैं। (तम्) उस (उत्सम्) स्रोता [परमेश्वर को] (विद्म) हम जानते हैं (यतः) जिससे (आबभूथ) तू आकार प्रकट हुआ है ॥५॥

भावार्थ—जो मनुष्य अदीन बचन बोलते हैं वेही विजयी होकर कीर्त्ति पाते हैं ॥५॥

अभूत्या सहजा वंज्र सायक सहो बिभर्षि सहभूत उत्तरम्। क्रत्वां नो मन्यो सह मेद्यैधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि ॥ ६ ॥

आ-भूत्या। सह-जाः। वज्र। सायक। सहः। बिभर्षि। सह-भूते। उत्-तरम्। क्रत्वा। नः। मन्यो इति। सह। मेदी। एधि। महा-धनस्य। पुरु-हूत। सम्-सृजि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(वज्र) बज्र रूप! (सायक) हे शत्रुओं के अन्त करने वाले! (सहभूते) हे सम्पति के साथ वर्तमान! (आभूत्या सहजाः) विभूति के साथ साथ उत्पन्न होने वाला तू (उत्तरम्) अधिक उत्तम (सहः) बल (बिभर्षि) धारण करता है, (पुरुहूत) बहुतों से आवाहन किये हुए (मन्यो) क्रोध! (महाधनस्य) बड़े धन प्राप्त कराने हारे संग्राम के (संसृजि) भिड़-

---

(तम्) (उत्सम्) अ० ३। २४। ४। निर्झरं। कूपम्। परमेश्वरमित्यर्थः (यतः) यस्मात्स्थानात् (आ बभूथ) आगत्य प्रादुर्बभूविथ ॥

६—(आभूत्या) विभूत्या (सहजाः) जनसनखनक्रमगमो विट्। पा० ३। २। ६७। इति जनी-विट्। विड्वनोरनुनासिकस्यात्। पा० ६। ४। ४१। सहजायते प्रादुर्भवतीति सहजाः (वज्र) अ० १। ७। ७। (सायक) षो अन्तकर्मणि-ण्वुल्, युक् च। हे अन्तकर (सहः) बलम् (बिभर्षि) धारयसि (सहभूते) आत्मना सह भूतिः सम्पत्तिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ (उत्तरम्) उत्कृष्टतरम् (क्रत्वा) कृञः कतुः। उ० १। ७६। क्रतुना कर्मणा-निघ० २। १। प्रज्ञया-निघ० ३। ६। (नः) अस्माकम् (मन्यो) (सह) सार्धम् (मेदी) मेद-इनि। स्नेही (एधि) भव (महाधनस्य) महान्ति धनानि प्राप्यन्ते यस्मिन् तस्य महाधनस्य

आने पर (क्रत्वा सह) बुद्धि के साथ (नः) हमारा (मेदी) स्नेही (एधि) हो ॥६॥

भावार्थ—मनुष्य संग्राम में बुद्धि पूर्वक क्रोध करके विजयी होते हैं ॥६॥

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः। भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥ ७ ॥

सम्-सृष्टम्। धनम्। उभयम्। सम्-आकृतम्। अस्मभ्यम्। धत्ताम्। वरुणः। च। मन्युः। भियः। दधानाः। हृदयेषु। शत्रवः। परा-जितासः। अप। नि। लयन्ताम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(वरुणः) श्रेष्ठ शूर (च) और (मन्युः) क्रोध (संसृष्टम्) संग्रह किया हुआ और (समाकृतम्) उगाही किया हुआ (उभयम्) दो प्रकार का [आत्मिक और समाजिक] (धनम्) धन (अस्मभ्यम्) हमें (धत्ताम्) देवें। (पराजितासः) हारे हुए, और (हृदयेषु) हृदयों में (भियः) अनेक भय (दधानाः) रखते हुए (शत्रवः) शत्रु लोग (अप = अपक्रम्य) भागकर (नि लयन्ताम्) खिसक जावें ॥७॥

भावार्थ—शूर पुरुष यथानीति क्रोध धारण करके शत्रुओं को हराते और बहुत धन प्राप्त करके अपनी और समाज की उन्नति करते हैं ॥७॥

संग्रामस्य-निघ० २। १७। (पुरुहूत) हे बहुभिराहूत ! (संसृजि) सृज-क्विप्। संसर्गे संयोजने सति ॥६॥

७—(संसृष्टम्) सृज विसर्गे-क्त। संगृहीतम् (धनम्) वित्तम् (उभयम्) संख्याया अवयवे तयप्। पा० ५। २। ४२। इति उभ-तयप। उभादुदात्तो नित्यम्। पा० ५। २। ४४। इति तयपोऽयजादेशः। उभयविधम्। आत्मिकं समाजिकं चेत्यर्थः (समाकृतम्) समानीतम् (अस्मभ्यम्) (धत्ताम्) प्रयच्छताम्। दत्ताम् (वरुणः) वरणीयः स्वीकरणीयः शूरः (च) समुच्चये (मन्युः) म० १। क्रोधः (भियः) ञिभी भये- संपदादित्वात् क्विप्। भयानि (दधानाः) धारयन्तः (हृदयेषु) मनःसु (शत्रवः) अरयः (पराजितासः) पराजिताः। अभिभूताः (अप) अपक्रम्य (नि) नितराम्। नीचैः (लयन्ताम्) लीङ् श्लेषणे-लोट्। लयं प्रलयं विनाशं प्राप्नुवन्तु। प्रच्छन्नं वर्तन्ताम् ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१-७ ॥ मन्युर्देवता ॥ १ जगती, २-७ त्रिष्टुप् ।

संग्रामे जयप्राप्त्युपदेशः—संग्राम में जय पाने का उपदेश ॥

यस्ते॑ म॒न्योऽवि॑धद्व॒ज्र साय॑क॒ सह॒ ओजः॑ पुष्य॑ति॒ वि॒श्वमा॑नु॒षक् । सा॒ह्याम॒ दास॒मार्यं॒ त्वया॑ यु॒जा व॒यं सह॑स्कृतेन॒ सह॑सा॒ सह॑स्वता ॥ १ ॥

यः । ते॒ । म॒न्यो॒ इति॑ । अवि॑धत् । व॒ज्र॒ । साय॑क॒ । सहः॑ । ओजः॑ । पुष्य॑ति । विश्व॑म् । आ॒नु॒षक् । स॒ह्याम॑ । दास॑म् । आर्य॑म् । त्वया॑ । यु॒जा । व॒यम् । सहः॑-कृतेन । सह॑सा । सह॑स्वता ॥ १ ॥

भाषार्थ - (वज्र) हे वज्र रूप (सायक) हे शत्रुनाशक (मन्यो) दीप्तिमान् क्रोध ! (यः) जिस पुरुष ने (ते) तेरी (अविधत्) सेवा की है, वह (विश्वम्) सब (सहः) शरीर बल और (ओजः) समाज बल (आनुषक्) लगातार (पुष्यति) पुष्ट करता है। (सहस्कृतेन) बल से उत्पन्न हुए, (सहस्वता) बलवान्, (त्वया युजा) तुझ सहायक के साथ (सहसा) बल से (वयम्) हम लोग (दासम्) दास, काम बिगाड़ देने वाले मूर्ख और (आर्यम्) आर्य अर्थात् विद्वान् का (सह्याम) निर्णय करें ॥ १ ॥

१—(यः) पुरुषः (ते) तव (मन्यो) अ० ४ । ३१ । १ । हे दीप्तिमन् क्रोध ! (अविधत्) विध विधाने—लङ् । विधेम परिचरणकर्मा—निघ० ३ । ५ । परिचरणं शुश्रूषणं कृतवान् (वज्र) हे व्यापनशील वज्र रूप (सायक) हे शत्रुनाशक (सहः) शारीरिकं बलम् (ओजः) सामाजिकं बलम् (पुष्यति) वर्धयति (विश्वम्) सर्वम् (आनुषक्) अनुपूर्वात् षञ्ज सङ्गे—क्विप् । अनिदिताम् । पा० ६ । ४ । २४ । इति नलोपः । अनेरकारस्य दीर्घश्छान्दसः । अनुषगिति नामानुपूर्वस्यानुषक्तं भवति । निरु० ६ । १४ । अनुषक्तमुपरि लग्नम् । निरन्तरम् (सह्याम) वेर्लोपः । वि + षह निर्णये । विषह्याम निर्णयाम (दासम्) दसु उपक्षये

भावार्थ—जो मनुष्य बुद्धि पूर्वक क्रोध का आराधन करते हैं वे भीतरी और बाहिरी बल बढ़ा कर मूर्खों का निरादर और विद्वानों का आदर करके कीर्त्ति पाते हैं ॥१॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है। म० १०। सू० ८३। वहां सूक्त के ऋषि मन्यु तापस और देवता मन्यु हैं ॥

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः। मन्युर्विश ईडते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः ॥ २ ॥

मन्युः। इन्द्रः। मन्युः। एव। आस। देवः। मन्युः। होता। वरुणः। जात-वेदाः। मन्युः। विशः। ईडते। मानुषीः। याः। पाहि। नः। मन्यो इति। तपसा। स-जोषाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मन्युः) प्रकाशमान क्रोध (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, (मन्युः) क्रोध (एव) ही (देवः) दिव्यगुण वाला, (मन्युः) क्रोध (होता) दाता वा ग्रहीता, (वरुणः) वरणीय अङ्गीकारयोग्य, और (जातवेदाः) धन प्राप्त कराने वाला (आस) हुआ है। (मन्युः=मन्युम्) क्रोध को (याः) उद्योग करने वाली (मानुषीः=०-ष्यः) मनुष्य जातीय (विशः) प्रजायें (ईडते) सराहती हैं। (मन्यो) हे क्रोध (तपसा) ऐश्वर्य से (सजोषाः) प्रीति करता हुआ तू (नः) हमें (पाहि) बचा ॥२॥

उत्क्षेपे-घञ्। दासो दस्यतेः, उपदासयति कर्माणि-निरु० २। १७। उत्क्षपयितारम्। दस्युं चोरम् (आर्यम्) अ० ४। २०। ४। श्रेष्ठं। विद्वांसम्। (त्वया) मन्युना (युजा) सहायेन (वयम्) पुरुषार्थिनः पुरुषाः (सहस्कृतेन) सहसा बलेनोत्पादितेन (सहसा) बलेन (सहस्वता) बलवता ॥

२—(मन्युः) दीप्यमानः क्रोधः (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (एव) निश्चयेन (आस) अस्तेर्लिटि छान्दसो भूभावाभावः। बभूव (देवः) दिव्यगुणयुक्तः। प्रकाशमानः (होता) दाता ग्रहीता वा (वरुणः) श्रेष्ठः। (जातवेदाः) अ० १। ७। २। जातधनः (मन्युः) सुपां सुपो भवन्ति। वा० पा० ७। १। ३६। इति

भावार्थ—यथावत् प्रयुक्त क्रोध के गुण पहिले से विदित हैं नीतिज्ञ पुरुष विधिपूर्वक क्रोध से ऐश्वर्य बढ़ा कर रक्षा करते हैं ॥२॥

(मन्युर्विशः) के स्थान में सायण भाष्य और ऋग्वेद में [मन्युं विशः] पद हैं ॥

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान् तपसा युजा वि जहि शत्रून्। अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥ ३ ॥

अभि। इहि। मन्यो इति। तवसः। तवीयान्। तपसा। युजा। वि। जहि। शत्रून्। अमित्र-हा। वृत्र-हा। दस्यु-हा। च। विश्वा। वसूनि। आ। भर। त्वम्। नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मन्यो) हे प्रकाशमान क्रोध (तवसः) महान् से भी (तवीयान्) अति महान् तू (अभीहि) इधर आ, (तपसा युजा) अपने ऐश्वर्य, मित्र के साथ (शत्रून्) शत्रुओं को (विजहि) मिटा दे। (च) और (अमित्रहा) पीड़ा देने वालों का मारनेवाला, (वृत्रहा) अन्धकार नाश करने वाला, (दस्युहा) डाकुओं का मारनेवाला (त्वम्) तू (विश्वा) सब (वसूनि) धनों को (नः) हमारे लिये (आ) सब ओर से (भर) भर दे ॥ ३

द्वितीयार्थे प्रथमा। मन्युं क्रोधम् (विशः) प्रजाः (ईडते) स्तुवन्ति (मानुषीः) मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च। पा० ४।१।१६१। इति मनु-अञ् षुक् च टिड्ढाण०। पा० ४।१।१५। इति-ङीप् यद्वा। जनेरुसिः। उ० २।११५। इति मनु अवबोधने-उसि। मनुष्-अण्, ङीप्। मानुष्यः। मनुष्यजातीयाः (याः) या गतौ-ड, टाप्। उद्योगशीलाः (पाहि) रक्ष (नः) अस्मान् (मन्यो) हे क्रोध (तपसा) तप संतापैश्वर्ययोः-असुन्। प्रतापेन। ऐश्वर्येण (सजोषाः) जुषी-असुन्। समानप्रीतिः ॥

३—(अभीहि) अभिमुखं गच्छ (मन्यो) हे क्रोध (तवसः) तु सौत्रो धातुर्गतिवृद्धिहिंसासु—असुन्। तवस इति महतो नामधेयम्—निरु० ५।६ तवः, इति बलनाम-निघ० २।६। महतः प्रवृद्धादपि (तवीयान्) तीतृ-ईयसुन् तृलोपः। प्रवृद्धतरः (तपसा) सामर्थ्येन (युजा) सहायेन (वि जहि) विनाशय

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य नीति पूर्वक क्रोध से धन प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

त्वं हि म॑न्यो अ॒भिभू॑त्योजाः स्वयं॒भूर्भामो॑ अभिमा॒तिषा॒हः । वि॒श्वच॑र्षणिः॒ सहु॑रिः॒ सही॑यान॒स्मास्वोजः॒ पृत॑नासु धेहि ॥ ४ ॥

त्वम् । हि । म॒न्यो॒ इति॑ । अ॒भिभू॑ति-ओजाः । स्व॒य॒म्-भूः । भाम॑ः । अ॒भि॒मा॒ति॒-स॒हः । वि॒श्व-च॑र्षणिः । सहु॑रिः । सही॑यान् । अ॒स्मासु॑ । ओज॑ः । पृत॑नासु । धे॒हि॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मन्यो) हे क्रोध (त्वम् हि) तू ही (अभि भूत्योजाः) शत्रु पराजय का सामर्थ्यवाला, (स्वयंभूः) अपने आप उत्पन्न होनेवाला, (भामः) प्रकाशमान और (अभिमातिषाहः) अभिमानियों का हरानेवाला है । (विश्व-चर्षणिः) सब देखनेवाला, (सहुरिः) शक्तिमान्, (सहीयान्) अधिक बलवान् तू (पृतनासु) संग्रामों के बीच (अस्मासु) हम में (ओजः) पराक्रम (धेहि) धारण कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य नीति कुशल और कर्म कुशल होकर दुष्टों पर क्रोध करते हैं, वे ही संग्रामों में विजयी होते हैं ॥ ४ ॥

(शत्रून्) अरीन् (अमित्रहा) (अ० १ । १६ । २ । पीड़कनाशकः (वृत्रहा) शत्रुहन्ता (दस्युहा) चोरादीनां घातकः (च) (विश्वा) सर्वाणि (वसूनि) धनानि (आ) समन्तात् (भर) धारय (त्वम्) (नः) अस्मभ्यम् ॥

४—(त्वम्) (हि) (मन्यो) हे दीप्यमान क्रोध (अभिभूत्योजाः) अभिभूतये शत्रुपराजयाय ओजो बलं यस्य स तथाभूतः (स्वयंभूः) स्वयमेव आत्मन्युत्पद्यमानः (भामः) अर्तिस्तुसु० । उ१ । १४० । इति भा दीप्तौ-मन् । प्रदीप्यमानः (अभिमातिषहः) षह शक्तौ अभिभवे च—पचाद्यच् । छान्दसो दीर्घः । अभिमातीनामभिमानिनां पराजेता (विश्वचर्षणिः) विश्वचर्षणिः—पश्यतिकर्मा-निघ० ३ । ११ । विश्वस्य सर्वस्य द्रष्टा (सहुरिः) सू० ३१ । १ । शक्तिमान् (सहीयान्) सोढृतरः । बलवत्तरः (अस्मासु) (ओजः) पराक्रमम् (पृतनासु) संग्रामेषु (धेहि) धारय ॥

अ॒भा॒गः सन्नप॒ परे॑तो अस्मि॒ तव॒ क्रत्वा॑ तवि॒षस्य॑ प्रचेतः। तं त्वा॑ मन्यो अक्रतुर्जिहीडा॒हं स्वा त॒नूर्ब॑ल॒दावा॑ न॒ एहि॑ ॥ ५ ॥

अ॒भा॒गः। सन्। अप॑। परा॑-इतः। अ॒स्मि॒। तव॑। क्रत्वा॑। त॒वि॒षस्य॑। प्र॒-चे॒तः॒। तम्। त्वा॒। म॒न्यो॒ इति॑। अ॒क्र॒तुः। जि॒ही॒ड॒। अ॒हम्। स्वा। त॒नूः। ब॒ल॒-दावा॑। नः॒। आ। इ॒हि॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्रचेतः) हे उत्तमज्ञानवाले ! मैं (अभागः सन्) अभागा होकर (तव तविषस्य) तुझ बलवान् के (क्रत्वा) कर्म वा बुद्धि से (अप= अपेत्य) हटकर (परेतः) दूर पड़ा हुआ (अस्मि) हूं। (मन्यो) हे क्रोध (अक्रतुः) बुद्धि हीन वा कर्म हीन (अहम्) मैं ने (तम् त्वा) उस तुझ को को (जिहीड) क्रुद्ध करदिया है, (बलदावा) बलदाता तू (स्वा तनूः) अपने स्वरूप से (नः) हमको (आ इहि) प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—अनीतिज्ञ पुरुष यथावत् क्रोध न करके दरिद्र और बुद्धिहीन होजाते हैं, इससे मनुष्यों को यथावत् वर्तना चाहिये ॥ ५ ॥

५—(अभागः) भगानामैश्वर्याणां समूहः-इति भग-अण्। ऐश्वर्यसमूहरहितः। सर्वथा निर्धनः (सन्) वर्तमानः सन् (अप) अपेत्य (परेतः) परागतः (अस्मि) वर्ते (तव) (क्रत्वा) अ० ४। ३१। ६। कर्मणा प्रज्ञया वा (तविषस्य) अ० ४। १५। २। महतः पूजनीयस्य (प्रचेतः) हे प्रकृष्टज्ञान (तम्) (त्वा) त्वाम् (अक्रतुः) अप्रज्ञः,बुद्धिहीनः कर्महीनो वा(जिहीड) हेडृ अनादरे क्रोधे च। लिटि छान्दसं रूपम्। हेडते, क्रुध्यतिकर्मा—निघ०२। १२। जिहीडे क्रुद्धं कृतवानस्मि (स्वा) सुपां सुलुक्०। पा०७।१।३९। विभक्तेः सुः। स्वया आत्मीयया (तनूः) उक्तसूत्रेण विभक्तेः सुः। तन्वा। स्वरूपेण (बलदावा) आतो मनिन्क्वनि०। पा० ३। २। ७४। इति बल+डुदाञ् दाने—वनिप्। बलस्यदाता (नः) अस्मान् (आ इहि) आगच्छ ॥

अ॒यं ते॑ अ॒स्म्युप॑ न॒ एह्य॒र्वाङ् प्र॑ती॒ची॒नः स॑हुरे विश्वदाव॒न् । मन्यो॑ वज्रिन्न॒भि न॒ आ व॑वृत्स्व॒ हना॑व॒ दस्यूँ॑रु॒त बो॑ध्या॒पेः ॥ ६ ॥

अ॒यम् । ते॒ । अ॒स्मि॒ । उप॑ । नः॒ । आ । इ॒हि॒ । अ॒र्वाङ् । प्र॒तीची॒नः । स॒हु॒रे॒ । वि॒श्व॒ऽदा॒व॒न् । मन्यो॒ इति॑ । व॒ज्रि॒न् । अ॒भि । नः॒ । आ । व॒वृ॒त्स्व॒ । हना॑व । दस्यू॑न् । उ॒त । बो॒धि॒ । आ॒पेः ॥ ६

भाषार्थ—(अयम्) यह मैं (ते) तेरा (अस्मि) हूं । (सहुरे) हे समर्थ ! (विश्वदावन्) हे सर्वदाता ! (प्रतीचीनः) प्रत्यक्ष चलता हुआ तू (नः) हमारे (अर्वाङ्) सन्मुख होकर (उप एहि) समीप आ (वज्रिन्) हे वज्रधारी (मन्यो) क्रोध ! (नः अभि) हमारी ओर (आ ववृत्स्व) वर्तमान होजा, (उत) और (आपेः) अपने बन्धु का (बोधि) बोधकर, [जिससे हम दोनों] (दस्यून्) दुष्टों को (हनाव) मारें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब प्रकार विचार करके दुष्टों पर क्रोध करते हैं वे विजयी होते हैं ॥ ६ ॥

अ॒भि प्रेहि॑ दक्षिण॒तो भ॑वा॒ नोऽधा॑ वृ॒त्राणि॑ जङ्घनाव॒ भूरि॑ । जु॒होमि॑ ते ध॒रुणं॒ मध्वो॒ अग्र॑मु॒भाव॑ुपां॒शु प्र॑थ॒मा पि॑बाव ॥ ७ ॥

६—(अयम्) पुरुषार्थी (ते) तव (अस्मि) (उप) समीपे (नः) अस्माकम् (आ इहि) आगच्छ (अर्वाङ्) अभिमुखः (प्रतीचीनः) विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम् । पा०५।४।८। इति प्रत्यच्—स्वार्थे ख । अल्लोपो दीर्घश्च॥ प्रत्यञ्चन्। प्रत्यक्षं गच्छन् (सहुरे) हे शक्तिमन् (विश्वदावन्) विश्व+डुदाञ्—वनिप् । हे सर्वस्य दातः । (मन्यो) हे क्रोध (वज्रिन्) हे वज्रोपेत (अभि) अभिलक्ष्य (नः) अस्मान् (आ) समन्तात् (ववृत्स्व) छान्दसः शपः श्लुः । वर्तस्व (हनाव) आवां हिनसाव (दस्यून्) उपक्षपयितन् दुष्टान् (उत) अपि च (बोधि) बुध अवगमने लोटि छान्दसं रूपम् । बुध्यस्व । बोधं कुरु (आपेः) इणजादिभ्यः । वा० पा० ३ । ३ । १०८ इति आप्लृ व्याप्तौ—इण् । बन्धोः ॥

अ॒भि । प्र । इ॒हि॒ । द॒क्षि॒ण॒तः । भव॑ । नः॒ । अध॑ । वृ॒त्राणि॑ । ज॒ङ्घ॒ना॒व॒ । भूरि॑ । जु॒हो॒मि॒ । ते॒ । ध॒रुण॑म् । मध्व॑: । अग्र॑म् । उ॒भौ । उ॒प॒-अ॒ं॒शु । प्र॒थ॒मा । पि॒बा॒व॒ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अभि प्र इहि) आगे आ, और (नः) हमारी (दक्षिणतः) दहिनी ओर (भव) वर्त्तमान हो, (अध) तब (भूरि) बहुत से (वृत्राणि) अन्धकारों को (जङ्घनाव) हम दोनों मिटा देवें । (मध्वः) मधुर रस का (अग्रम्) श्रेष्ठ (धरुणम्) धारण करने योग्य [स्तुतिरूप] रस (ते) तुझे (जुहोमि) भेट करता हूं । (प्रथमा—०-मौ) पहिले वर्तमान (उभौ) हम दोनों (उपांशु) एकान्त में (पिबाव) [रसपान] करें ॥७॥

भावार्थ—महात्मा पुरुष आत्मदोषों पर क्रोध करके अनेक अन्धकारों को मिटाते हैं और वे ही इस मन्युस्तुति को एकान्त में सूक्ष्म रूप से विचारकर अधिक आनन्द भोगते हैं ॥७॥

सूक्तम् ३३ ॥

१-८ ॥ अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

सर्वरक्षणोपदेशः—सब प्रकार की रक्षा का उपदेश ॥

अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घमग्ने॑ शुशु॒ग्ध्या र॒यिम् ।
अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ १ ॥

७—(अभि) (प्र) (इहि) गच्छ (दक्षिणतः) दक्षिणोत्तराभ्या. मतसुच् । पा० ५ । ३ । २८ । इति अतसुच् । दक्षिणभागे परमसहायकत्वेन (भव) (नः) अस्माकम् (अध) अथ । अनन्तरम् (वृत्राणि) तमांसि (जङ्घनाव) हन्ते र्यङ् लुगन्तात् लोटि । आडुत्तमस्य पिच्च । पा० ३ । ४ । ९२। इति आडागमः । आवामतिशयेन हनाव (भूरि) भूरीणि बहूनि (जुहोमि) ददामि (ते) तुभ्यम् (धरुणम्) अ० ३ । १२ । ३ । धर्तव्यम् । स्तुतिरूपं रसम् (मध्वः) मधोः । मधुररसस्य (अग्रम्) श्रेष्ठं सारभूतम् (उभौ) अहंच मन्युश्च (उपांशु) निर्जने देशे (प्रथमा) प्रथमौ । अग्रे पूर्वं भाविनौ सन्तौ (पिबाव) आवां पानं करवाव ॥

अप॑ । नः॒ । शोशु॑चत् । अ॒घम् । अग्ने॑ । शु॒शु॒ग्धि । आ ।
र॒यिम् । अप॑ । नः॒ । शोशु॑चत् ॥ अ॒घम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे। (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! (रयिम्) धनको (आ) अच्छे प्रकार (शुशुग्धि) सींच। (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा विचारते हुए दुष्कर्म के त्याग और सुकर्म के ग्रहण से विद्या रूप और सुवर्ण आदि रूप धन प्राप्त करें ॥ १ ॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १ सू० ९७ ॥

सु॒क्षे॒त्रि॒या सु॑गातु॒या व॑सू॒या च॑ यजामहे ।
अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ २ ॥

सु॒ऽक्षे॒त्रि॒या । सु॒ऽगा॒तु॒या । व॒सु॒ऽया । च॒ । य॒जा॒म॒हे॒ ।
अप॑ । नः॒ । शोशु॑चत् । अ॒घम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सुक्षेत्रिया) उत्तम खेत के लिये, (सुगातुया) उत्तम भूमि के लिये (च) और (वसुया) धनके लिये (यजामहे) हम [परमेश्वर को] पूजते हैं। (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ २ ॥

१—(अप) दूरीभूय (नः) अस्माकम् (शोशुचत्) शुचिर् शौचे क्लेदे च, यङ् लुगन्तात् लेटि अडागमः। अत्यन्तं शुच्यात् विनश्येदित्यर्थः (अघम्) पापम् (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् (शुशुग्धि) शुचिर् क्लेदे—लोट्। अन्तर्गतण्यर्थः। श्यनः श्लुः। हुझल्भ्यो हेर्धिः। पा० ६। ४। १०१। इति धिः। चोः कुः। पा० ८। २। ३०। इति कुत्वम्। क्लेदय। सिंच (आ) समन्तात् (रयिम्) धनम्। अन्यद् गतम्। आदरार्थं पुनः प्रयोगः ॥

२—(सुक्षेत्रिया) इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्। वा० पा० ७। १। ३९। इति ङे डियाजादेशः। बिस्वाद्यन्तोदात्तः शोभनाय क्षेत्राय (सुगातुया)। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। इति ङेर्याच्। गातुः-पृथिवीनाम-निघ० १। १।

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा जानकर अनिष्टों को मिटाकर पुरुषार्थ से अपनी प्रभुता बढ़ावें ॥ २ ॥

प्र यद् भन्दि॑ष्ठ एषां॒ प्रास्माका॑सश्च सू॒रयः॑ ।

अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ३ ॥

प्र । यत् । भन्दि॑ष्ठः । ए॒षाम् । प्र । अ॒स्माका॑सः । च॒ ।

सू॒रयः॑ । अप॑ । नः॒ । शोशु॑चत् । अ॒घम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस प्रकार से (एषाम्) इन प्राणियों के मध्य (भन्दिष्ठः) अत्यन्त सुखी होकर (प्र) प्रकृष्ट [होजाऊं] (च) और (अस्माकासः) हमारे (सूरयः) विद्वान् लोग (प्र) प्रकृष्ट [होवें] [उसी प्रकार से] (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुलजावे ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य शुभ कर्मों में प्रवृत्त होकर दरिद्रता आदि दुःखों को मिटावें ॥ ३ ॥

प्र यत् ते॑ अग्ने सू॒रयो॒ जाये॑महि॒ प्र ते॑ व॒यम् ।

अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ४ ॥

प्र । यत् । ते॒ । अ॒ग्ने॒ । सू॒रयः॑ । जाये॑महि । प्र । ते॒ । व॒यम् ।

अप॑ । नः॒ । शोशु॑चत् । अ॒घम् ॥ ४ ॥

शोभनभूमिप्राप्तये (वसुया) पूर्वसूत्रेणड्येयाच् । वसुने धनाय (च) समुच्चये (यजामहे) परमेश्वरं पूजयामः । अन्यत्पूर्ववत् ॥ २ ॥

३—(प्र) प्रकर्षेण भवानि (यत्) यथा (भन्दिष्ठः) भदि कल्याणे सुखे स्तुतौ च—तृच् , इष्ठन् । तुरिष्ठेमेयःसु । पा० ६ । ४ । १५४ । इति तृ लोपः । भन्दना भन्दतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ५ । २ । स्तोतृतमः सुखितमः (एषाम्) मनुष्यादिप्राणिनां मध्ये (प्र) प्रकर्षेण भवन्तु (अस्माकासः) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति अस्मद्—अण् । तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ । पा०४ । ३ । २ । इति अस्माकादेशः । अणि वृद्ध्यभावश्छान्दसः । असुगागमश्च । आस्माकः । अस्मदीयाः (च) (सूरयः) अ० २ । ११ । ४ । विद्वांसः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे परमात्मन् (सूरयः) विद्वान् लोग (यत् ते) जिस तेरे (प्र=प्रजायन्ते) प्रजा हैं, (ते) उस तेरे ही (वयम्) हम लोग (प्र जायेमहि) प्रजा होवें। (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य विद्वानों के समान परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव जानकर सदा सुखी रहें ॥ ४ ॥

प्र यद॒ग्नेः सह॑स्वतो वि॒श्वतो॒ यन्ति॑ भा॒नवः॑ ।

अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ५ ॥

प्र । यत् । अ॒ग्नेः । सह॑स्वतः । वि॒श्वतः॑ । यन्ति॑ । भा॒नवः॑ ।

अप॑ । नः॒ । शोशु॑चत् । अ॒घम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस कारण से (सहस्वतः) बलवान् (अग्नेः) परमात्मा के (भानवः) अनेक प्रकाश (विश्वतः) सब ओर (प्र) भली भांति (यन्ति) चलते रहते हैं। (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की अनेक सूक्ष्म और स्थूल रचनाओं को देखकर अपने विघ्नों को मिटावें ॥ ५ ॥

त्वं हि वि॑श्वतोमुख वि॒श्वतः॑ परि॒भूरसि॑ ।

अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ६ ॥

४—(प्र) इत्यस्य, जायेमहि, इति क्रियया सह सम्बन्धः। प्रजायन्ते प्रजाः सन्ति (यत्) यस्य (ते) तव (अग्ने) परमात्मन् (सूरयः) विद्वांसः (प्र जायेमहि) प्रजा भवेम (ते) तस्य तव (वयम्) उपासकाः। अन्यद् गतम् ॥

५—(प्र) प्रकर्षेण (यत्) यस्मात् (अग्नेः) परमात्मनः (सहस्वतः) बलवतः (विश्वतः) सर्वतः (यन्ति) गच्छन्ति (भानवः) प्रकाशाः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

त्वम् । हि । विश्वतः-मुख । विश्वतः । परि-भूः । असि ।
अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(हि) जिस कारण से (विश्वतोमुख) हे सब ओर मुख वाले [मुख के समान सर्वोपदेशक, सर्वोत्तम] परमेश्वर ! (त्वम्) तू (विश्वतः) सब ओर से (परिभूः) बस में रखने वाला (असि) है। (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के समान (विश्वतोमुख) होकर सदा चैतन्य रहें और अनिष्टों को मिटा कर अपनी वृद्धि करें ॥ ६ ॥

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ७ ॥

द्विषः । नः । विश्वतः-मुख । अति । नावा-इव । पारय ।
अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(विश्वतोमुख) हे सब ओर मुख वाले [मुख के समान, सर्वोपदेशक सर्वोत्तम] परमेश्वर ! (द्विषः) द्वेषियों को (अति=अतीत्य) लांघ कर (नः) हमें (पारय) पार लगा, (नावा इव) जैसे नाव से [समुद्र को पार करते हैं]। (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे पोत द्वारा समुद्र पार करते हैं, वैसे ही मनुष्य परमेश्वर के आश्रय से सब दोषों को हटा कर सुखी रहें ॥ ७ ॥

६—(त्वम्) (हि) (विश्वतोमुख) हे मुखवत् सर्वोपदेशक, सर्वोत्तम परमात्मन् (विश्वतः) सर्वतः (परिभूः) अ० ३।२१।४। ग्रहीता व्यापकः (असि) अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(द्विषः) द्वेष्टॄन् शत्रून् (नः) अस्मान् (विश्वतोमुख) म० ६ (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (नावा इव) यथा नौकया (पारय) पारं गमय । अन्यत्पूर्ववत् ॥

स नः सिन्धुमिव नावाति पर्षा स्वस्तये ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ८ ॥

सः । नः । सिन्धुम्-इव । नावा । अति । पर्ष । स्वस्तये ।
अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सः) सो तू (नः) हमें (स्वस्तये) आनन्द के लिये (पर्ष) पार लगा, (इव) जैसे (नावा) नावसे (सिन्धुम्) समुद्र को (अति=अतीत्य) लांघ कर [पार करते] हैं। (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर में निष्ठा करके पुरुषार्थ पूर्वक दुःख सागर से पार होकर सुखी होवें जैसे नाव के आश्रय से जलयात्री समुद्र पार करके प्रसन्न होते हैं ॥ ८ ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१-८ ॥ ओदनो देवता । १-४ त्रिष्टुप्, ५ एष यज्ञानामिति त्रिष्टुप्, एतात्स्त्वेति द्विपदा जगती, ६, ७ पञ्चपदा जगती, ८ जगती ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य ।
छन्दांसि पक्षौ मुखमस्य सत्यं विष्टारी जातस्तपसोऽधि यज्ञः ॥ १ ॥

८—(सः) स त्वम् (नः) अस्मान् (सिन्धुम् इव) यथा समुद्रं तथा (नावा) नौकया (अति) अतीत्य (पर्ष) पॄ पालनपूरणयोः, लेटि अडागमः। सिब् बहुलं लेटि। पा० ३। १। ३४। इति-सिप्। पारं प्रापय। (स्वस्तये) आनन्दाय। अन्यत् पूर्ववत ॥

ब्रह्मं । अस्य । शीर्षम् । बृहत् । अस्य । पृष्ठम् । वाम-देव्यम् । उदरम् । ओदुनस्यं । छन्दांसि । पक्षौ । मुखम् । अस्य । सत्यम् । विष्टारी । जातः । तपसः । अधि । यज्ञः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस (ओदनस्य) सेचनसमर्थ वा अन्नरूप परमेश्वर का (शीर्षम्) शिर (ब्रह्म) वेद है, (अस्य) इसकी (पृष्ठम्) पीठ (बृहत्) प्रवृद्ध जगत् और (उदरम्) उदर (वामदेव्यम्) मनोहर परमात्मा से जताया गया [भूतपञ्चक] है। (अस्य) इसके (पक्षौ) दोनों पार्श्व (छन्दांसि) आनन्दप्रद वा पूजनीय कर्म और (मुखम्) मुख (सत्यम्) सत्य है। (विष्टारी) वह विस्तार वाला (यज्ञः) पूजनीय परमात्मा (तपसः) अपने ऐश्वर्य से (अधि) सब से ऊपर (जातः) प्रकट हुआ है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी है, उसकी उपासना सब मनुष्य नित्य करें ॥ १ ॥

अनुस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् । नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥ २ ॥

१—(ब्रह्म) वेदः (अस्य) प्रत्यक्षस्य (शीर्षम्) शिरः (बृहत्) प्रवृद्धं जगत् (पृष्ठम्) पृष्ठभागः (वामदेव्यम्) वामदेवाड् ड्यड्ड्यौ । पा० ४ । २ । ९ । इति वामदेव-ड्य । वामदेवेन दृष्टं विज्ञातं विज्ञापितं वा-इति दयानन्दभाष्ये यजु० १२ । ४ । वामो वल्गुरेव देवः, वामदेवः परमेश्वरः, तेन विज्ञापितं भूतपञ्चकम् (उदरम्) उदरस्थानीयम् (ओदनस्य) अ० ४ । १४ । ७ । सेचनशीलस्य प्रवर्धकस्य अन्नरूपस्य वा परमात्मनः (छन्दांसि) चन्देरादेश्च छः । उ० ४ । २१९ । इति चदि आह्लादने—असुन्, चस्य छः । छन्दति, अर्चतिकर्मा-निघ० ३ । १४ । छन्दांसि छादनात्—निरु० ७ । १२ । आह्लादकर्माणि । अर्चनीयकर्माणि (पक्षौ) पक्ष परिग्रहे-अच् । पार्श्वौ (मुखम्) (सत्यम्) याथार्थ्यम् (विष्टारी) अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति विस्तार-इनि । विस्तारवान् (जातः) प्रादुर्भूतः (तपसः) स्वैश्वर्यात् (अधि) उपरि (यज्ञः) यजनीयः । ओदनः । परमेश्वरः ॥

अनुस्थाः । पूताः । पवनेन । शुद्धाः । शुचयः । शुचिम् । अपि ।
यन्ति । लोकम् । न । एषाम् । शिश्नम् । प्र । दहति ।
जात-वेदाः । स्वः-गे । लोके । बहु । स्त्रैणम् । एषाम् ॥२॥

भाषार्थ—(अनस्थाः) न गिराने योग्य (पवनेन) शुद्ध आचरण से (पूताः) शुद्ध किये गये, (शुद्धाः) शुद्ध स्वभाव, (शुचयः) प्रकाशमान महात्मा लोग (अपि) ही (शुचिम्) ज्योतिः स्वरूप (लोकम्) लोक [परमात्मा) को (यन्ति) पाते हैं । (जातवेदाः) प्राणियों का जाननेवाला परमेश्वर (एषाम्) इनकी (शिश्नम्) गति वा सामर्थ्य को (न) नहीं (प्रदहति) जलाता है । [इस लिये कि] (एषाम्) इन [महात्माओं] का (स्त्रैणम्) सृष्टि का हितकर्म (स्वर्गे) अच्छे प्रकार पाने योग्य सुख दायक (लोके) लोक [परमात्मा] में (बहु) बहुत है ॥ २ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय शुद्ध स्वभाव योगी जन ही परमात्मा को पाते हैं, और उस जगदीश्वर के सहारे में रह कर संसार का हित करते हुए सर्वत्रगति होते हैं ॥ २ ॥

२—(अनस्थाः) असिसञ्जिभ्यां क्थिन् । उ० ३ । १५४ । इति असु क्षेपणे—क्थिन् । इति अस्थि क्षेपणम् । छन्दस्यपि दृश्यते । पा० ७ । १ । ७६ । इति अस्थि शब्दस्य अनङ् आदेशः । अनसनीयाः । अक्षेपणीयाः । अनिवारणीयाः, इत्यर्थः (पूताः) पवित्रीकृताः (पवनेन) शोधनकर्मणा (शुद्धाः) निर्मलाः (शुचयः) दीप्यमानाः परमयोगिनः (शुचिम्) दीप्यमानं ज्योतिर्मयम् (अपि) अवधारणे (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (लोकम्) परब्रह्मधाम (न) निषेधे (एषाम्) योगिनाम् (शिश्नम्) इण्सिञ्जि० । उ० ३ । २ । इति शश प्लुतगतौ-नक् । शिश्नं श्नथतेः—निरु० । ४ । १६ । गतिम् । बलम् (प्र) (दहति) भस्मीकरोति (जातवेदाः) अ० १ । ७ । २ । जातानां वेदिता परमेश्वरः ((स्वर्गे) सु+अर्ज-घञ् । सुष्ठु अर्जनीये । सुखप्रदे (लोके) स्थाने (बहु) विपुलम् (स्त्रैणम्) स्त्यायतेर्ड्रट् । उ० । ४ । १६६ । इति स्त्यै शब्दसंघातयोः—ड्रट् । लोपो व्योर्वलि । पा० ६ । १ । ६६ । इति यलोपः । टित्वात् ङीप् । इति स्त्री संहतिः । स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् । पा० ४ । १ । ८७ । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति हितार्थे नञ् । स्त्रीभ्यः संहतिभ्यः सृष्टिभ्यो हितम (एषाम)॥

वि॒ष्टा॒रिणं॑मोद॒नं ये पच॒न्ति नैना॒नव॑र्तिः सचते क॒दा च॒न । आस्ते॑ य॒म उप॑ याति दे॒वान्त्सं ग॒न्धर्वै॑र्मदते सो॒म्येभि॑ः ॥ ३ ॥

वि॒ष्टा॒रिण॑म् । ओ॒द॒नम् । ये । पच॑न्ति । न । ए॒ना॒न् । अव॑र्तिः । स॒च॒ते॒ । क॒दा । च॒न । आस्ते॑ । य॒मे । उप॑ । या॒ति॒ । दे॒वान् । सम् । ग॒न्ध॒र्वैः । म॒द॒ते॒ । सो॒म्येभि॑ः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ये) जो महात्मा लोग (विष्टारिणम्) विस्तारवान् (ओदनम्) सेचन समर्थ वा अन्नरूप परमात्मा को [हृदय में] (पचन्ति) परिपक्व करते हैं, (एनान्) इन लोगों को (अवर्त्तिः) दरिद्रता (कदा चन) कभी भी (न) नहीं (सचते) मिलती है । [जो पुरुष] (यमे) नियम वा न्यायकारी परमात्मा में (आस्ते) रहता है, [वह] (देवान्) उत्तम गुणों को (उप) अधिक अधिक (याति) पाता है, और (गन्धर्वैः) पृथिवी आदि लोकों वा वेद वाणियों को धारण करने वाले (सोम्येभिः) सोम अर्थात् ऐश्वर्य योग्य महात्माओं से (सम्) मिल कर (मदते) आनन्द भोगता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—योगी जन परमात्मा में श्रद्धा रखकर सदा उदारचित्त रहते हैं, क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुष ही विद्वानों के सत्सङ्ग से उत्तम उत्तम गुण पाकर आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

३—(विष्टारिणम्) म० १ । विस्तारवन्तम् (ओदनम्) म० १ । सेचनशीलम् अन्नरूपं वा परमात्मानम् (ये) महात्मानो योगिनः (पचन्ति) पक्वं श्रद्धया दृढं कुर्वन्ति (न) निषेधे (एनान्) एतान् योगिनः (अवर्तिः) हृपिषिरुहिवृति० । उ० ४ । ११९ । इति वृतु वर्तने-इन् । वर्ति वृत्तिः, जीविका । तदभावः अवर्तिः । दारिद्र्यम् (सचते) समवैति यः (कदा चन) कदाचिदपि (आस्ते) तिष्ठति (यमे) नियमे न्यायकारिणि परमात्मनि वा (उप) अधिकम् (याति) प्राप्नोति सः (देवान्) दिव्यगुणान् (सम्) सह भूत्वा (गन्धर्वैः) अ० २ । १ । २ । गवां पृथिव्यादिलोकानां वेदवाणीनां वा धारकैः (मदते) हृष्यति (सोम्यैः) सोमार्हैः, ऐश्वर्ययोग्यैः ॥

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानुयमः परि मुष्णाति रेतः । रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥ ४ ॥

विष्टारिणम् । ओदनम् । ये । पचन्ति । न । एनान् । यमः । परि । मुष्णाति । रेतः । रथी । ह । भूत्वा । रथ-याने । ईयते । पक्षी । ह । भूत्वा । अति । दिवः । सम् । एति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो महात्मा (विष्टारिणम्) विस्तारवान् (ओदनम्) सेचनशील वा अन्नरूप परमात्मा को [हृदय में] (पचन्ति) पका करते हैं, (एनान्) इन से (यमः) नियम (रेतः) सामर्थ्य को (न) नहीं (परि मुष्णति) मुस लेता है । वह पुरुष (रथयाने) शरीर से चलने योग्य संसार में (ह) निश्चय करके (रथी) क्रीडाशील (भूत्वा) होकर (ईयते) विचरता है और (ह) अवश्य (पक्षी) सबका पक्ष करने वाला (भूत्वा) होकर (अति) अत्यन्त (दिवः) प्रकाशमान लोकों को (सम्) यथावत् (एति) पाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा में पूर्ण श्रद्धालु शूरवीर महात्मा सदा बलवान् होकर संसार को सहारा देते हुये सूर्य समान प्रकाशित रहते और आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश । आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली । एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे

४—पचन्तीत्यन्तं व्याख्यातम् म० ३ (न) निषेधे (एनान्) एतान् । अपादाने द्वितीया (यमः) नियमः (परि) वर्जने (मुष्णाति)द्विकर्मकः । अपहरति (रेतः) बलं सामर्थ्यम् (रथी) रथ-इनिः । रथवान् (ह) अवधारणे (भूत्वा) (रथयाने) रथेन शरीरेण यातव्ये लोके (ईयते) ईङ् गतौ । संचरति (पक्षी) पक्ष परिग्रहे-अच्, तत-इनि । पक्षवान् परिग्रही (अति) अत्यन्तम् (दिवः) प्रकाशमानान् लोकान् (समेति) सम्यक् प्राप्नोति

लोके मधु॑मत् पिन्व॑माना उप॑ त्वा तिष्ठन्तु पुष्क॒रिणीः॑ समन्ताः ॥ ५ ॥

एषः । यज्ञानाम् । वि-तंतः । बहिष्ठः । विष्टारिणम् । पक्त्वा । दिवम् । आ । विवेश । आण्डीकम् । कुमु॑दम् । सम् । तनोति । बिसम् । शालूकम् । शफकः । मुलाली । एताः । त्वा । धाराः । उप॑ । यन्तु । सर्वाः । स्वः-गे । लोके । मधु॑-मत् । पिन्व॑मानाः । उप॑ । त्वा । तिष्ठन्तु । पुष्करिणीः । सम्-अन्ताः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(एषः) यह (यज्ञानाम्) उत्तम कर्मों के बीच (विततः) फैला हुआ (बहिष्ठः) अत्यन्त बहुत शुभ गुणों वाला पुरुष (विष्टारिणम्) बड़े विस्तार वाले परमात्मा को [हृदय में] (पक्त्वा) पक्का, दृढ़, करके (दिवम्) प्रकाशस्वरूप परमात्मा में (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ है ।

५—(एषः) दृश्यमानः पुरुषः (यज्ञानाम्) यजनीयानां कर्मणां मध्ये (विततः) विस्तृतः (बहिष्ठः) अतिशायने तमबिष्ठनौ । पा० ५ । ३ । ५५ । इति बहु-इष्ठन् । टेः । पा० ६ । ४ । १५५ । इति टिलोपः । अतिशयेन बहुशुभ-गुणोपेतः (विष्टारिणम्) म० १ । विस्तारवन्तम् (पक्त्वा) परिपक्वं हृदये दृढं कृत्वा (दिवम्) प्रकाशमानं परमात्मानम् (आ विवेश) प्रविष्टवान् (आण्डीकम्) अमन्ताड्डः । उ० १ । ११४ । इति अम गतौ-ड । ईकञ् छन्दसि । वा० पा० ४ । १ । ८५ । इति अण्ड-ईकञ् बाहुलकात् । प्राप्तियोग्यम्, (कुमुदम्) इगुपध० । पा० ३ । १ । १३५ । इति कु+मुद हर्षे-क । कौ भूमौ मोदते । पृथिव्यां मोदकरं वस्तु (सम्) सम्यक् (तनोति) विस्तारयति (बिसम्) बिस प्रेरणे, दिवा०-क । प्रेरकम् । बलकरं वस्तु (शालूकम्) शलिमण्डिभ्यामू-कण् । उ० ४ । ४२ । इति शल गतौ-ऊकण् । वेगकरं वस्तु (शफकः) शमु उपशमे-अच्, मस्य फः । इति शब्दस्तोममहानिधिः । कमु कान्तौ-ड । शफं शान्तिं निवृत्तिं कामयते स शफकः । शान्तिकामः (मुलाली) मुल रोपणे-क । सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । पा० ३ । २ । ७८ । इति मुल+अल भूषणपर्याप्ति-

(शफकः) शान्ति की कामना करने वाला, (मुलाली) कर्म फल के रोपण, उत्पत्ति को सुधारने वाला पुरुष (आण्डीकम्) प्राप्तियोग्य (कुमुदम्) पृथिवी में आनन्द करने वाली वस्तु को, (बिसम्) बल दायक गुण को (शालूकम्) वेगशील कर्म को (सम्) यथावत् (तनोति) फैलाता है।

(एताः) ये (सर्वाः) सब (धाराः) धारण शक्तियां (स्वर्गे लोके) स्वर्ग लोक में (मधुमत्) मधु नाम ज्ञान की पूर्णता से (त्वा) तुझ को (पिन्वमानाः) सींचती हुई (उप) आदर से (यन्तु) मिलें और (समन्ताः) सम्पूर्ण (पुष्करिणीः=०-एयः) पोषणवती शक्तियां (त्वा) तुझ में (उप तिष्ठन्तु) उपस्थित होवें ॥ ५ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी योगी जन परमात्मा की महिमा में लवलीन होकर मधुमती नाम प्रज्ञा की प्राप्ति से संसार का पूरा उपकार कर्ता हैं ॥ ५ ॥

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना। एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥६

घृत-ह्रदाः। मधु-कूलाः। सुरा-उदकाः। क्षीरेण। पूर्णाः। उदकेन। दध्ना। एताः। त्वा। धाराः। उप। यन्तु। सर्वाः। स्वः-गे। लोके। मधु-मत्। पिन्वमानाः। उप। त्वा तिष्ठन्तु। पुष्करिणीः। सम्-अन्ताः ॥ ६ ॥

वारणेषु-खिनि। मुलं रोपणं कर्मफलजननम् अलति भूषयतीति मुलाली। सत्पुरुषः (एताः) (त्वा) त्वां पुरुषम् (धाराः) धारणशक्तयः। (उप) समीपे (यन्तु) गच्छन्तु (सर्वाः) सकलाः (स्वर्गे) म० २। सुष्ठु अर्जनीये पुण्ये (लोके) दर्शनीये स्थाने (मधुमत्) फलिपाटिनमिमनि० । उ० १ । १८ । इति मनु ज्ञाने-उ,नस्य धः। यथा तथा मधुमत्तया ज्ञानवत्तया (पिन्वमानाः) पिवि-सेचने-शानच्। सिंचन्त्यः (उप तिष्ठन्तु) उपस्थिताः संगता भवन्तु (पुष्करिणीः) पुषः कित्। उ० ४। ४। इति पुष पुष्टौ-करन्। अत इनिठनौ। पा० ५। २। ११५। इति पुष्कर-इनि। पुष्कराणि पोषणानि सन्ति यत्र पुष्करिण्यः पोषणवत्यः शक्तयः (समन्ताः) सम्पूर्णाः ॥

भाषार्थ—(घृतह्रदाः) प्रकाश की ध्वनि वाली, (मधुकूलाः) मधु अर्थात् ज्ञान के रक्षा साधन वाली, (सुरोदकाः) सुरा अर्थात् ऐश्वर्य वा तत्त्व मथन का सेवन करने वाली, (क्षीरेण) भोजन साधन से, (उदकेन) सेचन वा वृद्धि साधन से और (दध्ना) धारण पोषण सामर्थ्य से (पूर्णाः) परिपूर्ण,

(एताः) ये (सर्वाः) सब (धाराः) धारण शक्तियां (स्वर्गे लोके) स्वर्ग लोक में (मधुमत्) मधु नाम ज्ञान की पूर्णता से (त्वा) तुझ को (पिन्वमानाः) सींचती हुई, (उप) आदर से (यन्तु) मिलें, और (समन्ताः) सम्पूर्ण (पुष्करिणीः=०-ण्यः) पोषणवती शक्तियां (त्वा) तुझ में (उप तिष्ठन्तु) उपस्थित होवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य योग साधन से अपनी अनेक शक्तियां बढ़ाकर संसार का उपकार करके आनन्द भोगता है ॥ ६ ॥

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णां उदकेन दध्ना। एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥७॥

६—(घृतह्रदाः) अग्निघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८६ । इति घृ क्षरणदीप्त्योः-क्त । घृतं प्रकाशः । ह्राद अव्यक्ते शब्दे-अच्, निपातः । प्रकाशयुक्त-ध्वनयः (मधुकूलाः) कूल आवरणे-अच् । मधु ज्ञानं कूलम् आवरणं रक्षा-साधनं यासां ताः (सुरोदकाः) सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । षु प्रसवैश्वर्ययोः, यद्वा षुञ् अभिषवे-क्रन् ।, यद्वा, षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः=क, टाप् । सुरा=उदकम्-निघ० १ । १५ । सुरा सुनोतेः-निरु० १ । ११ । सुराणां पत्नी शक्तिः सुरा । उदकं च । उ० २ । ३६ । इति उन्दी क्लेदने-क्वुन् । सुरा, ऐश्वर्यं तत्वमथनं वा, उदकं सेचनं यासां ताः (क्षीरेण) घसेः किच्च । उ० ४ । ३४ । इति घस्लृ अदने-ईरन् । वा क्षर संचलने-डीरन् । क्षीरम् उदकम्-निघ० १ । १२ । क्षीरं क्षरतेर्घसेर्वेरो नामकरण उशीरमिति यथा—निरु० २ । ५ । भोजनसाधनेन (पूर्णाः) पूरिताः (उदकेन) सेचनसाधनेन (दध्ना) अ० ३ । १२ । ७ । दधि धारणं पोषणं तेन । अन्यत् पूर्ववत म० ५ ॥

चतुरः । कुम्भान् । चतुः-धा । ददामि । क्षीरेण । पूर्णान् । उदकेन । दध्ना । एताः । त्वा । धाराः । उप । यन्तु । सर्वाः । स्वः-गे । लोके । मधुमत् । पिन्वमानाः । उप । त्वा । तिष्ठन्तु । पुष्करिणीः । सम्-अन्ताः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(क्षीरेण) भोजन साधन से, (उदकेन) सेचन वा वृद्धि साधन से और (दध्ना) धारण पोषण सामर्थ्य से (पूर्णान्) परिपूर्ण (कुम्भान्) भूमि को पूर्ण करने वाले (चतुरः) चार अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को (चतुर्धा) चार प्रकार से अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास आश्रम वा चारों वेद द्वारा (ददामि) दान करता हूं ।

(एताः) ये (सर्वाः) सब (धाराः) धारण शक्तियां (स्वर्गे लोके) स्वर्ग लोक में (मधुमत्) मधु नाम ज्ञान की पूर्णता से (त्वा) तुझको (पिन्वमानाः) सींचती हुई (उप) आदर से (यन्तु) मिलें, और (समन्ताः)सम्पूर्ण (पुष्करिणीः=०—ण्यः) पोषणवती शक्तियां (त्वा) तुझ में (उप तिष्ठन्तु) उपस्थित होवें ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रम द्वारा और चारों वेद द्वारा धर्म अर्थ आदि चार पदार्थ देता है। इसलिये मनुष्य चारों आश्रम और चारों वेदों के यथावत् सेवन से चारों पदार्थ प्राप्त करके सदा आनन्दित रहें ॥७॥

इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम् । स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥ ८ ॥

७—(चतुरः) चतुः संख्याकान् धर्मार्थकाममोक्षान् (कुम्भान्) अ० ३ । १२ । ७ । कुं भूमिम् उम्भति पूरयतीति कुम्भः । भूमिपूरकान् (चतुर्धा) चतुष्प्रकारेण ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्रमरूपेण यद्वा वेदचतुष्टयेन (ददामि) प्रयच्छामि (क्षीरेण) म० ६ भोजनसाधनेन (पूर्णान्) पूरितान् (उदकेन) सेचनसाधनेन (दध्ना) म० ६ । धारणेन पोषणेन वा । अन्यत् पूर्ववत् म० ५ ॥

इमम् । ओदनम् । नि । दधे । ब्राह्मणेषु । विष्टारिणम् । लोक-जितम् । स्वः-गम् । सः । मे । मा । क्षेष्ट । स्वधया । पिन्वमानः । विश्व-रूपा । धेनुः । काम-दुघा । मे । अस्तु ॥८॥

भाषार्थ—(ब्राह्मणेषु) ब्रह्मज्ञानियों के बीच (विष्टारिणम्) विस्तार वाले (लोकजितम्) सब लोक के जीतनेवाले (स्वर्गम्) सुख स्वरूप (इमम्) इस (ओदनम्) सींचने वा बढ़ानेवाले वा अन्नरूप परमात्माको (नि) निरन्तर (दधे) धरता हूं। (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (पिन्वमानः) बढ़ता हुआ (सः) वह ईश्वर (मे) मेरे लिये (मा क्षेष्ट) कभी न घटे। (विश्वरूपाः) सब अङ्गों से सिद्ध (धेनुः) यह तृप्त करनेवाली वेदवाणी (मे) मेरे लिये (कामदुघा) उत्तम कामनाओं की पूर्ण करनेवाली (अस्तु) होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी महात्मा लोग परमात्मा की महिमा को साक्षात् करके सुखी होते हैं, सब मनुष्य परमकल्याणी वेदवाणी को प्राप्त कर उस जगदीश्वर के ज्ञान से सदा आनन्द भोगें ॥ ८ ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१-७ ॥ ओदनो देवता । १, २, ५-७ त्रिष्टुप् ३, ४ जगती ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत् । यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ १ ॥

८—(इमम्) निर्दिष्टम् (ओदनम्) सेचनशीलं प्रवर्धकम् अन्नरूपं वा परमात्मानं (नि) नितराम् (दधे) धरामि (ब्राह्मणेषु) अ० ४ । ६ । १ । वेदवेत्तृषु पण्डितेषु (विष्टारिणम्) म० १ । विस्तारवन्तम् (लोकजितम्) सर्वलोकजेतारम् (स्वर्गम्) सुष्ठु अर्जनीयं सुखस्वरूपम् (सः) ओदनः (मे) मह्यम् (मा क्षेष्ट) क्षि क्षये, माङि लुङ्। क्षयं मा प्राप्नोतु (स्वधया) स्वधारणशक्त्या । (पिन्वमानः) वर्धमानः (विश्वरूपा) सर्वाङ्गसिद्धा (धेनुः) अ० ३ । १० । १ । वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । तर्पयित्री वेदवाणी (कामदुघा) दुहः कब्घश्च । पा० ३ । २ । ७० । इति काम+दुह प्रपूरणे—कप् हस्य घः । उत्तमकामानां दोग्ध्री प्रपूरयित्री । अभीष्टसम्पादयित्री (मे) मह्यम् (अस्तु) ॥

यम् । ओ॒द॒नम् । प्र॒थ॒म॒-जाः । ऋ॒तस्य॑ । प्र॒जा-प॑तिः । तप॑सा । ब्र॒ह्मणे॑ । अप॑चत् । यः । लो॒काना॑म् । वि-धृ॑तिः । न । अ॒भि॒-रेषा॑त् । तेन॑ । ओ॒द॒नेन॑ । अति॑ । त॒रा॒णि॒ । मृ॒त्युम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऋतस्य) सत्य के (यम्) जिस (ओदनम्) वृद्धि करने वाले परमात्मा को (प्रथमजाः) प्रख्यात पुरुषों में उत्पन्न हुए, (प्रजापतिः) प्रजापालक योगी जन ने (तपसा) अपने तप, सामर्थ्य से (ब्रह्मणे) ब्रह्म की प्राप्ति के लिये (अपचत्) परिपक्व अर्थात् हृदय में दृढ़ किया है। (यः) जो परमात्मा (लोकानाम्) सब लोकों का (विधृतिः) विधाता (न) कभी नहीं (अभिरेषात्) घटता है, (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ (मृत्युम्) मृत्यु के कारण [निरुत्साह आदि दोष] को (अति=अतीत्य) लांघकर (तराणि) मैं तर जाऊं ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा को ऋषि मुनि महात्मा लोग साक्षात् करते चले आये हैं, उसी के गुणों को हम जानकर पुरुषार्थ के साथ अपने जीवन को सुधारें ॥ १ ॥

येनात॑रन् भूत॒कृतोऽति॑ मृ॒त्युं यम॒न्वविन्द॒न् तप॑सा॒ श्रमे॑ण । यं प॒पाच॑ ब्र॒ह्मणे॒ ब्रह्म॒ पूर्वं॒ तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम् ॥ २ ॥

१—(यम्) (ओदनम्) सू० ३४ । म० १ । सेचकं प्रवर्धकं वा परमात्मानम् (प्रथमजाः) प्रथमेषु श्रेष्ठपुरुषेषु जातः (ऋतस्य) सत्यस्य परब्रह्मरूपस्य (प्रजापतिः) प्रजानां पालको योगिजनः (तपसा) स्वसामर्थ्येन (ब्रह्मणे) ब्रह्मप्राप्तये (अपचत्) पक्वं हृदये दृढं कृतवान् (यः) ओदनः (लोकानाम्) ब्रह्माण्डानाम् (विधृतिः) विधारयिता (न) निषेधे (अभिरेषात्) रिष हिंसायाम्—लङर्थे लेट्, कर्मण्यर्थे । रेष्यते । नश्यति (तेन) (ओदनेन) सेचकेन प्रवर्धकेन अन्नरूपेण वा परमात्मना (अति) अतीत्य (तराणि) पारं गच्छानि प्राप्नवानि (मृत्युम्) मरणकारणं निरुत्साहम् ॥

येन । अतरन् । भूत-कृतः । अति । मृत्युम् । यम् । अनु-अविन्दन् । तपसा । श्रमेण । यम् । पपाच । ब्रह्मणे । ब्रह्म । पूर्वम् । तेन । ओदनेन । अति । तराणि । मृत्युम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस परमात्मा के साथ (भूतकृतः) प्राणियों को [उत्तम] बनाने वाले पुरुष (मृत्युम्) मृत्यु के कारण निरुत्साह आदि को (अति=अतीत्य) लांघकर (अतरन्) तरगये हैं, और (यम्) जिसको (तपसा) ब्रह्मचर्य आदि तप और (श्रमेण) परिश्रम से (अन्वविन्दन्) उन्हों ने अनुक्रम से पाया है। और (यम्) जिसको (ब्रह्मणे) ब्रह्मा, [वेदज्ञानी] के लिये (ब्रह्म) वेद नें (पूर्वम्) पहिले ही (पपाच) परिपक्व वा दृढ किया था। (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ...म० १ ॥२॥

भावार्थ—जिस परमात्मा को पाकर महाउपकारी जनों ने तप और परिश्रम से अनेक विघ्नों को हटाकर सुख प्राप्त किया है और जिसका प्रतिपादन वेदों ने किया है, उसी के ज्ञान से सब मनुष्य अपने क्लेश टालकर आनन्द पावें ॥ २ ॥

यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद् रसेन । यो अस्तभ्नाद् दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेनौदनेनातितराणि मृत्युम् ॥ ३ ॥

यः । दाधार । पृथिवीम् । विश्व-भोजसम् । यः । अन्तरिक्षम् । आ-अपृणात् । रसेन । यः । अस्तभ्नात् । दिवम् । ऊर्ध्वः । महिम्ना । तेन । ओदनेन । अति । तराणि । मृत्युम् ॥ ३ ॥

२—(येन) ओदनेन (अतरन्) पारं प्राप्नुवन् (भूतकृतः) भूतानां प्राणिनां कर्तारः उपकर्तारः पुरुषाः (अति) अतीत्य (मृत्युम्) मरणहेतुं निरुत्साहादिकम् (यम्) (अन्वविन्दन्) अनुक्रमेण प्राप्नुवन् (तपसा) ब्रह्मचर्येण (श्रमेण) श्रमु तपसि खेदे च-घञ् । परिश्रमेण । ब्रह्माभ्यासेन (यम्) (पपाच) पक्वं दृढं चकार (ब्रह्मणे) ब्रह्मज्ञानिने (ब्रह्म) वेदः (पूर्वम्) प्रथमम् । अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस परमेश्वर ने (विश्वभोजसम्) सब का पालन करने वाली (पृथिवीम्) पृथिवी को (दाधार) धारण किया था, (यः) जिस ने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (रसेन) रस अर्थात् अन्न वा जल से (आ अपृणात्) भर दिया है। (यः) जिसने (महिम्ना) अपनी महिमा से (ऊर्ध्वः) ऊंचा होकर (दिवम्) प्रकाशमान सूर्य को (अस्तभ्नात्) ठहराया है। (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ...म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने पृथिवी आदि लोकों और सब चराचर जगत् को रचकर धारण किया है और जो सब से ऊपर विराजमान है, उसकी महिमा को विचार कर हम अपनी उन्नति करें ॥३॥

यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः। अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ४ ॥

यस्मात्। मासाः। निःऽमिताः। त्रिंशत्ऽअराः। सम्ऽवत्सरः। यस्मात्। निःऽमितः। द्वादशऽअरः। अहोरात्राः। यम्। परिऽयन्तः। न। आपुः। तेन। ओदनेन। अति। तराणि। मृत्युम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यस्मात्) जिस [परमात्मा] से (त्रिंशदराः) तीस अरों

३—(यः) ओदनः (दाधार) धृतवान् (पृथिवीम्) भूमिम् (विश्वभोजसम्) भुज पालनाभ्यवहारयोः—असुन्। सर्वस्य पालयित्रीम् (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकम् (आ—अपृणात्) पॄ पालनपूरणयोः—लङ्। सम्यक् पूरितवान् (रसेन) अन्नेन—निघ० २।७। उदकेन—निघ० १। १२। (अस्तभ्नात्) स्तन्भु रोधने—लङ्। अवरुद्धवान्। दृढीकृतवान् (दिवम्) प्रकाशमानं सूर्यम् (ऊर्ध्वः) उपरि वर्तमानः सन् (महिम्ना) महत्त्वेन। प्रभावेण। अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

४—(यस्मात्) ओदनात्परमेश्वरात् (मासाः) मस परिमाणे—घञ्।

वाले (मासाः) महीने (निर्मिताः) बने हैं. (यस्मात्) जिस से (द्वादशारः) बारह अरों [के समान महीनों] वाला (संवत्सरः) संवत् (निर्मितः) बना है। (यम्) जिस को (परियन्तः) घूमते हुए (अहोरात्राः) दिनरात (न) नहीं (आपुः) पकड़सके हैं। (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ...म० १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने दिनरात आदि काल चक्र बनाया है परन्तु वह अनादि अनन्त होने से काल के अधिकार से बाहिर है। उसी की उपासना सब मनुष्य करें ॥ ४ ॥

यः प्राणदः प्राणदवान् बभूव यस्मैं लोका घृतवन्तः क्षरन्ति। ज्योतिष्मतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ५ ॥

यः। प्राणदः। प्राणद-वान्। बभूव। यस्मैं। लोकाः। घृत-वन्तः। क्षरन्ति। ज्योतिष्मतीः। प्र-दिशः। यस्य। सर्वाः। तेन। ओदुनेन। अति। तराणि। मृत्युम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो परमेश्वर (प्राणदः) प्राणदेने वाला और (प्राणदवान्) प्राणदाताओं [सूर्यपृथिवीवायु आदि] का रखने वाला (बभूव)

मस्यते परिमीयते कालोऽनेन स मासः। शुक्लकृष्णपक्षद्वयात्मकाः कालाः (निर्मिताः) रचिताः (त्रिंशदराः) रथचक्रावयवाः कीलका अराः। चक्रवदावर्तमानत्वान्मासास्तथा रूप्यन्ते। त्रिंशत्संख्याकानि दिनानि अरा इव येषां ते तथोक्ताः (संवत्सरः) अ० १। ३५। ४। द्वादशमासात्मकः कालः (यस्मात्) (निर्मितः) (द्वादशारः) द्वादशमासा अराइव चक्रे स्थिता यस्मिन् स तथाभूतः (अहोरात्राः) अहानि च रात्रयश्च (यम्) परमात्मानम् (परियन्तः) परिगच्छन्तः। परिवर्त्तमानाः (न) निषेधे (आपुः) प्राप्तवन्तः। अन्यत् पूर्ववत्। म० १॥

५—(यः) ओदनः। परमात्मा (प्राणदः) प्राणदाता (प्राणदवान्) प्राणदैः प्राणप्रदैः सूर्यपृथिवीवाय्वादिभिर्युक्तः (बभूव) (यस्मै) परमेश्वराय

हुआ और (यस्मै) जिसके लिये (घृतवन्तः) प्रकाशमान वा सारवान् (लोकाः) सब लोक (क्षरन्ति) बहते हैं। और (यस्य) जिस की ही (सर्वाः) सब (ज्योतिष्मतीः=०-त्यः) तेजोमय (प्रदिशः) बड़ी दिशायें हैं। (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ......म० १ ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब लोक लोकान्तर और सब पदार्थ परमेश्वर के वशवर्ती हैं। उसकी आज्ञा पालन से हम सदा सुखी रहें ॥ ५ ॥

यस्मा॑त् प॒क्वाद॒मृतं॑ संब॒भूव॒ यो गा॑य॒त्र्या अधि॑पतिर्ब॒भूव॑। यस्मि॑न् वेदा॒ निहि॑ता वि॒श्वरू॑पास्तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम् ॥ ६ ॥

यस्मा॑त्। प॒क्वात्। अ॒मृत॑म्। स॒म्-ब॒भूव॑। यः। गा॒य॒त्र्याः। अधि॑-पतिः। ब॒भूव॑। यस्मि॑न्। वेदाः॑। नि-हि॑ताः। वि॒श्व-रू॑पाः। तेन॑। ओ॒द॒नेन॑। अति॑। त॒रा॒णि॒। मृ॒त्युम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यस्मात् पक्वात्) जिस परिपक्व परमात्मा से (अमृतम्) मोक्ष (संबभूव) उत्पन्न हुआ, (यः) जो (गायत्र्याः) गायत्री [स्तुति वा वेद वाणी] का (अधिपतिः) अधिपति (बभूव) हुआ, (यस्मिन्) जिसमें (विश्वरूपाः) सब से कीर्तन योग्य अथवा सब का निरूपण करने वाले (वेदाः)

(लोकाः) दृश्यमानानि भुवनानि (घृतवन्तः) दीप्तिमन्तः। सारवन्तः (क्षरन्ति) स्रवन्ति (ज्योतिष्मतीः) प्रशस्ततेजस्काः। प्रकाशवत्यः (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशाः (यस्य) ओदनस्य सम्बन्धिन्यः सन्ति (सर्वाः) समस्ताः। अन्यत् पूर्ववत्। म० १ ॥

६—(यस्मात्) परमात्मनः (पक्वात्) दृढस्वभावात् (अमृतम्) अमरणहेतुः। मोक्षः (संबभूव) उत्पन्नं बभूव (यः) (गायत्र्याः) अ० ३। ३। २। अमिनक्षियजि०। उ० ३। १०५। इति गै शब्दे—अत्रन्, स च णित, ङीप्। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ७। १२। गायनीयायाः स्तुतेः। वेदवाण्याः। (अधिपतिः) स्वामी (बभूव) (यस्मिन्) (वेदाः) विद ज्ञाने, विद सत्तायाम्,

वेद (निहिताः) निधिरूप से स्थित हैं। (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ (मृत्युम्) मरण के कारण [निरुत्साह आदि दोष] को (अति=अतीत्य) लांघ कर (तराणि) मैं तर जाऊं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने कल्याणमयी वेदवाणी देकर मनुष्यों को मोक्ष का अधिकारी किया है। उसके गुण कर्म स्वभाव को पहिचान कर हम सदा पुरुषार्थ करते रहें ॥ ६ ॥

अव बाधे द्विषन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेऽप ते भवन्तु। ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः ॥ ७ ॥

अव। बाधे। द्विषन्तम्। देव-पीयुम्। स-पत्नाः। ये। मे। अप। ते। भवन्तु। ब्रह्म-ओदनम्। विश्व-जितम्। पचामि। शृण्वन्तु। मे। श्रत्-दधानस्य। देवाः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(द्विषन्तम्) द्वेष करने वाले (देवपीयुम्) देवताओं के हिंसक को (अव बाधे) मैं हटाता हूं। (ये) जो (मे) मेरे (सपत्नाः) प्रतियोगी हैं, (ते) वे (अप भवन्तु) हट जावें। (विश्वजितम्) संसार के जीतने वाले (ब्रह्मौदनम्) सब से बड़े सींचने वाले वा अन्नरूप परमात्मा को

विद्लृ लाभे विद विचारणे-घञ्। धर्मब्रह्मप्रतिपादकानि ऋग्यजुःसामाथर्वात्मकानि अपौरुषेयाणि शास्त्राणि (निहिताः) निधिरूपेण स्थापिताः (विश्वरूपाः) खष्पशिल्पशष्पवाष्परूपपर्पतल्पाः । उ० ३ । २८ । इति रु शब्दे-प, दीर्घश्च । यद्वा रूप रूपक्रियायाम्-अच्, रूयते रूप्यते वा रूपम्। सर्वैः रूयमाणाः कीर्त्यमानाः। सर्वेषां पदार्थानां रूपका निरूपकाः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(अव बाधे) अपवारयामि (द्विषन्तम्) हिंसन्तम् (देवपीयुम्) पीयति हिंसाकर्मा-निरु० ४।२५ खरुशङ्कुपीयु० । उ० १ । ३६ । इति पीयतेः-कु । देवानां हिंसकम् (सपत्नाः) अ० १ । ९ । २ । शत्रवः (ये) (मे) मम (अप भवन्तु) दूरे गच्छन्तु (ते) शत्रवः (ब्रह्मौदनम्) ओदन इति व्याख्यातम्-सू० ३४ म० १ । प्रवृद्धं सेचकं प्रवर्धकम् अन्नरूपं वा परमात्मानम् (विश्वजितम्)

(पचामि) पक्का [हृदय में दृढ़] करता हूं। (देवाः) व्यवहार कुशल विद्वान् लोग (श्रद्दधानस्य) श्रद्धा रखने वाले (मे) मेरी [वार्ता] (शृण्वन्तु) सुनें ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य जगदीश्वर में पूरी भक्ति करके पुरुषार्थ पूर्वक अपने सब विघ्नों को हटा कर आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथ अष्टमोऽनुवाकः ।

सूक्तम् ३६ ॥

१-१० । अग्निर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा ।
यो नो दुरस्याद् दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात् ॥१॥

तान् । सत्य-ओजाः । प्र । दहतु । अग्निः । वैश्वानरः । वृषा । यः । नः । दुरस्यात् । दिप्सात् । च । अथो इति । यः । नः । अराति-यात् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सत्यौजाः) सत्य बल वाला, (वैश्वानरः) सब नरों का हित करनेवाला, (वृषा) सुख बर्षाने वाला वा ऐश्वर्यवान् (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (तान्) उन सब को (प्र दहतु) भस्म कर डाले। (यः)

सर्वस्य जेतारम् (पचामि) परिपक्वं दृढं करोमि (शृण्वन्तु) आकर्णयन्तु (मे) मम वाक्यम् (श्रद्दधानस्य) श्रद्धाधारकस्य (देवाः) व्यवहारिणो विद्वांसः ॥

१—(तान्) निर्दिष्टान् (सत्यौजाः) अवितथबलः (प्र) प्रकर्षेण (दहतु) भस्मीकरोतु (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (वैश्वानरः) अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहितः (वृषा) अ० १ । १२ । १ । सुखवर्षकः । ऐश्वर्यवान् (यः) शत्रुः

जो (नः) हमें (दुरस्यात्) दुष्ट माने, (च) और जो (दिप्सात्) मारना चाहे, (अथो) और भी (यः) जो (नः) हम से (अरातियात्) वैरी सा बर्ताव करे ॥ १ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य परमेश्वर पर विश्वास करके धर्म के विघ्नकारियों को नष्ट करें ॥ १ ॥

यो नो दिप्सददिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति ।
वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम् ॥ २ ॥

यः । नः । दिप्सत् । अदिप्सतः । दिप्सतः । यः । च । दिप्सति ।
वैश्वनरस्य । दंष्ट्रयोः । अग्नेः । अपि । दधामि । तम् ॥२॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (अदिप्सतः) न सताने वाले (नः) हम को (दिप्सत्) सताना चाहे, (च) और (यः) जो (दिप्सतः) सताने वाले [हम] को (दिप्सति) सताना चाहता है, (तम्) उसको (वैश्वानरस्य) सब नरों के हितकारक (अग्नेः) ज्ञानीपुरुष के (दंष्ट्रयोः) दोनों डाढ़ों के बीच जैसे (अपि) अवश्य (दधामि) धरता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्मात्माओं को बिना कारण सतावे, और जो दुष्ट धर्मात्माओं को उनके दण्ड देने पर भी दुष्ट आचरण करे, उन शत्रुओं को

(नः) अस्मान् (दुरस्यात्) उपमानादाचारे । पा०३। १। १० । इति दुष्ट—क्यच् । दुरस्युर्द्रविणस्युर० । पा ७ । ४ । ३६ । इति क्यचि दुष्टस्य दुरस् भावः । तदन्ताल्लेटि आडागमः । दुष्टमिवाचरेत् (दिप्सात्)दन्भु दम्भे—सन्। दम्भ इच्च पा० । ७ । ४ । ५६ । इति इत्वम् । अत्र लोपोऽभ्यासस्य । पा० ७ । ४ । ५८ । इति अभ्यासलोपः। भष्भावाभावश्छान्दसः । धिप्सेत् । दम्भितुं हिंसितुमिच्छेत् (च) (अथो) अपि च (अरातियात्) पूर्ववत् क्यचि लेट् । अरातिवदाचरेत् । शत्रुवदनुतिष्ठेत् ॥

२—(यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (दिप्सत्) लेटि अडागमः । दम्भितुं हिंसितुमिच्छेत् (अदिप्सतः)दम्भितुं हिंसितुमनिच्छतः (दिप्सतः) हिंसितुमिच्छतः (यः च) (दिप्सति) दम्भितुमिच्छति । जिहिंसिषति (वैश्वानरस्य) सर्वनरहितस्य (दंष्ट्रयोः) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५८ । इति दंश दशने—ष्ट्रन्, अजा-

राजा परमेश्वर के दिये सामर्थ्य से ऐसे कुचिल डाले जैसे डाढ़ों के बीच अन्न को ॥ २ ॥

य आ॒ग॒रे मृ॒गय॑न्ते प्रतिक्रो॒शे॑ऽमावा॒स्ये॑ ।
क्र॒व्यादो॑ अ॒न्यान् दि॒प्सत॑: सर्वा॒स्तान्त्सह॑सा सहे ॥३॥

ये । आ॒-ग॒रे । मृ॒गय॑न्ते । प्र॒ति॒-क्रो॒शे । अ॒मा॒-वा॒स्ये॑ । क्र॒व्य॒-अदः॑ । अ॒न्यान् । दि॒प्स॑तः । सर्वा॑न् । तान् । सह॑सा । स॒हे ॥३॥

भाषार्थ—(ये) जो दुष्ट (आगरे) घर में (प्रतिक्रोशे) गूंजते हुये (अमावास्ये) अमावस के अन्धकार में (मृगयन्ते) खोजते फिरते हैं । (अन्यान्) दूसरों को (दिप्सतः) सतानेवाले (तान् सर्वान्) उन सब (क्रव्यादः) मांस भक्षी सिंह आदिकों को (सहसा) बल से (सहे) मैं जीतता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—रात्री के अन्धकार में जो सिंह आदि हिंसक पशु वा मनुष्य सतावें, राजा उनका यथावत् प्रबन्ध करे ॥ ३ ॥

सहे॑ पिशा॒चान्त्सह॑सै॒षां द्रवि॑णं ददे ।
सर्वा॑न् दुरस्य॒तो ह॑न्मि॒ सं म॒ आकू॑तिर्ऋध्यताम् ॥४॥

सहे॑ । पि॒शा॒चान् । सह॑सा । ए॒षा॒म् । द्रवि॑णम् । द॒दे॒ । सर्वा॑न् । दु॒र॒स्य॒तः । ह॒न्मि॒ । सम् । मे॒ । आ-कू॑तिः । ऋ॒ध्य॒ता॒म् ॥४॥

दित्वात्—टाप् । खादनसाधनयोर्दन्तवशेषयोर्मध्ये यथा (अन्नः) ज्ञानिनः पुरुषस्य (अपि) अवधारणे (दधामि) धरामि (तम्) शत्रुम् ॥

३—(ये) शत्रवः (आगरे) ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ७७ । इति गॄ निगरणे-अप् । आगारे । गृहे (मृगयन्ते) मृग अन्वेषणे । अन्विच्छन्ति (प्रतिक्रोशे) प्रतिध्वनियुक्ते (अमावास्ये) अमा सह वसतश्चन्द्रार्कौ यस्याम्, अमा + वस निवासे—ण्यत्, टाप् । इति अमावास्या कृष्णपक्षान्ततिथिः । अ च । पा० ४ । ३ । ३१ । इति अमावास्या—अ प्रत्ययः, जात इत्यर्थे । अमावास्यायां जाते कृष्णकाले (क्रव्यादः) अ० २ । २५ । ५ । मांसभक्षकान् सिंहादीन् (अन्यान्) इतरान् पुरुषान् (दिप्सतः) हिंसितुमिच्छून् । (सर्वान्) (तान्) (सहसा) बलेन (सहे) अभिभवामि ॥

भाषार्थ—(पिशाचान्) मांसभक्षकों को (सहसा) बल से (सहे) मैं जीतता हूं, और (एषाम्) इनका (द्रविणम्) धन [सुपात्रों को] (ददे) मैं देता हूं । (दुरस्यतः) सताने वाले (सर्वान्) सबों को (हन्मि) मैं मारता हूं । (मे) मेरा (आकूतिः) शुभ संकल्प (सम् ऋध्यताम्) यथावत् सिद्ध होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा दुष्टों का हनन करके उनका धन सेनापति आदि योग्य पुरुषों को पारितोषिक देवे और प्रयत्न पूर्वक अपना शुभ संकल्प सिद्ध करे ॥४॥

ये दे॒वास्तेन॒ हास॑न्ते॒ सूर्ये॑ण मिमते ज॒वम् ।
न॒दीषु॒ पर्व॑तेषु॒ ये सं तैः प॑शु॒भिर्वि॑दे ॥ ५ ॥

ये । दे॒वाः । तेन॑ । हास॑न्ते । सूर्ये॑ण । मि॒म॒ते॒ । ज॒वम् ।
न॒दीषु॑ । पर्व॑तेषु॑ । ये । सम् । तैः । प॒शु॒ऽभिः । वि॒दे॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (देवाः) विजयी शूर (तेन) पुण्य के साथ (हासन्ते) चलना चाहते हैं, और (ये) जो (नदीषु पर्वतेषु) नदियों और पर्वतों पर (सूर्येण) सूर्य के साथ (जवम्) अपना वेग (मिमते) करते हैं (तैः) उन (पशुभिः) दृष्टि वाले देवताओं से (सम् विदे) मैं मिलता हूं ॥५॥

भावार्थ—जो महात्मा लोग सूर्य के समान शीघ्रगामी होकर बड़े बड़े कठिन कामों को सिद्ध करते हैं । उन से मिलकर सब मनुष्य उत्तम गुण प्राप्त करें ॥ ५ ॥

४—(सहे) अभिभवामि (पिशाचान्) अ० १ । १६ । ३ । पिशिताशिनो राक्षसान् (सहसा) बलेन (एषाम्) (द्रविणम्) अ० २ । २६ । ३ । धनम् (ददे) ददामि पात्रेभ्यः (सर्वान्) (दुरस्यतः) हन्तुमिच्छून् (हन्मि) नाशयामि (मे) मम (आकूतिः) अ० ३ । २ । ३ । शुभसंकल्पः (सम् ऋध्यताम्) सम्यक् सिध्यतु ॥

५—(ये) (देवाः) विजिगीषवः शूराः (तेन) तॄ तरणे-ड । पुण्येन-इति शब्दकल्पद्रुमः (हासन्ते) ओ हाङ् गतौ-सनि छान्दसं रूपम् । जिहासन्ते । गन्तुमिच्छन्ति (सूर्येण) आदित्येन (मिमते) माङ् माने-लट् । उपमया सादृश्येन कुर्वन्ति (जवम्) स्ववेगम् (नदीषु) (पर्वतेषु) गिरिषु (ये) (तैः) (पशुभिः) अ० २ । २६ । १ । द्रष्टृभिर्देवैः (सम् विदे) संजाने । संगच्छे ॥

तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव ।
श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा तेन विन्दन्ते न्यञ्चनम् ॥ ६ ॥

तपनः । अस्मि । पिशाचानाम् । व्याघ्रः । गोमताम्-इव ।
श्वानः । सिंहम्-इव । दृष्ट्वा । ते । न । विन्दन्ते । नि-अञ्चनम् ॥ ६

भाषार्थ—मैं (पिशाचानाम्) मांसाहारियों का (तपनः) संताप देने वाला (अस्मि) हूं, (इव) जैसे (व्याघ्रः) बाघ (गोमताम्) गौ वालों का होता है । (ते) वे लोग (न्यञ्चनम्) छिपने का स्थान (न) नहीं (विन्दन्ते) पाते हैं, (इव) जैसे (श्वानः) कुत्ते (सिंहम्) सिंह को (दृष्ट्वा) देखकर [घबड़ा जाते हैं]

भावार्थ—दण्डवान् प्रतापी पुरुष के सन्मुख हिंसक जीव नहीं ठहरते हैं ॥ ६ ॥

न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः । पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे ॥ ७ ॥

न । पिशाचैः । सम् । शक्नोमि । न । स्तेनैः । न । वनर्गु-भिः ।
पिशाचाः । तस्मात् । नश्यन्ति । यम् । अहम् । ग्रामम् ।
आ-विशे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(न) न तो (पिशाचैः) पिशाचों के साथ, (न) न

६—(तपनः) तप-ल्यु । संतापकः (अस्मि) (पिशाचानाम्) मांसभक्षकाणाम् (व्याघ्रः) हिंसकजन्तुविशेषः (गोमताम्) गोस्वामिनाम् (इव) यथा (श्वानः) अ० ४ । ५ । २ । श्वाऽऽशुयायी शवतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः श्वसितेर्वा—निरु० । ३ । १८ । कुक्कुराः (सिंहम्) अ० । ४ । ८ । ७ (इव) (दृष्ट्वा) अवलोक्य (ते) पिशाचाः (न) निषेधे (विन्दन्ते) लभन्ते (न्यञ्चनम्) निम्नगमनं रक्षास्थानम् ॥

७—(न) निषेधे (पिशाचैः पिशिताशिभिः (सम्) संवस्तुम् (शक्नोमि)

(स्तेनैः) चोरों के साथ, और (न) न (वनर्गुभिः) बनचर डाकुओं के साथ (सम् शक्नोमि) रह सकता हूं। (यम्) जिस (ग्रामम्) ग्राम में (अहम्) मैं (आविशे) बसता हूं, (पिशाचाः) पिशाच लोग (तस्मात्) उस स्थान से (नश्यन्ति) भाग जाते हैं ॥७॥

भावार्थ—राजा प्रबन्ध करे कि बस्तियों में हिंसक चोर आदि लूट खसोट न करें ॥ ७ ॥

यं ग्राम॑मावि॒शत॑ इ॒दमु॒ग्रं सहो॒ मम॑ ।
पि॒शा॒चास्तस्मा॑न्नश्यन्ति॒ न पा॒पमुप॑ जानते ॥ ८ ॥

यम् । ग्राम॑म् । आ॒-वि॒शते॑ । इ॒दम् । उ॒ग्रम् । सह॑ः । मम॑ ।
पि॒शा॒चाः । तस्मा॑त् । न॒श्य॒न्ति॒ । न । पा॒पम् । उप॑ । जा॒न॒ते॒ ॥८॥

भाषार्थ—(यम् ग्रामम्) जिस ग्राम में (इदम्) यह (उग्रम्) उग्र (मम) मेरा (सहः) बल (आ विशते) प्रवेश करता है। (पिशाचाः) पिशाच लोग (तस्मात्) उस स्थान से (नश्यन्ति) भाग जाते हैं और (पापम्) पाप को (न) नहीं (उप जानते) जानते हैं ॥८॥

भावार्थ—प्रतापी नीति निपुण राजा के शासन में दुष्ट लोग उपद्रव नहीं मचाते हैं ॥८॥

शक्तो भवामि (स्तेनैः) चोरैः (वनर्गुभिः) मृगव्याधयरच। उ० १। ३७। इति वन+गम्लृ गतौ-डु रुडागमः। स्तेननाम-निघ० ३। २४। वनर्गू वनगामिनौ-निरु० ३। १४। वनचरैः। दस्युभिः (पिशाचाः) पिशिताशनाः (तस्मात्) ग्रामात् (नश्यन्ति) अदृष्टा भवन्ति पलायन्ते (यम्) (अहम्) (ग्रामम्) म० ४। ७। ५। बसतिम् (आविशे) प्रविशामि ॥

८—(यम्) (ग्रामम्) बसतिम् (आविशते) प्रविशति (इदम्) (उग्रम्) तीव्रम् (सहः) बलम् (मम) मदीयम् (पिशाचाः, तस्मात्, नश्यन्ति) म० ७। (न) निषेधे (पापम्) पाति यस्मात् तत्। अनिष्टम् (उप जानते) अवबुध्यन्ते ॥

ये मा क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका इव ।
तानहं मन्ये दुर्हितान् जने अल्पशयूनिव ॥ ९ ॥

ये । मा । क्रोधयन्ति । लपिताः । हस्तिनम् । मशकाः-इव ।
तान् । अहम् । मन्ये । दुः-हितान् । जने । अल्पशयून-इव ॥९॥

भाषार्थ—(ये) जो (लपिताः) बकवादी लोग (मा) मुझे (क्रोधयन्ति) क्रुद्ध करते हैं, (मशकाः इव) जैसे मच्छड़ (हस्तिनम्) हाथी को । (तान्) उन (दुर्हितान्) दुष्कर्मियों को (जने) मनुष्यों के बीच (अल्पशयून् इव) थोड़े सोने वाले कीट पतंगों के समान (अहम्) मैं (मन्ये) मानता हूं ॥९॥

भावार्थ—बतबने दुराचारियों को दण्ड देकर राजा सदा दुर्बल रक्खे ॥ ९ ॥

अभि तं निर्ऋतिर्धत्तामश्वमिवाश्वाभिधान्या ।
मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते ॥१०॥

अभि । तम् । निः-ऋतिः । धत्ताम् । अश्वम्-इव । अश्व-अभिधान्या । मल्वः । यः । मह्यम् । क्रुध्यति । सः । ऊं इति । पाशात् । न । मुच्यते ॥ १० ॥

भाषार्थ—(तम्) उस को (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी (अभि धत्ताम्) बांध लेवे (अश्वम् इव) जैसे घोड़े को (अश्वाभिधान्या) घोड़ा बांधने की

९—(ये) दुष्टाः (मा) माम् (क्रोधयन्ति) कोपयन्ति (लपिताः) लप कथने-क्त । लपितं कथनमस्यास्तीति, अर्श आद्यच् । बहुवचनयुक्ताः । वाचालाः (हस्तिनम्) गजम् (मशकाः) कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन् । उ० । ५ । ३५ । इति मश ध्वनौ-वुन् । दंशकाः (इव) यथा (तान् (अहम् (मन्ये) जानामि (दुर्हितान्) दुष्कर्मिणः (जने) जनसमूहे (अल्पशयून्) भृमृशीङ० । उ० । १ । ७ । इति अल्प+शीङ् स्वप्ने-उ । अल्पशयनस्वभावान् क्षुद्रजन्तून् ॥

१०— (अभि धत्ताम्) बध्नातु (तम्) दुष्टम् (निर्ऋतिः) अ० ३ । ११ । २ । कृच्छापत्तिः-निघ० २ । ७ । अलक्ष्मीः (अश्वम् इव) यथा तुरङ्गम् (अ-

रस्सी से। (यः मल्वः) जो मलिन पुरुष (मह्यम्) मुझ पर (क्रुध्यति) क्रोध करता है, (सः) वह (पाशात्) फांसी से (उ न) कभी नहीं (मुच्यते) छुटता है ॥१०॥

भावार्थ—राजा कुकर्मी दुष्टों को यथावत् दण्ड देकर सत्पुरुषों की रक्षा करे ॥ १० ॥

सूक्तम् ३७ ॥

१-१२ ॥ १, २, ६, १० ओषधिः, ३, ४, ५ अप्सरसः, ८, ९, इन्द्रः, ११ गन्धर्वः, ७, १२ गन्धर्वाप्सरसो देवताः ॥ १-४, ६, ८-१५ अनुष्टुप्, ५ पथ्या पङ्क्तिः, ७ उष्णिक् ॥

गन्धर्वाप्सरसां गुणोपदेशः—गन्धर्व और अप्सराओं के गुणों का उपदेश ॥

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे ।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥ १ ॥

त्वया । पूर्वम् । अथर्वाणः । जघ्नुः । रक्षांसि । ओषधे ।
त्वया । जघान । कश्यपः । त्वया । कण्वः । अगस्त्यः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे तापनाशक परमेश्वर ! (त्वया) तेरे सहारे से (पूर्वम्) पहिले (अथर्वाणः) निश्चल स्वभाव वाले अथवा मंगल के लिये व्यापक महात्माओं ने (रक्षांसि) राक्षसों को (जघ्नुः) मारा था । (त्वया)

श्वाभिधान्या) अश्वमभिदधाति बध्नात्यनया सा अश्वाभिधानी। करणे-ल्युट् टित्वाद् ङीप्। अश्वबन्धनरज्ज्वा (मल्वः) कॄगॄशॄदॄभ्यो वः। उ० १। १५५। इति मल धारणे—व। मलिनः। क्रूरः (यः) (मह्यम्) क्रुधद्रुहेर्ष्या०। पा० १। ४। ३७। इति चतुर्थी (क्रुध्यति) कुप्यति (सः) (उ) एव (पाशात्) बन्धनात् (न) (मुच्यते) वियुज्यते ॥

१—(त्वया) (पूर्वम्) अग्रे (अथर्वाणः) अ० ४। १। ७। निश्चलस्वभावाः। मङ्गलाय व्यापका महात्मानः (जघ्नुः) हतवन्तः (रक्षांसि) राक्षसान् (ओषधे) अ० १। २३। १। हे तापनाशक परमेश्वर (जघान) हतवान्

तेरे साथ ही (कश्यपः) तत्त्वदर्शी पुरुष ने, और (त्वया) तेरे साथ ही (कण्वः) मेधावी, तथा (अगस्त्यः) कुटिलगति, पाप के फेंकने में समर्थ जीव ने (जघान) मारा था ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे पूर्वज ऐतिहासिक जितेन्द्रिय पुरुषों ने जगत् का उपकार किया है, वैसे ही सब मनुष्य ज्ञान पूर्वक दोषों का नाश करके परस्पर उपकार करें ॥ १ ॥

त्वया॑ व॒यम॑प्स॒रसो॑ गन्ध॒र्वांश्चा॑तयामहे ।
अज॑शृङ्ग्यज॒ रक्षः॒ सर्वा॑न् ग॒न्धेन॑ नाशय ॥ २ ॥

त्वया॑ । व॒यम् । अ॒प्स॒रसः॑ । ग॒न्ध॒र्वान् । चा॒त॒या॒म॒हे॒ । अज॑ऽशृङ्गि । अज॑ । रक्षः॑ । सर्वा॑न् । ग॒न्धेन॑ । ना॒श॒य॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अजशृङ्गि) हे जीवात्मा के दुःखनाशक शक्ति परमेश्वर ! (त्वया) तेरे साथ (वयम्) हम लोग (अप्सरसः) आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक शक्तियों को और (गन्धर्वान्) विद्या वा पृथिवी धारण करने वाले गुणों को (चातयामहे) मांगते हैं । (गन्धेन) अपनी व्याप्ति से (सर्वान्) सब (रक्षः) राक्षसों को (अज) हटा दे और (नाशय) नाश करदे ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर पर विश्वास करके पुरुषार्थ करते हैं वे ही संसार को सुख देते हैं । [अजशृङ्गी एक औषध भी है] ॥ २ ॥

इन मन्त्रों के साथ अ० का० २ सू० २ का मिलान् करो ॥

(कश्यपः) अ० २ । ३३ । ७ । पश्यकः, तत्त्वदर्शकः पुरुषः (कण्वः) अ० २ । ३२ । ३ । मेधावी–निघ० ३ । १५ । (अगस्त्यः) अ० २ । ३२ । ३ । अगस्य कुटिलगतेः पापस्य असने उत्पाटने समर्थः पुरुषः ॥

२— (त्वया) (वयम्) (अप्सरसः) अ० २ । २ । ३ । सर्तेरप्पूर्वादसिः। उ० ४ । २३७ । इति अप्+सृगतौ– असि । अप्सु आकाशे, जले प्राणेषु प्रजासु च सरणशीलाः शक्तीः (गन्धर्वान्) अ० २ । १ । २ । विद्याधारकान् पृथिवीधारकान् वा गुणान् (चातयामहे) चते याचने, भ्वा० । अत्र चुरादिः । याचामहे (अजशृङ्गि) अजो जीवात्मा–अ० ४ । १४ । १ । शृङ्गम्–अ० २ । ३२ । ६ । शृ हिंसायाम्–गन्, स च कित् नुट् च । ङीप् । अजस्य जीवात्मनः शृङ्गं दुःखनाशनं यस्याः सा शक्तिः परमेश्वरः, तत्सम्बुद्धौ अजशृङ्गीति ओषधिविशेषोऽप्यस्ति (अज) प्रक्षिप (रक्षः) रक्ष पालने–अपादाने क्विप् । राक्षसान् (सर्वान्) (गन्धेन) गन्ध गतिहिंसायाचनेषु–अच् । स्वव्याप्तया (नाशय) ॥

नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमंवश्वसम्। गुल्गुलूः पीला नलद्यौ३क्षगन्धिः प्रमन्दनी। तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ३ ॥

नदीम्। यन्तु। अप्सरसः। अपाम्। तारम्। अव-श्वसम्। गुल्गुलूः। पीला। नलदी। औक्ष-गन्धिः। प्र-मन्दनी। तत्। परा। इत। अप्सरसः। प्रति-बुद्धाः। अभूतन ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अप्सरसः) आकाश, जल, प्राण, और प्रजाओं में व्यापक शक्तियां (अपाम्) जलके (तारम्) तटको (अवश्वसम्) भरती हुई (नदीम्) नदी [नदी के समान पूर्णता] को (यन्तु) प्राप्त हों ॥

[जो प्रत्येक] (गुल्गुलूः) रक्षा साधन से रक्षित, (पीला) सब को घेरने वाली, (नलदी) बन्धन काटने वाली, (औक्षगन्धिः) बड़ों के योग्य गतिवाली, और (प्रमन्दनी) आनन्द देने वाली शक्ति है।

(तत्) इसलिये (अप्सरसः) हे आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक शक्तियो ! (परा) पराक्रम से (इत) प्राप्त हो, तुम (प्रतिबुद्धाः) प्रत्यक्ष जानी हुयी (अभूतन) होचुकी हो ॥ ३ ॥

३—(नदीम्) अ० १।८।१ नदीत्वम्। नदीयत्पूर्णताम् (यन्तु) प्राप्नुवन्तु (अप्सरसः) म० २। अप्सु आकाशजलप्राणप्रजासु व्यापनशीलाः शक्तयः (अपाम्) व्याप्तिमतां जलानाम् (तारम्) तॄ प्लवनतरणयोः-घञ्। तरणस्थानम्, तीर्थम्, नदीकूलम् (अवश्वसम्) श्वस प्राणने-क्विप्, अन्तर्भावितण्यर्थः। अवश्वासयन्तीम्। सर्वतः पूरयन्तीम् (गुल्गुलूः) अ० २।३६।७। गुड रक्षायाम्-क्विप+गुड-कु, स्त्रियाम् ऊङ्। डलयोरैक्यम्। गुडा रक्षासाधनेन गुडिता रक्षिता शक्तिः (पीला) पील रोधने-अच्, टाप्। रोधनशीला नियामिका (नलदी) णल बन्धने-अच्+दोअवखण्डने—क, ङीष्। बन्धनच्छेदिका (औक्षगन्धिः) औक्षः, अ० २।३६।७। उक्षाः, महन्नाम-निघ० ३।३। ततः, अण्। सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४।११८। इति गन्ध गतिहिंसायाचनेषु-इन्। महतां योग्या गतिर्यस्याः सा (प्रमन्दनी) मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु-ल्युट्,

भावार्थ—परमेश्वर की अनन्त गुणवाली शक्तियां संसार में व्याप्त हैं। मनुष्य विज्ञान पूर्वक उनसे उपकार लेकर आनन्द पावें ॥ ३ ॥

यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः ।

तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥

यत्र । अश्वत्थाः । न्यग्रोधाः । महा-वृक्षाः । शिखण्डिनः ।

तत् । परा । इत । अप्सरसः । प्रति-बुद्धाः । अभूतन ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जहां पर (अश्वत्थाः) वीरों में खड़े होने वाले, (न्यग्रोधाः) शत्रुओं को रोक देने वाले, (महावृक्षाः) अत्यन्त स्वीकार करने योग्य, और (शिखण्डिनः) अत्यन्त उद्यमी पुरुष हों।

(तत्) वहां (अप्सरसः) हे आकाश आदि में व्यापक शक्तियो ! (परा) पराक्रम से (इत) प्राप्त हो, तुम (प्रतिबुद्धाः) प्रत्यक्ष ज्ञानी हुई (अभूतन) हो चुकी हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव जानकर महापुरुषार्थी होवें ॥ ४ ॥

यत्र वः प्रेङ्खा हरिता अर्जुना उत यत्राघाटाः कर्कर्यः

संवदन्ति । तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥५॥

ङीप्। प्रमादयित्री, हर्षयित्री (तत्) तस्मात् (परा) पराक्रमेण (इत) गच्छत प्राप्नुत (अप्सरसः) हे अप्सरसः । आकाशजलप्राणप्रजासु व्यापनशीलाः शक्तयः । (प्रतिबुद्धाः) प्रत्यक्षज्ञानाः (अभूतन) भू सत्तायाम् लुङ् । तप्तनप्तन-थनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति तकारस्य तन । अभूत । अवर्तिढ्वम् ॥

४—(यत्र) यस्मिन् स्थाने (अश्वत्थाः) अ० ३ । ६ । १ । अश्वेषु बलवत्सु स्थितिशीलाः । अश्वत्थामानः । अतिवीरपुरुषाः (न्यग्रोधाः) न्यक्+रुधिर् आवरणे—अच् । शत्रूणां नीचं रोधकाः (महावृक्षाः) वृङ् वरणे—क । महावरणीयाः । अतिश्रेष्ठाः (शिखण्डिनः) अण्डन् कृसृभृवृञः । उ० १ । १२८ । इति शिख गतौ—अण्डन्, स च कित्, तत इनि । गतिवन्तः । उद्योगिनः । अन्यत् पूर्ववत् म० ३ ॥

यत्र॑ । वः॒ । प्र॒-ई॒ङ्खाः । हरि॑ताः । अर्जु॑नाः । उ॒त । यत्र॑ । आ॒घा॒टाः । क॒र्क॒र्य॑: । स॒म्-वद॑न्ति । तत् । परा॑ । इ॒त॒ । अ॒प्स॒र॒सः॒ । प्रति॑-बु॒द्धाः । अ॒भू॒त॒न॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जहां (प्रेङ्खाः) उत्तम गतिवाली, (हरिताः) स्वीकार करने योग्य, (अर्जुनाः) उपार्जन करने वाली, (उत) और (यत्र) जहां (आघाटाः) चेष्टा करती हुई (कर्कर्यः) उत्तमकर्म ग्रहण करने वाली प्रजायें (वः) तुम्हारा (संवदन्ति) सम्वाद करती हैं।

(तत्) वहां (अप्सरसः) हे आकाशादि में व्यापक शक्तियो ! (परा) पराक्रम से (इत) प्राप्त हो, तुम (प्रतिबुद्धाः) प्रत्यक्ष जानी हुई (अभूतन) हो चुकी हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—उद्योगी पुरुषार्थी पुरुष परमेश्वर की महिमा साक्षात् करके आनन्दित होते हैं ॥ ५ ॥

एयमंगन्नोषंधीनां वीरुधां वीर्यावती ।
अजशृङ्ग्यराटुकी तीक्ष्णशृङ्गी व्यृषतु ॥ ६ ॥

आ । इ॒यम् । अ॒ग॒न् । ओष॑धीनाम् । वी॒रुधा॑म् । वी॒र्य॑-वती । अ॒ज-शृ॒ङ्गी । अ॒रा॒टकी । ती॒क्ष्ण-शृ॒ङ्गी । वि । ऋ॒ष॒तु ॥६॥

भाषार्थ—(ओषधीनाम्) ताप नाशक (वीरुधाम्) विविध प्रकार से उगने वाली प्रजाओं के बीच (वीर्यावती) बड़ी सामर्थ्य वाली (इयम्) यह

५—(यत्र) (वः) युष्माकम् (प्रेङ्खाः) प्र+ईखि गतौ—घञ्, टाप्। प्रकृष्टगतयः (हरिताः) हृश्याभ्यामितन्। उ० ३। ९३। इति हृञ् हरणे=स्वीकारे-इतन, टाप् हरणीयाः स्वीकरणीयाः (अर्जुनाः) अर्ज अर्जने प्रतियत्ने च उनन्, टाप्। अर्जनशीलाः। प्रयत्नस्वभावाः (उत) अपि च (आघाटाः) आङ्+घट चेष्टायाम्-घञ्। चेष्टायमानाः (कर्कर्यः) कृदाधा०। उ० ३। ४० । इति डुकृञ् करणे-क, रा दानग्रहणयोः-क, ङीप्। कर्कं रातीति कर्करी। कर्मग्रहीत्र्यः प्रजाः (सम्वदन्ति) सम्वादं कुर्वन्ति। अन्यत् पूर्ववत् म० ३॥

६—(इयम्) समीपे वर्तमाना (आ अगन्) गमेर्लुङि छान्दसं रूपम्।

शक्ति (आ अगन्) प्राप्त हुई है। वही (अजशृङ्गी) जीवात्मा का दुःख काटने वाली, (अराटकी) शीघ्र प्राप्त होने वाली, (तीक्ष्णशृङ्गी) बड़े तेज वाली शक्ति परमेश्वर (वि ऋषतु) व्याप्त होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमपिता परमेश्वर की शक्ति सब पदार्थों में व्यापक है, उसके ज्ञान से हम लोग अपनी उन्नति करें ॥ ६ ॥

आ॒नृ॒त्यत॑: शिख॒ण्डिनो॑ गन्ध॒र्वस्या॑प्सरापते॑: ।

भि॒नद्मि॑ मु॒ष्कावपि॑ यामि॒ शेप॑: ॥ ७ ॥

आ॒ऽनृ॒त्यत॑: । शि॒ख॒ण्डिन॑: । ग॒न्ध॒र्वस्य॑ । अ॒प्स॒रा॒ऽप॒ते॑: ।

भि॒नद्मि॑ । मु॒ष्कौ । अपि॑ । या॒मि॒ । शेप॑: ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(आनृत्यतः) सब ओर चेष्टा करने वाले, (शिखण्डिनः) महा उद्योगी (गन्धर्वस्य) वेदवाणी और पृथिवी आदि को धारण करने वाले (अप्सरापतेः) आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक शक्तियों के रक्षक परमेश्वर का (शेपः) सामर्थ्य (यामि) मैं मांगता हूं, [जिस से] (मुष्कौ) [कामक्रोधरूप] दो चोरों को (अपि) अवश्य (भिनद्मि) छिन्न भिन्न करूं ॥ ७ ॥

आगमत् । आगता (ओषधीनाम्) तापनाशयित्रीणां मध्ये (वीरुधाम्) विरोहणशीलानां प्रजानां मध्ये (वीर्यावती) छान्दसो दीर्घः । अतिशयेन सामर्थ्ययुक्ता (अजशृङ्गी) म० २ । अजस्य जीवात्मनो दुःखनाशनी शक्तिः (अराटकी) कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन् । उ० । ५ । ३५ । इति अर+अट गतौ—वुन् । ङीष् । अरं शीघ्रम् अटति सा । शीघ्रगामिनी (तीक्ष्णशृङ्गी) म० २ । शृङ्गाणि ज्वलतो नाम-निघ० १ । १७ । तीव्रतेजाः (वि ऋषतु) ऋषी गतौ । व्याप्नोतु ॥

७—(आनृत्यतः) नृती गात्रविक्षेपे—शतृ । सम्यक् चेष्टायमानस्य (शिखण्डिनः) म० ४ । उद्योगिनः (गन्धर्वस्य) म० २ । पृथिव्यादिधारकस्य (अप्सरापतेः) अ० २ । २ । ३ । अप्सराणाम् आकाशजलप्राणप्रजासु सरणशीलानां शक्तीनां पालकस्य परमेश्वरस्य (भिनद्मि) विदारयामि (मुष्कौ) सृवृभूषिमुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ । इति मुष स्तेये-कक् । कामक्रोधरूपौ तस्करौ (अपि) एव (यामि) याच्ञाकर्मा-निघ० ३ । १६ । अहं याचे (शेपः) पानीविषिभ्यः पः ।

भावार्थ—सर्वव्यापक सर्वनियामक परमेश्वर के विचार से मनुष्य जितेन्द्रिय होकर कुकाम कुक्रोध आदि दोषों को मिटावे ॥ ७ ॥

भीमा इन्द्र॑स्य हे॒तयः॑ श॒तमृ॒ष्टीर॑य॒स्मयीः॑ ।
याभि॒र्ह॑वि॒रदा॑न् ग॑न्ध॒र्वान॑वका॒दान् व्यृ॒॑षतु ॥ ८ ॥

भीमाः । इन्द्र॑स्य । हे॒तयः॑ । श॒तम् । ऋ॒ष्टीः । अ॒य॒स्मयीः॑ । ताभिः॑ । ह॒विः-अ॒दान् । ग॒न्ध॒र्वान् । अ॒व॒का-अ॒दान् । वि । ऋ॒षतु ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) परमेश्वर की (शतम्) सौ (हेतयः) हनन शक्तियां (अयस्मयीः) लोह की बनी हुई (ऋष्टीः) खड्गों के समान (भीमाः) भयानक हैं। (ताभिः) उनके साथ [दुष्ट दमन के लिये] (हविरदान्) ग्राह्य अन्न के भोजन करने वाले (अवकादान्) हिंसाओं के नाश करने वाले, (गन्धर्वान्) वेदवाणी और पृथिवी के धारण करने वाले पुरुषों को [वह परमेश्वर] (वि ऋषतु) व्याप्त होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर दुराचारियों को अनेक प्रकार से दण्ड देकर सत्पुरुषों की रक्षा करता है ॥ ८ ॥

उ० ३ । २३ । इति शीङ् शयने-र । शेपो वैतस इति पुंस्प्रजननस्य । शेपः शपतेः स्पृशतिकर्मणः-निरु० ३ । २१ । सामर्थ्यम् ॥

८—(भीमाः) अ० ३ । २५ । १ । भयंकराः (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य (हेतयः) अ० १ । १३ । ३ । हननशक्तयः (शतम्) बहु—निघ० ३ । १ । (ऋष्टीः) ऋषी गतौ—क्तिच् क्तिन् वा । ऋष्टयः । खड्गा यथा (अयस्मयीः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति इण् गतौ—असुन् । अयस्मय्यः लौहे निर्मिताः (ताभिः) (हविरदान्) हविः+अद भक्षणे पचाद्यच् । ग्राह्यान्नभोक्तॄन् (गन्धर्वान्) म० २ । वेदवाण्याः पृथिव्या वा धारकान् (अवकादान्) कृञादिभ्यः उ० ५ । ३५ । इति अव रक्षणगतिहिंसादिषु—वुन् । टाप्+अद-अच् । हिंसानां भक्षकान् नाशकान् (वि ऋषतु) व्याप्नोतु ॥

भीमा इन्द्र॑स्य हे॒तयः॑ श॒तमृ॒ष्टीर्हि॑र॒ण्ययीः॑ ।
ताभि॑र्हवि॒रदा॑न् गन्धर्वान॑वका॒दान् व्यृ॑षतु ॥ ९ ॥

भीमाः॑ । इन्द्र॑स्य । हे॒तयः॑ । श॒तम् । ऋ॒ष्टीः॑ । हि॒र॒ण्ययीः॑ ।
ताभिः॑ । ह॒विः॒-अ॒दान् । ग॒न्ध॒र्वान् । अ॒व॒का-अ॒दान् । वि ।
ऋ॒ष॒तु॒ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) परमेश्वर की (शतम्) सौ (हेतयः) हनन शक्तियां (हिरण्ययीः) तेजोमयी (ऋष्टीः) तरवारों के समान (भीमाः) भयानक हैं। (ताभिः) उनके साथ [दुष्ट दमन के लिये] (हविरदान्) ग्राह्य अन्न के भोजन करने वाले (अवकादान्) हिंसाओं के नाश करने वाले (गन्धर्वान् वेदवाणी और पृथिवी के धारण करने वाले पुरुषों को [वह परमेश्वर] (वि ऋषतु) व्याप्त होवे ॥ ९ ॥

भावार्थ—म० ८ के समान ॥ ९ ॥

अ॒व॒का॒दान॑भिशो॒चान॒प्सु ज्यो॑तय माम॒कान् ।
पि॒शा॒चान्त्सर्वा॑नोषधे॒ प्र मृ॑णीहि॒ सह॑स्व च ॥ १० ॥

अ॒व॒का-अ॒दान् । अ॒भि॒-शो॒चान् । अ॒प्-सु । ज्यो॒त॒य॒ । मा॒म॒कान् । पि॒शा॒चान् । सर्वा॑न् । ओ॒ष॒धे॒ । प्र । मृ॒णी॒हि॒ । सह॑स्व । च॒ ॥ १० ॥

भाषार्थ—(अवकादान्) हिंसाओं के नाश करने वाले, (अभिशोचान्) सब ओर प्रकाशमान (मामकान्) मेरे पुरुषों को (अप्सु) व्याप्यमान प्रजाओं

९—(हिरण्ययीः) हिरण्यः=हिरण्यमयः—निरु० १० । २३। हिरण्यमय्यः । तेजोमय्यः । अन्यत् पूर्ववत्—म० ८ ॥

१०—(अवकादान्) म० ८ । हिंसानां भक्षकान् नाशकान् (अभिशोचान्) अभितः शोचमानान् दीप्यमानान् (अप्सु) व्याप्यमानासु प्रजासु (ज्योतय) ज्योततेर्ज्वलतिकर्मा—निघ० । १ । १६ । णिचि रूपम् । द्योतय प्रकाशय (मामकान्) मत्सम्बन्धिनः पुरुषान् (पिशाचान्) मांसभक्षकान् रोगादीन्

के बीच (ज्योतय) ज्योति वाला कर । (ओषधे) हे औषध समान ताप नाशक परमेश्वर (सर्वान्) सब (पिशाचान्) मांस भक्षक रोग वा जीवों को (प्र मृणीहि) मार डाल (च) और (सहस्व) हरा दे ॥ १० ॥

भावार्थ—परमेश्वर की प्रार्थना पूर्वक धर्मात्मा पुरुष दुष्ट स्वभावों, रोग और दुष्ट जीवों का नाश करें ॥ १० ॥

श्वेवैकः कपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः ।
प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियस्तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ ११ ॥

श्वा-इव । एकः । कपिः-इव । एकः । कुमारः । सर्व-केशकः । प्रियः । दृशे-इव । भूत्वा । गन्धर्वः । सचते । स्त्रियः । तम् । इतः । नाशयामसि । ब्रह्मणा । वीर्यवता ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(एकः इव) एक ही परमेश्वर (श्वा) गतिशील वा वृद्धि शील है, (एकः इव) एक ही (कपिः) कपाने वाला वा क्रोध शील, (कुमारः) कामना योग्य, (सर्वकेशकः) सर्व प्रकाशक है। (प्रियः इव) प्रिय ही परमेश्वर (गन्धर्वः) वेदवाणी वा पृथिवी का धारण करने वाला (भूत्वा) होकर (दृशे) सबके देखने के लिये (स्त्रियः) आपस में संगति रखने वाले समूहों में (सचते) मिला रहता है। (वीर्यावता) उस सामर्थ्य वाले (ब्रह्मणा) परब्रह्म के साथ (तम्) चोट करने वाले चोर को (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नाश करते हैं ॥ ११ ॥

(सर्वान्) (ओषधे) हे ओषधिवत् तापनाशक परमेश्वर (प्र) (मृणीहि) मृण । नाशय (सहस्व) अभिभव (च) समुच्चये ॥

११—(श्वा) श्वनुक्षन्० । उ० १ । १५६ । इति टुओ श्वि गति वृद्ध्योः कनिन् । श्वाऽऽशुयायी शवते र्वास्याद् गतिकर्मणः श्वसितेर्वा—निरु० । ३ । १८। गतिशीलः । वृद्धिशीलः (इव) अवधारणे (एकः) अद्वितीयः (कपिः) कुण्ठि-कम्प्योर्नलोपश्च । ४ । १४४ । इति कपि चलने-इ । कम्पते कुध्यतिकर्मा—निघ० । २ । १२ । कम्पयिता । क्रोधशीलः (कुमारः) कमेः किदुच्चोपधायाः । उ० । ३ ।

भावार्थ—परमात्मा को सर्वद्रष्टा आदि गुण विशिष्ट जानकर मनुष्य ज्ञान पूर्वक अपने दुष्कर्मों का नाश करें ॥ ११ ॥

जाया इद् वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम् ।
अप धावतामर्त्या मर्त्यान् मा सचध्वम् ॥ १२ ॥

जायाः । इत् । वः । अप्सरसः । गन्धर्वाः । पतयः । यूयम् ।
अप । धावत । अमर्त्याः । मर्त्यान् । मा । सचध्वम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(गन्धर्वाः) हे वेद वाणी वा पृथिवी के धारण करने वाले पुरुषो ! (अप्सरसः) आकाश आदि में व्यापक शक्तियां (वः) तुम्हारे लिये (इत्) ही (जायाः) सुख उत्पन्न करने वाली हैं (यूयम्) तुम [उनके] (पतयः) रक्षक [बनो] । (अप) आनन्द से (धावत) धावो और (अमर्त्याः) हे अमर [नित्य उत्साही] पुरुषो ! (मर्त्यान्) मरते हुये [निरुत्साही] मनुष्यों के हित करने वाले पुरुषों को (मा=मया) लक्ष्मी के साथ (सचध्वम्) सदा मिलो ॥ १२ ॥

---

१३८ । इति कमु कान्तौ—आरन् । कमनीयः (सर्वकेशकः) काशृ दीप्तौ—वुन् । अकारस्य एकारः । केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद् वा प्रकाशनाद्वा, निरु० १२ । २५ । सर्वप्रकाशकः (प्रियः) प्रीतिकरः (दृशे) अ० १ । ६ । ३ । द्रष्टुम् । सर्वदर्शनाय (भूत्वा) (गन्धर्वः) पृथिव्यादिधारकः परमेश्वरः (स्त्रियः) अ० १ । ८ । १ । स्त्यै संघाते ड्रट्, ङीप् । सर्वाः संहतीः । समूहान् (तम्) तन आघाते-ड । तानयतीति तः । आहन्तारं चोरम् (इतः) अस्मात् स्थानात् (नाशयामसि) नाशयामः (ब्रह्मणा) परमेश्वरेण सह (वीर्यावता) अतिशयसामर्थ्ययुक्तेन ॥

१२—(जायाः) जनेर्यक् । उ० ४ । १११ । इति जन जनने—यक्, टाप् । ये विभाषा । पा० । ६ । ४ । ४३ । इति आत्वम् । सुखस्य जनयित्र्यः (इत्) एव (वः) युष्मभ्यम् (अप्सरसः) म० २ । आकाशादिषु सरणशीलाः शक्तयः (गन्धर्वाः) म० २ । हे विद्यायाः पृथिव्या वा धारकाः पुरुषाः (पतयः) रक्षकाः (यूयम्) (अप) आनन्देन । यथा—अपचितिः पूजा (धावत) शीघ्रं गच्छत (अमर्त्याः) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति मृङ् प्राणत्यागे-यक् तुक् च,

भावार्थ—परमेश्वर की अनन्त अद्भुत शक्तियां संसार में उपस्थित हैं, उत्साही पुरुष उनसे उपकार लेकर सदा परस्पर उन्नति करें ॥ १२ ॥

सूक्तम् ३८ ॥

१-७ ॥ अप्सरा देवता ॥ १-४ अनुष्टुप्, ५, ७ जगती, ६ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

उद्भिन्दतीं संजयन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।
ग्लहे कृतानि कृण्वानामप्सरां तामिह हुवे ॥ १ ॥

उत्-भिन्दतीम् । सम्-जयन्तीम् । अप्सराम् । साधु-देविनीम् । ग्लहे । कृतानि । कृण्वानाम् । अप्सराम् । ताम् । इह । हुवे ॥१॥

भाषार्थ—(उद्भिन्दतीम्) [शत्रुओं को] उखाड़ने वाली, (सञ्जयन्तीम्) यथावत् जीतने वाली, (अप्सराम्) अद्भुतरूप वाली, (साधुदेविनीम्) उचित व्यवहार वाली, (ग्लहे=ग्रहे) [अपने] अनुग्रह में (कृतानि) कर्मों को (कृण्वानाम्) करती हुई (ताम्) उस (अप्सराम्) आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक [परमेश्वर] शक्ति को (इह) यहां पर (हुवे) मैं बुलाता हूं ॥ १ ॥

निपातनात्साधुः । अमराः । नित्योत्साहिनः (मर्त्यान्) हसिमृग्रिण्० । उ० ३ । ८६ । इति मृङ् प्राणत्यागे—तन् । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति मर्त-यत् । मर्तेभ्यो मनुष्येभ्यो हितान् पुरुषान् (मा) माङ् माने—क्विप् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति विभक्तेर्लुक् । मया लक्ष्म्या । इन्दिरा लोकमाता मा—इत्यमरः । १ । २९ । (सचध्वम्) समवेत ॥

१—(उद्भिन्दतीम्) भिदिर् विदारणे—शतृ, ङीप् । उत्कर्षेण शत्रून् विदारयन्तीम् (संजयन्तीम्) सम्यग् जयं कुर्वतीम् (अप्सराम्) अ० २ । २ । ३ । अद्भुतरूपवतीम् । (साधुदेविनीम्) सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । पा० ३ । २ । ७८ । इति साधु+दिवु क्रीडाव्यवहारस्तुत्यादिषु—णिनि । उचितव्यवहार-

भावार्थ—परमेश्वर की अद्भुत शक्तियां सब व्यवहारों में व्याप्त हैं। मनुष्य उनका खोज लगा कर सदा सुखी रहें॥ १॥

इस सूक्त का मिलान अ० का० २ सू० २ और पिछले सूक्त से करो॥

विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सरां साधुदेविनीम्।
ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे॥ २॥

वि-चिन्वतीम्। आ-किरन्तीम्। अप्सराम्। साधु-देविनीम्।
ग्लहे। कृतानि। गृह्णानाम्। अप्सराम्। ताम्। इह। हुवे॥२॥

भाषार्थ—(विचिन्वतीम्) [पदार्थों को] समेटने वाली, (आकिरन्तीम्) फैलानेवाली, (अप्सराम्) अद्भुत रूपवाली, (साधुदेविनीम्) उचित व्यवहार वाली, (ग्लहे) [अपने] अनुग्रह में (कृतानि) कर्मों को (गृह्णानाम्) ग्रहण करती हुयी (ताम्) उस (अप्सराम्) आकाश आदि में व्यापक शक्ति को (इह) यहां पर (हुवे) मैं बुलाता हूं॥ २॥

भावार्थ—सब मनुष्य परमेश्वर की अनन्त शक्तियों से अपने कार्य सिद्ध करके आनन्द प्राप्त करें॥ २॥

यायैः परिनृत्यत्याददाना कृतं ग्लहात्।
सा नः कृतानि सीषती प्रहामाप्नोतु मायया।
सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम्॥ ३॥

शीलाम् (ग्लहे) अक्षेषु ग्लहः। पा० ३। ३। ७०। इति ग्लह ग्रहणे—अप्। अनुग्रहे (कृतानि) कर्माणि (कृण्वानाम्) कुर्वाणाम् (अप्सराम्) अ० २। २। ३। अप्सु आकाशजलप्राणप्रजासु सरणशीलां परमेश्वरशक्तिम् (ताम्) प्रसिद्धाम् (इह) अस्मिन् वर्त्तमानकर्मणि (हुवे) आह्वयामि॥

२—(विचिन्वतीम्) चिञ् चयने—शतृ। संघीकुर्वतीम् (आकिरन्तीम्) कॄ विक्षेपे—शतृ। विक्षिपन्तीम् (गृह्णानाम्) ग्रह उपादाने—शानच्। आददानाम्। अन्यत् पूर्ववत् म० २॥

या । अयैः । परि-नृत्यति । आ-दद̱ाना । कृ̱तम् । ग्लहात् । सा । नः̱ । कृ̱तानि । सीषती । प्र-हाम् । आप्नो̱तु । मायया । सा । नः̱ । पयस्वती । आ । एतु̱ । मा । नः̱ । जैषुः । इ̱दम् । धनम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(या) जो शक्ति (अयैः) मङ्गल अनुष्ठानों के साथ (ग्लहात्) [अपने] अनुग्रह से (कृतम्) कर्म (आददाना) स्वीकार करती हुयी (परि-नृत्यति) सब ओर चेष्टा करती है। (सा) वही (नः) हमारे (कृतानि) कर्मों को (मायया) बुद्धि के साथ (सीषती) नियम बद्ध चाहती हुयी (प्रहाम्) उत्तम गति (आप्नोतु) प्राप्त करे [अर्थात् प्रसन्न हो] (सा) वही (नः) हमारे लिये (पयस्वती) अन्न वाली होकर (एतु) आवे। (नः) हमारे (इदम्) इस (धनम्) धन को [शत्रु लोग] (मा जैषुः) न जीतें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की शक्तियों को जानकर पुष्कल अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके बलवान् हों ॥ ३ ॥

या अ̱क्षेषु॑ प्र̱मोद॑न्ते̱ शु̱चं̱ क्रोधं॑ च̱ बिभ्र॑ती ।
आ̱न̱न्दिनीं॑ प्र̱मो̱दिनी॑मप्स̱रां तामि̱ह हु॑वे ॥ ४ ॥

३—(या) (अयैः) एति सुखमनेन, इण् गतौ—अच्। अयः शुभावहो विधिः—इत्यमरः। ४। २७। शुभावहैर्विधिभिः। मङ्गलानुष्ठानैः (परिनृत्यति) सर्वत्र चेष्टते (आददाना) स्वीकुर्वाणा (कृतम्) कर्म (ग्लहात्) स्वानुग्रहात् (सा) (नः) अस्माकम् (कृतानि) कर्माणि (सीषती) षिञ् बन्धने—सनि, शतरि छान्दसं रूपम्। सिषीषन्ती। बन्धुं नियन्तुम् इच्छन्ती (प्रहाम्) प्र+ओहाङ् गतौ—क, टाप्। प्रकृष्टां गतिम् (आप्नोतु) प्राप्नोतु (मायया) प्रज्ञया-निघ० ३। ९। (नः) अस्मभ्यम् (पयस्वती) पयः=अन्नम्—निघ० २। ७। अन्नवती (एतु) आगच्छतु (नः) अस्माकम् (मा जैषुः) जि जये माङि लुङि रूपम्। न जयन्तु। मापहार्षुः शत्रवः (इदम्) (धनम्) वित्तम् ॥

याः । अक्षेषु । प्र-मोदन्ते । शुचम् । क्रोधम् । च । बिभ्रती ।
आ-नन्दिनीम् । प्र-मोदिनीम् । अप्सराम् । ताम् । इह । हुवे ॥ ४

भाषार्थ—(याः = या) जो शक्ति (शुचम्) शुद्धि (च) और (क्रोधम्) क्रोध (बिभ्रती) धारण करती हुई (अक्षेषु) सब व्यवहारों में (प्रमोदन्ते = ०—दते) हर्ष पाती है । (आनन्दिनीम्) आनन्द दायिनी, (प्रमोदिनीम्) हर्ष कारिणी (ताम्) उस (अप्सराम्) आकाश आदि में व्यापक शक्ति को (इह) यहां पर (हुवे) मैं बुलाता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—न्यायस्वरूप परमात्मा की महिमा जानकर मनुष्य सब व्यवहारों में आनन्द प्राप्त करें ॥ ४ ॥

पण्डित सेवकलाल कृष्णदास की संहिता में (बिभ्रती) के स्थान पर (बिभ्रति) पद है ॥

सूर्यस्य रश्मीननु याः संचरन्ति मरीचीर्वा या अनुसंचरन्ति । यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वान् लोकान् पर्येति रक्षन् । स न ऐतु होममिमं जुषाणो-ऽन्तरिक्षेण सह वाजिनीवान् ॥ ५ ॥

सूर्यस्य । रश्मीन् । अनु । याः । सम्-चरन्ति । मरीचीः । वा । याः । अनु-संचरन्ति । यासाम् । ऋषभः । दूरतः । वाजिनी-वान् । सद्यः । सर्वान् । लोकान् । परि-एति । रक्षन् । सः । नः । आ । एतु । होमम् । इमम् । जुषाणः । अन्तरिक्षेण । सह । वाजिनी-वान् ॥ ५ ॥

४—(याः) एकवचने बहुवचनम् । या । अप्सरा (अक्षेषु) अक्ष व्याप्तौ संघाते च-अच्, घञ् वा । यद्वा । अशेर्देवने । उ० ३ । ६५ । इति अशू व्याप्तौ-स । व्यवहारेषु (प्रमोदन्ते) प्रमोदते । प्रहृष्यति (शुचम्) शुचिर् शौचे—क्विप् । शुद्धिम् (क्रोधम्) कोपम् (च) (बिभ्रती) धारयन्ती (आनन्दिनीम्) सुखवतीम् (प्रमोदिनीम्) प्रहर्षयित्रीम् । अन्यद् यथा म० ॥ १ ॥

भाषार्थ—(याः) जो [शक्तियां] (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मीन् अनु) व्यापक किरनों के साथ साथ (संचरन्ति) चलती रहती हैं, (वा) और (याः) जो (मरीचीः) सब प्रकाशों के (अनुसंचरन्ति) साथ साथ फिरती हैं।

(यासाम्=तासाम्) उनका (ऋषभः) दर्शक परमेश्वर (वाजीनीवान्) अन्नवती क्रिया धारण करता हुआ (दूरतः) दूर से (सद्यः) तुरन्त ही (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को (रक्षन्) पालता हुआ (पर्यैति) घेरकर आता है।

(अन्तरिक्षेण सह) सब में दृश्यमान सामर्थ्य के साथ (वाजिनीवान्) बलवती क्रिया वाला (सः) वह परमेश्वर (नः) हमारे (इमम्) इस (होमम्) आत्मदान को (जुषाणः) स्वीकार करता हुआ (ऐतु) आवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी शक्ति से सब दूर और निकट के पदार्थों में व्यापक होकर रक्षा करता है। मनुष्य उसमें पूर्ण श्रद्धा करके पुरुषार्थ पूर्वक अपनी उन्नति करें ॥ ५ ॥

पं० सेवकलाल कृष्णदास की संहिता में (पर्यैति) के स्थान पर [पर्यंति] और पद पाठ में [परि—एति] पद है ॥

अ॒न्तरि॑क्षेण स॒ह वा॑जिनीवन् क॒र्कीं व॒त्सामि॒ह र॑क्ष वाजिन्। इ॒मे ते॑ स्तो॒का ब॑हु॒ला एह्य॒र्वाङि॒यं ते॑ क॒र्कीह ते॒ मनो॑ऽस्तु ॥ ६ ॥

५—(सूर्यस्य) आदित्यस्य (रश्मीन्) अ० २। ३२। १। व्यापकान् किरणान् (अनु) अनुसृत्य (याः) अप्सराः। ईश्वरशक्तयः (संचरन्ति) सम्यग् गच्छन्ति (मरीचीः) म्रियन्ते तमांसि यया। मृकणिभ्यामीचिः। उ०। ४। ७०। इति मृङ—ईचि। दीप्तीः। प्रकाशान् (वा) वेति विचारणार्थे...अथापि समुच्चयार्थे भवति-निरु० १। ४। (अनुसंचरन्ति) अनुलक्ष्य व्याप्नुवन्ति (यासाम्)=तासाम् अप्सराणाम् (ऋषभः) अ० ३। ६। ४। द्रष्टा सर्वश्रेष्ठः परमेश्वरः (दूरतः) दूरदेशात्। अगम्यस्थानात् (वाजिनीवान्) अन्नवतीक्रियावान् (सद्यः) अ० २। १। ४। तत्क्षणम् (सर्वान्) (लोकान्) दृश्यमानानि भुवनानि (पर्यैति) परित आगच्छति (रक्षन्) पालयन् (सः) (नः) अस्माकम् (ऐतु) आगच्छतु (होमम्) अर्त्तिस्तुसुहु०। उ० १। १४०। इति हु दानादानादनेषु—मन्। आत्मदानम् (इमम्) (जुषाणः) सेवमानः (अन्तरिक्षेण) सर्वमध्यदृश्यमानेन सामर्थ्येन (सह) (वाजिनीवान्) बलवतीक्रियायुक्तः ॥

अन्तरिक्षेण । सह । वाजिनी-वन् । कर्कीम् । वत्साम् । इह । रक्ष । वाजिन् । इमे । ते । स्तोकाः । बहुलाः । आ । इहि । अर्वाङ् । इयम् । ते । कर्की । इह । ते । मनः । अस्तु ॥६॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षेण सह) सब में दृश्यमान सामर्थ्य के साथ (वाजिनीवन्) हे अन्नवती वा बलवती क्रिया वाले, (वाजिन्) हे बलवान् परमेश्वर ! (इह) यहां पर (कर्कीम्) अपनी बनाने वाली और (वत्साम्) निवास देने वाली शक्ति को (रक्ष) रक्षा कर । (इमे) यह सब (ते) तेरे (स्तोकाः) अनुग्रह (बहुलाः) बहुत पदार्थ देने वाले हैं । (अर्वाङ्) सन्मुख (एहि) तू आ । (इयम्) यह (ते) तेरी (कर्की) रचना शक्ति है । (इहि) इसमें (ते) तेरा (मनः) मनन (अस्तु) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अपनी व्यापकता और कृपा से सब संसार हमारे लिये रचा है । हम उसका मनन करके सदा सुखी रहें ॥ ६ ॥

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन् कर्की वत्सामिह रक्ष वाजिन् । अयं घासो अयं व्रज इह वत्सां नि बध्नीमः । यथानाम वं ईश्महे स्वाहा ॥ ७ ॥

६—(अन्तरिक्षेण) सर्वमध्यदृश्यमानेन सामर्थ्येन (सह) (वाजिनीवन्) वाजिनी अन्नवती बलवती वा क्रिया तया तद्वन् (कर्कीम्) कृदाधा० । उ० ३ । ४० । इति डुकृञ्—क, ङीप् । कर्त्रीं शक्तिम् (वत्साम्) वृतृवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । इति वस निवासे—स । निवासयित्रीम् (इह) अस्मिन् शरीरे (रक्ष) पालय (वाजिन्) हे बलवन् (इमे) दृश्यमानाः (ते) तव (स्तोकाः) ष्टुच् प्रसादे–घञ् । प्रसादाः । अनुग्रहाः । यद्वा । आद्यन्तविपर्ययो भवति, स्तोकाः— निरु० २ । १ । इति श्चुतिर् क्षरणे—घञ् । बिन्दवः (बहुलाः) अ० ३ । १४ । ६ । वृद्धिशीलाः । बहुदातारः (एहि) आगच्छ (अर्वाङ्) अभिमुखः (इयम्) (ते) (कर्की) कर्त्री शक्तिः (इह) (ते) (मनः) मननम् । विज्ञानम् (अस्तु) भवतु ॥

अन्तरिक्षेण । सह । वाजिनी-वन् । कर्कीम् । वत्साम् । इह । रक्ष । वाजिन् । अयम् । घासः । अयम् । व्रजः । इह । वत्साम् । नि । बध्नीमः । यथा-नाम । वः । ईश्महे । स्वाहा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षेण सह) सब में दृश्यमान सामर्थ्य के साथ (वाजिनीवन्) हे अन्नवती वा बलवती क्रिया वाले,(वाजिन्) हे बलवान परमेश्वर (इह) यहां पर (कर्कीम्) अपनी बनाने वाली और (वत्साम्) निवास देने वाली शक्ति की (रक्ष) रक्षा कर । (अयम्) यह (घासः) भोजन है, (अयम्) यह (व्रजः)आने जाने का स्थान है, (इह) यहां पर [हृदय में] (वत्साम्) तेरी निवास देने वाली शक्ति को (नि) निरन्तर (बध्नीमः) हम बांधते हैं ।

(वः) तुम्हारा (यथानाम) जैसा नाम है, [वैसे ही] (ईश्महे) हम ऐश्वर्य वान् होवें । (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अपने अनन्त सामर्थ्य से अन्न, शरीर, घर आदि पदार्थ हमें दिये हैं, हम उनका यथावत् उपयोग करके सदा ऐश्वर्यवान् होवें ॥ ७ ॥

सूक्तम् ३८ ॥

१-१० ॥ १, २, ६, १० अग्निः, ३, ४ वायुः; ५, ६ आदित्यः; ७, ८ चन्द्रो देवता ॥ १, ३, ५, ७ त्रिपदजगती; २, ४, ६, ८ संस्तारपङ्क्तिः, ६, १० त्रिष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ।

७—(अन्तरिक्षेण इत्यादि) पूर्वोऽर्धर्चः पूर्ववद् योज्यः (अयम्) उपस्थितः (घासः) घञपोश्च । पा० २ । ४ । ३८ । इति अदो घस्लृ आदेशो घञि । अदनीयः पदार्थः (अयम्) (व्रजः) गोचर संचर वहव्रज० । पा० ३ । ३ । ११९ । इति व्रज गतौ घ । गमनप्रदेशः (इह) अस्मिन् विषये (वत्साम्) म० ६ । निवासयित्रीं शक्तिम् (नि) नितराम् (बध्नीमः) हृदये धारयामः (यथानाम) यादृशगुणविशिष्टं नामास्ति तथैव । (वः) आदरे बहुवचनम् । तव (ईश्महे) ऐश्वर्यवन्तो भवामः (स्वाहा) अ० २ । १६ । १ । सुवाणी । आशीर्वादः । सुदानम् ॥

पृथिव्यामग्नये समनमन्त्स आर्ध्नोत्। यथा पृथिव्यामग्नये समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ १ ॥

पृथिव्याम्। अग्नये। सम्। अनमन्। सः। आर्ध्नोत्। यथा। पृथिव्याम्। अग्नये। सम्। अनमन्। एव। मह्यम्। सम्नमः। सम्। नमन्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ-(पृथिव्याम्) पृथिवी पर (अग्नये) भौतिक अग्निके लिये वे [ऋषि लोग] (सम्) यथाविधि (अनमन्) नमे हैं, (सः) उसने [उन्हें] (आर्ध्नोत्) बढ़ाया है। (यथा) जैसे (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (अग्नये) अग्निके लिये वे (सम् अनमन्) यथावत नमे हैं, (एव) वैसे ही (मह्यम्) मेरे लिये (संनमः) सब सम्पत्तियां (सम्) यथावत (नमन्तु) नमें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे पूर्व ऋषियों ने शिल्प आदि में भौतिक अग्नि के प्रयोग सेयज्ञ सिद्ध करके अनेक सम्पत्तियां प्राप्त की हैं, वैसे ही हम भी प्राप्त करें ॥१॥

पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः।
सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ २ ॥

पृथिवी। धेनुः। तस्याः। अग्निः। वत्सः। सा। मे। अग्निना। वत्सेन। इषम्। ऊर्जम्। कामम्। दुहाम्। आयुः। प्रथमम्। प्र-जाम्। पोषम्। रयिम्। स्वाहा ॥ २ ॥

१—(पृथिव्याम्) भूलोके (अग्नये) भौतिकाग्नये (सम्) सम्यक् । यथाविधि (अनमन्) णम प्रह्वत्वे शब्दे च-लङ्। नता अभवन् ते ऋषयः (सः) अग्निः (आर्ध्नोत्) ऋधु वृद्धौ-लङ्, अन्तर्गतण्यर्थः। अवर्धयत् (यथा) येन प्रकारेण (एव) एवम् (मह्यम्) पुरुषार्थिने पुरुषाय (संनमः) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते पा० ३।२।७५। इति सम् + णम-विच्। सर्वाःसन्नतयः सम्पत्तयः (नमन्तु) प्रह्वीभवन्तु। अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—(पृथिवी) पृथिवी (धेनुः) दुधैल गौ के समान है। (तस्याः) उस [धेनु] के (वत्सः) बच्चा सदृश (अग्निः) है। (सा) वह [धेनु] (मे) मुझे (वत्सेन) बच्चे रूप (अग्निना) अग्नि के साथ (इषम्) अन्न, (ऊर्जम्) पराक्रम, (कामम्) उत्तम मनोरथ, (प्रथमम् आयुः) प्रधान जीवन, (प्रजाम्) प्रजा (पोषम्) पोषण और (रयिम्) धन (दुहाम्) परिपूर्ण करे। (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार बछड़े द्वारा गौ से दूध लेते हैं इसी प्रकार अग्नि विद्या द्वारा पृथिवी के पदार्थों से अनेक कला कौशल सिद्ध करके मनुष्य समृद्ध होवें॥ २ ॥

अन्तरिक्षे वायवे समनमन्त्स आर्ध्नोत्। यथान्तरिक्षे वायवे समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥३॥

अन्तरिक्षे। वायवे। सम्। अनमन्। सः। आर्ध्नोत्। यथा। अन्तरिक्षे। वायवे। सम्-अनमन्। एव। मह्यम्। सम्-नमः। सम्। नमन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षे) मध्यलोक में (वायवे) वायु को वे [ऋषि लोग] (सम्) यथाविधि (अनमन्) नमे हैं, (सः) उसने [उन्हें] (आर्ध्नोत्) बढ़ाया है। (यथा) जैसे (अन्तरिक्षे) मध्यलोक में (वायवे) वायु को (सम्

२—(पृथिवी) भूमिः (धेनुः) अ० ३। १०। १। दोग्ध्री गौर्यथा (तस्याः) धेन्वाः (अग्निः) भौतिकाग्निः (वत्सः) अ० ३। १२। ३। गोशिशुर्यथा (सा) धेनुः (मे) मह्यम् (अग्निना) (वत्सेन) शिशुना च (इषम्) अ० ३। १०। ७। अन्नम् (ऊर्जम्) अ० ३। १०। ७। पराक्रमम् (कामम्) सुमनोरथम् (दुहाम्) तलोपः। दुग्धाम्। प्रपूरयतु (आयुः) जीवनम् (प्रथमम्) प्रख्यातं प्रधानम् (प्रजाम्) पुत्रपौत्रभृत्यादिरूपां संततिम् (पोषम्) पोषणम् (रयिम्) धनम् (स्वाहा) आशीर्वादोऽस्तु॥

३—(अन्तरिक्षे) मध्यलोके (वायवे) पवनाय। अन्यत् पूर्ववत्। म० १॥

अनमन्) वे यथावत् नमे हैं, (एव) वैसे ही (मह्यम्) मुझको (सन्नमः) सब सम्पत्तियां (सम्) यथावत् (नमन्तु) नमें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वज ऋषियों के समान सब में वर्तमान वायु से उपकार लेकर आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

अ॒न्तरि॑क्षं धे॒नुस्तस्या॑ वा॒युर्व॒त्सः ।
सा मे॑ वा॒युना॑ व॒त्सेनेष॒मूर्जं॒ कामं॑ दुहाम् ।
आयु॑ः प्रथ॒मं प्र॒जां पोषं॑ र॒यिं स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

अ॒न्तरि॑क्षम् । धे॒नुः । तस्या॑ः । वा॒युः । व॒त्सः । सा । मे॒ । वा॒युना॑ । व॒त्सेन॑ । इष॑म् । ऊर्ज॑म् । काम॑म् । दु॒हा॒म् । आयु॑ः । प्र॒थ॒मम् । प्र॒-जाम् । पोष॑म् । र॒यिम् । स्वाहा॑ ॥४॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षम्) मध्यलोक (धेनुः) दुधैल गौ के समान है । (तस्याः) उस [धेनु] का (वत्सः) बच्चा रूप (वायुः) वायु है । (सा) वह [धेनु] (मे) मुझे (वत्सेन) बच्चा रूप (वायुना) वायु के साथ (इषम्) अन्न, (ऊर्जम्) पराक्रम, (कामम्) उत्तम मनोरथ, (प्रथमम् आयुः) प्रधान जीवन, (प्रजाम्) प्रजा, (पोषम्) पोषण और (रयिम्) धन (दुहाम्) परिपूर्ण करे । (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—वायु से अनेक प्रकार उपकार लेकर मनुष्य सुखी हों ॥ ४ ॥

दि॒व्या॑दि॒त्याय॒ सम॑नम॒न्त्स आ॑र्ध्नोत् । यथा॑ दि॒व्या॑दि॒त्याय॑ स॒मन॑मन्ने॒वा मह्यं॑ स॒ंनम॒ः सं न॑मन्तु ॥५॥

दि॒वि । आ॒दि॒त्याय॑ । सम् । अ॒न॒म॒न् । सः । आ॒र्ध्नो॒त् । यथा॑ । दि॒वि । आ॒दि॒त्याय॑ । स॒म्-अन॑मन् । ए॒व । मह्य॑म् । स॒म्-नम॑ः । सम् । न॒म॒न्तु ॥ ५ ॥

४—सर्व पूर्ववत् म० २,३ ॥

भाषार्थ—(दिवि) आकाश में वर्तमान (आदित्याय) सूर्य को वे [ऋषि लोग] (सम्) यथाविधि (अनमन्) नमे हैं, (सः) उस ने [उन्हें] (आर्ध्नोत्) बढ़ाया है। (यथा) जैसे (दिवि) आकाश में वर्तमान (आदित्याय) सूर्य को (सम्-अनमन्) वे यथावत् नमे हैं, (एव) वैसे ही (मह्यम्) मुझ को (सन्नमः) सब सम्पत्तियां (सम्) यथावत् (नमन्तु) नमें ॥ ५ ॥

भावार्थ—पहिले ऋषि महात्माओं के समान सूर्य के प्रकाश आदि से उपकार लेकर आनन्द प्राप्त करें ॥ ५ ॥

द्यौर्धे॒नुस्तस्या॑ आदि॒त्यो व॒त्सः ।
सा म॑ आदि॒त्येन॑ व॒त्सेने॒षमूर्जं॒ कामं॑ दुहाम् ।
आयु॑: प्रथ॒मं प्र॒जां पोषं॑ र॒यिं स्वाहा॑ ॥६॥

द्यौः । धे॒नुः । तस्याः॑ । आ॒दि॒त्यः । व॒त्सः । सा । मे॒ । आ॒दि॒त्येन॑ । व॒त्सेन॑ । इष॑म् । ऊर्ज॑म् । काम॑म् । दु॒हा॒म् । आयु॑: । प्र॒थ॒मम् । प्र॒-जाम् । पोष॑म् । र॒यिम् । स्वाहा॑ ॥६॥

भाषार्थ—(द्यौः) सूर्यलोक (धेनुः) दुधैल गौ के समान है, (तस्याः) उस [धेनु] का (वत्सः) बच्चा रूप (आदित्यः) सूर्य है। (सा) वह [धेनु] (मे) मुझे (वत्सेन) बच्चा रूप (आदित्येन) सूर्य के साथ (इषम्) अन्न (ऊर्जम्) पराक्रम, (कामम्) उत्तम मनोरथ, (प्रथमम् आयुः) प्रधान जीवन, (प्रजाम्) प्रजा, (पोषम्) पोषण, और (रयिम्) धन (दुहाम्) परिपूर्ण करे, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य-सूर्यलोक और सूर्य का पृथिवी से संबन्ध जानकर अनेक लाभ उठाकर सुखी होवें ॥ ६ ॥

दि॒क्षु च॒न्द्राय॒ सम॑नम॒न्त्स आ॑र्ध्नोत् । यथा॑ दि॒क्षु च॒न्द्राय॑ स॒मन॑मन्ने॒वा मह्यं॑ सं॒नम॒: सं न॑मन्तु ॥७॥

५—(दिवि) आकाशे वर्तमानाय (आदित्याय) अ० १ । ६ । १ । आकाशमानाय सूर्याय । अन्यत् पूर्ववत्-म० १ ॥

६—सर्वं पूर्वतम्-म० २,५ ।

दिक्षु । चन्द्राय॑ । सम् । अनमन् । सः । आर्ध्नोत् । यथा॑ । दिक्षु । चन्द्राय॑ । सम्-अन॑मन् । एव । मह्य॑म् । सम्-नमः॑ । सम् । नमन्तु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(दिक्षु) सब दिशाओं में (चन्द्राय) चन्द्रमा को वे [ऋषि लोग] (सम्) यथाविधि (अनमन्) नमे हैं । (सः) उसने [उन्हें] (आर्ध्नोत्) बढ़ाया है । (यथा) जैसे (दिक्षु) सब दिशाओं में (चन्द्राय) चन्द्रमा को (सम्-अनमन्) वे यथावत् नमे हैं, (एव) वैसे ही (मह्यम्) मुझ को (सन्नमः) सब सम्पत्तियां (सम्) यथावत् (नमन्तु) नमें ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य चन्द्रमा के पुष्टिकारक गुणों से उपकार लेकर आनन्दित हों ॥ ७ ॥

दिशो॑ धे॒नव॒स्तासां॑ च॒न्द्रो व॒त्सः ।
ता मे॑ च॒न्द्रेण॑ व॒त्सेने॒षमूर्जं॒ कामं॑ दुहाम् ।
आयु॑: प्रथ॒मं प्र॒जां पोषं॑ र॒यिं स्वाहा॑ ॥८॥

दिश॑: । धे॒नव॑: । तासा॑म् । च॒न्द्रः । व॒त्सः । ताः । मे॒ । च॒न्द्रेण॑ । व॒त्सेन॑ । इष॑म् । ऊर्ज॑म् । काम॑म् । दु॒हा॒म् । आयु॑: । प्र॒थ॒मम् । प्र॒-जाम् । पोष॑म् । र॒यिम् । स्वाहा॑ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(दिशः) सब दिशायें (धेनवः) दुधैल गौओं के समान हैं । (तासाम्) उन [गौरूपों] का (वत्सः) बच्चा रूप (चन्द्रः) चन्द्रमा है । (ताः) वे [गौरूप] (मे) मुझे (वत्सेन) बच्चा रूप (चन्द्रेण) चन्द्रमा के साथ (इषम्) अन्न, (ऊर्जम्) पराक्रम, (कामम्) उत्तम मनोरथ (प्रथमम् आयुः) प्रधान जीवन, (प्रजाम्) प्रजा, (पोषम्) पोषण और (रयिम्) धन (दुहाम्=दुहताम्) परिपूर्ण करें । (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ ८ ॥

७—(दिक्षु) प्राच्यादिषु (चन्द्राय) आह्लादकाय चन्द्रमसे । अन्यत् पूर्ववत् । म० १ ॥

८—(दुहाम्) दुहताम् प्रपूरयन्तु । अन्यत् पूर्ववत् । म० २, ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य चन्द्रमा के गुणों का पृथिवी के साथ सम्बन्ध जान कर अन्न आदि पदार्थों को पुष्ट करके आनन्द भोगें ॥ ८ ॥

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ ।
नमस्कारेण नमसा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्म भागम् ॥९॥

अग्नौ । अग्निः । चरति । प्र-विष्टः । ऋषीणाम् । पुत्रः ।
अभिशस्ति-पाः । ऊं इति । नमः-कारेण । नमसा । ते ।
जुहोमि । मा । देवानाम् । मिथुया । कर्म । भागम् ॥९॥

भाषार्थ—(ऋषीणाम्) धर्म साक्षात् करनेवाले मुनियों वा विषय देखने वाली इन्द्रियों का (पुत्रः) शुद्ध करने वाला,(अभिशस्तिपाः) हिंसाके भयसे बचाने वाला (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (उ) निश्चय करके (अग्नौ) सूर्य,अग्नि आदि तेज में (प्रविष्टः) प्रवेश किये हुये (चरति) चलता है । (ते) [उस] तुझको (नमस्कारेण) नमस्कार और (नमसा) आदर के साथ (जुहोमि) मैं आत्मदान करता हूं । (देवानाम्) महात्माओं के (भागम्) ऐश्वर्य वा सेवनीय कर्म को (मिथुया = मिथुना) दुष्टता से (मा कर्म) हम नष्ट न करें ॥ ९ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य परब्रह्म जगदीश्वर को पूर्ण भक्ति से सर्वत्र व्यापक जानकर महात्माओं के समान शुभ कर्म करके सदा ऐश्वर्यवान् होवें ॥ ९ ॥

९—(अग्नौ) सूर्यादितेजसि (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (चरति) व्याप्नोति (प्रविष्टः) अन्तर्गतः (ऋषीणाम्) अ० २ । ६ । १ । साक्षात्कृतधर्मणां मुनीनाम्, विषयद्रष्टॄणामिन्द्रियाणां वा (पुत्रः) अ० १ । ११ । ५ । पुनातीति पुत्रः । पविता शोधकः (अभिशस्तिपाः) अ० २ । १३ । ३ । हिंसाभयाद्रक्षकः (उ) निश्चयेन (नमस्कारेण) सत्कारेण (नमसा) नमनेन, आदरेण (ते) तथाविधाय तुभ्यम् (जुहोमि) आत्मदानं करोमि (देवानाम्) महात्मनां (मिथुया) अ० ४ । २९ । ७ । मिथुना हिंसनेन दुष्कर्मणा (मा कर्म) कृञ् हिंसायाम्-माङि लुङि । मन्त्रे घसह्वर० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेर्लुक् । मा कार्ष्म मा हिंसिष्म (भागम्) भग-अण् । ऐश्वर्याणां समूहम् । यद्वा, भज-घञ् । भजनीयं कर्म ॥

हृदा पूतं मन॑सा जातवेदो विश्वा॑नि देव वयुना॑नि विद्वान् । सप्तास्या॑नि तव॑ जातवेदस्तेभ्यो॑ जुहोमि स जु॑षस्व हव्यम् ॥१०॥

हृदा । पूतम् मन॑सा । जात-वेदः । विश्वा॑नि । देव । वयुना॑नि । विद्वान् । सप्त । आस्या॑नि । तव॑ । जात-वेदः । तेभ्य॑ः । जुहोमि । सः । जुषस्व । हव्यम् ॥१०॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् ! (देव) हे प्रकाशमान परमेश्वर ! तू (विश्वानि) सब (वयुनानि) ज्ञानों को (विद्वान्) जानने वाला है। (जातवेदः) हे बड़े धन वाले ! [मेरी] (सप्त) सात (आस्यानि) [मस्तक की] गोलकें (तव) तेरी [तेरे तत्पर हों] । (तेभ्यः) उनके हित के लिये (हृदा) हृदय और (मनसा) मन से (पूतम्) शोधे हुये कर्म को (जुहोमि) समर्पण करता हूं। (सः) सो तू [मेरे] (हव्यम्) आवाहन को (जुषस्व) स्वीकार कर ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी सब इन्द्रियों को उस सर्वशक्तिमान् की आज्ञा में लगा कर सदा आनन्द भोगें। मस्तक की सात इन्द्रियों के जीतने में ही सब प्राणी आनन्द पाते हैं जैसा (कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि......) अ० १० । २ । ६ में वर्णन है ॥ (सप्त आस्यानि) पद की व्याख्या में (सप्त ऋषयः) पद अ० ४ । ११ । ६ । में देखो ॥ १० ॥

इस मन्त्र का दूसरा पाद (विश्वानि देव... विद्वान्) य० ४० । १६ में है ॥

१०—(हृदा) हृदयेन (पूतम्) शोधितं कर्म (मनसा) अन्तः करणेन (जातवेदः) अ० १ । ७ । २ । हे जातप्रज्ञान परमेश्वर (विश्वानि) सर्वाणि (देव) हे प्रकाशमान (वयुनानि) अ० २ । २८ । २ । ज्ञानानि (विद्वान्) जानन् सन् वर्त्तसे (सप्त) सप्तसंख्याकानि (आस्यानि) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति असु क्षेपणे, यद्वा आस उपवेशने-ण्यत् । अस्यन्ते क्षिप्यन्ते, यद्वा, आसते तिष्ठन्ति विषया यत्र तानि । शीर्षण्यानि खानि इन्द्रियाणि मम प्राणिनः (तव) तव परमेश्वरस्य, तत्पराणि भवन्तु-इत्यर्थः (जातवेदः) हे जातधन (तेभ्यः) तादर्थ्ये चतुर्थी । तेषामास्यानां हिताय (जुहोमि) समर्पयामि (सः) स त्वम् (जुषस्व) सेवस्व । स्वीकुरु (हव्यम्) ह्वेञ्-यत् । आह्वानम् ॥

सूक्तम् ४० ॥

१-८ ॥ जातवेदा देवता ॥ १-७ त्रिष्टुप्, ८ ये दिशामे-त्यस्य जगती छन्दः । अन्त्येत्यस्य त्रिष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनाशनायोपदेशः—शत्रु के नाश करने का उपदेश ॥

ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् । अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ १ ॥

ये । पुरस्तात् । जुह्वति । जात-वेदः । प्राच्याः । दिशः । अभि-दासन्ति । अस्मान् । अग्निम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रति-सरेण । हन्मि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (पुरस्तात्) सन्मुख होकर (प्राच्याः) पूर्व वा सन्मुख (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हम को (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं। (ते) वे (अग्निम्) [तुझ] सर्व व्यापक को (ऋत्वा) पाकर (पराञ्चः) पीठ देते हुए (व्यथन्ताम्) व्यथा में पड़ें। (एनान्) इन को (प्रतिसरेण) [तुझ] अग्रगामी के साथ (प्रत्यक्) उलटा (हन्मि) मैं मारता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर में भक्ति करके पुरुषार्थ पूर्वक अपने आत्मिक और शारीरिक शत्रुओं का नाश करें। ऐसा हि भाव अन्य मन्त्रों का समझो ॥१॥

इस सूक्त का मिलान अथर्व० ३। २६ तथा २७ से करो ॥

१—(ये) शत्रवः (पुरस्तात्) अग्रतः (जुह्वति) हु दानादनयोः । अदन्ति । नाशयन्ति (जातवेदः) आ० १।७।२। हे जातप्रज्ञान परमेश्वर (प्राच्याः) अ० ३।२६।१। स्वास्थानात् पूर्वायाः स्वाभिमुखीभूतायाः (दिशः) दिशायाः सकाशात् (अभिदासन्ति) अभितो घ्नन्ति (अस्मान्) (धार्मिकान्) (अग्निम्) सर्वव्यापिनं त्वां जातवेदसम् (ऋत्वा) गत्वा, प्राप्य (ते) शत्रवः (पराञ्चः) पराङ्मुखाः कुण्ठितशक्तयः सन्तः (व्यथन्ताम्) व्यथ भयचलनयोः । व्यथिताः संतप्ता भवन्तु (प्रत्यक्) प्रतिमुखम् (एनान्) दुष्टान् शत्रून् (प्रतिसरेण) अ० २। ११।२। अग्रगामिना त्वया सह (हन्मि) नाशयामि ॥

ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभि-
दासन्त्यस्मान् । यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगे-
नान् प्रतिसरेण हन्मि ॥२॥

ये । दक्षिणतः । जुह्वति । जात-वेदः । दक्षिणायाः । दिशः ।
अभि-दासन्ति । अस्मान् । यमम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः ।
व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रति-सरेण । हन्मि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (दक्षिणतः) दाहिनी ओर में (दक्षिणायाः) दक्षिण वा दाहिनी (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हम को (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं। (ते) वे (यमम्) [तुझ] धर्मराज न्यायकारी को (ऋत्वा) पाकर······ म० १ ॥ २ ॥

ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्या दिशोऽभिदासन्त्य-
स्मान् । वरुणमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्
प्रतिसरेण हन्मि ॥ ३ ॥

ये । पश्चात् । जुह्वति । जात-वेदः । प्रतीच्याः । दिशः ।
अभि-दासन्ति । अस्मान् । वरुणम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः ।
व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रति-सरेण । हन्मि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (पश्चात्) पीछे की ओर में (प्रतीच्याः) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशः)

२—(दक्षिणतः) अ० ४ । ३२ । ७ । दक्षिणहस्तदिशि (दक्षिणायाः) अ० ३ । २६ । २ । दक्षिणस्याः । दक्षिणहस्तवर्तमानायाः (यमम्) यमयति नियमयति जीवान् स यमः, यम—अच् । धर्मराजं न्यायिनं जातवेदसम् । अन्यद् यथा म० १ ॥

३—(पश्चात्) पश्चात् । पा० ५ । ३ । ३२ । इति अपर—आति, पश्चभावः

दिशा से (अस्मान्) हमको (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं। (ते) वे) वरुणम् [तुझ] सर्वश्रेष्ठ को (ऋत्वा) पाकर म०...१ ॥३॥

य उत्तरतो जुह्वति जातवेद उदीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्। सोममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ ४ ॥

ये। उत्तरतः। जुह्वति। जात-वेदः। उदीच्याः। दिशः। अभि-दासन्ति। अस्मान्। सोमम्। ऋत्वा। ते। पराञ्चः। व्यथन्ताम्। प्रत्यक्। एनान्। प्रति-सरेण। हन्मि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (उत्तरतः) बायीं ओर में (उदीच्याः) उत्तर वा बायीं (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हम को (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं। (ते) वे (सोमम्) [तुझ] ऐश्वर्य वाले को (ऋत्वा) पाकर......म० १ ॥ ४ ॥

ये ३ धस्ताज्जुह्वति जातवेदो ध्रुवाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्। भूमिमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ ५ ॥

ये। अधस्तात्। जुह्वति। जात-वेदः। ध्रुवायाः। दिशः। अभि-दासन्ति। अस्मान्। भूमिम्। ऋत्वा। ते। पराञ्चः। व्यथन्ताम्। प्रत्यक्। एनान्। प्रति-सरेण। हन्मि ॥ ५ ॥

पश्चाद् देशे (प्रतीच्याः) अ० ३। २६। ३। पश्चिमायाः। पश्चाद्भागे स्थितायाः (वरुणम्) वरणीयं श्रेष्ठं त्वाम् ॥

४—(उत्तरतः) उत्तर-अतसुच्। वामहस्तदिशि (उदीच्याः) अ० ३। २६। ४। उत्तरस्याः। वामभागवर्त्तमानायाः (सोमम्) ऐश्वर्यवन्तं त्वाम् ॥

भावार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (अधस्तात्) नीचे की ओर में (ध्रुवायाः) स्थिर (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हम को (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं। (ते) वे (भूमिम्) [तुझ] सर्वाधार को (ऋत्वा) पाकर......म० १ ॥ ५ ॥

ये॒ ३॑ऽन्तरि॑क्षाज्जुह्व॑ति जातवेदो॒ व्य॑ध्वाया॑ दि॒शो॑ऽभि॒दास॒न्त्य॒स्मान् । वा॒युमृ॒त्वा ते परा॑ञ्चो॒ व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान् प्रतिस॒रेण॑ हन्मि ॥ ६ ॥

ये । अ॒न्तरि॑क्षात् । जुह्व॑ति । जात॒ऽवे॒दः॒ । वि॒ऽअ॒ध्वायाः॑ । दि॒शः । अ॒भि॒ऽदास॑न्ति । अ॒स्मान् । वा॒युम् । ऋ॒त्वा । ते । परा॑ञ्चः । व्य॒थ॒न्ता॒म् । प्र॒त्यक् । ए॒ना॒न् । प्र॒ति॒ऽस॒रेण॑ । ह॒न्मि॒ ॥६॥

भावार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष वा आकाश से (व्यध्वायाः) विविध मार्ग वाली (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हमको (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं। (ते) वे (वायुम्) [तुझ] बलवानों में महाबलवान् को (ऋत्वा) पाकर.........म० १ ॥ ६ ॥

य उ॒परि॑ष्टाज्जुह्व॑ति जातवेद ऊ॒र्ध्वाया॑ दि॒शो॑ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् । सूर्य॑मृ॒त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॑नान् प्रतिस॒रेण॑ हन्मि ॥ ७ ॥

५—(अधस्तात्) दिक्शब्देभ्यः० । पा० ५ । ३ । २७ । इति अधर-अस्ताति । अस्ताति च । पा० ५ । ३ । ४० । इति अध् इत्यादेशः । अधोभागे (ध्रुवायाः) अ० ३ । २६ । ५ । स्थिरायाः (भूमिम्) अ० १ । ११ । २ । भवन्ति भूतानि यस्यां सा भूमिः, ईश्वरनाम—सत्यार्थप्रकाशे, समुल्लासे १ । सर्वाधारं त्वाम् ॥

६—(अन्तरिक्षात्) अ० १ । ३० । ३१ । आकाशात् (व्यध्वायाः) उपसर्गादध्वनः । पा० ५ । ४ । ८५ । इति वि+अध्वन्—अच् समासान्तः । विविधमार्गायाः (वायुम्) अ० २ । २० । १ । बलिनां बलिष्ठं त्वामीश्वरम् ॥

ये । उपरिष्टात् । जुह्वति । जात-वेदः । ऊर्ध्वायाः । दिशः । अभि-दासन्ति । अस्मान् । सूर्यम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रति-सरेण । हन्मि ॥७॥

भावार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (उपरिष्टात्) ऊंचे स्थान में (ऊर्ध्वायाः) ऊपर वाली (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हमको (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं। (ते) वे (सूर्यम्) [तुझ] सर्वव्यापक वा सर्व प्रेरक को (ऋत्वा) पाकर......म० १ ॥ ७ ॥

ये दिशामन्तर्देशेभ्यो जुहति जातवेदः सर्वाभ्यो दिग्भ्योऽभिदासन्त्यस्मान् । ब्रह्म र्त्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ ८ ॥

ये । दिशाम् । अन्तः-देशेभ्यः । जुह्वति । जात-वेदः । सर्वाभ्यः । दिक्-भ्यः । अभि-दासन्ति । अस्मान् । ब्रह्म । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रति-सरेण । हन्मि । ॥ ८ ॥

भावार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (दिशाम्) दिशाओं के (अन्तर्देशेभ्यः) मध्य देशों से (सर्वाभ्यः) सब (दिग्भ्यः) दिशाओं से (अस्मान्) हमको (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं । (ते) वे (ब्रह्म) [तुझ] ब्रह्म को (ऋत्वा) पाकर (पराञ्चः) पीठ देते हुये (व्यथन्ताम्) व्यथा में पड़ें । (एनान्) इनको (प्रतिसरेण) [तुझ] अग्रगामी के साथ (प्रत्यक्) उलटा (हन्मि) मैं मारता हूं ॥ ७ ॥

७—(उपरिष्टात्) उपर्युपरिष्टात् । पा० ५ । ३ । ३१ । इति ऊर्ध्व-रिष्टातिल्, ऊर्ध्वस्य उपभावः । ऊर्ध्वभागे (ऊर्ध्वायाः) अ० ३ । २६ । ६ । उपरि वर्तमानायाः (सूर्यम्) अ० १ । ३ । ५ । सर्वव्यापकं सर्वप्रेरकं वा त्वां परमात्मानम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—मनुष्य उस सर्वनियन्ता परब्रह्म का आश्रय लेकर विचार पूर्वक अपने सब विघ्नों का नाश करके आनन्द भोगें। ८॥

इति अष्टमो ऽनुवाकः॥

इति चतुर्थं काण्डम्॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्री सयाजी राव गायकवाडा-
धिष्ठितबड़ोदेपुरीगतश्रावणमासपरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन श्री पण्डित क्षेमकरण दास त्रिवेदिना
कृते अथर्ववेदभाष्ये चतुर्थकाण्डं समाप्तम्॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे फाल्गुनमासे शिवचतुर्दश्याम् [कृष्णचतुर्दश्याम्]
१९७१ तमे विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि
श्री राजराजेश्वर जार्ज पञ्चम महोदयस्य
सुसाम्राज्ये समाप्तिमगात्॥

मुद्रितम्—आषाढकृष्णैकादश्यां संवत् १९७२ ता० ७ जुलाई १९१५॥

८—(दिशाम्) दिशानाम् (अन्तर्देशेभ्यः) अन्तरालेभ्यः (सर्वाभ्यः) सकलाभ्यः (दिग्भ्यः) दिशाभ्यः (ब्रह्म) म० १। ८। ४। सर्वेभ्यो बृंहत्वाद् ब्रह्म। तं त्वां परमेश्वरम्। अन्यत् पूर्ववत्॥

॥ ओ३म् ॥

आनन्द समाचार ।

[आप देखिये और अपने मित्रों को भी दिखाइये]

अथर्ववेदभाष्यम्—ब्रह्मा जी से लेकर सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी जिन वेदों का महत्व गाते आये हैं, और विदेशीय विद्वान् जिनकी महिमा और अर्थ खोजने में लग रहे हैं, वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन समझे जाते थे, और कुछ विद्वानों को छोड़ कर सर्वसाधारण उनका अर्थ नहीं समझ सकते थे, अब तक ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद का भाषा में अर्थ हो चुका है। और लोगों को उनके मर्म जानने का सौभाग्य मिला है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी सरल भाषा और संस्कृत में वेद, निघण्टु निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से उसका भाष्य बड़े परिश्रम से बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है, १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्र के शब्दों का कोष्ठ में देकर सान्वय भावार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े कांड हैं, एक एक काण्ड का भावपूर्ण, संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल भाषा और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छप कर ग्राहकों के पास पहुँचता है। वेद प्रेमी श्रीमान् राजे महराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्वसाधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें, और जगत्पिता परमेश्वर के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या वैद्यक विद्या, शिल्प विद्या, राजविद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जान कर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी हो कर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखानेवाले सज्जनों को २०) सैकड़ा छूट देकर पुस्तक वी०पी० वा नगद दाम पर दिये जाते हैं।

काण्ड १—भूमिका सहित पृष्ठ २०२, १।); काण्ड २—पृष्ठ २१२ १।-)

काण्ड ३—पृष्ठ २५० १॥-); काण्ड ४—पृष्ठ ३०२ २)

काण्ड ५—शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान—सरल भाषा में शब्दार्थ सहित, संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्म निरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अङ्गरेज़ी में, बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १५८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूल मात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १५ मूल्य)॥

७ जुलाई १९१५। पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी,

५२ लूकरगंज प्रयाग (Allahabad)

अथर्ववेद भाष्य की सम्मतियां ।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१५१४। कार्यालय श्रीमती आर्यप्रति-निधि सभा, संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर ।

आप का पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ,

(एम० ए० एल,एल, बी०)

मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**-प्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त, सामवेदभाष्यकार, सम्पादक वेद प्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेगें, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं,...मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द की शैली के अनुसार भावपूर्ण, संक्षिप्त, और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्दके स्थान में भाषाका कौनसा शब्द आया, फिर नोटोंमें व्याकरण तथा निरुक्तके प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका देदेने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाजका पक्षपोषक और इसयोग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का उद्योग किया है। ईश्वर उन को बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ यह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और कागज भी अच्छा है।...

श्रीयुत महात्मा मुन्शीरामजी जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार-पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१६६६।

अथर्ववेद भाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूँ आपका परिश्रम सराहनीय है।

तथा-पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१६६६।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्त्ता, वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य। श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।...आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ोदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उस में उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आपका अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पण्डित भीमसेन शर्मा इटावा—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता, वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व, इटावा फ़र्वरी १९१३॥

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में......अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है... भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसमाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है, अतएव भाष्य भी आर्यसमाजिक शैली का हुआ है, तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है॥

श्रीयुत पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़र्वरी १९१३॥

अथर्ववेद भाष्यम्—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है। आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पदपाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आपकी

राय है कि 'वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद भाष्य के ढंग का है ॥

श्रीयुत पंडित गणेशप्रसाद शर्मा—सम्पादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़ ता० १२ अप्रैल १६१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्त्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ आ व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझकर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू कालिका प्रसाद जी—सिल्कमर्चेंट कमनगढ़ा, बनारस सिटी, पत्रसंख्या ५८६ ता० २५-३-१३।

आपका भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आपका भाष्य देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ अपनी समाधि लगा कर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिखलीजिये, जब २ अंक छपें मेरे पास भेज देना ॥

श्रीयुत महाशय रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा, —मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसंबर १६१३।

वास्तव में आपका किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आपने यह साहस दिखा कर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें ॥

श्रीयुत विख्यात पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनौ)—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेन्ट सेक्रेटेरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-६-१३।

आपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी आप का व्याख्यानक्रम परम मनोरम तथा मांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है ॥

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State, letter No 624 dated 6th February 1913*

......It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम् It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution Please send them, also add on the address lable " For Encouragement Fund."

Rai Thakur Datta, Retired District Judge, *Dera Ismail Khan,*

Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914

I very much admire your labour of lore and hope ..the venture will not fail for want of pecuniary support.

The Magistrate of Allahabad,

Letter No 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London,

---

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18, 1914

THE *Atharva Veda Bhashya* or Commentary on the *Atharva Veda*, which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature...The arrangement is good, the orginal *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words, quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works .....The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedicinterpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable We are glad to call public attention to this scholarly work and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves. ...Our earnest request is that the revered Pandit will go with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N. B. The printing and paper are good, the price is moderete.

हवनमन्त्राः—सम्मतियां।

पण्डित **शिवशङ्कर शर्मा** काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद्भाष्यकार, पंजाब आर्य प्रतिनिधिसभोपदेशक, इत्यादि सम्पादक आर्य मित्र आगरा ८ फ़रवरी १९१३।.......आर्य पुरुष हवन कालमें जिन मन्त्रों को पढ़ते हैं उनका सरल भाषा में अर्थ उक्त त्रिवेदी जी ने किया है। प्रत्येक पद का पृथक् पृथक् अर्थ इसमें किया गया है। अर्थ के ज्ञान विना केवल मन्त्र पढ़ने से लाभ नहीं होता। अतः प्रत्येक आर्य को ऐसा ग्रन्थ अवश्य खरीदना चाहिये।

सद्धर्म प्रचारक गुरुकुल कांगड़ी १७ फाल्गुण सं० १९६८..आजकल लोग हवनमन्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते। उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवा कर पढ़नी चाहिये।

अभ्युदय, प्रयाग—ता० २८ अप्रैल १९१२......इस में ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण और हवन मन्त्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा में अनुवादित किये हैं।...पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है।

वेदप्रकाश मेरठ, —मई १९१२।...इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषामें अब तक नहीं था, इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है।

महाशय **खुशीराम जी,** गवर्नमेन्ट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८ ...आप ने हवन मन्त्रों का भाषानुवाद करके बड़ा उपकार किया है। आप मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लेवें, अब प्रकाशित हो रुद्राध्याय भाषा अङ्गरेजी अनुवाद सहित वी० पी० द्वारा भेज देवें।

मिलने का पता—**पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी**

७ जुलाई १९१५। } ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)

पं० ओंकारनाथ बाजपेयी के प्रबन्ध से ओंकार प्रेस प्रयाग में मुद्रित हुआ।

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library

मसूरी
MUSSOORIE

अवाप्ति सं०
Acc. No.............................

कृपया इस पुस्तक को निम्न लिखित दिनांक या उससे पहले वापस कर दें।

Please return this book on or before the date last stamped below.

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.

GLSANS294.59215
TRI

125362
LBSNAA

Sam.
294.59215
त्रिवेदी
प्रथम काण्ड

अवाप्ति सं० ~~12948~~
ACC. No..................

वर्ग सं.
Class No..............

पुस्तक सं.
Book No..............

लेखक
Author........ त्रिवेदी, क्षेमकरणदास

शीर्षक
Title........ अथर्ववेद भाष्यम् ।

निर्गम दिनांक Date of Issue	उधारकर्ता की सं. Borrower's No.	हस्ताक्षर Signature

Sans
294.59215
त्रिवेदी

~~12948~~

LIBRARY
LAL BAHADUR SHASTRI
National Academy of Administration
MUSSOORIE

Accession No. 125362

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving